प्रकाशक
श्री बैद्यना॰ आयुर्वेद भवन प्राइवेट लि॰
१, गुप्ता लेन, कलकत्ता–६

प्रथम मुद्रण २००० प्रति

मूल्य ५·५० न. पै.

मुद्रक
ज्ञानेन्द्र शर्मा
जनवाणी प्रिण्टर्स एण्ड पब्लिशर्स प्राइवेट लि०,
३६, वाराणसी घोष स्ट्रीट, कलकत्ता–७

नामूल लिख्यते किञ्चिन्नानपेक्षितमुच्यते

—मल्लिनाथ

रोपिता **धर्मदत्तेन** गुरुणा गुणशालिना ।
सिक्ता श्री **यादवाचार्य**—चरणै सुविचक्षणै ॥
पालिता यत्नतो **वैद्य रामनारायणेन** या ।
लताज्ञानमयी तस्या प्रथम कुसुमोद्गम ॥
ग्रथितो बालिशतया नीतो व कण्ठहारताम् ।
आवहेद् विबुधा प्रीतिमित्येवाऽभ्यर्थनाऽसकृत् ॥

विदुषामाश्रवस्य

लेखकस्य

लेखक की कृतियाँ

आयुर्वेदीय क्रियाशारीर

(चतुर्थ सस्करण यन्त्रस्थ)

आयुर्वेदीय हितोपदेश

आयुर्वेदीय शिक्षणालयो मे सस्कृत विषय के शिक्षणार्थ
आयुर्वेदीय वाङमय से सगृहीत गद्य-पद्य (सार्थ)
(द्वितीय सस्करण यन्त्रस्थ)

आयुर्वेदीय पदार्थविज्ञान

आयुर्वेदीय दर्शन का शिक्षण आयुर्वेदीय सहिताओ से ही हो इस दृष्टि से निबद्ध
(तीनो ग्रन्थ गुजरात युनिवर्सिटी द्वारा
पाठ्यपुस्तकतया स्वीकृत)

निदान-चिकित्सा हस्तामलक

प्रथम खण्ड-प्रथम मुद्रण (आप के हाथो मे)

प्रस्तावना

तस्माद् दोषौषधादीनि परीक्ष्य दश तत्त्वतः।
कुर्याच्चिकित्सितं प्राज्ञो न योगैरेव केवलम्।। च. चि. अ. ३०
समीक्ष्य दोषौषधदेशकालासात्म्याग्निसत्त्वौकबलानि।
च. चि. अ २

आयुर्वेद-सिद्धान्तानुसार प्रत्येक रोग की चिकित्सा में उक्त दोषौषधादि परीक्षण अत्यावश्यक है। केवल अमुक योग (नुस्खा) से अमुक रोग नष्ट हो जाता है इतना ही जानकर चिकित्सा करना उचित नही, क्योकि "न योगैरेव केवलम्" यह डिण्डिमघोष आयुर्वेद में प्रसिद्ध है। इस डिण्डिमघोष को ध्यान में रख कर ही "निदान-चिकित्सा हस्तामलक" नामक यह पुस्तक लिखने का उपक्रम हुआ है।

आयुर्वेदिक साहित्य में रोग-निवारण के लिए अनेक प्रकार की चिकित्सा-विधियो का वर्णन मिलता है। यथा--उपशय नाम से १८ प्रकार की चिकित्सा-विधि का वर्णन चरक तथा वाग्भट आदि ग्रन्थो में प्रसिद्ध है। इस मे देश तथा काल का भी समावेश करने से बीस प्रकार के उपशय अर्थात् चिकित्सा का सकेत भी मिलता है।

इसके अतिरिक्त मणि, मन्त्र, स्वस्त्ययन, वलि-उपहार, प्रार्थना, स्तोत्रपाठ, सूर्य-रश्मि, जल, मृत्तिका और भस्म आदि का प्रयोग भी विविध रोगो के नाश के लिए आयुर्वेदीय साहित्य में वर्णित है।

तात्पर्य यह है कि वर्तमान काल में संसार में जितने प्रकार की चिकित्सा-पद्धतियाँ पाई जाती है,उन सव का वर्णन आयुर्वेदिक साहित्य में यत्र-तत्र उपलब्ध है और आवश्यकतानुसार इन सभी प्रकार की चिकित्सा-पद्धतियो का उपयोग प्राणाभिसर-प्रकार से करने का आदेश आयुर्वेदिक साहित्य मे उपलब्ध है।

इन सव प्रकार की चिकित्सा-पद्धतियो में से किसी एक ही पद्धति को सर्वथा-सर्वदा मुख्यता दे देना आयुर्वेद के सिद्धान्त मे अभीप्ट नही है ;।

प्रस्तुत निदान-चिकित्सा हस्तामलक पुस्तक के प्रारम्भिक ९ अध्यायो में रोग-परीक्षा के लिए अत्यावश्यक ज्ञेय पदार्थो का विस्तृत वर्णन है। उदाहरणत·--व्याधि सामान्य विज्ञानीय--प्रथम अध्याय में काय चिकित्सा का प्राधान्य ; काय-चिकित्सा से अभिप्रेत कायाग्नि का महत्त्व, व्याधिस्वरूप, दोषमहत्त्व, वात-दोष का महत्त्व, दोष शब्द का महत्त्व--आदि अपेक्षित ज्ञातव्य विषयो का दिग्दर्शन किया गया है।

दूसरे अध्याय में रोगलक्षण-प्रसंग में प्रकृतिज्ञानाधीन विकृति-ज्ञान होने से विकृति-वर्णन से प्रथम प्रकृति-वर्णन के रूप में स्वस्थ-लक्षण--समीक्षा की गई है। अनन्तर रोगभेदों की असख्यता की ओर पाठको का ध्यान आकर्षित किया गया है तथा जीवाणु-कारणवाद के बारे में आयुर्वेद-साहित्य का मन्तव्य स्पष्ट किया गया है। इसी प्रकरण में "भूतेभ्यो हि परं यस्मान्नास्ति चिन्ता चिकित्सिते" इस सुश्रुतोक्त वचन का व्यापक प्रामाण्य शल्यतन्त्र के बाहर कायचिकित्सा या भूतचिकित्सा, मानस रोगो में भी मानना सगत नही क्योंकि मानसरोग--राग-द्वेषादि भौतिक नही है। अतएव "भूतेभ्यो हि पर यस्मान्नास्ति चिन्ता चिकित्सिते" इस वचन को केवल शल्यतन्त्र में ही मान्यता देना उचित होगा क्योकि शल्यतन्त्रवादी प्राय: पहले से ही प्रत्यक्ष प्रमाण को मान्यता देते आ रहे है। इसका प्रमाण "प्रत्यक्षतो हि यद्दृष्टं शास्त्रदृष्टं च यद्भवेत्" इत्यादि सुश्रुतोक्त वचन है। किन्तु कायचिकित्सक तो प्रत्यक्ष को अल्प तथा अप्रत्यक्ष को अनल्प मानते हैं। यथा--"अल्प हि प्रत्यक्षमनल्पमप्रत्यक्षम्। यैरेव तावदिन्द्रियैः प्रत्यक्षं भवति तान्येव सन्ति चा प्रत्यक्षाणि।" इत्यादि चरकसहिता के वचन इस ओर सकेत करते हैं। इसी लिए यह प्रसिद्ध है कि--"अनुमानेन कुर्वन्ति वैद्यकं न प्रतिज्ञया" (यो र.)।

इसी प्रकरण मे यह भी कह देना उचित होगा कि मानसरोगो को आगन्तु रोग मान लेना भ्रान्त होगा, क्योकि मानस दोष--रजोगुण तथा तमोगुण आगन्तु नही प्रत्युत ये मन के आश्रय में रहते है।

तीसरे अध्याय में दोषो के नानात्मजरोगो का विस्तृत वर्णन है। मेरे विचार से "निदान-चिकित्सा हस्तामलक" इस नाम के अनुसार इसी अध्याय मे इन रोगो की चिकित्सा-विधि का भी वर्णन साथ-साथ हो जाता तो इन रोगो की सम्प्राप्ति का भग किस प्रकार हो सकता है यह भी भली प्रकार हृदयगम करने में छात्रो को सुविधा होती।

रक्त धातु को भी कुछ लोग दोष मानते है, अतएव दोषज रोगो के बाद रक्त-जन्य रोग तथा धातु-प्रसंग से रसादि धातुस्थ रोगों का भी अपेक्षित वर्णन किया गया है।

इस प्रकार प्राय उपद्रवरूप मे पाए जानेवाले साधारण रोगो का वर्णन पढ लेने के बाद ज्वर, अतिसार आदि विशेष रोगों का वर्णन शीघ्र समझ में आ सकेगा--इस विचार से प्रथमत यही वर्णन-क्रम उत्तम समझा गया है। आशा है, पाठक इस से लाभान्वित होगे।

पाँचवे अध्याय मे आदिबल इत्यादि से प्रवृत्त रोगो का वर्णन इस लिए किया गया है कि, चिकित्सा करते समय इस प्रकार के वर्गीकरण से उन-उन

रोगो का बलाबल भली प्रकार समझकर उनकी यथासम्भव सफल चिकित्सा की जा सके।

छठे अध्याय में वर्णित रोग-भेद का प्रकार भी ऊपर निर्दिष्ट प्रयोजन अर्थात् चिकित्सा मे सुकरता लाने के लिए ही किया गया है।

सातवे अध्याय में रोग-परीक्षा के लिए उपयुक्त प्रत्यक्षादि प्रमाणो का विवेचन किया गया है तथा साथ ही प्रश्नादि द्वारा भी रोग-परीक्षा कहाँ तक उपयुक्त है--इस का भी विवेचन किया गया है।

आठवें अध्याय में परीक्षणीय विषय प्रकृति, सारसहनन, सात्म्य, सत्त्व आदि का वर्णन किया गया है।

नवम अध्याय मे दोष तथा दूष्यो का अपेक्षित सक्षिप्त वर्णन किया है तथा स्रोतो का भी उपयुक्त वर्णन दिया गया है।

इस प्रकार प्रसक्तानुप्रसक्त रूप से उपयुक्त ज्ञेय विषयो का सकलन कर के इस "निदान-चिकित्सा हस्तामलक" नामक ग्रन्थ का निर्माण किया गया है।

पाश्चात्य विद्वद्वरो द्वारा प्रचारित ग्रन्थलेखन की शैली के अनुसार निबन्ध-रूप में लिखे गए इस ग्रन्थ की शैली, आज-कल के पठन-पाठन - प्रकार के अनुकूल ही है, इस लिए यह ग्रन्थ सामयिक पाठको की रुचि बढाता हुआ लोकोपयोगी होगा--ऐसी आशा है। लेखक की भाषा-शैली विषय को रुचिपूर्ण तथा बोधगम्य बनाने में सफल हुई है। इसका प्रमाण वाचक स्थान-स्थान पर प्राप्त करेंगे।

लेखक ने यत्र-तत्र प्राचीन प्रचलित शब्दो के प्रयोग मे औचित्य प्रदर्शित किया है--जो स्तुत्य है। पर प्रस्तुत पुस्तक में "प्रमाण" शब्द को प्रत्यक्षादि प्रमाणो के लिए तथा 'मान-तौल' आदि के लिए भी प्रयुक्त करके सकीर्ण कर दिया है। जब कि प्राचीन ग्रन्थो में "मान-तौल" के लिए परिमाण शब्द का उचित प्रयोग प्रसिद्ध है, अतएव मेरे विचार में प्रस्तुत ग्रन्थकार "मान-तौल" के लिए "परिमाण" शब्द का प्रयोग करे तो ठीक होगा।

आयुर्वेद में निदान अर्थात् रोगो का निदान विस्तार से वर्णित नही है--ऐसी धारणा प्रायः शिक्षित वैद्यसमाज में पाई जाती है। यह इसलिए कि निदान सम्बन्धी सभी साहित्य किसी एक ही ग्रन्थ में और एक जगह शृखलाबद्ध--एक ही प्रकरण में प्राप्त नही है। यद्यपि आयुर्वेद के वाड्मय में इतस्तत. ऐसा साहित्य मिलता है--जिसके सकलन से निदान के विषय में सक्षिप्त तथा आकाक्षित साहित्य-शून्य स्थलो का प्रतिसस्कार किया जा सकता है। तथापि ऐसा यत्न करके लिखे ग्रन्थ हमें उपलब्ध नही है। इस श्रेणी के उपलब्ध ग्रन्थों में--माधव निदान आदि ग्रन्थों से भी आवश्यकता की पूर्ति नही हो पाती। उदाहरणत माधव निदान के प्रारम्भ में ही ज्वर-निदान-प्रकरण में ज्वर का निदान ही

वर्णित नहीं है केवल ज्वर की सम्प्राप्ति से ही इस प्रकरण का श्रीगणेश कर दिया गया है। चरक संहितोक्त ज्वर के विविध निदानो का वर्णन माधव निदान में नहीं पाया जाता। अत. सम्प्रति ऐसी सामयिक निदान-पुस्तक की अत्यन्त आवश्यकता है।

"निदान-चिकित्सा हस्तामलक" नामक इस पुस्तक की भूमिका लिखने का आदेश मेरे अन्यतम सुहृद्वर श्री रणजितराय देसाई ने दिया था। अत्यन्त कार्य-व्यस्तता के कारण मैं इस कार्यको शीघ्रतया सुचारुरूप से पूर्ण न कर सका, एदतर्थ क्षमा चाहता हूँ। मेरे विचार में यह पुस्तक प्राचीन आयुर्वेद के सिद्धान्तो की व्याख्या पाश्चात्य विज्ञान-मत से भी करने मे अच्छी मार्गदर्शक है। ऐसे ग्रन्थो से इस समय पठन-पाठन मे अच्छी सहायता मिल सकती है। क्योकि काल-बल से आज के युग मे जनता पाश्चात्य विज्ञान पर अधिक श्रद्धा रखती है। वह भारतीय प्राच्य विज्ञान को भी पाश्चात्य विज्ञान की कसौटी पर कस कर ही उसका मूल्य निर्धारण करना उचित समझती है। अतएव, ऐसे समय में इस प्रकार की पुस्तकें अवश्य आयुर्वेदसिद्धान्तो का ज्ञान पाश्चात्य विज्ञान के सहयोग से जनता तक पहुँचाने में उपयोगी होगी। शमिति,

हरिदत्त शास्त्री
डायरेक्टर ऑफ आयुर्वेद, मुम्बई राज्य

नम्र निवेदन

आयुर्वेद के प्रमुख अङ्ग कायचिकित्सा पर विशद-विवेचन-सहित जो ग्रन्थ-माला प्रस्तुत करने की लेखक और प्रकाशक की योजना है उसका यह प्रथम पुष्प वाचको की सेवा में सादर समर्पित है। कई वर्षों से प्रकाशको के प्रतिष्ठित मासिक पत्र 'सचित्र आयुर्वेद' में छात्रोपयोगी निदान-चिकित्सा अथवा निदान-चिकित्सा हस्तामलक नामक जो लेखमाला प्रतिमास छपती रही उस का सशोधित-परिवर्धित रूप यह ग्रन्थमाला होगी। पुस्तक पर आदि से अन्ततक दृष्टिपात करते ही वाचक समझ सकेंगे कि मूल लेखमाला के आरम्भिक पन्द्रह-बीस पृष्ठ ही अभी तो इस प्रथम खण्ड के रूप में प्रकाश में आ रहे है।

ग्रन्थ जैसे-जैसे लिखा जाता रहा वैसे-वैसे छपता रहा। यह क्रम कोई चार वर्ष चला। योजनानुसार संपूर्ण ग्रन्थ मुद्रित होने में अभी अनेकगुण समय व्यतीत होता। मुद्रित पृष्ठ इतनी देर पड़े रहना अथवा ग्रन्थकी पूर्ति के लिए अपेक्षित काल दे सकना स्पष्ट कारणो से लेखक और प्रकाशक दोनो के लिए अशक्य था। अतः ग्रन्थ को खण्डो के रूप में प्रस्तुत करना उचित समझा गया। ग्रन्थ को शीघ्र मुद्रित हुआ देखने का प्रिय वाचको का उत्कट आग्रह भी योजना को यह परिवर्तित रूप देने में कम कारणभूत नहीं हुआ।

इन प्रथम खण्ड में रोग-निदान सम्बन्धी सामान्य विवेचन किया गया है। यह विषय भी उक्त कारणो से इस खण्ड में पूर्णतया नही लिया जा सका है। इस प्रकरण में अभी नाडी-परीक्षा, अरिष्ट-विज्ञान तथा निदानपञ्चक ये महत्त्वपूर्ण प्रकरण शेष रहे हैं। तथापि ग्रन्थ को जो रूप दिया गया है उसे देखते हुए अद्या-वधि मुद्रित अंग भी विद्यार्थियों के लिए कम उपयुक्त न सिद्ध होगा।

लेखक द्वारा अवतक लिखित तथा श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन प्राइवेट लि० द्वारा ही प्रकाशित ग्रन्थो से प्रस्तुत ग्रन्थ की शैली में कुछ भिन्नता है, जिसके प्रति वाचको का चित्त आकृष्ट किया चाहता हूँ।

प्रथम भिन्नता यह है कि अवान्तर विषयों से सबद्ध समग्र वचन लिए नही गए हैं। केवल आरम्भ में वचनो का स्थल-निर्देश पूर्णतया कर दिया गया है। उसे देख कर जिज्ञासु विद्यार्थी स्वय स्वाध्याय कर सकेंगे। वचन प्रायः वे लिए गए हैं जो अधिक महत्त्व के है तथा जिनकी स्मृति निम्न स्तर के विद्यार्थी को भी वहुधा रहनी ही चाहिए। कई प्रसगो में मूल वचन उन स्थलो पर भी लिए गए हैं जहाँ उन का निर्देश न होता तो किसी को स्वभावतः शङ्का होती कि अमुक बात लेखक ने अपनी कल्पना से लिखी है—मूल ग्रन्थो में नहीं है। एक

वार इस क्रम से सपूर्ण ग्रन्थ मुद्रित हो जाए तो नयी आवृत्तियो में वचन पूर्णतया उद्धृत करने की इच्छा है।

द्वितीय भिन्नता इस ग्रन्थ में यह है कि, आधुनिक मत के प्रति प्राय. संकेतमात्र कर दिया गया है, संपूर्ण विवेचन नही किया गया है। अब तक के अनुभव से लेखक का नम्र मत हुआ है कि आयुर्वेद के लेखक या अध्यापक को नवीन विषयो का ज्ञान कराने की जिम्मेदारी न लेनी चाहिए। इन विषयो के पृथक् अध्यापक होते ही है। विशद ग्रन्थ भी अब तो देशभाषाओ में भी उपलब्ध होते है। ऐसी स्थिति मे आधुनिक विषयो को भाषण या ग्रन्थ मे स्थान देनेका फलितार्थ यह होता है कि हमारी जो शक्ति और समय आयुर्वेद पर लगने चाहिए उनका व्यय आयुर्वेद पर न होकर आधुनिक शास्त्रो के पोषण और प्रचार मे ही होता है। अतः अपने शास्त्रो के परिशीलन और प्रत्यक्ष परीक्षा द्वारा अपने तन्त्र को विशद किया जाए यही परिपाटी श्रेयस्कर समझी है। तथापि नव्य-मत को सर्वथा छूए विना भी कार्यसिद्धि तो नही होती। आज के युग मे किसी न किसी रूप मे नव्य-मत के सपर्क मे चिकित्सक को आना ही पडता है, भले ही वह केवलायुर्वेद का विद्यार्थी रहा हो। अत. नव्य मत के प्रति अगुलिनिर्देश मात्र कर दिया है--किस प्राचीन वस्तु का किस नवीन वस्तुके साथ साधर्म्य है और कितना अथवा वैधर्म्य है तो कितना? एव वैधर्म्य है और उस विषय मे आयुर्वेद की उत्कृष्टता है तो क्यो? अथवा आयुर्वेद का कोई अंश हमें अपने आज के ज्ञान के अनुसार कुछ अपूर्ण भासता है तो उसकी अपूर्णता का स्वरूप क्या है तथा उसकी पूर्ति कैसे की जा सकती है?

अपना स्थिर मत यह हो चुका होने पर भी मै आयुर्वेदीय क्रियाशारीर की नयी आवृत्तियों मे तदनुरूप परिवर्तन नही कर पा रहा हूँ, इसका मुझे खेद है। साथ ही वलवान् कारण भी है, और वह है महाकवि माघ के शब्दो मे--विष-वृक्षोऽपि संवर्ध्य स्वयं छेत्तुमसाम्प्रतम्। तथापि "आयुर्वेदीय क्रियाशारीर" के नवीन सस्करण में आयुर्वेद को अधिकतर स्थान देने, उसकी अधिकाधिक व्याख्या करने एव नव्य-मतसे उसका श्रैष्ठ्य प्रतिपादित करने का प्रयत्न किया जा रहा है।

आयुर्वेद के संवर्धन के लिए नव्य-मत से उसकी समन्वयपूर्वक पूर्ति की अपेक्षया आयुर्वेद का स्वयं आयुर्वेद से समन्वय मुझे प्रथम आवश्यक प्रतीत होता है। इसका अर्थ यह है कि आयुर्वेदिक प्रस्तुत किसी प्रकरण को समझने के लिए आयुर्वेद के ही प्रकरणान्तरो में आए वचनो का उपन्यास करना और उनकी सहायता से प्रस्तुत प्रकरण को विशद करना। यह पद्धति अपनाने का नम्र प्रयास इस ग्रन्थ में किया गया है। ऐसा करने में प्रमुख दृष्टि यही रखी है कि ग्रन्थ आरम्भ से अन्ततक केवल शब्दार्थ मात्र न रह कर व्यवसाय और क्रिया से साक्षात् सवन्ध रखनेवाला वने। इस प्रकार निदान-विषयक इन आरम्भिक अध्यायो की रचना भी

केवल शुष्क आकार-शून्य चर्चा न रह कर आगे आनेवाले रोगो के निदान और चिकित्सा के प्रति सकेत करनेवाली होने से अधिक उपयोगिनी हो गयी है। इतना ही नही, क्रियाशारीर या दोषधातुमल-विज्ञान, जो कायचिकित्सा का ही युगानुरूप पृथग्भूत उपग्रह या उपाङ्गभूत विषय हो चुका है, उससे सबद्ध इस ग्रन्थमे आए प्रकरण भी रोगो के निदान और चिकित्सा से साक्षात् सबन्ध रखनेवाले होनेसे इस ग्रन्थ में अधिक गहराई से चर्चे गए है। परिणामतया, क्रियाशारीर का अध्ययन करनेवाले प्रारम्भिक कक्षा के विद्यार्थी भी अपने विषय से सबद्ध प्रकरणो का अध्ययन इस ग्रन्थसे करेंगे तो उन्हे इस ग्रन्थ में आवश्यकतानुसार की गई विवेचन की विशदता के कारण विषय अधिक स्पष्ट एवं व्यवहार से अधिक संबन्ध रखनेवाला प्रतीत होने से अधिक रोचक लगेगा।

किं बहुना, विषय के विशद विवेचन की विशिष्ट दिशा का निर्धारण कर तदनुरूप ग्रन्थ-लेखन का नम्र प्रयास इन पृष्ठो के रूप में किया गया है। यह प्रयास श्लाघनीय हो तो मै इसे गुरुकल्प विद्वज्जनो, विवित्सु वाचको और विद्यार्थियो एवं सहृदय सन्मित्रो द्वारा जो प्रोत्साहन सतत मिलता रहा उसीका शुभ परिणाम मानता हूँ और सर्व सज्जनो का अन्त.करण से ऋण-स्वीकार करता हूँ। श्री ओच्छवलाल नाझर आयुर्वेद महाविद्यालय की स्वामिनी सभा श्री-तापी ब्रह्मचर्याश्रम के अध्यक्ष माननीय श्री रणछोडदास त्रि पोपावाला तथा महाविद्यालय के आचार्य पूज्य श्री बापालाल भाई ने सस्था से कायचिकित्सा विषय के प्राध्यापक पद पर नियुक्त कर मुझे इस विषय का शास्त्रीय ज्ञान एव प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त करने का अवसर दिया तथा साहित्य-सर्जन के कार्य को सतत प्रोत्साहन देकर पल्लवित किया तदर्थ दोनो महानुभावो का विशेष रूप से आभार व्यक्त करता हूँ। आदरणीय वैद्य पण्डित हरिदत्तजी शास्त्री, आयुर्वेदाचार्य, डाइरेक्टर ऑफ आयुर्वेद, मुंबई राज्य ने अपने सुतरा व्यस्त समय मे से थोडा-थोड़ा करके समय निकाला और पुस्तक को साद्यन्त वॉच कर उसपर विवेचनात्मक प्रस्तावना लिख कर दी, तदर्थ उनके प्रति भी पृथक् कृतज्ञता प्रदर्शित करता हूँ। ग्रन्थ के प्रकाशक, मुद्रक एवं मुद्राकर सर्व महानुभावो का सौजन्य स्वीकार करता हूँ, कि उन्होने अनेक कठिनाइयाँ उठा कर भी मेरी अनियमितताओ को सहन किया। अपने प्रात स्मरणीय गुरु श्रद्धेय स्वर्गवासी वैद्य यादवजी त्रिकमजी आचार्य की पुण्य स्मृति तो इस समय सर्वोपरि लेखक के अन्त.करण को आप्लावित कर रही है। उनके प्रति अपनी नम्र श्रद्धाञ्जलि अर्पित करता हुआ इस प्रस्तावना को समाप्त करता हूँ।

विनीत

लेखक

प्रकाशकीय वक्तव्य

'आयुर्वेदीय क्रियाशारीर' 'आयुर्वेदीय पदार्थ विज्ञान', तथा 'आयुर्वेदीय हितोपदेश' आदि ग्रन्थो के लेखक तथा ओ० ना० आयुर्वेद महाविद्यालय सूरत के वाइस-प्रिन्सिपल एव बम्बई आयुर्वेद रिसर्च बोर्ड के सदस्य वैद्य रणजितराय देसाई, आयुर्वेदाचार्य, आयुर्वेदालंकार द्वारा लिखित 'निदान-चिकित्सा हस्तामलक' का प्रथम खण्ड प्रकाशित कर आयुर्वेदीय विद्वत्समाज के समक्ष उपस्थित करते हुए हमें परम प्रसन्नता हो रही है। वैद्य रणजितराय की अगाध विद्वत्ता एवं सुलझे हुए विचारो के साथ इनकी लेखन-शैली से समस्त आयुर्वेद-जगत् सुपरिचित है। कठिन से कठिन विषय को भी सुबोध भाषा में लिखकर सर्वसाधारण को हृदयस्थ करा देना—यही इनकी लेखन-शैली की विशेषता है। इनके द्वारा लिखित उपरोक्त आयुर्वेदीय ग्रन्थ देश के विभिन्न विश्वविद्यालयों और सरकारी आयुर्वेद कालेजो के पाठयक्रम में सम्मिलित है।

इस पुस्तक (प्रथमखण्ड) के मात्र ९ अध्यायो में निदान विषयक आवश्यक विषयों एवं यथास्थान कठिन विषयों पर पूर्ण विवेचन तथा प्राच्य-पाश्चात्य निदान का तुलनात्मक विवेचन करते हुए आयुर्वेद-विषय को ही प्रधानता दी गई है, जिससे विद्वान् वैद्य समाज एवं कोमलमति छात्रों तथा आयुर्वेद-जिज्ञासुओ को रोग-निदानात्मक विषय सरलतया समझ मे आ जाएँ।

इस पुस्तक के प्रारम्भिक प्रकाशन काल में हमे आशा थी कि वैद्यनाथ-प्रकाशन द्वारा प्रकाशित अन्य पुस्तको की तरह इसे भी एक ही जिल्द मे प्रकाशित कर दिया जा सकेगा और तदनुसार ही इसका प्रकाशन भी होता रहा। परन्तु लेखक की कार्यव्यस्तता और समयाभाव एवं प्रकाशन मे अत्यधिक समय लग जाने तथा इस पुस्तक की अत्यधिक माँग आने पर निश्चय किया गया कि ९-अध्यायो का एक खण्ड प्रकाशित कर दिया जाय। शेष विषय दूसरे खण्ड में प्रकाशित होगे।

हमें आशा है कि आयुर्वेद के विद्यार्थियो, अध्यापको और जिज्ञासुओ को यह पुस्तक पसन्द आयेगी और निदान जैसे गम्भीर एवं महत्त्वपूर्ण विषय को हृदयंगम करने में उनको सुगमता होगी।

प्रकाशक

रामदयाल जोशी रामनारायण वैद्य

मैनेजिंग डायरेक्टर

श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन प्रा० लि०, कलकत्ता

विषय सूची

विषय	पृष्ठ
पहला अध्याय	
आमुख ..	१
कायचिकित्सा ग्रन्थ का प्रतिपाद्य विषय ..	१
कायचिकित्सा के लक्षण ..	२
काय शब्द का विशेष अर्थ कायाग्नि ..	२
दोषो के प्रकोप तथा रोगमात्र की उत्पत्ति का कारण अग्निमान्द्य ..	३
दोषो की मलरूपता (टिप्पणी) ..	३
अग्नियो मे जाठराग्नि का प्राधान्य ..	५
रोग का प्रसिद्ध पर्याय आमय ..	७
व्याधि अथवा रोग का लक्षण ..	९
दोषो के दो प्रभेद शारीर और मानस ..	१०
दोषो मे वात तथा रज का प्राधान्य ..	११
शारीर दोषो मे वात के प्राधान्य हेतु ..	११
इतर दोषो का अभिवाहक वायु .	१३
अन्य दोषो तथा मलो के साम्य का हेतु वायु ..	१४
अग्नि के साम्य का भी हेतु वायु ..	१८
मानस रोगो का मूल वायु	१८
आवरण से वात का प्रकोप	१९
वायु की योगवाहता	२०
वायु द्वारा धातुओ का शोषण	२०
वायु से इतर दोषो के प्रकोप का स्वरूप .	२१
रसायन द्रव्यो की वात पर क्रिया .	३०
वायु के बहु गुण का तात्पर्य	३२
समवाय मे वायु की चिकित्सा	३३
प्रकोप से पूर्व ही वायु के उपचार की आवश्यकता	३४
मानस दोषो मे रज का प्राधान्य .	३४
दूसरा अध्याय	
रोगो के विविध वर्ग	३६
स्वस्थ पुरुष का लक्षण	३६
प्रसन्नेन्द्रियता स्वास्थ्य का प्रधान लक्षण	३७
रोग का चिकित्सोपयुक्त लक्षण .	३९
दोषो की तीनो अवस्थाओ मे कर्तव्य	४०
वर्गीकरण का प्रयोजन रोगो की असख्यता	४०
दोष-दर्शन वैद्य का कर्तव्य	४१
रोगो की असख्यता के कारण .	४४
अशाश विकल्प	४४

विषय	पृष्ठ
शरीर परमाणुओ की असख्यता	४५
रोगो के प्राथमिक वर्ग निज तथा आगन्तु	५२
आगन्तु रोगो के भेद शारीर तथा मानस	५३
आगन्तु रोगो का लक्षण	५४
आयुर्वेद और जीवाणुवाद (टिप्पणी)	५४
निज रोगो का लक्षण	५८
मानस रोगो का लक्षण .	५८
निज तथा आगन्तु रोगो मे भेद और परस्पर सम्वन्ध	६०
शारीर-मानस आदि रोगो का परस्पर अनुवन्ध	६१
शरीर दोषो का परस्पर अनुवन्ध	६२
मन और शरीर का परस्पर सम्वन्ध	६३
सामान्यज और नानात्मज रोग .	६५
तीसरा अध्याय	
नानात्मज रोग .	६७
कफ-नानात्मज रोग ..	६८
कफ विकारो के सामान्य लक्षण	६८
शरगधरोक्त श्लेष्म—नानात्मज विकार	७४
कफज विकारो पर एक दृष्टि	७५
पित्तनानात्मज रोग .	८४
पित्त विकारो के सामान्य लक्षण	८४
पित्त-नानात्मज रोग .	८७
शरगधरोक्त पित्त-नानात्मज रोग .	९२
पित्त विकारो पर एक दृष्टि	९३
दोपो के वर्गीकरण का प्रयोजन	९९
वातज—नानात्मज रोग	१०१
वात-विकारो के सामान्य लक्षण	१०१
वात-नानात्मज रोग .	१२०
रक्त-प्रकोपज रोग	१४०
चौथा अध्याय	
रक्त प्रकोपज, धातुज मार्गानुसारी तथा स्रोतोदुष्टिजन्य रोग ..	१४२
रक्तप्रकोपज रोग ..	१४२
रक्तदुष्टि मे पित्त का प्राधान्य .	१४२
रक्तदुष्टिजन्य रोग	१४३
रक्तप्रकोपज रोग आधुनिको का हाईब्लड प्रेशर	१५४
धातुज रोग	१५७
दोष-भेद से धातुज आदि रोगो मे लक्षणो की भिन्नता .	१५८
धातु आदि स्थानो मे रोगोत्पत्ति का कारण—स्रोतोरोध .	१५९
रसज (रस-प्रदोषज) रोग .	१६१
रक्तज (रक्त-प्रदोषज) रोग .	१६५
मासज (मास-प्रदोषज) रोग .	१६६
मेदोज (मेदोदोषज—मेद सश्रय) रोग	१६९
मेदस्विता (अतिस्थौल्य) के दोष	१७३
अस्थिज (अस्थिदोषज) रोग .	१७५
मज्जज (मज्जदोषज) रोग .	१७६
शुक्रज (शुक्रप्रदोषज) रोग ..	१७७
इन्द्रियाश्रित रोग	१७८

विषय	पृष्ठ
मलायतन—दोपज रोग	१७८
स्नायु-आदि-मश्रितज रोग	१७६
मार्गाश्रित रोग	१७६
दोषो के विशेष स्थान	१८०
तीन रोगमार्ग	१८१
मार्गाश्रित रोग	१८२
रोग-मार्गो के ज्ञान का प्रयोजन	१८३
कोष्ठो और शाखाओ मे दोषो के गमनागमन के हेतु	१८७
स्रोतोदुष्टिजन्य रोग	१६२
आरोग्य तथा अनारोग्य मे स्रोतो का स्थान	१६३
स्रोतशब्द का सामान्य और विशेष अर्थ	१६४
सुश्रुत-मत से स्रोत का लक्षण	१६६
स्रोतो के प्राथमिक भेद वहिर्मुख तथा अन्तर्मुख	१६७
पाँचवाँ अध्याय	
आदिवलप्रवृत्तादि रोग-वर्ग तथा अन्य वर्गीकरण	१६८
रोगो के आध्यात्मिक आदि तीन वर्ग	१६८
आदिवल प्रवृत्त रोग	१६६
आदिवल प्रवृत्त रोगो की असाध्यता	१६६
रोग पीडितकुलो मे विवाह का निषेध (टिप्पणी)	२०१
रोग की नही, दोषजनित दुष्टि की ही कुलजता	२०२
गर्भ के मातृज तथा पितृज अवयव	२०४
बीज द्वारा प्रकृति की अवतारणा का प्रकार	२०५
दुष्टि के प्रमाणभेद से परिणाम भेद	२०८
अर्श की आदिवल प्रवृत्ति	२०६
आदिवल प्रवृत्त (कुलज) रोग नव्य-मत से	२११
गर्भस्थिति का यक्ष्मा पर प्रभाव	२१३
धमनी-प्रतिचय की आदिबलप्रवृत्ति	२१५
हृद्रोगो की आदिवलप्रवृत्ति	२१६
आधुनिक विज्ञान मे प्रकृति का विचार	२२१
मन की असारता मानस-रोगो का प्रथम हेतु	२२१
शुक्रसारता—मन के सार मे प्रमुख हेतु	२२२
अपतन्त्रक की कुलज प्रवृत्ति	२२६
अपस्मार की आदिवलप्रवृत्ति	२२६
श्वास की आदिबलप्रवृत्ति	२२८
रक्तस्राव तथा वर्णान्ध्य की आदिवल प्रवृत्ति	२२६
वातरक्त की आदिवल प्रवृत्ति	२३१
जन्मवल प्रवृत्त रोग	२३२
रसकृत रोग	२३२
दौहृदापचारकृत रोग	२३६
गर्भ की प्रवृत्तियो का कारण समुच्चय	२३८
जन्मवलप्रवृत्त पगु, वामन तथा जड एक स्पष्टता	२४०
दोषवलप्रवृत्त रोग	२४२

विषय	पृष्ठ
एक रोग से अन्य रोग की उत्पत्ति मे कारण	२४३
अर्श, अतिसार तथा ग्रहणी-रोग की परस्पर कारणता	२४५
आमाशय-समुत्थ तथा पक्वाशय-समुत्थ रोग	२४६
आशयभेद से रोगो के वर्गीकरण का प्रयोजन	२५०
दोषवलप्रवृत्त रोगो के पुन दो भेद	२५४
सघातवलप्रवृत्त रोग	२५५
कालवलप्रवृत्त रोग	२५६
कालवलप्रवृत्त रोगो के भेद	२५७
ऋतुव्यापत्ति का कारण—सामुदायिक अधर्म	२६०
अव्यापन्न ऋतुओ मे जनपदोद्ध्वसक रोग	२६१
अव्यापन्न ऋतुकालिक रोगो का भी मूल अधर्म	२६३
दैववलप्रवृत्त रोग	२६४
सक्रामक रोग	२६६
दैवव्यपाश्रय चिकित्सा	२६६
प्रार्थना मे दुसाध्य रोगो की शान्ति	२७२
स्वभाववलप्रवृत्त रोग	२७७

छठा अध्याय

विषय	पृष्ठ
आगन्तु आदि चार व्याधि-भेद	२७६
वृद्धवाग्भटोक्त सात वर्ग	२८०
दोपज-कर्मज तथा दोपकर्मज रोग	२८२
दश प्रकार के रोगानीक (रोग-समूह)	२८५
साध्यासाध्य-भेद से रोगो का वर्गीकरण	२८६
सुखसाध्य रोग के लक्षण	२८७
कृच्छ्रसाध्यता के लक्षण	२९६
याप्यरोगो का लक्षण	२९७
प्रत्याख्येय (अनुपक्रम, त्याज्य) रोगो के लक्षण	२९८
साध्य होते हुए भी त्याज्य रोगी	२९९
अत्यन्त अधार्मिक	३०५
सदाऽतुर पुरुष	३०५
स्वभावत दुश्चिकित्स्य आठ महारोग	३०६
असाध्य व्याधियो की साध्यता ? एक प्रकार	३०८
अनुवन्ध्य-अनुवन्ध-प्रधान रोग	३०८
उपद्रव कॉम्प्लीकेशन का पर्याय नही	३०८
दोषो और रोगो का परस्परानुवन्ध	३०९
ससर्ग और सन्निपात की व्याख्या	३१०
स्वतन्त्र और परतन्त्र दोष	३१२
प्रधान तथा अप्रधान व्याधि (उपद्रव)	३१३
प्राक्केवल या प्रधान रोग	३१७
अन्य लक्षण या पूर्वरूप का लक्षण	३१८
स्वतन्त्र तथा परतन्त्र रोग	३१९
साम तथा निराम रोग	३२०

विषय	पृष्ठ
एकभ्रान्ति ..	३२०
जठराग्नि के दौर्बल्य से उत्पन्न ग्राम ..	३२१
धात्वग्नियो के दौर्बल्य से उत्पन्न ग्राम ..	३२३
ग्राम के ग्रन्य ग्रर्थ ..	३२६
नव्य-मत से ग्राम की व्याख्या	३२७
सामता-निरामता के ज्ञान की ग्रावश्यकता	३३०
शस्त्रसाध्य तथा स्नेहादि क्रिया साध्य रोग	३३४
प्राकृत-वैकृत रोग	३३५
रोगो के प्रमुख वर्ग निज तथा ग्रागन्तु	३३६

सातवॉ अध्याय

विषय	पृष्ठ
ग्रायुर्वेदाभिमत प्रमाण	३३७
प्रमाण का ग्रर्थ	३३७
तन्त्राभिमत प्रमाण	३३७
ग्राप्तोपदेश	३३८
ग्राप्तोपदेश का प्राथम्य	३४२
प्रत्यक्ष-प्रमाण	३४३
ग्रनुमान-प्रमाण तथा युक्ति	३४४
उपमान-प्रमाण	३४५
परीक्षा त्रैविध्य	३४५
प्रत्यक्ष द्वारा रोग-परीक्षा	३४९
प्रश्न द्वारा रोगो की परीक्षा	३५२
देश	३५३
काल	३५८
जाति	३५९
सात्म्य	३६०
ग्रातङ्क-समुत्पत्ति तथा काल-प्रकर्ष	३६१
वेदनाएँ ..	३६२
वल .	३६३
ग्रन्तरग्नि (जठराग्नि) ..	३६३
कोष्ठ	३६३
मल-प्रवृत्ति	३६४
स्वप्न-दर्शन	३६६
ग्रभिप्राय .	३६६
ग्रास्य रस	३६७
नक्षत्र	३७०
उपशय-ग्रनुपशय	३७०
ग्रनुमान द्वारा रोग-परीक्षा .	३७१
वालको की रोग-परीक्षा मे ग्रनुमान का स्थान .	३७६
सम्यक् परीक्षा का महत्त्व	३८२

आठवॉ अध्याय

विषय	पृष्ठ
रोग-परीक्षा मे परीक्षणीय विषय	३८४
एक सज्ञा का शास्त्र मे ग्रनेक ग्रर्थों मे प्रयोग (टिप्पणी)	३८५
प्रकृति	३८६
कफ-प्रकृति पुरुष के लक्षण	३९६
पित्त-प्रकृति पुरुष के लक्षण	४०९
वात-प्रकृति पुरुष के लक्षण .	४१७
महाभूतो के भेद से पञ्चविध प्रकृतियॉ .	४२७
महाप्रकृतियॉ	४२८
सत्त्व-रज-तम ग्रात्मा की प्रकृति .	४२९
सुश्रुत-वर्णित साख्य ग्रायुर्वेदाभिमत नही	४२९
सात्त्विकादि मनो एव पुरुषो के लक्षण	४३१

विषय	पृष्ठ
आहार से महाप्रकृतियो की परीक्षा	४३२
सात्त्विक पुरुषो के भेद तथा उनके लक्षण	४३३
राजस पुरुपो के भेद तथा लक्षण	४३६
तामस पुरुषो के भेद तथा लक्षण	४३७
प्रकृतियो की अपरिवर्तन-शीलता	४३८
आधुनिक विज्ञान के मत से प्रकृतियाँ	४३९
हिस्टेरिकल पर्सनेलिटी	४४०
प्रकृतियो का नव्य-मत से बहु-सम्मत कारण	४४२
सार	४४४
सत्त्व या मन	४५२
वल तथा व्यायामशक्ति	४५४
वल के प्रकार	४५७
क्षमता के कारण	४५७
वल और दौर्वल्य के हेतु	४५९
वलानुसार औषध योजना	४६०
सात्म्य या उपशय	४६१
ओक सात्म्य के त्याग का नियम	४६५
वय की परीक्षा	४६६
आयु की सामान्य परीक्षा	४७४
प्रमाण-परीक्षा	४७८
देह स्थूल, कृश तथा मध्यम	४८४
स्थौल्य (मेदस्विता) का निदान और लक्षण	४८५
सहनन की परीक्षा	४९२
देश की परीक्षा	४९३
देश-ज्ञान का प्रयोजन	५०४
काल और ऋतु की परीक्षा	५०९
वर्ष के विभाग	५०९
ऋतुओ का विविध विभाग	५१३
औषधापेक्षकाल	५२४
प्राग्भक्त औषध काल	५२६
आहार-शक्ति तथा अग्नि की परीक्षा	५३०
दोषभेद से पाचकाग्नि के भेद	५३२
कोष्ठ की परीक्षा	५४३
मृदुकोष्ठ का लक्षण	५४३
क्रूरकोष्ठ का लक्षण	५४४
मध्यकोष्ठ का लक्षण	५४५

नौवाँ अध्याय

विषय	पृष्ठ
रोग-परीक्षा मे रोगपरीक्षणीय विषय	५४८
दोष	५४८
क्षय से रोगो की उत्पत्ति	५५१
शरीर के धारक वात-पित्त-कफ	५५७
दूष्य—धातु, उपधातु तथा मल	५६५
दोषादि की वृद्धि के सामान्य कारण	५६८
दोषादि की क्षीणता के कारण	५६९
रक्त की वृद्धि-क्षय के लक्षण	५७४
मास धातु की वृद्धि-क्षय के कारण	५७५
मेद की वृद्धि-क्षय के लक्षण	५७८
अस्थि की वृद्धि-क्षय के लक्षण	५७९
मज्जा की वृद्धि-क्षय के लक्षण	५८०

विषय	पृष्ठ
शुक्र की वृद्धि-क्षय के लक्षण .	५८२
आर्तव की वृद्धि-क्षय के लक्षण	५८३
स्तन्य की वृद्धि-क्षय के लक्षण .	५८४
गर्भ की वृद्धि-क्षय के लक्षण	५८४
पुरीप की वृद्धि-क्षय के लक्षण	५८४
मूत्र की वृद्धि-क्षय के लक्षण .	५८७
अन्य मलो की वृद्धि-क्षय के लक्षण	५९०
ओज की वृद्धि-क्षय के लक्षण .	५९१
स्रोतो की परीक्षा	५९४
स्रोत शब्द की व्युत्पत्ति	६०२
स्रोतो का व्यापक अर्थ शरीर-परमाणु या कोष	६०३
स्रोतोदुष्टि का लक्षण	६०७
स्रोतो की दुष्टि का कारण .	६१५
यह स्रोतोदुष्टि इतर रोगो से भिन्न हे ..	६१७
स्रोतो के मूल दुष्टि तथा उसके निदान-लक्षण-चिकित्सा .	६१८
वाह्यस्रावो की परीक्षा	६३३
शुद्ध तथा अशुद्ध रस के लक्षण	६३३
जीवरक्त तथा पित्त रक्त मे भेद .	६३५
शुद्ध और दुष्ट आर्त्तव की परीक्षा ..	६३६
शुद्धाशुद्ध शुक्र की परीक्षा ..	६३९
शुद्धाशुद्ध स्तन्य के लक्षण .	६४६
शुद्धस्तन्य की अशाश कल्पना (आठ क्षीर दोष)	६४८
पुरीष की परीक्षा ..	६५०
पुरीष की सामता तथा पक्वता के लक्षण	६५१
मूत्र-परीक्षा ..	६५५
नेत्र-परीक्षा .	६५७
जिह्वा-परीक्षा .	६५८
स्पर्श-परीक्षा ..	६५९
मुख के रस से परीक्षा ..	६५९

- ॐ नम परमर्षिभ्यो नम परमर्षिभ्यः -

नामूल लिख्यते किञ्चिन्नानपेक्षितमुच्यते

निदान-चिकित्सा-हस्तामलक

पहला अध्याय

आमुख

अथातो व्याधिसामान्यविज्ञानीयमध्यायं व्याख्यास्यामः। इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः॥

यत्रौषधीः समग्मत राजानः समिताविव।
विप्रः स उच्यते भिषग्रक्षोहाऽमीवचातनः[1] ॥

काय-चिकित्सा : ग्रन्थ का प्रतिपाद्य विषय

व्यापकता की दृष्टि से आयुर्वेद के आठ अङ्गो मे काय-चिकित्सा का पद अग्रय है। आज तो अन्य अङ्गो में वर्णित रोगो की चिकित्सा भी काय-

---

१—ऋग्वेद १०।९७।६ तथा यजुर्वेद १२।८०

—समिति (राजसभा, बडी विधान-सभा) मे जैसे राजा (उसके सभ्य) सयुक्त होकर कार्य करते है, तद्वत् ओषधियाँ (दोपनाशन उपचार—निरुक्त) जिसके समीप अथवा जिसकी बुद्धि मे स्थित होती है ऐसा, राक्षसो का (रोग-वीजो का) नाश करनेवाला तथा (उनके आश्रयभूत) आम का शमन करनेवाला (कर्मणा) विप्र वैद्य कहाता है।

यहाँ रोगबीजो (जीवाणुओ) के नाश और उनके पोपक आम (आम रस तथा उससे सयुक्त दोपो) को एक ही कक्षा मे रखा गया है। 'हृदय और मस्तिष्क दोनो मे किसका महत्त्व अधिक है?' आयुर्वेद और आधुनिक चिकित्साशास्त्र के मध्य विवादास्पद इस विपय के समाधान के लिए मैंने **आयुर्वेदीय क्रियाशारीर** मे 'मूर्धानमस्य ससीव्य' इत्यादि वेद-मन्त्र प्रस्तुत किया है। जीवाणुवाद को लेकर प्रवृत्त विवाद के शमनार्थ यहाँ उल्लिखित मन्त्र उपस्थित करता हूँ। जैसा→

चिकित्सक ही करते देखे जाते हैं; यथा रक्तप्रदर, विभिन्न बालरोग आदि कौमारभृत्याधिकारोक्त रोगों; प्रतिश्याय, शिरोरोग (शिरोवेदना) आदि शालाक्यतन्त्रोक्त रोगों, रसायन-वाजीकरण प्रकरणों में कहे तत्तत् विकारों एवं अन्य तन्त्रोक्त रोगों की चिकित्सा कायचिकित्सकों द्वारा ही की जाती है। इससे इस तन्त्र का महत्त्व और भी बढ़ गया है। यों कायचिकित्सा का प्राचीनोक्त क्षेत्र इसके नीचे दिए लक्षण से विदित होगा[1]।

कायचिकित्सा का लक्षण—

ज्वर, रक्तपित्त, शोष (यक्ष्मा), उन्माद, अपस्मार, कुष्ठ (त्वग्रोग, रक्त-विकार), प्रमेह (मूत्र-विकार), अतिसार आदि प्रथम आमाशय और पक्वाशय में उत्पन्न होकर पश्चात् सर्व शरीर में प्रसृत तथा सश्रित हो उसे उपतप्त (पीडित) करनेवाले रोगों के निदान, लक्षण और चिकित्सा का निर्देश आयुर्वेद के जिस अङ्ग में किया जाता है, उसे कायचिकित्सा कहते हैं।

कायचिकित्सा के दो विभाग किए जाते हैं। १—निदान, जिसमें रोगों के कारण, पूर्वरूप, लक्षण आदि का विचार किया जाता है, २—चिकित्सा, जिसमें रोगों के शमन के उपायों का वर्णन होता है।

काय शब्द का विशेष अर्थ कायाग्नि—

कायस्यान्तरग्नेश्चिकित्सा कायचिकित्सा ॥

च० सू० ३०।२८ पर चक्रपाणि

जाठरः प्राणिनामग्निः काय इत्यभिधीयते।
यस्तं चिकित्सेत् सीदन्तं स वै कायचिकित्सकः ॥

च० सू० ३०।२८ पर शिवदाससेन धृत भोज-वचन

←—कि मैंने ऊपर कहा है मन्त्र में रोगबीज तथा उनके आश्रयदाता साम शरीर दोनों को एक ही कोटि में रखा है। तात्पर्य, आयुर्वेद के मूल वेद के मत से दोनों ही मत सत्य हैं। तथापि 'ओषधि' शब्द की ऊपर दी निरुक्ति (ओषधि कस्माद् दोषविर्भवति) में यह ध्वनित है कि, ओषधियों की क्रिया दोषों पर (विशेष) होने से रोगबीजों के क्षेत्रभूत शरीर का महत्त्व प्राचीनों के मत से सविशेष है।

१—देखिए—सु० सू० १।८ (३), सु० सू० १।७ पर डल्हन, सु० सू० ३०।२८ पर चक्रपाणि, च० सू० ३०।२८ पर शिवदास सेन तथा अ० हृ० सू० १।५ पर अरुणदत्त।

इस प्रकरण में काय शब्द जाठराग्नि (अन्तरग्नि, कायाग्नि) इस विशेष अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है। मन्द हुए जठराग्नि की जो चिकित्सा करे---अर्थात् लङ्घन, दीपन, पाचन आदि उपचारो द्वारा उसे प्रदीप्त कर, यथोचित सशोधनो द्वारा उसे आवृत करनेवाले दोषो का निर्हरण कर एव अग्नि की मन्दता के कारणो का परित्याग करा उसे समावस्था में लाए, उसे कायचिकित्सक कहा जाता है। अनुभव से भी यह वस्तु सत्य सिद्ध होती है। कारण, देखते है ज्वर, अतिसार प्रभृति कायचिकित्साधिकारोक्त रोग अग्नि की विकृति से ही होते है। देखिए कारण---

दोषो के प्रकोप तथा रोगमात्र की उत्पत्ति का कारण अग्निमान्द्य---

शमप्रकोपौ सर्वेषा दोषाणामग्निसंश्रितौ ॥ च० चि० ५।१३६

रोगाः सर्वेऽपि मन्देऽग्नौ ॥ अ० हृ० नि० १२।१[1]

रोगो की उत्पत्ति के कारणभूत दोषो का साम्य या प्रकोप अग्नि के ही अधीन है। अग्नि मन्द हो तो प्रसादभूत अन्नरस एव रस-रक्तादि धातुओ और उपधातुओ की पुष्टि यथावत् नहीं होती, उनके मलभूत दोषो की ही उत्पत्ति और पुष्टि सविशेष होती है[2]। जैसे, जाठराग्नि दुर्बल हो तो निश्चित ही प्रसादभूत

१---'अग्नि की महिमा' के सूचक अन्य प्रमाणो का सग्रह आयुर्वेदीय क्रिया-शारीर के छठे अध्याय मे देखिए।

२---दोषों की मलरूपता

क्रियाशारीर या दोषधातुमलविज्ञान मे अधीत यह सिद्धान्त यहाँ प्रसगवश स्मरण कर लेना चाहिए कि, **उत्पत्ति की दृष्टि से दोषो का नाम मल** है। प्रत्येक धातु को अपनी पुष्टि के लिए रसधातु का जितना प्रमाण प्राप्त होता है उसका उपयोग धातु-उपधातु अपनी पुष्टि और क्षतिपूर्ति के लिए कर चुकते हैं, उसके अनन्तर रसधातु का जो अश शेष रहता है, वह उस धातु या उपधातु के लिए अनुपयुक्त होने से उस धातु के लिए तो मल-रूप ही होता है। इस नि सार या मलरूप अश से जिस द्रव्य की पुष्टि होती है, उसे नि सार या मलरूप अश से परिपोषित होने के कारण उस धातु का **मल** कहा गया है।

दोषमात्र की उत्पत्ति और पुष्टि इस प्रकार अपने-अपने धातु के नि सार अश से आनुषङ्गिक फल (बाई-प्रोडक्ट) के रूप मे ही होती है। यह बात नही कि वे सर्वथा त्याज्य---शरीर से बाहर फेक देने योग्य---होने से मल कहाते हो। इनके स्वास्थ्योपयुक्त प्राकृत कर्म भी शास्त्रो मे वर्णित है ही। उन कर्मो के कर्ता होने से---उन कर्मो के द्वारा शरीर का धारण करनेवाले होने से---वात→

अत्यल्प न्यून प्रमाण मे उत्पन्न होता है, मलभूत पुरीप, मूत्र और वायु ही अधिक प्रमाण मे बनते है, वैसे ही धात्वग्नि तथा भौतिकाग्नि मन्द हो तो जो-जो धात्वग्नि या भौतिकाग्नि मन्द हो उससे पक्व और पुष्ट होनेवाले धातु-उपधातु और इन्द्रिय की पुष्टि स्वल्प होती है ; उसके मलभूत द्रव्य की ही उत्पत्ति अधिक प्रमाण में होती है। इन मलभूत द्रव्यो मे वात-पित्त-कफ की भी गणना है। वात

←पित्त-कफ को **धातु** भी कहा जाता है। यही वात-पित्त-कफ विपम नाम प्रकुपित या क्षीण होते हुए शरीर को दूपित (रोग-पीडित) करते है इस निमित्त इन्हे **दोष** कहा जाता है।

तात्पर्य, **वात-पित्त-कफ की विभिन्न संज्ञाएँ विभिन्न दृष्टियो से है।** सिद्धान्त को यथावत् समझने के लिए इस वात को पुन -पुन समझ लेना चाहिए। उत्पत्ति की दृप्टि मे इन्हे मल कहा जाता है—अपने-अपने धातु के नि सार अश (मलभूत अश—अनुपयुक्त अश) से उत्पन्न होने के कारण इनकी मल सज्ञा है। मलो के अन्य भी भेद है—यथा, पुरीप, मूत्र, स्वेद, इन्द्रियो के मल इत्यादि। इन सर्व मलो मे विशिष्ट प्राकृत कर्म और दूपणात्मक स्वभाव (रोगोत्पत्ति मे हेतुता) को लक्ष्य मे रखकर **ब्राह्मण-कौण्डिन्य न्याय से** वात-पित्त-कफ को पृथक् वर्ग मे स्थापित किया गया है। सो, मलभूत अश से उत्पन्न होने से इन्हे मल कहा जाता है। प्राकृत कर्मो द्वारा तथा शरीर के निर्माण मे घटक-रूप मे यत्किंचित् भी भाग लेने के कारण इन्हे **धातु** कहा जाता है। इन्ही को दूषणात्मक स्वभाव के कारण **दोष** कहते है। सो, प्रत्येक दोप और प्रत्येक दोष का प्रत्येक भेद मल है—उत्पत्ति की दृप्टि से , धातु है—उक्त प्रकार से शरीर का धारक होने से , दोष है—दूपणात्मक स्वभाव के कारण।

वात-पित्त-कफ को प्रशस्त कर्मो का द्योतक धातु यह सुन्दर नाम न देकर प्राचीन आचार्यो ने दुप्ट कर्मो का सूचक दोप यह असुन्दर नाम दिया है। उसका हेतु यह है कि, चिकित्सक की दृप्टि नाम लेने के साथ ही इनके दुप्टि-कर्तृत्व पर पडे और वह इनके साम्य की सदा चिन्ता करे इस विचार से इन्हे असुन्दर भी दोप-नाम देना ही ठीक समझा गया है। इससे आचार्यो की व्यवहार-कुशल वुद्धि की ही प्रतीति होती है।

ऊपर **ब्राह्मण-कौण्डिन्य न्याय** का उल्लेख किया गया है। इसका अभिप्राय यह है। किसी समय ब्राह्मणो को निमन्त्रण दिया गया। सवके उपस्थित होने पर यजमान ने पूछा—सव ब्राह्मण आगए ? उत्तर मिला—हाँ। पुन यजमान ने प्रश्न किया—कौण्डिन्य भी आ गया ? उत्तर मिला—हाँ। इस दृप्टान्त मे यद्यपि ब्राह्मण होने से प्रथम प्रश्नोत्तर मे कौण्डिन्य का भी समावेश→

आहार का मल है, कफ रस-धातु का तथा पित्त रक्त-धातु का मल है। जाठराग्नि, रसाग्नि तथा रक्ताग्नि मन्द होगे तो परिणाम रूप मे उनके मलभत इन दोषो की पुष्टि अनपेक्षित (आवश्यक से अधिक) प्रमाण में होगी।

इस प्रकार दोषो की पुष्टि होकर उनके सचय और प्रकोप का कारण अग्नियो की मन्दता ही है। अग्नियो की मन्दता के कारण दोषो का प्रकोप होने से रोगो की उत्पत्ति होती है। सो, परम्परया रोगमात्र का कारण अग्निमान्द्य (मन्दाग्नि) ही हे, यह आयुर्वेद का सर्वतन्त्र-सिद्धान्त है।

रोगो की उत्पत्ति में यद्यपि स्रोतो की दुष्टि भी कारणभूत होती है, तथापि स्रोतो की दुष्टि का कारण भी दोष ही होने से उन्ही को रोग का कारण कहा जाता है, और जैसा कि ऊपर कहा—इन दोषो के वैषम्य का कारण अग्नियो की मन्दता हे।

अग्नियो मे जाठराग्नि का प्राधान्य[1] —

दोषो का साम्य और वैषम्य उक्त प्रकार से जाठराग्नि, धात्वग्नि तथा भौतिकाग्नि तीनो के साम्य और वैषम्य पर अवलम्बित है। परन्तु, शेष अग्नियो से जाठराग्नि का ही महत्त्व विशेष है, और काय-चिकित्सा में उसके ही समत्व को लक्ष्य में रखा जाता हे। कारण, यद्यपि प्रत्येक धातु में उसके

←हो ही जाता है, तथापि उसके इतर ब्राह्मणो से विशिष्ट होने से उसका पृथक् ग्रहण किया गया। इसी प्रकार जहाँ भी विशिष्ट व्यक्ति-विशेष का उल्लेख वैशिष्टच-द्योतनार्थ समष्टि से पृथक् होता है वहाँ इस न्याय (दृष्टान्त) का व्यवहार किया जाता है। ऐसे स्थलो पर ही **गोबलीवर्द न्याय** भी प्रयुक्त होता है। सस्कृत मे गो शब्द से गाय और बैल (साँड) दोनो का ग्रहण होता है। तथापि 'गाव समागता ?' प्रश्न और उसके उत्तर के अनन्तर भी वैशिष्टच होने से 'बलीवर्दोऽपि समागत' ऐसा प्रश्न किया जाता है। इसी प्रकार जहाँ समष्टि (वर्ग) से व्यष्टि (व्यक्ति) का पृथक् निर्देश हो वहाँ गोबलीवर्द न्याय व्यवहृत होता है।

१—देखिए—च० चि० १५।३९ तथा उसपर **चक्र**, च० सू० २८।३ (**अन्तरग्निसधुक्षितबलेन यथास्वेनोष्मणा**) तथा उसपर चक्र, च० सू० २८।४ (दोषो की मलरूपता मे प्रमाण—'**किट्टात् स्वेदमूत्रपुरीषवातपित्त-श्लेष्माणः**) तथा उस पर चक्र, अ० हृ० सू० ११।३४ (**स्वस्थानस्थस्य कायाग्नेरशा धातुषु सश्रिता**) तथा इन पर **अरुण-हेमाद्रि**; तथा सु० सू० २१।१० (**तत्रस्थमेव चात्मशक्त्या शेषाणा पित्तस्थानाना शरीरस्य चानुग्रह करोति**) तथा उस पर **चक्र** और **डल्हन**।

परिपचन के लिए उस-उस धातु का अग्नि तथा तदन्तर्गत भौतिकाग्नि पृथक् होते है, तथापि, उन अग्नियो का बलाबल जाठराग्नि के बलाबल के अनुसार ही होता है। जाठराग्नि प्रदीप्त हो तो धात्वग्नियाँ भी प्रदीप्त होती है, एव जाठराग्नि क्षीण हो तो धात्वग्नियाँ भी क्षीण होती है। इस प्रकार धात्वग्नियो के वृद्धि-क्षय जाठराग्नि के वृद्धि-क्षय के अनुसारी होने से कहा जाता है कि धात्वग्नियो का मूल जाठराग्नि या पाचक पित्त ही है। अत. जाठराग्नि सर्व अग्नियो का अधिपति है।

वाग्भट तो और आगे जाकर कहता है कि, इस पक्वामाशय-मध्यस्थ कायाग्नि या जाठराग्नि के ही अश या क्षुद्र रूपान्तर धातुओ के आशयो में धात्वग्नि नाम से रहते है। सुश्रुत ने इसी वस्तु को इस रूप मे कहा है कि, पक्वामाशय-मध्यवर्ती पाचक पित्त अपने इस स्थान मे रहता हुआ अग्निकर्म नाम पाव: के द्वारा अपनी शक्ति से शेष पित्तस्थानो तथा शरीर को अनुगृहीत करता है।

पाचक पित्त के इस अग्निकर्म द्वारा अग्न्यन्तरानुग्रह (इतर अग्नियो को अनुगृहीत करना)-रूप कर्म से इस बात की व्याख्या हो सकती है कि, किस प्रकार जाठराग्नि शेष अग्नियो का मूल तथा उनके लिए बलप्रद है। ऊपर टिप्पणी में हमने आयुर्वेद का यह मत दर्शाया है कि, वात-पित्त-कफ अपने-अपने धातु के मल द्रव्य है। आहारगत किट्टाश (मल-पोषक अश) से उनकी पुष्टि होती है। यह किट्टाश मलो को रसधातु द्वारा ही प्राप्त होता है। धातुओ, उप-धातु तथा मलो को अपना-अपना पोषक द्रव्य यथायोग्य प्रमाण में मिले इस निमित्त जाठराग्नि दीप्त होना आवश्यक है। इस प्रकार जाठराग्नि की दीप्ति से यथावत् पुष्ट होनेवाले द्रव्यो मे धातुगत पित्त या धात्वग्नि भी एक द्रव्य है। सो, ऊपर कहे प्रकार से धातुगत पित्त या धात्वग्नियो का पोषण भी जाठराग्नि या पाचक पित्त के ही अधीन है। इसी बात को सुश्रुत ने इन शब्दो में कहा है कि---पक्वामाशय-मध्यवर्ती यह पाचक पित्त अपनी शक्ति से अग्निकर्म (पचन-क्रिया) द्वारा समग्र शरीर और शेष पित्तस्थानो का अनुग्रह करता है। सहिताओ के अन्य वचनो की भी व्याख्या इसी प्रकार करनी चाहिए।

इसी प्रसग में यह भी समझ लेना चाहिए कि, जाठराग्नि के दुर्बल होने से जो अन्नरस अपक्व रह जाता है उसे आम कहते है, यह आम की परिभाषा प्राचीनो ने कही है। परन्तु, अर्थापत्ति से वहाँ यह भी गृहीत समझना चाहिए कि, जाठराग्नि दुर्बल होने से तदाश्रित धात्वग्नियाँ भी दुर्बल होती है। परिणामतया, उनके पोषणार्थ उनके आशयो मे जो रसधातु पहुँचता है, वह भी अपक्व रहकर आम-सज्ञा को प्राप्त करता है। अन्यथा, केवल आम-पक्वाशयगत आम से

सर्वाङ्ग में रोग होना प्राय: संभव ही न हो। यत्सत्य, टीकाकारो ने स्पष्ट पदो में आम के इस रीति से दो भेद कहे भी हे। इस विषय का विवरण आगे यथा-स्थान करेंगे ही।

रोग का प्रसिद्ध पर्याय आमय--

आम के एक लक्षण में उसका विशेषण सर्वदोष-प्रकोपण: दिया है। इससे स्पष्ट है कि आम ही सर्वदोषो के प्रकोप द्वारा रोग-मात्र की उत्पत्ति में हेतु है। पाठान्तर में सर्वरोग-प्रकोपण: शब्द द्वारा इस वस्तु को अधिक स्पष्ट कह दिया हे। आम के इन विशेषणो से यह सूचित है कि आयुर्वेद-मत से आम का कारणभूत अग्निमान्द्य ही दोषो का प्रकोपक तथा रोगो का जनक है।

'रोग' के पर्यायो में एक आमय हे। शास्त्र और लोक में (वैद्यकेतर वाङ्मय में) यह सज्ञा सुप्रसिद्ध है। इस सज्ञा की व्युत्पत्ति देखने से भी विदित होगा कि आम ही--परम्परया अग्निमान्द्य ही--सर्वरोगो का मूल है। आमय शब्द की व्युत्पत्ति दर्शाते चक्रपाणि ने कहा है:

/प्रायेणामसमुत्थत्वेनामय इत्युच्यते॥ च० नि० १।५ पर

रोग को आमय इस कारण कहते है कि प्राय (अधिकाश) रोग आम से ही उत्पन्न होते है[1]।

रोगो की उत्पत्ति में आम किवा अग्निमान्द्य की कारणता के प्रतिपादन का प्रयोजन यह है कि, स्वास्थ्य के सरक्षण में तथा उत्पन्न हुए रोग के निवर्तन में हमें अग्नि के स्वरूप को सदा दृष्टि में रखना चाहिए। अनुभवी चिकित्सको के चिकित्सा-चातुर्य का साररूप यह पद्य सुप्रसिद्ध है--

अर्धरोगहरी निद्रा सर्वरोगहरी क्षुधा॥

निद्रा का प्रादुर्भाव रोगो के वल को आधा कर देता है, जवकि क्षुधा का उदय रोग को सपूर्णतया निर्मूल कर देता है। निद्रा मन की निर्विकारता की सूचक है। इससे विशेषतया मनोदोषो (रज-तम) के सम हो जाने का निदान होता है। क्षुधा विशेषतया शारीर-दोषो का शमन होकर उनकी साम्यावस्था को द्योतित करती है।

१--रोग के पर्याय--

व्याधि, आमय, गद, आतक यक्ष्मा, ज्वर, विकार, रोग, पाप्मा, आवाध, तम और दु ख--ये रोग के नामान्तर हे। (देखिए--च० सू० ९।४, च० नि० १।५, अ० स० नि० १)। राजयक्ष्मा शब्द मे यक्ष्मा शब्द रोगो का वाचक है। रोगो का राजा होने से इसे राजयक्ष्मा कहते हे। केवल यक्ष्मा शब्द भी राजयक्ष्मा के लिए व्यवहृत होता है।

लङ्घन और विरेचन हम देखते है सिद्ध (अनुभवी) चिकित्सको का सर्वस्व होता है, विशेषतया जीर्ण रोगो में। विरेचन से दोषो की शुद्धि होती है। यद्यपि शोधनार्थ वमन, वस्ति और शिरोविरेचन भी शास्त्र में विहित है, तथापि इनका प्रचार इन दिनो उतना नही है। जो चिकित्सक इन शोधनोपायो का भी अवलम्बन करते है, उनकी क्रियासिद्धि सविशेष होती है। पञ्चकर्म के अङ्गभूत इन उपचारो का प्रचार रोगपीडित जनता के कल्याण और आयुर्वेद के पुनर्जीवन के लिए आवश्यक है।

लङ्घन शब्द अनशन या उपवास (क्षुधा तथा पिपासा के वेग का निग्रह) के अर्थ मे प्रसिद्ध है। पर आयुर्वेद मे प्रकरण-भेद से इसका व्यापक अर्थ होता है। जिस किसी भी हेतु से शरीर मे लाघव (हलकापन, स्फूर्ति) का उदय हो उसे लङ्घन कहते है। उपवास लङ्घन का एक भेद है। व्यायाम[१], शोधनादि भी लङ्घन के ही अन्य भेद है।

लङ्घन के प्रसग मे विपरीत गुणवाले आहार, औषध, विहार, देश और काल, विशेषतया विपरीत-गुण आहार-द्रव्यो का भी स्मरण करना चाहिए। विपरीत-गुण द्रव्यो का सेवन वृद्ध दोषो की शान्ति के लिए उपयुक्त होता है। दोषविशेष की वृद्धि होने पर विपरीतगुणेच्छा (अ० हृ० सू० १२।२२) तथा चयकारणविद्वेष (दोष के सचय और वृद्धि के कारणभूत गुणवाले द्रव्यो के प्रति अप्रीति—(सु० सू० २१।१८) प्रायः होती है। इससे वृद्ध या क्षीण दोष का ज्ञान भी होता है तथा तदनुरूप चिकित्सा का मार्ग भी परिष्कृत (स्वच्छ) होता है[२]। दोष के वर्धक या क्षयकारी आहार द्रव्यो का त्याग, कम से कम उन गुणो वाले द्रव्यो का विचार करे तो, एक प्रकार का लङ्घन ही कहा जा सकता है। यहाँ 'प्राय' शब्द का प्रयोग इसलिए किया है कि, कभी-कभी दोष-विशेष की वृद्धि होने पर भी वृद्धि के हेतु गुणो की रुचि होती देखी जाती है[३]।

१—ज्वर मे लङ्घन प्रथम कर्तव्य है—ज्वरे लङ्घनमेवादौ। कई वयोवृद्ध सत्त्वसार स्त्री-पुरुष ज्वर का पूर्वरूप या रूप प्रकट होने पर चक्की चलाना आदि व्यायाम द्वारा स्वेदन कर ज्वर को दूर करते देखे जाते है। इस परिस्थिति मे व्यायाम ही लङ्घन का कार्य कर ज्वर को शान्त करता है।

२—रुचि से ही स्वस्थ तथा अस्वस्थ दोनो दशाओ मे शरीर के लिए हिता-हित वस्तुओ का निर्णय होता है—प्राच्य-पाश्चात्य उभय मत से मान्य इस सचाई के विवरण के लिए देखिए—आयुर्वेदीय क्रियाशारीर।

३—रुचि के इस व्यभिचार (अपवाद) के लिए देखिए—अ० हृ० सू० ११।४३ पर अरुणदत्त तथा हेमाद्रि टीका।

जैसे मनोगत तथा इन्द्रियगत रुचि या प्रीति एवं अरुचि या अप्रीति वृद्धि किंवा क्षय को प्राप्त हुए दोष के निर्णय में सहायक होती है, उसी प्रकार आयुर्वेद-मत से मन, इन्द्रिय और उनके अधिष्ठाता आत्मा की प्रसन्नता या सुख से आरोग्य का निर्णय होता है तथा इन्हीं के दु:ख से रोग का निदान किया जाता है। अथवा मन आदि की प्रसन्नता का ही अन्य नाम आरोग्य तथा इनकी ही अप्रसन्नता का अन्य नाम रोग है। आरोग्य और रोग के शेष लक्षण जीवित शरीर में क्रमशः प्रसन्नता और अप्रसन्नता की ही उत्पत्ति करनेवाले होने से आरोग्य और रोग के अप्रधान लक्षण कहे जाते है। तथाहि—

व्याधि अथवा रोग का लक्षण—

आयुर्वेद में व्याधि अथवा रोग का अर्थ बहुत ही व्यापक है। इस शब्द से केवल सपूर्ण शरीर अथवा उसके एकदेश (एक या अधिक अवयवो) को हुई व्यथा का ही बोध नही होता ; प्रत्युत जीवित शरीर या पुरुष के घटकभूत प्रत्येक अवयव को पृथक् किंवा समग्र शरीर को जिस भी कारण से दु ख या व्यथा हो उसे व्याधि या रोग कहा जाता है।

यह जीवित शरीर या पुरुष पञ्चमहाभूतो तथा आत्मा के समवाय (नाम, आमरण रहनेवाले संयोग) से बना है[१]। यहाँ पञ्चमहाभूत का अर्थ शरीर में उनके कार्य द्रव्य रूप अर्थात् उनसे बनी मन-समेत पाँच-पाँच सूक्ष्म ज्ञानेन्द्रिय-कर्मेन्द्रिय, उनके अधिष्ठान या आश्रयभूत शिर-हाथ-पैर आदि शरीरावयव तथा तदतिरिक्त यकृत्-प्लीहा-अन्त्र प्रभृति अङ्ग-प्रत्यङ्ग है। इन घटको अर्थात् जीवच्छरीर के अवयवो में किसी को भी जिस कारण व्यथा, दु:ख या रुजा हो उसे व्याधि या रोग कहते है।—

अस्मिन् शास्त्रे पञ्चमहाभूतशरीरिसमवायः पुरुष इत्युच्यते ××× ।
तद्दुःखसंयोगा व्याधयः ॥ सु० सू० १।२२-२३

लक्षण की इस व्यापकता के कारण ही आयुर्वेद में क्षुधा-पिपासा आदि शारीर दु खो की, काम-क्रोध आदि मानस दु खो की यहाँ तक कि, दारिद्रय और आत्मा के जन्म-मरण के चक्र की भी व्याधियो में गणना की गयी है। अतएव द्रव्यो-पार्जन तथा मोक्ष के उपायो का भी उल्लेख आयुर्वेद मे किया गया है।

पुरुष शब्द का मुख्यार्थ चेतनाधातु या आत्मा है। आयुर्वेद मे वह अर्थ भी लिया ही है तथापि, आयुर्वेद में पुरुष शब्द का विशेष अभिप्रेत अर्थ वह है,

१—प्रकरणान्तरो मे आए पुरुष, आयु आदि के लक्षणो को लक्ष्य मे रखकर इस प्रकरण मे आए 'पुरुष' के लक्षण मे प्रयुक्त 'पञ्चमहाभूत' का विस्तृत अर्थ मन, इन्द्रिय आदि ग्रहण किया है।

जो ऊपर दिया है। आयुर्वेद मे पुरुष शब्द का यह अर्थ स्वीकार करने का कारण है और वह यह कि, आयुर्वेद के प्रतिपाद्य विषय--रोग तथा उनकी चिकित्सा दोनो का अधिष्ठान यही पुरुष है।

तस्मिन् क्रिया, सोऽधिष्ठानम्॥ सु० सू० १।२२

स एव कर्मपुरुषश्चिकित्साधिकृतः॥ सु० शा० १।१६

उल्लिखित समवाय का एक अङ्ग आत्मा यद्यपि निर्विकार (नीरोग) माना गया है, तथापि रोग के अधिष्ठानभूत पुरुष के अन्तर्गत उसकी गणना इसलिए की गयी है कि--कई रोग कर्मज नाम पूर्वकृत कर्मो के परिणाम (परिपाक) होते है; कई बार रोगो की साध्यासाध्यता भी प्राक्तन-कर्माधीन होती है। ये कर्म अदृष्ट (या दैव) इस नाम से आत्मा के द्वारा ही वर्तमान शरीर में सक्रान्त होते है। इन्ही सब कारणो से रोग और उनकी चिकित्सा के विचार मे आत्मा को भी उनके अधिष्ठानभूत शरीर के लक्षण में स्थान दिया गया है। कर्मज रोगो को लक्ष्य में रख कर ही लोक में भी दारुण किवा चिरकालानुबन्धी रोगो से पीडित पुरुष या उसके स्वजन-परिजन विविध शब्दो में प्राक्तन कर्म को रोग का कारण बताते सुने जाते हैं।

आत्मा के विषय मे किए, इस विशदीकरण से विदित होगा कि यत्सत्य, आत्मा निर्विकार है, उसको रोग नही होता। सो, जीवच्छरीर में रोग के आश्रय दो ही रह जाते है--(स्थूल इन्द्रियो समेत) शरीर तथा (सूक्ष्म इन्द्रियो समेत) मन।

दोषों के दो प्रभेद : शारीर और मानस

जैसे रोग के आश्रय किवा अधिष्ठान दो है--शरीर और मन, वैसे इनमे रोग उत्पन्न करनेवाले दोषो के भी दो प्रकार है--शारीर दोप और मानस दोप।

शारीर दोष तीन है--वात (वायु), पित्त और कफ (श्लेष्मा)। मानस दोष दो है--रज और तम। तन्त्रकारो ने कही-कही रक्त के हेतु, लक्षण और चिकित्सा ऐसे शब्दो मे बताए हैं, जानो वह (रक्त) भी उन्हें दोषत्वेन अभिप्रेत हो। कही-कही उसे दोष कहा भी है। परन्तु उन प्रकरणो में भी रक्त की दुष्टि का कारण तो वातादि ही को कहा है। रक्तज (रक्त-प्रकोपज) रोगो को दोषप्रकोपज होते हुए भी रक्तज कहने में शैली यह है कि, जैसे घृत या तैल से पुरुष दग्ध हुआ हो तो उसमे मूल कारण तो घृत-तैल-गत अग्नि ही होता है, तथापि उपचार से (गौण वृत्ति से) घृत या तैल से दग्ध कहने का प्रचार है वैसे दोष-दूषित रक्त से हुए रोगो को रक्तज कहने की परिपाटी है। रक्त

को जो यत्र-कुत्रचित् दोष कहा है वह भी गौण अर्थ में। यो तो आम तथा पुरीष को भी कहीं दोष कहा है। पर इससे वे दोषपदवाच्य नही हो जाते। यही वात रक्त के विषय में भी समझनी चाहिए। इस स्पष्टता का आशय यह है कि, चिकित्सा में रक्तज रोगो में वातादि दोषो को दृष्टिगत रखना चाहिए। जैसे आज के सुप्रथित रोग 'उच्च रक्तदाब' (हाई ब्लड प्रेशर, हाईपरटेन्शन) का प्राचीनो ने रक्तज रोगो में भ्रम, रक्तनेत्रता, शिरोरोग (शिरोवेदना) आदि लक्षणो के रूप मे उल्लेख किया है। आयुर्वेद-मत से इस रोग मे विशेषतया वात या पित्त में कौन दोष प्रधान है इस वात का निदान कर तदनुरूप शुद्ध चिकित्सा करनी चाहिए। तात्पर्य—दोष नाम उसी का है जिसमें स्वय दुष्टि या रोगोत्पत्ति करने का स्वभाव हो, साथ ही जो प्रकृति का उत्पादक हो। वात-पित्त-कफ में यह वैशिष्ट्य होता है, अतः वे दोष-सज्ञक होते है। रक्त मे यह स्वभाव न होने से वह दूष्य ही है, दोष नही। जहाँ उसे दुष्टिजनक कहा है, वहाँ भी तत्कृत दुष्टि (रोग) दोष-पराधीन ही होती है, स्वय रक्तकृत नही; साथ ही रक्त में प्रकृत्यारम्भकत्व भी नही होता। अतः उसे मुख्यार्थ में दोष नही कहा जाता[1]।

दोषों मे वात तथा रज का प्राधान्य

शारीर दोषो मे वात के प्राधान्य के हेतु—

यहाँ तथा अन्यत्र शारीर दोषो में वायु का स्मरण पहले किया गया है। कारण, अनेक दृष्टियो से रोगोत्पत्ति में अन्य दोषो की अपेक्षया वायु प्रधान है[2]। हृदयकार कहते है—

विभुत्वादाशुकारित्वाद् बलित्वादन्यकोपनात्।
स्वातन्त्र्याद् बहुरोगत्वाद्दोषाणा प्रबलोऽनिलः॥

अ० हृ० शा० ३।८४

सर्व शारीर दोषो में वायु प्रधान है। कारण, यह १—विभु-व्यापक—है—

१—यह विषय विस्तार से जानने के लिए देखिए च० सू० १।५७ की आयुर्वेददीपिका टीका (चक्रपाणि), अ० हृ० सू० १।६ की सर्वाङ्ग-सुन्दरा टीका (अरुणदत्त), सु० सू० २१।३–४ तथा इस पर निबन्ध-सग्रह (डल्हन) और भानुमती (चक्रपाणि) टीकाएँ, तथा सु० सू० १७।७–८। इस प्रसग मे विदग्ध वैद्यो मे प्रसिद्ध दोष की दो व्याख्याएँ स्मरणीय है—स्वातन्त्र्येण दुष्टि-कर्तृत्व दोषत्वम्, तथा—प्रकृत्यारम्भकत्वे सति दुष्टिकर्तृत्वं दोषत्वम्।

२—च० सू० १।५७ (ऊपर धृत) पर चक्रपाणि टीका भी देखिए।

सूक्ष्म भी स्रोतो (तथा शरीरपरमाणुओ—कोषो) मे प्रवेश के अपने सामर्थ्य[1] के कारण कुपित होने पर वायु शेष दोषो की अपेक्षया अधिक प्रमाण में और अधिक शीघ्रता से शरीर के सूक्ष्मातिसूक्ष्म भागो मे पहुँच सकता है तथा उनमें रोगोत्पत्ति कर सकता है। २—वायु आशुकारी है—शरीर मे प्रसर, प्रवेश तथा रोगोत्पत्ति की इसकी क्रिया इतरदोषापेक्षया शीघ्र—अल्पकाल में—होती है। ३—कफ तथा पित्त के साथ तुलना मे यह बलवान् (दारुण) है। ४—वायु शेष दोषो को भी कुपित करनेवाला है। स्वय कुपित हो तो आगे कहे जानेवाले प्रकार से इतर दोषो को भी कुपित कर उनके द्वारा भी रोगोत्पत्ति कराता है—स्वय तो रोग उत्पन्न करता ही है। ५—वायु स्वतन्त्र है। तात्पर्य—यह शेष दोषो को प्रेरित करता है—वे कुपित हो या समावस्था में हो—उन्हे स्थलान्तर मे भेजकर वहाँ उनकी वृद्धि कर उनका प्रकोप तथा रोगोत्पत्ति करता है, परन्तु स्वय किसी से प्रेरित (अभिवाहित) नहीं होता। ६—अन्त मे इसके उत्पन्न किए रोगों की संख्या सब से अधिक है। प्रत्येक-दोषोत्पन्न नानात्मज रोगो की सख्या अधिक होने पर भी अल्पबुद्धि विद्यार्थियो के हित के लिए (मार्गदर्शनार्थ) उनकी जो सख्या तन्त्रकारो ने दर्शायी है उनमें कफज रोगों की संख्या २०, पित्तज रोगों की संख्या ४० तथा वातज रोगों की सख्या ८० कही है[2]। तथापि यह सख्या भी दृष्टान्त-रूप ही है। यो वातज रोग असख्य हैं। तथाहि—

> संख्यामप्यतिवृत्ताना तज्जाना हि प्रधानतः।
> अशीतिर्नखभेदाद्या रोगाः सूत्रे निदर्शिताः॥
>
> च० चि० २८।१३

वायु प्राकृत हो या विकृत (विषम—वृद्ध, या क्षीण), एव शेष दोषादि सम हो या विषम—सभी दशाओ में वायु ही अन्य दोषो, धातुओ तथा मलो को अभिवाहित कर उनको अपने कर्मक्षेत्र एव रोगक्षेत्र पर पहुँचाता है। इस विषय मे शार्ङ्गधर का अधोनिर्दिष्ट पद्य सुन्दर और सुविदित है।—

> पित्तं पङ्गु कफः पङ्गुः पङ्गवो मलधातवः।
> वायुना यत्र नीयन्ते तत्र वर्षन्ति मेघवत्॥
>
> शा० पू० ५।२५

१—पेनिट्रेबिलिटी—Penetrability

२—नानात्मज रोगो की यह सख्या केवल निदर्शन-रूप है, यो रोग असख्य है। इसके प्रमाण रूप मे च० सू० २० मे सूत्र ११, १४ तथा १६ देखिए।

अर्थात्--पित्त पगु है--स्वय चलनासमर्थ है, कफ भी पगु है ; पुरीषादि मल तथा रसादि धातु भी पगु हैं। वायु ही उन्हे जहाँ चाहता है ले जाता है और उस स्थल पर उनसे क्रिया कराता है। वैसे ही जैसे वाह्य वायु स्वयं अगतिशील मेघो को यत्र-तत्र ले जाता है और उससे अभिवाहित मेघ तत्तत् स्थान पर वृष्टि करते हैं।

इतर दोपो का अभिवाहक वायु--

शार्ङ्गधर ने प्राकृतावस्था में दोषादि के वायु द्वारा अभिवहन की बात कही हे। प्रकुपित दशा में भी उनके प्रसर में (वृद्धि के स्थान से रोगोत्पत्ति के स्थान पर गमन में) वायु ही कारण है। दोषो की प्रसरावस्था के प्रसग में सुश्रुत कहता हे।--

तेपा वायुर्गतिमत्त्वात् प्रसरणहेतुः सत्यप्यचैतन्ये स हि रजोभूयिष्ठः। रजश्च प्रवर्तकं सर्वभावानाम्॥ सु० सू० २१।२८

प्रकुपित हुए दोषो में देशान्तर-गमन रूप चेष्टा का कारणभूत चैतन्य नही होता। वायु ही गतिशील होने से उनके प्रसरण का हेतु है। वायु में गतिशीलता का कारण यह है कि वह रजोगुण-प्रधान है और रजोगुण सर्व पदार्थो का प्रवर्तक है--गमनादि-चेष्टाकारक है[1]।

वातरोगाधिकार में अत्रिपुत्र ने भी कहा है--

वातपित्तकफा देहे सर्वस्रोतोऽनुसारिणः।
वायुरेव हि सूक्ष्मत्वाद् द्वयोस्तत्राप्युदीरणः॥
कुपितस्तौ समुद्धूय तत्र तत्र क्षिपन् गदान्।
करोत्यावृतमार्गत्वाद् रसादींश्चोपशोपयेत्[2]॥

च० चि० २८।५९-६०

१--च० सू० २८।३१-३३ मे तन्त्रकार ने दोपो की कोष्ठ से (कोष्ठ मे सचय के पक्वाशयादि अपने-अपने स्थल से) शाखाओ मे नाम रस-रक्तादि धातुओ मे गमन के कारण बताए है। उनमे एक वायु की आशुकारिता है। इसी प्रकरण मे आगे शाखाओ को छोड दोपो के पुन कोष्ठ मे आने के कारण लिखे है। इन कारणो मे एक वायु का समीकरण (शमन) है। इस प्रकरण मे आए वायु के निर्देश को यहाँ भी स्मरण किया जा सकता है। यह विपय इसी ग्रन्थ मे आगे यथास्थान आएगा।

२--इस वचन की टीका भी देखिए।

वात, पित्त और कफ शरीर के सर्व स्रोतो में प्रवेश और सचार करते है। सूक्ष्म होने से वायु ही उन दोनो का भी प्रेरक है--वे किसी भी दशा में हो उन्हें देशान्तर में ले जानेवाला है। प्रकुपित हुआ वायु कफ और पित्त को सवेग स्थानभ्रष्ट और सचलित कर तत्तत् स्थान पर ला छोडता है। इस स्थान पर स्वभावत पहले से स्थित दोष समावस्था में हो तो भी देशान्तर से आए दोष का सयोग होने से उस स्थान पर उनके प्रमाण में वृद्धि और प्रकोप होकर तत्तत् रोग की उत्पत्ति होती है। कदाचित् कफ और पित्त कुपित हो वायु के मार्ग को आवृत करते हो, जिससे वायु का सचय और प्रकोप हुआ हो ऐसी स्थिति में भी कुपित वायु अपने आवरक दोषो को उनके द्वारा हुए प्रकोप के कारण ही स्थानान्तर पर चलित कर उनसे रोगोत्पत्ति कराता है। दोषो के सदृश रसादि धातुओ को भी यत्र-तत्र (विना किसी नियम के) विक्षिप्त करता है तथा अपने प्रधान गुण रूक्षता के प्रभाव से उन्हे शुष्क (क्षीण) करता है।

अन्य दोषो तथा मलो के साम्य का हेतु वायु---

तात्पर्य, वायु कुपित हो तो सम या विषम शेष दोषो, धातुओ और मलो को उनके उचित स्थान पर न रहने देकर, एव वे मलरूप हो तो उनके बहिर्मुख स्रोतो (निर्गमन-द्वारो) से उन्हें बाहर न निकाल कर शरीर में ही विक्षिप्त करता है और उनके प्रमाण में वृद्धि करता है। वायु समावस्था में हो तो उसके अनेक प्राकृत कर्मो में एक यह है कि--आहार का जठराग्नि द्वारा एव रस धातु का अपने-अपने धात्वग्नि द्वारा पचन होने के परिणाम-स्वरूप जो मल उत्पन्न होते है, उन्हें वह (वायु) तत्तत् द्वार से बाहर निकालता रहता है। वायु अन्नपान का मल है, कफ रसधातु का तथा पित्त रक्त का। दोष इस अपर नामवाले वात-पित्त-कफ तथा पुरीषादि अन्य मल जैसे-जैसे बनते जाते है, वैसे-वैसे वायु की क्रिया से बाहर निकलते रहने से ही शरीर में उनका प्रमाण सम बना रहता है। इस प्रकार शेष दोषो के प्रमाण के साम्य में भी वायु ही हेतुभूत है। चरक ने अधोनिर्दिष्ट पद्य में रसादि प्रसादभूत धातुओ के पोष्य धातु के प्रति गमन को एव पुरीषादि मलो की बहिर्मार्ग से प्रवृत्ति को वायु का ही प्राकृत कर्म कहा है--

उत्साहोच्छ्वासनिःश्वासचेष्टा धातुगतिः समा।
समो मोक्षो गतिमता वायो. कर्माऽविकारजम्[1] ॥

च० सू० १८।४९

१--चेष्टेत्यविकृता चेष्टा। धातुगतिरिति रसादीना पोष्य धातु प्रति गमनम्। गतिमतामिति पुरीषादीना बहिर्नि सरताम्॥ --चक्रपाणि

उत्साह (सुखद वस्तु की प्राप्ति और दुःखद वस्तु के परिहार के लिए प्रयत्न), उच्छ्वास, नि.श्वास, गमनादि प्राकृत चेष्टाएँ, रसादि धातुओ की अपने पोष्य धातुओ के प्रति गति, तथा पुरीषादि वहिर्गमनशील पदार्थो का सम मोक्ष (इतने प्रमाण में विसर्ग या प्रवृत्ति होना कि शरीर मे उनका क्षय भी न हो जाए और वृद्धि भी न हो)--ये प्राकृत वायु के संक्षेप में कर्म है।

यहाँ समो मोक्षो गतिमताम् वचन द्वारा वायु का जो कर्म बताया है उसी को वातकलाकलीय अध्याय मे इन शब्दो मे कहा है--(वायुः) क्षेप्ता वहिर्मलानाम्--च० सू० १२।८।

वस्ति की प्रशसा के प्रकरण मे प्रतिसस्कर्ता दृढवल ने प्रसंगवश वायु के मल-क्षेपणाख्य प्राकृत कर्म का स्वरूप सुन्दर इन्द्रवज्राओ मे बताया है। तथाहि--

शाखागताः कोष्ठगताश्च रोगा मर्मोर्ध्वसर्वावयवाङ्गजाश्च।
ये सन्ति तेपा न हि कश्चिदन्यो वायो· परं जन्मनि हेतुरस्ति॥
विण्मूत्रपित्तादिमलाशयाना विक्षेपसंघातकरः स यस्मात्।
तस्यातिवृद्धस्य शमाय नान्यद् वस्ति विना भेपजमस्ति किंचित्॥
तस्माच्चिकित्सार्धमिति ब्रुवन्ति सर्वां चिकित्सामपि वस्तिमेके॥
च० सि० १।३८-४०[1]

रोग चाहे शाखाओ (रक्तादि धातुओ तथा त्वचा) मे स्थित हो, कोष्ठ (मध्यकाय, धड) मे स्थित हो, किवा मर्म और सन्धियो मे स्थित हो (तात्पर्य-किसी भी रोग-मार्ग में स्थित हो), अथवा--ऊर्ध्व, अध या तिर्यक् भेद से किसी रोगमार्ग में स्थित हो ; अथवा सर्वाङ्ग या किसी एक देश में स्थित हो--उनकी उत्पत्ति मे वायु के अतिरिक्त कोई हेतु नही है। कारण ?--

पुरीष, मूत्र, पित्त, कफ आदि मलो के उनके आशयो (स्थानो) से निर्हरण मे और इस प्रकार उनके द्वारा रोगोत्पत्ति न होने देने में, किवा इसके विपरीत उनके अपने आशयो मे ही रहने में और इस प्रकार उनके द्वारा रोगोत्पत्ति होने मे वायु ही कारण है। तात्पर्य--वायु ही प्राकृतावस्था में हो तो अपने अन्य प्राकृत कर्मो के सदृश मलो का (जिनमें दोष भी सम्मिलित है) निर्हरण करता है ; वही विषम हो जाए तो तत्तत् प्रकार से मलो और दोषो को आशयो से प्रच्यावित न कर वही रहने देता है तथा इस प्रकार उनका सचय, वृद्धि और प्रकोप कर रोगोत्पत्ति कराता है। और--

१--आगे दिए अर्थ-विस्तर के लिए देखिए चक्रपाणि-टीका।

यह वायु अति प्रकुपित हो गया हो--प्रकुपित हो स्वय तथा इतर दोषो, धातुओ और मलो को दूषित कर उनके द्वारा रोगोत्पत्ति कर-करा रहा हो तो उसके शमन के लिए--उसे पुन समावस्था में लाने के लिए--वस्ति को छोड़ कर और कोई उपचार नही है। इसी से अन्यत्र भी कहा है--

वस्तिर्वातहराणाम् (श्रेष्ठः) ॥ च० सू० २५।४०

वातहर उपचारो में वस्ति सर्वोपरि है। वस्ति इस प्रकार वायु की और परम्परया इतर दोषो की भी श्रेष्ठ चिकित्सा होने से ही कई आचार्य कहते है कि--आधी चिकित्सा तो वस्ति ही है। कई आचार्य तो इससे भी बढकर कहते है--नही, वस्ति ही सपूर्ण (एकमात्र) चिकित्सा है।

सुश्रुत ने भी वायु का इतर दोष-प्रकोपक स्वभाव तथा उसके साम्य के लिए वस्ति की सर्वोत्कृष्टता का निरूपण ऐसे ही प्रबल पदो में अधोलिखित प्रकार से किया है। तथाहि--

दोषत्रयस्य यस्माच्च प्रकोपे वायुरीश्वरः।
तस्मात्तस्यातिवृद्धस्य शरीरमभिनिघ्नत. ॥
वायोर्विपहते वेगं नान्या वस्तेर्ऋते क्रिया।
पवनाविद्धतोयस्य वेला वेगमिवोदधेः ॥
शरीरोपचयं वर्ण वलमारोग्यमायुपः।
कुरुते परिवृद्धिं च वस्तिः सम्यगुपासितः ॥

सु० चि० ३५।२९-३१

तीनो दोषो के प्रकोप में वायु ही कारण है। वह सुतरां प्रकुपित हो शरीर को नष्ट-भ्रष्ट करने की स्थिति में पहुँच गया हो तो (भी), जैसे वायु के वेग से आहत समुद्र की कल्लोलो का वेग वेला (समुद्र-तीर) पर आकर रुक जाता है वैसे वस्ति के समक्ष शारीर-वायु भी सर्वथा परास्त हो जाता है--वस्ति के विना अन्य कोई क्रिया उसके वेग को शान्त करने में समर्थ नही होती। किं वहुना--

वस्ति का यथाविधि उपयोग किया जाए तो शरीर का उपचय (पुष्टि) वर्ण, वल, आरोग्य और आयु की वृद्धि होती है[1]।

१--'सोप-वॉटर एनीमा' आयुर्वेद-मत से--

आयुर्वेद-वर्णित वस्ति की महिमा निसर्गोपचार से और अशत एलोपैथी से इन दिनो विशद हुई है। दोनो ही मतो मे पक्वाशय मे उत्पन्न विष-द्रव्यो को→

निदान स्थान के आरम्भ के भी वायु की महिमा बताते सुश्रुत ने कहा है—

अचिन्त्यवीर्यो दोषाणा नेता रोगसमूहराट् ॥ सु० नि० १।८

वायु की शक्ति कल्पनातीत है। वह दोषो का नायक तथा रोगसमूह का राजा है।

रोगोत्पत्ति मे वायु की सर्वाधिक कारणता के दो हेतु अबतक हमने बताए हैं। एक तो तत्तत् कारणवश वायु से होनेवाले स्वतन्त्र (नानात्मज) रोगो की सख्या ही इतरदोषापेक्षया बहुत बडी है; दूसरे यह शेष दोषो तथा मलो के भी संचय, वृद्धि और प्रकोप मे तथा तद्द्वारा रोगोत्पत्ति मे कारण है। परन्तु

←प्रभूत हो अधिकाश रोगो का कारण माना गया है। वस्ति इन द्रव्यो के मूल को ही बाहर निकाल देती है। आयुर्वेद-मत से वस्ति की महिमा का रहस्य यह है कि, पक्वाशय वायु का प्रभव-स्थान है, और वस्ति इस स्थान पर ही प्रहार कर वायु को परास्त कर देती है। परन्तु यह वस्ति वातहर द्रव्य-साधित होनी चाहिए। आयुर्वेद के पुनर्जीवन के इस युग मे वस्ति के शास्त्रोक्त विस्तार को व्यवहार मे लाना और उसकी उपयोगिता का दर्शन और प्रदर्शन करना उचित प्रतीत होता है।

यहाँ एक ही महत्त्व की वस्तु के प्रति इङ्गित कर दूँ। प्राय वैद्य आधुनिको का अनुसरण कर साबुन के जल की वस्ति देते है। कोई तो अपना आयुर्वेदानुराग प्रदर्शित करने के लिए इसे 'निरूह वस्ति' नाम भी देते है। परन्तु साबुन अत्यन्त रूक्ष द्रव्य है। कई त्वग्रोग-विशेषज्ञ त्वग्रोगो मे इस रूक्षता के कारण ही अच्छे भी साबुन के उपयोग का निषेध करते है। जब त्वचा पर साबुन की रूक्षता का यह अनिष्ट परिणाम होता है तो पक्वाशय की मृदु कला पर इसके अहित प्रभाव की कल्पना अनायास की जा सकती है। साबुन के पानी की वस्ति का अहितत्व इस बात से और भी बढ जाता है कि जिस साबुन का उपयोग वस्ति के लिए होता है वह रूक्षतर—कपडे धोने का साबुन—होता है।

रूक्ष गुण होने से साबुन का व्यवहार दूषणीय इस हेतु है कि, वायु का प्रधान गुण रूक्षता होता है और उसका प्रधान उत्पत्ति-स्थान पक्वाशय है। साबुन सदृश रूक्ष द्रव्य का उपयोग इस स्थान पर किया जायगा तो परिणाम मे वायु की उत्पत्ति सविशेष होगी। अत, आयुर्वेद-मत से सोप-वॉटर एनीमा गर्हित है। अन्य योजना सुलभ न हो तो दशमूल क्वाथ, एरण्ड तैल तथा श्रीवास-तैल (टरपेंटाइन) जैसे वात के अनुलोमन तथा प्रशमन द्रव्यो का उपयोग सरलता से किया जा सकता है। शास्त्रोक्त निरूह वस्ति का भी अतियोग या अनुवासन वस्ति के बिना उपयोग वातवर्धक माना गया है, यह यहाँ स्मरण किया जा सकता है।

वायु द्वारा उत्पन्न होनेवाले विकारो की सख्या बडी होने मे अन्य भी कुछ कारण हैं। विषय की पूर्ति के लिए उनका भी निर्देश करना आवश्यक है।

अग्नि के साम्य का भी हेतु वायु--

अध्याय के आरम्भ मे हमने कहा था कि, रोगमात्र का मूल अग्नि की मन्दता ही है। यहाँ रोगमात्र का मूल वायु को कहा है। उसका कारण यह है कि वायु ही समावस्था में हो तो अग्नि को प्रदीप्त रखता है। वातकलाकलीय अध्याय (च० सू० १२) मे वायु के कर्मों के अन्तर्गत कहा है कि--(वायु) समीरणोऽग्नेः--वायु अग्नि को प्रदीप्त रखनेवाला है। सो, प्रकारान्तर से अग्नि-दोष से होनेवाले विकारो का मूल भी वायु ही है[1]।

इन सब बातो को दृष्टि मे रखते हुए सुश्रुत ने भी वायु के प्राकृत कर्म एक ही पद्य से बताते कहा है--

दोषधात्वग्निसमता संप्राप्ति विषयेषु च।
क्रियाणामानुलोम्यं च करोत्यकुपितोऽनिलः॥

सु० नि० १।१०

वायु अविषमावस्था मे रहकर दोषो, धातुओ तथा अग्नि को सम रखता है, मन-सहित ज्ञानेन्द्रियो द्वारा विषयो का सम्यग्ग्रहण कराता है तथा कर्मेन्द्रियो द्वारा समस्त चेष्टाएँ यथावत् कराता है।

मानस रोगो का मूल वायु--

वायु द्वारा अधिकाश रोगो की उत्पत्ति का अन्य हेतु यह है कि--मन भी वायु के ही प्रकुश में रहता है। वातकलाकलीय अध्याय में ही मन तथा उभय-विध इन्द्रियो पर वायु के प्रभाव को लक्ष्य में रखकर कहा गया है--

(वायु) प्रवर्तकश्चेष्टानामुच्चावचानाम्, नियन्ता प्रणेता च मनसः, सर्वेन्द्रियाणामुद्योजकः, सर्वेन्द्रियार्थानामभिवोढा, ×× प्रवर्तको वाचः, प्रकृतिः स्पर्शशब्दयोः, श्रोत्रस्पर्शनयोर्मूलम्, हर्षोत्साहयोर्योनिः॥

च० सू० १२।८

१--स्पष्टता के लिए कह दूँ कि--अग्नि की मन्दता का कारण वातवश हुई कफ की वृद्धि है। कफ की वृद्धि मे शरीर मे आम की उत्पत्ति होती है। परिणामतया, कफ-प्रकोपक तथा आम के लक्षण सहचारी और परस्पर सदृश ही होते है। उपचार भी दोनो का समान ही होता है।

वायु विविध चेष्टाओ का प्रवर्तक (करानेवाला) है। मन अनभीष्ट विषयो में प्रवृत्त हो रहा हो तो वायु ही उसका नियमन करता है। वही अभीष्ट विषयो में प्रवृत्त हो तो वायु उसका प्रवर्त्तन (प्रेरण) करता है। वायु ही सर्व इन्द्रियो को अपने-अपने कर्म मे प्रवृत्त करता है। वही इन्द्रियो के सर्व विषयो का अभिवहन करता है। वाणी की प्रवृत्ति (उत्पत्ति) का कारण वायु ही है। स्पर्श और शब्द का तथा उनकी इन्द्रियो का मूल यह वायु ही है। वायु ही हर्ष और उत्साह (मन की कार्यो मे प्रवृत्ति--प्रयत्न) का हेतु है।

मन के कर्मो मे यहाँ वायु को मूल कहा है, तथा उनपर वायु का प्रभुत्व बताया है। सो, वायु विषम हो तो मन के कर्मो पर भी प्रभाव होने से उसके रोग होना सभव है--सभव क्यो, प्रत्यक्ष है। तात्पर्य--आयुर्वेद मे रोगो के प्राथमिक दो विभाग शारीर और मानस भले किए हो तथा दोनो के दोष भी भले ही पृथक् बताए हो, तथापि मानस दोषो के वैषम्य मे वायु कारणतया रहता ही है। अतएव, कुशल चिकित्सक अपतन्त्रक (हिस्टीरिया), अपस्मार आदि मानस रोगो में भी मलवातानुलोमन तथा आर्तव-प्रवर्तन (संशोधन) एवं समीरपन्नग, चन्द्रोदय आदि वातशमन उपचारो का सफल प्रयोग करते देखे जाते है।

वायु के मन पर इस प्रभुत्व को दृष्टि मे रखकर ही योगियो का मत है कि--

इन्द्रियाणा मनो नाथो मनोनाथस्तु मारुतः ॥

हठयोगप्रदीपिका

मन इन्द्रियो का स्वामी है और मन का भी स्वामी वायु है। अतएव काश्यप ने भी कहा है--

मानसाना च रोगाणा कुर्याच्छारीरवत् क्रियाम्।

का० स० सू० २७।५

मानस रोगो की भी चिकित्सा शारीर रोगो के सदृश ही करे।

आवरण से वात का प्रकोप--

वातज रोगो की संख्या अधिक होने मे एक अन्य कारण यह है कि, अपने प्रकोपक कारणो से तो अन्य दोषो के समान इसका प्रकोप होता ही है, साथ ही आवरण से भी वातका प्रकोप होता है। आवरण से अन्य दोषो का इस प्रकार प्रकोप नही होता। जैसे किसी नदी आदि जल-प्रवाह के मार्ग में अन्तराय आ जाने पर प्रवाह द्विगुण वेग से उछलता है वैसे वायु की (क्रिया के) मार्ग में आवरण आजाए तो वह प्रकुपित (उद्दीपित) होता है।

प्रमाण से अधिक सेवित अन्न, पित्तादि दोष तथा पुरीषादि मल वायु के मार्ग एव सचरण में प्रतिबन्ध (आवरण) उपस्थित करते है, जिससे उसका

सञ्चय और वृद्धि होकर प्रकोप होता है। वात के प्रकोप के कारण संक्षेप में बताते तन्त्रकार ने कहा है—

वायोर्धातुक्षयात् कोपो मार्गस्यावरणेन वा ॥ च० चि० २८।५९

वायु का कोप संक्षेप में दो कारणों से होता है—रूक्ष अन्नपान आदि के सेवन से धातुओं का क्षय होने से, किंवा वायु के मार्ग में प्रतिबन्ध (आवरण) होने से। इस प्रकार इतर दोषों की अपेक्षया प्रकोप के कारणों का बाहुल्य होने से वात का प्रकोप तथा तज्जन्य रोग अधिकतया होते हैं।

वायु की योगवाहता—

वातज रोगों के संख्याधिक्य का एक अन्य कारण उसकी योगवाहता है। योगवाहता का अर्थ है कि यह पित्त या कफ जिसके भी संसर्ग (योग) में आता है, उसके गुण-कर्मों को ग्रहण (वहन) कर लेता है। यथाहि—

योगवाहः परं वायुः संयोगादुभयार्थकृत्।
दाहकृत्तेजसा युक्तः शीतकृत् सोमसंश्रयात् ॥

च० चि० ३।३८

वायु अत्यधिक योगवाह है—(स) योग होने पर संयुक्त दोष के गुण-कर्मों को ग्रहण (वहन) करने का इसमें प्रबल स्वभाव है। इस संयोगवश वह दोनों दोषों के कार्य करता है। जैसे बहिश्चर वायु दिवस में सूर्य के संपर्क में आता है तो सृष्टि में संताप का प्रसार तथा तद्रूप कर्म करता है, एवं रात्रि को चन्द्र के संसर्ग में आने पर उसके आह्लादक शीत गुण का ग्रहण तथा तज्जन्य कर्म करता है, वैसे अन्तश्चर वायु पित्त के साथ अनुबद्ध (संबद्ध) हो दाहादि पित्तकृत कर्म करता है तथा वही कफ का अनुबन्ध होने पर शीत आदि कफकृत कार्य करता है। वायु के इसी योगवाह गुण को लक्ष्य में रखकर सुश्रुत ने सृष्टि के समस्त पदार्थों को दो ही वर्गों में विभक्त किया है—आग्नेय और सौम्य[1]।

वायु द्वारा धातुओं का शोषण—

अन्त में वायु द्वारा उत्पन्न रोगों की अधिकता में एक हेतु यह है कि, वायु अपने रूक्ष गुण के कारण धातुओं को क्षीण (शुष्क) करता है। इस प्रकार धातुओं के क्षीण और बलहीन (व्यायाम तथा रोगों का प्रतिकार करने में अल्प सामर्थ्यवाले) होने से भी परम्परया तत्तत् रोग उत्पन्न होते हैं।

१—देखिए सु० सू० १।२२।

वायु से इतर दोषो के प्रकोप का स्वरूप—

वायु का अन्य दोषो से प्राधान्य और तज्जन्य रोगो का सख्याधिक्य दर्शाते हुए हमने इस प्रकरण के आरम्भ में कहा है कि—वायु के प्राकृत कर्मो मे एक मलो का बहिःक्षेपण है। मल तथा दोष जैसे-जैसे वनते जाते है, वैसे-वैसे वायु वहिर्द्वार की ओर उनका अभिवहन करता जाता है और अन्त मे उन्हे तत्तत् द्वार से बाहर निकाल देता है। परन्तु वायु यदि कुपित हो तो उसकी मलक्षेपण क्रिया समीचीन नही होती। परिणामतया, दोषो तथा मलो का शरीर मे सचय, वृद्धि और प्रकोप होकर तज्जन्य रोगो की उत्पत्ति होती है। वात का प्रकोप होने से यह सब कैसे सभव होता है यह स्पष्ट समझ लेना चिकित्सा की दृष्टि से उपयोगी होने से उसका सक्षेप में सोदाहरण उल्लेख यहाँ किया जाताहै।

दोषो के साम्य, क्षय और वृद्धि का सामान्य लक्षण यह है कि—

दोपाः प्रवृद्धा स्वं लिगं दर्शयन्ति यथाबलम्।
क्षीणा जहति लिगं स्वं समाः स्वं कर्म कुर्वते[1]॥

च० सू० १७।६२

दोष समावस्था में हो तो उनके शास्त्रोक्त तथा अनुभवगम्य गुण-कर्म समभाव से होते रहते है—शरीर में कोई विकार हुआ दृष्टिगोचर नही होता।

दोषो की वृद्धि (प्रकोप) हो जाए तो उनके जिस प्राकृत गुण की जितने प्रमाण में वृद्धि हुई हो उस गुण के कर्म उतने प्रमाण में अधिक होते है। जैसे, स्निग्धता, शैत्य, मधुरता आदि श्लेष्मा के प्राकृत गुण है। श्लेष्मा की वृद्धि होने पर वृद्धि को प्राप्त हुए गुण के अनुसार त्वचा, मुख, जिह्वा, नख, नेत्र, पुरीष, मूत्र आदि में स्निग्धता, शीतता, मधुरता आदि गुणो की वृद्धि हो जाती है और तदनुरूप कण्डू, अरुचि, अग्निमान्द्य आदि विकार दृष्टिगोचर होते है।

दोषो का (दोष-विशेष के एक या अनेक गुणो का) क्षय हो जाए तो दो स्थितियाँ हो सकती है। एक उनके प्राकृत कर्मो का उतने ही प्रमाण में ह्रास जितने प्रमाण में उनका क्षय हुआ है। यथा—वात का क्षय हुआ हो तो उसके प्राकृत कर्म उत्साह का ह्रास होता है। दूसरी स्थिति यह हो सकती है कि, दोष-विशेष के जिन प्राकृत गुण-कर्मो का क्षय हुआ है उनके विरोधी गुण-कर्मो की वृद्धि। यथा—वात का क्षय होने पर उत्साह-विरोधी विषाद (मनोभङ्ग) की वृद्धि, पित्त का क्षय होने पर दृष्टिमान्द्य, अजीर्ण इत्यादि का प्रादुर्भाव एव श्लेष्मा का क्षय होने पर रूक्षता आदि।

१—च० सू० १८।५२-५३ तथा दोनो स्थलो की टीकाएँ भी देखे।

दोष-विशेष के किसी गुण का क्षय होने पर दोषान्तर के (अन्यदोष के) अङ्गभूत विरोधी गुण की वृद्धि का कारण यह है कि—दोषो के शास्त्रोक्त गुणो में कतिपय गुण परस्पर समान होते है और कुछ विरुद्ध । विरुद्ध गुण समावस्था में रहते हुए एक दूसरे को बढने नही देते-एक दूसरे की समावस्था बनाए रखते है । जैसे वात का रूक्ष गुण, कफ का स्निग्ध गुण तथा पित्तका ईषत् (किंचित्) स्निग्ध गुण एक दूसरे को समावस्था में रखते है । इनमें किसी दोष का कोई गुण क्षय को प्राप्त हो जाय तो विरोधी गुण तथा उसके कर्मो पर मे उसका नियन्त्रण न्यून हो जाने से स्वाभाविक ही उस विरोधी गुण के कर्मो की वृद्धि हो जाती है ।

दोषो के गुण परस्पर-समान होने का परिणाम भी कायचिकित्सा में उपयुक्त होने से उसका भी सक्षेप मे विचार कर लें । अहिताहार-विहार से एक या अनेक जिन गुणो की वृद्धि हो जाए वे गुण जिस दोष में प्रधानतया रहते हो उस दोष की वृद्धि मुख्यतया होती है और उसी के प्रकोप से होनेवाले रोग भी प्रधानतया होते है । परन्तु निदान (रोग के कारण) के सेवनवश प्रकुपित हुए गुण अन्य किसी दोष के भी गुण होते है, भले ही वे गुण उस दोष के प्रधान गुण न हो । निदानवश उस गुण का प्रकोप होने से उसके आश्रयभूत दोष का भी प्रकोप होता ही है, यद्यपि अल्प प्रमाण में । और उस अप्रधान दोष से भी रोगोत्पत्ति होती है, परन्तु गौण या अनुबन्ध के रूप मे । चिकित्सा में कुपित गुण के ही शमन को विशेषतया लक्ष्य में रखा जाता है । जैसे, अम्लरस के अतिसेवन से पित्त की वृद्धि प्रधानतया होती है, पर साथ-साथ अनुबन्ध (सह-चारी) रूप में कफ की वृद्धि होकर तज्जन्य उपद्रव होते है । चिकित्सा में ऐसे द्रव्य की योजना करनी चाहिए जो दोनो दोषो का विरोधी हो यथा कषाय तथा तिक्तरस-द्रव्य दोनो दोषो के विपरीत होने से उनकी योजना ऐसे विकारो में की जाती है । इस विषय का विचार आगे यथा प्रकरण किया जाएगा ।

प्रकृत विषय यह है कि, दोष प्रकुपित हो जाएँ तो उनके प्रकोप के ज्ञान का सामान्य लक्षण यह है कि प्रकुपित हुए दोष के गुण-कर्मो मे वृद्धि हो जाती है । इस नियमानुसार वायु का प्रकोप होने पर उसके द्वारा दोषो का निर्हरण अधिक प्रमाण में होना चाहिए और इस प्रकार शरीर मे दोषो का सचय होकर वृद्धि और प्रकोप न होना चाहिए, प्रत्युत क्षय ही होना चाहिए । सक्षेप में, इस प्रश्न का विचार उपयुक्त होने से किया जाता है ।

दोष विषम होकर जैसे धातुओ-उपधातुओ-मलो और अन्य दोषो को दूषित करते है, वैसे स्रोतो को भी तत्तत् प्रकार से दूषित करते है । यह उनका स्वभाव है ।

तेषा सर्वेषामेव वातपित्तश्लेष्माण· प्रदुष्टा दूषयितारो भवन्ति दोषस्वभावादिति ॥ च० वि० ५।६

शीत और उष्ण—द्रव्यों के दो वर्ग—ऊपर हमने कहा है कि—प्रधान गुणों को दृष्टि मे रखते हुए सृष्टि के समस्त द्रव्य, चाहे वे वात-पित्तादि शारीर द्रव्य हो, चाहे उशीर (खस)–शुण्ठी आदि बाह्य द्रव्य हो, उनके दो विभाग किए जा सकते है—सौम्य और आग्नेय। लोक मे भी आहार-औषध द्रव्यो का का विचार उनको मुख्यतया ठण्डी या वादी तथा गरम इन संज्ञाओ द्वारा दो वर्गो में विभक्त करके ही किया जाता है। यह लोक-व्यवहार शास्त्रमूलक ही है।

शीत जल या वायु, चन्द्रकिरण आदि प्रत्यक्षत शीत वस्तुओ के ससर्ग से रसरक्तवह, पित्तवह आदि स्रोतो का सकोच होकर जैसे शरीर मे जाड आदि गुण-कर्मो का प्रादुर्भाव होता हे वैसा ही कर्म जिन वात-कफादि शारीर तथा उशीर, चन्दन आदि बाह्य द्रव्यो का प्राचीनो के देखने मे आया उन्हे उन्होने शीत-वर्ग मे सनिविष्ट किया। शेष पित्त-प्रभृति शारीर द्रव्य तथा शुण्ठी, तगर आदि बाह्य द्रव्य जिनका शरीर के साथ बाह्य या आभ्यन्तर ससर्ग होने पर उनका परिणाम अग्नि, सूर्य-किरण आदि द्रव्यो के ससर्ग से होनेवाले कार्यो के समान देखा गया, अर्थात् जिनके सेवन से त्वचा, आम-पक्वाशय आदि अवयवो के रस, रक्त, पित्त आदि का वहन करनेवाले स्रोतो की विवृति (चौडा हो जाना), अतएव स्वेदन, अग्निदीप्ति, लाघव आदि क्रियाएँ दृष्टिगोचर हुई, उन्हें उष्ण-वर्ग में स्थापित किया गया। यो स्निग्ध-रूक्ष आदि अन्य भी पृथक् गुण द्रव्यो मे देखे जाते है तथा शास्त्र मे उन का वर्णन भी किया गया है, तथापि उन सब का समावेश इन्ही दो वर्गो मे किया जा सकता है, और प्राचीन आचार्यो ने वैसा ही किया भी है।

वायु का स्रोतों पर प्रभाव—कर्म देखकर वायु की गणना प्राचीनो ने शीत- गुण द्रव्यो मे की है। वायु का गुण-परक यह पद्यांश प्रसिद्ध है—

रूक्षः शीतो लघुः सूक्ष्मश्चलोऽथ विशदः खरः।
विपरीतगुणैर्द्रव्यैर्मारुतः संप्रशाम्यति ॥

च० सू० १ ५९

वायु मे प्रधान गुण ये है—रूक्ष, शीत, लघु, सूक्ष्म, चल, विशद और खर। जिन द्रव्यो मे इन गुणो के विपरीत स्निग्ध-उष्ण आदि गुण होते है, उनके सेवन से वायु का प्रशमन होता है। इन गुणो में भी रूक्ष मुख्य है, इसीलिए सर्वत्र वायुके गुणो में उसका प्रथम निर्देश किया जाता है। अर्थापत्त्या, वायु की चिकित्सा में रूक्ष-प्रत्यनीक स्निग्ध द्रव्यो का सेवन प्रधानतया करना चाहिए। पर ये

द्रव्य उष्ण होने चाहिए, अथवा उनके साथ उष्ण द्रव्यो का आहार या औषध के रूपमें सयोग करना चाहिए। कारण, वायु का दूसरा मुख्य गुण शीत है।

शीत-गुण[1] (द्रव्यो) के कर्मो में एक गुण स्तम्भन भी है—ह्लादनः स्तम्भनः शीतो मूर्छातृट्स्वेददाहजित्—सु सू ४६-५१५—स्तम्भन का अर्थ है शरीर या उसके किसी भी अवयव में होनेवाली चेष्टा (कर्म) को रोक देनेवाला। वात-प्रभृति शीतद्रव्यो की यह स्तम्भन क्रिया सधियो पर, शरीरान्तर्गत स्थूल या अणु-स्रोतो पर तथा मासपेशी आदि पर देखी जाती है। शरीरान्तर्गत स्रोतो पर शीत द्रव्यो की स्तम्भन क्रियाएँ समझने के लिए थोडी नव्य मत की सहायता ली जा सकती है। महास्रोत, तथा हृदय-समेत रस-रक्तवह स्रोतो में बाह्य द्रव्यो के अभिवहन के लिए विशेष प्रकार की सकोच-विकासात्मक क्रिया हुआ करती है, जिसे 'पेरिस्टालिसस' कहा जाता है। स्थल-विशेष पर सकोच होने पर सकुचित-प्रदेशान्तर्गत द्रव्य आगे धकेल दिया जाता है। एकाध क्षण में यह प्रदेश विवृत (विकसित) होता है। परिणामतया, ऊपर की ओर से बाह्य द्रव्य इस प्रदेश में पहुँचा दिया जाता है। इस प्रकार बाह्य द्रव्य (अन्न-पान, पुरीष, रस-रक्तादि) अविराम गति करता हुआ अपने लक्ष्य की ओर पहुँचता जाता है। शीत द्रव्य इस क्रिया को शिथिल कर देते है, या कुछ काल के लिए अटका देते है। इसी क्रिया को स्तम्भन कहा जाता है। इस स्तम्भन का परिणाम विशेषत बाह्यद्रव्य पर होता है। यह परिणाम नीचे लिखे प्रकार से होता है।

स्तम्भन का बुद्धिगम्य प्रथम परिणाम यह होता है कि, बाह्य द्रव्य उतने काल के लिए उसी स्थान पर स्थिर (स्तब्ध) रह जाता है। शेष परिणाम इस स्तब्धता के ही आश्रय से होते है। स्तब्धता के अनन्तर पहली क्रिया बाह्य द्रव्यपर यह होती है कि वायु के प्रभाव से उसके अन्तर्गत क्लेद (द्रवाश) का शोषण होने लगता है। महास्रोत आदि स्रोतो में स्वभावत बाह्य द्रव्यो का यत्किचित् शोषण होता ही है। द्रव्य स्तब्ध हो जाने पर शोषण अधिक मात्रा में होने लगता है, यह यहाँ तात्पर्य है। वातकलाकलीयाध्याय में ही वायु का एक विशेषण आया है—संशोषणो दोषाणाम् च सू १२-८- चक्रपाणि ने इसका अर्थ दिया है—दोषसंशोषणः शरीर क्लेदसंशोषणः। अर्थात्—यहाँ दोषो के सशोषण का

१—दर्शनो का मत है कि, गुणो मे कर्म नही रहता। गुण-कर्म द्रव्यो मे (द्रव्याश्रित) रहते है। परन्तु आयुर्वेद मे गुणो के भी कर्म बताए है। आयुर्वेदीयदर्शन या पदार्थविज्ञान की अनेक विशेषताओ मे यह एक विशेपता है। इन विशेपताओ के कारण ही आयुर्वेदीय पाठ्यक्रम मे पदार्थविज्ञान विषय आयुर्वेदीय सहिताओ से ही सगृहीत करके पढाना चाहिए।

अर्थ है, शरीरान्तर्गत क्लेद[1] (आर्द्रता, द्रव अंश) का शोषण करना—उसे शुष्क कर घनत्व प्रदान करना। प्रवृद्ध होकर शरीर के क्लेद और स्नेह को इस प्रकार शुष्क करना वायु का स्वभाव है—उसकी प्रकृति है। इस दोष-संशोषण स्वभाव के कारण ही उसमें एक अन्य गुण देखा जाता है—रूक्ष। वातारब्ध प्रकृति या विकृति (रोग) दोनो में वायु का यह गुण प्रधानतया लक्षित होता है। दोष-संशोषण कर्म कहिये या रूक्ष गुण कहिए, इन दोनो का परिणाम जैसा कि ऊपर कहा है, यह होता है कि वाह्य द्रव्य उत्तरोत्तर घन होकर पिण्ड-रूप प्राप्त करता जाता है। विकृत वायु के कर्मों में तन्त्रकारो ने इस विकार को वर्त नाम दिया है। वर्त का अर्थ टीकाकारो ने यह दिया है—वर्तुलीकरणं वर्तः—चक्रपाणि, वर्तनं वर्तः, पुरीषादीना पिण्डीकरणम्—अरुणदत्त। —पुरीषादि द्रव्यो का वर्तुलीभाव, शोषण के परिणाम-रूप में पिण्डीभूत हो गोलाकार धारण करना इसका नाम है वर्त। वाह्य द्रव्यों के पिण्डीभाव-वश अधिष्ठान- भेद से विभिन्न विकार उत्पन्न होते है।

उदाहरणतया महास्रोत में पुरीष की ग्रन्थियाँ बँधती है—मल ग्रन्थित होता है, जिससे अपकर्षणी गति (पेरिस्टाल्सिस) समीचीनतया नही होती तथा मल अधिक अवरुद्ध होकर ग्रन्थियाँ अधिक ही बनती जाती हैं, साथ ही वायु का भी आवरण (अवरोध) होकर उसके सचय-वृद्धि-प्रकोप के लक्षण तथा विकार उत्पन्न होते हैं। वर्तुलीभाव यदि याकृत पित्त का वहन करनेवाले पित्तप्रसेक (वाइल डक्ट) में हो तो शुष्कीभूत पित्त की अश्मरी (गॉल-स्टोन) बनती है। पिण्डीभाव मूत्रयन्त्र मे हो तो पिण्डता के तारतम्य (न्यूनाधिक्य) के अनुसार मूत्रान्तर्गत द्रव्यो की सिकता (रेती या क्रिस्टल), शर्करा या अश्मरी बनती है। इन में शुष्कता का हेतु यद्यपि वायु ही है, तथापि जिस द्रव्य की सिकता आदि बनती है उसके स्वरूप-भेद से सिकतामेह आदि रोगो का दोषानुसार विभाग किया गया है। इस प्रकार अश्मरियो के वातज, पित्तज, कफज भेद होते है।

तीनो दशाओ में पुरीषादि का वहि:क्षेपण रूप कर्म करनेवाला वायु ग्रथित पुरीषादि से अवरुद्ध या आवृत होने से उसका प्रकोप होता है। आवृत वायु अधिक वलपूर्वक अवरोध के स्थान पर सकोचन-क्रिया (स्पैज्मॉडिक कोंट्रेक्शन) करता है। इस क्रिया के कारण अवरोध के प्रदेश पर तीव्र शूल होता है। आधुनिको ने महास्रोत में इस प्रकार होनेवाले शूलको 'इण्टेस्टाइनल कॉलिक' या केवल "कॉलिक', पित्तप्रसेक में होने वाले शूल को 'विलिअरी कॉलिक' तथा मूत्रयन्त्र में होनेवाले शूल को 'रीनल कॉलिक' नाम दिए है। उनकी वर्णित सप्राप्ति

१—क्लेद शब्द क्लिदू आर्द्रीभावे धातु से व्युत्पन्न है।

कुछ भी हो, आयुर्वेद में तो पिण्डीभाव तथा तीव्रसंकोच दोनो का कारण वायु होने से इनमे शूल का मूल वात को ही बताया है। तथाहि--

' सर्वेष्वेतेपु शूलेपु प्रायेण पवनः प्रभु ॥

माधवनिदान

इन का उपचार--विशेषकर अनुत्पत्तिकर उपचार--इन्हें उत्पन्न ही न होने देना--वायु को ही लक्ष्य मे रखकर करना चाहिए।

वात का क्लेद-सशोषण कर्म इसी प्रकार प्राणवह स्रोतो में स्थित कफ पर हो तो परिणाम कास-श्वास के रूप में होता है। इस स्रोत मे स्थित कफ (अवलम्बक कफ) सम प्रमाण तथा सम स्निग्धता और क्लेदयुक्त हो तो प्राणापान की गति सम रहती है। वायु के प्रकोपवश यह कफ शुष्क हो जाए तो इसकी वहिर्द्वारो (मुख-नासिका) की ओर गति समभाव से हो नही सकती। परिणामतया, सचित हुए इस कफ का वहि क्षेपण करनेवाला वायु पूर्वोक्त रीति से ही आवृत होने से प्र-कुपित (उद्दीपित) होता है। प्रकुपित वायु की वहि क्षेपणानुकूल क्रिया कास के वेगो के रूप मे व्यक्त होती है। वेग अधिक होने से उर तथा उदर की पेशियो एव अन्य अवयवो मे भी आयाम होने से उनमें वेदना होती है। कास के प्रसक्त (अविरत) वेग जवतक होते रहे तबतक श्वसन क्रिया रुकी रहती है। परिणाम में प्राण का निर्गमन न होने से उसका सचय, वृद्धि और प्रकोप होने से उसका प्राकृत कर्म श्वसन बढ जाता है। श्वसन के दर की (प्रतिमिनट सख्या की) इस वृद्धि का ही रोग-सूचक नाम श्वास है। यह सप्राप्ति स्मरण मे रहे तो, इस प्रकार उत्पन्न कास, श्वास, पार्श्वशूल तथा उदरशूल में मलवातानुलोमन एव कफ को क्लिन्न (द्रवीभूत) करनेवाले उपचारो की स्मृति अनायास हो आती है। प्राय यह शुष्क कास प्रतिश्याय का परिणाम होता है। प्रतिश्याय का भी मूल उदावर्त आदि के कारण मल और वायु का विवन्ध ही होता है।

मल और वायु का स्तम्भन अधिक हो जाय तो बद्ध-गुदोदर के समान मल और वायु की प्रतिलोम गति होती है। वात-कलाकलीय अध्याय मे शारीर वायु के प्राकृत-विकृत कर्म समझाते हुए बहिश्चर वायु के कर्म भी दर्शाए है। वहिश्चर वायु के विकृत कर्मो मे एक नदियो के जल की विपरीत दिशा में गति--प्रतिसरणमापगानाम्--(च सू १२।८) भी है। शारीर वायु की उक्त प्रतिलोम गति को प्रतिसरण (रीट्रोपेरिस्टाल्सिस ; रस-रक्तवह स्रोतो से--रीग-र्जिटेशन) कह सकते है। उत्तर तन्त्र अध्याय ५५ मे सुश्रुत ने वेगावरोध से हुए विकारो को उदावर्त नाम दिया है। जैसा कि नाम से सूचित है, वह इसी प्रतिसरण का पर्याय है। यह प्रतिसरण या उदावर्तन कभी इतना अधिक

हो सकता है कि मुख से मल की प्रवृत्ति होने लगती है। प्राचीनो ने वायु और मल के वेग का अवरोध करने से हुए विबन्ध (कॉन्स्टीपेशन) तथा उसके उपद्रवो के अधिकार में इस उपद्रव का उल्लेख किया है। (देखिए—सु० उ० ५५ ।७-९)।

पुरीष और पित्त की ग्रन्थियो के समान वायु के प्रकोप से कभी मेद की स्थूल या अणु ग्रन्थियाँ शरीर पर बँध जाती है। इसे आधुनिको ने 'मिक्सीडीमा' कहा है। इसमें मेदोग्नि के मन्द होने से वायु का प्रकोप होता है। चिकित्सा तदनुरूप कर देखनी चाहिए।

धातुओ के आशयो में तथा शरीर के विभिन्न अङ्ग-प्रत्यङ्गो में उनके पोषण के लिए रसधातु को पहुँचानेवाले स्रोत (रसवह स्रोत) वायु की क्रिया से न्यूनाधिक समय के लिए स्तब्ध (संकुचित) हो जाएँ तो स्रोतो के अन्तर्गत अवकाश (विवर, मुख, आस्य, छिद्र) सकुचित हो जाता है। परिणामतया, धातुओ की पुष्टि आदि के लिए उपयुक्त रसधातु, ओज विष्णुपदामृत (ऑक्सिजन) इत्यादि की प्राप्ति पर्याप्त प्रमाण में न होने से धातु तथा अङ्ग-प्रत्यङ्ग क्षीण (शुष्क) और हीनबल तथा अन्त में रोगग्रस्त होते हैं। ऊपर कहा है कि वायु के प्रकोपवश धातुओ का क्षय होता हे, उस का स्वरूप यह हे।

रसवह स्रोतो के सकोच का एक अन्य परिणाम वह होता है, जो हायपरटेन्शन' या 'हाईब्लडप्रेशर' नाम से सुविदित हे[1]। रसवह स्रोत सकुचित होने

१—रसधातु—नवीन मत से—

रसका वर्णन करते हुए तन्त्रकारो ने कहा है—उसका स्थान हृदय हे। वहाँ मे चौवीस धमनियो मे अनुप्रविष्ट हो व्यान वायु की सहायता मे अहर्निश समस्त शरीर का तर्पण (क्षतिपूर्ति), वर्धन, धारण (जीवन) तथा यापन करता रहता हे। देखिये—तस्य (रसस्य) हृदय स्थानम्। स हृदयाच्चतुर्विंशतिधमनीरनुप्रविश्य कृत्स्न शरीरमहरहस्तर्पयति वर्धयति धारयति (जीवयति) यापयति च . सु० सू० १४।३। अन्यत्र तन्त्रकारो ने कहा हे कि, शरीर मे उल्लिखित कर्म कर यह पुन सिराओ द्वारा हृदय मे आ जाता है। इस प्रकार हृदय से समस्त शरीर मे गमन, वहाँ तर्पणादि क्रिया करना और पुन हृदय मे परावर्तन—इस वर्णन को देखने मे विदित होगा कि यह आयुर्वेद का रस ऐलोपैथी का एकमात्र 'लिम्फ' नही हो सकता। उसकी हृदय से गति नही होती। हृदय से जिसकी गति होती है, वह लिम्फके समान ही रासायनिक स्वरूपवाला प्लाज्मा भी आयुर्वेद का रस धातु होना चाहिए। यह प्लाज्मा केशवाहिनियो से स्रुत हो 'टिश्यु फ्लुइड' नाम धारण करता हे, वही रसवाहिनियोद्वारा हृदय से→

से रस के शरीर में विक्षेपण का कार्य जिस व्यान वायु का है उसके मार्ग (तथा उसकी क्रिया) में अवरोध या आवरण होने से उस का प्रकोप होता है। प्रकुपित होकर वह अपना प्राकृत-कर्म रस-विक्षेपण अधिक बलपूर्वक करता है। यही अधिक बल 'स्फिग्मोमेनोमीटर' (ब्लडप्रेशर मापनेवाले यन्त्र) में पारद को अधिक ऊँचा उठाने के रूप में तथा शरीर मे भ्रम, शिरोरोग (शिरोवेदना) इत्यादि के रूप में व्यक्त होता है।

अङ्गवध का कारण वात-प्रकोप—व्यान वायु के आवरण से उत्पन्न इस प्रकोप के साथ यदि खरत्व गुण का भी प्रकोप हुआ हो तो परिणाम गम्भीर होता है। कफ शरीर में समावस्था में हो तो शरीर के सर्वावयवो में स्निग्धता और मृदुता रहती है। हृदय-समेत स्रोतो मे ये दो गुण हो तो उनके तत्तत् भाग में रस-रक्त का अभ्यागमन होने पर वे पर्याप्त प्रमाण मे विवृत होकर उस को (रस-रक्त को) ग्रहण कर लेते हैं। पश्चात् इन गुणो के कारण ही उत्पन्न स्थिति-स्थापक गुण के कारण पुन सकुचित हो पूर्वावस्था मे आते है। परिणामतया, सकुचित-प्रदेशान्तर्गत रस-रक्त पीडित होकर आगे धकेल दिया जाता है। व्यान वायु इस प्रकार कफ के स्निग्ध, मृदु और स्थितिस्थापक गुणो के साहाय्य से रस-रक्त को शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्ग में पहुचाता और पुन. हृदय में लाता रहता है।

परन्तु, रस-रक्तवह स्रोतो में कफ के अङ्गभूत इन गुणो के स्थान पर वायुके प्राबल्यवश उत्पन्न खरत्व (रिजिडिटी, आर्टीरिओस्क्लेरोसिस) गुण विशेष हो तो, रजोगुणजन्य मानसिक आवेश आदि के कारण रस-रक्त अधिक वेग और प्रमाण मे इन स्रोतो में पहुँचे तो अपने खरत्व के कारण वे रस-रक्त के इस प्रवृद्ध प्रवाह को सहन न कर न्यूनाधिक विदीर्ण हो जाते है। यह स्थिति यदि मस्तिष्क में हो तो अङ्गवध (पेरेलिसिस) हो जाता है। इस रोग का उभय मत से विवरण आगे वातरोगाधिकार में आएगा ही। यहाँ इतना ही कह दे कि अङ्गवध की कारणभूत स्रोतो मे उत्पन्न हुई इस खरता तथा तज्जन्य भगुरता (ब्रिटलनेस, फ्रेजाइलिटी) के भी हेतुभूत वात-प्रकोप को दृष्टि मे रख कर ही आयुर्वेद में

←—परावर्तित होता हुआ 'लिम्फ' नाम ग्रहण करता है। सो, ये तीनो समुदित हुए आयुर्वेद के रस धातु है। इसके अनुसार आधुनिको के ब्लड वेसल्स को रसवह स्रोत कहना चाहिए। यकृत् प्लीहा मे जाने-आनेवाले रसवह स्रोत रक्तवह स्रोत होने चाहिए। आयुर्वेद का रक्त धातु मैं समझता हूँ, आधुनिको के रक्तकण होने चाहिए। रक्त की उत्पत्ति तथा शुद्धि (रञ्जनकर्म) यकृत्-प्लीहा मे होने से वहाँ जाने-आनेवाले रसवह स्रोतो की रक्तवह यह विशेष सज्ञा है।

अङ्गवध को वातरोग माना गया है। पुरुष वातप्रकृति हो तो उस में यह स्थिति उत्पन्न होने की संभावना सविशेष होती है।

हृच्छूल मे वात की कारणता—दैवात् रस-रक्तवह स्रोतो का स्तम्भ (स्पैज्म) हृदय में हो तो इस आवरण से हृदयस्थायी वायु का प्रकोप होता है। इस आवरण का सामना कर रस-रक्त को हृदय में सर्वत्र पहुँचाने के लिए वायु उद्दीप्त होता है—उसकी रस-रक्त का विक्षेपण करनेवाली नैसर्गिक क्रिया का अङ्गभूत सकोचन कार्य अधिक बलपूर्वक होता है। इस प्रबल सकोच के कारण महास्रोत आदि में होनेवाले उल्लिखित शूल के समान हृदय में भी तीव्र शूल होता है। इसे हृच्छूल (एन्जाइना) कहते है। इसी सप्राप्ति के कारण हृदय-शूल को भी आयुर्वेद में वातज रोगो में स्थान दिया गया है। इसी कारण हृच्छूल का उपचार वैद्यजन वायु के शमन और अनुलोमन के रूप में सफलता से करते हैं।

कभी हृदय के रस-रक्तवह स्रोतो में यत्किंचित् रस-रक्त स्रुति होकर उसका स्कन्दन (जमना, कोएगुलेशन) भी हो सकता है। उसकाल भी मार्गावरोधवश आवृत हुआ व्यान वायु प्रकुपित हो हृच्छूल उत्पन्न करता है।

कफ का अनुबन्ध हो तो व्यानवायु कफावृत होने से हृदय में—हृदय के रस-रक्तवह स्रोतो में—रस-रक्त की गति कफ के मन्द गुण के प्रभाव से मन्द हो जाती है। कफ के पिच्छिल गुण की क्रिया से रस-रक्त का स्कन्दन होकर इस स्थिति में भी व्यान वायु जमे हुए रस-रक्त से आवृत हो तीव्र हृच्छूल उत्पन्न करता है।

वायु के साथ कभी पित्त का भी अनुबन्ध होना संभव है। यह स्थिति तब होती है जब निदान (रोग के कारणभूत अहिताहारादि) उष्ण-रूक्ष हो। उष्ण गुण के साथ स्निग्धगुण आहारादि का सेवन किया जाए तो उससे विपरीत-गुण वायु का शमन होता है। परन्तु उष्ण गुण का अतियोग रूक्ष गुण के साथ हो तो एक ओर तो उष्ण गुण के प्रभाव से धातुओ के स्नेह, गौरव आदि गुणो का क्षपण (क्षय) होता हैं; दूसरी ओर सेवन किए रूक्ष गुण से क्षय की भूयसी (और अधिक) वृद्धि ही होती है। इस स्थिति में भी प्रकुपित वात हृच्छूल उत्पन्न कर सकता है। पर उसमे अनुबद्ध (सहचारी) दोष पित्त होगा। सहचारी दोष कफ है या पित्त, इस वस्तु का अनुमान द्वारा विनिश्चय शरीर मे दोनो दोषो में से जिसके प्रकोप के लक्षण प्रत्यक्ष हो उन्हें देखकर किया जा सकता है। उपचार भी तदनुरूप होना चाहिए।

वायु से जैसे स्रोतो का स्तम्भ और सकोच होता है, ऐसे ही स्रोतो तथा आशयो का व्यास (विस्तार; डायलेटेशन) भी होना सभव है। गुल्म रोग में महा-स्रोत, हृदय आदि में यह स्थिति देखी जाती है। इन स्रोतो और आशयो की

क्षीणता (एट्रॉफी) भी होना सभव है। वायु के इन विकारजनक गुण-कर्मो का वर्णन वायुरोग के प्रकरण में किया जायगा। यहाँ उदाहरणतया वात-प्रकोप के कुछ ही परिणामो पर प्रकाश डाला गया है।

रसायन द्रव्यो की वात पर क्रिया--

ऊपर वात के प्रकोप का स्वरूप दर्शाने के लिए जो उदाहरण दिए गए है उनसे स्पष्ट होगा कि प्राय रोगो में वायु की क्रिया स्रोतो पर होती है। स्रोतो की वातजनित दुष्टि का परिणाम यह होता है कि इन का अन्तर्गत अवकाश (विवर, मुख, आस्य, ल्युमेन) न्यून होता जाता हे, जिसमे उनके वाह्य द्रव्य का अभिवहन सम्यक् हो नही पाता। पित्त या कफ के कारण स्रोतो की दुष्टि हो तव भी परिणाम यही होता हे, यह हम आगे देखेंगे। स्रोतो की दुष्टि का परिणाम यह होता है कि दोष (मल) शरीर से वाहर योग्य प्रमाण में निकलने नही पाते--शरीर में स्थिर या स्तब्ध हो जाते हैं। इस प्रकार सचित हो वृद्धि और प्रकोप को प्राप्त हो तत्तत् रोग उत्पन्न करते हैं। दुष्टि रस-रक्तवह स्रोतो की हो तो उन से पुष्ट होनेवाले धातु, उपधातु, मल या पित्त आदि का पोषण सम्यक् नहीं होता--वे क्षीण होते हैं। धातु आदि के भेद से क्षय के परिणाम भिन्न होते है। यथा, मास क्षीण हो तो शरीर दुर्वल होता हे, शुक्र क्षीण हो तो रति की इच्छा तथा सामर्थ्य न्यून होता है, पित्त क्षीण हो तो अग्नि की मन्दता आदि विपरिणाम होते हैं, इत्यादि।

रसायन पदार्थ, चाहे वे आवरक (अवरोधकारी) दोष के विरोधी आहार या औषध-द्रव्य के रूप में हो, चाहे दोष-प्रत्यनीक प्राचार (शारीरिक या मानसिक व्यापार अर्थात् विहार) के रूप में हो, चाहे दोष-गुण विपरीत देश या काल के रूप मे हो, सब की क्रिया एक ही होती हे। ये पदार्थ अवरोधक दोष पर अथवा उसके प्रकोप से हुए परिणाम पर क्रिया कर स्रोत को विवृत करते हैं, परिणामतया रस के वहन में हुए अवरोध को दूर कर शरीर की सुस्थिति को पुन. स्थापित करते है। रस शब्द का अर्थ यहाँ अधिक व्यापक रूप में ग्रहण करना चाहिए। रस शब्द की व्युत्पत्ति तन्त्रकार ने यह कही है--

तत्र 'रस' गतौ धातु.। अहरहर्गच्छतीत्यतो रसः ॥

सु० सू० १४।१३

रस शब्द गत्यर्थक रस धातु से व्युत्पन्न हुआ है। रस धातु शरीर में अहर्निश गति करता रहता है, अत. इसे रस कहा जाता है। गति के इस साम्य से स्थल-विशेष में गमनशील द्रवपदार्थमात्र के लिए भी रस सज्ञा का व्यवहार होता है। देखिए--

रसतीति रसो द्रवधातुरुच्यते। तेन रुधिरादीनामपि द्रवाणा ग्रहणं भवति ॥ च० चि० १५।३६ पर चक्रपाणि

इस प्रकार अपने-अपने स्रोतो में जिन का वहन होता है उन सर्व रस-रक्त-शुक्रादि धातुओ, पित्तादि दोषो तथा मल-मूत्र-स्वेदादि मलो का गौण अर्थ में ग्रहण रस शब्द से होता है। स्वास्थ्य की अनुवृत्ति (निरन्तरता) के लिए इन सब रसो का वहन समीचीन होना आवश्यक है। अन्यथा शरीर धातुओ की पुष्टि तथा दोषो और मलो का निर्हरण अयथावत् होता है और शरीर रोग-पीडित होता है। रसायन पदार्थ इन रसो के अयन अर्थात् वहन की क्रिया को सुस्थित करते हैं। अतएव इन्हें रसायन कहा जाता है। अतएव वे शरीर को नीरोग तथा चिरायु करने में समर्थ होते हैं। तन्त्रकारो ने रसायन उपचार की व्याख्या करते हुए उसके परिणाम बताए हैं, परन्तु यह क्रिया वे कैसे करते है, यह उन्होंने बताया नहीं है। रस शब्द का व्यापक अर्थ तथा रसायन शब्द की ऊपर दी व्युत्पत्ति देखने से जाना जा सकता है कि, रसायन पदार्थ यह क्रिया कैसे करते हैं? अर्श की चिकित्सा के प्रकरण मे तक्र की प्रशसा में अत्रिपुत्र ने जो पद्य लिखा है, उससे रसायन शब्द के इस अर्थ की पुष्टि होती है। तथाहि——

स्रोतःसु तक्रशुद्धेषु रसः सम्यगुपैति यः।
तेन पुष्टिर्बलं वर्णः प्रहर्षश्चोपजायते ॥
वातश्लेष्मविकाराणा शतं चापि निवर्तते।
नास्ति तक्रात्परं किंचिदौषधं कफवातजे ॥

च० चि० १४।९७-९८

तक्र के विधिवत् सेवन से स्रोतो की शुद्धि हो जाए——उनके अन्तर्गत अवरोध (आवरण) दूर हो जाए तो रस का सम्यक्(यथायोग्य प्रमाण) अयन होता है। उसके परिणाम स्वरूप शरीर की पुष्टि, बल, वर्ण और प्रहर्ष (सामान्य आनन्द या रतिसुख की इच्छा तथा उस की पूर्ति का सामर्थ्य) उत्पन्न होता है। एव वातज और श्लेष्मज सौ रोग (८० वातज तथा २० श्लेष्मज मिलकर सौ) दूर होते हैं। अर्श कफज, वातज या कफवातज हो तो तक्र से श्रेष्ठ औषध उनके लिए अन्य नही है। यहाँ शरीर की पुष्टि आदि कर्मो का कारण रस का सम्यक् अयन बताया है। रसायन शब्द में रस पूर्वपद तथा अयन उत्तरपद है। अयन शब्द 'इ' (ण्) धातु से बनता है। पद्य में भी 'इ' (ण्) धातु का ही उप-उपसर्गपूर्वक प्रयोग कर 'उपैति' शब्द का व्यवहार हुआ है। सो, इन पद्यो से रसायन पदार्थों की क्रिया का सम्यक् बोध हो सकता है।

६ रसायन उपचार दोष-भेद से भिन्न होते हैं। वात का शमन या संशोधन करनेवाले आहार औषध आदि उपचार वातकृत स्रोतोदुष्टि को दूर कर शरीर को रोगरहित और चिरायु बनाते हैं।

वायु के बहु गुण का तात्पर्य—

वायु के अनेक गुणो में एक बहु गुण है। अबतक हमने वायु के विषय में जो विवेचन किया उससे इसके इस गुण का एक अर्थ सरलता से समझा जा सकता है। वायु द्वारा उत्पन्न होनेवाले स्वतन्त्र या परतन्त्र रोगो की संख्या अन्य दोषो की अपेक्षया बहुत बडी है। इसी के संक्षेप में द्योतनार्थ वायु में बहु गुण की कल्पना की गयी है।

वायु में बहुगुण की कल्पना का एक अन्य भी कारण है। और वह यह कि, जैसे वातज विकृतियो की संख्या बडी (बहु) है, वैसे वातारब्ध (वात से उत्पन्न) प्रकृतियो की—अन्य शब्दो में वातप्रकृति पुरुषो की संख्या भी अन्यदोषारब्ध प्रकृतियो की अपेक्षया बडी है। अपने चारो ओर वाचाल, निश्चय की अस्थिरता, मिथ्या भाषण, कपट आदि वातप्रकृति के लक्षणोवाले पुरुष ही अधिक संख्या मे आप पाएँगे। सो सृष्टि में वातकृत प्रकृति और विकृति दोनो की ही बहुता (बाहुल्य) होने से वात के इस वैशिष्ट्य के सूचनार्थ इस में बहु गुण है यह कहा जाता है।

वायु के इस प्राधान्य का परिणाम अतिदक्षिण भारत के सिद्ध-सम्प्रदाय (अगस्त्य-सम्प्रदाय) पर यह हुआ है कि, उसके अनुयायी वैद्य तीन दोष न मानकर एक ही दोष वायु को मानते हैं।

नाडी-परीक्षको की नाडी से ही रोग-परीक्षा और चिकित्सा कर्म मे सिद्धि का भी एक कारण उनके उपचार में वायु के शमन का प्राधान्य ही है। ये वैद्य यदि वनस्पतियो से उपचार करते हो तो चिकित्सा में मलवातानुलोमन मृदु विरेचन का प्राय. प्रत्येक रोग मे व्यवहार करते हैं। वात के उपचारो मे जैसा कि आगे देखेंगे मृदु विरेचन का निर्देश प्रथम हुआ है। ये द्रव्य वायु का संशोधन तो करते ही हैं, साथ ही मल का भी शोधन कर वायु की उत्पत्ति का मूल ही उच्छिन्न कर देते हैं। कारण, पक्वाशय मे जो मल या किट्टांश पहुँचता है, उसी से तो पुरीष, मूत्र और वायु ये तीनो द्रव्य उत्पन्न और पुष्ट होते हैं, यह आयुर्वेद का सिद्धान्त है।

नाडी-वैद्य यदि रसशास्त्री हो तो प्राय. सोमल आदि तीक्ष्णवीर्य द्रव्यो का उपयोग करते हैं। ये द्रव्य अपनी तीक्ष्णोष्णता से अग्नि की दीप्ति तथा वायु का शमन करते हैं। इन के रूक्षोष्ण गुणो से धातुओ का क्षय न हो जाए इस प्रयोजन

से साथ ही घृत, दुग्ध आदि स्निग्ध द्रव्यो की योजना प्रभूत मात्रा में की जाती है। इस प्रकार उभयविध नाडी-परीक्षको के उपचार मे वायु का साम्य प्रधानतया लक्ष्य होने से निदान में किंचित् त्रुटि हो तो भी औषध-सेवनसे प्राय: अनुकूल परिणाम आता ही है। कारण, प्राय (अधिकाश) रोग वातजन्य होते है, और नाडी-परीक्षको के उपचार का लक्ष्य भी वात ही होने से बहुधा उनका निशाना ठीक बैठ जाता है। इससे नाडीपरीक्षा के रूप में उनको प्रसिद्धि भी बढती है। तथापि उनके प्रत्यक्ष, अनुमान आदि का कोशल एव अमुक विशिष्ट साधना भी उनके नाडी-परीक्षा के चातुर्य में हेतु होती है, यह भूलना न चाहिए।

समवाय मे वायु की चिकित्सा—

वायु के इस प्राधान्य के कारण ही दोषो के संसर्ग या सनिपात से हुए रोगो में प्रथम वात को ही समावस्था में लाने का सामान्य नियम है। रोग दो दोषो से हुआ हो तो उसे संसृष्ट या द्वन्द्वज तथा तीन दोषो से हुआ हो तो संनिपतित, त्रिदोपज या समवेत कहते है। दो और तीन दोषो के सयोग को क्रमशः संसर्ग और संनिपात कहा जाता है। इस प्रकार ससृष्ट या सनिपतित रोगो में किस दोष को प्रथम चिकित्सा की जाए इस का सामान्य नियम तथा उसके अपवाद सुश्रुत ने निम्न प्रकार से कहे है।

समवाये तु दोपाणा पूर्वं पित्तमुपाचरेत्।
ज्वरे चैवातिसारे च सर्वत्रान्यत्र मारुतम्॥
सु० उ० ४०।१६१

दोपो का सयोग होने पर ज्वर और अतिसार इन दो रोगो में प्रथम पित्त का उपचार करे। शेष सभी रोगो में प्रथम वायु को समावस्था में लाने का उपाय करे। अतिसार–सबन्धी इस नियम का भी अपवाद है। अतिसार यदि सनिपातारब्ध हो और निराम (पक्व) हो एव दोष तीनो सम हो, तो प्रथम वात का ही उपचार करें, पश्चात् पित्त का तथा अन्त में कफ का। दोष साम हो तो प्रथम आम की चिकित्सा करनी चाहिए। संनिपातातिसार में दोष विषम हो तो जो बलवत्तम हो उसकी चिकित्सा प्रथम करें[1]।

१—देखिए सु० च० चि० १९।१२६ तथा उसकी चक्रपाणि-टीका। सनिपात ज्वर मे चरक तथा सुश्रुत के मत जानने के लिए—देखिए—च० चि० ३।२८५-८६ तथा सु उ ३९।२९४। दोनो मतो के समाधान के लिए चक्रपाणि तथा डल्हन की टीका देखिए।

प्रा[illegible] पूर्व [illegible] —

यद्यपि तीनों दोषों [illegible] पुरुष मात्र का [illegible] है, तथापि [illegible] पर सविशेष ध्यान [illegible] चाहिए। [illegible] आदि गुणों के [illegible] है। वातकलाकलीय अध्याय (च० सू० १२) में [illegible] रखकर सत्य ही कहा है—

[illegible] पवन [illegible] लिशम्येन [illegible] प्रकुपित [illegible] प्राणैर्वियुनक्ति [illegible] ॥ [illegible]

अति बलवान्, [illegible] (या [illegible]), [illegible] लक्ष्य देने योग्य ([illegible]) वायु [illegible] न [illegible]— उसकी [illegible] न किया जाए [illegible] (अतिशीघ्र [illegible]— अपना ध्यान भी न हो तब) कुपित हो जाए, तो [illegible] से [illegible] (इमर्जेन्सी) की स्थिति में पहुँच जाए [illegible] पूर्व ही [illegible] उसे कैसे आगे बढ़ने से रोक सकेगा?

तात्पर्य—वायु इस आत्ययिक दशा को प्राप्त हो जाए—स्थिति हाथ में न रहे, उसके पूर्व ही उस पर तीक्ष्ण दृष्टि वैद्य और पुरुष दोनों को रखनी चाहिए। प्रकृति में वात का प्राधान्य देखकर कहा जा सकता है कि, जिस पुरुष के वात-प्रकोप से पीड़ित होने की भविष्य में सभावना है। तदनुसार उचित स्वस्थ-वृत्त का पालन कर वायु को बढ़ने से रोकना चाहिए। वायु के विषय में यह दृष्टि रखी जाए तो आजकल इतने वृद्धि को प्राप्त हृद्ग्रह, हृच्छूल, अकालमृत्यु, पक्षाघात आदि वातरोगों को प्रकुपित होने के पूर्व ही रोका जाना सभव है। आज के विश्व को आयुर्वेद जो उपहार दे सकता है, उनमें एक इन वातरोगों की अनुत्पत्ति (प्रिवेन्शन) है।

मानस दोषो मे रज का प्राधान्य—

पिछले पृष्ठों में हमने शारीर दोषों में वायु के प्राधान्य के कारण तथा चिकित्सा में इस विषय की उपयोगिता का विचार किया। मानस दोष दो हैं—रज और तम। सत्त्वगुण वृद्धि को प्राप्त होकर भी कोई विक्रिया नहीं करता। अत उसे दोष नही कहा जाता है—गुण ही कहा जाता है। रज और तम में

भी रज का प्राधान्य है। कारण, रजोगुण प्रवर्तक होने से वह प्रकुपित हो तभी तम को प्रवृत्तिशील कर उसके द्वारा रोगोत्पत्ति कराता है--नारजस्कं तमःप्रवर्तते--च० वि० ६।९। दोषो मे वायु के प्राधान्य का कारण भी उसमें रजोगुण का बाहुल्य है, यह ऊपर कह आए हैं।

द्वितीय अध्याय

रोगो के विविध वर्ग

अथातो व्याधिभेदविज्ञानीयमध्यायं व्याख्यास्याम । इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ॥

स्वस्थ पुरुष का लक्षण

गत अध्याय में रोग के लक्षण, रोग के अधिष्ठान तथा रोग के कारणभूत शारीर-मानस दोषो का निर्देश किया गया था। ये दोष अपने-अपने अधिष्ठान में किस अवस्था में रहकर पुरुषो को स्वस्थ रखते है, तथा किन अवस्थाओं में परिणत हो उसे रोगाक्रान्त करते है, यह स्वस्थ पुरुष के आयुर्वेदोक्त लक्षण से विदित होगा। स्वस्थ का लक्षण बताते सुश्रुत ने कहा है—

समदोषः समाग्निश्च समधातुमलक्रिय ।
प्रसन्नात्मेन्द्रियमनाः स्वस्थ इत्यभिधीयते ॥

सु० सू० १५।४१

जिस पुरुष के शारीर-मानस दोष, अग्नि (जाठराग्नि, धात्वग्नि तथा भौतिकाग्नि) सम अर्थात् यथायोग्य स्वरूप, प्रमाण और क्रियावाले है; धातु-उपधातु-मल तथा इनकी क्रिया (प्राकृतकर्म) एवं निद्रा, जागरण आदि क्रियाएँ[1]

१—'समधातुमलक्रिय' का यह विग्रह प्रसिद्ध है—समा धातुमलाना क्रिया यस्य स —ऐसा पुरुष जिसकी धातुओ-उपधातुओ तथा मलो की क्रिया सम है। चक्रपाणि और डल्हन दोनो ने यही विग्रह दिया है। परन्तु समा स्व कर्म कुर्वते—च० सू० १७।६२ के अनुसार दोष आदि की समता का लक्षण ही उनकी प्राकृत (शास्त्रोक्त) क्रियाएँ सम भाव मे होना यह है, सो, जैसे इस पद्य मे कहे दोषो और अग्नि के साम्य मे उनकी क्रियाओ का सम होना गृहीत है, वैसे धातुओ और उपधातुओ के साम्य के कथन मे भी उनकी क्रिया की समता अर्थ से स्वय आपतित है। अत विग्रह-विशेष द्वारा उसके ग्रहण का प्रयास अनावश्यक है। अत इस समास का ऊपर दिया अधिक अर्थ का ग्राहक विग्रह मैंने लिया है। डल्हन ने एकीय मत मे यह विग्रह दिया भी है। तथाहि—क्रिया स्वप्न-जागरणादिकेति केचिद्भिन्न क्रियाशब्द व्याख्यानयन्ति। आत्मा का अर्थ डल्हन ने देह दिया है—आत्मा देह। धातु शब्द से धारण-क्रिया के साम्य से उपधातुओ→

सम है, अतएव जिसका शरीर, इन्द्रिय तथा मन प्रसन्न (ग्लानिरहित) है उसे स्वस्थ कहा जाता है।

प्रसन्नेन्द्रियता : स्वास्थ्य का प्रधान लक्षण—

शास्त्रो में शरीर और अङ्ग-प्रत्यङ्गो के स्वास्थ्य और दीर्घायु के सूचक लक्षणो के प्रसंग में कहा गया है कि—प्रत्येक अङ्ग-प्रत्यङ्ग का पुरुष की अपनी मध्यमा-गुलि की चौडाई से माप करते हुए अमुक-अमुक अगुलि-प्रमाण होता है[1]। साथ ही प्राकृतावस्था में दोषो, धातुओ और मलो का अञ्जलि-प्रमाण भी बताया गया है।[2] अवयवो का पृथक् प्राकृत[3] स्वरूप तथा धातुसारता के लक्षण[4] आदि का निर्देश भी इस दृष्टि से हुआ है। एव, गत अध्याय में दर्शाए अनुसार—दोषादि की साम्य आदि अवस्थाओ का यह सामान्य लक्षण भी बताया गया है कि—दोषादि सम हो तो उनकी प्राकृत क्रियाएँ समभाव से होती है, वे प्रकुपित हो तो उनकी यही क्रियाएँ अधिक (प्रमाण और बल में अधिक) होती है, अथच वे क्षीण हो तो उनकी इन क्रियाओ के प्रमाण और बल का ह्रास हो जाता है। स्वास्थ्य के ये सर्व लक्षण सत्य है इसमें संशय नही। तथापि इनमें मुख्यतया द्रष्टव्य लक्षण प्रसन्नात्मेन्द्रियमना: ही है। दोषादि सम हो तो आत्मा, इन्द्रिय और अन्त करण प्रसन्न (प्रफुल्ल) रहते हैं। वे ही विषम हो तो आत्मा आदि अप्रसन्न (हर्षक्षय, ग्लानि या अवसाद को प्राप्त) हो जाते है[5]। अतएव आत्मा की

←का भी ग्रहण चक्रपाणि ने किया है—धातुग्रहणेन उपधात्वादीना धारकाणा ग्रहणम्।

१—देखिए—सु० सू० ३५।५-१५।

२—देखिए च० शा० ७।१५। ३—देखिए च० शा० ८।५१।

४—देखिए च० वि० ८।१०२–११५, सु० सू० ३५।१६।

५—ऊपर सुश्रुत का पद्य उद्धृत किया है। चरक-सहिता मे देवराज इन्द्र के पास रोग-पीडित मानव जाति के उद्धार की इच्छा से गए हुए ऋषियो को (जो स्वय भी रोगाक्रान्त थे) देखकर इन्द्र ने उनकी जिन शब्दो मे परीक्षा की वे भी इसी बात के द्योतक है। देखिए—

अस्ति ननु वो ग्लानिरप्रभावत्त्व वैस्वर्यं वैवर्ण्य च ग्राम्यवासकृतमसुखमसुखा-नुबन्ध च। ग्राम्यो हि वासो मूलमशस्तानाम् —च० चि० १।४।४।

अहो ब्रह्मर्षियो, देखते है बस्ती मे निवास करने के कारण तत्काल और अनु-बन्ध (लौङ्ग रन) मे दु खदायी ग्लानि (म्लानता, अप्रसन्नता), प्रभावशून्यता, स्वर-भेद (स्वर की विकृतियाँ) तथा विवर्णता (वर्णनाश या वर्ण की विकृतियाँ)→

प्रसन्नता ही स्वास्थ्य का प्रमुख लक्षण है तथा आत्मादि की अप्रसन्नता ही अस्वास्थ्य का मुख्य लक्षण है। स्वास्थ्य तथा अस्वास्थ्य के शेष लक्षण इस एक-एक लक्षण के ही हेतुभूत किंवा परिवार-भूत हैं।—

दोषादीनां त्वसमतामनुमानेन लक्षयेत्।
अप्रसन्नेन्द्रियं वीक्ष्य पुरुषं कुशलो भिषक्॥

सु० सू० १५।३९

पुरुष की इन्द्रियाँ अप्रसन्न हो तो निपुण वैद्य को अनुमान से जान लेना चाहिए कि दोष, धातु, उपधातु तथा मल विषम (वृद्धि या ह्रास युक्त) हो गए हैं।

पूर्वोक्त स्वस्थ-लक्षण की टीका में चक्रपाणि कहता है—दोष, अग्नि आदि अन्तर्वर्ती (अप्रत्यक्ष) होने से उनकी परीक्षा संभव नहीं है। अतः स्वास्थ्य का प्रत्यक्ष लक्षण बताया है—प्रसन्नात्मेन्द्रियमनाः। आत्मा आदि तभी प्रसन्न रहते हैं जब वे अग्नि आदि के वैषम्य-रूप दुःखोत्पादक विकार से रहित होते हैं। दुःखोत्पादक हेतु का संसर्ग हो तो आत्मा आदि की प्रसन्नता हो ही नहीं सकती।—

तेन प्रसन्नात्मेन्द्रियमनस्त्वमेव स्वास्थ्यलक्षणमव्यभिचारि व्यक्तं च। तत्परिकरतया वैद्यकसिद्धान्तोपयुक्ततया च समदोषाद्यभिधान-मिति युक्तं पश्यामः॥

सो, आत्मा (शरीर), इन्द्रिय और मन इनकी प्रसन्नता ही स्वास्थ्य का नियत (अव्यभिचारी) और प्रत्यक्ष लक्षण है। शेष समदोषता आदि लक्षणो का कथन केवल इस कारण किया गया है कि, ये लक्षण आत्मा आदि की प्रसन्नता के परिवार-तुल्य है—अङ्गभूत है, साथ ही इनका प्रतिपादन करने से वैद्यक के दोष-विषयक प्रसिद्ध सिद्धान्त का निरूपण भी हो जाता है। अर्थात् दोषादि की समता और विषमता जैसे सुप्रसिद्ध सिद्धान्त का उल्लेख स्वस्थ और अस्वस्थ पुरुष के लक्षण के प्रसङ्ग मे न किया गया होता तो प्रकरण अपूर्ण-सा भासित होता[१]।

←आपको पीडित कर रहे है। यत्सत्य, ग्राम-वास (वस्ती मे रहना) सर्व अहितो का मूल है।

यह ग्रामवास कैसे रोगोत्पत्ति का हेतु है, इस विषय के प्राचीन वचनो का अर्थ-सहित सग्रह आयुर्वेदीय हितोपदेश मे देखिए।

१—दोषो के साम्य से ही अग्नि आदि का साम्य उपलब्ध है, उनके पृथक् निर्देश की आवश्यकता नही थी, ऐसा कोई प्रश्न कर सकता है। इसका उत्तर→

आत्मादि की प्रसन्नता ही स्वास्थ्य और उनकी अप्रसन्नता ही अस्वास्थ्य होने से आयुर्वेद मे स्वास्थ्य का एक पर्याय सुख है, तथा अस्वास्थ्य का अपर नाम दु:ख है।

सुखसंज्ञकमारोग्यं विकारो दु:खमेव च ॥

च० सू० ९।४

स्मरण रहे, चरक ने भी दोषादि का अञ्जलि-प्रमाण बताया है। परन्तु प्रकरण के प्रारम्भ में ही उसने भी कहा है—

तच्च (अञ्जलिसंख्येयं) वृद्धिह्रासयोगि, तर्क्यमेव ॥

च० शा० ७।१५

अञ्जलि से जिनका प्रमाण बताया है उन सबका वृद्धि और ह्रास होता रहता है। सो, उनका यथास्थित प्रमाण वास्तव मे तो तर्क या अनुमान का ही विषय है[1]। इस प्रकार दोनो आचार्यो मे कोई मत-भेद जैसा नही।

रोग का चिकित्सोपयुक्त लक्षण—

आत्मादि की अप्रसन्नता रोग का नियत और स्पष्ट लक्षण होते हुए भी चिकित्सा मे उपयोग की दृष्टि से अप्रसन्नता के कारणभूत दोषादि के वैषम्य को ही आयुर्वेद में रोग माना गया है तथा उनके साम्य को ही रोग कहा गया है। तथाहि—

विकारो धातुवैषम्यं[2] साम्यं प्रकृतिरुच्यते ॥

च० सू० ९।४

धातुओ अर्थात् वातादि दोषो, रसादि धातुओ और रज-तम इन मानस दोषो का वैषम्य—नाम स्वास्थ्य के लिए उनका जितना प्रमाण उपयुक्त है उससे न्यूनता या अधिकता होना इसी का नाम विकार या रोग है, तथा इन्ही के साम्य को प्रकृति या स्वास्थ्य कहते है।

←—देते डल्ह्न ने कहा है कि—यह नियम नही है कि दोष सम हो तो अग्नि आदि सम ही हो। कारण दोनो भिन्न है, तथा दोनो की चिकित्सा भी भिन्न होती है। यथा—घृत तथा छागी-दुग्ध (बकरी का दूध) पित्त का निर्हरण करते है, परन्तु अग्नि की वृद्धि करते है—पित्तहरणमपि सर्पिरजापयश्चाग्निं वर्धयति।

१—इस विषय मे सुश्रुत का मत जानने के लिए देखिए—सु० सू० १५ ३७-३९।

२—धातवो वातादयो रसादयश्च, तथा रज प्रभृतयश्च। —चक्रपाणि

यद्यपि दिवस और रात्रि के काल-भेद से, भोजनकाल के सम्बन्ध से, ऋतु-भेद से एव वयोभेद से दोषो का वैषम्य शरीर में सर्वदैव होता रहने से शरीर मे दोषो का साम्य किसी भी काल में होता नही, तथापि इन प्रकोपो के कारण शरीर में दोष विषम हुए हैं, ऐसा कहा नही जाता। क्योंकि, इन विषमताओ के अल्पमात्र होने से आत्मा आदि को अप्रसन्नता नही होती, अथवा उन्हें दु ख का सयोग नही होता और आत्मादि की अप्रसन्नता किंवा दु खसयोग को ही रोग कहा जाता है—

तद्दुःखसंयोगा व्याधयः—　　सु० सू० १।२३

दोषो की तीनो अवस्थाओ मे कर्तव्य—

दोषादि के वैषम्य का निर्देश चिकित्सा में उपयोगिता की दृष्टि से किया जाता है, यह ऊपर कहा हे। इस विषय की चिकित्सा में उपयोगिता इस बात से है कि दोषो की तीनो अवस्थाओ मे वैद्य का कर्तव्य पृथक् होता है। तथाहि—

दोष आदि सम हो तो स्वस्थवृत्तोक्त दिनचर्या और ऋतुचर्या के पालन द्वारा उनके साम्य का सरक्षण करना चाहिए। दोष, धातु और मल क्षीण हो तो उन्हें अपनी-अपनी वृद्धि करनेवाले समानगुण युक्त द्रव्यो और कर्मो के सेवन से बढाते हुए समावस्था तक लाना चाहिए। दोष यदि वृद्धि को प्राप्त हो तो यथा-वश्यक निदान-परिवर्जन, सशमन तथा सशोधन उपचारो द्वारा उनको समावस्था मे पहुँचाना चाहिए[1]।

दोषो द्वारा रोगोत्पत्ति-सम्बन्धी सिद्धान्तो का विशद उल्लेख प्राचीनो ने रोगो के विविध वर्गीकरण तथा पञ्चनिदान[2] के रूप में किया है। अत दोषो के विषय मे पृथक् अधिक उल्लेख न कर प्रथम रोगो के वर्गो का विवरण करेंगे, पश्चात् पञ्चनिदान या निदान-पञ्चक का निरूपण किया जाएगा।

वर्गीकरण का प्रयोजन : रोगों की असंख्यता

त एवाऽपरिसंख्येया भिद्यमाना भवन्ति हि।
रुजावर्णसमुत्थानस्थानसंस्थान　　नामभिः॥

१—देखिए—सु० सू० १५।४०, सु० चि० ३३।३ डल्लन टीका-सहित।

२—रोगो के ज्ञान के साधनभूत निदान (रोग-कारण), पूर्वरूप, रूप या लक्षण, सम्प्राप्ति (रोगजनक दोप के सचय से रोगोत्पत्तिपर्यन्त इतिवृत्त का व्यौरा) तथा उपशयानुपशय (हित-अहित आहारादि) इन पाँच को पञ्चनिदान या निदानपञ्चक कहते है। इनका विवरण आगे आएगा ही।

व्यवस्थाकरणं तेषां यथास्थूलेषु संग्रहः।
तथा प्रकृतिसामान्यं विकारेषूपदिश्यते ॥

च० सू० १८।४२-४३[1]

रोगो के निदान-लक्षण-चिकित्सा की प्रस्तावना मे प्राचीन आचार्यो ने अपनी शैली का स्वरूप बताया है। वे कहते है, आगे कहे जानेवाले तत्तत् कारण को दृष्टि में रखा जाय तो रोग सख्यातीत हो जाते है। प्रत्येक का पृथक् वर्णन करना किसी भी अवस्था मे शक्य ही नही—

नानारूपैरसंख्येयैर्विकारैः कुपिता मलाः।
तापयन्ति तनुं, तस्मात् तद्धेत्वाकृतिसाधनम् ॥
शक्यं नैकैकशो वक्तुमतः सामान्यमुच्यते ॥

अ० हृ० सू० १२।३०-३१

परन्तु रोगो का वर्णन किए विना कार्य-सिद्धि भी नही हो सकती। अतः मध्यवर्ती मार्ग निकाला गया है। रोग भले असख्य हो, पर इतना निश्चित है कि सबके मूल तो अन्त को मर्यादित सख्यावाले ही हैं। शारीर सभी रोग वात-पित्त-कफ से और मानस सभी रोग रज और तम से (इनके प्रकोप तथा सत्त्व के क्षय से) होते हैं। इसलिए पद्धति यह रखी गयी है कि, दोनो के वैकारिक गुण-कर्मो का विस्तार से उल्लेख किया गया है। पश्चात् व्याख्यार्थ रोगो को प्रथम स्थूल वर्गो में सगृहीत किया गया है, इसके अनन्तर उन आविष्कृत-तम (या स्थूल) अर्थात् लोक में जिनकी उपलब्धि प्राय होती है, तथा प्राचीन आचार्यो ने भी जिन ही का उल्लेख विशेष रूप से किया है ऐसे ज्वर, अतिसार, उदर, प्रमेह आदि कतिपय रोगो के निदान-लक्षण-चिकित्सा का उदाहरणत्वेन उल्लेख कर दिया गया है।

दोष-दर्शन वैद्य का कर्तव्य—

ऐसी स्थिति में यह सभव है कि, चिकित्सा-व्यवसाय में वैद्य को ऐसे रोगो का सामना करना पडे, जिनका उल्लेख शास्त्र में न हुआ हो। यह भी सभव है कि, कदाचित् शास्त्र में उस रोग का उल्लेख हुआ हो, गुरु ने भी उसका अध्यापन किया हो, परन्तु यही वह रोग है इस प्रकार की स्मृति चिकित्सक को समय पर

१—देखिए च० सू० १८।४२-४७, च० सू० १९।५, च० सू० २०।३, च० वि० ६।५-७; च० चि० ३०।२९१-९२, सु० सू० ३५।१९, अ० हृ० सू० १२।३०-३१ तथा इनकी टीकाएँ।

न हो। इस स्थिति में भी चिकित्सक को किंकर्तव्यविमूढ होना योग्य नहीं। उसके लिए कर्तव्य का निर्देश करते पूर्वाचार्य कह गए है--

नास्ति रोगो विना दोषैर्यस्मात् तस्माद्विचक्षण ।
अनुक्तमपि दोषाणा लिंगैर्व्याधिमुपाचरेत् ॥

सु० सू० ३५।१६

दोषो के विना, उनकी क्षय-वृद्धि के विना तो रोगोत्पत्ति होनेवाली नहीं है, यह निश्चित बात है। अत जिस रोग का वर्णन शास्त्र में या आगम-काल में (अध्यापन-काल में) आया नही है, उसमें भी दोषो के लक्षणो को देखकर तदनुरूप उपचार करना चाहिए।

रोगा येऽप्यत्र नोद्दिष्टा वहुत्वान्नामरूपत ।
तेपामप्येतदेव स्याद्दोपादीन् वीक्ष्य भेपजम् ॥
दोपदूष्यनिदानाना विपरीतं हितं ध्रुवम् ।
उक्तानुक्तान् गदान् सर्वान् सम्यग्युक्तं नियच्छति ॥

च० चि० ३०।२९१-९२

रोगो के असख्येय होने के कारण नाम और रूप (लक्षण) से अर्थात् इस लक्षण-समुदाय वाले रोग का यह नाम होता है, इस पद्धति से जिन रोगो का उल्लेख न हुआ हो, उनमें भी मुख्यतया दोष, दूष्य और निदान (रोग-कारण) को लक्ष्य में रखकर उनके विपरीत गुण-कर्म वाला उपचार किया जाए तो रोग की नियत शान्ति होती है।

यो ह्येतत् त्रितयं ज्ञात्वा कर्माण्यारभते भिपक् ।
ज्ञानपूर्वं यथान्यायं न स मुह्यति कर्मसु ॥

च० सू० १८।४७

जो वैद्य दोषादि तीन को दृष्टि में रखकर चिकित्सा का ज्ञान प्राप्त कर शास्त्रानुसारिणी क्रिया करता है, व्यवसाय में वह कभी मोह (किंकर्त्तव्य-विमूढता) को प्राप्त नही होता। चिकित्सा-काल में विशेष स्मरणीय सूत्र यह है कि--

विकारनामाकुशलो न जिह्रीयात् कदाचन ।
न हि सर्वविकाराणा नामतोऽस्ति ध्रुवा स्थिति ॥

च० सू० १८।४४

वैद्य किसी रोग का नामत निर्देश न कर सके तो उसे इसमें लज्जा मानने की कोई आवश्यकता नहीं। कारण सभी रोगो का तो नामत. निर्देश हो नही सकता। सत्य यह है कि, चिकित्सा में यह ज्ञान ही उपकारी होता है कि, रोग वातादि दोषो से उत्पन्न होते है। नाम-ज्ञान तो व्यवहार के ही लिए होता है, स्वरूपतः उससे चिकित्सा में कोई प्रयोजन-सिद्धि नही होती।—

एवं मन्यते, यद्वातारब्धत्वादिज्ञानमेव कारणं रोगाणामुपकारि। नामज्ञानं तु व्यवहारमात्रप्रयोजनार्थ, न स्वरूपेण चिकित्सायामुपकारीति ॥ उक्त स्थल पर चक्रपाणि

पाश्चात्य चिकित्सा में रोगो, उनके कारणभूत जीवाणुओ. उनके अधिष्ठानभूत पेशी, नाडीसूत्र आदि अवयव इत्यादि के लम्बे-लम्बे और विकट नामो का पदे-पदे उच्चार होता है। प्राय चिकित्सा का क्षेत्र उतना पूर्ण नही होता। नामनिर्देशमात्र चिकित्सा-पद्धति एव चिकित्सक की कीर्ति को उज्जवल करने के लिए पर्याप्त नही हे। प्रसिद्ध उदाहरण लें। आयुर्वेद में न्यूमोनिया, टायफॉयड, पैरा टायफॉयड आदि का नामत. निर्देश नही है। तथापि वैद्य इनको द्वद्वज या समवायज मानकर सफल चिकित्सा करते देखे जाते है।

व्यवसाय में देखते ही है, प्रायः ऐसे अनेक रोगो और लक्षणो के समुदाय वाले रोगी आते है, और कभी-कभी तो प्रतिदिन लक्षणो में यत्किचित् परिवर्तन भी होता देखा जाता है कि, उनको समझने और उनकी चिकित्सा करने में केवल ग्रन्थज्ञान उपयोगी नही होता। चिकित्सक को उनमें अपनी वुद्धि कसनी पडती हे। जिसने अमुक रोग पर अमुक और अमुक रोग पर अमुक योग (नुसखा) उपयुक्त होता है, केवल इस रीति से योग-ज्ञान पर ही भार दिया है, उसे सिद्धि नहीं मिलती। मिलती हे तो यादृच्छिक (आकस्मिक) ही। तन्त्रकर्ता कह गए हैं—देश, काल, वल आदि दस भावो (वस्तुओ) को दृष्टि में रखकर चिकित्सा करनी चाहिए, केवल योगों से नहीं। तथाहि—

योगैरेव चिकित्सन् हि देशाद्यज्ञोऽपराध्यति[1]।
वयोवलशरीरादिभेदा हि वहवो मताः ॥
तस्माद्दोषौषधादीनि परीक्ष्य दश तत्त्वतः।
कुर्याच्चिकित्सितं प्राज्ञो न योगैरेव केवलम् ॥
च० चि० ३०।३२०, ३२६

१—अपराध्यति—लक्ष्यवेध नही करता है।

रोगो की असख्यता के कारण

रोग असख्य होने से विद्यार्थी के दिग्दर्शनार्थ दोषों का पूर्ण विवरण देकर, रोगो का वर्गीकरण एव कतिपय रोगों का निदानादि पूर्वाचार्यों ने दिया है, यह हमने ऊपर लिखा है। रोगो की असख्यता के कारण भी पूर्वाचार्यों ने बताए हैं। आयुर्वेदीय चिकित्सा की विशिष्ट पद्धति समझने के लिए उनको समझ लेना भी उपयुक्त है।

अशाशविकल्प--

रोगो के सख्यातीत होने में प्रथम कारण यह है। यद्यपि आयुर्वेद का सिद्धान्त है कि, रोग दोषो के प्रकोप से होते है और उनके प्रकोप का भी कारण प्रकोपक आहारविहारादि का सेवन है, तथापि इनकी विगत (विस्तार, ब्योरा) में कुछ विशेष ज्ञातव्य है।

हम जानते है, आगे अधिक विस्तार से देखेंगे भी कि, प्रत्येक दोष के अमुक-अमुक गुण तथा प्रकृति-विकृति-सूचक कर्म होते हैं। जिन कारणो को किसी दोष का प्रकोपक कहा जाता है वे, निश्चित नहीं कि, उस दोष के सभी गुण-कर्मो की वृद्धि करते हो। प्रसगवश यह भी समझ लेना चाहिए कि जिन आहार-विहारादि को दोष-विशेष का शामक कहा जाता है वे भी उस दोष के सभी गुण-कर्मो का प्रशमन करते हो यह बात नही। कोई प्रकोपक (या शामक) कारण प्रकोप्य (या प्रशमनीय) दोष के सभी गुण-कर्मो को प्रकुपित (या प्रशमित) करता है तो किसी का कोपक (या शामक) प्रभाव दोष के किसी एक या अनेक गुणो या कर्मो पर होता है--सब पर नही। परिणामतया, रोग-परीक्षा में केवल यह देखना पर्याप्त नहीं होता कि, किस दोष का प्रकोप या क्षय हुआ है। किन्तु इस बात की परीक्षा करना अभीष्ट और चिकित्सा में साधक होता है कि, प्रकुपित दोष के किस या किन गुणो या कर्मो का प्रकोप हुआ है और क्षीण हुए दोष-विशेष के किस या किन गुण-कर्मो का क्षय हुआ है। साथ ही यह भी जानना आवश्यक होता है कि, प्रकुपित या क्षीण गुण-कर्मो के प्रकोप या क्षय का तारतम्य (प्रमाण, अनुपात, प्रपोर्शन) कितना है? चिकित्सा की योजना करते हुए भी वृद्ध या क्षीण दोष की वृद्धि या क्षय का प्रमाण देखकर उसी प्रमाण में विरोधी गुण या कर्म करनेवाले द्रव्य, विहार आदि की योजना करनी चाहिए। इस प्रकार दोष-विशेष के प्रकुपित या क्षीण हुए गुण-कर्मो तथा उनके तारतम्य के विचार को सप्राप्ति के प्रकरण में अंशाश-कल्पना, अशाशविकल्प या केवल विकल्प[1] कहा गया है। इसके उदाहरण आगे दिए जाएँगे।

१--अश=दोष का गुण या कर्म, कल्पना या विकल्प=विचार, विवेचन।

यद्यपि सिद्धान्त यह है कि, दोषो के प्रकुपित या क्षीण गुण-कर्मो का विनिश्चय पृथक् करना चाहिए तथापि, जहाँ तक मै जानता हूँ, एक-दो स्थलो को छोडकर अन्यत्र पृथक् गुण-कर्मो की इस प्रकार परीक्षा शास्त्रकारो ने नही की है। ऐसे स्थलो में एक च० वि० १।१४-१७ है, जिसमें तैल, घृत और मधु मे क्रमश वात, पित्त तथा कफ के तत्तत् गुणो के विपरीत गुण होने के करण इन द्रव्यो का सतत सेवन (अभ्यास) करने से वातादि के शान्त होने के सिद्धान्त का उल्लेख किया है। ऐसा द्वितीय स्थल च० चि० ३०।२३६—२८१ है। इस प्रकरण मे दोषो के विविध प्रकुपित गुणो से होनेवाले स्तन्य-दुष्टि के लक्षण तथा उनकी चिकित्सा पृथक् बताई हे। तथापि, अशाश-कल्पना चिकित्सा में उपयुक्त होने से उसका अधिक विचार विदग्ध वैद्यो और अध्यापको को करना चाहिए।

तात्पर्य, प्रकुपित या क्षीण दोष के प्रकुपित, क्षीण या सम गुणो और कर्मो तथा उनके तारतम्य का विचार करें तो रोग नामत· एक होते हुए भी तथा उनका कारण एक होते हुए भी प्रतिव्यक्ति रोग का स्वरूप यत्किंचित् भी भिन्न ही होगा, यह स्पष्ट है।

शरीर-परमाणुओ की असख्यता—

इस प्रकार वात-पित्त कफ एव रजस्-तमस् भेद से रोगो की सख्या मर्यादित होते हुए भी उनके गुण-कर्मो के तारतम्य-भेद से रोग सख्यातीत हो जाते है। रोगो के संख्याभेद का अन्य कारण दूष्यो का असख्य होना है। धातु, उपधातु, मल, स्रोत, आशय तथा यकृत्, प्लीहा, फुप्फुस, क्लोम आदि अवयव दोषो की दुष्टि के आश्रय या दूष्य कहे जाते है। यो तो इनकी भी सख्या बड़ी होने से रोगो की गणना करना दुर्घट कार्य है, तथापि इनके अवयवभूत शरीर-परमाणु (आधुनिको के कोष, सेल) तो वस्तुत असख्य होने से उनके भेद से रोगो के भेदो का भी असंख्य होना स्वाभाविक है। इन शरीर-परमाणुओ को लक्ष्य में रखकर कहा गया है—

शरीरावयवास्तु परमाणुभेदेनापरिसंख्येया भवन्त्यतिबहुत्वादति-सौक्ष्म्यादतीन्द्रियत्वाच्च[1] ॥ च० शा० ७।१७

१—इस विपय मे अधोलिखित वचन भी द्रष्टव्य है—

सर्व एव त्ववयवाः परमाणुभेदेनातिसौक्ष्म्यादसख्येयता यान्ति ॥

—अ० स० शा० ५

दूष्यास्तु शरीरावयवा अणुशः परस्परमेलकेन विभज्यमाना असख्येयाः ॥

च० सू० २०।३ पर चक्रपाणि

परमाणुओ के भेद से शरीरावयव अगणित है। कारण, परमाणु अत्यधिक, अतिसूक्ष्म तथा अतीन्द्रिय होने से असख्य है।

यहाँ शरीर-परमाणु का अर्थ साख्यो के तन्मात्र, जिन्हें महाभूतो का सूक्ष्म रूप भी कहा जाता है, ग्रहण करना योग्य नही हे। कारण, सहिताकारो ने स्पष्ट कहा है कि स्थूल भूतो से परे की वस्तु हमारा विषय नही हे—

भूतेभ्यो हि परं यस्मान्नास्ति चिन्ता चिकित्सिते ॥

सु० शा० १।१३

अवयव-भेद से शरीर-परमाणु भिन्न-भिन्न स्वरूप, प्राकृत कर्म तथा विक्रिया (रोग) वाले होते है। नव्य मत की कुछ सहायता लेते हुए इस विषय के एक-दो उदाहरण ले। वातज विकृतियो में कृशता (एट्रॉफी) की गणना प्राचीनो ने की है। यह विकृति पित्तधरा कला (ग्रहणी) के परमाणुओ में हो तो पाचक पित्त की उत्पत्ति सम्यक् न होने से अग्नि की मन्दता आदि विकार होते है। यही कृशता-रूप विकृति अग्न्याशय (पेन्क्रियास) के परमाणुओ में हो तो उनसे स्रुत होनेवाले इन्स्युलीन-नामक धात्वग्नि का स्वरूप तथा प्रमाण हीन प्रकार का होने से मधुमेह होता हे। ये दोनो वातज विकृतियाँ ऐसी होती है कि विकृत परमाणुओ को पुन प्राकृत स्वरूप में लाना शक्य नही होता। इसी कारण वातज ग्रहणी तथा मधुमेह प्राचीनो ने असाध्य कहे है। कफज मूत्रमाधुर्य (इक्षु मेह, शीतमेह) की गणना साध्य मेहो में की गयी है। क्योकि प्राय. केवल निदान-परिवर्जन से अर्थात् मधुररस और मधुरविपाकी द्रव्यो के त्याग और शारीरिक परिश्रम के सेवन आदि से ये अच्छे हो जाते है। इसी कारण मूत्र-माधुर्य से आक्रान्त रोगी उपस्थित होने पर प्रथम मीमासा करनी चाहिए कि रोग का कारण वात-प्रकोप है या कफ-प्रकोप।

मधुमेह (पर्याय क्षौद्रमेह, वातज मूत्रमाधुर्य) में वातप्रकोप वश एक अन्य विकृति होना सभव है। वात के प्रकोप के लक्षणो मे एक सुपिरता है। इसका अर्थ छिद्रयुक्तता तथा उसके कारण पदार्थ के घनत्व की अल्पता होना है। अर्वाचीन क्रियाशारीर में विद्यार्थी पढ आए है कि, प्रत्येक शरीर-परमाणु (कोष, सेल) में थोडा रिक्त स्थान, अवकाश या छिद्र होता है। ये छिद्र एक या

←शरीर-परमाणु का अर्थ कोष लेने में एक प्रमाण है। प्राचीनो ने पुरुष-वीज का वर्णन ऐसे शब्दो मे किया है, जिससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि, वे आधुनिको द्वारा निर्दिष्ट प्रकृति तथा विकृति के वाहक क्रोमोसोमो एव जेनो का ही उल्लेख कर रहे है। सो, प्राचीनो को ऐसी सूक्ष्म बातो का भास नही रहा होगा ऐसा मानकर परमाणु का यह अर्थ यहाँ उडा देना योग्य नही है।

अनेक होते है। वात का प्रकोप हो तो इन छिद्रो या अवकाशो की सख्या तथा विस्तार में वृद्धि हो जाती है, ऐसी नव्य मत की सहायता से आयुर्वेद के मन्तव्य की व्याख्या की जा सकती है। वायु जिस अवयव के शरीर-परमाणु मे स्थान-सश्रय कर सुषिरता उत्पन्न करेगा, उसके प्राकृत कर्म की हानि (ह्रास) होकर तदनुरूप विकार (रोग) होगे। उदाहरणतया, प्रकृत (प्रस्तुत, प्रकरणगत) विकार वातज मधुमेह में अग्न्याशय के कोषो मे सौषिर्य की वृद्धि होकर वडे-वडे अवकाश (वैक्युओल्स) बनते है। कोषो में ये अवकाश या छिद्र बनने का सुव्यक्त परिणाम यह होता है कि, वे धात्वग्नि-विशेष (इन्स्युलीन) को अभीष्ट प्रमाण मे उत्पन्न नही कर सकते। होता यह है कि, अग्न्याशय के परमाणुओ के देह में धात्वश अर्थात् उनकी रचना मे कारणभूत द्रव्य वायु के प्रकोपवश क्षीण होने से ये अवकाश या सुषिर बनते है। सो, इनके देह मे प्राकृत धात्वश न्यून होने से धातुपाक की क्रिया (मेटाबॉलिज्म) भी ईप्सित स्वरूप और प्रमाण मे नही होती। धातुपाक की क्रिया यथावृत् न होने से धात्वग्नि (इन्स्युलीन) के निर्माण के रूप में परमाणुओ की प्राकृत क्रिया भी यथावत् नही होती। कारण, प्रत्येक शरीर-परमाणु या उनसे बने धातु आदि अवयवो की प्राकृत क्रिया उनमें होनेवाले धातु-पाक की सुस्थिति के ही आश्रित या अधीन होती है, और धातुपाक की सुस्थिति शरीर-परमाणुओ तथा उनसे बने अवयव की पुष्टि के अधीन होती है। अवयव-विशेष के परमाणु क्षीण (कृश या स-शुषिर) होने का परिणाम उस की प्राकृत क्रिया के ह्रास के रूप में व्यक्त होता है।

सुषिरता या छिद्रयुक्तता का एक अन्य स्वरूप यह होता है कि, शरीर-परमाणुओ या अवयवो का घनत्व न्यून हो जाता है। उनके सूक्ष्म अवयव स्वाभाविक अवस्था में निकट होने के कारण उनकी घनता का अमुक स्वरूप बनाए रखते है। वात का प्रकोप हो जाए तो धात्वश की क्षीणता (क्षय, ह्रास) होने से सूक्ष्म घटक अवयवो की निकटता न्यून हो जाती है—उनके घनत्व का ह्रास हो जाता है, भौतिक विज्ञान (फिजिक्स) में जिसे सच्छिद्रता (पोरॉसिटी) कहते है वह स्थिति उत्पन्न हो जाती है। सौषिर्य के इस प्रकार में भी धात्वश का क्षय होने से व्याधित अवयव-विशेष के प्राकृत स्वरूप तथा प्राकृत कर्म की हानि होती है। अवयव-भेद से इस विकार का परिणाम भी भिन्न होता है। यथा, अस्थियो में इस प्रकार सौषिर्य आ जाए तो उनमें तीव्र शूल होता है। नव्य मत से इसे 'रेअरीफेक्शन' कहते है। यह दशा केवल रञ्जन किरणो से (एक्स-रे से) देखी जा सकती है। स्थिति बढती जाए तो छिद्र बडे, और अधिक व्यक्त होते जाते है। इस विकृति को नव्य मत मे 'नेक्रोसिस' कहा जाता है। अस्थिगत वात और उसके कारण हुए सौषिर्य के इस प्रभेद का परिणाम यह होना है कि, अस्थिओ

मे ~ुरता आ जाती है। स्वल्पमात्र कारण से वे टूट जाती हैं। इन विकृतियो का मूल या आदि कारण वायु होने से, आयुर्वेदमतानुसार अस्थिक्षय के इन विकारो मे एव रिकेट्स, मृद्वस्थि (ऑस्टिओमेलेशिया) आदि अस्थिक्षय-सूचक विकृतियो में नव्य मताभियुत हो एकमात्र केल्शियम देने पर लक्ष्य न देकर क्षीर, घृत, अश्वगन्धा आदि वातशामक तथा धातुपोषक स्निग्ध द्रव्य देते हुए वात-प्रत्यनीक चिकित्सा करनी चाहिए। अस्थि भी धातुओ के अन्तर्गत एक धातु है। धातुओ की क्षीणता वायु से और पुष्टि तद्विपरीत गुण-कर्मवाले द्रव्यो के सम्यक् सेवन मे होती है। अस्थि की पुष्टि के लिए स्वय अस्थि (तरुणास्थि) के सेवन की आयुर्वेद मे महिमा है, परन्तु प्राचीनो ने अस्थिविकारो के प्रकरण में स्निग्ध, वृहण उपचारो का ही विधान किया है। प्रकृत होने से एतद्विषयक वचन देता हूँ--

अस्थ्याश्रयाणा व्याधीना पञ्च कर्माणि भेपजम्।
वस्तयः क्षीरसर्पीपि तिक्तकोपहितानि च॥

च० सू० २८।२६

अर्थात्--अस्थिगत विकारो में पञ्चकर्म, बस्ति, तथा तिक्तद्रव्यो से साधित क्षीरो एव घृतो का सेवन कराना चाहिए[1]।

वैद्य भी पाश्चात्यो के अनुकरण मे उल्लिखित अस्थि-विकृतियो में केल्शियम की ही परिभाषा मे विचार करते है। क्षीण धातु की पुष्टि के लिए समान (स्वय वह धातु), समान-गुण या समान-गुणभूयिष्ठ द्रव्यो का विधान प्राचीनो ने किया है। उसे लक्ष्य में रखते केल्शियम के कल्पो का प्रयोग अनुचित नही, परन्तु अस्थि वायु का आश्रयभूत धातु होने से अथच धातुओ के पोषणार्थ उष्ण-गुण वीर्य अतएव अग्निदीपन तथा स्रोतोविबन्धहर द्रव्यो का उपयोग ही उचित होने से केल्शियम के कल्प भी ऐसे ही ग्राह्य होने चाहिए जो उष्णगुणवीर्य हो, यथा गोदन्ती, कच्छपास्थि, कूर्मास्थि, शङ्ख, शुक्ति, कपर्द आदि की भस्म। ऐसी स्थिति मे मुक्ता या प्रवाल सदृश शीतवीर्य द्रव्य अनायुर्वेदीय तथा दोष-सम होने से उनका व्यवहार चिन्त्य है। भैषज्यरत्नावली मे अस्थिभङ्ग में कपर्दक भस्म (पीली कौडी की भस्म) की प्रशसा लिखी है। वह इसी मन्तव्य की पोषक है।

क्षीर तथा घृत की नव्यमत से उपयोगिता भी अशत दर्शायी जा सकती है। केल्शियम के पचन मे आधुनिको ने विटामीन डी को उपयोगी कहा है। यह विटामीन डी स्नेह-विलेय होने से घी, दूध मे इसका प्रमाण विशेष होता है।

१--सग्रहकार ने भी और स्पष्ट कहा है --

अस्थिक्षयजान् बस्तिभि. तिक्तकोपहितैश्च क्षीरसर्पिभि ॥

अस्तु, चिकित्सोपयोगी इतना विवरण करने के पश्चात् अब मैं पुनः प्रकृत विषय पर आता हूँ।

वातवश धातुक्षय (घटक शुद्ध धातु का नाश) होने से फुफ्फुसो में कभी-कभी छोटे या बड़े सुषिर (केविटी) हो जाते है। नव्यमत मे इनके कारण रस-रक्त की शुद्धि के लिए जितना धातु चाहिए वह न मिलने से शरीर में प्राण (कार्बन डाइ ऑक्साइड) का सचय होता है। प्राण का एक कार्य प्राचीन तथा नवीन उभय मत से श्वसन है। सचित हुआ यह प्राणवायु प्रकुपित 'अर्थात् रोगोत्पादनक्षम होता है तो उसकी यह प्राकृत क्रिया (श्वसन, रेस्पिरेशन) बढ जाती है। श्वसन की वृद्धि अर्थात् नि श्वासोच्छ्वास की प्रतिमिनट सख्या में हुई वृद्धि को श्वास रोग कहा जाता है। यह स्थिति राजयक्ष्मा में होती है।

अवयवो के शरीर-परमाणुओं के समान स्रोतों तथा उनके घटक शरीर-परमाणुओं पर दोषों का प्रभाव होने पर भी स्रोतो-भेद से परिणाम-भेद होता है। गत अध्याय में हम प्राणवह स्रोत, हृदय के रस-रक्तवह स्रोत, पुरीषधरा कला, पित्त-प्रसेक तथा तिर्यग्गामी रस-रक्तवह स्रोतो (पेरीफेरल वेसल्स) पर वायु की क्रिया होने से होनेवाले भिन्न-भिन्न रोगो का निर्देश कर आए है। इस प्रकरण में उन्हें पुन स्मरण किया जा सकता है। विषय के वैशद्य के लिए यहाँ पुन एक उदाहरण प्रस्तुत करता हूँ।

कफोन्माद (मेलनकोलिया) नाम सूचित करता है तदनुसार इस रोग में निदान कफ का प्रकोप होता है। इसके प्रकोप के स्थान-सश्रय के भेद से अरुचि, प्रतिश्याय, कास आदि लक्षण होते हैं। उनका स्वरूप स्पष्ट समझा जा सकता है। इसम बुद्धि की मन्दता तथा निश्चेष्टता एव मौन आदि जो लक्षण होते है, जो इसके प्रत्यात्म-लक्षण है, उनकी संप्राप्ति एक-दो शब्दो में समझना आवश्यक है। हम जानते है, कफ का प्रधान गुण मन्द है। अन्य अवयवो के समान हृदय से निकल कर बुद्धि तथा इन्द्रियो के अधिष्ठानभूत शिर में जानेवाली धमनियो पर (रस-रक्तवह स्रोतो पर) भी मन्द गुण का प्रभाव होता है। परिणामतया, शिर के अन्तर्गत अवयवो को रस-रक्त तथा आकाशामृत न्यून प्रमाण तथा न्यून वेग (मन्दता) से पहुँचता है। इससे तर्पक कफ की पुष्टि असम्यक् होती है। फलस्वरूप बुद्धि तथा इन्द्रियो के अधिष्ठानो का तर्पण-पोषण यथावत् न होने से इन्द्रियो तथा उनकी क्रियाओ में भी मन्दता आती है। अन्त को वे सब लक्षण प्रादुर्भाव होते है, जो मिलकर कफोन्माद (मेलनकोलिया) कहलाते है।

आयुर्वेद में जहाँ-जहाँ रोगो के निदान-सप्राप्ति के प्रसग में दोषो के द्वारा स्रोतोरोध, स्रोतोदुष्टि, स्रोतोवैगुण्य आदि शब्दो से स्रोतो के विकृत होने की बात आती है वहाँ-वहाँ सर्वत्र इसी प्रकार व्याख्या करनी चाहिए। अर्थात्-उन

4

रोगो मे विचार करना चाहिए कि कौन दोष प्रकुपित है, एव उसके विशेषतया प्रकुपित किस गुण या कर्म ने किस अवयव के किस स्रोत पर क्या प्रभाव किया है ? साथ ही तत्तत् अवयव पर भी प्रकुपित दोष प्रकुपित (या क्षीण) दोष एव गुण-कर्म की क्रिया समझनी चाहिए।

प्रकुपित दोष एक ही होते हुए भी दोष-प्रकोपक कारण (मिथ्याहार-विहार) के भेद से भी रोगो का भेद होता है। चिकित्सा की दृष्टि से यह भेद भी अविस्मरणीय है। यथा, वात का प्रकोप रूक्ष आहार से भी होता है और रात्रिजागरण से भी। परन्तु दोनो वात-प्रकोपो मे कारण भेद होने से चिकित्सा मे भिन्नता होती है। रूक्षाहार से हुए वातप्रकोप में स्निग्धभोजन ही चिकित्सा है, जब कि रात्रिजागरणोत्थ वातप्रकोप मे दिवास्वप्न ही चिकित्सा है। इस विषय का एक और प्रसिद्ध उदाहरण लें। कामला कफ-प्रकोप से भी होती है, तथा पाण्डुरोग ही अत्यधिक वृद्धि को प्राप्त हो तब भी होती है। प्रथम भेद म कफ के शोधन-शमन को दृष्टि में रखना चाहिए तथा द्वितीय भेद में पाण्डुरोग की ही चिकित्सा करनी चाहिए। इसके अतिरिक्त आधुनिक प्रत्यक्षानुसार कामला के जो कारण ज्ञात हुए है, उन कारणो से हुई कामला में कारणानुरूप भिन्न ही चिकित्सा का अवलम्बन करना चाहिए। अन्य रोगो की भिन्नता का विचार भी इस प्रकार किया जा सकता है।

रोग एक ही हो, लक्षणादि भी समान हो तो भी लक्षणो, वेदनाओ तथा त्वचा-मल-मूत्रादि के वर्ण इत्यादि के प्रमाण में तारतम्य होने से भी रोगो की भिन्नता स्वीकार करनी पडती है। कारण, और कुछ नही तो औषध तथा अनुपान की मात्रा में तो इस तारतम्य-भेद से भिन्नता होती ही है।

रोगो की भिन्नता के कारणो में शारीर-मानस प्रकृति को भी दृष्टिगत रखना चाहिए। इस विषय में सत्त्वसार पुरुषो का उदाहरण प्रस्तुत किया जा सकता है। सत्त्वसार पुरुष महान् भी रोग को बडे धैर्य और शान्ति से सहन करते है, अत. उनके रोग को छोटा समझ लेने तथा उपेक्षा करने की भूल कभी न करनी चाहिए। असत्त्वसार पुरुप छोटे रोग को भी अधीरता (घबराहट) के स्वभाव के कारण भारी रूप दे देते है। उनके रोग को बड़ा न मान लेना चाहिए। आधुनिको ने ऐसा ही एक विकार पक्वाशय की विकृति से होता हुआ बताया है। इसमें पुरुष अत्यन्त नि सत्त्व होता है। इस रोग को 'कोलन न्यूरॉसिस' कहते है। वातप्रकृति (हिस्टेरिकल टेम्परामेण्ट वाले) पुरुष रोग न हो तो भी उसकी कल्पना कर लेते है या स्वभाव से बाधित हो मिथ्या-भाषण करते है।

इसी प्रकार रोगो की असख्यता का विचार अधिक किया जा सकता है। इन सब प्रभेदो को स्मरण रखने का प्रयोजन यही है कि —जैसा कि ऊपर कहा,

कारण इत्यादि की भिन्नता इतनी अधिक देखी जाती है, कि प्रत्येक पुरुप को हुए रोग को पृथक् ही रोग मानकर उसकी परीक्षा और चिकित्सा करनी चाहिए। पाश्चात्य चिकित्सा में, विशेषतः मन का अध्ययन अधिक विशद रूप में जब से प्रारम्भ होने लगा है तब से प्रति-व्यक्ति रोग का विचार करने की पद्धति ने विशेष स्थान प्राप्त कर लिया है। अब यह सूत्र-सा बन गया है कि, रोग के लक्षणो की परीक्षा न कर रोग कैसे (किस स्वभाव के) पुरुष को हुआ है, इस बात की ही परीक्षा करना उपयोगी है। आयुर्वेद तथा प्राचीन भारतीय शास्त्रो में तो शरीर और मन का परस्पर गाढ संबन्ध बताया ही गया है। शारीर दोषो, धातुओ तथा मन के परस्पर सबन्ध का अधिक विस्तार से विचार मैंने अपने आयुर्वेदीय पदार्थ-विज्ञान में किया है। विशेष वही देखना चाहिए। कारणो की भिन्नता को लक्ष्य में रखकर आयुर्वेद का तो प्राचीन सिद्धान्त ही है--

पुरुप पुरुष वीक्ष्य---

योगमासा तु यो विद्याद्देशकालोपपादितम्।
पुरुपं पुरुषं वीक्ष्य स ज्ञेयो भिपगुत्तमः॥

च० सू० १।१२३

देश और काल का विचार कर, प्रत्येक रोगी की पृथक्-पृथक् परीक्षा कर तदनुरूप जो वैद्य औषधो की योजना करता है वही वैद्य-शिरोमणि है।

प्रकरण समाप्त करने के पूर्व इसके अशभूत अशाश-विकल्प के विषय में एक सकेत कर देना आवश्यक प्रतीत होता है। सहिताओ के अनुशीलन से विदित होता है कि, प्राचीन काल में रस-चिन्तक नामक एक बडा सप्रदाय था, जो मधुरादि रसो को दृष्टि में रख कर ही चिकित्सा करता था। इस सप्रदायवालो की विचारो की पद्धति यह थी कि, उपस्थित रोगी मे कौन दोष कितने अश में प्रकुपित क्षीण या सम है, इसकी परीक्षा कर वे निर्णय करते थे कि किस-किस रस के कितने-कितने प्रमाण में सेवन करने से प्रकुपित दोष समावस्था में आ सकता है, क्षीण दोष की वृद्धि होकर वह भी सम हो सकता है तथा सम दोष की समावस्था यथा-स्थित रह सकती है। इस दृष्टि से की गयी योजना में कभी एक ही द्रव्य अपेक्षित सर्व रसो से युक्त होता है, तो कभी अनेक रसो वाले एक से अधिक द्रव्यो की योजना करनी पडती है। दोषो के संयोग से होनेवाले तिरसठ भेदो का तथा रसो के सयोग से होनेवाले तिरसठ भेदो का विचार तन्त्रकारो ने इसी उद्देश्य से किया है। इस रसचिन्ता की उपयोगिता अग्निवेश ने नीचे लिखे प्राणतान् शब्दो में बतायी है।

यः स्याद्रसविकल्पज्ञः स्याच्च दोषविकल्पवित्।
न स मुह्येद्विकाराणां हेतुलिङ्गोपशान्तिषु ॥
च० सू० २६-२७[1]

जो वैद्य रसो के संयोगजन्य तिरसठ भेदो तथा दोषो के संयोगजन्य तिरसठ भेदो को जानता उसे रोगो के कारणो, लक्षणो और चिकित्सा के मार्ग में किंकर्तव्य विमूढता कभी पीडित ही नही करती।

रोगों के प्राथमिक वर्ग : निज तथा आगन्तु

रोग इस प्रकार असख्यात होते हुए भी पीडित मानव जाति को एवं प्राणियों और वृक्षो के भी कल्याणार्थ तथा अपनी भी वृत्ति के लिए वैद्यो को रोगो के हेतु-लक्षण-चिकित्सात्मक त्रि-स्कन्ध जानना आवश्यक तो है ही। प्राचीनो ने रोगो को विविध वर्गो में विभक्त कर इस कठिनाई का मार्ग निकाला है। उस में भी प्रथम लक्ष्य यह रखा है कि रोगो के सन्निकृष्ट हेतुभूत दोषो का विवरण पृथक् तथा सविस्तर किया गया है। दोषो के प्रकोपादि से होनेवाले सामान्य लक्षणो तथा उनसे होनेवाले प्रधान नानात्मज रोगो का निर्देश इसी अध्याय में आगे करेगे। आदि में रोगो के प्राथमिक भेद निज और आगन्तु का लक्षण-निर्देश रोगो की उत्पत्ति तथा चिकित्सा में उपयुक्त होने से देते हैं।

द्विविधा पुनः प्रकृतिरेषाम् (रोगाणाम्)-आगन्तुनिजविभागात् ॥
च० सू० २०।३

आयुर्वेद का यत्किंचित् भी अध्ययन जिस ने किया है वह जानता है कि, आयुर्वेद-मत से रोगोत्पत्ति का कारण दोषो का वैषम्य (प्रकोप या क्षय) है। परन्तु स्पष्ट है कि, दोष विषम न हो तो भी शरीर में रोगोत्पत्ति होना सम्भव है; यथा, शिर पर पत्थर लगे तो उससे व्रण आदि होना, सविष कुत्ता काटे तो उससे व्रण तथा उन्माद-विशेष के लक्षण होना; एवं प्रतर्कित दुर्घटना और कभी अत्यन्त सुखदायी वृत्तान्त के भी श्रवण से हृदय पर प्रभाव होना इत्यादि विकारो में प्रथम दोष-वैषम्य नही होता। इस प्रकार प्रकृति (संन्निकृष्ट या प्रत्यासन्न कारण[2]) के भेद से रोगो के दो भेद होते हैं।

१—विषय की पूर्ति के लिए देखिए—च० सू० २६।१४, २२-२७, सु० उ० ६३।३-५, १७ तथा इन पर चक्रपाणि और डह्लन की टीकाएँ।

२—जिनका रोगोत्पत्ति से साक्षात् या सीधा सम्बन्ध हो ऐसे कारण। इन कारणो के भी कारणभूत प्रज्ञापराध आदि विप्रकृष्ट (परोक्ष) कारण कहलाते हैं।

शारीर दोषो की विषमता से होनेवाले रोगो को निज रोग कहते है, तथा प्रहारादि वाह्य कारणो से हुए रोगो को आगन्तु रोग कहा जाता है। दोषो के तीन भेदो के अनुसार इनके पुनः चार भेद हो जाते है—आगन्तु, वातज, पित्तज, श्लेष्मज।

चत्वारो रोगा भवन्ति—आगन्तुवातपित्तश्लेष्मनिमित्ताः॥

च० सू० २०।३

आगन्तु रोगो के भेद शारीर तथा मानस—

आगन्तवस्तु ये रोगास्ते द्विधा निपतन्ति हि।
मनस्यन्ये शरीरेऽन्ये तेपा तु द्विविधा क्रिया॥
शरीरपतिताना तु शारीरवदुपक्रमः।
मानसाना तु शव्दादिरिष्टो वर्गः सुखावहः॥

च० सू० ११।३६-३७

आश्रय-भेद से आगन्तु रोगो के दो भेद होते हैं। ये भेद चिकित्सा के भेदार्थ किए गए है। १—शरीर में हुए आगन्तु रोग तथा, २—मन में हुए आगन्तु[1] रोग। अधिष्ठान (आश्रय)-भेद से आगन्तु रोगो के इन भेदो की चिकित्सा मे भेद होता है। शारीर आगन्तु रोगो मे भी अनन्तर काल मे शारीर दोषो का प्रकोप हो ही जाता है, अत. उनकी चिकित्सा निज शारीर रोगो के समान दोषो को दृष्टि में रखकर ही करनी चाहिए। मानस आगन्तु रोगो की चिकित्सा प्रीतिकर शव्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध के सस्पर्श एवं धैर्य, स्मृति आदि के उदय द्वारा करनी चाहिए। अन्यत्र दिए गए रोग-विभागो में स्पष्टता के लिए मानस का पृथक् निर्देश किया गया है। यथा—

त्रयो रोगा इति—निजागन्तु=मानसाः। च० सू० ११।४५[2]

रोग तीन हैं—निज या शारीर, आगन्तु तथा मानस, मानस के पृथक् उल्लेख के अन्य उदाहरण आगे प्रकरणानुसार देंगे। प्रथम आगन्तु तथा निज रोगो के लक्षण एवं इनका परस्पर संवन्ध देखते है।

१—लोक मे ककारान्त आगन्तुक शव्द है। आयुर्वेद मे वाह्य कारणो से हुए प्रस्तुत विकारो के लिए ककार-रहित आगन्तु शव्द है।

२—सुश्रुत (सू० १।४) मे सुश्रुतादि शिष्यो ने भी इन त्रिविध ही रोगो का निर्देश किया है।

आगन्तु रोगो का लक्षण[1]—

जो रोग भूत अर्थात् देव, यक्ष, राक्षस, पिशाच आदि वय स्थो को पीडितकरने वाले ग्रह एवं स्कन्द, पूतना प्रभृति बालको को पीडित करनेवाले ग्रह[2] ; अनेक

१—देखिए—च० सू० ७।५१, च० सू० ११।४५, च० सू० २०।४, सु० सू० १।२५ (१)। आगन्तु शोथ के च० सू० १८।४ मे दिए लक्षण भी यहाँ द्रष्टव्य है।

२—आयुर्वेद और जीवाणुवाद

यहाँ एव विपमज्वर के एकीय मत से कारण-प्रतिपादक वचन (**केचिद् भूताभिषङ्गोत्थ ब्रुवते विषमज्वरम्**—(सु०मू० ३६।६८) इत्यादि स्थलो मे रोगो के कारणो मे भूत की भी गणना की गयी है। भूत शब्द का प्राणी अर्थ प्रसिद्ध है। इस अर्थ के आधार पर कई विद्वान् प्राणि-विशेप होने से भूत से जीवाणुओ का ग्रहण करते है। वह चिन्त्य है।

प्रथम तो जीवाणु प्राणिवर्गीय द्रव्य नही है। प्राय जीवाणु उद्भिद्-वर्गीय (वनस्पति-वर्गीय) है। इसी से नवीन लेखक इन्हे जीवाणु के स्थान पर तृणाणु कहना उपयुक्त समझते है। दूसरे, आयुर्वेद मे भूत एक पृथक् योनि मानी गई है। उससे उत्पन्न होनेवाले रोगो के लक्षण-चिकित्सा के प्रतिपादन के लिए भूतविद्या आदि नामो से एक पृथक् ही अङ्ग की रचना प्राचीनो ने की है। केवल एक स्थल पर आए भूत शब्द तथा वचन-विशेप का जीवाणु अर्थ करने से प्रयोजन-सिद्धि नही हो सकती। सपूर्ण आयुर्वेदीय वाङ्मय मे तथा इतर प्राचीन साहित्य मे भी जहाँ-जहाँ भी भूत शब्द आया है, उन सब वाक्यो का जीवाणुपरक अर्थ करके दिखाना गलेपतित है। इसके अतिरिक्त, तत्तत् भूत के आवेश के उदाहरण लोक मे आज भी देखे जाते है और इनका उपचार कायचिकित्सको द्वारा किया जाने पर भी सिद्धि नही मिलती। अन्त को भूतविद्या-विशारदो के उपचार से ही रोग-निवृत्ति होती है। (उदाहरणतया, देखिए—**सचित्र आयुर्वेद** के जुलाई १९५० के अङ्क मे डॉ० भट्टाचार्य का लेख—आयुर्वेदोक्त भौतिक नाडी)

स्वीकार करता हूँ कि, प्राचीनो को एक पुरुप से अन्य पुरुप मे रोग की सक्राति का ज्ञान था, जिसके लिए '**प्रसगाद् गात्रसस्पर्शात्**' (सु० नि० ५।३३) आदि वचन प्रस्तुत किए जाते है, यह भी स्वीकार करता हूँ कि, कदाचित् प्राचीनो को जीवाणुओ का ज्ञान था, जिसका विवेचन सिद्धान्त-निदान प्रथम खण्ड मे कविराज गणनाथसेन जी ने, मराठी मासिक पुरुपार्थ के वेदाङ्क तथा वेद मे रोगजन्तु-शास्त्र पुस्तक मे पण्डित सातवलेकर जी ने, जीवाणु विज्ञान मे डॉ० घाणेकर→

प्रकार का विष, यथा—सविष सर्प, कुत्ता, वृश्चिक आदि प्राणियो में विद्यमान

←जी ने, काश्यप संहिता के उपोद्घात में राजगुरु हेमराज शर्मा जी ने, डॉ० धीरेन्द्र-नाथ बन्द्योपाध्याय ने अपनी इसी विषय की पुस्तिका मे तथा अन्यान्य विद्वानो ने विभिन्न रूपो मे किया है, यह भी मुझे स्वीकार है कि, प्राचीनो ने ज्ञानत अथवा अज्ञानत जीवाणुहर द्रव्यों का उपयोग किया था, (यथा, क्षय और प्रवाहिका मे प्राचीन काल से चला आया लशुन का उपयोग उनके जीवाणु-नाशन कर्म के कारण साधक होता है, यह नवीन प्रत्यक्ष से विदित हुआ है।) यह भी अस्वीकार नही किया जा सकता कि प्राचीनो को रोगो के संक्रमण का ज्ञान था तो नव्य मत से छूटती कडी (मिसिंग लिंक) के रूप मे जीवाणु-विज्ञान को अपने शास्त्र का एक अंग मानकर उसकी पूर्ति हमे कर लेनी चाहिए, तथापि मुझमे जितना बल है, उस सबका उपयोग कर मै यह भी कहूँगा कि जीवाणु-विज्ञान और आयुर्वेद के सम्बन्ध-विषयक उल्लिखित सब तथ्यो के विद्यमान होते हुए भी—प्राचीन भारतीयो ने तो **जीवाणुओ के स्थान-संश्रय के हेतुभूत दोष-वैषम्य** को ही अग्र पद दिया था। भला विचार कीजिए, भूत का अर्थ जीवाणु कर लिया, तो इसका अर्थ यही होगा कि रोगमात्र जैसा कि नव्यो का मत है आगन्तु रोगो की श्रेणी मे ही समाविष्ट हो जायगा। फिर, निज रोगो का स्थान कहाँ रहेगा? निज रोगो के भी हेतुभूत दोष-वैषम्य का, आयुर्वेद के आधार-स्तम्भ (स्थूणात्रय)-रूप त्रिदोष का, अरे, समस्त आयुर्वेद का ही स्थान कहाँ और क्या रहेगा?

सो, कदाचित् अपने शास्त्र मे कुछ त्रुटि लक्षित हो तो भी उसकी अपेक्षित पूर्ति कर लेनी चाहिए, परन्तु त्रिदोषवाद-रूप अपनी विशेषता पर उल्लिखित प्रकार से अज्ञानत कुठाराघात तो कदापि न करना चाहिए। आधुनिक जीवाणु-विज्ञान भी जीवाणुओ के आश्रयभूत क्षमता (इम्युनिटी) के ह्रास को कारणतया स्वीकार करता है, उसके लिए उचित आहार-विहार का निर्देश भी करता है, परन्तु व्यवहार मे जीवाणुओ को उसने मुख्य पद दे दिया है। पर, जीवाणुओ को मुख्यता देता हुआ उन्ही के संहार की चिन्ता करता हुआ वह कहाँ जा पडा है, विचार कीजिए!

"स्ट्रगल फॉर ऐग्जिस्टेन्स एंड सर्वाइवल ऑफ ध फिट्टेस्ट" (जीवन के लिए स्पर्धा और बलिष्ठतम का विजय) का जो नियम संस्कृत देशो मे चल रहा है, जिसके कारण प्रत्येक प्रतिस्पर्धी देश अणु-बॉम्ब, हाइड्रोजन-बॉम्ब आदि उत्तरोत्तर अधिक संहारक शस्त्रास्त्र बनाने के प्रयत्न मे पडा है, वही नियम **जीवाणु की जगती में भी** चलता है। मनुष्य जीवाणुओ के संहार के लिए नव-नव औषध तय्यार करता है, जीवाणु भी उसका प्रतिकार (रेजीस्टेन्स) करते है। इस→

जङ्गम विप; सोमल, हरिताल, वत्सनाभ आदि स्थावर विप; सयोगजन्य

←—प्रतीकार मे सफल होकर जो जीवाणु जीवित रहते हैं, उनके द्वारा उत्पादित रोग पर वह पूर्व-योजित औपध कोई क्रिया नही करती। परिणामतया, मनुष्य वलवत्तर औपध की शोध के लिए वाधित होता है। और ये उत्तरोत्तर वली औपध रोगवीजो पर तो क्रिया करते ही है, शरीर के धातुओ पर भी उनकी अहित क्रिया होती है, जिससे शरीर तत्तत् उपद्रव मे पीडित होता है। अपरञ्च, रोग-वीजो को आश्रय देनेवाला विकार शरीर मे ही मचित रहकर पुन प्रकुपित होता हे तथा रोगोत्पत्ति करता हे। आयुर्वेद मे भी दोपो के गगमन की बात कही है, पर दोपो का मूलोच्छेद करनेवाला होने से सशोधन को ही प्रगस्ततर तथा रोगो का अपुनर्भवकर कहा गया हे। दूसरी ओर, आधुनिक विज्ञान के ग्रथ देखिए। नवाविष्कृत ओपधो के लाभो का उल्लेख जितना स्थान घेरे है, उससे अधिक स्थान उसके उपद्रवो का होता हे।

आयुर्वेद-मत से दोप-वैपम्य होने से जीवाणुओ को स्थान-सश्रय का अनुकूल अवकाश मिल जाता है। अत विपम-दोपाक्रान्त शरीर क्षेत्र हे तो **जीवाणु वीज** हे, अथवा जीवाणु-विज्ञान की सज्ञा का उपयोग करना हो तो इस प्रकार का **शरीर जीवाणुओ के लिए अनुकूल माध्यम (मीडियम, कल्चर)** होता है। निश्चित है कि, क्षेत्र या माध्यम अनुकूल न होने से रोग-वीजो की पुष्टि नही हो सकती। एक अन्य दृष्टान्त ले। सव जानते हैं—शरीर, वस्त्र, भूमि आदि पर कोई मलिन वस्तु पडी हो तो उस पर मक्खी इत्यादि आकर वैठते है, मधुर वस्तु हो तो उस पर चिऊँटियाँ आती है, इसी प्रकार शरीर मे प्रकुपित दोषो का सचय हो तो आनुकूल्य होने से जीवाणु स्थान-सश्रय करते हैं। मलिन द्रव्य हटा ले, कृमि-कीट स्वय हट जायँगे, ऐसे ही दोपो का वैपम्य दूर कर दिया जाय रोगजनक जीवाणु अनुकूलता न होने से स्वय शरीर छोड जायँगे। इस विपय मे आयुर्वेद और निसर्गोपचार का मार्ग समान है।

अन्य शब्दो मे **दोष-वैषम्य को जीवाणुओ का कारण भी कह सकते है।** रोग की व्यक्ति अवस्था होने पर, रोग के प्रत्यात्म-लक्षण उत्पन्न होने पर ही प्राय जीवाणु दृष्टिगोचर होते है, परन्तु रोग तो आयुर्वेद मत से तव ही से आरम्भ हो जाता है और पुरुप तव ही से चिकित्सा का विषय हो जाता है, जव से उसमे दोप-विशेप का सचय होने लगता है। सक्षेप मे कहे इस विषय का निरूपण आगे यथा-प्रकरण किया जाएगा।

किवहुना—इस विवादग्रस्त विषय पर निर्णय ढूंढना हो तो मेरे नम्र विचार मे ग्रन्थ के आरम्भ मे दिए वेदमन्त्र मे दी वैद्य की परिभापा मे मिल सकता है→

विष, जिसे गरविष यह भिन्न नाम दिया गया है, एवं तत्तत् कारण से मन्द-वीर्यता को प्राप्त हुआ यह त्रिविध विष, जिसे दूषीविष संज्ञा दी गयी है[1]—इन विषो का दंश, स्पर्श, भक्षण, लेपादि द्वारा शरीर से संयोग; विषदूषित किंवा उष्णवात (लू) आदि के रूप में शरीर के लिए अपाय (हानि)—कारक वायु[2]; अग्नि या प्राकृत या कृत्रिम विद्युत् से दग्ध आदि; संप्रहार (विविध शस्त्रो या अस्त्रो का प्रहार, किंवा दण्ड, पत्थर, मुष्टि आदि से अभिघात); निर्विष भी प्राणियो का नख या दन्तपात, व्यध (तीक्ष्ण शस्त्र से विद्ध होना); रज्जु

←कि, वैद्य को आम का नाश करना चाहिए, दोषो को समावस्था मे लाना चाहिए और रोग-बीजो का भी संहार करना चाहिए। सम्यक् चिकित्सा आयुर्वेद-मत से वह है—

"या ह्युदीर्णं शमयति नान्यं व्याधिं करोति च।
सा क्रिया, न तु या व्याधिं हरत्यन्यमुदीरयेत् ॥

सु० सू० ३५।२३।

यथार्थ चिकित्सा वह है जो उत्पन्न रोग को शान्त करे, और नया रोग उत्पन्न न करे। वह चिकित्सा असम्यक् चिकित्सा है, जो पूर्व विद्यमान व्याधि को तो दूर करे या न भी करे, पर अन्य रोग को तो उत्पन्न कर ही दे। हमे नवाविष्कृत औषधो को अपनाते हुए यह आर्य दृष्टि अपने समक्ष रखनी चाहिए। विबुध जन-विशेष विचार कर निर्णय दे।

१—विष-भेदों के ज्ञान के लिए देखिए—च० चि० २३।५-१४, सु० क० २।३-२६ तथा इनकी टीकाएँ।

२—जनपदोद्ध्वंसक व्याधियो के कारणभूत दूषित वायु का भी यहाँ ग्रहण करना चाहिए। इसके लक्षणो के लिए देखिए—च० वि० ३।७। सु० क० ३ मे वर्णित प्राचीन काल मे प्रचरित शत्रुपीडाकर अपचार भी यहाँ गृहीत है। इनमे शत्रु अपने विरोधी देश के जल, अन्न, वायु आदि को दूषित कर देते थे। आज के हाइड्रोजन-बॉम्ब आदि शस्त्रो ने यह बाधा उग्र स्वरूप मे उपस्थित कर दी है। रोगी या रोगवाहक (कैरीअर) जनो के सम्पर्क से होनेवाले औपसर्गिक (संचारी) रोगो मे भी बाह्य वायु की दुष्टि कारणभूत होती है। भल्लातक-युक्त वात जिसके कारण कइयो को अति दूर स्थित भी भल्लातक शरीर मे कुष्ठादि जनक दोष के अत्यधिक पूर्व-संचय के कारण त्वग्विकार उत्पन्न करता है उसकी भी गणना यहाँ की जा सकती है। कभी-कभी पुष्पो के रजोयुक्त वायु के स्पर्श के कारण ज्वर भी हो जाता है। प्राचीनो ने ज्वर-प्रकरण मे इस कारण का उल्लेख किया है। नवीनो ने 'हे-फीवर' नाम से इसका वर्णन किया है।

आदि से वन्धन[1] वेष्टन ; पतन (उच्चस्थल से गिरजाना) , पीडन (पिस जाना, दवजाना, कुचला जाना), अभिचार (मारण, उच्चाटन--ऊपर उडा देना) आदि के लिए किए आथर्वण प्रयोग--यन्त्र, मन्त्र तथा तन्त्र मे क्लेश देना[2] द्विज, गुरु, वृद्ध, सिद्ध आदि का दिया अभिशाप , अभिषङ्ग (काम आदि मनोभावो का आवेश[3])--इन तथा अन्य आगन्तु अर्थात् शरीर से वाहर स्थित कारणो का[4] शरीर से प्रथम ससर्ग, उसके कारण पीड़ा तथा अनन्तर काल में दोषो की विषमता होने से होते है, उन्हे आगन्तु कहा जाता है ।

आगे सुश्रुत ने रोगो के आदिवलप्रवृत्तादि सात भेद किए है । उनमें कहा दैववलप्रवृत्त इस प्रकरण में आगन्तु नाम से अभिहित है, यह आगे कहे उसके लक्षण से विदित होगा ।

निज रोगो का लक्षण[5]--

प्रज्ञापराध जिन में प्रमुख हे उन अपने वैषम्यकारक हेतुओ मे विषम हुए वात-पित्त-कफ से और क्वचित् इन्ही दोषो से दूषित हुए रक्त से जिन रोगो की उत्पत्ति होती है, उन्हें निज कहा जाता हैं ।

मानस रोगो का लक्षण[6]—

आगन्तु अर्थात् वाह्य हेतुओ से हुए रोगो के अधिष्ठान-भेद से दो भेद है—

१—रक्तस्राव को रोकने के लिए व्रण-प्रदेश के ऊपर की धमनी के स्थल पर किया जानेवाला वन्धन (टूर्नीकिट) कभी-कभी अति दृढ वद्ध हो तो नीचे की केशिकाएँ पीडित होने से रस-रक्ताभिवहन वन्द होने से विसर्प-विशेष (वातिक विसर्प-ड्राई गेग्रीन, या कर्दम-विसर्प-वेट गेग्रीन) होता है । उसे यहाँ विशेषत· स्मरण करना चाहिए ।

२—इसे सस्कृत मे कार्मण (गुजराती अपभ्रश—कामण) भी कहते है ।

३—अभिषङ्ग · कामाद्यभिषङ्ग —च० नि० १।३० पर चक्रपाणि । इस वचन से स्पप्ट है कि चरक-मत से भी मानस-रोग आगन्तुओ के अन्तर्गत ही हैं । च० सू० २०।३ की टीका मे भी चक्रपाणि ने आगन्तु से मानस विकारो का गृहीत होना वताया है । ऊपर सुश्रुत-मत प्रतिपादक वचन उद्धृत किया है ।

४—वाह्यहेतुजास्त्वागन्तव —अ० स० सू० २२ ।

५—देखिए—च० सू० ११।४५ , च० सू० २०।४ ; सु० सू० १।२५ (२) तथा टीकाएँ ।

६—देखिए—च० सू० ११।४५ (तथा टीका मे दिया पाठान्तर) ; च० वि० ६।५ , सु० सू० १।२५ (३) ।

शारीर और मानस, यह ऊपर कहा है। इनमें मानस रोगो का मूल रज और तम इन दो मानस दोषो का वैषम्य है। इन मानस दोषो के वैषम्य से होनेवाले विकारों (रोगो) के संक्षेप में दो वर्ग किए जा सकते हैं—इच्छा (राग-विषयो की अतिशय कामना) और द्वेष। जिस विषय के स्पर्श से शरीर और मन को सुख हुआ हो उसकी प्राप्ति की कामना को इच्छा या राग कहते हैं। इसके विपरीत जिस विषय (पदार्थ) के संयोग से मन और शरीर को दुःख हुआ हो उसके प्रति अप्रीति को द्वेष कहा जाता है। सुखद होने से अभीष्ट (वाञ्छित) वस्तु की प्राप्ति के लिए, किंवा दुःखद होने के कारण द्विष्ट वस्तु के परिहार के लिए मन में जो उत्साह होता है, उसे प्रयत्न कहते हैं। इस प्रयत्न के परिणाम रूप में आत्मा या मन की प्रेरणा से इष्ट वस्तु की प्राप्ति तथा द्विष्ट वस्तु के परिहार (उससे वियुक्ति) के लिए विभिन्न शारीरिक, मानसिक या वाचिक चेष्टाएँ होती हैं।

किसी कारण इष्ट वस्तु की प्राप्ति न हो या प्राप्त भी प्रिय वस्तु का वियोग हो जाय; अथवा अनिष्ट वस्तु की प्राप्ति हो और कभी इष्ट वस्तु की प्राप्ति हो (यथा, लॉटरी लगना आदि से हर्ष का अति आवेश, उसके कारण उन्माद या मृत्यु) इन प्रकोपक कारणो से रज और तम का उद्रेक होकर विभिन्न मानस रोग उत्पन्न होते हैं। मानस रोगो के उदाहरण अधोलिखित हैं—काम, (इन्द्रियो के विषयो की आकाक्षा), क्रोध, मोह, (अज्ञान या मिथ्या ज्ञान), मान (अपने गुणो को अधिक मानना), मद (अपने गुणो के मान के साथ अन्य पुरुषो में उन गुणों का अभाव या न्यूनता हो तो उनका तिरस्कार—गर्व), चिन्ता, उद्वेग (घबराहट), शोक, भय, हर्ष, विषाद (मनोभङ्ग, उत्साहभङ्ग[1]) ईर्ष्या (दूसरे का उत्कर्ष सहन न कर सकना), असूया (अन्यो के गुणो में दोषदृष्टि), दीनता (दब्बूपन, इन्फीरिऑरिटी), मत्सर (औरो के गुणो की परीक्षा न करना), लोभ (औरो के द्रव्यो की इच्छा), दम्भ आदि।

हर्ष, शोक, दैन्य, काम, लोभ आदि मनोविकार इच्छा इस वर्ग के अन्तर्गत है तथा क्रोध, भय, विषाद, ईर्ष्या, असूया, मत्सर (मात्सर्य) आदि का समावेश द्वेष इस वर्ग में होता है। ज्वर, अतिसार आदि शारीर दोषो के वैषम्य से शरीर रूप अधिष्ठान (स्थान, आश्रय, क्षेत्र) में होनेवाले रोग शारीर या शरीराधिष्ठान कहे जाते हैं। उल्लिखित काम-क्रोधादि विकार जो मनोरूप अधिष्ठान में मानस दोषो की विषमता से होते हैं, मानस या मनोऽधिष्ठान

१—विषादश्चेतसो भङ्ग उपायाभावनाशयोः॥

साहित्यदर्पण

रह जाते हैं। शरीर और मन दोनों अधिष्ठानों में होनेवाले अपस्मार (मिरगी) आदि रोगों को उभयाधिष्ठान कहा जाता है[1]।

निज तथा आगन्तु रोगों में भेद और परस्पर-सम्बन्ध[2]

निज शारीर रोगों में दोषों का वैषम्य होता है, अतः उन्हें समावस्था में लाना ही उपचार का लक्ष्य होता है। परन्तु आगन्तु शारीर-मानस रोगों में भी पश्चात्काल में दोषों की विषमता हो जाती है। परिणामतया—"संक्षेपतः क्रियायोगो निदानपरिवर्जनम् (सु० उ० १।२५)—निदान नाम रोग के आरम्भक दोष-वैषम्यकारक आहार-विहार का परित्याग, अन्य शब्दों में अपथ्य का सेवन छोड़ देना, अर्थापत्त्या दोष जिससे समावस्था में आने लगें ऐसे आहार-विहार का सेवन करना—स्पष्ट शब्दों में पथ्य का पालन करना संक्षेप से क्रिया है—यह चिकित्सा के तीन सूत्रों में प्रथम और मुख्य, जिसके बिना संशोधन-संशमनात्मक शेष दो सूत्र निरर्थक हैं, ऐसा सूत्र है।" इस सूत्र के अनुसार आगन्तु शारीर और मानस रोगों में यद्यपि कारण का परित्याग (निदान-परिवर्जन) भी अभीष्ट होता है, परन्तु पश्चात्काल में शारीर-मानस दोषों की भी विषमता हो जाने से चिकित्सा में उन्हें समावस्था में लाना भी वैद्य का कर्तव्य हो जाता है।

तात्पर्य, निज या शारीर रोगों में प्रथम दोषों का वैषम्य होता है, पश्चात् उसके कारण विविध व्यथाएं होती हैं, जब कि आगन्तु रोगों में अभिघातादिजन्य प्रथम व्यथा होती है, पश्चात् दोषों की विषमता। सो, दोषों की विषमता तो दोनों ही में होती है, केवल क्रम (पौर्वापर्य) में भिन्नता होती है। देखिए—

तत्र निजास्तु दोषोत्थाः। तेषु पूर्वं वातादयो वैषम्यमापद्यन्ते, ततो व्यथाऽभिनिर्वर्तते। बाह्यहेतुजास्त्वागन्तवः। तेषु प्रहारेण व्यथा पूर्वमुपजायते ततो दोषवैषम्यम्। दोषवैषम्येण च बहुरूपा रुगनुबध्यते, प्रवर्धते च। एवं च कृत्वा न दोषव्यतिरेकेण रोगानुबन्धः, केवलं पौर्वापर्ये विशेषः॥　　अ० सं० सू० २२

इस प्रकार जैसे आगन्तु रोग में पीछे से दोषों का प्रकोप हो जाता है, वैसे निज रोगों में भी पश्चात्काल में बाह्य कारणों से आगन्तु रोगों का अनुबन्ध होने

१—सु० सू० १।२६ तथा डल्हन-टीका।

२—च० सू० १९।७, च० सू० २०।६-७, च० वि० ६।८, अ० सं० सू० २२, सु० सू० १।२६ तथा टीकाएँ।

की संभावना होती है। जैसे, ज्वर या उन्माद दोष-विशेष से हुआ हो तो उसमें पीछे से भूतावेश भी हो सकता है। किंवा, रोगी अभिघातज ज्वर या भूतज उन्माद (भूतोन्माद) से पीडित हो तो उसमें, दोषो के लक्षण देखने से जिसका विनिश्चय हो सकता है ऐसा, निज रोग भी पीछे से हो जाता है।

शारीर-मानस आदि रोगो का परस्पर अनुवन्ध—

न केवल आगन्तु और शारीर रोगो का परस्पर अनुवन्ध होता है, शारीर पृथक् दोष-विशेष से उत्पन्न हुए रोगो में भी इतर दोष से उत्पन्न रोग का अनुबन्ध हो सकता है। प्रत्येक के पृथक् लक्षणो को दृष्टि में रखा जाए तो किस दोष का प्रथम और प्रधान प्रकोप हुआ था और किस का पीछे से अनुवन्ध हो गया, इस वस्तु का निर्णय किया जा सकता है[1]।

यद्यपि मानस रोग भी आगन्तु-विशेष होने से अनुबन्ध-सम्वन्धी उक्त नियम का उल्लेख उन (मानस रोगो) पर भी लागू होता ही है, तथापि स्पष्टता के लिए कहना आवश्यक है कि—शारीर और मानस रोगो का भी परस्पर अनुवन्ध होता है[2]। अर्थात्—पहले से स्थित शारीर रोग-विशेष मे अन्य शारीर रोग-विशेष का अनुवन्ध होता है; इसी प्रकार मानस रोगो में मानस रोगो का एव शारीर रोगो में मानस रोगो का तथा मानस रोगो में शारीर रोगो का अनुबन्ध होता है। अनुबन्ध होने पर वे एक दूसरे के वल की अभिवृद्धि करते है—रोग को जटिल वना देते है। जैसे कामादि मानस विकारो और ज्वरादि शारीर विकारो का परस्पर अनुवन्ध होता है—काम (अतृप्त रति-सुख की इच्छा), क्रोध या भय से ज्वर तथा ज्वर आदि से दोष-वैषम्य होकर काम-प्रभृति मानस-विकार होना।

रोगो के परस्परानुबन्ध के रूप में भय और शोक से अतिसार (या परीक्षा, विषम परिस्थिति, फाँसी पर चढना आदि के भय से शुक्रोत्सर्ग); भय-क्रोधादि से ज्वर; भय और चिन्ता से वायु का प्रकोप होकर उससे रक्त-प्रकोप (रक्त-दुष्टि) होने से भ्रम (नवीनो का हाईब्लड प्रेशर, जो अन्य चिन्ताओ से तो वृद्धि को प्राप्त होता ही है; कोई इस रोग का निदान कर दे तो भी इस रोग की वृद्धि होती है; यद्वा रजोगुण-इमोशन-से इसी प्रकार रक्त का प्रकोप होना—सूत्र है—रजःपित्तानिळाद् भ्रमः— सू० शा० ४।५६); विषमज्वर के वेग के काल का विचार करने से भी ज्वर का वेग हो आना; अथवा भारी दुर्घटना (लाखो की द्रव्य हानि आदि) के श्रवण से शोक और उसके कारण वात का प्रकोप होकर वायु की महास्रोत में विलोम गति और उसके परिणामस्वरूप पित्त की प्रतिलोम

१—देखिए—च० सू० २०।६।

२—देखिए—च० वि० ६।८ तथा उस पर चक्रपाणि-टीका।

गति तथा उसके कारण उसका सचय और प्रकोप होकर पैत्तिक शूल (पेप्टिक अल्सर, आमाशय या ग्रहणी मे क्षत होना) इत्यादि मानस रोगो से शारीर रोगो का अनुबन्ध होने के चिकित्सा-व्यवसाय में अविस्मरणीय उदाहरण है। सतत ज्वरादि में धातुओ का क्षय होने से मासधातुमय हृदय एव उसके आश्रित रस धातु भी क्षीण होता है। परिणामतया, हृदयस्थायी मन भी क्षीण होकर उसके अधिष्ठान में होनेवाले दैन्य, भय (मरण आदि की भीति) इत्यादि मनोविकार होते हैं। यह शारीर रोगो में मानस रोग के अनुबन्ध का उदाहरण है। मानस दोष रज और तम का परस्पर अनुबन्ध तो सर्वदा रहता ही है; कारण रजोगुण के विना तमोगुण की कोई प्रवृत्ति नही होती, यह सिद्धान्त है। तमोगुण की रोगारम्भक प्रवृत्ति या क्रिया भी रजोगुण से प्राप्त प्रवर्तना (प्रेरणा) से ही होती है--नह्यरजस्कं तमः प्रवर्तते-- च वि ६।६।

शारीर दोपो का परस्पर अनुबन्ध---

मानस दोषो के अनुबन्ध के समान शारीर दोषो का भी परस्परानुबन्ध होता है। देखिए---

शारीरदोपाणामेकाधिष्ठानीयाना सन्निपातः संसर्गो वा समानगुणत्वात्। दोपा हि दूषणैः समानाः॥ च० वि० ६।१०

शारीर दोष एक ही अधिष्ठान शरीर में स्थित होने के कारण उनका सनिपात (तीन का सयोग) या ससर्ग स्वभावत होता है। क्योकि, उनमें कई गुण परस्पर समान होते है। दूषण या प्रकोप के कारणभूत अहिताहार-विहारादि भी अनेक दोषो के समान गुणवाले होते है। अर्थात् अहिताहार-विहार से जिन गुणो का प्रकोप होता है, वे गुण एक ही दोष में होते हो सो वात नही। प्रकुपित गुण अनेक दोषो के समान होने से एक से अधिक दोष को प्रकुपित करते है। यथा--अम्ल, लवण और कटु रस पित्त के प्रकोपक होते है, यह सिद्धान्त है। इन तीन रसो में अम्ल रस के अतियोग से पित्त तो कुपित होता ही है, समानगुणवाले कफ का भी प्रकोप होता है। लवण रस के अतियोग से पित्त कुपित होता है, साथ ही कफ भी। इसी प्रकार कटु रस के अतियोग से पित्त के साथ वायु का भी प्रकोप होता है। इसी प्रकार वसन्तऋतु श्लेष्म-प्रकोपक है, यह प्रसिद्ध है। परन्तु यह आदान काल होने से शरीर के धातुओ और स्नेहाश का इस काल में क्षय होने से वात और पित्त का भी प्रकोप साथ ही होता है। इसी प्रकार वर्षा में पित्त का सचय तथा शरद् ऋतु में प्रकोप होता है, पर साथ ही कफ का भी अनुबन्ध होता है। एव ग्रीष्मकाल रूक्ष होने से वात का सचय करता है, तो उष्ण होने से कुछ पित्त का भी सचय करता है। (देखिए--उक्त स्थलपर

चक्रपाणि)। परन्तु यह निश्चित है कि, प्रधानतया उस एक ही दोष का प्रकोप होता है जिसके गुण प्रकोपक कारण से अधिकतम मिलते है और उसी से प्रधान रोग उत्पन्न होता है। अनुबन्धभूत दोष, जिसके गुण प्रकोपक कारण से अल्पशः मिलते-जुलते है उस का प्रकोप होकर उससे अप्रधान रोग होता है। इस विषय का विचार इसी प्रकरण (रोगो के वर्गीकरण) में आगे किया जायगा।

मन और शरीर का परस्पर संबन्ध—

शारीर दोषो, धातुओ और मलो एव अन्नपान का मन तथा मानस दोषो से गाढ़ संबन्ध है। इस संबन्ध का आयुर्वेद-मत से संकलन मैंने आयुर्वेदीय पदार्थ-विज्ञान में किया है। एकाध उदाहरण विषय के वैशद्य के लिए देता हूँ। वायु मन तथा इन्द्रियों का प्रवर्तक (प्रेरक) और नियामक है, यह आयुर्वेद का सिद्धान्त है। इनका विचार गत अध्याय में हम कर भी आए हैं। उधर, काम, शोक, भय इन मानस विकारो से वायु के प्रकोप का तथा क्रोध से पित्त के प्रकोप का उल्लेख आचार्यों ने किया है।—कामशोकभयाद् वायु: क्रोधान् पित्तम्—च० चि० ३।११५। अन्य शारीर दोषो में साधक पित्त तथा हृदयस्थायी कफ का संबन्ध हृदय द्वारा मन से है। तर्पक कफ इन्द्रियाधिष्ठानो तथा इन्द्रियो का तर्पक (क्षतिपूर्ति—तरावट—करनेवाला) होने से उसका भी संबन्ध इन्द्रियो और मन के साथ है। रजोगुण का वात तथा पित्त में और तमोगुण का कफ में प्राधान्य होने से दोनो प्रकार के दोषो का परस्पर संबन्ध सिद्ध है। जिन शारीर-मानस दोषो का परस्पर सम्बन्ध है, वे कुपित या क्षीण हो तो संबद्ध दोष पर भी स्वभावतः प्रभाव पडता है। ऊपर शारीर दोषो के संसर्ग या सन्निपात का एक कारण यह बताया है कि वे एक ही स्थान पर शरीर में रहते है, इस संबन्ध के कारण एक दोष के कोप के साथ दूसरे दोष का भी प्रकोप होता है। लौकिक उदाहरण से भी यह बात सत्य सिद्ध होती है। एक ही घर में अनेक जन रहते हो तो उनकी तत्तत् अवस्था का प्रभाव शेष जनो पर पडता ही है। इस प्रकार शारीर दोषो के प्रकोप के कारण मानस दोषो का भी प्रकोप होकर मानस रोगो का तथा इसी परिपाटी से मानस रोगो के साथ शारीर रोगो का भी अनुबन्ध होता है।

परस्पर रोगोत्पादन में मन और शरीर के इस गाढ संबन्ध को महाभारतकार ने निम्न उपमा से समझाया है। एक उत्तप्त अयोगोलक (लोहे का गोला) किसी जलपात्र में डाला जाए तो जैसे जल और पात्र दोनो उत्तप्त हो जाते है वैसे ही सन्तप्त या रुग्ण हुआ शरीरस्थ मन शरीर को भी रुग्ण कर देता है। दूसरी ओर, उत्तप्त जल में शीत अयोगोलक डाला जाए तो जैसे जल के संस्पर्श से

अयोग्यात्मक भी उष्ण हो जाता है वैसे शरीर रुग्ण हो तो तदाश्रित मन भी रुग्ण हो जाता है।

प्राचीन वाङ्मय से ही शरीर और मन के अस्वास्थ्य और स्वास्थ्य के सबन्ध का द्योतक एक अन्य उदाहरण प्रस्तुत किया जा सकता है। योगविद्या का सवन्ध, सुविदित है, मन और आत्मा के उत्कर्ष के साथ सविशेष है। परन्तु उसमें भी मन को समाहित करने के पूर्व उसके साधन रूप में नेति, जलनेति, धोती, बस्ति, वमन, न्योलि क्रिया प्राणायाम, आसन आदि उपायों द्वारा शारीर दोषो और शरीर को शुद्ध और स्वस्थ किया जाता है।

वर्तमान काल में मन और शरीर के परस्पर सबन्ध और शरीर पर प्रभाव का अध्ययन बहुत गम्भीर हो गया है। एक मानस-चिकित्सक के एतद्विषयक प्रयोग का उल्लेख इस सवन्ध का उत्तम द्योतक है। अपने रोगियो को सम्मोहित (हिप्नोटाइज्ड) करके वह अहिफेन का कोई कल्प देता था, परन्तु उनके मन को सूचनाएँ देता था कि तुम्हें विरेचन दिया गया है: परिणामतया, रोगियो पर अहिफेन की मलस्तम्भक क्रिया न होकर अतिसरण होता था। अन्य रोगियो को वह एरण्ड-तैल अथवा अन्य विरेचनतया प्रसिद्ध औषध देता था, परन्तु सूचना यह करता था कि, तुम्हें मलस्तम्भन द्रव्य दिया गया है। परिणाम मे, रोगियो को आनाह (कब्ज) होता था। तात्पर्य, बाह्य द्रव्यो की शरीर पर क्रिया होती है ऐसा न कह कर मन की शरीर पर क्रिया होती है यही कहना यथार्थ है और इससे मन का शरीर पर कैसा प्रभाव है यह भी विशद होता है।

मन के प्रभाव की इस प्रकार व्याख्या प्राचीन भारतीयो द्वारा जाने गये सत्यो को ही युगानुरूप स्वरूप में प्रस्तुत करती है। बाकी प्राचीन भारतीयो ने तो न केवल शरीर पर, किन्तु शरीर-बाह्य प्रकृति पर भी मन की उत्कृष्ट शक्ति (सकल्प) का प्रभाव देखा था तथा उसे वे क्रिया में भी लाए थे।

रोग-निवृत्ति के लिए मन के शरीर से सवन्ध और सामर्थ्य का उपयोग तो प्राचीनो ने किया ही था, प्राकृतावस्था में भी मन और इन्द्रियो के वशीकार द्वारा शरीर को वे प्रभावित करते थे। आज भी ऐसे योगी देखे जाते है, जो हृदय और नाड़ी का स्पन्दन रोक सकते है, मलद्वार और मूत्रद्वार से द्रव द्रव्यो को यन्त्र की सहायता के विना ऊपर चढा सकते है। आधुनिक क्रियाशारीर में इन अवयवो को इच्छा के क्षेत्र के बाहिर (इनवॉलण्टरी) माना जाता है। कई योगी विना अन्नपान का सेवन किए कब्र आदि आवृत स्थानो में या बाहर रह सकते है। मन के द्वारा अतीतानागत, तथा परोक्ष देश मे स्थित वस्तु का ज्ञान प्राप्त कर सकते है। विशेषतया भारतीय क्रियाशारीरविदो का कर्तव्य है कि, इन घटनाओ को नवीन विश्व के समक्ष रखें तथा इनके कारणो की शोध में लगें।

नोवल-पुरस्कार विजेता एलेक्सिस केरल ने 'मैन ध अननोन' में लिखा है कि, अमेरिका के एक अस्पताल में स्वस्थ पुरुष प्रार्थना करते हैं और कैंसर, अस्थि-क्षय (बोन टी वी) आदि कष्टदायी रोग निमेषो में अच्छे होते हैं। परन्तु लेखक की फरियाद है कि कोई इन विषयो पर लक्ष्य देने को ही तय्यार नही।

शरीर और मन का परस्पर संबन्ध जोडनेवाली कडी कदाचित् जीवन-योनि नाडीसस्थान (ऑटोनॉमस नर्वस सिस्टम) है ऐसा अनुमान है। उपसहार मे इतना ही कह कर कि,शरीर और मन का सर्वावस्थाओ में सबन्ध प्राचीन-अर्वाचीन उभय मतो से अध्ययन का उपयोगी और मनोरम विषय है, अब मैं पुन प्रकृत विषय पर आता हूँ।

सामान्यज और नानात्मज रोग[1]

रोगो का स्वरूप समझने तथा समझाने के लिए प्राचीनो द्वारा किए गये ये दो विभाग या वर्ग हैं।

ज्वर, अतिसार, उदर आदि रोग ऐसे होते हैं जो वातादि दोषो मे किसी भी एक से, किन्ही दो के ससर्ग से या तीन के सनिपात से हो सकते हैं। यथा, ज्वर वात से भी हो सकता है, पित्त या कफ से भी हो सकता है; अथवा इनमें किन्ही के द्वन्द्व या सन्निपात से भी हो सकता है। इसी कारण ज्वरो के वातज आदि भेद व्यवहार में देखे जाते हैं, तथा शास्त्र में वर्णित हैं। इन रोगो को सामान्यज रोग कहा जाता है।

इसके विपरीत कई विकार ऐसे होते हैं, जिनकी उत्पत्ति किसी एक दोष के प्रकोप से ही होना सभव है। अन्य कोई दोष उनकी उत्पत्ति का कारण नही हो सकता। यथा, ऊष्मा की अधिकता, दाह, अम्लोद्गार, शरीर की पीतता, अत्यग्नि आदि रोग पित्त के प्रकोप से ही होने सभव हैं। अतिनिद्रा, मुख-माधुर्य, कफष्ठीवन (मुख से घन कफ पडना), गौरव आदि विकार कफ के ही प्रकोप से होते हैं। एवं, कम्प, सकोच, आक्षेप, आयाम, शूल आदि रोग वायु की वृद्धि के ही परिणामभूत होते हैं। इन रोगो की उत्पत्ति जिस-जिस दोष से होती कही गयी है, उससे भिन्न दोष से इनकी उत्पत्ति हो नही सकती। ऐसे रोगो को नानात्मज रोग कहा जाता है। (नाना=पृथक्, एक, दोष)।

नानात्मक रोगो की यो तो सख्या नही हो सकती, यह अध्याय के आरम्भ मे कहा जा चुका है। तथापि विपुल-बुद्धि शिष्यो के व्यवहार के लिए आचार्यो ने प्रथम प्रत्येक दोष के प्रकोप के सामान्य लक्षण बताए हैं, पश्चात् अल्पबुद्धि

१—च० सू० २०।१०।

विद्यार्थियों के मार्गदर्शनार्थ प्रत्येक दोष से होनेवाले नानात्मज रोग दृष्टान्ततया दिए हैं। इस प्रकार कफनानात्मज बीस रोग, पित्तनानात्मज चालीस रोग तथा वातनानात्मज अस्सी रोग शास्त्र में निर्दिष्ट हैं। अगले अध्याय में प्रथम प्रत्येक दोष के प्रकोप के सामान्य लक्षण बताए जाएँगे, पश्चात् उदाहरणभूत नानात्मज रोगों का उल्लेख किया जाएगा।

तीसरा अध्याय

नानात्मज रोग

अथातो व्याधिभेदविज्ञानीयं द्वितीयमध्यायं व्याख्यास्यामः । इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः॥

कफ-नानात्मज रोग

कफ-विकारो के सामान्य लक्षण—

सर्वेष्वपि खल्वेतेषु श्लेष्मविकारेषूक्तेष्वन्येषु चानुक्तेषु श्लेष्मण इदमात्मरूपमपरिणामि कर्मणश्च स्वलक्षणं, यदुपलभ्य तदवयवं वा विमुक्तसन्देहाः श्लेष्मविकारमेवाध्यवस्यन्ति कुशलाः, तद्यथा—स्नेह-शैत्यशौक्ल्यगौरवमाधुर्यस्थैर्यपैच्छिल्यमात्स्न्र्यानि श्लेष्मण आत्म-रूपाणि। एवंविधत्वाच्च श्लेष्मणः कर्मणः स्वलक्षणमिदमस्य भवति तं तं शरीरावयवमाविशतः, तद्यथा—श्वैत्यशैत्यकण्डूस्थैर्यगौरवस्नेह-सुप्तिक्लेदोपदेहबन्धमाधुर्यचिरकारित्वानि श्लेष्मणः कर्माणि। तैरन्वितं श्लेष्मविकारमेवाध्यवस्येत्॥ च० सू० २०।१८[1]

कफ-नानात्मज रोगो का उल्लेख अनुपद किया जाएगा। परन्तु उन रोगो को कफज रोगो का उदाहरण-मात्र समझना चाहिए। यो कफज रोग असख्य है। तथापि, कफ (श्लेष्मा) के स्वाभाविक स्वरूप और विकारजन्य कर्म के परिचायक अमुक नियत लक्षण है। ये लक्षण न्यून, अधिक वा सम्पूर्ण सख्या मे एकाङ्ग में या सर्वाङ्ग मे उपलब्ध हो, तो नि सन्देह श्लेष्म-विकार का निदान करना चाहिए। जिन रोगो का यहाँ किंवा शास्त्र में अन्यत्र निर्देश न किया गया हो उनका भी परिज्ञान इन लक्षणो को दृष्टि में रखकर—इसी परि-पाटी से—करना चाहिए। ससृष्ट (द्वद्वज) या सन्निपतित (त्रिदोषज) रोगों मे भी कफज लक्षणो का निदान इस प्रकार करना चाहिए।

श्लेष्मा के स्वरूप-द्योतक लक्षण (गुण) ये है। श्लेष्मा का प्रकोप होने पर, जिस गुण के प्रकोपक कारण का जितने प्रमाण मे सेवन किया गया हो उतने

१—अ स सू २०, अ हृ सू १२।५३–५४ तथा काश्यप-सहिता २७।४४-४६ भी द्रष्टव्य है।

प्रमाण से उस गुण का प्रकोप होता है एवं जिस भी धातु, उपधातु, मल, स्रोत, आशय, अवयव आदि में प्रकुपित गुण या गुणों ने स्थान-संश्रय किया हो उसके भेद से तत्तत् रोग उत्पन्न होते हैं।—१ स्नेह, (स्निग्धता), २ शैत्य (शीतता), ३ शुक्लता (श्वेतता), ४ गौरव, ५. माधुर्य, ६ स्थैर्य, ७. पिच्छिलता (तन्तुमत्ता), तथा ८ श्लक्ष्णता (मसृणता, मृत्स्नता)[1]। अतः श्लेष्मप्रकोप से उत्पन्न होनेवाले आगे कहे उदाहरणभूत, अथवा इनसे भिन्न शास्त्र में अनुक्त (अवर्णित) किंवा अन्यदोषों से संयुक्त (मिश्रित) कोई भी श्लेष्म-विकार हो, उसमें श्लेष्मा या कफ के नीचे लिखे कर्म अवश्य पाये जाएँगे—

१ त्वचा, नख, नेत्र, मुख, मल, मूत्र, अश्मरी—पथरी–आदि में श्वेतता ;

२ त्वचा, मल-मूत्र, निःश्वास आदि में शैत्य (इनका स्पर्श शीत होना ; इनकी उष्णता, जिसका परिज्ञान स्पर्श द्वारा या तापमापक नाड़ी-यन्त्र—थर्मोमीटर-से होता है, न्यून होना, किंवा रोगी को शीत प्रतीत होना—ठंड लगना),

३ कण्डू (त्वचा, नाक, कान, भगप्रदेश, मलद्वार आदि बहिर्मुख स्रोत इत्यादि में खुजलाने की इच्छा—खर्जू) ;

४. स्तैमित्य (ज्ञानेन्द्रियों की विषयों के ग्रहण में तथा कर्मेन्द्रियों की अपनी-अपनी चेष्टा के करने में अपटुता—मन्दप्रयत्नता),

५ गौरव (शरीर भारी) होना—उपचय, जिसका निर्णय तौल इत्यादि से होता है, मन का गौरव—आलस्याभिभूत होना ; अथवा सर्वाङ्ग या हृदय, उदर आदि एकाङ्ग में भार की प्रतीति होना—सेन्स ऑफ वेट, सेन्स ऑफ हेवीनेस ; मल, मूत्र, अश्मरी आदि भी गुरु होना, इनमें मल या पुरीष अपनी गुरुता के कारण जल में डूब जाएँ ऐसा होता है, मूत्र की गुरुता के कारण वह थोड़ी देर रखा जाय तो उसका घन भाग नीचे बैठ जाता है ; अवस्था-भेद से इसके प्रमेहाधिकार में सान्द्रमेह तथा सान्द्र-प्रसादमेह—सुरामेह—ये दो भेद किए गए हैं—नव्य मत में इन्हें 'आल्ब्यूमिनयूरिया' कहते हैं—यह कफज शोथ का अङ्ग होता है, अश्मरी कफज हो तो गुरु और विशाल होती है।

१—पॉलिश किए फर्नीचर आदि का करस्पर्शगम्य गुण मसृणता आदि कहाता है। पीडनीयता (दबाने से दब जाना) से जिसकी प्रतीति होती है, उस गुण को मृदु कहते हैं। स्निग्ध गुण स्वयंसिद्ध है।

शास्त्र में गुणों के शीत, स्निग्ध आदि नाम आए हैं। वे भाव-प्रधान शीतता, स्निग्धता आदि के व्यञ्जक हैं, ऐसा समझना चाहिए।

६ स्नेह (त्वचा, मुखविवर, बहिर्द्वार, मल आदि में स्निग्धता—चिकनापन, इनका कफ से उपलिप्त होना) ;

७ निद्रा ;

८ क्लेद—विशेषतया व्रणो मे आर्द्रता अधिक होना, किंवा मुख, मूत्र आदि में लाला इत्यादि के रूप मे द्रवांश का आधिक्य ,

९. शोफ—सर्वाङ्ग या एकाङ्ग में सूजन—शोथ ;

१० स्रोतों का अवरोध—यह स्रोतो मे मलो की कफ के कारण अति पुष्टिसे हुए सचय से होता है , कफ के पैच्छिल्यवश रस-रक्त का अपने स्रोतो मे स्कन्दन—कोएगुलेशन होने से होता हे , स्रोतो के घटक शरीर-परमाणु या कोष अति पुष्ट होने से उन स्रोतो का विवर वृद्धि को प्राप्त कोषो से व्याप्त होने से होता है ; प्राणवह, अन्नवह आदि स्रोतो मे कफ का लेप होने से होता हे ; किंवा कफ के प्रधान गुण मन्दता का महास्रोत, प्राणवहस्रोत, हृदय के रस-रक्तवह स्रोत, पित्तप्रसेक आदि स्रोतो पर प्रभाव होने से उनके वाह्य द्रव्य का वहन—अयन—मन्द होने के रूप में होता है ;

११. माधुर्य—मुख, मूत्र, त्वचा आदि में मधुरता , त्वचा पर मक्षिका आदि बैठने से त्वचा या शरीर की मधुरता—वास्तव में तो रस-रक्त की मधुरता जिसे ग्लायकीमिया कहते हैं वह—ज्ञात होती है ; पिपीलिकाओ के बैठने से या प्रयोगशाला में परीक्षा द्वारा मूत्र की मधुरता विदित होती है ,

१२ चिरकारिता[1]—जो भी रोग हो उसकी वृद्धि शनैः-शनैः होना; अथवा दीर्घसूत्रता—कार्यो के आरम्भ तथा समाप्ति में विलम्ब करने की प्रवृत्ति ,

१३. स्थैर्य[2]—अङ्गो का जकड जाना, अथवा शोथ आदि की कठिनता[3] ; किंवा स्थिरता—यथा गर्भाशय में शुक्र और गर्भ की स्थिरता और उसके कारण अपत्यो की सख्या अधिक होना , निश्चय की स्थिरता ,

१३ अग्निमान्द्य ,

१—चिरकारिता चिरेण रोगवृद्धिः अ हृ सू १२।५४ पर अरुणदत्त ।

२—स्थैर्य गात्राणा स्तम्भ सु० सू० १५।१३ पर डल्हन ।
काश्यप ने इस प्रकरण मे चरक का ही अनुसरण किया हे , उसने स्थैर्य के स्थान पर विष्टम्भ ही की गणना की है । देखिए पृ० ३० ।

३—अष्टाङ्ग हृदय मे कुपित कफ के कर्मो मे काठिन्य की गणना की है स्थैर्य का पाठ उसमे नही है । अरुण ने उसका अर्थ अमृदुत्वम् दिया है । काठिन्य वायु का गुण है , कफ का गुण मृदुता प्रसिद्ध है । अत कठिन का अर्थ यहाँ घनत्व (सान्द्रत्व) लेना उचित होगा ।

१४ मुख का रस मधुर या लवण होना ;

१५ बहिर्मुख स्रोतों (मुख, नासिका, कर्ण, शिश्न का बहिर्भाग, भग-प्रदेश इत्यादि का उपदेह अर्थात् इनमे मलाधिक्य और उसके कारण कण्डू आदि लक्षण होना। यह श्लेष्मप्रधान ज्वर—इन्फ्लुएञ्जा—इत्यादि में लक्षणतया पाया जाता है—इसे इन्द्रियोपलेप यह नामान्तर दिया गया है। प्रधान रोग तथा दोष का उपचार करने से यह भी निवृत्त होता है ;

१६ सुप्ति—त्वचा मे स्पर्शनाश।

कफ-नानात्मज रोग[1]—

कफ का प्रकोप होने पर यो तो उल्लिखित लक्षणो और कर्मोवाले अगणित रोग हो सकते है, तथापि इनमें जो बीस रोग चिकित्सा-व्यवसाय में प्राय. देखे जाते है, वे अधोलिखित है।—

१. तृप्ति—इसमें भोजन किए विना भी कफ से आम-पच्यमानाशय का उपलेप होने से पुरुष अपने को तृप्त अनुभव करता है ; ग्रहणी-अधिकार में इसे सतोष भी कहा गया है। पक्वाशय में सचित कफ का ऐसा ही उपलेप रहने से मल प्रवृत्ति करने के बाद भी वेग बना रहता है। यह स्थिति (प्रवाहण) प्रवाहिका का प्रत्यात्म-लक्षण है , तृप्ति रोग अपने विपरिणाम के कारण अधिक चिन्तनीय रोग है। इसके कारण अन्न का सेवन न होने से अन्नरस नहीं बनता, पुरुष कफ-प्रकृति और मेदस्वी न हो तो इससे धातुक्षय होने की सभावना होती है। अन्नरस के समान ही अन्न का सेवन न करने से किट्टाश नही बनता—इस प्रकार पुरीषक्षय होकर विबन्ध (कॉन्स्टिपेशन) और तज्जन्य विविध विकार होते हैं। पान या जलादि पेय द्रव्यो का सेवन न होने से शरीर में उदकक्षय (डीहाईड्रेशन) तथा उसके विभिन्न अनिष्ट परिणाम होते हैं। इनमें एक मूत्राघात (सप्रेशन ऑफ यूरीन) है। इसके परिणामस्वरूप मोह (कॉमा) यह उपद्रव होता है। कदाचित् साथ ही तर्पक कफ (सेरीब्रोस्पाइनल फ्लुइड) का भी प्रकोप हो और ज्ञानेन्द्रियो तथा कर्मेन्द्रियो के अधिष्ठानो पर इसका आवरण (पीडन) हो तो मोह में और वृद्धि ही होती है। मोह की यह सप्राप्ति दृष्टि मे रखते हुए मूल कारण का विचार कर चिकित्सा में सप्राप्ति-भङ्ग करने का प्रयास करना चाहिए। इसका उल्लेख आगे चिकित्सा के प्रकरण में करेंगे ;

२. तन्द्रा—ज्ञानेन्द्रियो से विषयो का ग्रहण न होना तथा कर्मेन्द्रियो की

१—देखिए—च० सू० २०।१८ , शा० पू० ७।१२२-३५ , अ० स० सू० २० , काश्यप सहिता-सू० २७।४१-४३ , अ हृ सू १२।४६-५१ , च चि २८।२०-२४ , माधव निदान तथा मधुकोष , च सू १२।८।

अपने कर्मो में प्रवृत्ति न होना ; गौरव[1]—शरीर और मन में भारीपन प्रतीत होना ; जृम्भा[2], क्लम-श्रम किए विना भी थकावट लगना[3] ; चेष्टाएँ ऐसी होना जैसे पुरुष निद्राधीन हो। निद्रा और तन्द्रा में क्लम के कारण ही विशेष भेद होता है। जगने पर निद्रायुक्त पुरुष में क्लम नही होता ; तन्द्रायुक्त पुरुष में क्लम होता है[4] ;

३. निद्राधिक्य—कारण, निद्रा श्लेष्मतमोभवा सु० शा० ४।५-६ में कही गयी है। वहीं तमोवातकफात् तन्द्रा कह कर तन्द्रा के कारण तमोगुण, वायु और कफ वताए है ;

४. स्तैमित्य—ज्ञानेन्द्रियो, कर्मेन्द्रियो तथा उभयेन्द्रिय मन की अपने-अपने प्रकृतिनियत कर्म करने में अपटुता ;

५ गुरुगात्रता—शरीरगौरव ;

६. आलस्य—शक्ति होने पर भी कर्मो में उत्साह—प्रवृत्ति—न होना[5] ; कफ के मन्द गुण के कारण इन्द्रियो और वुद्धि के अधिष्ठानभूत शिर में रस-रक्त का अयन सम्यक् न होने से यह स्थिति होती है ; किंवा स्थानीय तर्पक कफ के प्रकोप के कारण, नव्य मत से कहना हो तो सेरीब्रोस्पाइनल फ्लुइड

१—गौरव का लक्षण

आर्द्रचर्मविनद्ध वा यो गात्र मन्यते नर ।
तथा गुरु गिरोऽत्यर्थं गोरव तद्विनिर्दिशेत् ।। सु शा ४।५५

२—जृम्भा का लक्षण

पीत्वैकमनिलोच्छ्वासमुद्वेष्टन् विवृतानन ।
य मुञ्चति सनेत्रास्र स जृम्भ इति सज्ञित ।। सु शा ४।५०

३—क्लम का लक्षण

योऽनायास श्रमो देहे प्रवृद्ध श्वासवर्जित ।
क्लम स इति विज्ञेय इन्द्रियार्थप्रवाधक ।। सु शा ४।५१

४—तन्द्रा का लक्षण

निद्रार्तस्येव यस्येहा तस्य तन्द्रा विनिर्दिशेत् ।। सु शा ४।४६

क्लम के आधार पर निद्रा-तन्द्रा का भेद जानने के लिए देखिए उक्त स्थल पर डल्हन। तन्द्रा को गुजराती मे घेन तथा अग्रेजी मे ड्राउजीनेस कहते है।

५—आलस्य का लक्षण

सुखस्पर्शप्रसगित्व दु खद्वेपणलोलता ।
शक्तस्य चाप्यनुत्साह कर्मस्वालस्यमुच्यते ।। सु शा ४।५२

का दबाव बढ जाने से आलस्य, तन्द्रा, निद्रा, मूर्च्छा, मोह--कॉमा--ये लक्षण होते है। आयुर्वेद-मत से शिरोविरेचन द्वारा क्लेदांश की शुद्धि होने से कारण की निवृत्ति होकर लक्षण शान्त होते हैं। नव्यमत से विचार करें तो, नासास्रोत के ऊर्ध्वभाग की सिराओ का सम्बन्ध मस्तिष्क में स्थित सिराजालो--सायनसेस--के साथ होता है और उनका भी सम्बन्ध सेरीब्रो-स्पाइनल फ्लुइड के साथ होता है। शिरोविरेचन द्वारा विपरीत क्रम से क्लेद की शुद्धि होती है। अत. नासिका को शिर का द्वार कहा गया है--नासा हि शिरसो द्वारम्,

७. मुख-माधुर्य--मुख का रस मधुर होना। स्मरण रहे, कफ का यह लक्षण होने पर भी निदान-प्रकोप के कारणभूत अतियुक्त अन्नपान--में मधुर रस या मधुर-विपाकी द्रव्यो का आधिक्य हो तभी मुख में माधुर्य विशेष लक्षित होता है। मूत्र या शरीर के माधुर्य की भी यही स्थिति है,

८. मुखस्राव--हृल्लास, प्रसेक, लालास्राव, (मुख, जिह्वा, दन्त आदि मुखान्तर्गत सर्व अवयवो के रोगो में कफ ही प्रधान होता है--मुखमध्ये गदान् कुर्युः क्रुद्धा दोषाः कफोत्तराः--अत इनमें वमन, लङ्घन, कफ-प्रकोपक द्रव्यो का त्याग प्रभृति कफ-प्रत्यनीक चिकित्सा ही करनी चाहिए।),

९. कफोद्गिरण-मुख तथा नासिका द्वार से घन कफ की प्रवृत्ति, गुरु--नव्य मत से अति प्रोटीनवाले शरीर-वर्धक--द्रव्यो का अतियोग हो तभी कफ घन होता है;

१०. मलाधिक्य--कफ के कारण अग्नि मन्द होने से प्रसाद-भूत अन्न-रस न्यून तथा किट्टांश अधिक बनता है; मलो में वायु और मूत्र इन अन्नपान के मलो के आधिक्य की भी गणना समझनी चाहिए,

११ बलासक--चक्रपाणि ने इसके अनेक अर्थ दिए हैं। तथाहि--बलक्षय, किंवा श्लेष्मा का उद्रेक--प्रकोप--होने से मन्द ज्वर रहना, किंवा स्थूलाङ्गता;

१२ अविपाक--अजीर्ण; पाचक पित्त एवं तदाश्रित धात्वग्नियो की मन्दता के कारण अन्नपान तथा रसधातु का पाक सम्यक् न होना; अन्य शब्दो मे आम की पुष्टि होना; इस प्रकार आम का हेतु कफ-प्रकोप ही होने से आम और कफ के लक्षण अभिन्न एवं सहचारी ही होते हैं, एवं चिकित्सा में भी अतएव साम्य होता है। काश्यप ने आम नाम से यह रोग दिया है;

१३. हृदयोपलेप--प्राणवह स्रोतो में कफ के पूरण के कारण हृदय तथा उर.प्रदेश में भार-सा प्रतीत होना;

१४. कण्ठोपलेप--कण्ठ कफ-लिप्त होना;

१५. धमनी-प्रति (वि) चय—धमनियो की अतिपूर्ति; रस-रक्त के अति पोषण के कारण इन धातुओ का प्रमाण अधिक होने से धमनियो का विवर उनसे सम्यक् पूर्ण होने के कारण धमनियो की परिधि—फुलावा—अधिक होना ; साथ ही उनमे रस-रक्त की गति मन्द, और गुरु होना ; धमनियो का विस्तार वायु से भी होता है, पर उसमें धमनी गुरु, मन्द तथा मृदु नही होती, किन्तु कठिन एव वायु के वैषम्य या चलत्व के कारण कभी तीक्ष्ण कभी मन्द कभी पूर्ण कभी क्षीण होती है[1] ; किंवा—धमनियो में पोषक द्रव्यो का सचय ;

१६ गलगण्ड—आधुनिको का गॉयटर , चुल्लिकाग्रन्थि की वृद्धि ;

१७. अतिस्थौल्य—सामान्यतया सर्वधातुओ की, विशेषतया अग्निमान्द्य के कारण मेदोधातु की वृद्धि ,

१८. शीताग्निता—अग्निमान्द्य ;

१९. उदर्द—शीतपित्त-सदृश कण्डू, राग-रक्तिमा तथा-त्वचा के उत्सेध-युक्त विकार, कफ की विशालता के कारण इसमे मण्डल विस्तृत होते है तथा कण्डू कफ-प्रकोप के अनुकूल काल साय और रात को विशेष होती है , तदनुरूप शीतपित्त और उदर्द मे किंचित् चिकित्सा-भेद होता है—उदर्दस्तुकफाधिकः[2] ;

२०. श्वेतावभासता तथा श्वेतमूत्रनेत्रवर्चस्त्व—त्वचा, नख, नयन, वदन, पुरीष और मूत्र श्वेत होना[3] ।

इति विंशतिः श्लेष्मविकाराः श्लेष्मविकाराणामपरिसंख्येयाना-माविष्कृततमा व्याख्याता भवन्ति ॥ च० सू० २०।१७

१—धमनीप्रतिचय का अर्थ चक्रपाणि ने धमन्युपलेप लिखा है । काश्यप मे धमनी-उपलेप ही नाम दिया है । गङ्गाधर ने धमन्युपलेप का अर्थ धमनियो की पुष्टता दिया है । योगीन्द्रनाथ ने प्रतिचय का अर्थ अतिपूरण दिया है । नाडी-परीक्षाशास्त्र, प्रत्यक्ष तथा सर्व टीकाकारो के अर्थ का समन्वय कर जो अर्थ उपयुक्त प्रतीत हुआ वह ऊपर दिया है । सग्रह तथा हृदय मे केवल उपलेप शब्द है, जिसका अर्थ प्रतिचय देकर उसका भी अर्थ अतिपूरण दिया गया है । विस्तार आगे देखे ।

२—सग्रह मे उदर्द के मतान्तर से अनेक अर्थ दिए है । यथा, छाती का अभिष्यन्दन (प्राणवह स्रोतो को कफ से पूर्ति) , शीत के साथ शरीर का कम्प , अथवा ऊपर दिया शीतपित्त के समान लक्षणो वाला रोग । वैद्यो मे उदर्द का पिछला अर्थ प्रसिद्ध है । शीतपित्त और उदर्द की चिकित्सा मे भेद चिकित्सा-धिकार मे देखिए ।

३—वीस सख्या की पूर्ति के लिए समान स्वरूपवाले दो रोग मैने एक साथ ले लिए है ।

इस प्रकार अपरिसख्येय भी श्लेष्म-नानात्मज रोगों में जो लोक में अधिकतम (प्राय) देखने मे आते हैं, उनका यह उल्लेख हुआ[1] ।

पहले कह आये है कि, काश्यप ने बीस कफ-नानात्मज रोगो में आम की गणना की है । कफाधिक्य से अग्नित्रय की मन्दता और उसके कारण आम (अन्नरस का अपक्व होना तथा रस-धातु का अपूर्ण पाक) होता है । कफाधिक्य और आम में इस प्रकार जन्य-जनकभाव सम्बन्ध होने से दोनों के लक्षण समान ही होते है , यह स्मरण रखना चाहिए ।

शार्ङ्गधरोक्त श्लेष्म-नानात्मज विकार—

आनूप (जल की अधिकतावाला—नम—देश) आदि देशो के भेद से रोगों में भेद होता है । तात्पर्य, देशभेद से कही वाताधिक रोग अधिक होते हैं, कहीं पित्ताधिक, कही कफाधिक । देशभेद से रोगभेद होने में देशवासियों के आहार-विहार, प्रकृति आदि की भिन्नता भी कारणभूत है । परिणामतया, प्रत्येक देश के कविराजो की दृष्टि में प्रधान (आविष्कृततम) रोग भिन्न होना स्वाभाविक है । शार्ङ्गधर ने भी तीनो दोषो के नानात्मज रोग इसी सख्या में लिखे हैं, तथापि उनके स्वरूप मे कुछ भिन्नता है । उसके दिए रोग व्यवसायोपयुक्त होने से ज्ञातव्य है । अत उनका भी उल्लेख नीचे किया जाता है—

१. तंद्रा , २ अतिनिद्रा , ३. गौरव , ४ मुखमाधुर्य, ५ मुखलेप ; ६ प्रसेक (लालास्राव, सेलीवेशन),

७. श्वेतावलोकन—दृष्टि-नेत्रश्वेत होना , नेत्रपक्ष्मो-पलको की श्लेष्म-कला श्वेत होना ,

८ पुरीप की श्वेतता, ९ मूत्र की श्वेतता—स्वाभाविक पीतता न्यून होना , १०. त्वचा का वर्ण श्वेत होना ;

११ शीतता—शरीर का ऊष्मा सम से न्यून होना , शरीर का स्पर्श शीत होना । अगला विकार—उष्ण पर प्रीति—इसीके कारण होता है ; अथवा शैत्य का अर्थ अग्निमान्द्य भी होता है ;

१२ उष्ण (स्पर्श तथा गुणकर्म की दृष्टि से उष्ण) अन्नपान एवं देशादि की इच्छा ;

१—आविष्कृत तम का अर्थ देते चक्रपाणि ने प्रकरण के आरम्भ मे (च सू २०।९-११ पर) कहा है कि प्रायोभावी होने से जो प्रधानभूत रोग है, उन्हीं का यहाँ उल्लेख है । शेष अनुक्त रोगो का ग्रहण इन्ही से कर लेना चाहिए । उस काल तक जिनका आविष्कार (दर्शन) हुआ वे रोग यहाँ वर्णित है, ऐसा अर्थ सहिताकारो की शैली को देखते यहाँ प्रतीत नही होता ।

१३. तिक्त द्रव्यों पर प्रीति ;

१४. मलों विशेषतः पुरीष का प्रमाण अधिक होना ;

१५ शुक्र का आधिक्य (परिणामतया, रतिसुख की इच्छा, स्वयं तृप्त होने तथा स्त्री को तृप्त करने का सामर्थ्य, गर्भ की स्थिरता, संतान की अधिकता तथा स्त्री को संतोष देने की शक्ति के कारण गृह में सुख) ;

१६. बहुमूत्रता ; १७ आलस्य ;

१८ मन्दबुद्धिता (कही या लिखी वस्तु को समझने की मन्दता––देर से समझ में आना ; परन्तु वस्तु एक बार समझ मे आ गयी कि कफ के स्थिर गुण के कारण वह विस्मृत न होना), १९ तृप्ति, २० कफ के मन्दगुण के कारण वर्णोच्चार मे घबरता,

२१. अचैतन्य (?)––बुद्धि तथा इन्द्रियो के अधिष्ठान मे रस-रक्त स्वल्प प्रमाण में तथा स्वल्पवेग से जाने से तर्पक कफ का पोषण सम्यक् न होना। उसके परिणामस्वरूप में किंवा तर्पक कफ का प्रकोप हो जाने से बुद्धि के अधिष्ठानो के उससे पीडित होने से तम––आँख के आगे अन्धेरा छाना, मोह––(कॉमा), मूर्च्छा आदि की प्रवृत्ति।

कफज विकारो पर एक दृष्टि––

प्रथम अध्याय में दी गयी टिप्पणी 'दोषो की मलरूपता' में कहा जा चुका है कि दोषो को जो मल कहा जाता है, उसका हेतु यह है कि अन्नरस की पुष्टि के लिए सेवित अन्नपान का तथा विभिन्न धातुओ की पुष्टि के लिए प्राप्त होनेवाले रसधातु का उपयोग पूर्णतया हो चुकने के पश्चात् जो अनुपयोगी, निःसार अथवा किट्टांश शेष रहता है उससे वातादि दोषो की पुष्टि होती है। अन्य मलो की पुष्टि भी इसी प्रकार अपने-अपने धातु का पोषण संपूर्ण हो चुकने के अनन्तर रस-धातु के शेषांश से होती है। यह शेषांश अन्नरस या तत्-तत् धातु के लिए अनुपयुक्त हो चुका होने से उनके लिए त्याज्य किंवा मल-रूप ही होता है। इस मलरूप शेषांश से वातादि तथा स्वेदादि की पुष्टि होने से इन्हे भी मल संज्ञा दी गयी है।

अन्नपान का समयोग हो, पुरुष स्वस्थवृत्तोक्त नियमो के अनुसार अन्नपान का सेवन करता हो तथा अन्य चर्या का पालन करता हो, उसके सर्व दोष, अग्नि एवं स्रोत अविकृत हो, (दोषो के पक्ष मे अविकृति का अर्थ अपने शास्त्रोक्त सर्व गुणो से सम्पन्न होना एवं स्रोतो के पक्ष में अविकृति का अर्थ उनका आन्तर विवर सम होना यह है) ऐसी स्थिति में दोषो तथा अन्य मलो की उत्पत्ति उतने ही प्रमाण मे होती है जितने से वे अपने-अपने प्राकृत शास्त्रोक्त कर्मो का संपादन यथावत् कर सके।

सर्व कारणो में समयोगयुक्त आहार की महिमा सर्वोपरि है। कारण, आहार इस प्रकार का हो तो सर्व दोषो, धातुओ, उपधातुओ, मलो तथा उनसे बने यकृदादि अवयवो, त्रिविध अग्नियो, स्रोतो, कलाओ तथा आशयो को अपनी-अपनी पुष्टि और तर्पण के लिए अपेक्षित सामग्री उपलब्ध होती है। अतएव अत्रिपुत्र ने कहा है—

हिताहारोपयोग एक एव पुरुषवृद्धिकरो भवति ; अहिताहारोपयोग. पुनर्व्याधिनिमित्त इति ॥ च० सू० २५।३१

हिताहारोपयोगः इतने पद से ही वक्तव्य पूर्ण होने पर भी आचार्य ने 'एकः' और उस पर भी भार देने के लिए 'एव' शब्द का प्रयोग किया है। यह इस बात का सूचक है कि हिताहारोपयोग का स्वास्थ्य से सम्बन्ध आचार्य की दृष्टि में कितना है।

अग्नियो के साम्य में भी अन्नपान की कारणता दर्शाते आचार्य ने उपदेश किया है—

हिताभिर्जुहुयान्नित्यमन्तरग्निं समाहित. ॥ च० सू० २७।३४५

तन्मना होकर अन्तरग्नि में हित अन्नपान की नित्य आहुति देते रहना चाहिए। विधिविहित तथा समयोगयुक्त आहार पर ही अन्तरग्नि (पाचकाग्नि) अवलम्बित है—तदिन्धना ह्यन्तरग्नेः स्थितिः—च सू २७।३[1]

आहार के समयोग की एक विशिष्टता है। पुरुष की प्रकृति, देश, ऋतु आदि के अनुसार अन्नपान ऐसा होना चाहिए कि प्रकृति आदि भाव (पदार्थ) जिस दोष को कुपित या क्षीण करनेवाले हो उसके विरोधी रस, गुण, वीर्य तथा विपाक का इतना प्रमाण अन्नपान में रहना चाहिए कि प्रकृति आदि के कारण जिस दोष के क्षय या प्रकोप की सभावना हो, शरीर में जाकर उसका सामना (सशमन) योग्य ही प्रमाण में करे—न उसका ह्रास या क्षय होने दे, न वृद्धि या प्रकोप।

दोषो के वृद्धि-क्षयरूप वैषम्य के विषय मे अधिक कहने के पूर्व तन्त्रकारो की एक परिपाटी का उल्लेख कर देना आवश्यक है। सिद्धान्त के रूप में प्राचीन तन्त्रकारो ने दोषो के क्षय को भी रोगो का कारण कहा है, परन्तु सविस्तर विवेचन तो उन्होने उनकी वृद्धि और प्रकोप का ही किया है। इसका कारण प्रायः यह बताया जाता है कि दोष-विशेष का क्षय होने पर परिणाम रूप में उसके विरोधी दोष का प्रकोप ही होता है। अत चिकित्सा में प्रकुपित दोष-विशेष

१—इस विषय के अन्य प्रमाणो के लिए देखिए—आयुर्वेदीय क्रियाशारीर।

के शमन को ही लक्ष्य मे रखा जाता है। इस चिकित्सा से क्षीण दोष की वृद्धि स्वयमेव हो जाती है। यथा, स्निग्ध गुण का क्षय हुआ हो एवं उसके विरोधी रूक्ष गुण का प्रकोप हो तो स्वभावतः रूक्षगुण-विपरीत स्निग्धगुणवान् द्रव्यो का सेवन सात्म्य (हितावह) होता है। इससे क्षीण हुए स्निग्धगुण का साम्य स्वय हो जाता है। सो, दोष-विशेष के किंवा उसके अमुक गुण-कर्म के क्षय के निदान-चिकित्सा के विषय में यह विचार कथंचित् सत्य हो तो भी, वाग्भट ने तो स्पष्ट शब्दो मे कहा है कि--दोष का क्षय वृद्धि की अपेक्षया भी अधिक हानिकर है ; वे बुद्धिहीन पुरुष है जो दोषो के क्षय पर लक्ष्य नहीं देते। इस विषय का पुनः और अधिक विचार दोषो के क्षय के अधिकार में किया जाएगा। अतः प्रासगिक इतना विवेचन कर पुन. प्रकरण पर आता हूँ।

दोष-विशेष के प्रकोप से रोग या विकार होता है, केवल इतना जानना पर्याप्त नहीं। परन्तु, जैसा कि पहले कह आए हैं, यह भी जानना चाहिए कि जिस दोष-प्रकोपक निदान (अहिताहार-विहार) का सेवन किया गया है वह किस दोष के किस गुण तथा कर्म का प्रकोप करनेवाला था--उसके सेवन से प्रकुपित हुए किस दोष के किस या किन गुणो तथा कर्मो का कितने प्रमाण मे प्रकोप हुआ है? पूर्वनिर्दिष्ट भी इस अशाश-विकल्प का पुनरुल्लेख कफ-नानात्मज रोगो को समझाने के लिए किया है। सो, अंशांशकल्पना के प्रकाश मे इन रोगो पर चिकित्सोपयोगी होने से एक दृष्टिपात कर ले।

कफ के कर्मो को लक्ष्य में रखते हुए प्राचीनो ने उसके अधोलिखित गुण निश्चित किए है ; गुरु, शीत, मृदु, स्निग्ध, मधुर, लवण[1] स्थिर (सार), पिच्छिल, श्वेत, श्लक्ष्ण (मसृण), सान्द्र (घन), स्तिमित (अशीघ्र), विज्जल (सश्लिष्टता), स्वच्छ, द्रव[2]।

गुरुशीतमृदुस्निग्ध मधुरस्थिरपिच्छिलाः।
श्लेष्मणः प्रशमं यान्ति विपरीतगुणैर्गुणाः॥[3]

च० सू० १।६१

१—प्रकृतिस्थ कफ मधुर तथा प्रदुष्ट हुआ लवणरस होता है, ऐसा डल्हन ने व्याख्या मे कहा है।

२—श्लेष्मा के द्रवगुण का निर्देश तन्त्रकारो ने इतर गुणो के साथ नही किया है। परन्तु कई स्थलो पर अन्य प्रकरणो मे इसका द्रव गुण बताया गया है। यथा--च नि ४।६ तथा उसकी चक्रपाणि टीका ; , च चि ३।४५ तथा च चि ३।२८३ पर चक्रपाणि टीका।

३—सु सू २१।१५ तथा च वि ८।९६ भी देखिए।

प्रकोपक निदान के अनुसार जिस गुण और तदाश्रित कर्मो का आधिक्य देखने में आवे, उसके विरोधी गुणो का यथावत् (सप्रमाण) सेवन करने से प्रकुपित गुण समावस्था में आता है और उसके प्रकोप से हुआ रोग भी शान्त होता है। किस गुण का विरोधी गुण कौन है इसकी प्रतीति के लिए तन्त्रकारो ने गुण-प्रकरण में प्रत्येक गुण का निर्देश उसके विरोधी गुण के साथ द्वन्द्व के रूप में ही किया है; यथा—गुरु के साथ लघु का, शीत के साथ उष्ण का इत्यादि। प्रकुपित गुण का साम्य होने से उसके द्वारा उत्पादित रोग भी शान्त होता है। कुछ उदाहरणो से इसे समझ लें।

मधुर रस वाले एव मधुर-विपाकी द्रव्यो का अतियोग होने से कफ-प्रकोप होगा तो कफ-प्रकोप होने पर शरीर में मधुर रस का ही प्राधान्य पाया जाएगा। पुरुष के रस-रक्त (शरीर) मे माधुर्य होगा, जिसकी परीक्षा कृमि-कीटो के बैठने से या प्रयोगशाला में परीक्षा से (ब्लड-शुगर, या ग्लायकोमिश्रा के नाम से) हो सकेगी। मुख के रस में भी माधुर्य पाया जाएगा; मुख या नासास्रोत से प्रवृत्त होनेवाले कफ में घनत्व उतना न होगा। मधुरता का स्थान सश्रयमूत्र-यन्त्र (वस्ति?)में हो तो मूत्र में माधुर्य पाया जाएगा। इस सप्राप्ति के अनुसार हुए मधुर प्रमेह के दो भेद चरक ने किए हैं—शीतमेह और इक्षुमेह। कफज प्रमेहो की गणना साध्य प्रमेहो मे की गयी है। तदन्तर्गत ये दो प्रमेह भी साध्य हैं।

मधुर प्रमेह के जितने रोगी देखे जाते है उनमे अधिक संख्या उल्लिखित कफज-प्रमेहाक्रान्त पुरुषो की ही होती है। प्रमेहो की चिकित्सा में कठिन परिश्रम एवं भोजन में यव-सदृश रूक्ष भोजन को आयुर्वेद में प्राधान्य दिया गया है। मधुरादि गुणविशिष्ट निदान-भूत कफवर्धक आहार का परिवर्जन, रूक्ष अन्नपान का सेवन (विशेषतया यव-भोजन), श्रम द्वारा कफ का परिपचन एवं औषधो में भी मधुर गुण के सर्वोपरि विपरीत तिक्त द्रव्यो का[1] उपयोग इस

१—मामज्जक (कडवी नाई), निम्बपत्र, शिलाजतु, करेले के पत्र या वीज रहित फल, विषतिन्दुक (कुचला), कडवी विम्वी, अहिफेन आदि तिक्त द्रव्यो का मधुर प्रमेह मे प्रभूत और सफल उपयोग होता है। इनमे भी विषतिन्दुक का स्थान अग्र्य है। कारण यह तिक्त होने से तो मधुर रस का प्रशमन करता ही है, अति उत्तम दीपन, पाचन होने से तथा शारीर चेष्टाओ (मासपेशी-जन्य श्रम) का उद्दीपक होने से धातुओ मे पचन की क्रिया को वढाता है। परिणामतया, मधुर गुण का परिपाक हो जाने से वह मूत्रमार्ग से प्रवृत्त नही होता। नव्य मत से कहना हो तो, धातुपाक (मेटावॉलिज्म) की क्रिया उद्दीप्त होने से→

बात का सूचक है कि प्राचीनो ने इस बात का प्रत्यक्ष (ऑब्जर्वेशन) किया था कि मधुर प्रमेहो में साध्य कोटि के कफज प्रमेह ही अधिक होते हैं; वातज और असाध्य माने गए मधुमेह (चरक का क्षौद्रमेह) से पीडित रोगियो की सख्या उतनी नही होती। नव्यमत से भी श्रमाभाव तथा अतिसतर्पण के कारण अनुपयुक्त होने से मूत्रमार्ग से प्रवृत्त होनेवाले मधुर द्रव्य के ही रोगी सविशेष देखे जाते है। इस स्थिति को 'डायबिटीज मेलीटस' नही कहा जाता है। इसे 'रीनल ग्लायकोस्यूरिआ' आदि नाम दिए गए है। वास्तविक डायबिटीज मे अग्न्याशय (पेन्क्रियास) में असाध्य स्वरूप की विकृति हो जाती है, जिसका किंचित् परिचय गत अध्याय में कराया जा चुका है। यथार्थ डायबिटीज मे रस-रक्त में मधुरता की वृद्धि (ब्लड शुगर) होती है, जिसका परिज्ञान प्रयोगशाला में परीक्षा से होता है। प्राय. मधुरप्रमेही रोगियो की यह परीक्षा नही की जाती।

मधुर द्रव्यो (मधुर रस वाली शर्कराओ एव मधुर विपाकवाले गोधूमादि धान्यो) का अतियोग होने से जैसे मलरूप मे मूत्रमार्ग से प्रवृत्ति होनेवाले कफ में मधुरता का प्राधान्य होता है, वैसे स्निग्धगुण (स्नेह द्रव्यो) का अतिमात्र सेवन करने से मूत्रमार्ग से उसकी प्रवृत्ति होती है। इसमें मूत्र की धारा का कुछ अश दुग्ध के समान श्वेत होता है। इसे कफज प्रमेहो मे शुक्रमेह या पिष्टमेह (पिष्ट—आटा, उसके द्रव के समान श्वेत) नाम दिया गया है। इसमे स्निग्ध द्रव्य की प्रवृत्ति होती है। अग्रेजी मे इसे लाइप्यूरिया कहा जाता है। स्नेह (फैट) की प्रवृत्ति एक वातज प्रमेह मे भी होती है। इसमे वात का प्रकोप होने से रसायनियाँ भंगुर और विदीर्ण हो जाती है। इसमे मूत्र की धारा आदि से अन्त तक संपूर्ण ही दुग्ध के समान श्वेत होती है। आयुर्वेद मे इसे वसामेह तथा अग्रेजी मे काइलयूरिया कहा जाता है। उभय मतो से यह विकृति असाध्य है।

अतियुक्त (जिनका अतियोग हुआ है ऐसे) कफ-प्रकोपक द्रव्यो में यदि कदाचित् गुरु-गुण का अति प्रमाण हो तो प्रमेह का स्वरूप भिन्न होता है। शरीर के उपयोग मे आया न होने से यह द्रव्य मूत्र मे निकलता है। इस मूत्र को कुछ काल पात्र मे रहने दें तो यह गुरु द्रव्य अपनी गुरुताजन्य अधोगमनशीलता के कारण नीचे बैठ जाता है। इस प्रमेह में कभी मूत्र सारा ही आविल

←तथा चेष्टा के आधिक्यवश मधुर द्रव्य (ग्लायकोजन, अपर ओज) का ओपजन के साथ मिलकर दहन (ऑक्सिडेशन) हो जाने से वह मूत्रमार्ग से प्रवृत्त होने के लिए शेष नही रह जाता।

(मलिन, गदला, गाढा, सान्द्र) होता है। इसे आयुर्वेद में सान्द्रमेह कहा जाता है। कभी-कभी सान्द्रता इतनी होती है कि आइसक्रीम ही समझ लें। आविलता (मलाश) किंचित् न्यून हो तो गुरु द्रव्य नीचे बैठ जाता है और ऊपर स्वच्छ द्रव रह जाता है। सधान द्रव्यो को थोडी देर पड़ा रहने दें तो उनका जैसा स्वरूप होता है उसके साम्य से---अर्थात् ऊपर स्वच्छ (प्रसाद-सदृश) भाग तथा नीचे सान्द्रभाग रहने से इस प्रमेह को सान्द्रप्रसादमेह या सुरामेह कहा जाता है। यह गुरु द्रव्य शरीर के उपयोग में आता तो शरीर के रक्त, मांसादि धातुओ की पुष्टि करता---उन्हें अपने स्वभाव के कारण पुष्ट कर गौरव प्रदान करता। अग्रेजी में दोनो रोगो को आल्व्यूमिनयूरिआ कहते है। डाक्टरी मत मे इसमें वृक्को के मूत्रोत्सर्जक स्रोत विकृत होने से रस-रक्तगत आल्व्यूमिन उनमें से क्षरित हो जाता है---वैसे ही जैसे बडे छिद्रोवाली चलनी में से स्थूल द्रव्य भी नीचे आ जाता है। यह विकृति (नेफ्राइटिस) जीर्ण हो जाए तो नव्य मत मे असाध्य होती है। आयुर्वेद में सान्द्रमेह तथा सान्द्र-प्रसादमेह नाम से वर्णित आल्व्युमिन-यूरिआ साध्य कोटि में रखा गया है। आयुर्वेद मत मे कफप्रकोप तथा उसमें भी सविशेष कुपित गुरु-गुण एव नवीन प्रत्यक्षानुसार दोष के स्थान-सश्रय के आश्रय भूत अवयव वृक्क-इन दो वस्तुओ को दृष्टि में रखते हुए इस विकार की सप्राप्ति (उत्पत्ति) यो समझी जा सकती है कि प्रकुपित हुए गुरु-गुण के अधोगमनरूप स्वभाव का ही यह परिणाम होता है कि गुरुद्रव्य वृक्क के मूत्रोत्सर्जक स्रोतो को पीडनवश विद्ध कर उनके पार पहुँच जाता है और इस प्रकार मूत्र का अश बनता है। एक उपमा से इस बात को यो समझ सकते हैं कि यह कुर्ता जिसे मैं पहने हूँ, कोई दस सेर भार सहन कर सकता है। इस पर चालीस सेर भार रखकर उठाया जाय तो यह चर्र बोल जाएगा---भाराधिक्यवश उसमें छिद्र होकर भारी (गुरु) द्रव्य नीचे आ पडेगा। गुरु द्रव्यो की अधोगमनशीलता के कारण वृक्क के मूत्रोत्सर्जक स्रोतो की यही वैकारिक स्थिति होती है। सो, चिकित्सा का प्रथम लक्ष्य कफकारी द्रव्यो का परिवर्जन तथा विपरीत-गुण द्रव्यो का सेवन होना चाहिए। साथ ही कफ को समावस्था में लानेवाले अन्य दीपन पाचनादि उपचार भी होने चाहिए।

शरीर-धातुपोषक गुण एक अन्य प्रकार से भी मूत्रमार्ग से प्रवृत्त होता है। नव्य मत से धात्वशभूत वयोवृद्ध प्रोटीनो का यत्किंचित् पचन होकर उसका मल-भूत यूरिआ सदैव अमुक प्रमाण में मूत्रमार्ग से प्रवृत्त होता रहता है। कभी धात्वंश का पचन अति प्रमाण मे हो (यथा अनशनकाल में) तो उसका परिणाम-भूत यूरीआ अधिक मात्रा मे मूत्रमार्ग से प्रवृत्त हुआ करता है। मूत्र में दौर्गन्ध्य विशेष हो तो इस स्थिति का अनुमान किया जा सकता है।

कदाचित् गुरुगुण का अतिमात्र सेवन हुआ हो और प्रकुपित कफ का स्थान-सश्रय प्राणवह स्रोतो मे हो तो मुख और नासास्रोत से जो कफ प्रवृत्त होता है वह अधिक सान्द्र (घन, गाढ, मूर्त) होता है। इसे कफष्ठीवन नाम दिया गया है। इस कफ में भी नवीन प्रत्यक्षानुसार म्युसीन नामक प्रोटीन प्रधान द्रव्य होता है। धात्वग्नियो का साम्य आदि अनुकूल परिस्थिति होती तो यह द्रव्य रसधातु के अश के रूप में शरीर धातुओ के आशयो में जा एव उनके उपयोग से आकर उनका पोषण-तर्पणादि प्राकृत कर्म करता। इस विवरण से यह भी बात प्रसगवश समझी जा सकती है कि आयुर्वेद मे धारण-पोषण-तर्पणादि कर्म रस धातु के भी कहे है तथा कफ के भी। प्रश्न हो सकता है कि इन समान कर्मो को करनेवाले दो द्रव्य न मानकर एक ही द्रव्य की कल्पना प्राचीनो ने क्यो न की ? इसका उत्तर यह है कि हम जिसे कफ कहते है वह रस धातु का अशभूत रहकर धारण-पोषणादि कर्म करता है। धात्वग्नि दुर्बल हो, पुरुष श्रम न्यून करता हो, उसके स्रोत यथावत् विवृत (चौडे) न हो अथवा अन्य परिस्थितियाँ जिनका उल्लेख प्राचीनो ने कफ के प्रकोप के कारणो के रूप मे किया है, वे विद्यमान हो तो कफ अधिक प्रमाण मे बनता है तथा आमाशय, उदरधरा कला, फुप्फुसधरा, हृदयधरा,[1] श्लेष्मधरा आदि के आशयो मे सचित होता है, या तत्-तत् बहिर्मुख स्रोत (बहिर्द्वार) से बाहर निकलता है। सामान्यतया जब कफ की पोषक आहारादि सामग्री का समयोग हो तो यह कफ उतने ही प्रमाण मे बनता है जितना श्लेषण, क्लेदन आदि के लिए आवश्यक होता है। सम या विषम उभय अवस्थाओ मे उत्पन्न यह कफ शरीर धातुओ का पोषण विशेष नही करता। किंतु, जैसा कि ऊपर कहा, इसके धातुपोषणादि कर्म तभी व्यक्त होते है, जब यह रस-धातु का अश होकर रहता है। रस और कफ को पृथक् द्रव्य मानने के लिए इनके अन्य कर्मो की पृथकता भी कारणभूत है ही। यथा—रस सर्व शरीर मे अनुधावन कर उसका पोषणादि करता है, कफ का समवायि कारण (उपादान) है, इत्यादि।

सम्भव है, कदाचित् कफवर्धक अतियोगयुक्त द्रव्य ऐसे हो, जिनमे पिच्छिल गुण अधिक रहा हो। ऐसे द्रव्यो के अतियोग का परिणाम यह होता है कि शरीर के द्रव धातुओ में पैच्छिल्य (तन्तुमत्ता, फाइब्रिनोजिनेशन) का स्वभाव

१—वस्तुत उदरधरा, फुप्फुसधरा तथा हृदयधरा कला श्लेष्मधरा कला के ही भेद है। इन मे जो द्रव रहता है वह इन अवयवो की चेष्टा के समय होने वाले घर्षण से रक्षा करता हे। श्लेष्मधरा कला का यह लक्षण इन पर भी घटित होने से इन्हे भी श्लेष्मधरा ही कहना सगत है।

अधिक हो जाता है। ऐसे कफ-प्रकोप से आक्रान्त रुग्णो में योनिमार्ग आदि से जो रक्त प्रवृत्त होता है, उसमें स्कन्दन का स्वभाव होने से वह निकलते ही जम जाता है। ऐसे रक्त को 'मांसपेशीप्रभ' यह उपमा दी गयी है। इन पुरुषों को विसर्प या अग्निदग्ध व्रण हो तो जो स्फोट (ब्लाने. वेसाइकल्स) बनते है वे फूट जाएँ या भूल से फोड डाले जाएं तो जो द्रव प्रवृत्त होता है वह व्रणित स्थान से अनायास वह नही जाता, जैसा कि सामान्यतया स्फोटो में देखा जाता है, किन्तु निर्गत लसीका (सीरम) गुरु और पिच्छिल गुणो के कारण जमकर भारी, चकत्ते जैसी और स्थिर होती है। अगुली या सदंश यन्त्र (चिमटी) आदि से हिलाने से ही स्थानभ्रष्ट होती है। स्कन्दन का कारण द्रव्य भी नव्यमत से फाइब्रिन नामक प्रोटीन ही है। यह भी अनुकूल परिस्थिति होती तो रस-धातु के अंश-रूप में रह कर शरीर धातुओ के पोषणादि प्राकृत कर्म करने में प्रयुक्त होती।

कफ के प्रमुख गुणो मे एक मन्द है। यद्यपि आहारौषध भी इसके प्रकोपक है, परन्तु भल्लातक आदि तीक्ष्ण (शरीर के द्रव द्रव्यो का वेग बढानेवाले) द्रव्यों का जैसा प्रभाव देखा जाता है, वैसा मन्द गुणवीर्ययुक्त द्रव्यो का नहीं देखा जाता। मन्द गुण का प्रकोप विशेषतया आनूप (जलप्राय, डैम्प क्लाइमेट वाले) देशो में जल, स्थल तथा वायु के प्रभाव मे होता है। इसके कारण शरीर के समस्त स्रोतो में द्रव द्रव्यो की गति मन्द (स्लगिश) होकर अग्निमान्द्य, गौरव, आलस्य आदि तत्तत् परिणाम होते है।

इस प्रकार कतिपय उदाहरण देकर हमने यह समझाने का प्रयास किया है कि आयुर्वेद में जिन रोगो को कफज कहा जाता है उनमें कफ के सब गुणो का समान प्रकोप नही होता। निदान के अनुसार अमुक-अमुक गुण का विशेषतया प्रकोप (वृद्धि) होता है। सो, चिकित्सा में भी उसी गुण के विपरीत गुण का यथावत् सेवन कराने पर लक्ष्य देना चाहिए। इस प्रकार विचार किए विना जिस-किसी कफकारक द्रव्य का सेवन छुडा दिया जाएगा तो कफ के प्रकोप पर यत्किञ्चित् शामक प्रभाव पडेगा इसमें सशय नही, पर सभव है जिस गुण का ह्रास करना अभीप्सित नही है, उसका भी ह्रास होकर शरीर को उसके क्षय के परिणामो का भोग होना पडे।

इन पृष्ठो में किए विवरण से एक और बात समझी जा सकती है। आयुर्वेद में जिसे कफ नाम दिया गया है, वह द्रव्य नवीन प्रत्यक्षानुसार अनेक प्रकार का है। धारण-पोषणादि कर्म, विकार, प्रकोपादि कारण, चिकित्सा इत्यादि के साम्य से इन सर्व द्रव्यो को कफ इस एक श्रेणी में आयुर्वेद में समाविष्ट किया गया है।

एक और बात प्रकरण की समाप्ति के पूर्व समझ लेनी चाहिए। कफ नाम से लोक में सामान्यतया मुख या नाक से निकलनेवाला पिच्छिल द्रव्य-विशेष ही

गृहीत होता है। इस लोक-व्यवहार से आयुर्वेद को समझने में उपयोगी एक तत्त्व ग्रहण किया जा सकता है। और वह यह कि कफ का प्रकोप शरीर के किसी भी भाग मे किसी भी रूप मे हुआ हो, प्राणवह स्रोतो मे कफ के प्रकोप को देखकर उसका अनुमान किया जा सकता हे। कारण, प्रकुपित हुए कफ, वात, पित्त तीनो दोषो का स्थान-सश्रय अवयव-विशेष में होने से निजनाम-प्रसिद्ध तत्-तत् रोग होते है, यह सत्य है; तथापि सर्व अवस्थाओ में सर्व दोष सारे शरीर और समस्त स्रोतो में सचरण के स्वभाववाले होने से उनका प्रभाव शेष अवयवो और स्रोतो पर भी पडता ही है। परिणामतया, प्रकुपित दोष का स्थानसश्रय जिनमें नही हुआ है, ऐसे अवयवो, आशयो और स्रोतो में भी उनके प्रकोप के लक्षण यत्किचित् भी प्रमाण में लक्षित होते ही है। इस सिद्धान्त के अनुसार कफ ने चाहे जिस अवयव में स्थानसश्रय कर रोग-विशेष उत्पन्न किया हो, उसके प्रकोप का परिज्ञान प्राणवह स्रोतो में प्रकुपित और मुख या नासिका से प्रवृत्त कफ को दृष्टि में रख कर किया ही जा सकता हे। प्रकोप के समान शरीर के किसी भी अवयव में कफ का क्षय और साम्य भी इस कफ के प्रमाण को लक्ष्यमें रखकर सरलता से जाना जा सकता है। वृद्ध वैद्य कफ की परीक्षा इस कफ को दृष्टिगत रख कर ही करते है। सो, यह कफ सकेत है—सिगनल है, शरीर में कफ के साम्य, क्षय या वृद्धि को जानने का। सो, कफज रोगो मे कफ का स्थान और स्वरूप पृथक्-पृथक् शास्त्र में निर्दिष्ट होने पर भी आयुर्वेद की परम्परा विच्छिन्न हो जाने से लोक में कफ नाम केवल वलगम के लिए प्रचलित रह गया और आयुर्वेद के त्रिदोष-सिद्धान्त के उपहास्य का हेतु वन गया।

किंवहुना, कफ के अशाश-विकल्प आदि को चित्त मे रख कर जैसी स्पष्टता ऊपर की गयी है, उसी पद्धति से पित्त और वात के विषय मे भी विशदता जान लेनी चाहिए। अन्त में यह भी समझ लेना चाहिए कि पित्त और वात ये सज्ञाएँ भी समान गुण-कर्म-चिकित्सा आदिवाले अनेक-अनेक द्रव्यो के वर्गो की है, तथापि लोक में यकृत् से स्रुत होनेवाले हरित-पीत द्रव्य-विशेष के लिए तथा प्राय. अधोमार्ग से प्रवृत्त होनेवाले द्रव्यविशेष के लिए इन सज्ञाओ का (पित्त और वात इन शब्दो का) क्रमश. प्रयोग रूढ रह गया है। उसका हेतु यही है कि पित्तवर्गीय द्रव्यो के साम्यादि के ज्ञान के लिए यह याकृत पित्त एव वातवर्गीय द्रव्यो की त्रिविध अवस्थाओ को समझने के लिए अधोद्वार से प्रवृत्त यह वायु सकेत-रूप है। उपसहार के रूप में दिए वात-पित्त-कफ के स्वरूप के द्योतक इस सूत्र को विद्यार्थी सदा स्मरण रखें तो रोगो के निदान और चिकित्सा को आगम-काल (अध्ययन-काल) तथा व्यवसाय-काल दोनो कालो में यथावत् समझने का मार्ग उनके लिए परिष्कृत हो जाएगा।

कफ-नानात्मज रोगो तथा उनके सम्बन्ध में उपयोगी समझे गए इतने विवरण के पश्चात् अब चालीस पित्तनानात्मज रोगो का उल्लेख क्रम-प्राप्त होने से किया जाता है।

पित्त-नानात्मज रोग

पित्त-विकारो के सामान्य लक्षण——

सर्वेष्वपि खल्वेतेषु पित्तविकारेषूक्तेष्वन्येषु चानुक्तेषु पित्तस्येदमात्मरूपमपरिणामि कर्मणश्च स्वलक्षणं, यदुपलभ्य तदवयवं वा विमुक्तसंदेहाः पित्तविकारमेवाध्यवस्यन्ति कुशलाः। तद्यथा——औष्ण्यं तैक्ष्ण्यं द्रवत्वमनतिस्नेहो वर्णश्च शुक्लारुणवर्जो गन्धश्च विस्रो रसौ च कटुकाम्लौ सरत्वं च पित्तस्यात्मरूपाणि। एवंविधत्वाच्च पित्तस्य कर्मण' स्वलक्षणमिदमस्य भवति तं तं शरीरावयवमाविशतः। तद्यथा——दाहौष्ण्यपाकस्वेदक्लेदकोथकण्डूस्रावरागा, यथास्वं च गन्धवर्णरसाभिनिर्वर्तनं च पित्तस्य कर्माणि। तैरन्वितं पित्तविकारमेवाध्यवस्येत्॥ च० सू० २०।१५[1]

पित्त-नानात्मज रोगो का निर्देश अनुपद (तत्काल पीछे) किया जायगा। परन्तु पित्त-नानात्मज रोग इतने ही नही है। निर्दिष्ट रोग तो अल्पबुद्धि विद्यार्थियो के मार्गदर्शनार्थ प्रदत्त उदाहरण मात्र है। यत्सत्यं, पित्तविकार असख्य हैं। तथापि, पित्त के स्वाभाविक स्वरूप और वैकारिक कर्म के परिचायक अमुक नियत लक्षण हैं। ये लक्षण न्यून, अधिक किंवा सम्पूर्ण सख्या में एकाङ्ग अथवा सर्वाङ्ग मे उपलब्ध हो तो नि सशय पित्त-विकार का निदान करना चाहिए। जिन रोगो का यहाँ किंवा शास्त्र में अन्यत्र उल्लेख न किया गया हो उनका भी परिज्ञान इन लक्षणो (इन गुण-कर्मो) को दृष्टि में रखकर इसी परिपाटी से करना चाहिए। ससृष्ट (द्वन्द्वज) या सन्निपतित (त्रिदोषज) रोगो में भी पित्त के प्रकोप का निर्णय इन्ही लक्षणो को देखकर करना चाहिए।

पित्त के स्वरूप-द्योतक लक्षण (गुण) अधोलिखित हैं——१ उष्णता। २ तीक्ष्णता (दाह और पाक का स्वभाव, किंवा आशु-कारिता[2]) ३ द्रवत्व

१——अ स सू २०, अ हृ सू १२।५१-५२ तथा तथा काश्यप-सहिता सू २७।३४-४६ मे भी ये लक्षण तथा नानात्मज रोगो का उल्लेख देखिए।

२——तीक्ष्ण गुण के दोनो ही अर्थ तन्त्रकारो ने किये है। उसे दाहपाककर भी कहा है, और मन्द का विरोधी भी। दोनो ही धर्म पित्त मे प्राकृत होने से दोनो का यहाँ ग्रहण किया है। काश्यप ने तैक्ष्ण्य गुण ही दिया है।

(पित्त में द्रव के आकर्षण का स्वभाव---ऑस्मोटिक प्रेशर---विशेप होने से उसमें इस गुण का अनुमान किय । गया है ; यथा, महास्रोत में याकृत पित्त अधिक होने से[1] मल में द्रव का आधिक्य और उसका प्रमाणातिशय होता हे , इसी कारण व्रण, मुख, त्वचा आदि में भी तत्तत् रूपमे द्रव-द्रव्य का आधिक्य होता है) ; ४ ईपत् (किंचित्) स्निग्धता ; ५. कफ-प्रकोप के सूचकशुक्लवर्ण तथा वात-प्रकोप के सूचक अरुणवर्ण से भिन्न पीत-हरितादि वर्णान्तर ; ६ विस्र (आम, कच्ची मछलियो जैसी , गुजराती में खोरी) गन्ध, (पित्त-प्रधान पुरुषो के केश, त्वचा, पहने हुए या पोछने के वस्त्र आदि में इसका प्रत्यक्ष किया जा सकता है) ; ७ कटु (तिक्त) तथा अम्ल रस, ८ सरत्व (मलो, विशेषतया पुरीप का अनुलोमन---अपने वहिर्मुख की ओर समभाव से गति , इसका कारण पित्त का द्रव गुण होता हे) । पित्त में ये स्वाभाविक गुण होने से उसका प्रकोप होने पर आगे कहे दृष्टान्त-भूत, अथवा इनसे भिन्न शास्त्र में अनुपदिष्ट, किंवा अन्य दोषो से संयुक्त कोई भी पैत्तिक विकार होगा तो उसमें पित्त के आगे कहे कर्म, जो कि उल्लिखित गुणो का प्रकोप होने के ही परिणाम-भूत है, अवश्य पाए जाएँगे ।---

१. दाह---एकाङ्ग, सर्वाङ्ग, हृत्कण्ठ आदि अन्तरवयवों या त्वचा आदि वहिरवयवो में जलन-सी होना , (अंग्रेजी में कॉजेल्जा या थर्मेल्जा) ;

२ उष्णता---सर्वाङ्ग, अर्धाङ्ग या एकाङ्ग में उष्णता सम (नॉर्मल) से अधिक होना;

३. पाक---अन्नपान का जठराग्नि द्वारा तथा रस धातु का धात्वग्नियो द्वारा अतिशय पाक होना ; परिणामतया रस-क्षय होने से धातुओ की क्षीणता आदि विकार होना , नव्य मत से जठराग्नि के प्रकोप का साम्य लवणाम्ल के प्रकोप---हायपरक्लोरहाइड्रिया से तथा धात्वग्नियो के प्रकोप का साम्य विशेपतया हायपर थायरॉयडिज्म तथा इन्सुलीन के मात्राधिक्य से देखा जा सकता है। प्रथम विकार के लक्षण प्राचीनोक्त रस-क्षय के लक्षणो---हृत्कम्प आदि-

---

१---पित्ताधिक्यवश मल मे द्रवत्व और उसके कारण प्रमाण का आधिक्य होता हे। प्रवृत्ति भी सुख से, समयपर और अहोरात्र मे अनेक वार होती है। अत· रोगी और कभी चिकित्सक भी समझता है कि, मलशुद्धि सम्यक् हो रही हे। परन्तु इतर लक्षण देखकर विरेचन की उपयुक्तता का निर्णय करना चाहिए। विशेपतया, यहाँ इस वात को लक्ष्य मे रखना चाहिए कि पित्तप्रकोप मे तो विरेचन को ही सर्वोपरि उपचार माना गया है। अत सर्व प्रकार से विरेचन विधेय होता है।

से सविशेष मिलते है। प्राचीनो ने तो अत्यग्नि (जाठराग्नि का प्रकोप) के लक्षणो मे धातु-क्षय की भी गणना की है। उनके मत से वह सत्य है। कारण, आयुर्वेद मे धात्वग्नियो का बल जठराग्नि के आश्रित होने से जठराग्नि का प्रकोप होने पर धात्वग्नियो का भी प्रकोप होना बुद्धिगम्य है। नव्य मत से परीक्षा करनी चाहिए कि हायपरक्लोरहाइड्रिया के साथ थायरॉक्सिन, इन्सुलीन आदि का प्रकोप--हायपरसिक्रीशन--होता है, या नही ? पाक का अन्य अर्थ नवीनो का इन्फ्लेमेशन तथा व्रण आदि मे स्थित धात्वश का पूय-रूप में परिणमन है।

४ स्वेद--पित्त के द्रव गुण के कारण शरीर मे क्लेद का आधिक्य होने से उसके विशोधन के हेतु मलक्षेपणकर्मा वायु की क्रिया से स्वेद में भी वृद्धि हो जाती है--अग्रेजी में हायपरहाइड्रोसिस ;

५. क्लेद--रस, रक्त, मल, मूत्र, त्वचा, मुख आदि मे तत्-तत् द्रव्य के रूप मे द्रवत्व की अधिकता होना। स्मरण रहे, क्लेद और स्नेह इन दो गुणो में परस्पर भिन्नता है। क्लेद द्रवत्व के कारण और स्नेह मुख्यतया कफ के कारण होता है। यथा, मुख में द्रवत्व लालास्राव के कारण तथा स्निग्धता बोधक कफ (म्युकस) के कारण होती है। त्वचा मे क्लेद (आर्द्रता--भीनापन) स्वेद के कारण तथा स्निग्धता मज्जा के स्नेह के कारण होती है। नवीनो ने भी त्वचा मे स्निग्धता का कारण स्वेद से भिन्न, सिबेशस ग्लेण्ड्स से स्रुत होनेवाला स्निग्ध-द्रव्य-विशेष (सीबम) को बताया है। प्राचीनो ने इसका सम्बन्ध मज्जा धातु के साथ माना है,

६ कोथ--सडना, गलना ; पक्वाशय मे पुरीष तथा मूत्र एव व्रणो में धात्वश आदि में पूतिभाव--प्युट्रफेक्शन--होना ;

७. कण्डू (खुजली, इच)[1] ;

८. स्राव--व्रण, मुख, मल, त्वचा आदि से लसीका-प्रभृति तत्-तत् द्रव-द्रव्य का अति स्राव ;

१--कामला (जॉण्डिस, इक्टरस) मे आधुनिको ने कण्डू (त्वचा मे खुजली) एक लक्षण बताया है, तथा इसका कारण पित्त (बाइल) बताया है। प्राचीनों ने कामला के लक्षणो मे इसका उल्लेख नही किया है। यो भी यह कामला का कोई नियत (इनवेरीएबल) लक्षण नही है। कण्डू लक्षण कफ-प्रकोप मे होता है, यह प्रसिद्ध है। पर यहाँ तथा काश्यप सहिता मे दिए पित्त के कर्मो मे कण्डू की भी गणना है। कामला मे अनिर्दिष्ट तथापि कई रोगियो मे प्रत्यक्ष इस लक्षण का ग्रहण इस प्रकरण से हो सकता है। कण्डू का प्रमाण जितना अधिक होगा, कफ का प्रकोप उतना ही अधिक समझना चाहिए, कारण यह कफ का मुख्य लक्षण है।

९. राग—उल्लिखित गौर तथा अरुण से भिन्न विविध वर्णान्तर एकाङ्ग या सर्वाङ्ग मे एवं मल, मूत्र, लसीका, योनि आदि मार्गो से प्रवृत्त रक्त इत्यादि में दृष्टिगत होना ;

१०. मुख आदि मे तिक्त[1] या अम्ल रस का स्वाद ;

११. आम (विस्र) गन्ध—पित्त के पूति गुण (कोथ या सडॉद के स्वभाव) के कारण यह लक्षण होता है ; पर्याय—दौर्गन्ध्य या वैगन्ध्य ;

१२. शरीर-शैथिल्य—अङ्गसाद ; अग्रेजी में लेसीट्यूड ;

१३. मूर्च्छा—आँखो के आगे अँधेरा छाना (तम)--इस स्थिति से ले कर मोह (कॉमा) एवं यथार्थ मूर्च्छा की अवस्था पर्यन्त कोई भी अवस्था होना ;

१४. मद—नशा-सा प्रतीत होना ; पित्त के तीक्ष्ण—मन्द-विरोधी—गुण के कारण बुद्धि के अधिष्ठानो मे जानेवाले रस-रक्तवह स्रोतो मे वाह्य द्रव्य का वेग तथा प्रमाण अधिक हो जाने से यह स्थिति होती है ; नवीनो का हायपर-टेन्शन या हाई ब्लडप्रेशर ;

१५. कोठ—शीतपित्त-सदृश मण्डल[2] ।

पित्तनानात्मज रोग[3]—

पित्त का प्रकोप होने पर यो तो उल्लिखित लक्षणो और कर्मोवाले असख्य रोग हो सकते है तथापि इनमे जो चालीस रोग चिकित्सा-व्यवसाय मे सविशेष देखे जाते है, व्यवसायोपयुक्त होने से उनका उल्लेख किया जाता है ।

१. ओप—सर्वाङ्ग मे स्वेद और अरतियुक्त तीव्र दाह ;

२. प्लोप—अग्नि के असह्य ताप के समीप बैठे हो ऐसी व्यथा ;

३. दाह—प्रादेशिक (एकाङ्गगत, लोकल) जलन ;

४. दवथु—चक्षु आदि इन्द्रियो से तीव्र ऊष्मा की प्रवृत्ति का भास । पर्याय–ऊष्मायण ;

५. धूमक, धूमायन या धूमोद्गार—शिर, ग्रीवा, नासिका, कण्ठ और तालु से धूम (गरम धुँए) की प्रवृत्ति की प्रतीति ;

६. अम्लक—अम्लोद्गार । अन्नपान के अम्लपाक (विदग्धाजीर्ण) के

१—कटु का अर्थ पित्त-प्रकोप के प्रसग मे तिक्त किया जाता है । यथा देखिए—अ हृ सू १२।५१-५२ पर अरुणदत्त—कटुक तिक्तको रस, 'कषाय तिक्तमधुर वातादिषु मुख क्रमात्' इति वचनात् ।

२—काश्यप ने लाघव की भी गणना इस प्रकरण मे की है ।

३—देखिए—च सू २०।१४, शा० पू०७।११६-१२१, अ स सू २०, काश्यपसहिता—सू २७।३४-३७ ।

कारण हुए उत्क्लेशवश, अर्थात् मलक्षेपणकर्मा वायु विदग्ध अन्न को निकटवर्ती मार्ग मुख से बाहर निकालने का प्रयत्न करता है, उसके कारण, विदग्ध —अजीर्ण-वश सेन्द्रिय अम्लो (ऑर्गनिक एसिड्स) के रूप में परिणत—अन्न के अम्ल उद्गार,

७. विदाह—हाथ, पैर, अंसमूल (कांधा) आदि में विविध दाह। विदाह का अर्थ अम्लपाक भी होता है, वह भी पित्त नानात्मज विकार है, परन्तु उसका ग्रहण अम्लोद्गार तथा अन्तर्दाह में हो जाता है,

८. अन्तर्दाह—कुक्षि, हृदय तथा कण्ठ में शूल-सहित दाह। पर्याय—कोष्ठदाह, हृत्कण्ठ-कुक्षिदाह, अंग्रेजी में हार्ट-बर्न, पायरोसिस; वॉटर ब्रैश[1],

९. अंसदाह—कन्धों में दाह,

१०. ऊष्माधिक्य—शरीर के ऊष्मा में वृद्धि;

११. अतिस्वेद—स्वेद पित्त (भ्राजक पित्त) का स्थान है। प्राचीनो ने भ्राजक पित्त का कर्म शरीर के ऊष्मा का नियन्त्रण करना कहा है। पित्त के अनेक स्थानो मे एक स्वेद है। स्वेद और भ्राजक पित्त दोनो त्वगाश्रित होने से स्वेद भ्राजक पित्त का ही स्थान होना चाहिए इसमें विवाद नहीं हो सकता। नव्य मत की सहायता से कह सकते है कि यह त्वगाश्रित भ्राजक पित्त अपने ऊष्मा से स्वेद का वाष्पीकरण करके शरीरोष्मा का नियमन करता है। अति-स्वेद (हाईपरहाइड्रोसिस) का एक स्मरणीय परिणाम यह होता है कि जिस हस्तपादतल आदि एकाङ्ग या सर्वाङ्ग में अतिस्वेद होता है, वह स्थान अतिशीत हो जाता है। सर्वाङ्गशैत्य के कारण गम्भीर परिणाम होते हैं,

---

१—ओष आदि का यहाँ दिया अर्थ अष्टाङ्गसंग्रह में दिए इनके अधोलिखित लक्षणो के आधार पर है—

हृदादौ शूलवद्दाहो ओऽन्तर्दाह स कीर्तित ।
पाणिपादांसमूलेषु संतापो विविधस्तु य. ॥
स विदाह इति प्रोक्तो,दाह प्रादेशिकस्तु य ।
अग्न्यर्चिषेव नि स्वेद स प्लोष परिकीर्तित ॥
ओष सर्वाङ्गिकस्तीव्रो दाह· स्वेदारतिप्रद ।
दवथुश्चक्षुरादिभ्यस्तीव्र ऊष्मा प्रवर्तते ॥
मुखौष्ठतालुषु दवश्चाम्लोद्गिरणमम्लक ।
धूमायन शिरोघ्राणकण्ठतालुषु धूमक ॥ अ स सू २०

इसी प्रकरण मे सग्रहकार ने कफरोग-विशेष स्तैमित्य का अर्थ प्रमीलक (तन्द्रा आदि के कारण आँख मिची-सी रहना) बताया है—प्रमीलकस्तु स्तैमित्यम्।

१२. अङ्गगन्ध—त्वचा, मुख, मल, मूत्र, प्रस्वेद, अँगोछा, वस्त्र आदि में दौर्गन्ध्य। दुर्गन्धयुक्त मूत्र का अर्थ यह है कि प्रवृत्ति के पश्चात् लगभग तत्काल ही मूत्र मे कोथ (प्युट्रिफेक्शन) हो दुर्गन्ध छूटने लगती है ;

१३. अङ्गावदरण—गुद, ओष्ठ, जिह्वा आदि में चीर (चीरे, फिशर) पडना। सग्रहकार ने इस क्रम पर अङ्गावयव-सदन यह पाठान्तर दिया है। इसका अर्थ है—सर्वाङ्ग किवा एकाङ्ग का साद (शैथिल्य , चेष्टा की अप्रवृत्ति ; लेसीट्यूड) ;

१४ शोणितक्लेद—रक्त में द्रवाश का आधिक्य। यह स्थिति पाण्डु रोग में रक्त धातु (रक्तकण) का क्षय होने से, विशेषतया उपद्रव रूप मे साथ ही शोथ होने से होती है। लोक व्यवहार में इसे 'लहू का पानी हो जाना' कहते हैं ; सग्रहकार ने शोणितस्य कृष्णतावदौर्गन्ध्यतनुत्वानि क्लेदः इस व्याख्या द्वारा तनुत्व नाम से रक्त में द्रवत्व के साथ कृष्णता और दौर्गन्ध्य का भी क्लेद शब्द से ग्रहण किया है , तनुत्व=पतलापन ;

१५. मासक्लेद—मास धातु में द्रवाश का अधिक होना ; परिणामतया शरीर का वल और पुष्टि-रूप मास धातु के कर्मो का ह्रास होने से शरीर-दौर्वल्य , पेशिया शिथिल और पोची हो जाना। सग्रहकार ने क्लेद का अर्थ मास मे कृष्णता तथा दौर्गन्ध्य किया है ;

१६. त्वग्दाह—यहाँ मासदाह पाठान्तर है ,

१७. त्वगवदरण—त्वचा मे चीर पडना ;

१८. चर्मदलन (पर्याय—चर्मावदरण)—त्वचा के छिलके उतरना (एक्सफोलिएटिव डर्मेटाइटिस) ; अथवा चर्मदल नामक रोग, जिसमे हस्त-पादतल में कण्डू, पीडा, ओष तथा चोष होते हैं—स्युर्येन कण्ड्व्यथनौषचोषास्तलेषु तच्चर्मदलं वदन्ति—सु० नि० ५।१०। चक्रपाणि ने त्वगवदरण तथा चर्मदलन का अर्थ दोनो रोगो से भेद दर्शाते हुए यह वताया है कि केवल वाह्य त्वचा का फटना त्वगवदरण तथा छहो त्वचाओ का फटना चर्मदलन कहाता है ,

१९. रक्तकोठ—त्वचा पर शीतपित्त के समान आकार के परन्तु अधिक रक्तवर्ण मण्डल उत्पन्न होना ;

२०. रक्तविस्फोट—त्वचा या श्लेष्मकला पर रक्तवर्ण या रक्तपूर्ण छाले (वेसाइकल्स, ब्लिस्टर्स) पडना ;

२१. रक्तपित्त—अश्मरी आदि स्थूल कारणो के विना केवल पित्त की तीक्ष्णता से रक्त दुष्ट होने से मुख, नासा, नेत्रपक्ष्म (पलक), गुद, योनि, त्वचा

आदि किसी मार्ग से रक्त की प्रवृत्ति होना[1]। यहा उस रक्तपित्त रोग का ग्रहण है जिसमें इतर दोषो का सपर्क न हो ;

२२. रक्तमण्डल—त्वचा या श्लेष्मकला पर रक्तवर्ण दाग (चकत्ते) पडना ;

२३ हरितत्वम्—त्वचा या श्लेष्मकला की हरितता। यह हलीमक रोग में होती है ,

२४. हारिद्रत्व—त्वचा या श्लेष्मकला हरिद्रावर्ण होना। यह कामला आदि रोगो में याकृत-पित्त-गत रजक द्रव्य के आधिक्य से होता है। नेत्र, मूत्र तथा पुरीष की हरित-हारिद्रवर्णता का आगे उल्लेख पृथक् किया है ,

२५. नीलिका—त्वचा या श्लेष्मकला पर नीलवर्ण (श्यामवर्ण) मण्डल या दाग (काले धब्बे) होना ,

२६. कक्षा (कक्ष्या)—कक्षा (बगल) में होनेवाले मासधातु तक पहुँचे स्फोट (कचनारी , गुजराती में कॉखबिलाडी)। आधुनिक प्रत्यक्षानुसार इसमें रस-ग्रन्थियो का शोथ और पाक होता है ,

२७. कामला—रक्त का क्षय हो कर पित्त की अति पुष्टि होने से (पाण्डु रोग के अनुबन्ध रूप में) अथवा कफ-कृत मार्गावरोध के कारण पित्त का सचय-प्रकोप होकर यह होती है ;

२८ तिक्तास्यता—मुख का रस (स्वाद) कडुआ होना। यह याकृत पित्त के कारण होता है ,

२९ लोहितगन्धास्यता—मुख में रक्त का स्वाद प्रतीत होना। शार्ङ्गधर ने लोहगन्धास्यता विकार लिखा है। उसका अर्थ मुख में धातु का गन्ध (रस) प्रतीत होना, जिसे अग्रेजी में 'मेटलिक टेस्ट' कहते है। स्मरण रहे, लोह शब्द का अर्थ लोहा प्रसिद्ध है, परन्तु आयुर्वेद तथा इतर प्राचीन वाङमय में इसका अर्थ धातुमात्र है। लोहे के लिए अयस् शब्द है ;

३०. पूतिमुखता—मुखदौर्गन्ध्य तथा श्वास में दुर्गन्ध आना ,

३१. तृष्णाधिक्य—अतितृषा (पॉलीडिप्सिआ या एक्सेसिव थर्स्ट) :;

१—गुजराती मे रक्तपित्त शब्द महाकुष्ठ (लेप्रसी) के लिए प्रचलित है। वह शास्त्रीय नही, पर शास्त्रशुद्ध है। कारण, कुष्ठो मे तीन दोष तथा त्वचा, रक्त, मास और लसीका (सीरम) ये सात दोष-दूष्य होते हुए भी दोषो मे पित्त का तथा दूष्यो मे रक्त का प्राधान्य होता है। पित्त का भी दुर्गन्ध (पूति) गुण विशेष प्रकुपित होता है, जिससे शरीर मे कोथ होकर तत्तत् विकार होते है। नव्य मत से ऐसा शरीर रोग-बीजो के लिए विशेष गम्य (ससेप्टिबल) होता है।

३२. अतृप्ति—अति क्षुधा. अत्यग्नि, भस्मक, (बुलीमिया, एक्सेसिव मॉर्बिड हगर) ; बार-बार और प्रभूत अन्नपान का सेवन करने पर भी तृप्ति या संतोष न होना ;

३३. आस्यविपाक—मुखपाक (स्टॉमेटाइटिस, स्टॉमा=मुख) ;

३४. मलपाक—(फेरिंजाइटिस) ;

३५. अक्षिपाक—(कंजक्टिवाइटिस—आँख आना)। अक्षिपाक का एक प्रकार शुष्काक्षिपाक (जेरोफ्थेल्मिया) है। वह अपनी शुष्कता आदि लक्षणों के कारण वात-प्रधान है। नवीन मत से विटामीन 'ए' का हीनयोग उसमें होता है ;

३६. गुदपाक—बच्चों में इस विकार को अहिपूतन कहते हैं। (प्रॉक्टाइटिस ; प्रॉक्टा=अधरगुद, एनस) ;

३७. मेढ्पाक—शिश्न का शोथ ; (पेनाइटिस) ;

३८. जीवादान—गुद, शिश्न, योनि आदि मार्गों से शुद्ध रक्त का निर्गमन। रक्तपित्त में पित्त-दूषित रक्त की प्रवृत्ति होती है तथा जीवादान में शुद्ध रक्त जिसे जीवशोणित कहते हैं, उसकी प्रवृत्ति होती है, यह दोनों में भेद है ;

३९. तमःप्रवेश—तम ; आँखों के आगे अन्धकार छाना ; तिमिर। गुजराती में तिमिर का ही अपभ्रंश तम्मर शब्द तम प्रवेश के लिए प्रसिद्ध है। नेत्ररोग-विशेष की वाचक तिमिर संज्ञा से यह भिन्न है ,

४०. हरितहारिद्र-नेत्र-मूत्र-वर्चस्त्व—नेत्र (आँख की श्लेष्मकला, मूत्र तथा पुरीष हरित या हरिद्रावर्ण होना। हरितवर्ण याकृत पित्त के कोथ के कारण होता है ; हारिद्रवर्ण याकृत पित्त के रंजक-द्रव्य विशेष से होता है। नेत्रादि की हारिद्रवर्णता कामला में तथा हरितता हलीमक रोग में होती है। पैत्तिक प्रमेहों में भी ये विकार लक्षित होते हैं। बच्चों में पुरीष की हरित-हारिद्रवर्णता (हरे-पीले दस्त, जो अजीर्ण-वश होते हैं) सुविदित है।

इति चत्वारिंशत् पित्तविकाराः पित्तविकाराणामपरिसंख्येयानामाविष्कृततमा व्याख्याताः ॥ च० सू० २०।१४

इस प्रकार अपरिसंख्येय भी पित्त-विकारों में केवल चालीस सुप्रसिद्ध पित्त-नानात्मज रोगों का उल्लेख अल्पबुद्धि विद्यार्थियों के मार्गदर्शनार्थ किया गया है। अन्य पित्त-विकारों का विचार इसी परिपाटी से किया जा सकता है।

काश्यपसंहिता में चालीस पित्तविकारों में वमन, ज्वर तथा अङ्गशीरण (अङ्ग झड जाना) विशेष लिखे हैं। वमन से वान्त द्रव्य पीतवर्ण, तिक्ताम्लरस हो तो वमन पित्तकृत समझनी चाहिए। वान्त द्रव्य पिच्छिल (तन्तुमान्) हो

तो इसे कफज वमन समझना चाहिए। मिथ्या (शुष्क) वमन जिसमे वमन के लिए किए जानेवाले प्रयत्न का शब्द उच्च हो परन्तु प्रवृत्ति किसी द्रव्य की न हो तो उसे वातिक वमन (वात की प्रतिलोमगति से हुई वमन) मानना चाहिए;

ज्वर—ऊष्मा पित्ताद् ऋते नास्ति ज्वरो नास्त्यूष्मणा विना—अ० हृ० चि० १।१६—सामान्य या अधिक ऊष्मा पित्त के विना हो नहीं सकता और ऊष्मा के विना ज्वर नही हो सकता, अत ज्वर का कारण पित्त ही है। शेष लक्षणो में प्रधान दोष-विशेष को लक्ष्य में रखकर ज्वर का दोषानुसार भेद किया जाता है। ज्वर में पित्त के इस प्राधान्य को लक्ष्य में रखकर ही ससृष्ट या सनिपतित ज्वरो में पित्त का उपचार प्रथम करने का (देखिए—सु० उ० ३९। २९४, सु०उ०४०।१६१) एव तरुण ज्वरों मे तिक्त रस के सेवन का दोष-पाचनवर्ग में विधान है। (देखिए च० चि० ३।१४२)

अङ्गशीरण—यह प्रसिद्ध है, कुष्ठादि रोगो में होता है।

शार्ङ्गधरोक्त पित्त-नानात्मज रोग—

शार्ङ्गधर ने भी चालीस ही पित्तनानात्मज रोग दिए है। परन्तु वे लोक में अधिक देखे जानेवाले, अतएव ज्ञातव्य होने से नीचे दिए जाते है—

१. धूमोद्गार (दुर्गन्धयुक्त ऊर्ध्ववात, ऑफेन्सिव इरक्टेशन, बेल्चिंग ऑफ फाउल-स्मेलिंग गैस);

२ विदाह, ३ उष्णाङ्गता—शरीर किवा योनि, गुद आदि स्रोतो का स्पर्श उष्ण होना; ४. मतिभ्रम—चित्त विक्षिप्त होना; निश्चय न कर पाना, ५. कान्तिनाश—प्रभाशून्यता; ६. कण्ठशोष-गला सूखना। ७—मुखशोष,

८. अल्पशुक्रता—परिणाम में रति की इच्छा, शक्ति, सतान आदि की अल्पता; ९. तिक्तस्यता—मुख का रस कडुआ होना, १० अम्लवक्रता—मुख का रस अम्ल होना; ११. अतिस्वेद;

१२. अङ्गपाक—मुख, गुद, शिश्न, अपत्यपथ—योनि, नेत्र आदि का पाक, १३. क्लम—आयास विना श्रम; एग्जॉशन, १४. त्वचा आदि की हरितता, १५ अतृप्ति; १६. त्वचा आदि की पीतता,

१७. रक्तपित्त—अपत्यपथ, गुद, नासिकाइ त्यादि मार्गो से रक्तस्राव;

१८. अङ्गों मे चीर पडना—यह स्थिति वात से भी होती है; यहाँ पित्तवश पड़नेवाले चीरो का ग्रहण है, १९. मुख मे लोह (धातु) का रस होना; (मेटलिक टेस्ट); २०. शरीर आदि मे दौर्गन्ध्य; २१. मूत्र की पीतता;

२२. अरति--पित्त-प्रकोपवश धातुओ का क्षय, रस-रक्त में उष्णत्व आदि के कारण हुई ग्लानि या बेचैनी। बहुत बार यह पूर्व-सेवित अन्न-पान अत्यग्नि-वश जीर्ण होने के अनन्तर आमाशय रिक्त होने पर होती है और यत्किंचित् खा लेने पर शान्त हो जाती है। अरति की व्यथा लेकर आए रोगी को प्रश्न कर यह स्थिति जान लेनी चाहिए जिससे निदान शुद्ध होकर चिकित्सा का मार्ग स्वच्छ हो जाए;

२३. पुरीष की पीतता, २४. वस्तुएँ पीतवर्ण दीखना, २५. नेत्रों की (नेत्रो की श्लेष्मकला की) पीतता; २६ दन्तों की पीतता;

२७ शीत आहार, देश (स्थान), शयन, आसन आदि की इच्छा, २८. नखो की पीतता;

२९. तेजोद्वेष--प्रकाश तथा चमकीली वस्तुएँ न देख सकना, फोटोफोबिया, ३०. अल्पनिद्रता; ३१ कोप--चिडचिडापन तथा क्रोधाधिक्य, ३२. अङ्गसाद;

३३. मल भिन्न (फटा हुआ, खण्डश. प्रवृत्त होनेवाला या शिथिल--द्रवाधिक) होना;

३४. अन्धता--नेत्रो की दर्शन-शक्ति के विकार; ३५. उच्छ्वास की उष्णता; ३६-३७. मूत्र तथा मल की उष्णता; ३८. तमोदर्शन--तम, तिमिर, ३९--आँखों के आगे पीतवर्ण मण्डल (धब्बे) दिखाई देना; अथवा त्वचापर पीतवर्ण-मण्डल दीख पडना; ४०. निःसहत्व-सहिष्णुता--क्षमाशीलता--न्यून होना।

पित्तविकारो पर एक दृष्टि

आधुनिक प्रत्यक्ष की सहायता से उल्लिखित पैत्तिक विकारो का विचार करें तो विदित होगा कि अधिकाश रोगो मे याकृत पित्त (बाइल) या तो पित्त-प्रकोपक शास्त्रोक्त कारणो से प्रकुपित होता है--अधिक प्रमाण में बनता है; किंवा यकृत् के पित्तवह स्रोतो (बाइल केपीलरीज से आरम्भ कर पित्तप्रसेक के ग्रहणी में खुलनेवाले मुख-पर्यन्त) का अवकाश मुख्यतया कफ से अवरुद्ध हो जाने से उसकी अनुलोम गति--ग्रहणी में निर्गमन--समीचीन नही होती। इस द्वितीय अवस्था मे अवरुद्ध हुए पित्त की प्रतिलोम गति होकर अन्त को वह रस-रक्त के प्रवाह में संमिश्रित हो शरीर के विभिन्न अवयवो में जाकर तत्-तत् लक्षण उत्पन्न करता है। यह प्रतिलोम-गमन एव रस-रक्त में समिश्रण तथा स्थान-सश्रय कभी याकृतपित्त के रञ्जकवर्णो (बाइल पिगमेण्ट्स) का होता है, कभी उसके अगभूत लवणो (सॉल्ट्स) का; कभी उसका स्वरूपतः अर्थात् स्वय याकृत पित्त

का इस प्रकार प्रसर होता है। उसके अपने वर्ण के कारण नख, दन्त, मल,मूत्र त्वचा, स्वेद, लाला, नेत्र, शुक्र, बहि प्रवृत्त रक्त---इनका वर्ण पीत हो जाता है। अथवा याकृत पित्त का पाक पूर्ण न होने से वह स्वय हरित-वर्ण होता है तथा नखादि को भी हरित-वर्ण कर देता है। रस-रक्त में ये द्रव्य अधिक होने से लाला-स्राव में भी प्रकृत्या इनका प्रमाण अधिक होता है। इनका रस तिक्त होने से लालारस भी तिक्तरस होता है, परिणामतया पित्त-प्रकोप में मुख का रस तिक्त होना एक लक्षण है।

यह याकृत पित्त महास्रोत में अपकर्षणी गति को उद्दीप्त करता है, जिससे तद्गत अन्न और मल का प्रवाह द्रुत (वेगवान्) हो जाता है। परिणाम में, पक्वाशय की पुरीषधरा कला में उनके द्रवांश का शोषण उतने प्रमाण में नही हो पाता, जिससे पुरीष में द्रव का आधिक्य होता है। पुरीष की द्रवाधिक्यवश हुई शिथिलता पैत्तिक विकारो मे एक है।

श्रम का कारण धातुओ में तक्राम्ल (लेक्टिक एसिड) की कर्मवश उत्पत्ति और सचय है। पित्त-विकारो मे क्लम (श्रम किए विना श्रम-थकावट) एक लक्षण है। नव्य मत से पित्त की व्याख्या करनी हो और इसे अनेक द्रव्यो का एक वर्ग मानना हो तो पित्तवर्गीय द्रव्यो में इस तक्राम्ल की भी गणना करनी चाहिए।

अम्लोद्गार, अन्तर्दाह आदि लक्षण विदग्धाजीर्ण, अम्ल पित्त तथा अत्यग्नि रोगो मे होते है। विदग्धाजीर्ण (एसिड डिस्पेप्सिआ) मे पाचक-पित्त विशेष लवणाम्ल (हायड्रोक्लोरिक एसिड) का क्षय (हायपोक्लोरहाइड्रिया) विशेष-तया कारणभूत होता है। 'विशेषतया' इस लिए कि, विदाह कभी-कभी स्व-रूपत विदाही द्रव्यो के सेवन से होता है। ये विदाही द्रव्य दो प्रकार के होते है। प्रथम, राई, खट्टे अचार आदि पदार्थ, जिनका विदाहजनक स्वभाव मुख, नासिका आदि के सयोगमात्र से प्रतीत हो जाता है। द्वितीय, ऐसे द्रव्य जिनका अजीर्णवश विदाह या अम्लपाक होने से अम्लोद्गार, हृत्कण्ठदाह आदि लक्षण होते है। इन द्वितीय जाति के द्रव्यो से होनेवाले अजीर्ण मे भुक्त अन्नपान के विदाह (अम्लपाक) से पीडित रोगी के उत्क्लिष्ट (आमाशय से संगृहीत) द्रव्य की परीक्षा (गेस्ट्रिक एनेलिसिस) करे तो उसमें अन्नपान का कोथ (प्युट्रिफेक्शन) होने के कारण उत्पन्न हुए सेन्द्रिय अम्ल (तक्राम्ल---लेक्टिक एसिड ; शुक्ताम्ल--एसिटिक एसिड ; नवनीताम्ल---व्यूटिरिक एसिड आदि ऑर्गेनिक एसिड्स) ही अधिकाश रोगियो मे पाए जाते है। इसी से ऐसे रोगियो को जम्बीर (नीबू), तक्र, टमाटर आदि द्रव्य इस भावना से दिए जाएँ कि ये दीपक-पाचक है, तो वे अपने अङ्गभूत सेन्द्रिय अम्लो के कारण विकार में वृद्धि ही करते है। इनमे जम्बीर तथा तक्र तो अम्ल होने से स्वरूपत. विदाही द्रव्यो के उदाहरण है। टमाटर

अम्लविपाकी होने से विदाह तथा, प्रतिश्याय, कास, श्वास, कफज शोथ आदि कफ-प्रधान रोगो मे वर्जनीय है। टमाटर के सम्बन्ध मे इस विषय की प्रतीति के लिए इतना कहना पर्याप्त होगा कि, मधुर से मधुर टमाटर भी राँधे जाने पर अम्ल रस ही हो जाते है। इसी प्रकार इनका आमपच्यमानाशय मे पाक होने पर अम्ल विपाक होने का अनुमान किया जा सकता है। यो भी विपाक की परीक्षा द्रव्य के कर्म को देखकर करने का आयुर्वेद में विधान है। सो, उल्लिखित रोगो मे टमाटर से होनेवाली इस विक्रिया को अर्थात् रोग न हो तो उत्पन्न करना तथा विद्यमान हो तो उसमें वृद्धि करना इस कर्म को स्वय देख कर भी टमाटर का विपाक अम्ल होने का अनुमान सहज ही किया जा सकता है।

आमाशयगत पाचक पित्त-विशेष—लवणाम्ल का क्षय या हायपोक्लोर-हाइड्रिया का उल्लिखित विपरिणाम इस कारण होता है कि, लवणाम्ल रोगजन्तुओ का विनाशक (उत्तम एंटिसेप्टिक) है। यह क्षीण हो तो रोगजन्तुओ को अपनी वृद्धि और रोगजनन का अनुकूल अवसर सुलभ हो जाता है। इन रोगजन्तुओ में सेन्द्रिय अम्लो की उत्पत्ति करनेवाले कोथ-कारक जन्तु भी एक है। सो, इस आनुकूल्य के कारण कोथ-कारक जन्तु कोथ द्वारा सेन्द्रिय अम्ल उत्पन्न करते है। इन सेन्द्रिय अम्लो में एक तक्राम्ल भी होता है। सो, यह पूर्वोक्त क्लम तथा यहाँ कथित अम्लपाक रोग उत्पन्न करता हुआ दो प्रकार से पित्तवर्ग मे गणनीय है। अम्लपाक के अङ्गभूत शेष सेन्द्रिय अम्लो को भी इसी प्रकार पित्तवर्गान्तर्गत समझना चाहिए।

तक्राम्ल पित्तवर्गीय हे तो उसका कुछ प्राकृत कर्म भी होना चाहिए। वस्तुत· नव्य प्रत्यक्षानुसार अन्यत्र नही तो अपत्यपथ में इसका प्राकृत कर्म विदित भी हुआ है। अपत्यपथ या योनि में डॉडरलीन्स बेसिल्लस नामक उपकारी जीवाणु होते है। ये इस मार्ग मे स्वभावत. रही द्राक्षाशर्करा (ग्लायकोजन) को तक्राम्ल में परिणत करते रहते है। यह तक्राम्ल बाह्य जीवाणु, वायरस तथा फूई का नाशक होता है। यह जब तक उचित प्रमाण में बनता रहता है तब तक जीवाणुओ के आक्रमण का प्रभाव अपत्यपथ पर हो ही नही पाता। तक्राम्ल का क्षय होने पर इन जीवाणुओ का आक्रमण सफल हो अपत्यपथ मे पाक होकर पिच्छिल द्रव-विशेष का स्राव होता है। इसे संहिताकारो ने श्लेष्मला योनि तथा नए लेखको ने श्वेत प्रदर (ल्युकोरीआ) नाम दिया है। श्लेष्मला योनि मे चरक ने दो योजनाओ में तक्र की उत्तरवस्ति का विधान किया है। वह उक्त सम्प्राप्ति को देखते नव्य मत से भी अभिनन्दनीय है।

विदग्धाजीर्ण की प्रयोगशाला-परीक्षा से जैसे उसमें अजीर्णवश अन्न के विदाह से उत्पन्न सेन्द्रिय अम्लो की उपस्थिति पायी जाती है वैसे ही आयुर्वेदमत से वैद्य

[illegible] (कॅल्शियम ग्लूकोनेट) [illegible] प्रमाण नहीं है [illegible] जीर्ण हो जाए तो [illegible] हो जाने से [illegible] ही जीर्ण (पुराना, [illegible]) [illegible] भेद हो जाने से [illegible]।

अम्लोद्गार [illegible] [illegible] में [illegible] रोगियों के [illegible] इन सबों पर [illegible] अम्लोद्गार [illegible] के [illegible] में [illegible] अनुसार [illegible] रोगी उपस्थित होने पर [illegible] विदग्धाजीर्ण और [illegible] के विषय में [illegible] रह जाते हैं। [illegible] से भी ऐसे ही कारणों से [illegible] मार्ग-भ्रष्ट हो जाते हैं।

अम्लरस और लवणाम्ल का [illegible] और सामान्य-सी वस्तु के प्रति आसक्ति [illegible]। विदग्धाजीर्ण में [illegible] पाक के प्रकरण में [illegible] है। [illegible] वह आमाशय में समग्र अन्नपान का अम्ल रस के साथ संयोग [illegible] जिससे समूचा अन्नपान उस रस की अम्लता से युक्त हो जाता है। तत्पश्चात्, पच्यमानाशय या ग्रहणी में पहुँचता है तो इस अम्लता के परिणामस्वरूप ही [illegible] पाचक पित्तों का स्राव होता है। नव्य प्रत्यक्षानुसार यह अम्लरस लवणाम्ल या हाइड्रोक्लोरिक एसिड है। इसके संयोग से होनेवाला अम्लपाक समावस्था में हो तो यह एक प्राकृत क्रिया है, जब कि अग्निमन्दता आदि के कारण अजीर्ण-विशेष (विदग्धाजीर्ण) में हुआ अम्लपाक एक रोग है, यह दोनों स्थितियों में भिन्नता है। यह लवणाम्ल भी पित्तवर्गीय एक द्रव्य है। पाचक पित्त को यदि पित्तान्तर्गत द्रव्यों का एक उपवर्ग मानें तो उसमें लवणाम्ल का समावेश करना चाहिए।

आयुर्वेद-मत से जिनकी गणना धात्वग्नियों में करनी चाहिए ऐसे तीन अन्तःस्रावों को पैत्तिक विकारों के प्रकरण में स्मरण किया जा सकता है। ये तीन द्रव्य हैं—इन्सुलीन, थायरॉक्सीन तथा एड्रीनलीन। थायरॉक्सीन चुल्लिका

ग्रन्थि (थायरॉयड) के अन्त स्राव का नाम है। इसके प्रकोप या स्रावाधिक्य को अग्रेजी में हायपरथायरॉडिज्म कहा जाता है। हृद्द्रव (हृत्कम्प, पेल्पिटेशन), पुरुष को खडा कर हाथ दिगन्तसम और हथेली प्रसारित रखने को कहा जाए तो अंगुलियो का कम्पन (जो पुरुष को धूप मे खडा रखा जाए तो उसकी छायामें विशेष स्पष्टतया दृग्गोचर होती है), एव धातुपाक (मेटाबॉलिज्म) की दर बढने के कारण धातुओ का भी पचन (दहन, ऑक्सिडेशन) होकर उनका क्षय, तथा परिणामतया शरीर की कृशता—ये हायपरथायरॉयडिज्म के प्रमुख चिह्न हैं। आयुर्वेद में रसक्षय के चिह्न यही कहे है [1]।

इन्सुलीन का प्रकोप या स्रावाधिक्य सामान्यतया पाया नही जाता। मधुमेहियो की चिकित्सा करते हुए कदाचित् सूची-वस्ति (इंजेक्शन) द्वारा अधिक मात्रा जाने पर ही प्रकोप के लक्षण पाए जाते हैं। ये लक्षण अधोलिखित है— क्षुधा, स्वेद, मानसिक आवेगो पर नियन्त्रण का अभाव (शार्ङ्गधर का नि·सहत्व), सर्वाङ्गसाद और मूर्च्छा। सभव हे, सूचीवस्ति के विना भी प्रकोपक कारणो से इन्सुलीन का स्राव अधिक हो जाता हो, जिससे शरीर में सचित शक्ति (मेद, मास आदि धातुओ में स्थित दहन-योग्यद्रव्य) का ताप तथा चेष्टा के उत्पादन में व्यय हो जाता हो और मनुष्य कृश-शरीर हो जाता हो। पित्त-प्रकृति पुरुषो में पित्त का सर्वदा प्रावल्य होने से उनकी स्वाभाविक कृशता का यह निदान हो सकता है। चुल्लिका ग्रन्थि (थायरॉयड) के अन्त स्राव की अति प्रमाण में सूचीवस्ति से इस प्रकार की कृशता पायी जाती हे। उसका अतिप्रकोप (हाइपरथायरॉयडिज्म) होने से तो कृशता होती ही है, यह ऊपर कहा जा चुका है। पूर्वकथित प्रकार से शक्त्युत्पादक द्रव्य क्षीण (न्यून) हो जाने से नाडीसस्थान को सविशेष क्षति होती हे। उचित प्रमाण में दहनीय द्रव्य न मिलने से वह (नाडीसस्थान) पदे-पदे क्षुभित होता है। अत एव पित्तप्रकोप में तथा पित्त-प्रकृति पुरुषो में शीघ्र कोप तथा क्षोभ (चिडचिडापन, झुझलाहट) विशेष रूप मे पाए जाते हैं। इन विकारो का उल्लेख पित्तनानात्मज विकारो में ऊपर किया ही है।

पित्तप्रकृति पुरुषो तथा पित्तविकारो में क्षोभ का कारण याकृत-पित्त के वर्ण (रञ्जक द्रव्य), लवण अथवा स्वयं याकृत-पित्त की अधिकता भी हो सकता है। अतएव क्षोभ विशेष दृष्टिगोचर हो तो विरेचन से पित्त की शुद्धि होकर मानस शान्त हुआ देखा जाता है।

१—देखिए—च० सू० १७।६४, सु० सू० १५।६, अ हृ सू ११।१७।

एड्रीनलीन का स्राव भय या क्रोध के आवेग होने पर तदनुरूप चेष्टाओं के उत्पादनार्थ विशेष प्रमाण में होता है। शरीर में इसका प्रकोप इतना हो जाय कि उससे रोगोत्पत्ति हो, इस बात का कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं हुआ है।

क्रियाशारीर में हमने कहा है कि पित्त के प्राकृत कर्मों पर दृष्टिपात करें तो शरीर में रासायनिक परिवर्तनों के कारणभूत नवीनों द्वारा प्रत्यक्षीकृत जो भी द्रव्य है, उन्हें निम्न श्रेणियो में विभक्त किया जा सकता है। १—हॉर्मोन्स या अन्त स्राव, २—एन्जाइम-रासायनिक क्रिया के योगवाही द्रव्य, ३—ऐसे द्रव्य जो इनमें किसी श्रेणी मे नही आते, ये दो है, याकृत-पित्त तथा लवणाम्ल। तुलना को पूर्णता तक ले जाना हो तो इनमें किसी भी एक या अनेक द्रव्यों का प्रकोप या प्रमाणाधिक्य आयुर्वेद-मत से पित्तप्रकोप कहा जाएगा। पूर्ण निर्णय के लिए अधिक परिश्रम की तो आवश्यकता है ही, साथ ही यह भी दृष्टि मे रखना योग्य है कि, किसी बात मे नवीन मत हमारा साथ न देता हो तो उस विचार-सरणि को छोड नही देना चाहिए। कारण, सभव है आधुनिक चिकित्साशास्त्र अपनी पद्धति से प्रत्यक्ष करता हुआ भविष्य में उल्लिखित विचारधारा की पोषक नवीन सचाइयो को हमारे सामने उपस्थित कर दे।

नवीन मत से आयुर्वेद का पित्त अनेक द्रव्यो का वर्ग होते हुए भी आयुर्वेद-निर्दिष्ट पित्त-नानात्मज रोगो पर लक्ष्य दें तो एक बात निश्चित प्रतीत होती है कि, प्राय रोगो में याकृत-पित्त, उसके वर्ण (रञ्जक द्रव्य) और लवणो का सचय और प्रसर कारणभूत है। एक अहोरात्र में सौ तोला (दो पाउण्ड) याकृत-पित्त तत्-तत् द्वार से बाहर निकलना चाहिए। किसी भी कारण इसकी प्रवृत्ति इससे अल्प हो तो उक्त विकार होने की सभावना होती है। अतएव अनुमान यह है कि, जिसे हम पित्त का प्रकोप कहते है उसमें भले पित्तजातीय (पित्तवर्गीय) द्रव्यो में किसी एक किंवा अनेक का प्रकोप होता हो तथापि या तो सबका कारण याकृत-पित्त का प्रकोप होता है यद्वा याकृत-पित्त का प्रकोप इन सबका सहचारी होता है। नवीनो का मत है कि, याकृत-पित्त की उत्पत्ति रक्तकणो (आयुर्वेद का रक्त धातु) के विघटन के कारण होती है। सभव है, पित्त के प्रकोपक कारण रक्त के आश्रयभूत यकृत्-प्लीहा में रक्त के विघटन की क्रिया में वृद्धि कर याकृत-पित्त की उत्पत्ति का प्रमाण बढा देते हो। कोई भी स्थिति हो, याकृत-पित्त का शरीर में त्वचा की पीतता आदि के रूप में प्रकोप देखकर शरीर में पित्त के प्रकोप का निदान किया जाता है। इससे इस याकृत-पित्त को शरीर में पित्त या पित्तो की क्षय, वृद्धि और साम्य इन तीनो अवस्थाओ का सूचक चिह्न या सिगनल समझना चाहिये। कम से कम परपरागत वैद्य तो इस पित्त को दृष्टि में रखते हुए ही पित्त के प्रकोप का अनुमान करते है तथा चिकित्सा का

पर्यवसान इसी की समावस्था आने पर होता है। इसी कारण पित्त के अनेक प्रकार होते हुए भी लोक-व्यवहार में एकमात्र याकृत-पित्त के लिए पित्त शब्द का प्रयोग रूढ रह गया।

दोषों के वर्गीकरण का प्रयोजन

पित्त-नानात्मज रोगो का प्रकरण समाप्त करने के पूर्व दोषो के वर्गीकरण-विषयक विचार-सरणि के सम्बन्ध मे एक स्पष्टता कर देना योग्य है। किसी वस्तु को एक मानना किवा उस के अनेक भेद करना भेत्ता के दृष्टिकोण पर अवलम्बित है। फिर भेद करना ही हो तो किस प्रकार भेद करना यह भी भेत्ता के दृष्टिबिन्दु के अनुसार होता है। चरक ने यही कहा है—

भेत्ता ही भेद्यमन्यथा भिनत्ति॥ च० वि० ६।४

भारतवर्ष, भारतवर्ष के रूप में एक है, यह सर्वसम्मत है। भिन्न-भिन्न दृष्टियो से इसके अनेक भेद किए जा सकते है और किए जाते है। राज्यो की दृष्टि से एक भेद , निम्नोन्नत भूमियो-नदियो आदि की दृष्टि से अन्य भेद, खनिजो तथा कृषिजात धान्यो को ध्यान में रखकर तीसरा भेद, भाषाओ को लक्ष्य में रखकर चतुर्थ भेद—इस प्रकार अनेक दृष्टियो से अनेक भेद होते है। दोषो को आयुर्वेद की दृष्टि से एक मानने और नवीन मत से प्रत्येक दोष को एक-एक वर्ग मान कर उनकी व्याख्या करने मे यही दृष्टिभेद लक्ष्य मे रखना चाहिए।

प्राचीनो ने सर्वत्र वात, पित्त, कफ के लिए एकवचन का ही प्रयोग किया है। सुश्रुत ने तो एक स्थल पर वायु और पित्त के लिए कण्ठरव से कहा है कि वे एक ही है[1]। इतना होते हुए भी जब हम दोषो के वर्गीकरण की बात कहते है तो उसका प्रयोजन यह होता है कि यदि नवीनो की परिभाषा में त्रिदोष-सिद्धान्त को समझना हो तो प्रारम्भ में ही यह मानना उचित होगा कि, प्राचीनो ने जिन वात-पित्त तथा कफ को एक-एक द्रव्य माना है वे प्रत्येक आधुनिक-मत से अनेकानेक द्रव्यो के वर्ग है। इस तुलना का अभिप्रेतार्थ मिश्रशिक्षण प्राप्त करनेवाले विद्यार्थियो के चित्त में व्यामोह (कन्फ्यूशन, द्विविधा) उत्पन्न न हो यह है। कई बार देखा गया है कि प्राचीन और अर्वाचीन-मत को इस प्रकार की तुलना द्वारा परस्पर निकट लाया जाय तो शरीर या मन मे होनेवाली अमुकामुक प्राकृत क्रियाओ को किवा उनमें होनेवाले तत्-तत् विकार या रोग को अधिक सम्पूर्णता से समझा

१—देखिए—यथाऽग्निः पञ्चधा भिन्नो नामस्थानक्रियामयैः।
भिन्नोऽनिलस्तथा ह्येको नामस्थानक्रियामयैः॥
—सु० नि० १।११

जा सकता है। बहुत बार प्राकृत या विकृत क्रियाओ (फिनोमिना) को केवल प्राचीन या केवल अर्वाचीन शास्त्र की दिशा से समझना वैसा सुगम नहीं होता। इस प्रकार उभय पद्धतियो से रोग के स्वरूप को समझ लिया जाए तो चिकित्सा भी उभय पद्धतियो से (ससृष्ट पद्धति से) करने से प्राय सम्पूर्णता की प्राप्ति होती है। इस विषय को समझने के लिए हॉकी के खेल का उदाहरण लिया जा सकता है। एक ही फॉरवर्ड अपने क्षेत्र से प्रतिपक्षी के गोल तक गेंद को ले जाना चाहे तो उसे कदापि सिद्धि नही मिल सकती। सब फॉरवर्ड खिलाडी मिलकर आगे बढे तभी लक्ष्यवेध हो सकता है। इतना ही नही, शीघ्र और सरलता से हो सकता है। यही सत्परिणाम उभय मतो से रोग को समझने से हो सकता है। परन्तु इतना अवश्य कहूँगा कि, सर्वत्र प्राथम्य रोग को समझने मे आयुर्वेद की संप्राप्ति को आयुर्वेद की विचार-सरणि को और उपचार मे आयुर्वेद की चिकित्सा-पद्धति को ही देना चाहिए।

पिछले वाक्य से यह भी फलितार्थ समझा जा सकता है कि, दोषो के वर्गीकरण का आशय[1] आयुर्वेद को नव्य-मत से समझना, उसकी सत्यता दर्शाना एव विश्वसनीयता बढाना नही है। आयुर्वेद तो सच पूछो तो अपने मूल वेद-चतुष्टय के समान स्वतःप्रमाण है। आयुर्वेद को आयुर्वेद के वचनों से ही समझने का प्रयास करना चाहिए। और इस दृष्टि से दोषो के विषय मे प्रसक्त सिद्धान्त आयुर्वेदानुसार यही है कि दोष प्रत्येक एक ही है। वैसे ही जैसे गेहूँ छोटा, बडा, लाल, श्वेत, उत्तम-गुण, या अधम-मध्यम-गुण या देश-भेद से इतर भिन्नतावाला होता हुआ भी अन्त को गेहूँ ही है। नवीन सज्ञाओ मे प्रत्येक भले अनेकविध हो तथापि आयुर्वेद-मत से प्रत्येक दोषान्तर्गत प्रत्येक द्रव्य की उत्पत्ति समान ही महाभूतो से होती है, अतएव समान रस-गुण-वीर्य-विपाक और प्रभाववाले द्रव्यो से प्रत्येक भेद की पुष्टि (साम्य) और प्रकोप होता है। विपरीत रस-गुण-वीर्य-विपाक और प्रभाव (कर्म) वाले, आहारौषध द्रव्य, विहार, देश और काल से उनका क्षय होता है। प्रकोप या क्षय होता है तो सबका एक साथ प्रकोप या क्षय होता है, साम्य होता है तो वह भी प्रत्येक दोष के प्रत्येक भेद का एक साथ होता है। प्रत्येक का प्रकोप या क्षय होने पर समान ही लक्षण होते हैं। इनमे प्रकोपजन्य श्लेष्मज तथा पित्तज नानात्मज विकारो का उल्लेख ऊपर कर आए है।

१—स्मरण रहे—दोषो को नव्य मत से समझने की यह दृष्टि आयुर्वेद के नवीन लेखको मे बहुत पूर्व से है। उनके ग्रन्थ प्रकाशित होने के पश्चात् हरिवशपुराण का वह प्रसिद्ध पद्य भी प्रमाणत्वेन उपलब्ध हुआ है, जिसमे दोषो के वर्गरूप होने की बात है—कफवर्गे भवेच्छुक्र पित्त-वर्गं च शोणितम्।

अब प्रसगोपात्त वातनानात्मज रोगो का उल्लेख और अपेक्षित वैशद्य किया जाता है।

वात-नानात्मज रोग

वात-विकारो के सामान्य लक्षण—

सर्वेष्वपि खल्वेतेषु वातविकारेषूक्तेष्वन्येषु चानुक्तेषु वायोरिदमात्मरूपमपरिणामि कर्मणश्च स्वलक्षणं, यदुपलभ्य तदवयवं वा विमुक्तसंदेहा वातविकारमेवाध्यवस्यन्ति कुशला। तद्यथा—रौक्ष्यं शैत्यं लाघवं वैशद्यं गतिरमूर्तत्वमनवस्थितत्वं चेति वायोरात्मरूपाणि। एवंविधत्वाच्च वायो· कर्मणः स्वलक्षणमिदमस्य भवति तं तं शरीरावयवमाविशतः। तद्यथा—स्रंसभ्रंशव्यासङ्गभेदसादहर्षतर्पकम्पवर्तचालतोदव्यथाचेष्टादीनि। तथा खरपरुषविशदसुषिरारुणवर्णकषायविरसमुखत्वशोषशूलसुप्तिसंकोचनस्तम्भनखञ्जतादीनि च वायोः कर्माणि तैरन्वितं वातविकारमेवाध्यवस्येत्॥ च० सू० २०।१२[1]

आगे वात-नानात्मज अस्सी रोगो का निर्देश किया जाएगा। परन्तु इन रोगो को भी कफ-नानातमज या पित्त-नानात्मज रोगो के समान निदर्शन-मात्र मानना चाहिए। वात-नानात्मज रोगो की सख्या हो ही नही सकती। तथापि, वात (वायु) के स्वाभाविक स्वरूप तथा वैकारिक कर्मो के सूचक अमुक नियत चिह्न है। ये चिह्न थोडे, बहुत या सभी, एक देश अथवा समस्त शरीर मे दृष्टिगोचर हो, तो निर्विकल्प वात-विकार का निदान करना चाहिए। जिन रोगो का यहाँ किंवा इस या अन्य संहिता में अन्यत्र उल्लेख न किया गया हो, उनका भी निश्चय इन चिह्नो को दृष्टिगत रख कर ही करना चाहिए। इसी पद्धति से ससृष्ट या सनिपतित रोगो में भी वातज लक्षणो तथा कर्मो का विश्लेषण एव उनके तर-तम भाव का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए।

वात के स्वरूप के द्योतक लक्षण, जिनका परिचय क्रियाशारीर में भी कराया जा चुका है, अधोलिखित है :—

१ रौक्ष्य—त्वचा, केश, मल, जिह्वा आदि की रूक्षता—उनमें स्निग्धविपरीत गुण का दर्शन ;

१—च० चि० २८।२०-२३, अ० स० सू० २०, अ० हृ० सू० १२।४९-५१, तथा काश्यपसहिता सू० २७।१८-२३ भी द्रष्टव्य हैं। इन स्थलो से विकृत वात के कर्मो का यहाँ ग्रहण किया है।

२. शैत्य—त्वचा, मल, मूत्र, शरीरावयव, तथा रस-रक्त का स्पर्श शीत होना एव इनके ऊष्मा की सम से न्यूनता, जिसका माप ताप-मापक से तथा तत्-तत् लक्षण से हो सकता है, एव अग्नि की मन्दता,

३. लाघव—शरीरावयवो तथा समस्त शरीर की कृशता—उनमे भार की न्यूनता, मन में भी हलकापन—क्षुद्रता,

४. विशदता—अवयवो, मल, मूत्र, स्वेद, लाला, कफ, लसीका—सीरम—आदि मे पैच्छिल्य-विपरीत गुण का दर्शन; तन्तुमत्ता न होना, प्रत्युत इनका प्रत्येक अवयव पृथग्भूत होना, परिणामतया रक्तादि शीघ्र न जमना,

५. गति—हाथ-पैर, ग्रीवा, हृदय आदि एकाङ्ग किवा समस्त शरीर में स्पन्दन—किंचित् चलन, या कम्प, या आयाम—खेंच, या आक्षेप—पछाड, जैसी अपस्मार आदि में होती है, या खञ्जता—लगडापन आदि के रूप में गति-भेद, अथवा हृदय, प्लीहा, अन्त्र, पेशी आदि अन्तरवयवो का स्थानान्तर-गमन;

६ अमूर्त्तता—अदृश्यता, केवल अपने कर्मो से गम्य होना, कफ या पित्त के सदृश प्रत्यक्षोपलब्धि न होना, अथवा अमूर्तता का यह अर्थ किया जा सकता है कि कई वार जिस अवयव मे कोई वातिक रोग होता है उसमे कोई प्रत्यक्ष (दृश्यमूर्त) परिवर्तन नही होता—परन्तु विकार होता है। जैसे आयाम—खेंच—वायु का हाथ-पैर आदि मे सचलन ये सज्ञावह स्रोतो—सेन्सरी नर्व फाइवर्स—में विकृति से हो, तो आयाम आदि प्रत्यक्ष नही होते—केवल रोगी को उनकी प्रतीति होती है। चेष्टावह स्रोतो मे विकृति हो, तो आयाम आदि पर-प्रत्यक्ष भी होते हैं;

७ अनवस्थितत्व—अस्थिरता लक्षणो का नियम न होना, लक्षणो का विषम होना, यथा—आर्तव का अनियमित होना, अग्नि विषम होना, मल-प्रवृत्ति के स्वरूप-सख्या आदि मे नियम का अभाव, विचार (निश्चय) की भी अस्थिरता इत्यादि के रूप में अस्थिरत्व।

प्रत्येक दोष के जो भी गुण निश्चित किए गए है वे उसके कर्मो को देख कर, कर्मो का परिज्ञान कराने के लिए किए गए हैं। गुणो के कर्मो की भूमिका में सुश्रुत ने कहा है—

कर्मभिस्त्वनुमीयन्ते नानाद्रव्याश्रया गुणाः।

सु० सू० ४६।५१४

शुण्ठी-मरिचादि बाह्य द्रव्यो एव वातादि शारीर द्रव्यो के जो उष्ण-शीतादि गुण बताए गए है उनका ज्ञान द्रव्यो के विभिन्न कर्म देख कर अनुमान से होता है। वायु पर यह तथ्य (अनुमान-गम्यता) सविशेष लागू होता है। कारण, वह अदृश्य है।

वायु के प्रकोप का स्वरूप

पित्त और कफ के शास्त्रोक्त गुण शरीर मे वृद्धि को प्राप्त होते है तब इन दोनो दोषो की वस्तुत. वृद्धि होती है। परन्तु वायु के प्रकोप का स्वरूप कुछ भिन्न है। जब हम कहते है कि वायु की वृद्धि या प्रकोप हुआ है, उस काल स्वय वायु की वृद्धि नही होती, प्रत्युत शरीर के एक देश में या सपूर्ण शरीर मे रूक्षत्वादि गुणो की वृद्धि हो जाती है। वायु का प्रमाण तो वही रहता है। परन्तु, सर्व शरीर मे अपने प्राकृत कर्म करने के लिए सचरण करता हुआ वायु जब रूक्षत्वादि गुणयुक्त अवयवो, स्रोतो या आशयो मे पहुँचता है, तो अपने स्थान-सश्रय के लिए अनुकूल परिस्थिति प्राप्त कर वही स्थिर हो जाता है, परिणामतया तत्तत् विकार को जन्म देता है। तात्पर्य--जो आहार, औषध, विहार, देश या काल वायु के प्रकोपक कहे जाते है वे यत्सत्य वायु के प्रमाण मे वृद्धि नही करते। वे शरीरावयवो में वायु के स्थान-सश्रय के लिए रूक्षत्वादि गुणो के उत्पादन के रूप में उचित भूमिका या क्षेत्र तैयार कर देते है।

वातप्रकोपणानि खलु रूक्षलघुशीतदारुणखरविशदशुपिरकराणि शरीराणाम्। तथाविधेपु शरीरेपु वायुराश्रयं गत्वाऽऽप्यायमानः प्रकोपमापद्यते ॥ च० सू० १२।७

जिन आहारौषध-द्रव्यो, विहारो, देश किवा काल को वात का प्रकोपक कहा जाता है वे साक्षात् वात की वृद्धि, सचय और प्रकोप नही करते। किन्तु, शरीरावयवो पर क्रिया कर उन्हे रूक्ष (कृश, शुष्क, क्षीण, स्निग्ध-गुण-रहित), लघु (हलके, न्यून भारवाले), शीत (न्यून ऊष्मावाले), दारुण (कठिन, मृदु-विपरीत), खर (स्पर्श मे खर, जैसे ककोडे के फल का स्पर्श होता है वैसे स्पर्शवाले), विशद (पैच्छिल्य-विपरीत-गुणयुक्त) तथा शुषिर (रन्ध्रयुक्त, छिद्रयुक्त, अल्प घनत्ववाले) कर देते है। शरीरान्तर-सचारी वायु जब सचार करता-करता इन गुणोवाले अवयवो मे आता है, तो समान गुण-योगवश स्थान-सश्रय के अनुकूल स्थल मिल जाने से इनमे आश्रय कर लेता है--न्यूनाधिक भाव से इनमें स्थिर हो जाता हे--इन अवयवो में टिक जाता है। इस स्थिति के कारण इन स्थानो में उसकी शनै -शनै वृद्धि हो कर प्रकोप होता है। इसके विपरीत--

वातप्रशमनानि पुनः स्निग्धगुरूष्णश्लक्ष्णमृदुपिच्छिलघनकराणि शरीराणाम्। तथाविधेपु शरीरेपु वायुरसज्यमानश्चरन् प्रशान्तिमापद्यते[1] ॥ च० सू० १२।७

१--इन वचनो की स्पष्टता के लिए इन पर चक्रपाणि की टीका भी देखिए।

जिन आहारौषध-द्रव्यो, विहार, देश एव काल को वायु का प्रशमन करने-वाला कहा जाता है वे भी साक्षात् वायु को शान्त करते हो, सो वात नही। किन्तु शरीरावयवो के सपर्क मे आ कर वे उन्हें (शरीरावयवो को) स्निग्ध–स्नेहयुक्त, गुरु (पुष्ट और भारवान्), उष्ण (सम किवा सम से अधिक ऊष्मावाले)[१], श्लक्ष्ण (मसृण, पॉलिश किए फर्नीचर के समान स्पर्शवाले), मृदु (पीडनीय, दवाने से दव जाएँ ऐसे), पिच्छिल (तन्तुमान् लेसदार, लुआबवाले) तथा घन (घन सघातवाले, कॉम्पैक्ट) वना देते है। अपने प्राकृत कर्म करने के लिए शरीर मे विचरण करता हुआ वायु जव इन गुणोवाले अवयवो को प्राप्त होता है, तो ये गुण उसके विपरीत होने से, अर्थात् उसके स्थान-सश्रय के लिए अनुकूल न होने से, किवहुना प्रतिकूल होने के कारण वायु इनमें स्थिर नही होने पाता––आसन नही जमा पाता। इन गुणो के पोषक आहारादि का नित्य सेवन करने के परिणाम-स्वरूप शरीरावयवो मे भी इन गुणो का समत्व हो, तो उल्लिखित नियमानुसार ऐसे अवयवो मे, किवा ऐसे शरीरो मे वायु का प्रकोप होना संभव नही होता––वायु के रोग होने की सभावना नही रहती। कदाचित् किसी कारणवश वात के प्रकोप के अनुकूल गुणो की शरीरावयवो मे पुष्टि होने से उनमें वायु की वृद्धि और प्रकोप हो चुका हो, तो भी स्निग्धत्वादि-गुण-विशिष्ट आहार आदि का सम्यक् सेवन करने से शरीरावयवो में वात-गुण-विपरीत इन गुणो का साम्य हो कर उल्लिखित परिपाटी से वायु शान्ति को प्राप्त होता है, एव वात-रोगो की निवृत्ति होती है।

शरीर के स्रोत (अवकाशयुक्त स्थान) भी अवयव-विशेष होने से वायु के प्रकोप और प्रशम सवन्धी उक्त नियम इन पर भी घटित होता ही है। तथापि, दोषों से रोगोत्पत्ति स्रोतों की तत्-तत् प्रकार से दुष्टि होने से ही होती है। अत सहिताकारो ने स्रोतो की दुष्टि का उल्लेख पृथक् किया है। स्रोतो में भी वात-प्रकोपक द्रव्यादि सेवन से रूक्षत्वादि गुणो का प्रकोप हो कर ही वायु के सचय, वृद्धि और प्रकोप (रोगजनन सामर्थ्य) उत्पन्न होते है। तथाहि–– वातव्याधि-चिकित्सिताध्याय मे वातप्रकोप के कारणो का निर्देश कर उसका परिणाम वताते महर्षि अग्निवेश ने लिखा है––

देहे स्रोतासि रिक्तानि पूरयित्वाऽनिलो वली।
करोति विविधान् व्याधीन् सर्वाङ्गैकाङ्गसंश्रयान्॥

च० चि० २८।१८

१––शीताङ्ग (कॉलेप्स) मे जो द्रव्य दिये जाते है, उनसे कुछ काल के लिए ऊष्मा अधिक कभी-कभी १००°, १०२° फा० तक भी हो जाता है। उससे इस विषय की विशेष प्रतीति होगी।

रिक्तानीति तुच्छानि, स्नेहादिगुणशून्यानीत्यर्थः ॥ चक्रपाणि

अर्थात्--वात-प्रकोपक पदार्थो के सपर्क से शरीर के स्रोत रिक्त नाम स्निग्धत्वादि गुणो से रहित हो जाते है--उनमे तद्विपरीत रूक्षत्वादि गुणो की पुष्टि हो जाती है। ऐसे स्रोतो को अपने स्थान-सश्रय से व्याप्त कर बलवान् वायु एकाङ्ग और सर्वाङ्ग मे विविध लक्षणो वाले विविध रोगो को उत्पन्न करता है।

इस प्रकार रूक्षत्वादि गुणयुक्त अवयवो मे स्थान-सश्रय कर वृद्धि को प्राप्त हुए वायु का जो प्रकोप होता है, उसे स्वतन्त्र प्रकोप कहा जाता है। वायु के प्रकोप का द्वितीय कारण आवरण होता है। इसके कुछ उदाहरण पहले दिए जा चुके हे। इन आवरणो के कारण हुए प्रकोप को वायु का परतन्त्र प्रकोप कहते है। वायु के प्रकोप का प्रथम कारण, जिसमे शरीरावयवो मे लघु, रूक्ष आदि गुणो का प्रकर्ष (आधिक्य) हो जाता है, उसीका अपर नाम धातुक्षय (सारक्षय) है। इस प्रकार वायु के प्रकोप के संक्षेप मे दो कारण है--धातुक्षय एव आवरण।

वायोर्धातुक्षयात् कोपो मार्गस्यावरणेन वा ॥ च० चि० २८।५९

जो हो, शरीरावयवो मे अपने प्रकोप के अनुकूल उक्त गुणो का प्रकोप होने का परिणाम यह होता है कि, शरीर के किसी भी भाग मे अथवा समस्त शरीर में वायु का प्रकोप हो तो उसमें वात-प्रकोपजन्य नीचे लिखे विकार अवश्य पाए जाएँगे--

१ स्रंस--संधि-शैथिल्य ; अस्थि, पेशी, स्नायु, अन्त्र, हृदय आदि की संधियो की शिथिलता-वश किंचित् च्युति, अथवा एक-दूसरे पर चढ जाना। अस्थि-सधियो की किंचित् च्युति--स्थानभ्रंश को अग्रेजी मे सबलक्सेशन कहते है,

२ भ्रंश--सधिच्युति, (डिसलोकेशन),

३ व्यास--विस्तार (चक्रपाणि) ; अपने घटक धात्वश का क्षय तथा दौर्बल्य होने से हृदय, अन्त्र, रस-रक्तवह-स्रोत आदि मे इस प्रकार विस्तार (डायलेटेशन) प्रसिद्ध है। अन्त्रो के विस्तार को अग्रेजी में 'मेगाकोलन' कहते है। अन्त्रो के स्थल-विशेष पर होनेवाले आध्मान के लिए गुल्म यह विशेष नाम है। सिराओ का फुलावा सिराकौटिल्य या सिरापूरण (वेरीकोसिस, वेरीकोस्ड वेन्स) नाम से प्रसिद्ध है। उत्तर तथा अधर गुद की सिराओ के घटक मासधातु की क्षीणता होने से वे रस-रक्त के यत्किंचित् भी पीडन से फूल जाती है। इस रोग को अर्श कहा जाता है। इस प्रकार नव्य प्रत्यक्षानुसार भले अर्श सिराओ के फुलावे या पूरण से होते हो तथापि इस पूरण का भी मूल मासधातुमय मण्डल (मस्क्युलर कोट) की क्षीणता होने से आयुर्वेद में अर्शो को मास का ही अकुर

कहा जाता है। अतएव अर्श की चिकित्सा के प्रकरण में इस मासक्षय के उपचार रूप में स्वय मास रस का किवा समान गुणवाले यूषो (शिम्बीधान्यो के क्वाथो) का विधान प्राचीनो ने किया है। आमाशय आदि आशय इस प्रकार धातुक्षय-वश फूल जाएँ तो इसे नवीनो ने एटॉनी (टोन का नाश) नाम दिया है। अष्टाङ्ग-हृदय मे इस प्रकरण मे आये व्यास का अर्थ हेमाद्रि ने तो चक्रपाणि के समान असकोच ही किया है; पर अरुण ने इसका अर्थ दिया है--आक्षेप आदि रोगो में अङ्गो की जो पछाड होती है वह,

४ संग--इसके दो अर्थ है--मूत्र, पुरीष प्रभृति मल सप्रमाण बने हो, उनका क्षय न हुआ हो, तो भी प्रवृत्ति (निर्गमन) न होना (रिटेन्शन); एवं वाणी आदि की अप्रवृत्ति,

५ भेद--सज्ञावह स्रोतो के दोषाक्रान्त होने से फाडे जाने की-सी वेदना (कटिंग पेन), इस प्रकार की विविध मिथ्या वेदनाओ को अग्रेजी मे पेरास्थीशिआ कहते हैं, अथवा त्वचा, गुद, अर्श, जिह्वा आदि का भेदन--उनमें चीर पडना;

६ साद--शैथिल्य, हाथ-पैर आदि में अपनी क्रिया करने के प्रति प्रीति और सामर्थ्य न होना (लेसीटयूड),

७ हर्ष--रोमाञ्च या झणझणी। पाद-हर्ष आदि पदो में हर्ष शब्द का पिछला अर्थ (नमनेस, टिंगलिग) अभिप्रेत होता है। हर्ष का रति की इच्छा विशेष होना (रिरसा) यह अर्थ भी यहाँ ग्रहण किया जा सकता है। राजयक्ष्मा मे धातुक्षय और वात का प्रकोप होने से यह लक्षण प्रादुर्भूत होता है, ऐसा तन्त्रकारो ने कहा है;

८ तर्ष--तृषा, वायु के प्रकोप मे अन्य शारीर धातुओ के सदृश जलधातु का भी क्षय (उदकक्षय, डीहाइड्रेशन) हो जाने से उसके पूरण के निमित्त तृषा के रूप मे स्वभावत जलधातु के ग्रहण की इच्छा और रुचि होती है। कभी तरुण या जीर्ण प्रतिश्याय किवा उसके उपद्रव रूप मे नासा-स्रोत, गल, कण्ठ आदि में हुई मासवृद्धि (नासार्बुद, गिलायु-टॉन्सिल-आदि[१]) के कारण प्राण के गमना-गमन का मार्ग प्रतिरुद्ध हो जाने से रोगी प्राण के ग्रहण के निमित्त मुख खुला रखे तो बाह्य वायु के स्पर्श से मुख, तालु, क्लोम ये पिपासा-स्थान शुष्क होनेके परिणाम स्वरूप भी तृषा होती है। रोगी अज्ञानवश जलपान करता है तो उससे इन विकारो के आदि कारणभूत कफ और आम की सुतरा वृद्धि होकर विकार बढते ही जाते हैं,

---

१--मधुर रस के अतियोग के लक्षणो मे च० सू० २६।४३ मे इन विकारों को मासाभिवृद्धि कहा है।

९. स्पन्दन (चाल)--किंचित् चलन ('स्पदि किंचिच्चलने' धातु); किंचित् कम्पन; स्फुरण, (फडकना),

१०. कम्प--कम्पन, वेपथु, वेपथुवात। मास-सूत्रो के किसी पुज-समुदाय-के स्पन्दन या स्फुरण को अग्रेजी में फाइब्रिल्लेशन कहते है। हृदय मे उसके प्रकोष्ठो के मास-सूत्रो का प्रणाश (डीजेनेरेशन) होने से यह होता है। अधिक स्पन्दन को कम्प (ट्रेमर) कहते है। यह सर्वाङ्ग मे होता है तथा हाथ-पैर आदि एकाङ्ग मे भी (प्रादेशिक) होता है। हाथ के कम्प को अग्रेजी मे 'रायटर्स क्रैम्प' कहते है। नाम का कारण यह है कि पहले समझा जाता था कि, यह कम्प लेखको को अति लेखन के कारण हुए सतत श्रम के कारण होता है। चलन और भी अधिक हो तो उसे आक्षेप (कन्वल्शन) कहते है;

११. वर्त--पुरीष, मूत्र, पित्त, रस-रक्त आदि का वर्तुलीभवन; वायु के रूक्ष गुण का प्रकोप और स्थान-सश्रय इन मलो में होने से उनका पिण्डीभाव। इसके परिणाम-स्वरूप इन द्रव्यो के अपने-अपने स्रोतो मे वायु की क्रिया का मार्ग प्रतिबद्ध होने से उसका प्रकोप होता है, जिससे तत्-तत् नाम से अभिहित शूल के वेग होते है। इनका कुछ विचार पहले किया जा चुका है;

१२ तोद--सुई चुभने की सी व्यथा (प्रिकिंग सेन्सेशन)। यह भी पेरास्थीशिआ का एक प्रकार है,

१३. व्यथा--प्रादेशिक (स्थानीय) अरति (लोकल डिस्कम्फर्ट),

१४. चेष्टा--वायु का प्रकोप होनेसे मन का वायुकृत कर्म उत्साह (प्रयत्न) वढ जाने से अति चेष्टा होती है। अपतन्त्रक (हिस्टीरिआ) आदि के वेग होने के पूर्व यह लक्षण देखा जाता है। रोगी 'यह करूँ, वह करूँ' इस प्रकार अति प्रवृत्तिमय हुआ पाया जाता है,

१५ वेष्टन--अङ्गो मे मरोडे जाने की सी अनुभूति। यह लक्षण विशूचिका मे जङ्घा में होता है। अग्रेजी मे इसे क्रैम्प कहते है। पेशियो के सहसा और तीव्र सकोचवश यह प्रतीत होती है। प्रवाहिका मे महास्रोतस् मे यह अनुभव होता है। उसका भी स्वरूप नवीनो ने यही बताया है। सचित कफ के कारण महास्रोत में होनेवाली अनुलोमनी गति (पेरिस्टालिसस) मे अन्तराय होने के कारण इस क्रिया के कारणभूत समान तथा अपान वायु प्रकुपित होते है। प्रकुपित हो तीव्र सकोच और तज्जन्य शूल-विशेष के रूप में वह विकृत क्रिया करता है,

१६. खरता--त्वचा, जिह्वा, मल, अर्श आदि के अकुर इत्यादि का स्पर्श खुरदरा (कर्कोटकफल-सदृश) होना,

१७ परुपता--त्वचा आदि कर्कश होना,

१८. विशदता—त्वचा, कफ, मल आदि में तन्तुमत्ता-विपरीत गुण होना ;

१६ सुपिरता—शरीरावयवो मे सच्छिद्रता, वनत्व की न्यूनता। धातु-क्षयवश पोरोसिटी, रेअरीफेक्शन, नेक्रोसिस, फुप्फुसो में केविटी, कोषो—शरीर परमाणुओ —मे वेक्युओल्स-नामो से आधुनिको ने इस सुषिरता का उल्लेख किया है। इसका विवरण पहले किया जा चुका है ;

२० श्यावारुणवर्णता—त्वचा, ओष्ठ, नेत्र (नेत्र के वर्त्म या पलक का अन्दर का भाग), नेत्र की चतुर्दिक् त्वचा , मल आदि का वर्ण श्याव (राख या सलेटी जैसा), किवा अरुण होना। वर्ण के साथ वायवी छाया का भी यहाँ ग्रहण करना चाहिए[1]। वायवी छाया (टिन्ट) रूक्ष, श्यावारुण तथा प्रभारहित होती है। श्यावारुणवर्णता या वायवी छाया का अर्थ नव्य-मत से हृदय की मन्दता के कारण रस-रक्त की शुद्धि समीचीन न होने से कार्बन-डाइ-ऑक्साइड की अधिकता (सायनोसिस) समझना चाहिए। आयुर्वेद-मत से पक्वाशय में तृतीय अवस्थापाक मे उत्पन्न वायु की अधिकता ही इसका कारण है। चिकित्सा की शुद्धि की दृष्टि से यह मत समझ लेना चाहिए। नव्य-मत से यह छाया तथा वर्ण हृदय-दौर्बल्य के द्योतक है, अतएव अरिष्टभूत है। चरक में भी कहा है—

वायवी तु विनाशाय क्लेशाय महतेऽपि वा ॥

च० इ० ७।१३

वायवी छाया मृत्यु किवा भारी सकट की सूचक होती है ,

२१ कषाय-विरसमुखत्व—मुख का रस (स्वाद) कषाय—कसैला या विरस—फीका, स्वादमात्र के अभाववाला—होना ;

२२ शोष—अङ्गविशेष, यथा पेशी आदि क्षीण और दुर्बल हो जाना—एट्रॉफी , किवा अवयव-विशेष के शरीर-परमाणुओ का शोष ; राजयक्ष्मा मे मास धातु का क्षय सविशेष होने से, उसमे भी उर स्थल की पेशियाँ अधिक प्रभावित होने से पर्शुकाएँ उभरी हुई दीखती है ; शरीर का गौरव—भार—मास पर विशेष आश्रित होने से भार न्यून हो जाता है। राजयक्ष्मा के लक्षणों में भार की कमी (लॉस ऑफ वेट) नाम से नवीनो ने जो लक्षण बताया है वही भार की कमी के भी हेतुभूत मास-क्षय का नामोल्लेख कर प्राचीनो ने कहा है। कभी-कभी हाथ-पैर, अस (कन्धा) आदि की पेशियो का शोष होता है। इन अवयवो में वेदना,पगुता आदि व्यथा ले कर आए रोगियो मे दोनो पक्षो की परस्पर तुलना कर परीक्षा करनी चाहिए कि व्यथित अवयव की पेशियो की क्षीणता तो नही है ,

---

१—वायवी तथा अन्य छायाओ और प्रभावो के स्वरूप तथा परिणाम के ज्ञान के लिए देखिए—च० इ० ७।१०-१५।

२३ शूल—उदर, पार्श्व, हृदय, शिर आदि में भाला (छुरा) भोंकने की-सी पीडा, स्टैबिंग पेन ;

२४ सुप्ति—अवयव-विशेष का सज्ञानाश। रुई के तन्तु, मयूरपिच्छ, किसी कागज का कोना आदि फेरने का अनुभव न हो तो इसे स्पर्शनाश (एनेस्थीशिया) कहते हैं, पीडन या दबाने से असह्य वेदना होती हो तो इसे पीडनाक्षमता (टेन्डरनेस) कहते हैं। सुप्ति कभी-कभी एक ही आसन (पोश्चर) से देर तक बैठे रहने से हुए हर्ष के साथ भी होती है। यह कुछ ही क्षण रहती है। स्पर्शनाश तथा यह सुप्ति रक्तक्षय या रक्त की अनुपलब्धि (एनीमिआ) के कारण होती है। कारण, स्पर्शज्ञान अपनी सिराओ मे सम्यक् प्रमाण और प्रकार से बहते हुए रक्त के कारण होता है[1]। सुप्ति कभी सिराओ के पीडनवश होती है, जैसे एक ही आसन पर चिरकाल बैठे रहने से या कोई अवयव कुछ काल दबा रहने से प्रादेशिक सिराओ का पीडन होने से रस-रक्त का सवहन सप्रमाण न होने के कारण कुछ क्षण के लिए सुप्ति (गुजराती-खाली, हिन्दी सुन्न होना, सुनबहरी) होती है, सर्वजन प्रत्यक्ष है। किंवा सुप्ति वात-प्रकोपवश सिराओ (आर्टीरिओल्स) का सकोच हो जाने से भी होती है। कुष्ठ, वातरक्त आदि रोगो में विकृति की संप्राप्ति यह पिछले प्रकार की होती है ;

२५ संकोच—अङ्ग-विशेष सिकुड जाना—संकुचित हो जाना ; यथा, सधिबन्धनो की विकृति होने से सधियाँ सकुचित हो वक्र हो जाना ; पृष्ठवश के सधिबन्धनो के वैकल्य के कारण और कदाचित् अस्थियो में सौषिर्य (सच्छिद्रता, नेक्रोसिस—इसका भी कारण वायु ही है, यह वायु के गुणो में सौषिर्य के पाठ सिद्ध है) होने से, पुरुष आगे की ओर झुक जाता है, इसे विनाम (ड्रूपिग एटीच्यूड) यह विशेष नाम दिया गया है। सकोच कभी त्वचा में हो तो वह स्थान-स्थान पर विदीर्ण हो जाती है—इसे वली या त्वक्-सकोच कहते हैं। गर्भस्थिति होने पर उसके पीडनवश उदर की त्वचा इस प्रकार विदीर्ण (भिन्न) हो कर फैलती है। प्रसवोत्तर पुन पूर्वावस्था में आती है तो लम्बी वलियाँ उदर के दोनो ओर तथा वक्षण पर दिखाई देती है। इन्हें आयुर्वेद में किक्किस तथा अग्रेजी में स्ट्रायी ग्रेवीडेरम कहते हैं। (स्ट्राया=रेखा ; स्ट्रायी बहुवचन ; ग्रेविड=सगर्भ)। ये वलियाँ स्त्री को कभी गर्भस्थिति हो चुकी है इस बात की गमक होती है। हाथ-पैर आदि का शोथ होने पर भी त्वचा आभ्यन्तर पीडनवश फैलती है। शोथ (उत्सेध) शान्त होने लगे तो यह फैली हुई त्वचा सिकुडनो (सकोचो, झुर्रियो)

१—देखिए सु० शा० ७।१४।

के रूप में दिखाई देती है। [illegible] पर घूमने की [illegible] विकृतियों को [illegible] कहा जाता है,

२६ स्तम्भ—हाथ पैर आदि में आकुञ्चन-प्रसारण आदि चेष्टाओं का नाश (स्तब्धता), इसी प्रकार विभिन्न अवयवों के रस-रक्तवह स्रोतों, महास्रोत आदि का भी स्तम्भ होकर स्तब्धता परिणाम होता है। यथा, हृदय के रस-रक्तवह स्रोतों का तीव्र [illegible] अथवा स्तम्भ हो तो तीव्र हृच्छूल (एन्जाइना), महास्रोत में हो तो उदरशूल (कालिक), गर्भाशय में हो तो गर्भाशयशूल (यूटेराइन कॉलिक), पित्त-प्रसेक में हो तो पित्ताश्मरीशूल (यह नाम आधुनिकों की बिलियरी कॉलिक संज्ञा को ध्यान में रखकर गया है), ज्ञानेन्द्रियों तथा कर्मेन्द्रियों के अधिष्ठानों का तर्पण करनेवाले सञ्चारक रस-रक्तवह स्रोतों में हो तो स्थान-भेद से तत्तत् इन्द्रियों, मांसपेशियों और चेष्टा का नाश (अर्दित, पक्षाघात, लकवा। यह स्तम्भ हो तो उसे अथवा उसके परिणाम को अंग्रेजी में पैरेलिसिस कहते हैं तथा यह पूर्ण कक्षा को पहुँचा हो तो उसे पैरेसिस कहा जाता है)। स्तम्भ कभी पेशियों का भी होता है, जैसे मन्यास्तम्भ (राई नेक टॉर्टीकोलिस) में; विसूचिका में जङ्घा की पेशियों का इसी प्रकार स्तम्भ होता है, महास्रोत आदि मल-विसर्जक स्रोतों में स्तम्भ होने के परिणामस्वरूप मल शरीर में ही सञ्चित रह जाते हैं, जिससे शरीर में जकड़ाहट-सी प्रतीत होती है। स्तम्भजन्य इस प्रतीति को भी स्तम्भ या स्तब्धता नाम दिया गया है। [illegible] शरीर में इस या अन्य कारण से दोषों का सञ्चय हो जाए उसे भी स्तब्धता कहा जाता है। साम-निराम भेद से स्तब्ध दोष दो प्रकार के होते हैं—साम स्तब्ध दोष तथा निराम स्तब्ध दोष,

२७ खञ्जता—एक पैर लंगड़ाना। इसी का एक भेद कलायखञ्ज (लेथायरिज्म) होता है, जिसमें चलते समय भूतल पर टिकाया हुआ पैर कांपता है तथा आगे रखने के लिए बढ़ाया पैर लंगड़ाता है। खञ्जता किंवा पंगुता का एक भेद रोगज फक्क (लक्षणसूचक नाम अंग्रेजी में—इन्फेन्टाइल पैरेलिसिस, सूक्ष्म विकृति सूचक पर्याय—एन्टीरिअर पॉलिओमायलाइटिस) होता है,

२८ पंगुता—दोनो पैर लँगड़ाना,

२६ प्रलाप (डिलीरिअम)—ज्वर में भी उपद्रवतया प्रलाप हो तो यह ज्वर की तीक्ष्णता से भी हो सकता है, एव वायु के प्रकोप से भी हो सकता है। वायु के प्रकोप से हो तो मल-वातानुलोमन औषध, वस्ति आदि उपचार तथा वायु को शान्त करनेवाले द्रव्यो का उपयोग करना चाहिए। बहुधा नव्य-मत का अनुसरण करते हुए चिकित्सक ज्वरोष्मा पर ही ध्यान देते है। प्रलाप में कितनी ही बार ज्वर उतना तीक्ष्ण नही होता,

३० ग्रह्—हाथ, पैर, शिर आदि जकड जाना, उनमें पकडे या जकडे जाने (दबोचे जाने) की प्रतीति। यह प्रतीति हृदय आदि अन्तरवयवो मे भी होती है। हृदय में यह व्यथा हो तो उसे हृद्ग्रह (एन्जाइना पेक्टोरिस) कहते हैं। इस व्यथा का आयुर्वेदिक नाम अत्यन्त सूचक है। इसमें शूल होता है, परन्तु वह नियत (इनवेरीएबल, सभी रोगियो में अवश्य पाया जानेवाला) लक्षण नहीं है—प्रायोभावी है। परन्तु ग्रहण (सीज़र, कॉम्प्रेशन) इस रोग का नियत (प्रत्यात्म) लक्षण है। अत. आयुर्वेद में दिया गया रोग का हृद्ग्रह नाम अन्वर्थक है ;

३१ कुब्जता—शरीर का कुबडापन (हप बैक)। यह स्थिति नव्य प्रत्यक्षानुसार कई बार यक्ष्मा के जीवाणुओ द्वारा पृष्ठवश की अस्थियो तथा सधियो में सौपिर्य होने से (उनके खाये जाने से) एव उनमें हुए व्रण से आक्रान्त अवयवो का रोपण होते हुए आसपास के अवयवो के साथ सधान हो जाने से होती है। कुब्जता या विनाम के दिशा-भेद से भिन्न-भिन्न नाम आधुनिको ने दिए हैं। सामने विनाम को कायफोसिस या हप-बैक कहते हैं तथा पार्श्व में झुक जाने को स्कोलिओसिस कहा जाता है ;

३२ निद्रानाश—मन के अनवस्थित होने (अस्थिरता, चाञ्चल्य) के कारण यह होता है। अग्रेजी में इन्सॉम्निआ ; या स्लीपलेसनेस ;

३३ शोथ—बाहु, मुख आदि अङ्गो में उत्सेध (सूजन) ; लोक मे मेद के कारण हुए फुलावे को, जिसमें शरीर पुष्ट होते हुए भी सामर्थ्य उतना नही होता, वायु के कारण हुआ फुलावा कहने का प्रचार है। इसके अतिरिक्त शोथ नाम से प्रसिद्ध रोग भी तत्तल्लक्षणयुक्त हो तो वातज होता है ,

३४ शुक्रनाश तथा ३५. गर्भनाश—शुक्र का नाश होने से उसकी पूर्ति के लिए प्राप्त रसधातु का व्यय शुक्र की पुष्टि में ही हो जाता है। अति व्यवाय (मैथुनातियोग); स्वप्न में किंवा मुष्टिमैथुनादि कारणो से पुरुष के शुक्र का नाश चालू ही रहे किंवा नाश (क्षय) के कारणभूत वात-प्रकोप का यथावत् उपचार न हो—शुक्र का बृहण करनेवाले आहारौषध तथा विहार का उपयोग न किया जाए, तो रस-धातु शुक्र का ही पूर्ण पोषण करने में समर्थ नही होता। परिणामतया, शुक्र की पुष्टि के अनन्तर, शुक्राशयो मे आए रसधातु के शेषाश से जिसका पोषण होता है, वह ओज भी पोषक रस प्राप्त न होने के कारण पुष्ट नही हो पाता। तात्पर्य, ऐसी परिस्थितियो में शुक्रनाश शब्द से ओजोनाश भी गृहीत समझना चाहिए। शुक्रक्षय तथा ओज:क्षय के परिणामो का प्राचीनो ने शुक्रावृत वात, शुक्रगत वात, शुक्रक्षय तथा ओज क्षय नाम से वर्णन किया है। रतिसुख की इच्छा न होना या न्यून होना, व्यवाय का सामर्थ्य न्यून होना, (मैथुनाशक्ति, इम्पो-

टेन्सी), अल्पता के कारण शुक्र की चिरकाल से च्युति, किंवा शुक्र की शीघ्रच्युति (शीघ्रपतन, प्रीमेच्योर इजेक्युलेशन, अर्ली डिस्चार्ज), मैथुन का सामर्थ्य न्यून होने या शुक्रच्युति में उक्त विकृति होने से स्त्री को (सतोष-सौमनस्य) न होने से गर्भस्थिति न होना (निष्फलत्व-स्टरिलिटी); गर्भ-धारण न होने पर भी शुक्र का क्षय होने के परिणामस्वरूप ही गर्भ का स्राव या पात हो जाना (मिस्केरेज या एबॉर्शन) अथवा गर्भ का चिरकाल धारण होना किंवा गर्भ होकर मर जाना ये सब शुक्रक्षय के व्यवसाय में स्मरणीय परिणाम है। शुक्रक्षय की इस प्रकार गर्भस्थिति न होना, गर्भ का स्राव, पात, प्रसवोत्तर नाश आदि में परिणति होने से प्राचीन वैद्य निष्फलता[1] (स्टरिलिटी) की अवस्था में स्त्री के साथ पुरुष के भी शुक्रक्षय की चिकित्सा करते थे। नव्यमत से भी शुक्र में पुंबीजो का अभाव (एस्पर्मिया), पुंबीजो की सख्या न्यून होना (ऑलिगस्पर्मिआ), पुंबीजो में गति का वेग (मोटाइलिटी) न्यून होना, या गति होते हुए भी वह सीधी दिशा मे न होकर वर्तुल होना--इन विकृतियो में शुक्र गर्भधारण के योग्य नहीं होता। निष्फलता के केसो में कोई ३०-४० प्रतिशत पुरुष की कारणता होती है। पुंबीज उत्पन्न होकर अकालमे ही उनकी मृत्यु हो जाए--अणुवीक्षण के नीचे वे मृत ही दिखाई दें--यह भी स्थिति शुक्रनाश की होती है;

वात-प्रकोप से गर्भनाश के अनेक स्वरूप है। इनमें एक नवीन विद्यार्थी को भी सरलता से समझ मे आनेवाला गर्भनाश वह है जिसमें गर्भ की पूर्ण वृद्धि और पुष्टि होने पर भी वात-प्रकोपक कारणो के सेवनवश गर्भ के निष्क्रमण के मार्गो का सकोच होने से गर्भ नियन्त्रित (पीडित, दवा हुआ) होने से रस-रक्त का सवहन न होने के कारण उसकी मृत्यु होती है। यह स्थिति न आए इस हेतु गर्भिणी को अन्तिम मासो में मल और वात का अनुलोमन करने के लिए मुख-मार्ग से एरण्डतैल आदि मलवातानुलोमन-द्रव्यो का उपयोग कराया जाता है; उदावर्त के नाशार्थ फलवर्ति दी जाती है, प्रसव के पूर्व निरूह तथा अनुवासन

१--शुक्रक्षय के दो परिणामो--मैथुनाशक्ति तथा निष्फलत्व--मे भेद करना चाहिए। सम्भव है, पुरुष उभय पक्षो की तृप्ति करने मे समर्थ हो, परन्तु प्रजोत्पादन का सामर्थ्य उसके शुक्र मे न हो। इसे निष्फलता (स्टरिलिटी) कहते है। दूसरी ओर हो सकता है वह मैथुन मे न्यूनाधिक या सर्वथा अशक्त हो, परन्तु किसी प्रकार योनिमुख मे शुक्र पहुँच जाए तो प्रजोत्पत्ति हो सकती है। इसे मैथुनाशक्ति (इम्पोटेन्सी) कहते है। एक ही पुरुष मे दोनो विकृतियाँ होना भी सम्भव है। निष्फल शब्द का प्रयोग चरक ने--शुक्रावेगोऽतिवेगो वा निष्फलत्व च शुक्रगे--च० चि० २८।६८ इस शुक्रावृत्त वात के लक्षण मे किया है।

बस्ति दी जाती है एव योनि मे वातघ्नौषधसिद्ध पिचु रखे जाते है। वात का अतिशय प्रकोप होकर नियन्त्रित हो (दब कर) मृत गर्भ की लीन यह विशेष सज्ञा है[1]। वात-प्रकोपवश होनेवाले एक अन्य गर्भनाश को (शुष्क हुए गर्भ को), अवस्थाभेद से नैगमेष-नामक बालग्रह (भूत) द्वारा अपहृत गर्भ तथा नागोदर कहा जाता है[2]। नागोदर मे वात का प्रकोप होता है, अत' गर्भ शुष्क होने पर भी अपत्यपथ से रक्तप्रवृत्ति (रक्तदर्शन) नही होती है। शुष्क गर्भ का ही एक भेद होता है, जिसमें कारण पित्त का प्रकोप होता है। पित्त प्रकोपवश गर्भ का पोषक रक्त भी दुष्ट हो अपत्यपथ से प्रवृत्त होता है। परिणामतया, गर्भ का पोषण न होने से वह शुष्क हो जाता है। इसे उपविष्टक नाम दिया गया है। वातिक गर्भनाश से इसका ग्रहण नही होता[3]। चरक ने दोषभेद से शुष्क हुए गर्भो को ये दो नाम दिए है। सुश्रुत ने दृष्टशोणित और अदृष्टशोणित दो विशेषणो से इन विकृतियो का पृथक् उल्लेख किया है[4]। दोष तथा लक्षण-भेद से यह भिन्नतया निर्देश चिकित्सा के भेद के लिए है। डल्हन ने इन्हे गर्भशोष या शुष्क नाम दिए है तथा काश्यप का वचन भी उद्धृत किया है। गुजराती में ये 'छोड़' नाम से प्रसिद्ध है। सग्रहकार ने लिखा है और लोक मे प्रसिद्धि भी है कि, शुष्कगर्भ को जब यथावत् पुष्टि मिलती है तभी वह सम्यक् आप्यायित हो

---

१ देखिए—वातोपद्रवगृहीतत्वात् स्रोतसा लीयते गर्भ । सोऽतिकालमवतिष्ठमानो व्यापद्यते—सु० शा० १०।५७, लीयते श्लिष्यति, स्रोतसा गर्भनिर्गममार्गाणा वातोपद्रवेण सकोचादिना गृहीतत्वात्, व्यापद्यते विनश्यति डल्हन। इसी प्रकरण मे आगे सुश्रुत ने तथा सग्रहकार ने इसे लीन नाम दिया है।

२ देखिए—च० शा० ८।२६, सु० शा० १०।५७, च० शा० २।८-१०। इन प्रकरणो की तुलना करने से विदित होगा कि भूतहृत गर्भ मे दो अवस्थाएँ हो सकती है। प्रथम तो गर्भ की तीव्र आकाक्षा आदि प्राचीनोक्त तथा नवीनोक्त कारणो से गर्भ न होते हुए भी गर्भ के लक्षण होना (मिथ्या गर्भ—फॉल्स प्रेग्नेन्सी, स्यूरिअस प्रेग्नेन्सी, स्यूरिएसिस), इसमे उष्ण-तीक्ष्ण द्रव्यो के आकस्मिक सेवन आदि कारणो से आर्तव-प्रवृत्ति होकर गर्भ के लक्षण लुप्त हो जाते है। इसके लिए कहा है कि लोक इस स्थिति को भूतहृत गर्भ कहते है (च० शा० २।९-१०)। दूसरे भूतहृत गर्भ मे वास्तविक गर्भ होते हुए भी वह कभी कारणवश शुष्क हो जाता है। इसका 'लीनवत् प्रतीकार' करने का उपदेश है (सु० शा० १०।५७)।

३ देखिए—च० शा० ८।२६।

४ देखिए—सु० शा० १०।५७।

पूर्णता को प्राप्त करता है। इस प्रकार अनेक वर्षों के बाद भी कभी-कभी स्त्री को प्रसव होता है[1]। स्मरण रहे, मूढ गर्भ इन गर्भों से भिन्न है, उसमें गर्भ की स्थिति ऐसी होती है कि उसका निर्गमन दुष्कर होता है।

गर्भनाश का एक अन्य उदाहरण योनिव्यापद् रोगों में (स्त्री-रोगों में) निर्दिष्ट पुत्रघ्नी योनि है। इस में दो स्थितियाँ होती हैं। एक तो, गर्भस्थिति होने पर पुनः-पुनः गर्भ का स्राव या पात (हिस्ट्री ऑफ रिपीटेड एबॉर्शन्स एण्ड मिसके-रेजेस, हैबीच्युअल एबॉर्शन) हो जाता है। [illegible] का प्रकोप होने से गर्भ-पोषक रक्त की उसमें दुष्टि होकर गर्भ शुष्क (क्षीण) होने से उसका स्राव या पात होता है[2]। [illegible] में इसका अन्वर्थक नाम 'कोठे स्तना' (कोष्ठ—गर्भाशय—में [illegible] का प्रकोप) है। सुश्रुत ने इस दुष्टि का कारण पित्तावृत रक्त की दुष्टि माना है। यह भी प्रत्यक्ष सिद्ध है। पुत्रघ्नी योनि या 'कोठे स्तना' नाम से कही स्थिति में दूसरी स्थिति यह होती है कि—बच्चे उत्पन्न हो-होकर कास-श्वास-प्रधान सन्ततज्वर (ब्राकोन्यूमोनिया), वमन-अतिसार एवं कार्श्य (मेरेस्मस, शोष) इनमें एक या अनेक रोगों से उनकी बार-बार मृत्यु होती है। बृहत्त्रयी में 'स्थितं स्थितं हन्ति पुत्रम्' तथा 'जातंजातंपुत्रम्' शब्दों द्वारा दोनों विकृतियों का उल्लेख किया गया है,

३६ रजोनाश (आर्तव-नाश, एमेनोरिया)—दोषों से आर्तववह स्रोतों अर्थात् अन्त पुष्प या स्त्री-बीज का वहन करनेवाले स्रोतों (फेलोपियन ट्यूब्स, सेलिपक्स, प्रोवीडक्ट, या यूटेराइन ट्यूब्स) का मार्ग आवृत होने से—साथ तद-न्तर्गत अवकाश (विवर, ल्यूमेन) न्यून हो जाने से आर्तव का नाश होता है। दोषैरावृतमार्गत्वादार्तवं नश्यति स्त्रिया —सु शा २।२१। यहाँ वात-प्रकोपवश आर्तववह स्रोतो का स्तम्भ (सकोच) होने से हुआ 'रजोनाश' अभिप्रेत है। प्रौढ वय मे वय-स्वभाववश वायु का प्रकोप होने से रजोनाश (क्लाइमेक्टरिक्स; मेनोपॉज) होता है। नव्यमत से आर्तववह स्रोतो में विवर न्यून होने का परिणाम यह होता है कि, स्त्री-बीज का कवच, जो परिपक्व और स्त्री-बीज से उन्मुक्त हो अन्त स्राव-विशेष उत्पन्न करता है, जिससे एक ओर स्तन्योत्पत्ति के लिए स्तनो की पुष्टि होती है, तथा दूसरी ओर गर्भ के धारण-पोषण के लिए गर्भाशय की पुष्टि होती है, वह कवच ही पुष्टि के लिए अवकाश न्यून होने से

---

१ देखिए—तौ (उपशुष्कक-नागोदरौ) तु मातुराहारतेजसाऽल्पेनाप्यायमानो यदा पुष्टौ स्याता तदा वर्षगणैरपि प्रमदा प्रसूयत एव—अ० सं० शा०४

२ देखिए—च० चि० ३०।२८। २ देखिए—सु० उ० ३८।१३।

सम्यक् पुष्ट नही हो पाता। परिणामतया, गर्भाशय मे 'रस-रक्त' का सचय सम्यक् हो नही पाता। इसी से आर्तव भी नष्ट या न्यून प्रमाण मे प्रवृत्त होता है।

रजोनाश में वायु प्रकारान्तर से भी कारण हो सकता है। रज (आर्तव) तथा स्तन्य रसधातु के उपधातु है। वातप्रकोपवश इतर धातुओ के समान अन्न-रस और रसधातु का भी क्षय होने से उनके उपधातु स्तन्य और आर्तव की यथावत् पुष्टि नही हो पाती। रजोनाश की रुग्णा उपस्थित होने पर इन तथा अन्य कारणो का पूर्ण विचार कर चिकित्सा करनी चाहिए,

३७ गर्भ आदि की विविध विकृतियाँ (विविध मॉन्स्टर्स);

३८ गर्भ का अतिकाल धारण,

३९ शिर नासिका, नेत्र और जत्रु (अंससन्धि) का संकोचवश अन्दर धँस जाना या वक्र हो जाना। इन अवयवो की घटक मासपेशियाँ वातप्रकोपवश क्षीण (एट्रॉफीड) होने के परिणामस्वरूप मे यह सकोच या वक्रता (सधि टेढी हो जाना, पर्काग्ग) होती है,

४० केशों की भूमि फटना,

४१ शङ्खभेद (कनपटी फटना), ललाटभेद, नव्यमत से हेक्सामीन नामक द्रव्य पक्वाशय मे कोथवश उत्पन्न हो अपने स्वभाववश शिर की अन्तर्गत केशवाहिनियो को व्याप्त (विस्तृत) करता है। परिणामतया, उनमे रस-रक्त का प्रमाण वृद्धि को प्राप्त होता है। उसके पीडनवश यह भेद (शिरो-वेदना विशेष) होता है,

४२. घ्राणेन्द्रिय का नाश—इसमे वात की कारणता होने से ही वैद्यजन षड्बिन्दु तैल आदि स्निग्धोष्ण कल्पो का नस्यतया व्यवहार करते है, और सिद्धि-लाभ भी करते है,

४३ अक्षिव्युदास—नेत्रगोलक टेढा हो जाना (गुजराती मे वाडी आँख)। अग्रेजी मे इसे स्ट्रेबिस्मस, स्क्विट या क्रॉस आई कहते है। नेत्रगोलक को चारो ओर से बन्धन में रख कर सीधे प्राकृत स्थिति मे रखनेवाली पेशियो मे एकाध का वध (पेरेलिसिस) या दौर्बल्य के कारण श्रम (थकावट) होने से साद (शैथिल्य) हो तो उसका परिणाम यह होता है कि समुखवर्ती पेशी प्रबल हो जानेसे आँख उस ओर खिच जाती है। दोनो आँखें एक लक्ष्य पर स्थिर नही हो पाती। पेशी-विशेष का वध होने से रोग हुआ हो तो व्युदास निरन्तर रहता है। साद के कारण हो तो बीच-बीच मे थकावट उतर जाने पर कुछ समय के लिए आँखे ठीक लगती है। सप्राप्ति को देखते इस रोग मे एकाङ्गवीर आदि पक्षाघात का उपचार कर देखना चाहिए,

४४ छाती मे अवरोध प्रतीत होना। यह दो प्रकार से हो सकता है। या तो आम-पच्यमान-पक्वाशय मे सचरद्ध वायु का साक्षात् पीडन छाती (प्राण-वह स्रोतो) पर होना है, किंवा वायु प्रकुपित हो आमाशय (श्वासनलिका) मे पहुँच उस का स्तम्भ करता है। दोनो कारणो से दबाव-सा हो कर अवरोध की प्रतीति होती है। वात-प्रकृति (हिस्टेरिकल टेम्परामेण्ट्स) स्त्री-पुरुषो की अपतन्त्रक—हिस्टीरिआ—के वेग के समय यह छाती उभारे बिना भी कण्ठ मे अवरोध-सा प्रतीत होता है। इसे अंग्रेजी मे 'ग्लोबस हिस्टेरिकस' यह विशेष सज्ञा दी गई है,

४५ ग्रीवा का स्तम्भ—ग्रीवा की पेशियो का स्तम्भ (शिथिल, चालित नहीं एक-दूसरे पर चढ जाना) या स्तम्भ—स्थिरता—हो जाने से यह विकार होता है। इसी से वेल्लन आदि फेरने से वेदना तथा स्तब्धता की निवृत्ति हुई देखी जाती है। कभी वातप्रकोपक आहार आदि निदान (रोग-कारण) का सेवन अधिक हो तो प्रादेशिक स्वेदन तथा वायु के शोधन-शमन आभ्यन्तर उपचार भी करणीय होते है;

४६ ओष्ठ, कर्ण, कटि, दन्त आदि का फटना,

४७ पद, पार्श्व, श्रोत्र, नेत्र और छाती मे पीडा—पादशूल, गृध्रसी आदि रोगो मे, प्लुरिसी, वृद्ध अस्थिका पीडन आदि नवीनो द्वारा सुप्रचारित रोगो पर ही चिकित्सक का ध्यान सविशेष जाता है। उनमें वायु की कारणता को लक्ष्य में रख मलवातानुलोमन पर यथेष्ट ध्यान नही दिया जाता,

४८-५३ श्रम, भय (भीरुता) शोक, मोह (तन्द्रा और मूर्च्छा के मध्य की स्थिति), दैन्य (अपने को हीन, किसी प्रकार से अशक्त मानना, इन्फीरिऑरिटी कॉम्प्लेक्स), मनोभ्रम (चित्त की अनवस्थितता, किसी चिन्त्य विषय पर मन को स्थिर न कर सकना; उसके कारण किसी क्रिया पर भी चित्त की स्थिरता न होना—घडी-घडी में पहले कार्य को पूर्ण किए विना दूसरे कार्य में जुट जाना; निश्चय (बुद्धि) करने का सामर्थ्य भी न होना इत्यादि)। भय या भीरुता (फोबिआ) के अनेक रूप हैं। रोगी को कोई प्रत्यक्ष विकार नहीं होता। केवल एक या अनेक प्रकार की शङ्काओ (भयो) से उसका मन आक्रान्त रहता है, यथा ऊँचे स्थान पर चढने का भय, रास्ता पार करने का भय प्रभृति। सतत ज्वरो (टायफायड) या अन्य चिरकारी रोगो के कारण रस-रक्त-मास-शुक्र आदि धातुओ का क्षय होने से तत्सम्बद्ध हृदय भी दुर्बल होता है। हृदय दुर्बल होने के कारण तदाश्रित मन भी भीरु हो जाता है। प्राय मासमय आहार से भीरुता दूर होती है,

५४ वाणी की कर्कशता—रोष और क्षोभ के कारण वाणी में कटुता, अथवा उनके बिना भी वाणी या स्वर में मार्दव का अभाव होना;

५५ त्वचा की रूक्षता,

५६ कृशता—धातुओ, विशेषतया मासधातु की क्षीणता ;

५७ शरीर के वर्ण की कृष्णता—यह कभी प्रादेशिक होती है, यथा नेत्रो के चारो ओर, ललाट पर , मण्डलो (दागो, धब्बो) के रूप में मुख आदि पर ; कभी सपूर्ण मुख, छाती आदि कृष्णवर्णाक्रान्त होते है। यह स्थिति कभी मल्ल-विष (आर्सेनिक-पॉयजनिंग) ग्रोकेन आदि से भी होती है ,

५८ उष्ण आहार, विहार देश, काल और औपधपर प्रीति—इनके सेवन की इच्छा। आयुर्वेद तथा आधुनिक दोनो मतो से रुचि ही से प्राय हिताहित पदार्थो का निर्णय हो जाता हे। उष्ण आहारादि वातशामक द्रव्यो की इच्छा वातरोगो में होना स्वाभाविक है ;

५९-६०. वल की न्यूनता और उसके कारण कर्म मे अनुत्साह—वातप्रकोप वश धातुओ के क्षीण होने का यह स्वाभाविक परिणाम होता है। पुरुष में पीतता या शरीर की कृशता न देखी जाए तो क्रमश रक्तक्षय तथा मास-क्षय की व्यावृत्ति कर शुक्र के क्षय का विचार व्यवसाय में करना चाहिए ;

६१. मल गाढ़ होना—वात के प्रकोप का निदान करने में वृद्ध वैद्य इस लक्षण पर सविशेष ध्यान देते है। मल कभी समस्त ही ग्रन्थिमय किंवा गाढ-शुष्क होता है, कभी उसका आगे का कुछ भाग ग्रन्थिभूत या शुष्क होता है। ये स्थितियाँ पुरीष के वर्त (पिण्डीभाव) और वायु की उत्पत्ति के तारतम्य की गमक है। निसर्गोपचारक मल की इन स्थितियो को देखकर निदान करते है कि पक्वाशय में मल शुष्कता को प्राप्त होने का अर्थ है कि, वह शुष्कता के प्रमाण के अनुसार न्यूनाधिक काल पक्वाशय में रहा , उतने काल उसका कोथ (प्युट्रि-फॅक्शन-सडॉद) हुआ , कोथ के प्रमाण और काल के अनुसार उसमें न्यूनाधिक विष (टॉक्सिन्स) उत्पन्न हुए , एव ऐसा मल जितने काल पक्वाशय में रहा उतने काल उसमें उत्पन्न विष शरीर में प्रसृत हो रोगोत्पत्ति करते रहे। उनके मत से पक्वाशय मे इस प्रकार उत्पन्न हो प्रसृत विष ही रोगोत्पत्ति तथा वार्धक्य के उत्पादन में कारण है। आयुर्वेद पक्वाशय में उत्पन्न द्रव्यो को वायु इस जाति या वर्ग में सनिवेशित करता है। उसके लिए वस्ति की सर्वोपरिता निसर्गोपचारको के सदृश ही आयुर्वेदाभिमत है। केवल निरूह-वस्ति का एकमात्र प्रयोग आयुर्वेद-समत नही है। कारण अनुवासन-वस्ति न करते हुए केवल निरूह का उपयोग आयुर्वेद में वात-प्रकोपक माना गया है। शाक-भाजी का अतियोग भी आयुर्वेद में वात-प्रकोपक अतएव गर्ह्य माना गया है।

६२ आनाह—कब्ज, कॉन्स्टिपेशन , इसके दो भेद है—आमज तथा पुरीपज। आधुनिको ने आनाह को प्रायः रोगो का मूल कहा है तो आयुर्वेद में

चाहिए कि जो [illegible] होता [illegible]
रहा है। [illegible] नाम का प्रयोग करना
चाहिए। [illegible] शुष्क [illegible]
हो जाए (भा०) [illegible];

६३ उद्गार—[illegible]
देखी जाती है, [illegible]
[illegible] की जाती है और [illegible]
दृष्टिगोचर होते हैं। [illegible]
[illegible] आदि [illegible]
से मल [illegible] न होने के कारण ही [illegible]
निकल जाता है;

६४ भ्रम—भ्रम या चक्कर के रोगियों में दो भेद [illegible]। एक जिसमें बाह्य पदार्थ रोगी को अपने चारों ओर घूमते दीखते हैं। इसे 'व्हर्टिगो' नाम दिया है। द्वितीय, 'गिडीनेस' जिसमें अपना शरीर [illegible] शिर, रोगी को चारों ओर घूमता प्रतीत होता है। रज पित्तानिलाद् भ्रम—सु. शा. ४।५६।—अर्थात् भ्रम के तीन कारण हैं। प्रथम रजोगुण, जिसका उल्लेख भ्रम-प्रधान रोग हाईपरटेन्शन के प्रकरण में 'इमोशन' (मानसिक आवेश) के नाम से आधुनिकों ने किया है। द्वितीय पित्त, जो अपने तीक्ष्ण (उष्ण) गुण के कारण बुद्धीन्द्रियों के स्थान शिर में रक्त-रस का प्रमाण तथा वेग (वेलोसिटी) बढ़ा कर भ्रम को उत्पन्न करता है। यहाँ वात का अधिकार होने से केवल वातज भ्रम का ग्रहण है। रजोगुण से हुआ भ्रम तो चिन्ता, शोक, ईर्ष्या आदि मनोभावों के आवेश का इतिहास होने से सुगमता से समझा जा सकता है। वात के प्रकोप का एक कारण श्रम होने से रोगी लेटा हो तो उठ बैठे, बैठा हो तो खड़ा हो, खड़ा हो तो चलने लगे, चलता हो तो दौड़ने लगे—इन स्थिति-परिवर्तनों में हुए श्रम से यदि भ्रम का वेग हो तो समझना चाहिए कि यह वातिक भ्रम है। विश्रान्ति-दशा में भी भ्रम हो तो उसे पैत्तिक समझना चाहिए। रक्तदाब का विचार करते हुए यह दोष-दृष्टि चिकित्सकों को रखनी चाहिए। इससे चिकित्सा शुद्ध और मूलगामी होगी।

वात का प्रकोप दो प्रकार से होता है, यह सिद्धान्त है। भ्रम के प्रकरण में उसका विचार करना चाहिए। वात का प्रकोप धातुक्षय से होता है तथा आवरण से। एवं वातिक भ्रम का प्रथम प्रभेद वह होता है जिसमें रस-रक्त का क्षय होने से बुद्धीन्द्रियों के अधिष्ठानों में उनका प्रमाण तथा वेग न्यून हो। नवीनों ने इसे 'एनीमिया' से

होनेवाला भ्रम कहा है। यह 'लो ब्लड प्रेशर' मे होता है। कदाचित् मासधातु का क्षय हो तो तद्घटित हृदय और धमनियो में रस-रक्त को व्यान-वायु की प्रेरणा से आगे धकेलने की क्रिया (शक्ति) न्यून हो जाने से भी रस-रक्त का प्रमाण और वेग बुद्धीन्द्रियो मे अल्प हो जाता है। प्राचीनो ने इसे धमनी-शैथिल्य या शिराशैथिल्य नाम दिया है। ऐसी स्थितियो में तीक्ष्णोष्ण, रस-रक्त की वृद्धि करनेवाले औषधाद्युपचार करने चाहिए।

वात-प्रकोप का द्वितीय कारण आवरण होता है। नवीनो ने बताया है कि रक्तदाब की अधिकता में धमनिकाओ (आर्टीरिओल्स) का स्तम्भ होता है। आयुर्वेद-मत से यह स्तम्भ विशेषतया वय-स्वभाववश (वार्धक्य के कारण) प्रकुपित हुए वायु के कारण होता है। इस स्तम्भ (कॉन्ट्रेक्शन) के कारण शरीर को रस-रक्त पहुँचानेवाले व्यान-वायु के मार्ग (क्रिया) मे अवरोध (आवरण)[1] होने के कारण वह प्रकुपित होता है—अपनी सकोचात्मक क्रिया अधिक बल से करने के लिए उद्दीपित (स्टिम्युलेटेड) होता है। इसी बल के कारण रक्तदाबमापक यन्त्र में पारद ऊँचे चढता है। इसी बल के कारण बुद्धीन्द्रियो के अधिष्ठान—शिर में—रस-रक्त अधिक प्रमाण और अधिक वेग से पहुँचते हैं, जिससे भ्रम होता है। व्यान-वायु के मार्ग में यह आवरण कई रुग्णो में धमनियो में खरत्व (आर्टीरिओस्क्लेरोसिस) के कारण धमनियो की स्थिति-स्थापकता क्षीण होने से भी होता है। नवीनो ने इस खरत्व का कारण धमनियो में केल्शियम का संचय बताया है। खरत्व एक बार हो जाए, तो इसका उपचार सभव नही है। तथापि पुरुष की प्रकृति देख कर उसमें धमनी-खरत्व तथा उसमे होनेवाले पक्षाघात आदि वात-विकारो की पहले से संभावना कर उसकी चर्या में अभ्यङ्ग आदि स्रोतो के मार्दवकर उपायो की योजना करानी चाहिए, जिससे वात की वृद्धि होने ही न पाए,

६५ म्लानता—रस-रक्तादि धातुओ का क्षय होने से तथा उनके कारण मन भी क्षीण हुआ होने से शरीर अप्रसन्न (मुर्झाया हुआ-सा) दिखाई देना। म्लान शब्द में हर्षक्षय अर्थ की म्लै (म्ला) धातु है।

वात-विकारो के स्वरूप-द्योतक गुण-कर्मो के इन उदाहरणो के उपसहार-रूप में तन्त्रकार कहते हैं कि, इन विकारो के अतिरिक्त निदान और स्थान के भेद से वायु विविध रोगो को उत्पन्न करता है।

१—अवरोध शब्द मे रुध् (रुधिर्) धातु है। पाणिनि ने इसका अर्थ आवरण दिया है।

वात-नानात्मज रोग—

विशेष कर वात-नानात्मज रोगों के विषय में कहा जा सकता है कि उल्लिखित लक्षणों और कर्मों वाले वातज रोग यों तो संख्यातीत हो सकते हैं, तथापि सामान्य बुद्धि के विद्यार्थी को चिकित्सा में मार्गदर्शन कराने के प्रयोजन से प्राचीनों ने लोक में सविशेष देखे जानेवाले वात-नानात्मज अस्सी रोगों का निर्देश किया है। ये रोग अधोलिखित हैं।—

१ नखभेद—नख फटना, अथवा खर-परुष होना,

२ विपादिका—तीव्र वेदना-सहित हस्त-पादतल का फटना, पाद-दारिका, बिवाई[1];

३ पादशूल—पैर (फुट) में वेदना,

४ पादभ्रंश—पद-निक्षेप (कदम) जिस स्थल पर करना हो, उससे भिन्न स्थल पर होना, पैर डगमगाना;

५ पादसुप्ति—पैरों का चेष्टानाश, किंवा स्पर्शाज्ञता,

६ वातखुड्डता—गुल्फवात (गिट्टे में वेदना—टॅलेल्जा), अथवा संधिवात (संधियों में वातकृत वेदना तथा शोथ)[2]। गुल्फवात को अन्यत्र वातकण्टक भी कहा है;

७ गुल्फग्रह—गुल्फ-संधि में शोथ और शूल हो कर निष्क्रियता अथवा उनके बिना भी जकडाहट की प्रतीति,

८ पिण्डिकोद्वेष्टन[3]—जाँघ में मरोड की-सी वेदना, यह वेदना मन्यास्तम्भ के समान पेशियों के स्वल्पमात्र एक दूसरे पर चढने से होती है, किंवा

१—नानात्मज रोगों का यह उल्लेख चरक के अनुसार है। अतः विपादिका का लक्षण उसीके अनुसार लिया है। सुश्रुत ने दाह-प्रधान पैत्तिक विपादिका का निर्देश किया है, उसका यहाँ ग्रहण नहीं है। प्रत्यक्ष में वातिक तथा पैत्तिक उभयविध विपादिका—विचर्चिका देखी जाती है। सो, इन रोगों में पीडित रोगियों में चिकित्सा दोष का निदान कर करनी चाहिए।

२—मूल नाम खुडवातता के इन अर्थों के लिए देखिए—च० चि० २८।७३ पर चक्रपाणि।

३—स्मरण रहे, जैसे तिक्त और कटु शब्द सदृश होते हुए भी क्रमश तीखे और कडवे के वाचक न हो कर कडुए और तीखे के अर्थ में संस्कृत वाङ्मय में प्रयुक्त हुए हैं, वही स्थिति पिण्डिका और जङ्घा शब्दों की है। पिण्डिका का अर्थ पिण्डली नहीं, जाँघ का पीछे का मांसल भाग है। एवं जङ्घा का अर्थ जाँघ नहीं, पिण्डली (काफ) है।

उनके सहसा सकोच के कारण भी होती है। दूसरी स्थिति बहुत वार शीत जल में तैरते हुए समय देखी जाती है। तैराक कठिन परिस्थिति मे आ पडता है,

९ गृध्रसी—यहाँ गृध्रसी-शूल ही केवल वातज होने से अभिप्रेत है, कफज भेद विवक्षित नही है,

१० जानुभेद—घुटनो में फटने की-सी वेदना,

११ जानुविश्लेप—जानुसधि का शैथिल्य और उसके कारण आकुचन-प्रसारण प्रभृति कर्म में कठिनाई होना; यद्वा जानु-सधि विश्लिष्ट हो गई हो—ऊपर के भाग से पृथक् हो गई हो ऐसी प्रतीति, कभी ऐसी प्रतीति विप के उपयोग से भी देखी जाती है,

१२. ऊरुस्तम्भ—ऊरुओ का वातप्रकोपवश स्तव्य—सकष्ट-चेष्टायुक्त—हो जाना। आम, मेद और कफ से होनेवाला रोग-विशेष यहाँ विवक्षित नही है,

१३ ऊरुसाद—जाँघो का शैथिल्य—कर्म में अनुत्साह,

१४ पागुल्य—दोनो पैर लूले होना; वालको मे होनेवाला रोगज फक्क-रोग (इन्फेंटाइल पेरेलिसिस, एटीरीअर पॉलिओमायलाइटिस; या केवल पॉलिओ, वाल पक्षाघात) भी इसका एक भेद है। वैद्यो को इसमे वात को लक्ष्य में रख स्वेदन-स्नेहनादि वातप्रत्यनीक उपचार करने चाहिए,

१५ गुदभ्रंश—गुद वाहर निकलने की प्रवृत्ति (प्रोलेप्स एनाई), पितृपक्ष से स्नायु-वन्धनो का दौर्वल्य किंवा मातृपक्ष से मासधातु का दौर्वल्य संतान को प्राप्त हुआ हो, तो गुदभ्रश किंवा अन्य भ्रश हुए देखे जाते है। रचना-शारीर में पितृज-मातृज आदि अवयवो के प्रसग में वाचक जान चुके है कि सतान को प्राकृत-विकृत स्नायु पिता से तथा मासधातु माता से प्राप्त होती है। अर्थात् ये अवयव माता-पिता में जैसे होते है वैसे सतति को प्राप्त होते है। गुदभ्रश पीडित रोगी में माता-पिता के विभिन्न अवयवो के भ्रश का इतिहास पूछना चाहिए। प्रश्न-परीक्षा में स्मरण रखने की वात यह है कि गुदभ्रश पीडित अपत्य के माता-पिता में स्नायु या मास दुर्बल हो, तो उन्हें भी गुदभ्रश ही हो सो वात नही। प्राय. अन्य अवयव का भ्रश होता है। यथा, माता में गर्भ-धारणादि कारणो से दुर्वल हुआ गर्भयन्त्र भ्रश का पात्र हो सकता है और स्त्री को गर्भाशय-ग्रीवा (सर्विक्स) या गर्भाशय बाहर निकलने की व्यथा हो सकती है। पिता में इसी प्रकार अन्त्र-स्खलन, मन्यास्तम्भ, गुदभ्रश या फ्लैटफुट (पादतल की मध्यवर्ती कमान सीधी होना) हो सकता है। माता-पिता का इतिहास जानने का कारण यह है कि कुलज या आदिवलप्रवृत्त रोग सुसाध्य नही होते। गुदभ्रंश आनाह (कब्ज), अर्श, प्रवाहिका, या गुद पर हुए शस्त्र कर्म के कारण भी हो सकता है। आनाह में इसकी उत्पत्ति मलप्रवृत्ति के लिए प्रवाहण

(क्षार लगाने) के परिणाम रूप में होती है। अतिसार-प्रवाहिका निरन्तर रहे, तो गुद के दौर्बल्य की भी परिणति गुदभ्रंश में हो सकती है,

१६ गुदार्ति—चीर (फिशर) आदि न होने पर भी गुद-प्रदेश में वेदना ;

१७ वृषणोत्क्षेप—वृषण ऊपर चढ़ जाना। गर्भ के प्रारम्भिक मासों में वृषण ग्रन्थियां उदर-गुहा में रहती हैं। पिछले मासों में वृषण-कोष में उतर आती हैं। कभी सर्वथा नहीं उतरतीं, कभी आधे मार्ग तक आ कर रह जाती हैं। अंग्रेजी में इन्हें "अनडिसेंडेड टेस्टीज' कहते हैं। उदर गुहा की उष्णता अधिक होने से पुबीज जीवित नहीं रह सकते। परिणामतया निष्फलत्व (स्टरिलिटी) से पुरुष पीड़ित होता है। कदाचित्, इस वैगुण्य का वर्णन यहाँ प्राचीनो ने किया है,

१८ शेफस्तम्भ—शिश्न स्तब्ध (अमृदु, जकड़ा हुआ) होना, इसके कारण व्यवाय-कृच्छ्र,

१९ वंक्षणानाह—वंक्षण (जांघ के मूल) में जकड़ाहट अथवा फुलावा होना ; कदाचित् अन्त्रवृद्धि के पूर्व होनेवाले वंक्षणगत आध्मान का यहाँ निर्देश है,

२० श्रोणिभेद—कमर फटना,

२१ विड्भेद—पुरीष का फटना। इस विकार में पुरीष की प्रवृत्ति एक साथ ही संपूर्ण नहीं हो जाती। वायु के कारण पुरीष विभक्त हो जाता है। परिणामतया, या तो एक ही वेगोत्सर्ग के समय रह-रह कर थोड़ा-थोड़ा शिथिल या ग्रथित मल प्रवृत्त होता है, किंवा मल प्रवृत्ति के वेग अहोरात्र में अनेक होते हैं, जिनमें प्रत्येक समय एक या अधिक छोटी-बड़ी ग्रन्थि प्रवृत्त होती हैं ;

२२ उदावर्त—वेगधारणवश किंवा मलो का वर्त (पिण्डीभाव) हो जाने से मलो की प्रवृत्ति न होना, अपरञ्च प्रतिलोम गति हो कर उदावर्त या वेगधारणनिषेध के अध्यायो में[1] वर्णित विभिन्न लक्षण मल-भेदानुसार होना। आर्तव क्षीण न हो तथापि उसकी इस प्रकार प्रवृत्ति न होने का नाम ही योनि-व्यापत्—प्रकरण (स्त्री-रोगाधिकार) में उदावर्ता योनि (डिसमेनोरिआ) दिया है। इस रोग को, प्राचीन नाम होते हुए भी निष्प्रयोजन कष्टार्तव यह नया नाम दिया गया है,

२३ खञ्जत्व—एक पैर का लँगडापन[2],

१—देखिए—च० सू० ७—न वेगान्धारणीयाध्याय तथा सु० उ० ५५—उदावर्त-प्रतिषेधाध्याय।

२—नानात्मज रोगो में परिगणित कई रोगो का विवरण ऊपर आ ही गया है। अत यहाँ विस्तार नहीं किया है।

२४ कुब्जता—कुबडापन ;

२५. वामनत्व—ऊँचाई न्यून होना ; ठिगनापन , अग्रेजी मे ड्वार्फिज्म। सुश्रुत ने जन्मबलप्रवृत्त रोगो मे वामनत्व की भी गणना की है, जिसका अर्थ यह है कि गर्भिणी सगर्भावस्था में दुष्ट आहार-विहार करती हो, तो सतति वामनत्व आदि किसी रोग से पीडित होती है। नव्य मत से यह पिट्यूइटरी नामक नि स्रोत-ग्रन्थि की क्रिया की हीनता से होनेवाला रोग है। इन्ही रोगो में पंगुता की भी आचार्य ने गणना की है। जन्मबलप्रवृत्त पगुता काश्यप का गर्भज फक्क रोग तथा नवीनो का रिकेट्स है[3]। स्मरण रहे, रिकेट्स अस्थियो का सम्यक् पुष्ट न होना जिसका प्रमुख लक्षण है, ऐसे रोग-विशेष का नाम है। शोष-पीडित या कृश बालको को गौणी वृत्ति से या भूल से रिकेट्स-पीडित माना जाता है ;

२६. त्रिकग्रह—पृष्ठवश का नीचे का भाग—त्रिकास्थि से सूचित प्रदेश—जकडा जाना। आमवातप्रकृतिक पुरुषो में यह प्राय होता है और अल्पमात्र कारण से इसके वेग हो आते हैं। कई दोषो और रोगो के लिए अथवा नव्य-मत से कई रोगबीजो के लिए अमुक अवयव सविशेष गम्य होते हैं, इसका एक उदाहरण त्रिकग्रह है। त्रिक प्रदेश मे स्थित स्नायु (सधिबन्धन) सुदृढ होते हुए भी शरीर के इतर स्नायुओ की अपेक्षया आमवात (रूमेटिज्म) के विशेष प्रिय स्थल है ,

२७ पृष्ठग्रह—पृष्ठ की पेशियो तथा स्नायुओ मे प्रकुपित वात का स्थान-सश्रय होने से उनकी स्तब्धता ;

२८ पार्श्वावमर्द—पार्श्वो में वेदना। यह कदाचित् वात-प्रकोपवश पार्श्वो की पेशियो तथा नाडियो में होनेवाला शूल है। इस तुलना का प्रयोजन यह है कि नवीन मत से यहाँ किंवा शरीर के इतर भागो में मायेल्जा, न्यूरेल्जा (पर्शुकान्तरालवर्ती पेशियो के शूल की विशेष सज्ञा—प्लुरोडायनी) निदान हो, तो भी आयुर्वेद-मत से उन्हे वात-विकार मान कर तथा उसकी भी सामता-निरामता की परीक्षा कर उपचार किया जाए, तो चिकित्सा मूलगामी और स्थायी तो होती ही है, उसके आशुकारी होने में भी सशय नही। ड्राई प्लुरिसी में विशेषोपचार भी करने चाहिए ;

२९ उदरावेष्ट—पेट में मरोड (ऐंठन) की-सी प्रतीति , प्रवाहिका मे सचित कफ से हुए आवरण के कारण अपान-वायु का प्रकोप (सकोचात्मक प्राकृत-कर्म की वृद्धि) होती है, तो यह लक्षण सुव्यक्ततया देखा जाता है ;

३० हृन्मोह—हृदय में घबराहट हो कर भ्रम, तम, स्वेद और मूर्च्छा (कोमा)। यहाँ उन्माद यह पाठान्तर है ;

३१ हृद्द्रव--हृदय का स्पन्दन जो सामान्यतया अप्रतीयमान होता है वह प्रतीति के साथ होना, पैल्पिटेशन। इसमें भी वायु की कारणता को दृष्टि में रख वायु के शमन-शोधन उपचार किए जाएँ, तो चिकित्सा त्वरित फलदायी, मूलगामी और स्थायी होती है। साथ ही तमाखू आदि निदान हों तो उनका परिवर्जन भी कराना चाहिए

३२ वक्ष-उद्धर्ष (वक्षोद्धर्ष)--छाती में (विशेषतः हृदय में) कोई कुछ घिसता हो (या बिलोता हो इत्यादि) प्रकार का अनुभव ;

३३. वक्ष उपरोध--छाती में (छाती के अवयवभूत हृदय, कण्ठ आदि में) अवरोध की प्रतीति होना,

३४ वक्षस्तोद--छाती में तोद--सुई चुभने की-सी प्रतीति ; प्रिकिंग सेन्सेशन,

३५ बाहुशोष--बाहु की एक अथवा अनेक पेशियों की शुष्कता (एट्रॉफी) होना। इसके कारण वेदना, विशेषतया चेष्टा के समय कम्प-प्रभृति लक्षण होना;

३६ ग्रीवास्तम्भ--ग्रीवा की पेशियों या स्नायुओं के स्तम्भ अथवा स्थिरता (स्तब्धता, सकोच) के कारण ग्रीवा की चेष्टा न्यूनाधिक नष्ट हो जाना, राई नेक, टॉर्टीकोलिस,

३७ मन्यास्तम्भ--ग्रीवा की मन्या नामक पेशी (अंग्रेजी में स्टर्नो-मेस्टॉयड) का उक्त प्रकार से स्तम्भ,

३८. कण्ठोद्ध्वंस--स्वर की विकृतियाँ,

३९. हनुभेद--हनु (जबडे) में भेद--टूटने की-सी वेदना। यहाँ अष्टाङ्गसग्रह में हनुस्तम्भ पाठान्तर है,

४०. ओष्ठभेद--वातप्रकोपवश ओष्ठ में फटने की-सी वेदना किंवा ओष्ठ में चीर पड़ना,

४१. अक्षिभेद--आँख में भेदनवत् वेदना। सग्रह में तालुभेद पाठान्तर है। उसका अर्थ तालु में वेदना-विशेष किंवा चीर (फिशर) या छिद्र होना है ;

४२ दन्तभेद--दन्त में भेदनवत् वेदना ; किंवा वातकृत अस्थिक्षय के कारण दन्त का भी क्षय होने से दाँत आधे में से टूट जाना,

४३. दन्तशैथिल्य--दन्तवेष्ट (मसूडे) का घटक धातु वातप्रकोप के कारण क्षीण हो जाने से उसके कारण दाँतों का ग्रहण दृढता से न होने से दाँत शिथिल (ढीले, किंचित् चल) हो जाना,

४४. मूकता--वाणी का नाश,

४५ वाक्संग--वाणी की प्रवृत्ति न होना। वाणी के अभाव के आधुनिकों ने दो भेद किए है। कण्ठ (स्वरतन्त्री) की स्तब्धता आदि प्रादेशिक कारणों

से वाणी का अभाव हो, तो इसे 'एफोनिया' (फोन=शब्द) कहा जाता है। मस्तिष्क के केन्द्र की विकृति से हो, तो इसे 'एफेजिया' कहते है। प्रथम भेद प्राचीनो का वाक्संग है। सग शब्द से सूचित है कि इस विकार में वाणी होती तो है, पर उसकी प्रवृत्ति (प्रादुर्भाव) नही होता। इससे ध्वनित है कि मूकता के समान इसमें वाणी का नाश (लोप) नही होता, केवल उसकी प्रवृत्ति का निरोध होता है, जो प्रादेशिक विकृतियो की कारणता दर्शाता है। शेष, मूकता में वाणी का लोप ही होता है, जो दूरगामी कारण--वाणी के अधिष्ठान या मस्तिष्कगत केन्द्र--की विकृति का सूचक है। यहाँ मूकत्व तथा गद्गदत्व यह पाठान्तर है ;

४६. कषायास्यता--मुख का रस कषाय (तुरा, कसैला) होना (या विरस होना--कोई स्वाद ही न होना) ;

४७. मुखशोथ--मुख सूखना, रसादि धातुओ के समान तथा उनके साथ अब्धातु का भी क्षय (उदकक्षय--डीहाईड्रेशन) होने से मुख-तालु-गल और क्लोम (शुष्कक्लोमगलाननः) ये पिपासास्थान--जिनमें पिपासा की प्रतीति होती है ऐसे स्थान--शुष्कता अनुभव करते हैं। परिणामतया रोगी को तृषा लगती है। प्रतिश्याय, नासार्बुद आदि में प्राणवायु के गमनागमन का मार्ग अवरुद्ध होने से ये पिपासास्थान मुख से श्वास लेने से बाह्य वायु के स्पर्श से शुष्क हो जाते हैं। तब भी रोगी मुखशोषवश पिपासा से पीडित होता है। वातज मुखशोष तथा तृषा का यह स्वरूप समझ लेना चाहिए। सामान्यतया इन रोगो का नाम लेते ही पित्त की स्मृति हो आती है ;

४८. अरसज्ञता--किसी रस का अनुभव-बोध, ज्ञान-न होना। वात के प्रकोप के कारण अन्य दोष-धातु आदि के समान तथा उनके साथ रसनागत रस-बोधन के हेतुभूत बोधक कफ का भी क्षय होता है। परिणामतया पुरुष रस का ग्रहण नही कर पाता। स्मरण रहे, अभिनव क्रिया-शारीर में कहा है कि लालारस गृहीत अन्नपान को अपने में घोल लेता है, तभी गृहीत द्रव्य रसनेन्द्रियगत रसग्राही सज्ञासूत्रो के ससर्ग मे आते है। इस मत से अभिभूत हो वैद्यजन लालारस को ही बोधक कफ मानने को प्रेरित होते है। परन्तु ये दोनो द्रव्य भिन्न है। लाला में जो केवल कफ ग्रन्थियो द्वारा स्रावित तन्तुमान् पदार्थ --म्युक्स--होता है, वही आयुर्वेद का बोधक कफ है। इसकी तथा लाला की वृद्धि के नाम भी आयुर्वेद में पृथक् है। बोधक कफ की अतिवृद्धि, अतएव अतिप्रवृत्ति को कफष्ठीवन, श्लेष्मोद्गिरण आदि तथा लाला की अतिवृद्धि तथा अतिप्रवृत्ति को लालाप्रसेक, केवल प्रसेक, हृल्लास आदि नाम तन्त्रकारो ने दिये हैं,

४९. घ्राणनाश--गन्धाज्ञता, गन्ध का ग्रहण न होना : सुगन्ध-दुर्गन्ध तथा द्रव्यों के पृथक् गन्धों की प्रतीति न होना। यह विकार वातज है। इसीसे षड्बिन्दु तैल के नस्य आदि वातशामक उपचारों से वैद्यजन इसका सफल उपचार करते है,

५०. कर्णशूल--पाकादि न होते हुए भी कान में तीव्र वेदना,

५१. अशब्दश्रवण--शब्द न होते हुए विविध शब्द सुनाई देना। इसीको कर्णनाद (टिनीटस) भी कहते है। कर्णगूथ (कान का मैल) पटह (पर्द) से टकराने से, शुष्क अथवा शोथ के कारण विदीर्ण पटह मध्यकर्णगत अस्थियों पर टकराने से मध्यकर्ण को आभ्यन्तर कर्ण से जोडनेवाले द्वार (फिनेस्ट्रा ऑवेलिस) पर स्थित कला में केल्शियम का निक्षेप हो कर खरता आ जाने से तथा ऐसे ही कारणों से यह होता है। तीनो विकार शुष्कता और खरता को देखते हुए वातिक ही कहे जाने चाहिए,

५२. उच्चैःश्रुति--'ऊँचा सुनना' नाम से प्रसिद्ध विकार। इसमें रोगी अल्प शब्द सर्वथा सुन नही सकता, ऊँचे से कही बात को सुनता है। रोगि-भेद से उच्चता के तरतमभाव में भेद होता है--कोई कितना ऊँचा सुनता है, कोई कितना ऊँचा। बहुत बार रोगी का ध्यान हो, तो अपेक्षया नीचे स्वर से कही बात भी वह सुन सकता है। प्राय रोगी धीमे कही बात सुन नही पाते, पर वक्ता के ओष्ठ की चेष्टा को देख वर्ण, शब्द और वाक्य की कल्पना कर लेते देखे जाते है। इसे 'लिप-रीडिंग' कहा जाता है। उच्चैःश्रुति वय.परिपाक से आती है, वार्धक्य मे विशेष देखी जाती है। कभी एक कान में होती है, कभी दोनो कानो में,

५३. बाधिर्य--शब्दमात्र सर्वथा न सुनाई देना,

५४. वर्त्मस्तम्भ, ५५. वर्त्मसंकोच--वर्त्मस्तम्भ में वर्त्म (पलक) बन्द नही होती--ऑख सदा खुली रहती है। इसके कारण अश्रु जो निमेष के समय वर्त्म द्वारा पीडित हो नासिका और गल-मार्ग की ओर प्रवाहित हो जाते है वे अब पीडनाभाववश उन मार्गो से न जाने के कारण सचित हो रोगी के गाल पर ही पडते रहते है (एपीफोरा)। परिणामतया, त्वचा पर सदा क्लेद (भीनापन) बना रहने से छाजन (पामा, अकौता) या अन्य कुष्ठ रोग हो जाते है। सुश्रुत ने इसीको वातहतवर्त्म नाम दिया है, जिसमे हत=क्रियाशक्तिशून्य, पेरेलाइज्ड। अग्रेजी में इसे 'लेगॉ-फ्थेल्मस' कहते हैं। यह विकृति प्राय अर्दित की अङ्गभूत होती है। वर्त्म-सकोच में वर्त्म (पलके) हत हो सदा मिची रहती है। अग्रेजी मे इसे 'टोसिस' कहते हैं। माधव ने सुश्रुत का वातहतवर्त्म की व्याख्या करनेवाला पद्य उद्धृत

किया है। उसका एक पाठान्तर मधुकोषकार ने दिया है। उसके अनुसार वातहतवर्त्म चरक का वर्त्म-सकोच है। यह पाठान्तर टीकाकार को मिला होगा। परन्तु उसका उल्लेख निष्प्रयोजन है। माधव ने नेत्र रोगो के प्रकरण में कुञ्चन नामक चरक-सुश्रुत द्वारा अनिर्दिष्ट नामवाला रोग दे कर तन्त्रान्तर से उसका लक्षण दिया है। वह चरक का वर्त्म-सकोच ही है। काश्यप ने नानात्मज रोग चरक के अनुसार ही बताए हैं। इन दोनो रोगो के निर्देश में भी उसने चरक का अनुसरण किया है,

५६. तिमिर—आँखो के आगे छोटे-छोटे काले धब्बे फिरते दिखाई देना अथवा पूर्ण अन्धकार छा जाना। द्वितीय स्थिति मूर्च्छा के पूर्व रूप मे भी होती है। उसके लिए गुजराती में तिमिर का अपभ्रश 'तम्मर' शब्द ही प्रयुक्त होता है। इस तिमिर के लिए आयुर्वेद मे कही अन्धकार-वाचक ही 'तम' शब्द का भी प्रयोग होता है। यह तम सज्ञा कभी तमकश्वास के अर्थ में व्यवहृत हुई भी देखी जाती है। तिमिर शब्द नेत्रो के पटलो के रोगो के लिए भी प्रयुक्त हुआ है। उसका यहाँ ग्रहण नही है,

५७. नेत्रशूल—पाकादि न होने पर भी आँख दुखना,

५८. अक्षिव्युदास—पुतली फिर जाना;

५९. भ्रूव्युदास—भौंह टेढी हो जाना,

६०. शङ्खभेद—शङ्ख-प्रदेशो में—कनपटी में—शकुवत् तीव्र वेदना होना, वातप्रकोपवश इन्द्रियाधिष्ठान शिर में जानेवाले रस-रक्तवह स्रोतो का व्यास (विस्तार, डायलेटेशन) हो जाता है। परिणामतया, उनमे रस-रक्त का आयात अधिक होता है। मस्तिष्क शिर कपाल जैसे स्थितिस्थापकता-रहित कठिन अवयव से वेष्टित होने से अधिक प्रमाण में आए रस-रक्त से हुए पीडन को शिर कपाल अपने ऊपर नही लेता। संपूर्ण पीडन मस्तिष्क पर ही आ पडता है। परिणामतया, शिर में तीव्र वेदना की प्रतीति होती है। ऐसे समय में शङ्ख-प्रदेश पर —कान के आगे स्थित—धमनियो का विस्तार तथा उनमे स्पन्दन की सविशेष प्रतीति अगुलियो के स्पर्श से रोगी या परीक्षक कर सकता है तथा आरम्भक दोष का सम्यक् निदान कर सकता है। नव्य मत से यह व्यास पक्वाशय में कोथवश उत्पन्न हिस्टेमीन—नामक द्रव्य के प्रभाव से होता है। सो, यह द्रव्य भी वातजातीय द्रव्यो की श्रेणी मे परिगणनीय प्रतीत होता है। शङ्ख तथा शिर में वातकृत वेदना एक अन्य कारण से भी होती है। कफ-वात प्रधान प्रकृति या विकृति वाले पुरुष शीत वायु से पूर्ण प्रदेश (केले की बगीची, शीतऋतु मे घर के बाहर रेलवे की यात्रा आदि) मे जाते है, तो शीत-वात के स्पर्श से उनकी शिरस्त्वचा (स्कैल्प) मे सूक्ष्म शोथ हो कर वेदना हो आती

है। इन दृष्टान्तों को देखने से विदित होगा कि रोग-परीक्षा में कारणों की कैसी सूक्ष्म मीमांसा करना आवश्यक होता है ;

६१ ललाटभेद्—ललाट के फाड़े जाने की-सी वेदना , बहुधा यह प्रतिश्यायगत कफ से ललाटास्थियों में स्थित वाताशय पूर्ण होने से —आयुर्वेद के शब्दों में कफ द्वारा वायु आवृत होने से—होती है। प्रतिश्याय एक ही ओर हो तो वेदना भी उस ओर के ललाटार्ध में होती है, और अर्धावभेदक (आधासीसी) की शङ्का कराती है। प्रतिश्याय पैत्तिक हो, तो प्रातःकाल के अनन्तर जैसे-जैसे दिन चढ़ता जाता है वैसे-वैसे बाह्य उष्णता की वृद्धि होने से शारीरिक पित्त की भी वृद्धि होती है। परिणामतया, ललाटार्ध में वेदना भी बढ़ती जाती है और सूर्यावर्त की भ्रान्ति कराती है। दोनों दशाओं में प्रतिश्याय की चिकित्सा से रोग-निवृत्ति होती है। ललाट में वेदना कभी नेत्रों के विकार से भी होती है। उपनेत्र लगाने से वह सुस्थित हो जाती है। अधिमन्थ (ग्लॉकोमा) आदि कारणों से भी ललाटभेद होता है ,

६२. शिरोरोग—शिरःशूल नाम से यह आजकल के लेखकों में प्रसिद्ध है। शूल तीव्र शङ्कुस्फोटनवत् वेदना का नाम है। शिरोवेदना या 'हेड-एक' के लिए प्राचीनों ने शिरोरोग शब्द का ही व्यवहार किया है। सुश्रुत में इस नाम से ही इसका निदान तथा चिकित्सा बतानेवाले दो अध्याय हैं। सो, इस शुद्ध संज्ञा को ही लेखकों तथा चिकित्सकों को अपनाना चाहिए। शिरोरोग पर कुछ वक्तव्य शङ्खभेद तथा ललाटभेद के प्रकरण में दिया जा चुका है ;

६३. केशभूमिस्फुटन—केशों की भूमि—केश जहाँ त्वचा पर फूटे दिखाई देते हैं वह प्रदेश , वहाँ की त्वचा—फटना ,

६४ अर्दित—मुख का वध, फेशियल पेरेलिसिस , इसीका एक प्रकार 'बेल्स पाल्सी' आधुनिक विज्ञान में वर्णित है , फेशियल नर्व का कितना प्रदेश दोषाक्रान्त है, इस भेद से ये दो भेद किए गए हैं ;

६५ एकाङ्गरोग , ६६ सर्वाङ्गरोग—ज्वरादि रोगों के उष्णत्व, शीतत्व आदि लक्षण एकाङ्ग में व्याप्त होना , किंवा सर्वाङ्ग में व्याप्त होना। रोग भले दोषान्तरारब्ध हो तथापि उसकी व्याप्ति एक ओर अमुक अङ्ग-विशेष में होना यद्वा सर्वाङ्ग में होना वात ही के अधीन है। कारण, दोष, धातु, मल वायुना यत्र नीयन्ते तत्र वर्षन्ति मेघवत् (चक्रपाणि)। सर्वाङ्गरोग के स्थान पर चरक में कहीं पक्षवध (पक्षाघात) यह पाठान्तर है ; काश्यप ने भी पक्षवध ही दिया है। ऐसी स्थिति में एकाङ्गरोग का अर्थ प्रकरणान्तर में आया एक हाथ या एक पैर का वध (मॉनोप्लीगिआ) लेना युक्त होगा ;

६७. आक्षेपक—हाथ, पैर, ग्रीवा आदि पटकना, कन्वल्शन्स; यह अपस्मार आदि रोगो का अङ्गभूत भी होता है, कभी स्वतन्त्र भी होता है;

६८ दण्डक—शरीर दण्डवत् स्तब्ध (अक्कड, रिजिड) होना; दण्डापतानक;

६९ तम—वात-प्रकोपजनित तमक श्वास, या वातज मूर्च्छा, यहाँ श्रम (चेष्टा किए विना भी थकावट) पाठान्तर है;

७० भ्रम—चक्कर, अथवा स्मृतिभ्रंश, मतिभ्रम, आदि;

७१. वेपथु—हाथ-पैर, ग्रीवा आदि एकाङ्ग या सर्वाङ्ग का कम्प;

७२ जम्भा—जमुहाई;

७३ हिक्का—हिचकी, अर्श, उदावर्त आदि कारण से प्रतिलोम हुए वायु के कारण यह होती है। सग्रह में यहाँ ग्लानि पाठान्तर है; उसका अर्थ हर्ष का अभाव है;

७४. विषाद—मनोभङ्ग, उत्साहाभाव, डिप्रेशन;

७५ अतिप्रलाप—डिलीरिअम। पहले कहा जा चुका है कि, ज्वरो में प्रलाप पित्तकृत (तीव्रोष्मा से उत्पन्न) भी हो सकता है, पर वात भी उसमें हेतु होना सम्भव है। यहाँ वातप्रकोपजनित अति प्रलाप का निर्देश है;

७६ रौक्ष्य—एकाङ्ग या सर्वाङ्ग रूक्ष होना;

७७ पारुष्य—एकाङ्ग, सर्वाङ्ग, मल या वाणी आदि में कर्कशता होना;

७८ श्यावारुणावभासता—त्वचा, श्लेष्मकला, मल आदि श्याव (राख के वर्ण के) या अरुण (गुलाबी) से होना;

७९. अस्वप्न—निद्रानाश (इन्सोम्निआ)। निद्रा का एक अद्भुत विपर्यय आधुनिकों ने प्रत्यक्ष किया है। इसमें रोगी सुषुप्त दशा मे ही जाग्रत् जैसी चेष्टा करता है, पर उसका उसे सर्वथा ज्ञान नही होता। यह चेष्टा कभी-कभी कई मील घुडसवारी जैसी भी होती है, पर सब निद्रावस्था में ही। इसे 'साम्नेम्बुलिज्म' नाम दिया गया है;

८०. अनवस्थितचित्तता—मन तथा बुद्धि एक विषय, एक कार्य या एक निश्चय पर स्थिर न रहना,—

इत्यशीतिर्वातविकारा वातविकाराणामपरिसंख्येयानामाविष्कृततमा व्याख्याता॥ च० सू० २०।११

वातविकार यत्सत्य अगणित है। तथापि मन्दबुद्धि विद्यार्थियो के व्यवहार के लिए तथा विपुलबुद्धियो के मार्गदर्शनार्थ प्रसिद्धतम—लोक में प्राय देखे जानेवाले, प्रायोभावी—ये अस्सी वात-नानात्मज रोग हमने यहाँ उपनिबद्ध किए है।

काश्यप ने कुछ रोगो का परित्याग कर अधोलिखित रोगों की गणना वातनानात्मज रोगाधिकार मे विशेष की है--

वातकण्टक--गुल्फ अर्थात् पाद और जङ्घा (लेग) की संधि में वेदना। पैर उल्टा-सीधा पडने से यह होता है, ऐसा कहा गया है। शीतस्थल पर खुले पैर चलने से भी यह होता देखा गया है। गुल्फवात और वातकण्टक में भेद अन्वेषणीय है,

विड्ग्रह--मल विबद्ध हो जाना,

पक्षवध--पक्षाघात, पाठान्तर रूप मे चरक मे यह आया है;

वन्ध्यात्व--स्त्री-दोष से अनपत्यता,

पाण्ढ्य--पुरुष के दोष से अनपत्यता, निष्फलत्व। इन दो विकारो का कुछ विचार ऊपर सामान्य-प्रकरण मे कर आए है,

प्रतिश्याय--जुकाम। चरक ने भी प्रतिश्याय में वायु को ही कारण कहा है। देखिए--संस्त्यानदोषे शिरसि प्रवृद्धो वायुः प्रतिश्यायमुदीरयेत्तु--च वि २६।१०५।--दोष अपने-अपने प्रकोप के कारणो से शिर मे घनीभूत हो स्थान-संश्रय किए हुए हो तो वृद्धि को प्राप्त हुआ वायु प्रतिश्याय को उत्पन्न करता है। राजयक्ष्मा के प्रकरण में प्रतिश्याय से यक्ष्मा की उत्पत्ति बताते यही बात निरुक्तिपूर्वक अधिक स्पष्ट कही है--

घ्राणमूले स्थित' श्लेष्मा रुधिरं पित्तमेव वा।
मारुताध्मातशिरसो मारुतं श्यायते प्रति॥

च० चि० ८।४८

--पुरुष का शिर वायु से परिपूर्ण हो, ऐसी स्थिति मे नासिका के मूल में स्थित कफ, पित्त या रक्त कुपित हो, वायु के प्रति श्याय (गमन) करता है--रोगोत्पत्ति करने मे वायु को सहकार देता है। इसी से इस रोग का नाम प्रतिश्याय है। प्रतिश्याय में वायु की इस कारणता को लक्ष्य में रख कर ही सिद्ध वैद्य मलवातानुलोमन, वायु की वृद्धि मल से होती है, उस की भी पुष्टि अन्न-पान से होती है, अत अन्नपान का त्याग--लङ्घन--इत्यादि मूलगामी उपचारो की योजना करते है। प्रसिद्ध भी है--जिसे पेट साफ आता हो उसे प्रतिश्याय हो नहीं सकता।

शार्ङ्गधरोक्त वात-नानात्मज विकार--

अन्य-दोषारब्ध नानात्मज रोगो के समान शार्ङ्गधर-निर्दिष्ट वात-नानात्मज रोग भी आविष्कृततम--चरकोक्त वातनानात्मज रोगो की अपेक्षया लोक में अधिक दृष्टिगोचर होनेवाले हैं। अत व्यवसायोपयुक्त होने से उनका भी उल्लेख किया जाता है।--

१. आक्षेपक; २. हनुस्तम्भ—मुख खुला या बन्द रह जाना, ३. ऊरुस्तम्भ,

४. शिरोग्रह—इसका यह लक्षण प्रसिद्ध है—

रक्तमाश्रित्य पवनः कुर्यान्मूर्धधराः शिराः।
रूक्षाः सवेदनाः कृष्णाः सोऽसाध्यः स्याच्छिरोग्रहः॥

वायु रक्तानुबद्ध हो शिर को धारण करनेवाली शिराओं को (पेशियों तथा स्नायुओं को) रूक्ष, वेदनायुक्त तथा कृष्णवर्ण कर देता है। इस विकार को शिरोग्रह कहा जाता है। यह असाध्य है;

५. बाह्यायाम—समस्त शरीर बाहर (पीछे) की ओर अकड़ और मुड़ जाना, ऑपिस्थोटॉनोस (ऑपिस्थो—पीछे),

६. अन्तरायाम—शरीर अन्दर (सामने) की ओर अकड़ और मुड़ जाना, एम्प्रोथॉटोनोस (एम्प्रोस्थेन—आगे की दिशा में), बाह्यायाम—अन्तरायाम का एक नाम—इन में शरीर धनुर्वत् वक्र तथा स्तब्ध होने से धनुस्तम्भ भी है,

७. पार्श्वशूल—पार्श्वशूल के विषय में पहले किए विचार से विदित होगा कि, इसमें नवीनोक्त अनेक रोगों—मायेल्जा, प्लुरोडायनी, न्यूरेल्जा, ड्राई प्लुरिसी—आदि का समावेश है। पार्श्वशूल से केवल ड्राई प्लुरिसी का ग्रहण अभिप्रेत नहीं है। कई आमपक्वाशयगत वातविकारों के लक्षण-रूपमें भी पार्श्वशूल का उल्लेख प्राचीनों ने किया है,

८. कटिग्रह—कटि शूलयुक्त तथा स्तब्ध (चेष्टा जिसमें हो न सके ऐसी, किंवा जिसमें चेष्टा सकष्ट होने से उसका करना दुःसह हो ऐसी) होना;

९. दण्डापतानक (दण्डक)—इसमें शरीर स्तब्ध और दण्डवत् सीधा होता है, ऑर्थोटॉनोस। नवीनों ने अपतानकों का एक अन्य भेद दिया है—प्लुरोथॉटोनोस। इसमें शरीर दक्षिण या वाम पार्श्व में स्तब्ध हो जाता है, (प्लुरोथेन—एक पार्श्व में)। इसे पार्श्वापतानक संज्ञा दी जा सकती है;

१०. खल्ली—पैर, जङ्घा, ऊरु और ऊरुमूल एवं कर तथा करमूल में वेष्टन तथा मर्दनवत् पीडा होना, गृध्रसी और विश्वाची दोनों रोग एक साथ होना। कदाचित्, दोनों रोग एक ही पक्ष में हों और तीव्र शूल के कारण चेष्टा-नाश भी हो तो परीक्षक त्वरया पक्षाघात का निदान कर बैठता है। पक्षाघात में चेष्टा के साथ संज्ञा का भी नाश होता है यह विशेष होता है[1],

---

१—गुजराती में पादसुप्ति के लिए 'खाली' शब्द है। प्रमत्त विद्यार्थी खल्ली का अर्थ पादसुप्ति कर देते हैं।

११. जिह्वास्तम्भ—जिह्वा की स्तब्धता होकर भोजन तथा भाषण में सामर्थ्य न होना,

१२. अर्दित[1]; १३. पक्षाघात,

१४. क्रोष्टुशीर्ष—वातरक्त रोग अथवा वात और रक्त इन दोष-दूष्यो के सम्मूर्छन (सयोग) से हुआ जानुसंधि का वेदनावान् शोथ। दूष्य जानने का प्रयोजन, इसका आमवात से भेद समझना है। आमवात में उष्ण-तीक्ष्ण उपचार होता है, जो रक्त मे विपरीत होने से क्रोष्टुशीर्ष के लक्षणो की वृद्धि ही करता है। (क्रोष्टा=शृगाल, उसके शीर्ष के सदृश इसमें जानुसंधि हो जाती है, अत यह नाम दिया गया है);

१५ मन्यास्तम्भ, १६ पङ्गुता; १७. कलायखञ्जता;

१८. तूनी, १९ प्रतितूनी—तूनी में तीव्र वेदना पक्वाशय तथा मूत्राशय में किसी एक आशय से किंवा दोनो आशयो से आरम्भ होकर गुद-द्वार या मूत्र-द्वार की ओर जाती है। लक्षण-साम्य से इसे नवीनो आदि में अवरुद्ध अश्मरी या शर्करा के आवरणवश हुआ शूल—रीनल कॉलिक—समझा जाता है। प्रतितूनी मे इसके विपरीत गुदद्वार या मूत्रद्वार से तीव्र वेदना आरम्भ होकर उल्लिखित आशयो की दिशा मे जाती है। यह कदाचित् मल की ग्रन्थियो के आवरण से हुए अपानवायु के प्रकोप के कारण हुआ शूल—नवीनो का इन्टेस्टाइनल कॉलिक—है। मल की ग्रन्थियाँ वायु के रूक्ष गुण का प्रकोप होने से मल की शुष्कता और वर्त (पिण्डीभाव) होने से हुई हो तो इस विकार को वात-नानात्मज विकार समझना चाहिए। ऐसी स्थिति मे वात को, उसमें भी विशेषतया स्नेहन-प्रधान उपचार द्वारा उसके रूक्षगुण को, समावस्था मे लाने का प्रयास करना चाहिए। ग्रन्थियाँ बनने मे कारण यह भी सम्भव है कि, महास्रोत में—आम-पच्यमान-पक्वाशय में—कफ का प्रकोप हो, विशेषतया उसका मन्द गुण वृद्धि को प्राप्त हुआ हो, तो महास्रोत की अन्नपान, मल और वायु का अनुलोमन करनेवाली अपकर्षणी गति (पेरिस्टाल्सिस) मन्द-स्लगिश—हो जाती है। परिणामतया, मल को कुछ अधिक काल पक्वाशय में रहना पडता है। ऐसी स्थिति मे वायु तथा अग्नि सम हो तो भी उन्हें मल के द्रवांश के शोषण का समय अधिक मिलता है, जिससे मल शुष्क हो ग्रथित हो जाता है। कई पुरुष दूध

१—गुजराती मे अर्दित को अडदियो वा (उर्द से सबन्ध रखनेवाला वायु) कहते है। कदाचित् इसका कारण माष का उपनाह है, जिसका उपचार-क्रम मे प्राचीनो ने विधान किया है। सभव है, कही माष का आभ्यन्तर प्रयोग भी होता हो।

अथवा केले के सेवन से मल की ग्रन्थियाँ बन जाने की व्यथा लेकर आते हैं, उनमें विक्रिया की सम्प्राप्ति उक्त प्रकार की ही होती है। कभी पित्त का भी अनुबन्ध मल की ग्रन्थियाँ बनने में हेतु हो सकता है। पित्त का तीक्ष्णोष्ण गुण वृद्धि को प्राप्त हो तो वह अन्नपान तथा मलगत क्लेद (द्रव) को शुष्क कर देता है। वायु विक्रिया को और बढ़ा देता है। यह ग्रथित मल अपान के मार्ग में—क्रिया में—आवरण (अन्तराय) उपस्थित करता है—इससे वह कुपित होता है—अपना संकोचात्मक प्राकृत कर्म अधिक वेग और अधिक बल से करने लगता है। इसी से शूल होता है। उदर में होनेवाले शूल में दोषों का इस प्रकार पृथक् विचार किया जाए तो चिकित्सा मूलगामी होती है। बिना समझे मॉर्फिया की सूचीवस्ति दी जाए तो उससे वेदना तो शान्त हो जाएगी पर विबन्ध होकर रोग-कारण की सुतरां वृद्धि होने से रोग भी बढ़ता जाएगा। आयुर्वेद में चिकित्सा उसी को कहते हैं जो एक रोग को नष्ट करे पर दूसरे को उत्पन्न न करे[1]। अन्य शूलों में भी आयुर्वेद की यह दृष्टि ध्यान में रखनी चाहिए;

२० खञ्जता, २१ पादहर्ष—पैरों में झणझणी या सुप्ति; २२ गृध्रसी,

२३. विश्वाची—पैरों में जैसे गृध्रसी होती है, ऐसी ही हाथ में व्यथा होना विश्वाची कहलाता है। इसमें मीडिअन आदि नाडियों में वेदना होती है। हाथ में वेदना हो तो अंस-संधि आदि के साथ विश्वाची को भी ध्यान में रखना चाहिए। वेदना का स्थानसंश्रय तथा अङ्गुष्ठ और तर्जनी के मध्य तत्-तत् नाडी के स्पर्शगम्य शोथ में विश्वाची का निदान सुकर होता है;

२४ अप (व) बाहुक—बाहुशोष; बाहु की एक या अधिक पेशियों का शुष्क (एट्रॉफीड) हो जाना,

---

१—देखिए या ह्युदीर्णं शमयति नान्यं व्याधिं करोति च।
सा क्रिया, न तु या व्याधिं हरत्यन्यमुदीरयेत्॥
—सु० सू० ३५।२३

एक व्याधि को शान्त करते हुए अन्य व्याधियों की उत्पत्ति के उदाहरण रूप में टीकाकार ने कृश का बृंहण करते हुए अग्निसाद (अग्निमान्द्य), प्रमेह, अतिसार आदि का एवं स्थूल का अपकर्षण (कृश करना), अथवा प्रमेह की चिकित्सा में अपतर्पण करते हुए यक्ष्मा, वातरोग आदि की उत्पत्ति का उल्लेख किया है।

पेनिसिलीन आदि नवाविष्कृत औषध आत्मसात् करने का विचार करते हुए आयुर्वेद के इस सूत्र को ध्यान में रखना होगा। ये औषध एकाध रोग को नष्ट करते होंगे, पर पीछे कई बार विविध विक्रिया और प्रतिक्रिया उत्पन्न करते हैं, इस बात को भुलाना न होगा।

२५ अपतानक--गर्भिणी का आक्षेपक रोग, एक्लेम्प्सिआ या प्रेग्नेन्सी टॉक्सीमिआ,

२६ व्रणायाम--अभिघातज आक्षेप, टिटेनस। आजकल तो आयाम-मात्र व्रणज माना जाता है। प्राचीनो ने केवल क्षिप्रमर्म में आघात से आयाम होने का निर्देश किया है,

२७ वातकण्टक, २८ अपतन्त्रक--नवीनो का हिस्टीरिया,
२९ अङ्गभेद--किसी अङ्ग मे भेदनाकार वेदना किवा चीर पडना,
३० अङ्गशोप--अङ्गविशेष शुष्क हो जाना[1],

३१ मिन्मिनत्व--अनुनासिक उच्चार। सुश्रुत ने जन्मबलप्रवृत्त रोगो मे इसकी गणना की है। कभी टॉन्सिल के शस्त्रकर्म आदि में 'इटरनल लेरिंजिअल' नामक नाडी की क्षति होने से भी यह विकृति हो सकती है,

३२ विक्लता--गद्गदवाक्यता,

३३ प्रत्यष्ठीला, ३४ अष्ठीला--नाभि से नीचे होनेवाली मल, मूत्र तथा वायु के मार्गो की अवरोधक ग्रन्थि-विशेष के ये दो नाम है। इनमें वेदनायुक्त को प्रत्यष्ठीला, तथा वेदना-रहित को अष्ठीला या वाताष्ठीला कहा जाता है। अष्ठीला का अर्थ प्राय प्रॉस्टेट की वृद्धि माना जाता है। परन्तु आगे यथा-प्रकरण देखेंगे कि इस वृद्धि के लक्षण मूत्राघाताधिकारोक्त मूत्र-ग्रन्थि से पूर्णतया सादृश्य रखते है, अष्ठीला से नही,

३५. वामनत्व (बौनापन), ३६ कुब्जता,

३७ अङ्गपीडा, ३८ अङ्गशूल, ३९ अङ्गसंकोच, ४० अङ्गस्तम्भ ४१, अङ्गरूक्षता, ४२ अङ्गभङ्ग,

४३ अङ्ग-विभ्रंश--हस्तपादादि बाह्य अवयवो मे, हृदय, यकृत्, पक्वाशय आदि अन्तरवयवो मे तथा प्राणवह, रस-रक्तवह आदि स्रोतो में पीडा (पीडनवत् वेदना), शूल प्रभृति होना। इनमे सकोच--पक्षाघात--प्राय अङ्ग-विशेष के घटक धात्वश का क्षय होने से और बहुधा उसका स्थान योजक तान्तव धातु (फाइब्रस टिश्यु) द्वारा ग्रहण कर लिया जाने से होता है। यथा--महाकुष्ठो मे हस्तपादादि में, यक्ष्मा में अंस, पार्श्वादि में तथा आधुनिको द्वारा प्रत्यक्षीकृत

१--तन्त्रकार ने यहॉ अङ्गमात्र के भेद, शोप, पीडा, शूल, सकोच, स्तम्भ, रूक्षता, भङ्ग तथा विभ्रंश को एक साथ ही गिना दिया है। पृथक् अङ्गो के भेदादि दर्शाए नही है। अष्टाङ्गसंग्रह सू० २० मे इस प्रकार निर्दिष्ट विकारो को महाविकार तथा नखभेद, शङ्खभेद, कण्ठोपलेप, हृत्कण्ठदाह आदि अवयव-भेद से निर्दिष्ट विकारो को क्षुद्र विकार नाम दिया है।

यकृत के सिरोसिस में यकृत् में यह स्थिति हुई देखी जाती है। सिरोसिस में प्रोटीनो का हीनयोग होने से यकृत् में उनका ह्रास होता है, उनका स्थान स्नेह ले लेता है। इसे 'फैटी डिजेनेरेशन' कहते है। इस प्रकार यकृत् के रुग्ण-प्रदेश में अपने मूल धातु का नाश होने से उसके प्राकृत कर्म करने का कार्य यकृत् के अन्य प्रदेश अपने ऊपर ले लेते हैं। परिणामतया, अधिक कार्य के निर्वाह के लिए इन प्रदेशो की उपचिति (स्थूलता) होती है। इस प्रकार यकृत् के ये प्रदेश वृद्धि को प्राप्त होते है। इस वृद्धि की विशेषता यह होती है कि कुछ प्रदेश उल्लिखित सम्प्राप्ति के अनुसार सकुचित तथा कुछ वृद्धि को प्राप्त होते है। तात्पर्य, यह वृद्धि विषम होती है—स्पर्श करने से समूचा यकृत् सम भाव से बढा हुआ प्रत्यक्ष नही होता। भङ्ग=टूटने की-सी वेदना, अङ्गभङ्ग=शरीर टूटना, विभ्रश=स्थानच्युति—अन्तरवयव कभी स्थानच्युत हो नीचे लटक आते हैं, यथा आमाशय, स्थूलान्त्र का अनुप्रस्थ (ट्रान्सवर्स) भाग क्ष-किरण-परीक्षा मे नीचे आए देखे जाते है। इसे 'टोसिस' कहा जाता है। हृदय की भी कभी यह विकृति होती है। वृक्को की स्थानभ्रष्टता प्रसिद्ध है। इनके अतिरिक्त नाभि (अन्त्र), मन्या आदि पेशियो के स्थानभ्रश का निर्देश ऊपर कर ही आए है। इन सब मे अवयवो के धात्वश—गुरुता, स्नेह आदि गुणो—का वायु के प्रकोपवश क्षय हो जाने से भ्रश होता है, अत वायुविकारो में इसका पाठ किया गया है,

४४ विड्ग्रह—पक्वाशय के स्तम्भवश पुरीष की अप्रवृत्ति—मलसग;

४५ बद्धविट्कता—पुरीष शुष्क हो जाना,

४६ मूकता, ४७ अति जृम्भा, ४८ अत्युद्गार—ऊर्ध्ववात,

४९ अन्त्रकूजन—पेट में गुडगुडी, इसे अँग्रेजी में गर्गलिग या बॉर्बोरिग्माई कहते है,

५० वातप्रवृत्ति—अधोवायु की अतिप्रवृत्ति,

५१ स्फुरण—अङ्ग (पलक, कोई पेशी, हृदय आदि) फडकना,

५२ शिराओं का पूरण—वात-प्रकोपवश आम-पक्वाशय के घटक धात्वश-मांसधातु—का क्षय होने से जैसे वह दुर्बल हो जाता है, परिणामतया सम्पूर्ण स्रोत किवा उसका एक देश अन्तर्गत वायु को ऊर्ध्वाधोद्वार के प्रति सम्यक् प्रवृत्त नहीं कर सकता, अत सचित वायु उतने प्रदेश को पूर्ण कर गुल्म नामक रोग की उत्पत्ति करता है, वही स्थिति शिराओ में (रस-रक्तवह स्रोतो में) हो तो शिरापूरण होता है। कभी ये शिराएँ कुटिलीभूत (टेढी-मेढी) दिखाई देती हैं। इस स्थिति को शिराकुञ्चन यह विशेष नाम दिया गया है। शिराओ का दौर्बल्य कुलज हो सकता है। उपवैद्य (कपाउडर), धीवर आदि जिन्हें चिरकाल खडे रहना

पड़ता है उनकी जानुसन्धि के पीछे तथा टाँगों की शिराओं में यह विकृति प्रायः देखी जाती है। जलोदरादि रोगों में उदर की शिराएँ इसी प्रकार पूर्ण हुई (फूली) देखी जाती हैं। आधुनिक मतानुसार यकृत में रक्तरोध होने से इन शिराओं का रक्त-गत आगे न बढ़ सके—यकृत्—से होकर वापिस नहीं जा सकता, जिससे ये (उदर की) शिराएँ पूर्ण हुई दिखाई देती हैं। नवीनों के मतानुसार उभय-मत से इसी तरह पैर में बहुधा फूली हुई शिराएँ होती हैं। आयुर्वेद में इन्हें मांसांकुर कहा है। इसकी व्याख्या भी की जा सकती है। धातु-उपधातु आदि की पुष्टि के प्रकरण में कहा गया है कि रक्त धातु की पुष्टि के अनन्तर इसके (रक्त के) प्रसादांश से एक ओर मांस की पुष्टि होती है तो दूसरी ओर कण्डराओं तथा सिराओं की पुष्टि होती है। इसका अर्थ यह है कि, मांसधातु और सिराओं (रस-रक्तवह स्रोतों—ब्लड वेसल्स) में रचना का कुछ साम्य है। आधुनिकों ने बताया है कि, सिराओं के अनेक स्तरों (लेयर) में एक मांस-धातुमय (मस्क्युलर) होता है। इनके बलाबल पर ही रस-रक्तवह स्रोतों (सिराओं) तथा उनके भी प्रभव-स्थानभूत हृदय का बलाबल और इनकी क्रिया अवलम्बित है। हृदय को तो प्राचीन और अर्वाचीन दोनों मतों में मांसपेशीमय कहा गया है। सो, माता-पिता का हृदय तथा सिरा मांस-धातु की दुर्बलतावश दुर्बल होना एवं सन्तान में किसी कारण इस धातु का क्षीण होना इत्यादि कारणों से निश्चय है कि, सन्तान का हृदय और शिराएँ भी दुर्बल होंगी। परिणाम-तया, अल्पमात्र वात-प्रकोप, रक्त-प्रकोप, पित्त-प्रकोप या पान, चिरकाल खड़ा रहना आदि के आगे नत हो जाएँगे। इस प्रकार पराजित हुई शिराएँ गुल्म के सदृश फूली हुई दिखाई देती हैं। सर्व शरीर की शिराएँ किसी कारण दुर्बल हों, उनमें भी अधर या उत्तरगुद की शिराओं में दोषों का स्थान-संश्रय हो जाए तो इन स्थानों की ये शिराएँ आध्मात हो जाती हैं—फूल जाती हैं। इन्हीं को अर्श, गुदांकुर आदि नाम दिये गए हैं। नवीनों ने भले इन्हें शिराओं का जाल कहा हो, प्राचीनों ने तो इन शिराओं के भी दौर्बल्य के कारण को दृष्टि में रखकर इन्हें मांसांकुर यह अन्वर्थक नाम दिया है। ऊपर जो विवरण मैंने दिया है, उससे प्रतीत होगा कि, शिराओं के फूल जाने का कारण उनके घटक मांसधातु की क्षीणता और तज्जनित दुर्बलता ही है। इसी कारण अर्श का उपचार करते हुए आहार के प्रकरण में मांस-रस तथा तत्समगुण मुद्गादि शिम्बीधान्यों के यूषों का विधान प्राचीनों ने किया है। मांसरस तथा यूष मांसधातु की वृद्धि करते हैं, प्राचीन-अर्वाचीन उभय-मत से इस वस्तु का प्रतिपादन क्रियाशारीर के ग्रन्थों में विज्ञ वाचक देख सकते हैं, इस प्रकार चिकित्सा करते हुए भी अर्शोरोग में मांस-धातु के पोषण को चिकित्सक दृष्टि में रखें इस विचार से भी इन्हें मांसांकुर यह उपयुक्त

ही नाम प्राचीन तन्त्रकारो ने दिया है। अन्यथा, शवच्छेद द्वारा तथा आर्ष दृष्टि से जिन्होने तत्-तत् अति सूक्ष्म पदार्थो को प्रत्यक्ष किया उन आचार्यो को अर्शो में शिराओ की पूर्त्ति कारणरूप से दृष्टिगोचर न हुई होगी, यह बात मानी नही जा सकती। अस्तु, इतना प्रासगिक परन्तु व्यवहारोपयुक्त विवेचन कर अब हम शार्ङ्गधरोक्त अगले वात-नानात्मज रोगो का प्रकरण पुन आरम्भ करते है;

५३. कम्प;

५४ कार्श्य—कृशता। बालको की कृशता को बाल-कार्श्य यह विशेष नाम दिया जा सकता है। सामान्यतया इसके लिए बालशोष शब्द प्रचलित है। शोष यक्ष्मा का भी नाम होने से बालको के यक्ष्मा के लिए ही यह सज्ञा (बालशोष) सुरक्षित रखनी चाहिए। अंग्रेजी में जिसे 'मैरेस्मस' कहते है, उसके लिए बाल-कार्श्य शब्द रखना उपयुक्त प्रतीत होता है। यहाँ वातज कृशता का निर्देश है। बालको में किंवा अन्यो में कृशता इतर दोषो से भी होना संभव है। चिकित्सा करते हुए दोष का निदान प्रथम कर लेना चाहिए;

५५ श्यावता—त्वचा, कला, मल आदि का वर्ण ईषत् कृष्ण होना;

५६ प्रलाप,

५७ क्षिप्रमूत्रता—मूत्र की बार-बार प्रवृत्ति। इसमें प्रमाण न्यून हो सकता है, अधिक भी। नव्य-मत की सहायता लेते हुए मूत्र के प्रमाणाधिक्य का विचार करना हो तो वृक्कगत मूत्र-स्रावी स्रोतो के जो उत्तराश मूत्रगत क्लेद (द्रव) का पुन शोषण—ग्रहण—करते है, वात-प्रकोपवश उनके मुखो का सकोच हो जाने से वे योग्य प्रमाण मे क्लेद का ग्रहण नही कर सकते। यह भी सभव है कि इन स्रोतो का पूर्व भाग जो मूत्र का क्षरण करता है उसके मुखो का वात के कारण ही व्यास (विस्तार) हो जाने से मूत्र के क्लेदाश का स्राव ही अधिक प्रमाण में होता है। इस स्राव की मात्रा जितनी होती है, उतने प्रमाण में नीचे के भाग क्लेद का शोषण नही करते। कारण, उनके प्राकृत कर्म में वृद्धि नही होती, वे पहले जितना ही द्रव-शोषण करते है। इस प्रकार स्थिति कोई भी हो, वातप्रकोपवश चाहे क्लेद का स्राव अधिक हो, चाहे क्लेद का पुनर्ग्रहण न्यून हो दोनो स्थितियो में मूत्र का प्रमाण बढ जाता है। परिणामतया, चिकित्सा दोनो दशाओ में वायु को अनुलक्षित कर की जानी चाहिए। यथा, मूत्राधिक्य में घरेलू औषध के रूप में यवानी (अजवायन) का प्रयोग किया जाता है और वह वायु का शामक-अनुलोमक होने से ही गुणावह भी होता है। अतिसार मे मल के द्रवत्व के ये दो कारण सुगम्य है; अर्थात्—या तो दोष-विशेष के प्रकोप के कारण आम-पक्वाशय में क्लेद या द्रवत्व अधिक रहता है अथवा उसका ग्रहण

न्यून होता है। दोनों स्थितियों में द्रवाधिक्य होकर अति उग्र मल प्रवृत्ति होती है। यही स्थिति बहुमूत्र में समझनी चाहिए;

५८ निद्रानाश, ५९ स्वेदनाश—स्वेदवह-स्रोत—नव्य प्रत्यक्षानुसार अपने वाहक स्रोतों समेत स्वेद-ग्रन्थियाँ—वात के प्रकोप के कारण सङ्कुचित या कृश हो जाएँ, किंवा स्वेद की पुष्टि के लिए स्वेदवह स्रोतों में रस-रक्त पहुँचानेवाले रस-रक्तवह स्रोतों का सङ्कोच होकर स्वेद-पोषक रस-रक्त अल्पप्रमाण में स्वेदवह स्रोतों को प्राप्त हो तो स्वेदनाश होता है। अंग्रेजी में एन्हाइड्रोसिस। शीत देश या काल में त्वचा पर बाह्य शीत वायु के स्पर्श से वातप्रकोप हो त्वचा के रसरक्तवह एवं स्वेदवह स्रोतों का सङ्कोच हो जाता है। परिणामतया, शीत देश तथा काल में स्वेदक्षय होता है। स्वेदक्षय की यह सम्प्राप्ति सुविदित है। अपने प्रकोपक कारणों से शरीर में वात का प्रकोप हो तो ज्वर आदि में इन रस-रक्त तथा स्वेदवह स्रोतों का इसी प्रकार सङ्कोच हो स्वेदनाश होता है। किसी भी कारण स्वेदनाश हो उसका स्मरणीय परिणाम यह होता है कि, शरीर के क्लेद को उचित प्रमाण में बाहर निकालने के लिए मूत्र का प्रमाण बढ़ जाता है। दूसरी ओर उष्ण देश-काल में या शरीर में उष्णता की वृद्धि से स्वेदाधिक्य (हाइपरहाइड्रोसिस) हो तो मूत्र का क्षय (न्यून प्रमाण) होता है। परिणामतया, विशेषतया उष्ण देशों में मूत्र में अधिक घनत्व—मूर्तत्व—होने से सिकता, शर्करा या अश्मरी (पथरी) का प्रादुर्भाव होता है;

६० दुर्बलत्व—वात प्रकोपवश धातुओं का क्षय होने से उनके बल का ह्रास। बल के तीन अर्थ हैं—(१) शारीरिक, मानसिक, वाचिक, बौद्धिक श्रम करने का सामर्थ्य, (२) रोगों के प्रतिकार का सामर्थ्य, जिसे क्षमता भी कहा जाता है, तथा आधुनिक चिकित्सा में जिसका पर्याय 'इम्युनिटी' कहा जा सकता है[1], (३) रोग तथा औषध के बल को सहन करने का सामर्थ्य। इनमें एक या अनेक का नाश दुर्बलत्व कहा जाता है। प्रथम प्रकार के बल के नाश के लिए अशक्ति, 'जेनरल डेबिलिटी' आदि पर्याय हैं;

६१ बलक्षय—ओज का नाश।[2] ओज सर्व धातुओं का सार होता है।

१—बल का प्रथम अर्थ सुप्रसिद्ध है। बल का द्वितीय अर्थ इस वचन से विदित होगा—बलं ह्यलं निग्रहाय दोषाणाम्—च० चि० ३–१६७। यहाँ बल को दोषों का निग्रह करनेवाला कहा है। यह बल धातुओं की सम्यक् पुष्टि का ही परिणाम होता है।

२—तदेव (ओज एव) बलमित्युच्यते—सु० सू० १५।१९ आदि में कार्य-कारण का अभेद मान कर ओज को बल कहा गया है।

वात प्रकोपवश सर्व धातुओ का क्षय होने से उनके सारभूत ओज का भी क्षय होता है। ओज.क्षय के परिणामो का उल्लेख आगे दोषादि के क्षय के प्रकरण मे देखेंगे।

६२ शुक्र की अति प्रवृत्ति। शुक्र का अर्थ कभी आर्तव भी होता है। वह यहाँ भी लें, तो आर्तव की अतिप्रवृत्ति भी यहाँ गृहीत है। वातप्रकोपवश शुक्र और आर्तव के धारक अवयवो के धातवश क्षीण (शिथिल) होने से वे शुक्र तथा आर्तव को सम्यक् धारण नही कर सकते। अत उनकी च्युति होती रहती है। आर्तव की अतिप्रवृत्ति में वात की इस प्रकार कारणता तो स्मरणीय है ही, शुक्र की अतिप्रवृत्ति --विशेषतया स्वप्नावस्था में शुक्रपात--मे भी वायु की इस हेतुता को स्मरण रखा जाए, तो चिकित्सा मूलगामी, त्वरित और निश्चित होती है। स्वप्नदोष मे मल-वातानुलोमन, दीपन-पाचन औषधो का उपयोग करना चाहिए। वायु के साम्य का अन्य परिणाम यह होता है कि उससे नियन्त्रित मन भी अचचल होता है। यत्सत्य, मानस रोगमात्र मे मन को सुस्थित करने के लिए वायु को वश में लाना आवश्यक है,

६३ शुक्र की कृशता--शुक्र का प्रमाण अल्प होना, उसका पतलापन या उसमें पुबीजो की न्यूनता;

६४ शुक्रनाश--शुक्र सर्वथा न होना, उसमे पुबीज एक भी न होना (एजूस्पर्मिया, एस्पर्मिया),

६५ अनवस्थितचित्तता--चित्त की अस्थिरता,

६६ काठिन्य--एक अथवा अनेक अन्तरवयव या बहिरवयव कठिन होना,

६७ विरसास्यता-६८ कषायास्यता--मुख का स्वाद विरस (फीका) या कषाय होना,

६९ आध्मान, ७० प्रत्याध्मान--पच्यमान तथा पक्वाशय मे वायु का संचय एव तज्जन्य लक्षण आध्मान तथा आमाशय में वायु का सचय तथा तदुत्थ विकार प्रत्याध्मान कहाता है, मीटिऑरिज्म या टिपेनाइटिस;

७१. शीतता--शरीरोष्मा की न्यूनता, त्वचा आदि अवयवो का स्पर्श शीत होना किवा नीचे दिए लक्षणो वाला शीतवात होना--

हिमवन्ति हि गात्राणि रोमाञ्चज्वरितानि च।
शिरोक्षिवेदनाऽलस्यं शीतवातस्य लक्षणम्॥

रसरत्नसमुच्चय

शरीरावयव हिमवत् शीतल, रोमाच तथा ज्वरयुक्त होना, शिर और नेत्रो में शूल एव आलस्य ये शीतवात के लक्षण हैं। कई वार वात-कफ प्रकृति (न्यूरॉटिक) पुरुषो में विशेषतया हस्तपादतल में अति प्रस्वेद हो कर वे शीत

रहते है। इनकी शीतता का यह कारण चिकित्सा-बुद्धि के लिए स्मरणीय है। विशेषतया कृमि-रोग में हस्त-पाद शीतल तथा कोष्ठ (धड) उष्ण होता है,

७२ रोमहर्ष—रोमांच, त्वचा के रोम खडे होना,

७३ भीरुता—मिथ्या-अकारण-भयो तथा आशङ्काओ की प्रवृत्ति,

७४ तोद,

७५ कण्डू—खुजली। कण्डू प्रधानतया कफ का विकार है। पित्त-नानात्मज रोगो में भी तन्त्रकारो ने इस विकृति का उल्लेख किया है। यहाँ शार्ङ्गधर ने वात-नानात्मज रोगों में कण्डू की गणना की है। वायु के प्रकोप से त्वचा रूक्ष हो जाए, घर्षण से त्वचा से वर्तियाँ उतरें, छोटे-छोटे छिलके त्वचा पर छाए हो, दारुणक (गुजराती-खोडा), किटिभ (सोरायसिस) आदि रूक्ष गुण प्रधान रोग हो, एव रोमान्तिका (खसरा), त्वग्गत मसूरिका (चिकन पॉक्स, गुजराती-अछबडा), मसूरिका आदि रोग या व्रणमात्र अच्छे होने को आएँ तब उनके शुष्क छिलके विद्यमान हो—इन तथा ऐसी ही अन्य स्थितियो में होती कण्डू का कारण वायु होता है। अतएव, मसूरिका आदि में रोगी खुजला कर रोग के उपद्रव बढा न दे, इस प्रयोजन से यह स्निग्ध उपचार किया जाता है कि—पूयहरत्वादि गुण युक्त नीम के सोटे से घोट कर मक्खन छिछड़ोवाली त्वचा पर पुन-पुन लगाया जाता है। कण्डू-ग्रस्त रोगी में इस रीति से दोष-भेद देखना चाहिए,

७६ रसाज्ञता—किसी रस की प्रतीति न होना,

७७ शब्दाज्ञता—शब्द का श्रवण न होना या उच्चै श्रुति,

७८ प्रसुप्ति—अवयवविशेष में क्षणक्षणी या न्यूनाधिक काल के लिए स्पर्श की सज्ञा का अनुभव न होना,

७९ गन्धाज्ञता—घ्राणनाश;

८० दृष्टि का क्षय—दृष्टि की अल्पता (ह्रास)-सम्बन्धी विविध विकार। वार्धक्य में दृष्टि का विशेष प्रकार का विकार होता है। 'बयालीस' वर्ष के आस-पास होने से इसे गुजराती में 'बैताला' कहते है—अंग्रेजी में प्रेसबायोपिआ। ऐसे प्रत्यक्ष विकार के अतिरिक्त भी वार्धक्य में या अन्य वय में वात प्रकृति पुरुषो में वात प्रकोपवश दृष्टि शक्ति की अल्पता देखी जाती है।

रक्त-प्रकोपज रोग

प्रथम अध्याय में हम कह आए है कि सुश्रुत ने रक्त को धातु एवं दूष्य मानते हुए भी तथा उसकी दुष्टि में भी वातादि दोषो को ही कारण मानते हुए

भी रक्त का कही दोषवत् व्यपदेश (कथन) किया है। चरक ने इस प्रकार कण्ठरव से (स्पष्टाक्षरों मे) तो रक्त को दोप नही कहा है तथापि उसके (रक्त के) प्रकोप से होनेवाले रोगों का निदान-चिकित्सा समेत उल्लेख उसी प्रकार किया है, जैसे पृथक् दोषों से उत्पन्न नानात्मज रोगों का। स्थान-स्थान पर रोगो के विचार में किसी-किसी रोग मे रक्त की कारणता भी आचार्यो ने कही है। रोगो के वर्गीकरण के इस प्रकरण मे चरकोक्त रक्त-प्रकोपज रोग भी चिकित्सोपयुक्त होने से उल्लेखनीय प्रतीत होते है। अगले अध्याय में हम रक्तप्रकोपज रोगो का निर्देश कर प्रकरणोपात्त धातुज तथा स्रोतोदुष्टिजन्य रोगो का नामत. तथा लक्षणत निर्देश करेंगे। रक्तज रोगो के सदृश धातुज तथा स्रोतोदुष्टिज रोगो मे भी यद्यपि दुष्टि वातादि दोषो से ही होती है, ऐसा आचार्यो ने स्पष्ट कहा है तथापि विषय के वैशद्य के लिए इन रोगो को भी आचार्यो ने स्थान अर्थात् तत्तत् धातु और स्रोत का रोग कहा है।

चतुर्थ अध्याय

रक्तप्रकोपज, धातुज मार्गानुसारी तथा स्रोतोदुष्टिजन्य रोग

अथातो व्याधिभेद-विज्ञानीयं तृतीयमध्यायं व्याख्यास्यामः। इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः॥

रक्तप्रकोपज रोग[1]

रक्तदुष्टि मे पित्त का प्राधान्य—

रक्तप्रकोपज रोगो का नामोल्लेख करने के पूर्व चिकित्सोपयोगी एक तथ्य समझ लेना आवश्यक है। यद्यपि सिद्धान्त यह है कि, रक्तदोपज रोग तीनो ही दोषो से रक्त की दुष्टि होने से होते है तथापि तीनो मे पित्त का प्राधान्य है। सू० २१।२५ मे सुश्रुत ने कहा है कि, जो अहिताहार विहार पित्त के प्रकोपक है वही रक्त को भी प्रकुपित करते है। सू० २४।१० मे चरक ने शरत्काल को रक्त का प्रकोपक कहा है। यह काल पित्त का भी प्रकोपक है। आगे चिकित्सा-क्रम (लाइन ऑफ ट्रीटमेण्ट) बताते हुए चरक ने विरेचन, रक्तमोक्षण प्रभृति रक्तपित्तहरी क्रिया करने का ही आदेश दिया है। ये बातें रक्त की दुष्टि मे पित्त के प्राधान्य की व्यापिका है। डल्हन ने तो उक्त स्थल की टीका में पित्त-प्रकोपक हेतुओ से ही रक्त का भी प्रकोप होने मे कारण स्पष्ट शब्दो मे कहा है—पित्तस्य शोणितसमानत्वात्—नाम पित्त के गुण रक्त के समान—उससे मिलते-जुलते है। पित्त रक्त का मल है, अत दोनो के गुणो में साम्य होना विस्मयावह नही है। चक्रपाणि ने दुष्ट रक्त का साम्य पित्त के सदृश बताया है।

इनमे डल्हन का मत अधिक आचार्याभिमत प्रतीत होता है। होता यह है कि, जैसे प्रकृत्यारम्भक दोष इतर दोषो के प्रकोप को अपने विरोधी गुणो से दबाए रखता है, वैसे ही रक्त अपने उष्णत्वादि गुणो से वात तथा कफ को शान्त किए रहता है, जिससे इन दो दोषो के प्रकोपक कारणो का सेवन असाधारण प्रमाण में न हो तब तक इनसे (वात तथा कफ से) रक्त की दुष्टि सविशेष नही होती। शेष तुल्यगुण पित्त से ही रक्त की दुष्टि-विक्रिया विशेषतया होती है। अतएव

१—देखिए—च० सू० २४।११-१७, च० सू० २८।११-१३, सु० सू० २४।६, काश्यप-संहिता पृ० ३१।

चिकित्सा मे भी रक्त के शोधन-शमन के समान पित्त के शोधन-शमन को भी दृष्टिगत रखना चाहिए। रक्त और पित्त के सादृश्य का शास्त्राधार से अधिक विचार छठे अध्याय में साध्यासाध्यता के प्रकरण मे किया गया है।

आगे जिन रोगो का निर्देश किया जा रहा है, उनका निदान-चिकित्सा प्रकरण में पृथक् उल्लेख तन्त्रकार करेंगे। स्वरूप (लक्षणो) की दृष्टि से ये रोग अत्यन्त भिन्न मे प्रतीयमान होने पर भी सबमे एक साम्य यह है कि, इनमें रक्त दूष्य होता है, अतएव उसका विस्रावण सबमें प्राय आवश्यक होता है। कुष्ठ, विसर्प, रक्तपित्त, मद, भ्रम (बहुधा रक्तदाब की अधिकता) आदि रोगो की पृथक् चिकित्सा बताते हुए तन्त्रकारो ने इन सर्व रोगो मे रक्तमोक्षण तथा विरेचनादि सशोधनो का उपचारतया उल्लेख बहुत भार देकर किया है। इन रोगो में द्वितीय साम्य यह है कि, इनमें प्रधान दोष, जैसा कि ऊपर कहा है, प्राय पित्त होता है। प्रधान दोष एक ही होते हुए भी रोग भिन्न होने में हेतु यह है कि, किसी रोगमे पित्त के किसी गुण का प्रकोप होता है तो किसी रोग में किसी का। इस प्रकार पित्त एवं अन्य भी दोषो के पृथक्-पृथक् गुण के प्रकोप के अनुसार रक्त की दुष्टि से पृथक् रोगो का होना संभावित होता है। इतनी आवश्यक भूमिका के अनन्तर अब रक्तदुष्टि जन्य रोगो का नाम निर्देश करते है।——

रक्तदुष्टिजन्य रोग——

१ मुखपाक——मुख आ जाना, मुखमें छाले पडना, अंग्रेजी-स्टॉमेटाइटिस (स्टामा——मुख)। पाक कभी-कभी इतना अल्प होता है कि, जिह्वा आदि पर उसके रक्तिमा आदि लक्षण दिखाई नही देते। पूछने पर रोगी इतना ही कहता है कि वह कटु (तीखी) वस्तुएँ मुख में नही रख सकता। यह परीक्षा स्तनपान करानेवाली माताओ में विशेषत करनी चाहिए। कारण सभव है, पित्त-प्रकोप स्वल्प होने से माता के विशाल शरीर में विभक्त हो वह उसके शरीर के विभिन्न अवयवो में जितने प्रमाण में पहुँचता है उससे उत्पन्न लक्षण स्वल्पमात्र हो। परन्तु शिशु के लघु और सुकुमार शरीर मे स्तन्य द्वारा पहुँचकर उतना ही दोष व्यक्त रोग की उत्पत्ति का हेतु हो सकता है। उदाहरणतया, जिस पित्तप्रकोप से माता को इतनी ही व्यथा हुई है कि वह मुख में कटु वस्तुएँ सहन नही कर सकती, वही दोष शिशु के शरीर मे जाकर ज्वर, अतिसार आदि व्यक्त रोगो को जन्म दे सकता है। इस स्थिति को लक्ष्य मे रखते हुए क्षीराद (माता का दूध पीनेवाले) अथवा क्षीरान्नाद शिशुओ की माता की सूक्ष्म परीक्षा करने मे प्रमाद न करना चाहिए। साथ ही, रोग का कारण यदि माता का दोष-दूषित स्तन्य हो तो उसकी भी शास्त्रानुसार परीक्षा कर——कौन से दोष से स्तन्य दूषित है एव आरम्भक दोष का कौनसा गुण सविशेष प्रकुपित है इस

बात का निदान कर--तदनुरूप माता का भी उपचार करे। क्षीराद तथा क्षीरान्नाद शिशु की चिकित्सा मे निदान-परिवर्जन-रूप चिकित्साङ्ग का अर्थ इस दृष्टि से विचार करें तो, कुछ विशेष होता है, यह स्मरण रखना कौमारभृत्य के लिए बड़ा उपयोगी सिद्ध होता है। मुखपाक के विषय में एक और स्मरणीय बात कह दूं। पित्तप्रकृति या पित्तानुबद्ध प्रकृतिवाले पुरुषो में बार-बार होने वाले मुखपाक--गाल का अन्दर का भाग, जिह्वा इत्यादि पर व्रण होना--का कारण बबूल की दातून भी हो सतका है। इनमें प्रकृत्या त्वचाके समान मुख की कला भी मृदु और सुकुमार होती है। बबूल के रेशे जैसी कठिन वस्तु के यत्किंचित् घर्षण से भी कला छिल कर मुखपाक हो जाता है। इनमें किसी उपचार से लाभ नही होता। बबूल के स्थान पर वट-जटा की दातून आदि मे ही रोग के वेग होने बन्द होते है। स्मरण रहे वट की दातुन में पुराने मैल को उखाड़ने, मुख को शुद्ध करने तथा दन्तवेष्टो को दृढ करने का भी अपूर्व गुण है,

२ अक्षिराग--नेत्रो मे--नेत्र की श्लेष्मकला में--रक्तिमा। यह क्रिया नवीनो के हाई ब्लड प्रेशर की अङ्गभूत होती है, उसके बिना भी होती है तथा पित्तप्रकोप से भी होती है। पित्तप्रकृति पुरुषो का लक्षण बताते हुए स्वल्पमात्र कारण से इनके नेत्र रक्त हो जाने का उल्लेख आचार्य ने निम्न शब्दो में किया है--क्रोधेन मद्येन रवेश्च भासा रागं व्रजन्त्याशु विलोचनानि-- अ० हृ० शा० ३।९४। इनके नेत्र क्रोध, मदिरापान और सूर्य के ताप से--कभी धूप में फिरने का प्रसग आने से--रक्तवर्ण हो जाते है। इस लक्षण का उपयोग पुरुष के प्रकृति-निर्णय, उसके द्वारा रोग-विनिश्चय तथा भावी पित्तप्रधान रोगो से बचने के लिए उपयुक्त सूचना देने के लिए उत्तमतया किया जा सकता है। यहाँ अक्षिपाक यह पाठ भेद है। उसका अर्थ है आँख आ जाना; कञ्जक्टिवाइटिस;

३ पूतिघ्राणास्यगन्धिता--नासिका तथा मुख से दुर्गन्धयुक्त वायु का निर्गमन। सु० उ० २२।७-८ तथा च० चि० २६।११३ मे इसे पूतिनस्य या पूतिनास यह पर्याय (नामान्तर) दिया है;

४. गुल्म--महास्रोत, हृदय आदि में दोषो के प्रभाव से वायु का गोलाकृति सचय (वायुगोला); अथवा रक्तगुल्म;

५ उपकुश--पित्त के प्रकोप और रक्त की दुष्टि होने से दन्तवेष्टों (दन्तमास, मसूडो) में दाह और पाक तथा उनके परिणाम-स्वरूप दन्तचाल (दाँत हिलना), दबाने से रक्तस्राव, तथा मन्द वेदना; रक्तस्राव के अनन्तर दन्तवेष्ट फूल जाना तथा मुख में दौर्गन्ध्य--ये लक्षण जिस रोग में हो उसे उपकुश कहते हैं। (देखिए--सु० नि० १६।२१-२२)। कोई लेखक इसका साम्य नवीनो के पायोरिया से बताते है।

६ विसर्प—त्वचा पर प्रसरणशील कोई भी विकार, जिसमे प्राय. छोटे-बड़े स्फोट (छाले) हो। प्राय· विसर्प का अर्थ नवीनो का एरिसिपिलास किया जाता है। परन्तु वह तो विसर्प के एक भेद—क्षत विसर्प—नाम से अभिहित है। वस्तुत विसर्प एक रोग-वर्ग है, जिसमें आधुनिको के अनेक रोगो का समावेश है। इन सब मे पूर्वोक्त विसर्पणशीलता का साम्य होता है। मसूरिका-रोमान्तिका भी विसर्प के ही भेद हैं। परन्तु उनमे कुछ वैशिष्टच होने से तन्त्रकारो ने उनका पृथक् परिगणन किया है,

७ रक्तपित्त—अश्मरी, अर्बुद आदि निज या आगन्तु कारण न होते हुए शरीर में पित्त के प्रकोपवश रक्त की दुष्टि हो जाने से—उसमे तीक्ष्णोष्णत्वादि गुणो की वृद्धि हो जाने से—नासिका, मुख, गुद, शिश्न इत्यादि मार्गो से जो रक्तस्राव होता है, उसे रक्तपित्त कहते हे। नकसीर, यदि उसका कारण नाक मे अगुली चलाने से हुआ क्षत, आघात आदि न हो तो, रक्तपित्त रोग का प्रविदित उदाहरण है। रस-रक्तवह स्रोतो में पित्त के कारण पाक होकर वे खाए जाते है, साथ ही रक्त के स्कन्दन की क्रिया भी यथावत् नही रहती। परिणामतया, प्रथम कारण से रक्त की प्रवृत्ति होती है, तथा द्वितीय कारण से प्रवृत्त हुए रक्त का निर्गमन-सातत्य होता है। गुजराती में महाकुष्ठ (लेप्रसी) के लिए रक्तपित्त शब्द है। आयुर्वेद मे महाकुष्ठ के लिए रक्तपित्त पर्याय नही है, तथापि प्रधान दोष-दूष्य को देखते महाकुष्ठ के लिए किसी आचार्य ने रक्तपित्त शब्द की योजना की हो तो वह असगत नही। आयुर्वेद के रक्तपित्त के समान महाकुष्ठ मे भी पित्त दोषपात्र होता है। भिन्नता इतनी है कि, रक्तपित्त में पित्त के दाहपाककर एव रक्त के वेग तथा प्रमाण में वृद्धि (आशुकारिता) करनेवाले तीक्ष्ण गुण का प्रकोप होता है जब कि महाकुष्ठ में पित्त के पूति (दौर्गन्ध्य) गुण का प्रकोप होता है। स्थानसश्रय का भेद भी दोनो के भिन्नत्व में कारण है। महाकुष्ठ मे दोषो का प्रथम आश्रय त्वचा में होता है, रक्तपित्त में स्थानसश्रय स्रोतो में होता है। शेष लक्षणादि भी भिन्न होते हैं। आधुनिको के स्कर्वी, हीमोफीलिआ, कलर-ब्लाइडनेस, हाई ब्लड-प्रेशर के कारण किसी मार्ग से हुआ रक्तस्राव इत्यादि रक्तस्राव की प्रधानतावाले रोगो का वर्ग आयुर्वेद का रक्तपित्त है;

८ प्रमीलक—तन्द्रा, गुजराती में घेन, ड्राउज़ीनेस,

९. विद्रधि—शरीर के अन्तरवयवो में या बाहर सपूय व्रण (एब्सेस) होना। ये प्रमेहो के परिणामस्वरूप प्रमेहजनक दोष से रक्तदुष्टि होने से एवं अन्य कारणो से भी होती है;

१०. रक्तमेह—यह रक्तपित्त का ही भेद है। इसमें रक्तप्रवृत्ति मूत्र-द्वार से होती है। अग्रेजी हीमेच्यूरिया,

११. (रक्त) प्रदर—यह भी स्थानभेद से नामभेद को प्राप्त हुआ रक्तपित्त ही है। रक्तप्रदर की पाश्चात्य सम्प्राप्ति, जिसमें अन्त.स्रावों के वैषम्य को कारण माना गया है, कुछ भी हो, वैद्य तो इसमें रक्त और पित्त का शमन करनेवाले अर्थात् रक्त की तीक्ष्णोष्णता को शान्त करनेवाले तथा अपने कषाय रस, पैच्छिल्य आदि गुणो से रक्त के स्कन्दन को—नवीनो की आर्तव-सम्बन्धी मरम्मत की अवस्था—स्टेज ऑफ रिपेअर को—सुधारनेवाले औषधों का उपयोग करके ही अधिक यश (साफल्य) उपार्जन करते देखे जाते है। वैद्यों को भी इसी मार्ग का अवलम्बन करना चाहिए।

रक्तप्रदर का एक अन्य कारण सभावित है। आर्तव रस-धातु का उपधातु है। सो रक्त के प्रकोप के कारणो में परिगणित अत्यादान (तृप्ति से अधिक खाना) इत्यादि रस तथा कफ की वृद्धि करनेवाले कारणो से जैसे रसधातु की अति पुष्टि होती है, वैसे उसके उपधातु आर्तव का भी प्रमाण बढ जाता है—स्त्री रक्तप्रदर से पीडित होती है। अत्यादान आदि निदानो की प्रश्न-परीक्षा से उपलब्धि एव प्रश्न-परीक्षा से ही इस बात का विनिश्चय; जैसे रुग्णा कभी उपवास पर रहे तो रक्त प्रवृत्ति अल्प होना, इस रीति से अत्यादान-रूप कारण का निर्णय कर तदनुरूप लङ्घनादि उपचार किया जाए तभी रोग निर्मूल होता है, अन्यथा नही;

१२ वातरक्त—प्राय इसे नवीनो का गाउट (गठिया) माना जाता है। वात और रक्त के प्रकोप से किंवा स्वय वातरक्त रोग के अङ्गरूप में क्रोष्टुशीर्ष नामक जानुसधि का शोथ होता है। इसका अपेक्षित विचार शार्ङ्गधरोक्त वातनानात्मज रोगो के प्रकरण में कर आए है;

१३ वैवर्ण्य—विवर्णता, त्वचा, श्लेष्मकला आदि पर नील, पीत आदि विविध वर्ण न्यूनाधिक प्रदेश में प्रादुर्भूत होना;

१४. अग्निसाद—अग्नि की मन्दता। यद्यपि रक्त और पित्त की वृद्धि से अग्नि दीप्त होती है, यही आपातत (प्रथम क्षण में) प्रतीत होता है, तथापि प्रत्यक्ष में इन दो की वृद्धि से अग्नि मन्द हुई भी देखी जाती है। उधर, पित्त की अति वृद्धि से अग्नि की दीप्ति होकर अत्यग्नि और भस्मक रोग भी होते देखे जाते है तथा शास्त्र में वर्णित है। रक्त की सप्रमाण स्थिति भी शरीर में अग्नि के सरक्षण के लिए आवश्यक है। इसीलिए स्राववश रक्त का अति क्षय होने पर होने वाले परिणामो में अग्नि की अति मन्दता का भी निर्देश शास्त्रकारो ने किया है[1]। रक्त के क्षय से अग्नि मन्द होना निसर्गसिद्ध है भी। कारण,

१—देखिए—धातुक्षयात् स्रुते रक्ते मन्द. सजायतेऽनल·।
पवनश्च पर कोप याति —सु० सू० १४।३७

अग्नि पित्त के आश्रित होती है, और पित्त रक्त का मल है। सो रक्ताशयों में रक्त धातु, उपधातु तथा मल के पोषण के लिए रस धातु का जो प्रमाण उपलब्ध होता है, उसका अधिकाश क्षीण हुए रक्त के ही पूरण में व्यतीत हो जाने से उपधातु और मल (पित्त) के पूरणार्थ उसका यथेप्सित (अभीष्ट) प्रमाण रह नही जाता। इस प्रकार पित्त का पोषण यथावत् न होने से अग्नि भी, स्राव इत्यादि कारणो से रक्त-धातु के क्षीण हो जाने पर स्वभावतः मन्द हो जाती है। तात्पर्य, रक्त और पित्त का क्षय हो तो अग्नि मन्द होती है तथा इनकी ही वृद्धि हो तो अग्नि प्रदीप्त ही होनी चाहिए और अत्यग्नि तथा भस्मक रोगो में उसकी दीप्ति होना शास्त्र और प्रत्यक्ष दोनो से सिद्ध भी है। ऐसी स्थिति में यहाँ तथा अन्यत्र पित्त एव रक्त की वृद्धि से अग्नि के मन्द होने का जो उल्लेख किया है वह स्पष्टीकरण की अपेक्षा रखता है। रक्त और पित्त की वृद्धि होने पर परिणामो का यह वैपरीत्य इस वात पर अवलम्बित है कि वृद्धि पित्त की होने पर भी उसके किस गुण-विशेष का प्रकोप हुआ है। तथाहि, यदि वृद्धि पित्त के तीक्ष्णोष्ण गुणों की हो तो पाक-स्वभावी इन गुणो के कारण पाक क्रिया प्रदीप्त होती है। परिणाम में, अग्नि प्रदीप्त हुई पाई जाती है। दीप्ति के तारतम्यानुसार उसके अत्यग्नि (तीक्ष्णाग्नि) तथा भस्मक नाम होते हैं। परन्तु वृद्धि पित्त के द्रव और तदाश्रित सर् गुण की हो तो यह द्रवत्व अग्नि को मन्द करनेवाला होने से इस प्रकार की पित्त-वृद्धि और उससे हुई रक्त की दुष्टि में अग्नि मन्द हुई पाई जाती है। पित्त में द्रव गुण की वृद्धि से रक्त में भी द्रव गुण की वृद्धि होती है, जिसके कारण उपद्रव रूप में शोथ आदि लक्षण होते है, उसे पित्त-नानात्मज रोगो में शोणित-क्लेद (लहू का पानी हो जाना) यह नाम-विशेष दिया गया है। पित्त के द्रवत्व के कारण होनेवाले अग्निमान्द्य को लक्ष्य में रखकर ही ग्रहणी प्रकरण में कहा है—कट्वजीर्णविदाह्यम्लक्षाराद्यैः पित्तमुल्वणम्। आप्लावयद्धन्त्यनलं जलं तप्तमिवानलम्—च० चि० १५।६५। अर्थात्, अपने प्रकोपक कारणो से प्रकुपित हुआ पित्त अग्नि को अपने द्रवत्व से आर्द्र कर उसे उसी प्रकार मन्द कर देता है जैसे जल संतप्त हो, उसमें अग्नि का उष्णत्वादि धर्म हो, तथापि उसे वाह्य अग्नि पर छोडा जाय तो वह अपने द्रवत्व गुण के कारण उसे बुझा देता है[1]। आधुनिको ने भी

१—स्पष्टता के लिए आवश्यक होने से इस प्रकरण पर चक्रपाणि की टीका उद्धृत की जाती है। पैत्तिकग्रहण्या पित्तस्याग्निसमानतया वर्धनमेव युक्तमित्याशक्य पित्तस्य द्रवत्वेनाग्निहनन क्रियते इति दर्शयन्नाह—आप्लावयद्धन्त्यनलमिति। आप्लावनं द्रवेणार्द्रीकरणम्। उष्णस्यापि द्रवतया अग्निनिर्वापणे दृष्टान्तमाह—जल तप्तमित्यादि।

अन्न-पान के साथ गए द्रव-द्रव्यो के इस अग्निमान्द्यकर स्वभाव का प्रत्यक्ष किया है। उनका तो यहाँ तक मत हुआ है कि जिस अत्यधिक चबाने का एक समय प्रबल प्रचार था वह भी प्रत्यक्ष अवगुणकारी ही है। कारण, बहुत चबाने से लालारस का अति सयोग होने से अन्न मे द्रवगुण का आधिक्य हो जाता है और इस प्रकार हुआ द्रवाधिक्य भी पचन-क्रिया को उसी प्रकार विघ्नित करता है जैसे जल आदि पेय द्रव्यो के अतियोगवश हुआ अन्नपान का द्रवाधिक्य। किसी भी कारण अन्नपान मे द्रवगुण की अधिकता हो, उसका साक्षात् परिणाम यह होता है कि आमाशय द्रवाधिक अन्नपान को उसका पचन सपूर्ण हो उतने काल तक अपने अन्दर धारण नही कर रखता। द्रवप्राय अन्नपान को अमुक समय के पश्चात् पच्यमानाशय में धकेल देने का उसका स्वभाव होने से इतने अवधि मे पाक पूर्ण न हुआ हो तो भी अन्नपान पच्यमानाशय में पहुँचा दिया जाता है। इस प्रकार द्रवाधिक्यवश आमाशय मे तो पचन की क्रिया असम्पूर्ण रहती ही है, पच्यमानाशय में भी उसका पाक पूर्ण नही होने पाता। कारण, पच्यमानाशय में पाक की परिपूर्णता आमाशय में हुए पाक की पूर्णता पर अवलम्बित होती है। इस विषय का विवरण तथा अति चर्वण के अनौचित्य पर पाश्चात्य विद्वानो के वचन विज्ञ वाचक मेरे आयुर्वेदीय क्रियाशारीर मे देख सकते है। द्रव-द्रव्यो का अग्नि कर्म पर यह विपरीत परिणाम होने से विदग्धाजीर्ण (एसिड डिस्पेप्सिआ) आदि अजीर्ण-विकारो मे रोगी को भोजन के एक घण्टा आगे और एक घण्टा पीछे जल तथा अन्य पेय द्रव्य छुडाकर रोगमुक्त किया जा सकता है ;

१५ पिपासा—उष्ण-तीक्ष्ण गुणो की वृद्धि से शरीर के क्लेद का दहन होने का यह परिणाम होता है। अम्लपित्त आदि रोगो मे आम-पच्यमानाशय में दाह होने से उसके परिणामस्वरूप भी तृषाधिक्य होता है ,

१६. गुरुगात्रता—शरीर मे भारीपन (सेन्स ऑफ हेवीनेस, सेन्स ऑफ वेट) प्रतीत होना ,

१७ संताप—शरीरोष्मा की अधिकता ,

१८ अतिदौर्बल्य , १९. अरुचि ,

२० शिरोरोग—शिरोवेदना , शिर की सामान्य वेदना (हेडेक) के लिए शिर शूल शब्द भाषा-ग्रन्थो मे रूढ हो गया है , शूल तीव्र वेदना-विशेष का ही नाम है। रक्तप्रकोप में रक्त का प्रमाण बढने से तथा दुष्ट पित्त के कारण उसका वेग बढ जाने से शिर में रस-रक्त सविशेष प्रमाण मे और अधिक वेग से जाता है। परिणामतया, उससे हुए पीडन के कारण शिरोरोग होता है ,

२१ अन्नपान का विदाह—अम्लपाक, विदग्धाजीर्ण। आमाशय मे अम्ल पाचक पित्त के सयोग से समग्र अन्नपान अम्ल हो जाता है। इससे

पाक की इस अवस्था को ही अम्ल अवस्थापाक कहा जाता है। इस प्राकृत पाक को भी अम्ल पाक या विदाह सज्ञा है। वह यहाँ अभिप्रेत नहीं है। किन्तु इस अम्ल पित्त का प्रकोप (वृद्धि, हायपरक्लोरहाइड्रिया, अत्यग्नि) से जो विकार-रूप अम्लत्व हो जाता है उसे यहाँ विदाह कहा गया है। इसके अतिरिक्त अजीर्ण-विशेष—विदग्धाजीर्ण—में अजीर्ण के अङ्ग रूप मे जो विभिन्न सेन्द्रिय अम्ल (ऑर्गेनिक एसिड्स) बनते है उनका भी विदाह पद से ग्रहण होता है। व्यवसायोपयुक्त यह तथ्य यहाँ पुन ध्यान पर ला देना आवश्यक है कि विदाह तथा उसके कारण अम्लोद्गार, हृत्कण्ठदाह आदि विकारो से पीडित रोगी आने पर बहुधा नवीन चिकित्सक प्रथम प्रकार के विदाह को मन में लाते है, जब कि अधिकाश रोगी विदग्धाजीर्ण से ही पीडित होते हैं। विदग्धाजीर्ण ही जीर्ण (पुराना) और कृच्छ्रसाध्य हो कर अम्लपित्त सज्ञा धारण करता है,

२२ तिक्ताम्लोद्गार—क्रियाशारीर मे वाचक पढ आए है कि आमाशय मे जो अम्ल अवस्थापाक होता है उसकी अम्लता के परिणाम रूप मे पच्यमानाशय में पित्त का स्राव होता है। नवीन प्रत्यक्ष से विदित हुआ है कि पच्यमानाशय में किसी भी अम्ल का प्रवेश हो, यह अम्ल भले ही किसी प्रकार सीधा पच्यमानाशय में प्रविष्ट करा दिया जाए, परिणाम मे वहाँ पित्त का उदीरण—विशेष प्रमाण मे स्रवण— होता है। आयुर्वेद में अम्ल द्रव्यो को पित्त-प्रकोपक कहा है उसका एक रूप यह है। अस्तु, इस प्रकार उदीरित पित्तो में याकृत पित्त भी एक होता है। पुरुष पित्त-प्रकृति हो, अथवा / और वह पित्त-प्रकोपक पदार्थों का अति-सेवन करता हो तो उसके यकृत्-प्लीहा में पित्त की वृद्धि और सचय सविशेष प्रमाण मे हुआ होता है। आमाशय के अम्ल अवस्थापाक, विदाह आदि कारणो से उत्पन्न अम्लो के सयोग से ऐसे पुरुषो में उदीरित याकृत पित्त की राशि भी बहुत होती है। इस पित्त का रस तिक्त होने से उद्गार या वमन भी तिक्त होता है। विदग्धाजीर्ण तथा अम्लपित्त मे निकले द्रव्य में अम्लता और तिक्तता का तारतम्य देख कर आहारौषध का निश्चय करना अधिक गुणावह होता है।

प्रसगवश यह भी कह दूँ कि कदाचित् पुरुष कफप्रकृति हो, अथवा / और कफ-प्रकोपक आहार-विहार का अतियोग करता हो, तो उसके शरीर में कफ का सचय विशेष होता है। ऐसे पुरुष को विदाह हो, तो उसमे उदीरित अम्ल द्रव्यो से सरक्षण के लिए आमाशय मे क्लेदक कफ का स्रवण विशेष प्रमाण में होता है। परिणामतया, ऐसे पुरुषो के उद्गार, ष्ठीवन, वमन आदि में कफ की मात्रा अधिक होती है। शेष वात-प्रकृति या वात-प्रकोपक आहार-विहार का अतियोग करने वाले पुरुषो में अम्लपित्त के साथ वात का अनुबन्ध होता है,

२३. क्लम—एग्जोशन,

२४ क्रोध-प्रचुरता—चिटचिडापन, अतिक्रोध। बुद्धि के अधिष्ठान-भूत शिर में रस-रक्त का वेग और प्रमाण बढ जाने से यह स्थिति होती है। नवीन मत से विचार करें तो धात्वग्नि-विशेष (एड्रीनलीन) की वृद्धि होने से यह विक्रिया होती है। क्रियाशारीर के अध्येता जानते है क्रोध और हर्ष, शौर्य और भय पित्त के कर्म है और नव्य मत से परीक्षा करते हुए ये कर्म एड्रीनलीन के होते है। पित्त के साथ इस द्रव्य के अन्य भी साम्य है ही। नवीन मत से एड्रीनलीन के प्रकोप का विनिश्चय हुआ हो, तो भी वैद्य को तो उसे पित्त का प्रकोप मान कर ही विरेचनादि शोधन-शमन उपचार करने चाहिए, यही इस समन्वय का मनोगत आशय है ;

२५ बुद्धि-वैकल्य—शिरोरोग, क्रोधाधिक्य, भ्रम तथा आगे कहा मद ये सर्व एक ही मूल की विभिन्न शाखाएँ है। सर्व में बुद्धि तथा इन्द्रियो के अधिष्ठानो में रस-रक्त का प्रकोप होता है ;

२६ लवणास्यता—मुख का रस लवण-नमकीन-होना ,

२७ स्वेद—स्वेदाधिक्य से उसके हेतुभूत भ्राजक पित्त का भी क्षय होता है। परिणाम में जिस हस्तपादतल आदि एकाङ्ग या सर्वाङ्ग में अति स्वेद होता है वहाँ शैत्य भी होता है। कई रोगी शैत्य की ही व्यथा ले कर आते है। उनमें इस कारण का भी विचार करना चाहिए ;

२८. शरीरदौर्गन्ध्य—पित्त तथा कफ से रक्त की दुष्टि हो, तो दोनो का कोथ का स्वभाव एव पूति गुण होने से शरीर, मुख, नासिका, कक्षा, वस्त्र, मल, मूत्र, पूय आदि में दौर्गन्ध्य होता है। मूत्र निकले उस काल तो उसमें दौर्गन्ध्य नहीं होता, पर पूति स्वभाववश कुछ क्षण से ले कर न्यूनाधिक काल में दुर्गन्धयुक्त हो जाता है। शवच्छेदगृहो में रक्त, पित्त तथा कफ प्रधान रोगो से, यथा महाकुष्ठ, कैंसर आदि से, पीडित पुरुषो के शव शीघ्र कुथित हो जाते है, यह कार्यकर्ताओ का अनुभव है। तदनुसार शवच्छेद के कार्य में योग्य उपाय किए जाते है ;

२९ मद—नशा-सा रहना ;

३० कम्प—हस्त आदि एकाङ्ग या सर्वाङ्ग मे कम्पन ;

३१ स्वरक्षय—कण्ठ में रक्त और पित्त के कारण पाक (लेरिजाइटिस) का यह परिणाम होता है ,

३२ तन्द्रातियोग , ३३ निद्रातियोग ,

३४ अति तमोदर्शन—आँखो के आगे वार-वार अति प्रमाण में तथा वहुत काल तक अन्धेरा छाना ;

३५ कण्डू ; ३६. अरु(ष्)—फोडे, गण्ड, गुजराती मे गूमडे , अग्रेजी—वॉयल ;

३७. कोठ—शीतपित्त (छपाकी, अर्टीकेरिआ, गुजराती शीलवा) में जैसे मण्डल प्रकट होते है वैसे मण्डल ;

३८. पिडका—पिटिका, कण्डूयुक्त या कण्डूरहित फुन्सियाँ, अग्रेजी मे फरन्कल्स, इनसे युक्त रोग को फरन्कुलोसिस कहते है। कभी-कभी लगभग आलपीन की घुण्डी के प्रमाण की और रक्तवर्ण पिडकाएँ भी देखी जाती है। ये पित्त की तीक्ष्णतावश केशिकाओ के अति स्वल्प विदीर्ण होने से उनमें से रक्त बिन्दु का क्षरण और सचय होने से बनती है। ये रक्त-पित्त का एक प्रभेद है। उष्ण काल में प्राय देखी जाती है। पिडका का एक भेद यौवन में मुखादि पर होनेवाली यौवन-पिडका (एक्नी) है।

३९. कुष्ठ—विभिन्न त्वग्रोग, स्किन-डिसीज ,

इनमें अचार आदि तीक्ष्णोष्ण द्रव्यो के योग से वृद्धि का एव विरेचन (पित्तहर) से इनके बैठ जाने का इतिहास प्राय. पाया जाता है ;

४०. चर्मदल—कुष्ठ-भेद, जिसमें हस्तपादतल में दाह, कण्डू आदि होते है , ४१ दद्रू ; ४२ पामा—अकौता, छाजन, एग्जीमा नामो से प्रसिद्ध रोग , ४३ श्वित्र—श्वेत कुष्ठ या 'ल्युकोडर्मा' नाम से प्रसिद्ध त्वग्रोग , ४४ रक्त मण्डल—त्वचा या श्लेष्मकला पर रक्त वर्ण धब्बे होना। त्वचा की केशिकाएँ विस्तृत होने से ये होते है। अग्रेजी—हीमेंजिओमा ;

४५. तिलकालक—त्वचा पर छोटे-बड़े तिल (मोल) होना , ४६. पिप्लु—त्वग्विकार विशेष ; ४७ न्यच्छ—लाञ्छन नाम से प्रसिद्ध त्वग्रोग ४८. व्यङ्ग—प्राय. धूप में फिरने से मुख आदि की त्वचा पर प्रकट होनेवाले वर्ण-नाशयुक्त मण्डल। स्मरण रहे, यद्यपि शास्त्र में रक्तदोषो के विविध प्रकार दर्शाए है तथापि लोक में इन कण्डू, गण्ड, पिडका-प्रभृति त्वग्विकारो के लिए ही रक्त-दुष्टि, लहू की खराबी आदि रक्त-प्रकोप-सूचक नाम प्रसिद्ध है , ४९ नीलिका—त्वचा तथा मुखादि की श्लेष्म-कला पर नील (कृष्ण) वर्ण दाग होना,

५० इन्द्रलुप्त—शिर, दाढी आदि के बाल बीच-बीच में खाए जाना ; गुजराती में ऊँदरी ,

५१ गुदपाक—शिशुओ के गुदपाक के लिए अहिपूतन यह विशेष सज्ञा है ; प्रॉक्टाइटिस ,

५२ मेढ्रपाक—शिश्नपाक , पेनाइटिस[1]। ये सर्वपाक पित्त-प्रकृति एव रक्तसार पुरुषो को अधिक होते है, यह उपयोगी तथ्य ध्यान में रखना चाहिए ,

---

१—मुखपाक के लिए स्टॉमैटाइटिस, गुदपाक के लिए प्रॉक्टाइटिस, मेढ्रपाक के लिए पेनाइटिस, दन्तवेष्टपाक के लिए जिंजिवाइटिस, मज्जपाक के→

५३ प्लीहा—रक्त तथा पित्त की वृद्धि और उसका अपने एक आश्रय प्लीहा में संचय होने से हुई प्लीहावृद्धि,

५४ रक्तार्श—रक्तस्रावी अर्श, जिनका कारण रक्त-प्रकोप होता है। रक्तस्राव पैत्तिक अर्शों में भी होता है और रक्त प्रकोपजन्य अर्शों में भी। चिकित्सा-भेद की दृष्टि से दोनों में भेद जानना उपयुक्त है। दोनों में भेदक लक्षण यह है। रक्तप्रकोपजन्य रक्तस्रावी अर्शों में मल ग्रथित (शुष्क, ग्रन्थि-भूत, गाँठो के रूप में) हो तो उसके प्रवर्तन के लिए प्रवाहण करते समय अर्श के अंकुरो का ग्रन्थियो से घर्षण हो कर उनमें क्षत होता है। इसी कारण से उनमें रक्त-प्रवृत्ति होती है। रक्तस्रावी अर्शों का कारण पित्त-प्रकोप हो तो प्रकुपित पित्त के तीक्ष्णोष्ण गुणो से रक्त का प्रमाण तथा वेग तो बढ़े होते ही है, साथ ही अंकुरो के सिराजाल भी पाए जाते है, रक्त के स्कन्दन का स्वभाव भी न्यून हो जाता है। परिणामतया रक्त की प्रवृत्ति अंकुरो के पित्त-कृत क्षत होने से होती है। इनमें मल से घर्षण का प्रश्न यो भी उपस्थित नहीं होता। कारण, प्रकुपित पित्त के द्रव गुण के कारण पैत्तिक अर्श से पीडित रोगियो में मल द्रव—शिथिल—ही होता है। आयुर्वेद-मत से यह भेद दर्शा देने की आवश्यकता का कारण यह है कि प्राय नव्यमताभिभूत चिकित्सक रक्त-स्रावी अर्श का कारण एक ही समझते है—ग्रथित मल द्वारा हुए घर्षण से सिराओ का क्षत (व्रणित) होना। रक्तस्रावी अर्शों के आयुर्वेद-मत से और प्रत्यक्षाविरुद्ध ये दो भेद व्यवसाय की दृष्टि से जानना उचित है। रक्त-प्रकोप-जन्य अर्शों में मल और वायु का अनुलोमन और द्रवीकरण ही प्रमुख चिकित्सा है, जबकि पित्तप्रकोपोत्थ अर्शों में पित्त का शोधन-शमन एवं रक्त के स्कन्दन का स्वभाव बढाने वाले कषायादि गुण युक्त द्रव्यो का सेवन ही विधेय होता है

५५ रक्तार्बुद—यह आधुनिको का सार्कोमा समझा जाता है। कारण सार्कोमा रक्तवाहिनियों द्वारा फैलता है, अत वे विकृत और दुर्बल हो कर विस्तृत

←लिए ऑस्टिओमायलाइटिस, गलपाक के लिए फेरिंजाइटिस, अक्षिपाक के लिए कंजक्टिवाइटिस शब्द सर्वसम्मत है। इनके परस्पर साम्य को देखते समझा जा सकता है कि 'आइटिस' प्रत्यय-सूचित इन्फ्लेमेशन के लिए आयुर्वेद मे पाक यही पद अनुरूप पर्याय है। सो, इन्फ्लेमेशन का भाषान्तर करते हुए शोथ, प्रदाह आदि भिन्नार्थक शब्दो का उपयोग समीचीन नही। शोथ का अर्थ उत्सेध (स्वेलिंग) है, प्रदाह का अर्थ जलना है। शल्यतन्त्र मे व्रणो के लक्षण मे इन्फ्ले-मेशन के अर्थ मे संरम्भ संज्ञा भी आई है। वह भी अपनायी जा सकती है। तथापि, अन्यत्र सर्वत्र तन्त्रकारो ने पाक शब्द का ही व्यवहार किया है।

हो जाती हैं और उनका जाल इस अर्बुद के आन्तर भाग में व्याप्त देखा जाता है,

५६. विचर्चिका—जैसे पादतल में चीर पडना तथा कण्डू आदि सहचारी लक्षण होना विपादिका कहाता है वैसे लक्षण हस्ततल में होना विचर्चिका कहाता है (देखिए—सु० नि० ५।१३)। हस्ततल के अतिरिक्त शरीर के अन्य अवयवों पर होनेवाले चीर आदि को भी विचर्चिका ही कहते हैं। चरक में श्याववर्ण की, कण्डूयुक्त, अतिस्रावबाली कफ प्रकोप से रक्त की दुष्टि होने से हुई पिडकाओं को विचर्चिका कहा है। इस लक्षण का साम्य नवीनो के वीपिग या वेट एग्जीमा से स्पष्ट प्रकट है,

५७. उपजिह्वा—कफ-कृत रक्त-दुष्टि से जिह्वा के ऊपर तथा उसके मूल में जिह्वा के सदृश आकार के शोथ को उपजिह्वा या उपजिह्विका कहते हैं (देखिए—च० सू० १८।१९ तथा च० चि० १२।७७)। वर्णन से यह कण्ठच्छद का पाक (एपिग्लोटाइटिस या एपिग्लोटाइडाइटिस) प्रतीत होता है[1],

---

१—उपजिह्वा की गणना काश्यप ने की है। मूल मे दर्शित स्थानों म इसका जो जिह्वा के मूल म उसके ऊपर हुआ शोथ यह लक्षण दिया है उसे देखते यह कण्ठच्छद (एपीग्लॉटिस) का पाक प्रतीत होता है। स्वस्थ कण्ठच्छद के लिए भी यह मज्ञा चलाई जा सकती है। आयुर्वेद मे प्राकृत और विकृत दोनो अवयवो के लिए एक ही मज्ञा रखने का प्रचार है। यथा—उदर, ग्रहणी, गलशुण्डी (यूव्युला) आदि नाम उभयविध अवयवो के है। मूत्रग्रन्थि शब्द इसी प्रकार वृद्धि को प्राप्त प्रॉस्टेट का है। वह प्राकृत प्रॉस्टेट के लिए अपनाया जा सकता है। इन मज्ञाओ को देखते उपजिह्वा पद एपीग्लॉटिस के लिए व्यवहार मे लाना मगत प्रतीत होता है।

प्रसगवश दो शब्द अधिजिह्विका के लिए भी लिख दू। इसे आधुनिको का रेन्युला माना जाता है। सु० नि० १६।३८ पर मुख-रोगाधिकार मे अलास का जो लक्षण दिया है, उससे तुलना करने मे अलास ही नवीनो का रेन्युला एव ब्लैण्डिन्स गैग्लिऑन प्रतीत होता है। अधिजिह्विका जिह्वाधरीय लालाग्रन्थि (सबलिंग्वल) के शोथ का नाम है। शोथ होने पर ये ग्रन्थियाँ आगे उभर कर जिह्वा की पुत्रिका-सी प्रतीत होती है। पूर्वोक्त तर्क के अनुसार यह अधिजिह्विका पद भी स्वस्थ सबलिंग्वल ग्लैण्ड के लिए चलाया जा सकता है। व्याकरणानुसार भी सबलिंग्वल और जिह्वाधरीय शब्दो का जो अर्थ है वह अधिजिह्विका शब्द से भी निकल आता है। अधिजिह्विका के लक्षण के लिए देखिए—सु० नि० १६।५२ तथा उस पर डल्हन और गयी की टीका।

५८ कामला ; ५६ मशक—मस्से (वॉर्ट्स) नाम से प्रसिद्ध क्षुद्र-रोग, जो पैर-हाथ शिश्न, अपत्यपथ, पक्ष्म आदि पर प्राय देखे जाते है ,

६० अङ्गमर्द—अङ्ग स्फुटन—शरीर टूटना ;

६१. दाह ; ६२ श्रम—आयास किए विना श्रम (थकावट) प्रतीत होना ; ६३ अक्षिरोग—आँख दुखना। आँख आए बिना अथवा उसके साथ दोनो स्थितियो में अक्षिरोग हो सकता है ; ६४ स्रोतों का पूतिभाव—मल, मूत्र, स्वेदादि के वहिर्मुख स्रोतो में मल के दुर्गन्धयुक्त होने से दौर्गन्ध्य।

इन रोगो के सिवाय रक्त-प्रकोपज अन्य भी रोग होते ही है। उनके ज्ञान का सामान्य नियम यह है कि जो साध्य रोग शीत या उष्ण, स्निग्ध या रूक्ष, तीक्ष्ण या मृदु आदि उपचारो से चिकित्सित होने पर भी शान्त न हों, उन्हें रक्त-प्रकोपज ही मानना चाहिए। तात्पर्य, वातादि दोषो को लक्ष्य में रख कर वात के लिए उष्ण-तीक्ष्णादि, कफ के लिए रूक्ष-उष्ण आदि तथा पित्त के लिए शीत-रूक्ष आदि उपचार किए गए हो तथापि सिद्धि न मिले तो इस प्रकार की गयी अथवा स्वय हो गयी उपशयानुपशय-परीक्षा से सिद्ध हो जाता है कि रोग के कारण वातादि दोष नहीं है। यो देखा जाए तो जैसा कि अनेकश. कहा जा चुका है—रक्त की दुष्टि भी वातादि दोषो से ही होती है, अत. उल्लिखित वातादि दोषो को दृष्टि में रख कर किए गए उपचारो से उनसे दूषित रक्त भी समावस्था को प्राप्त हो कर तदुत्थित रोग भी शान्त हो ही जाने चाहिए, तथापि अनुभव-सिद्ध सत्य का प्रकाशन करते हुए आचार्य यहाँ प्रतिपादन करते है कि वातादि दोषो से रक्त की दुष्टि हो कर रोग उत्पन्न हुए हो, तो उनकी चिकित्सा केवल वातादि दोषो के साम्य को दृष्टि में रख कर चिकित्सा की जाए तो सफल नहीं होती। आश्रयभूत रक्त की विशेष चिकित्सा भी उनमें करणीय होती है। अतएव यह नियम स्मरण रखना चाहिए कि शीतोष्णादि उपचारो से जिस रोग में सिद्धि न प्राप्त हो उसे रक्त-प्रकोपज मान कर दोष और दूष्य दोनो को दृष्टि में रख कर निर्दिष्ट चिकित्सा करनी चाहिए[1]।

रक्त-प्रकोपज एक रोग आधुनिको का हाईब्लड प्रेशर—

रक्त-प्रकोपज रोगो की इस नामावली में आए प्राय रोगो के विषय में विशेष वक्तव्य होने से और सामान्य वुद्धि के चिकित्सक को व्यवहार में सौकर्य हो इस

१—देखिए—च० सू० २४।११-१७ पर चक्रपाणि की टीका। टीका के अन्त मे चक्रपाणि लिखता है—प्रवृद्धशोणिताश्रयास्तु वातादय आश्रयप्रभावान्न स्वचिकित्सामात्रेण प्रशाम्यन्ति।

हेतु से भी निदान-चिकित्सा के प्रकरण मे उनका पृथक् उल्लेख तन्त्रकारो ने किया है। सामान्य चिकित्सा-पद्धति सब की एक है--रक्त और पित्त का सशोधन-रक्त के सशोधनार्थ रक्त-विस्रावण एव पित्त के सशोधनार्थ विरेचन, तथा इनका शमन इत्यादि। चिकित्सा और निदान के साम्य से इनको एक वर्ग 'रक्त प्रकोपज रोग' मे परिगणित करना विशेषतया चिकित्सा की दृष्टि से उपयुक्त ही है। इन में एक रोग जिसका आयुर्वेद में अन्यत्र विस्तार से उल्लेख नही, पर आज जिसका जानना बहुत आवश्यक है वह है आधुनिको का हाई ब्लड प्रेशर या हाईपरटेन्शन। मेरा नम्र मत है कि अनेक लक्षणो के रूप में इस रोग का उल्लेख प्राचीनो ने इस प्रकरण में यथेष्ट प्रमाण में कर दिया है। इन रोगो में आए तम, शिरोरोग, रक्तपित्त (नासिका आदि मार्गो से रक्त-स्रुति), क्रोध-प्राचुर्य, बुद्धिवैकल्य, नेत्रो की रक्तता, मद आदि विकार; अति भोजन आदि से उत्पत्ति; नवीनोक्त सप्राप्ति के अनुसार हाई ब्लड प्रेशर की अन्त में मद, मूर्च्छा, सन्यास तथा पक्षाघात में परिणति, इस क्रम और इन रोगो के इसी क्रम से निकट संबन्ध के द्योतनार्थ जिस अध्याय में इन रक्तप्रकोपज रोगो के निदान-लक्षण और चिकित्सा का उल्लेख हुआ है उसी अध्याय में एकदम आगे मद, मूर्च्छा आदि रोगो के निदान और चिकित्सा का निर्देश; एव हाई ब्लड प्रेशर की नवीनोक्त चिकित्सा से साम्य रखनेवाला विरेचन, उपवास (विशेष कर निदानोक्त लवण का परिवर्जन) और रक्त मोक्षण ये सब बातें इस बात की द्योतक है कि आधुनिको का हाई ब्लड प्रेशर भी प्राचीनो ने इसी प्रकरण में समाविष्ट कर दिया है।

रक्त की वृद्धि से रक्तप्रकोप हो कर जो लक्षण होते है उनका रक्तवृद्धि के लक्षणो--रक्ताङ्गता, रक्तनेत्रता तथा सिरा (धमनी) पूर्णता--के नाम से निर्देश करते हुए भी प्राचीनो ने 'हाई ब्लड प्रेशर' का उल्लेख कर दिया प्रतीत होता है। इसके विपरीत रक्तक्षय के लक्षणो में कथित 'सिराशैथिल्य' नवीनो के 'लो ब्लड प्रेशर' या 'हायपोटेन्शन' का वाचक प्रतीत होता है। यह सिरा-शैथिल्य मासक्षय के लक्षणो में भी अभिहित है। इसका तात्पर्य यह है कि मास धातु की क्षीणता से शरीर के अन्य मास-धातुमय अवयवो के सदृश मासमय हृदय तथा सिरा-धमनी भी दुर्बल हो जाते है। हृदय को तो प्राचीनो ने मांसमय कहा ही है, सिरा और धमनी भी मांस धातु से गाढ सवन्ध रखती है, ऐसा प्राचीनो ने प्रत्यक्ष किया होगा। इसीसे रस धातु से क्रमश रक्त आदि धातुओ की पुष्टि का क्रम बताते हुए कहा है--रक्त के प्रसादभूत अश से मास धातु की पुष्टि होती है, साथ ही कण्डराएँ (स्थूल स्नायु) तथा सिराएँ (सिरा और धमनी) भी पुष्ट होती है। इसका अर्थ यह है कि--मास, स्नायु और सिरा-धमनियो

में कुछ साम्य होना प्राचीनो को अभीष्ट है। नव्य मत से इसकी व्याख्या कथचित् यो की जा सकती है कि सिरा-धमनियाँ जिन मण्डलो (कोट्स)[1] से बनी है, उनमे मासमय मण्डल मुख्य हे। कारण, इसी के बलाबल पर सिराओ और धमनियो का स्वरूप तथा बल (स्वकार्यक्षमता) अवलम्बित हे। इसीसे अर्श के प्रकरण में प्रत्यक्षानुसार अर्श सिराओ के फूले हुए भाग होते हुए भी उनके फुलावे में हेतुभूत मास धातु के दौर्बल्य को दृष्टि के समक्ष रख कर इन्हें आयुर्वेद में मासाकुर ही कहा है। अतएव चिकित्सा में भी शरीर में मास धातु को सम और सबल बनाने के लिए समान द्रव्य मास-रस का किंवा समानगुण शिम्बिधान्यो के यूषो का विधान अर्श की चिकित्सा के प्रकरण में प्राचीनो ने किया हे।

अस्तु। हृदय और सिराओ (ब्लडवेसल्स) के मासमय मण्डल के दुर्बल होने का परिणाम यह होता है कि वे शिथिल हो जाती है—उनका सकोच का गुण तथा स्थितिस्थापकता प्राकृत प्रकार की नही रह जाती। परिणामतया, रस-रक्त का वहन वेग और प्रमाण में न्यून होता है। रक्त क्षीण हो, तो भी सिराशैथिल्य होता है। आधुनिको ने भी 'एनीमिआ' को 'लो ब्लडप्रेशर' का प्रमुख कारण कहा है। इसकी तुलना किसी नगर में वॉटर-वर्क्स द्वारा पहुँचाए जानेवाले पानी से की जा सकती है। पानी न्यून हो तो 'प्रेशर' भी न्यून होता है—इस कारण ऊपर की मजिलो पर पानी न पहुँचना आदि विपरिणाम होते है। उधर, पानी पहुँचानेवाले पम्प का ही जोर किसी कारण न्यून हो जाए तो भी उसका 'प्रेशर' कम हो कर यही विपरिणाम होते है। यही स्थिति क्रमश रक्तक्षय तथा मासक्षय से होनेवाले सिराशैथिल्य या 'लो ब्लड प्रेशर' में होती है। इस सप्राप्ति को लक्ष्य में रख तदनुरूप उपचार करना चाहिए।

सिरापूर्णता आयुर्वेद-मत से पित्त और वात दोनो से हो सकती है। वात के प्रकोप में भी कफ-प्रकोप का कारण होना सभव है। रक्त-प्रकोप के निदान में सतर्पण की गणना तथा चिकित्सा मे उपवास का निर्देश रक्त प्रकोप में कफ-प्रकोप भी एक कारण है इस बात को सूचित करते हे। सक्षेप में रक्तदाब की अधिकता होने में कफ की कारणता की व्याख्या करता हूँ।

पित्त प्रकुपित हो, तो मन्द गुण-विरोधी तीक्ष्ण (आशु) गुण की वृद्धि सिराओं

१—नेत्रशारीर मे शालाक्य मे नेत्र के विभिन्न कोट्स को प्राचीनो ने मण्डल कहा है। महास्रोत, सिरा आदि के कोट्स के लिए भी यही सज्ञा अपनायी जा सकती है। नेत्रशारीर मे आए पटल बाह्य आलोक का वहन करनेवाले पर्दे या माध्यम है।

में (धमनियों मे) हो कर वेगाधिक्य तथा रक्तदाबाधिक्य होता है। रक्त प्रकोप में वात की कारणता इस प्रकार होती है कि प्रकुपित वात का स्थान-सश्रय नव्योक्त धमनिकाओ (आर्टीरिओल्स) में हो कर उनका स्तम्भ (सकोच, कॉन्ट्रेक्शन) होता है। सर्व शरीर को रस-रक्त पहुँचानेवाला व्यान वायु अपने मार्ग (क्रिया) में आए इस आवरण के कारण प्रकुपित होता है--अपनी सकोचात्मक प्राकृत क्रिया अधिक बल-पूर्वक करने लगता है। यह सकोचाधिक्य ही रक्तदाब-मापक-यन्त्रो मे पारद या सुई को ऊँचे चढा देता है तथा रक्तदाब की अधिकता को सूचित करता है। यही प्रकोप बुद्धि तथा ज्ञानेन्द्रियो के अधिष्ठान शिर में जा कर भ्रम-मद आदि विकारो को उत्पन्न करता है। कभी वात प्रकोपवश धमनियो में खरत्व (आर्टीरिओस्क्लेरोसिस) हो तब भी व्यान वायु आवरणवश प्रकुपित होता है और यही विपरिणाम होते है।

हाई ब्लड प्रेशर का कारण कफ हो तो प्रथम कफ के प्रमुख गुण मन्द के प्रभाव से रस-रक्त का वहन मन्द होता है। इससे आवृत व्यान वायु कुपित होकर पूर्व लिखित प्रकार से रक्तदाब को बढा देता है। रक्तदाब अधिक होने में किस दोष का प्रकोप कारणभूत है और कितने अश मे इसका निर्णय जिसका अति सेवन किया गया हो उस दोष-प्रकोपक आहार, विहार आदि तथा वय आदि से कौन से दोष का प्रकोप सभाव्य है यह जानकर एव प्रत्यक्ष तथा प्रश्न परीक्षा से और अन्त को उपशयानुपशय-परीक्षा से देख लेना चाहिए कि शरीर मे किस दोष का प्रकोप हुआ है। तदनुरूप पित्त, वात या कफ जिस भी दोष का प्रकोप हुआ हो उसे लक्ष्य में रख पृथक् उपचार करना चाहिए।

इस विषय में अधिक वक्तव्य इन रोगो के प्रकरणो में करेंगे।

धातुज रोग[1]

रोगमात्र दोषो के वैषम्य से होते हैं। अत सामान्यतया दोष-प्रकोप के लक्षणो का निर्देश सविस्तार कर देने से उनके उपचार की दिशा समझी जा सकती है। तथापि विस्तार के लिए अवयव-विशेष में दोष-विशेष के प्रकोप से होनेवाले लक्षणो के समुदाय को ज्वर, अतिसार आदि तत्तत् नाम देकर आचार्यो ने उनके निदान-लक्षण-चिकित्सा बताए हैं। इसमें हेतु विषय का विशदीकरण ही है। ये दोष ही तत्तत् धातु मे स्थान-सश्रय करते है तो उनमें जो विक्रिया होती है, उसका कारण तो तत्तत् दोष ही होता है, तथापि स्थान को प्राधान्य देकर तत्तत् धातु के नाम पर रोगो को रसज, रक्तज आदि नाम प्राचीनो ने दिये है। इन

१--च० सू० २८।८-२२, सु० सू० २४।८-१०।

धातुओ में भी विशेषतया चिकित्सा की भिन्नता (रक्तविस्रावण प्रभृति) इत्यादि को लक्ष्य में रखते हुए रक्त में कुछ वैशिष्ट्य प्राचीनो ने देखा, अत रक्तज रोगो का वर्णन इतर धातुज रोगो के साथ करके भी पृथक् एक अध्याय (विधि-शोणितीय) के रूप में उनका पृथक् पृथक् उल्लेख तन्त्रकारो ने किया है। विशेष होने से रक्तज रोगो का रोगो के वर्गीकरण के क्रम में प्रथम उल्लेख कर अब हम शेष धातुज रोगो का निर्देश करते है।

दोष-भेद से धातुज आदि रोगो मे लक्षणो की भिन्नता—

तत्र रसादिषु स्थानेषु प्रकुपितानां दोषाणां यस्मिन् स्थाने ये ये व्याधयः संभवन्ति तांस्तान् यथावदनुव्याख्यास्यामः ॥ च० सू० २८।८

तत्र रसेत्यादौ प्रकुपितानां दोषाणामित्यनियमेन रसे कुपितो वायुर्वा पित्तं वा श्लेष्मा वा, संसृष्टा वा अश्रद्धादीनि कुर्वन्ति। सत्यपि दोषभेदेऽत्राश्रयस्याभेदादाश्रयप्रभावेणैवाश्रद्धादयो भवन्ति, परं दोषभेदेऽश्रद्धादावेव वातादिलिङ्गं विशिष्टं भवति ×× ॥

—चक्रपाणि

इन रस आदि स्थानो में—धातुओ, उपधातुओ, मलो, स्रोतो, आशयो किंवा उदरादि अवयव-विशेषो में—दोष-प्रकोपवश होनेवाले रोगो का उल्लेख तन्त्रकारो ने किया है। इस प्रकरण में किस दोष मे कौन विकार होता है, इस प्रकार नामत निर्देश नही किया गया है। इससे यह तात्पर्य समझना चाहिए कि वात, पित्त, कफ पृथक्, संसृष्ट (दो मिलित) या समस्त (तीनो मिलित) इन रोगो को उत्पन्न करते है। यो प्रत्येक रोग या लक्षण की उत्पत्ति में दोष का भेद होता है तथापि उनका अश्रद्धा आदि स्वरूप तो आश्रय-भेद से ही होता है। अर्थात्—किसी भी दोष से रस धातु की दुष्टि हो तो अश्रद्धा (अन्न की कांक्षा न होना) यह लक्षण होता है। शुक्र या अन्य धातु, उपधातु आदि की दुष्टि हो तो यह लक्षण नही होता।

तथापि इन अश्रद्धा आदि आश्रय-भेद से हुए रोगो में तत्तत् दोष के कारण तत्तत् लक्षण-भेद भी होता ही है। चिकित्सा में उसे दृष्टि में रखकर उपचार-भेद करना चाहिए।

नवीन चिकित्सा के प्रचार से सुप्रचलित एक सामान्य रोग का उदाहरण देकर इस बात को स्पष्ट करता हूँ। गलपाक या फेरिंजाइटिस जैसा कि नाम से सूचित है, गल में हुए पाक (इन्फ्लेमेशन) से होता है। परन्तु प्रत्येक गलपाक समान नही होता। किसी मे वेदना अधिक होती है, उत्सेध (सूजन) स्वल्प

होता है, रक्तिमा भी विशेष नहीं होती। अन्य में उत्सेध विशेष होता है, वेदना उतनी नही देखी जाती। किसी में रक्तिमा प्रमुख लक्षण होता है, वेदना तथा उत्सेध वैसे नही होते। तीनो प्रकारो में अन्य भी लक्षण-भेद होता ही है। रोग तीनो प्रभेदो में एक ही होते हुए भी लक्षणो में जो भिन्नता देखी जाती है, उसमें वातादि का भेद ही हेतु होता है। हम फेरिञ्जाइटिस को भले आधुनिक दृष्टि से पहचानें, तथापि उनमें लक्षण-भेद का कारण आयुर्वेद की दृष्टि से समझ लें तो हमारा निदान और चिकित्सा अधिक मूलगामी, शुद्ध एव यशस्वी सिद्ध होगे। लक्षण-भेद मे वेदना आदि वातप्रकोप-विशेष होने से होते हैं, उत्सेध आदि कफ-प्रकोप के आधिक्य के कारण होते है, तथा रक्तिमा, दाह आदि पित्त-प्रकोप सविशेष होने से होते है। अन्य रोगो में भी इसी प्रकार दोष-भेद से लक्षण-भेद जानकर तदनुरूप चिकित्सा-भेद करना चाहिए।

धातु आदि स्थानो मे रोगोत्पत्ति का कारण—स्रोतोरोध—

सप्राप्ति के प्रकरण में देखेंगे कि रोगमात्र की उत्पत्ति में प्रकुपित हुए दोषों का स्थान-सश्रय (स्थान विशेष पर टिक जाना) एक कारण होता है। इस स्थानसश्रय का कारण यह होता है कि जहाँ रोग उत्पन्न हुआ है उस अवयव-विशेष के स्रोत दोष-विशेष के प्रकोप के कारण विकृत हुए होते है। स्रोत की विकृति किसी भी दोष के कारण हो, परिणाम सब का एक ही होता है, और वह यह कि उस स्रोत के वाह्य द्रव्य के अयन या वहन में अवरोध उपस्थित हो जाता है। अवरोध के प्रसिद्ध अर्थ से सूचित होता हे उस प्रकार वाह्य द्रव्योके मार्ग में कोई मूर्त द्रव्य रास्ता रोक कर अड जाता हो, ऐसी स्थिति सर्वदा नही होती। होता यह है कि, दोषो के प्रभाव के कारण स्रोतो में रस, रक्त, मल आदि वाह्य द्रव्य का अयन या गमन जिस वेग से और जितने प्रमाण मे होता है उस वेग तथा उस प्रमाण मे न्यूनता आ जाती है। कभी सपूर्ण अवरोध भी होता है इसी को आयुर्वेद मे स्रोतोरोध, स्रोतोवैगुण्य, स्रोतोदुष्टि आदि नाम दिए गए हैं। वायु के प्रकोप के प्रकरण में इसी को वायु का आवरण नाम दिया गया है। रोध या अवरोध शब्द में रुध् (रुधिर्) धातु है, उस का अर्थ धातुपाठ में पाणिनि ने आवरण दिया है। उससे आयुर्वेद की इस प्रसिद्ध सज्ञा का अर्थ समझने में सौकर्य हो सकता हैं।

लघुवाग्भट ने अत्यन्त स्पष्ट पदो में यह वस्तु अधोलिखित पद्य में कही है:

प्रतिरोगमिति क्रुद्धा रोगाधिष्ठानगामिनीः।
रसायनीः प्रपद्याशु दोपा देहे विकुर्वते॥

अ० हृ० नि० १।२३

× × रसायनी. नाडी[1] × × ॥ अरुण तथा हेमाद्रि

रोगमात्र में उसकी उत्पत्ति की सप्राप्ति यह होती है कि, जिस स्थान में रोग उत्पन्न होनेवाला है उस स्थान के स्रोतो मे कुपित हुए दोष प्रथम स्थानसश्रय करते है। पश्चात् शरीर में तत्तत् रोग उत्पन्न करते है। तात्पर्य, दोष-जनित विकृति का प्रभाव प्रथम स्रोतो पर होता है। दोषमात्र से हुई विकृति का परिणाम वहुधा स्रोतोरोध के रूप में होता है। इस स्रोतोरोध के कारण उस स्रोत के वाह्य द्रव्य का रोध के स्थान पर सचय, वृद्धि और प्रकोप होता है।

स्रोतोरोध, स्रोतोदुष्टि, स्रोतोवैगुण्य जिस भी नाम से इसे पहचाने, इसका स्वरूप दोषभेद से भिन्न होता है। पहले भी कहा जा चुका है, आवश्यक होने से पुन कहता हूँ। कफ के प्रकोप से वाह्य द्रव्य की गति (अयन) मन्द होती है, साथ वायु या पित्त का प्रकोप हो तो पित्त, मल, मूत्र, रस-रक्त जो भी वाह्य हो उसका क्लेदाश शुष्क हो कर या कफ के प्रभाव से रस-रक्त का स्कन्दन हो कर ये द्रव्य द्रवत्व त्याग कर मूर्त (घन) रूप प्राप्त करते जाते है। ये घन द्रव्य इन द्रव्यो के वहन में कारणभूत व्यान आदि वायुओ को प्रकुपित करते है। वे (व्यानादि वायु) अपनी सकोचात्मक क्रिया अधिक वल से करने लगते है। इसी से विभिन्न कोष्ठगत शूल होते है। कफ से कभी-कभी लेप भी हो सकता है, जैसे श्वास-कास में प्राणवह स्रोतो का या अरुचि-अग्निमान्द्य आदि में आम-पच्यमानाशय का। कभी कफका परिणाम स्रोतो के घटक शरीर-परमाणुओ की अतिपुष्टि के रूप में भी होता है। इससे स्रोतो का विवर न्यून होकर वाह्य द्रव्य का वहन असम्यक् होता है। कफ से हृदय आदि अवयवो की धमनियो के मण्डल (कोट) में मेद का सचय (एथेरोमा) तथा अन्य परिणाम होते है। वायु से स्रोत में स्तम्भ, खरत्व, शुष्कता, भङ्गुरता आदि होते है। पित्त से आभ्यन्तर मण्डल (कला) में पाक (शोथ) होता है। परिणाम सव का एक होता है—वाह्य द्रव्य का वहन प्राकृत प्रमाण में और प्राकृत वेग से हो नही पाता।

१—रसायनी शब्द रसवह स्रोतो के लिए भी प्रयुक्त होता है, साथ ही मार्ग-मात्र के अर्थ मे भी इसका व्यवहार होता है। उदाहरणतया, च० वि० ५।९ मे स्रोतो के जो सामान्य नाम दिये है उनमे रसायनी का उल्लेख है। यो भी तन्त्र-कारो ने भिन्न-भिन्न रोगो की जो सप्राप्ति दी है, उसमे केवल रसवह स्रोतो के वैगुण्य का निर्देश नही है, पुरीषवह, मूत्रवह, रसवह, स्वेदवह इत्यादि भिन्न-भिन्न स्रोत रोगभेद से दूषित होते है। इसे देखते भी रसायनी शब्द यहाँ मार्गमात्र के वाचक के रूप मे ग्राह्य है। इसी दृष्टि से दोनो टीकाकारो ने इसका पर्याय नाडी ही दिया है।

रसायन द्रव्य रस अर्थात् वाह्य गतिशील द्रव्य के अयन को सुधारते हैं। इसी से वे रोगनिवृत्ति और आयु की अनुवृत्ति (चिरायु-संपादन) में समर्थ होते हैं। दोषभेद से रसायन द्रव्य भिन्न होता है। कोई वात के लिए उपयुक्त होता है, कोई कफ के लिए, कोई पित्त के लिए। जिन द्रव्यो को वातघ्न आदि कहा जाता है, वे यत्सत्य स्रोतोदुष्टि को दूर करके स्रोतोदुष्टिरूप सप्राप्ति का भङ्ग करके ही वातज आदि रोगो को नष्ट करते है, यह मूल सत्य यहाँ समझ लेना चाहिए। धन्वन्तरि ने और भी स्पष्ट कहा है :

कुपिताना हि दोपाणा शरीरे परिधावताम् ।
यत्र संगः खवैगुण्याद् व्याधिस्तत्रोपजायते ॥

सु० सू० २४।१०

प्रकुपित हो शरीर में विचरण करते दोषो का स्रोतो के वैगुण्य के कारण जहाँ भी सग (अवरोध) होता है, वही रोगोत्पत्ति होती है।

रसादि धातुओ, उदर-हृदयादि अवयवो, आमाशय-यच्यमानाशय आदि आशयो किवा प्राणवह-पुरीषवह आदि स्रोतो में दोषो का स्थानसश्रय होने का कारण क्या है, इस बात का प्रसगोपयुक्त होने से निर्देश कर अब हम देखेंगे कि रसादि धातुओ में दोष का स्थानसश्रय होने के क्या परिणाम होते हैं, अर्थात् रसज आदि रोग कौन से हैं ? पहले जो कह आए हैं कि इन रसज आदि धातुज रोगो के होने में आश्रय अर्थात् जिस धातु में दोषो ने स्थानसश्रय किया है वह (धातु) विशेष महत्व रखता है, उस बात को यहाँ पुन स्मरण कर लेना चाहिए।

रसज (रस-प्रदोषज) रोग—

१. अन्नाश्रद्धा—अन्नद्वेष, अन्नपान के प्रति तिरस्कार ;

२. अरोचक—अरुचि (एनेरॉविशआ) ; अन्नद्वेष में क्षुधा हो सकती है, पर अन्न के सेवन की इच्छा नही होती—उसका देखना, उसकी बात करना भी पसन्द नही पडता। तथापि इसमे रुचि का नाश होना नियत नही। साथ अरोचक—अरुचि—न हो तो रोगी को आग्रह कर खिलाया-पिलाया जाए तो वह खा लेता है, उसके स्वाद को समझता, पसन्द करता तथा सराहता भी है। अरुचि में क्षुधा होती है, अन्नके प्रति प्रीति होती है—पूर्वोक्त प्रकार से विद्वेष नही होता ; परन्तु मुख में रखने पर उसकी रुचि का बोध नहीं होता—अन्न रोगी को स्वादु नही लगता। परिमाणतया, वह खा नहीं सकता, खाए तो वमन आदि

विकारों की सम्भावना होती है।[1] अन्नाश्रद्धा का ही एक मृदु रूप अनन्नाभिलाप है ;

३. आस्यवैरस्य, मुखवैरस्य या केवल वैरस्य—मुख का जो रस या स्वाद सदा रहता है उस से विपरीत, भिन्न होना। कफ के कारण रसदुष्टि हो तो मुख में मधुर रस प्रतीत होता है,पित्त के कारण हो तो तिक्त या अम्ल तथा वात के कारण हो तो विरसता फीकापन-होता है ; कफ और पित्त दोनों से लवण रस होता है (आस्य—मुख) ,[2]

४ अरसज्ञता—रस की प्रतीति न होना।[3]

आमाशय में स्वय कफ का प्रकोप हो—वहाँ रहनेवाला क्लेदक कफ वृद्धि को प्राप्त हो तब तो उसके ससर्ग से रस की दुष्टि हो कर तत्तत् लक्षण होते ही हैं, अन्य दोषो का आमाशय में स्थानसश्रय हो तो भी स्थान के प्रभाव से कफ का प्रकोप होता है। यह आयुर्वेद का सामान्य सिद्धान्त है कि दोष अपने प्राकृत स्थान से भिन्न स्थान पर जा कर कुपित हो तो उस स्थान के दोष को, अर्थात् वह स्थान जिस दोष का स्वाभाविक स्थान है उसे भी प्रकुपित कर देता है। यहाँ रसज दोषो के प्रकरण में भी रस के एक भेद अन्नरस का स्थान आमाशय है। इस मे कफ के कोप से तो कफप्रधान लक्षण होगे ही, पित्त और वात भी रस को दुष्ट करेंगे तो रस के स्थान आमाशय में कफ का भी यत्किंचित् प्रकोप स्वभावतः होगा। नव्य मत से कहना हो तो पित्त से (लवणाम्ल आदि में) श्लेष्मकला को हानि न हो इस निमित्त क्षोभ (इरिटेशन) होकर कफ (म्यूकस) का स्राव सविशेष होगा। इसी को आयुर्वेद में आमाशय-गत कफ का प्रकोप कहा है। अम्लपित्ती कफ-प्रधान द्रव्यो का अतिसेवन करता हो तो उसमें कफ का अनुबन्ध होकर तदनुरूप लक्षण होते है। यही स्थिति आमाशय में वात का स्थान-सश्रय होने पर भी जाननी चाहिए।

१—अश्रद्धाया मुखप्रविष्टस्याहारस्याऽभ्यवहरण भवत्येव परन्त्वनिच्छा ; अरुचौ तु मुखप्रविष्टं नाभ्यवहरतीति भेद ।

—च० सू० २८।९-१० पर चक्रपाणि

अरोचकस्त्वाहारेच्छाया सत्यामन्नस्य मुखप्रवेशनेऽस्वादुत्वावबोध ।

—सु० सू० २४।९ पर चक्रपाणि

अन्नाश्रद्धा अन्नविद्वेष ॥ —उक्त स्थल पर डल्हन

२—आस्यवैरस्यमुचितादास्यरसादन्यथात्वम् ।

—च० सू० २८।९-१० पर चक्रपाणि

३—अरसज्ञता रसाप्रतिपत्ति. । —उक्त स्थल पर चक्रपाणि

उभय प्रकार से आमाशय में क्लेदक कफ का प्रकोप हो तो उसका परिणाम यह होता है कि, शरीरान्तर्गत शेष कफ-स्थानो में स्थित कफ, जो आयुर्वेद-मतानुसार आमाशय-गत कफ से अपनी पुष्टि प्राप्त करते है, वे भी अति पुष्ट या कुपित हो जाते है। कफ के स्थान के भेद से तत्तत् परिणाम होते है; यथा, सर्व शरीर में, विशेषकर इच्छा के स्थान हृदय में रस की कफ-कृत दुष्टि होने से अन्न द्वेष, मुखस्थ बोधक कफ के कोप से अरुचि एवं आस्य-वैरस्य, सधिगत श्लेषक कफ कुपित होने से आगे कहा अङ्गमर्द इत्यादि विकार होते है;

५ हृल्लास--लालास्राव (थूँक) अधिक आना; अंग्रेजी--सेलिवेशन। यह स्थिति कभी रात्रि को ही विशेष होती है। विरेचन या अतिसार के पूर्व जैसे अधोवात की प्रवृत्ति प्रभृति लक्षण होते है वैसे हृल्लास और उत्क्लेद (उत्क्लेश, वमन की आशङ्का, नॉशिया) वमन के क्रमिक पूर्वरूप होते है। आमाशय में क्लेदक कफ की वृद्धि होने पर मलक्षेपणकर्मा वायु प्रकुपित होता है--आमाशय-गत दोष को बाहर निकालने का अपना कर्म अधिक बल से करने लगता है। इसी के सूचक रूप में हृल्लास और उत्क्लेश होते है। डल्हन ने उत्क्लेद का भी हृदयोत्क्लेद नाम से 'हृल्लास' शब्द से ग्रहण किया है, कभी-कभी, विशेषतया शिशुओ में हृल्लास ही विशेष लक्षण या रोग होता है। उनमें आमाशय में क्लेदक कफ की वृद्धि की कारणता का अनुमान कर वमन-लङ्घन करा देना उपयुक्त होता है। हृल्लास कभी कृमि-कोष्ठ से भी होता है। उस कारण को भी स्मरण रखना चाहिए। शेष विषादि कारण प्रकरणान्तर में आएँगे। पर्याय-प्रसेक, लालाप्रसेक;

६. अग्निमान्द्य या मन्दाग्नि अथवा अग्निनाश--क्लेदककफ से अग्निस्थान--पाचक पित्तवह स्रोतो के मुख--आवृत होने से अग्नि दुर्बल होना, डिस्पेप्सिआ;

७ अविपाक--या अजीर्ण। यह रसदुष्टिजन्य अग्निमान्द्य का परिणाम होता है। अत्यशन, अध्यशन प्रभृति विषमाशनो के कारण भी हो सकता है। ऊपर जैसे अरुचि आदि के भेद समझे है वैसे मन्दाग्नि तथा अजीर्ण का भेद भी समझ लेना चाहिए। मन्दाग्नि में केवल अग्नि के बल की सूचना है। पुरुष इस विकार की विद्यमानता में भोजन न करे या अग्निबल आदि को ध्यान मे रखकर करे तो अजीर्ण की बात ही खडी नही होती। उधर, अग्नि मन्द न हो तो भी अत्यशन, अध्यशन आदि कारणो से अजीर्ण हो सकता है। इस मे भोजन पचकर जिस रूप में परिणत होना चाहिए उस रसरूप को प्राप्त होता नही, किन्तु दोष-भेद से विभिन्न रूपो को प्राप्त होता तथा तदनुसार विविध नाम धारण करता है। अन्नद्वेष, अरुचि आदि हो तो सामान्यतया अग्नि मन्द ही होती है, परन्तु दोनो का समकाल (एक साथ) होना कोई निश्चित बात नहीं। यथा अग्नि सम्यक् होते

हुए भी किसी दुर्घटना के श्रवण के कारण अन्नद्वेष हो या किसी बीभत्स वस्तु के दर्शन से अरुचि हो इस अवस्था में अन्नपान का सेवन करना ही पडे तो अग्नि वलवान् होने से अजीर्ण-लक्षण विशेष प्रमाण मे उत्पन्न हुए विना अन्नपान का परिपाक सम्यक् हो भी जाता है। इन सब भेदो का पार्थक्य समझ रखना चाहिए ;

८ तृप्ति या सौहित्य--अन्नपान का सेवन न करें तो भी ऐसा भास होना जैसे पेट भर कर खाया हो। ऊपर कही सज्ञाओ से इस तृप्ति को भी भिन्न समझना चाहिए। क्षुधानाश इन सब से भिन्न रोग है। अग्नि मन्द न हो तो भी अप्रिय-समाचार-श्रवण आदि कारणो से क्षुधा नष्ट हो सकती है। क्षुधा (भूख) न लगी हो और खा लिया जाए तो विकार-विशेष उत्पन्न किए विना वह पच भी जाता है ;

९. अङ्गमर्द--शरीर टूटना, १०--तन्द्रा; ११--गौरव; १२--अङ्गसाद--शरीर शिथिल (ढीला-ढाला) प्रतीत होना; अनुत्साह ;

१३ स्रोतोरोध--मार्गावरोध। अन्नवह, आमाशय, प्राणवह आदि स्रोतो में कफ स्व-रूप में रहता हुआ अवरोध उपस्थित करता है, किंवा अपने मन्द गुण के प्रभाव से स्रोतो में वाह्य द्रव्य की वहिर्मुख की ओर होनेवाली गति को मन्द कर देता है। परिणामतया विशेषतया वायु का क्लेद-संशोषण-कर्म तथा अनुवन्ध रूप में पित्त का उष्ण गुण के प्रभाव से उत्पन्न रूक्षण कर्म अपना प्रभाव दिखाता है। परिणाम यह होता है कि वाह्य द्रव्य न्यूनाधिक घन (मूर्त, कठिन) स्वरूप को प्राप्त हो अपने अनुगामी वाह्य द्रव्य के मार्ग में अन्तराय (अवरोध, आवरण) उत्पन्न करता है। आवरणवश प्रादेशिक वायु प्रकुपित होता है, जिससे शूलादि लक्षण उत्पन्न होते हैं, जिनका उल्लेख अनेक वार किया जा चुका है। कफ के समानगुण मेदोधातु का स्थान-सश्रय स्रोतो में हो कर भी अवरोध एव तज्जन्य परिणाम होते हैं,

१४ हृद्रोग (हृदयरोग)--रस दो प्रकार का होता है--अन्नरस तथा रस धातु। अन्न रस दुष्ट हो तो उसके स्थान आम-पच्यमान-पक्वाशय दूषित होते है। परिणामतया सनिकटवर्ती हृदय पर उनका साक्षात् प्रभाव--पीडन-आदि के रूप में होता है। अथवा अन्नरस की दुष्टि में हेतुभूत प्रकुपित दोष प्रसृत होकर भी हृदय और उसके रसवह स्रोतो को दुष्ट कर रोगोत्पत्ति कर सकते है। नव्यमत से इस पिछली सप्राप्ति की कथचित् व्याख्या इस प्रकार हो सकती है कि--उदरगत अवयवो तथा हृदय दोनो में सौम्य और आग्नेय दोनो प्रकार के नाडीसस्थान (क्रमशः पैरासिम्पेथेटिक और सिम्पेथेटिक नर्वस सिस्टम) के नाडीसूत्र अभिव्याप्त होते हैं। पचन-तन्त्र में किसी भी स्वरूप की विकृति हो

उससे उभयविध नाडीसूत्र क्षुभित होते है कभी कोई, कभी कोई। ये क्षुभित हुए नाडीसूत्र हृदयगत नाडीसूत्रो को भी क्षुभित करते है, जिससे दोनो प्रकार के नाडी-सस्थानो में जिसके सूत्र आक्रान्त हुए हो उसके क्षोभ या प्रकोप (स्टिम्युलेशन) के लक्षण प्रकट होते है।

कभी रसधातु भी दोषो से दूषित हो सकती है। उसका स्थान तो स्वयं हृदय होता है। सो स्थानी (स्थानस्थ) रस की दोषकृत दुष्टि का प्रभाव उसके स्थान हृदय पर भी होता है। इस प्रकार रस दो प्रकार का होने से हृद्रोगो की उत्पत्ति भी एक या दोनो रसो की दुष्टि होने से होती है;

१५ पाण्डुरोग--रस दुष्ट होने से उत्तर धातु रक्त की पुष्टि सम्यक् न होने के कारण पाण्डुरोग होता है;

१६ कृशता (कार्श्य, कृशाङ्गता)--अन्नद्वेष, अरुचि, अग्निमान्द्य आदि कारणो से रस का क्षय होने से रक्त के समान इतर धातुओ का भी क्षय होकर प्रकृत्या शरीर कृश होता है। पर्याय--शोष,

१७ क्लैब्य--मैथुनाशक्ति तथा निष्फलत्व, धातुक्षय के अन्तर्गत शुक्रक्षय का यह स्वाभाविक परिणाम है;

१८. अकाल मे वलि--वार्धक्य का वय आने के पूर्व ही त्वचा पर झुर्रियाँ (रिंकल्स) पड़ना;

१९. अकाल-पलित--असमय में बाल श्वेत होना--पकना;

२०. ज्वर; २१ तम--तिमिर; आँखो के आगे अन्धेरा छाना, या श्वास;

२२. ग्लानि--हर्षक्षय, शरीर म्लान होना, .इत्यादि।

रक्तज (रक्त-प्रदोपज) रोग—

रक्तज रोगो का उल्लेख ऊपर किया ही है। तथापि तन्त्रकारो ने धातुओ की दुष्टि से होनेवाले रोगो के इस प्रकरण में सक्षेप के प्रयोजन से जिन रोगो का उल्लेख किया है, उनका पुनरुल्लेख करते है:--

१. कुष्ठ; २. विसर्प, ३. पिडका; ४. मशक (मस्से); ५. नीलिका ६ तिलकालक (तिल, अग्रेजी--मोल), ७. न्यच्छ (लाछन); ८. व्यङ्ग; ९ इन्द्रलुप्त, १०. विद्रधि, ११. प्लीहा (वृद्धि); १२ (रक्त) गुल्म; १३. (रक्त) अर्श; १४, (रक्त) अर्बुद; १५. पिप्लु; १६. दद्रु; १७ चर्मदल; १८. श्वित्र, १९. पामा; २०. कोठ; २१. रक्तमण्डल (लाल-लाल चकत्ते त्वचा पर पडना, आधुनिको के हीमें-जिओमा?), २२. रक्तपित्त, २३. रक्तप्रदर; २४ गुदपाक, २५.

शिश्नपाक, २६. आस्य (मुख) पाक, २७ कामला; २८ आनाहक; २९ अन्नमद इत्यादि।

मांसज (मांस-प्रदोषज) रोग—

मांस धातु की दोषदुष्टि के कारण निम्नलिखित रोग होते हैं।—

१. अधिमांस—मांस पर मांस के अधिक निकलना [illegible] होते हुए धात्वर्थ [illegible] के पृष्ठ से ऊपर निकल आता है और वह इसका [illegible] करना पड़ता है। किन्तु¹—अधिमांस का अर्थ यहाँ दन्तमांसगत रोग-विशेष लिया जा सकता है। [illegible] में उपरोक्त तथा आयुर्वेद के सिद्धान्त के स्पष्टीकरण के प्रयोजन से उसका लक्षण यहाँ बताया जाता है।—

हानव्ये पश्चिमे दन्ते महान् शोथो महारुजः।
लालास्रावी कफकृतो विज्ञेयः सोऽधिमांसकः॥

सु॰ नि॰ १६।३८.

हनु के पश्चिम (अन्तिम) दांत में, जिसे अक्किलों की दाढ़ कहते हैं, जिस ही को बीस-पच्चीस वर्ष की वय के आस-पास उत्पन्न हुआ होने से विज्डम-टूथ भी कहा जाता है, उसमें—उसको वेष्टित करनेवाले दन्त-मांस में²—कफ के प्रकोपवश होनेवाला अति वेदनावान्, लालास्रावी, तथा अति उत्सेध (फूलाव, सूजन)-युक्त जो शोथ होता है, उसे अधिमांस (या अधिमांसक) कहते हैं।

लक्षण देखने से स्पष्ट है कि प्राचीन शालाक्य-विद्या का यह अधिमांस नवीनों का 'विज्डम टूथ' है। प्राय पुरुषों में यह दन्त मसूड़े तथा दन्तमांस का बन्धन तोड़ कर अन्य दन्तों के सदृश पूर्ण अनावृत (खुले) निकल बाहर नहीं हो जाता। साथ ही समय-समय पर तीव्र वेदना से रोगी को विकल करता रहता है। अठारह-बीस वर्ष की वय के पश्चात् आमरण, दन्तशूल की व्यथा लेकर आए रोगी में प्रथम

१—सुश्रुतोक्त मांसदोषज रोगों की गणना में आये आए मांससंघात के डल्हण ने दो अर्थ किये हैं—सामान्य मांससंघात, किंवा मांससंघात-संज्ञक मुखगत रोग-विशेष। उसी रीति से अधिमांस के भी उभय अर्थ लेना संगत प्रतीत होता है।

२—मूल प्रकरण में अधिमांस का पाठ दन्तमांसगत रोगों में आया है। उससे यह रोग दन्त का नही, उसे वेष्टित करनेवाले दन्तमांस (मसूड़े, गम) का ही मानना चाहिए। अधि उपसर्ग ऊपर और अधिक (—वृद्धि) का वाचक प्रसिद्ध है। सो उसे ध्यान में रख अधिमास का अर्थ होगा—दन्तमांस की ऊपर की ओर वृद्धि।

कल्पना इस अधिमास की करनी ही चाहिए। परीक्षा की पूर्णता के लिए रोगी का मुख खुलवाना चाहिए।

अधिमास का लक्षणभूत यह शोथ आयुर्वेद-मत से कफ के प्रकोप से होता है। सो, इसका बुद्धिगम्य और आयुर्वेदीय शालाक्यतन्त्र-विदो का स्वानुभूत उपचार लङ्घन द्वारा कफ का शमन, वमन द्वारा कफ का शोधन और कोष्ण लवण-जल के गण्डूष द्वारा कफ का लेखन ही है। यह उपचार मूलगामी होने से त्वरित गुणकारी होता है। इसका अवलम्बन किया जाए साथ ही केला, दूध आदि अभिष्यन्दी अन्नपानो के त्याग के रूप में निदान-परिवर्जन कराया जाए तो अधिमास की व्यथा के पुनरुद्भव का प्रश्न ही नही रह जाता।

चिकित्सा-व्यवसाय मे इस व्यथा से पीडित रोगी प्राय. आते हैं। उसमें नवीन तन्त्र विशेष गुणावह न होने से तथा आयुर्वेदीय उल्लिखित उपचार सर्वथा उपयुक्त होने के कारण यहाँ उसकी दिशा दिखा दी है।

अथवा—त्वचा, गल, तालु, मुख, नासिका, कर्ण, अक्षिवर्त्म (पलक), शिश्न, योनि, नाभि—इन अवयवो में जो अर्श होते हैं उन्हें भी स्पष्ट ज्ञान के लिए गुदवलियो में होनेवाले प्रसिद्ध अर्श से पृथक् अधिमास यह सज्ञा तन्त्रकारो ने दी है।

अर्शासीत्यधिमासविकाराः। च० चि० १४।५

×× गुदवलिजाना त्वर्शांसीति संज्ञा तन्त्रेऽस्मिन्॥

च० चि० १४।६

२. मासार्बुद—अग्रेजी पर्याय—मायोमा ;

३ अर्श—चरक मे इस प्रकरण में इसे कील कहा है। आयुर्वेद मे अर्शो को मांसाकुर ही कहते है। यहाँ और भी स्पष्ट पदो में दोनो तन्त्रकारो ने इसकी गणना मासदोषज रोगो में कर दी है। प्राचीनो ने अर्शो को सिराकुर न कहकर मासाकुर क्यो कहा, इसकी स्पष्टता पहले की जा चुकी है। यहाँ पुन· कह दूँ कि, दोषो के कारण सिराओ के मासमय मण्डल (मस्क्युलर कोट) की दुष्टि और तज्जन्य नैर्बल्य के कारण ही यत्किंचित् भी दबाव आने पर सिराएँ फूल जाती हैं। इतर उपचारो के साथ मासधातु को दोषरहित तथा सबल बनाना अर्शो में कर्त्तव्य है, यह यहाँ पुनः स्मरण कर लेना चाहिए ;

४. अधिजिह्वा (अधिजिह्विका), ५ उपजिह्वा (उपजिह्विका) ; ६. उपकुश—रक्त-प्रकोपज रोगो के अधिकार में इन तीन रोगो का विचार कर आए हैं ;

७. गलशुण्डी (गलशुण्डिका, कण्ठशुण्डी)—गल (फेरिंक्स)[1] में प्रकृत्या

१—गल सज्ञा के अर्थ-निर्णय के लिए देखिए—आयुर्वेदीय क्रियाशारीर।

एक शुण्डाकृति अवयव लटकता है। इसे गलशुण्डी (यूव्युला) कहते हैं। इसकी वृद्धि को भी यही नाम दिया गया है। अंग्रेजी में इससे बढकर लटकने को एन्लार्ज्ड यूव्युला तथा पाक को यूव्युलाइटिस कहते हैं। बढकर लम्बी हो गयी गलशुण्डी, रोगी सोया या लेटा होता है उस काल, गल के पिछले भाग के सम्पर्क में आती और क्षोभ उत्पन्न करती है। परिणामतया, कास के वेग उत्पन्न करती है। सो कास के रोगी में प्रश्न-परीक्षा द्वारा (कास के वेग लेटने पर आते हैं क्या? यह प्रश्न करके) इस रोग को स्मरण कर लेना चाहिए। स्मरण रहे, रात को सोते समय होनेवाले कास के वेग इनसे कुछ अंश में भिन्न हैं। वे रात्रि की निश्चेष्टता तथा वातावरण की सौम्यता से कफ का प्रकोप होने के किंवा आम-पच्यमानाशय उदरवातपूर्ण हो तो प्राणवह स्रोत पर उनका पीडन होने के,सक्षेप में क्रमश कफज और वातज कास के सूचक हैं। उपचार तीनो में पृथक् होता है;

८ गलशालूक (कण्ठशालूक)--गल (गले) में अन्दर मांस के अकुरो से व्याप्त बडे बेर के गुठली-जितनी, खर, देखाव में छोटे-छोटे कॉटो से वेष्टित, अतएव शालूक (कमल के कन्द) के तुल्य स्वरूपवाली, कफप्रकोप से होनेवाली, स्थिर, घुर्घुर ध्वनियुक्त तथा उच्छ्वास में अवरोध उत्पन्न करनेवाली और केवल शस्त्रोपचार-साध्य ग्रन्थि को गलशालूक या केवल शालूक कहते हैं (सु० नि० १६।५१, च० चि० १२।७५); कदाचित् नवीनो का 'हर्पेटिक टॉन्सिलाइटिस';

९. अलजी; १० गण्डमाला--हन्वस्थि की सधि, मन्या, कक्षा, कूर्परसधि आदि स्थलो पर होनेवाली ग्रन्थियो की अपची और अलजी सज्ञाएँ हैं। अपक्व का नाम अलजी और पक्व को अपची कहते हैं। यही ग्रन्थियॉ गले में धारण की जानेवाली माला के स्थान पर--हन्वस्थि के नीचे, तथा छाती पर--हो तो माला के सादृश्य से उन्हें गण्डमाला (प्रचलित नाम कण्ठमाला) कहते हैं[1]। नव्य मत से ये प्राय. यक्ष्मा के जीवाणुओ के आक्रमणवश हुई रसग्रन्थियो की वृद्धियॉ हैं। कदाचित् सनिकर्ष के कारण इन्ही से रोग फुपफुसो के शिखर में संक्रान्त हो जाता है, ऐसा एकीय मत है। अंग्रेजी सज्ञा--स्क्रॉफ्यूला;

११. गण्ड--बडे-बडे फोडे (गुजराती गुमडे, अंग्रेजी बॉयल्स) या गण्ड-माला के सानिध्य से गलगण्ड (पाश्चात्यो का गॉयटर);

१२. पूतिमास--मास में कोथ (सडांद) और दौर्गन्ध्य होकर उसका पात (गल कर गिर जाना);

१--देखिए--सु० नि० ११।१०-१२ पर गयदास तथा डल्लन की टीकाएँ और इसी ग्रन्थ मे आगे इन रोगो के प्रकरण।

१३. मांससंघात--मास की प्रादेशिक वृद्धि (उत्सेध) ; किंवा इसी नाम का तालुगत-रोग-विशेष। इसमे तालु के अन्तर्गत मास कफ से दुष्ट होकर उसका जो वेदनारहित सघात बनता है, उसे माससंघात कहते है। (देखिए सु० नि० १६।४४)। सुश्रुतोक्त मास-प्रदोषज रोगो की टीका मे डह्लन ने इस शब्द से मांसतान नामक रोग निर्दिष्ट माना है। तीनो दोषो का प्रकोप होकर क्रमशः गल का अवरोध करनेवाला, लटकता हुआ, विस्तारवान्, अति कष्टप्रद तथा अन्त में प्राणहारी जो शोथ होता है उसे माससतान कहते हैं (देखिए--सु० नि० १६।६२) ;

१४. ओष्ठ-प्रकोप--ओष्ठरोग ; पृथक् तथा सनिपतित दोषो, रक्त, मांस, मेद और अभिघात (आघात) इन कारणो से हुए कुल आठ ओष्ठ-रोगो को ओष्ठ-प्रकोप नाम दिया गया है। (इस सज्ञा, इसके भेदो तथा लक्षणो के लिए देखिए सु० नि० १६।४-१२) ;

इन निर्दिष्ट रोगो के सिवाय अन्य रोग--ये मास-प्रदोषज रोग हैं।

मेदोज (मेदोदोषज-मेद.सश्रय) रोग--

मेदोधातु में दोषो का स्थानसश्रय होने पर स्थान-प्रभाव से नीचे लिखे रोग-विशेष होते है। -

चरक कहता है कि, प्रमेह के पूर्वरूप तथा 'अष्टौनिन्दितीय' अध्याय[1] में कहे मेदस्विता (अति स्थौल्य) के दुष्ट लक्षण मेदोधातु की दुष्टि से होते हैं। उनका उल्लेख पीछे करेंगे। प्रथम सुश्रुत के स्पष्ट शब्दो में दिये रोगो का निर्देश करते हैं। -

१. मेदोग्रन्थि--सु० नि० १।२६ में मेदोगत वात के लक्षणो में ग्रन्थियों की गणना है। वही ये ग्रन्थियाँ होनी चाहिए। उनका लक्षण बताते कहा है कि--मेदोगत वात से हुई ग्रन्थियाँ मन्द वेदना वाली तथा व्रण-भाव को प्राप्त न होनेवाली होती है। सु० नि० ११।३ तथा ७ और इनकी डह्लन तथा गयदास की टीकाओ में मेदोग्रन्थि के लक्षण सविस्तर बताए गये है। उन्हें यहाँ स्मरण करना चाहिए। उस अध्याय में वर्णित षड्विध ग्रन्थियो में मेद की दुष्टि से हुई मेदोग्रन्थि यहाँ गृहीत है। कदाचित् ये मेदोग्रन्थियाँ आधुनिको की रस-ग्रन्थियो (लिम्फ-ग्लैड्स) की उस वृद्धि का नाम है जो दारुण (घातक, फेटल)

१—च० सू० २१ अध्याय मे अतिस्थूल-अतिकृश, अतिदीर्घ (बहुत ऊँचा) -अतिह्रस्व, अतिकृष्ण—अतिगौर, अतिलोमा-अलोमा इन आठ को निन्दित कहकर उनमे भी अतिनिन्दित अति स्थूल-अतिकृश के निदानादि का निरूपण किया है। इस अध्याय को अष्टौनिन्दितीय अध्याय नाम दिया है।

नहीं होती। इसे मृदु (बिनाइन) कहते हैं। रसग्रन्थियों की दारुण वृद्धि कदाचित् आयुर्वेदोक्त कफज ग्रन्थि-विसर्प है। इसे अंग्रेजी में हॉजकिन्स डिसीज लिम्फेडीनोमा या स्यूडोल्युकीमिया कहते हैं। नवीनों का लाइपोमा अर्बुद नाम से आगे निर्दिष्ट है,

२ मेदोज वृद्धि---एक या दोनों फलकोशों (अण्डकोशों, मुष्कों) में---उनके प्रमाण में---दोष, मूत्र या अन्त्र किसी के संसर्ग से हुई वृद्धि की वृद्धि यह विशेष संज्ञा है। इनमें मूत्रवृद्धि फलकोश में अब्धातु (जल) के संचय से हुई वृद्धि का नाम है। इसके लिये अंग्रेजी का हाइड्रोसील शब्द प्रचलित है। वृद्धि के अनेक प्रकारों में यहाँ प्रकरण-वश मेदोज वृद्धि का ग्रहण है। यह कदाचित् नवीनों की श्लीपद-सदृश फलकोश की त्वचा की स्थूलता का नाम है;

३. गलगण्ड---नवीनों द्वारा दर्शित चुल्लिका-ग्रन्थि (थायरॉयड) की वृद्धि, गॉयटर,

४ मेदोऽर्बुद---अर्बुदों के नाना भेद हैं, उनमें प्रकरणवश मेद के संचय से हुए अर्बुद का यहाँ ग्रहण है। अंग्रेजी नाम---लायपोमा;

५ मेदोज ओष्ठ-प्रकोप---वातादि दोष-दूष्य तथा अभिघात भेद से आठ प्रकार के ओष्ठ रोग होते हैं[1]। इन्हें ओष्ठ प्रकोप भी कहते हैं। इन में मेदोज यहाँ गृहीत है,

६. मधुमेह---वातज मधुर प्रमेह को चरक ने मधुमेह नाम दिया है तथा सुश्रुत ने क्षौद्रमेह। क्षौद्र और मधु पर्याय हैं। सुश्रुत ने मधुमेह संज्ञा स्वीकारी है, पर अन्य अर्थ में। प्रमेहमात्र प्रतीकार न होने पर या मिथ्या प्रतिकार हो उस स्थिति में मधुर प्रमेह के रूप मे परिणत एवं शरीर पिडकाक्रान्त हो जाता है तथा अन्य लक्षण प्रादुर्भूत हो जाते हैं। इस स्थिति को मधुमेह नाम सुश्रुत ने दिया है[2]। मेदोज रोगों का यह प्रकरण सुश्रुत-मत से दिया जा रहा है, सो यहाँ मधुमेह शब्द व्यापक अर्थ में ही लेना चाहिए;

७ अति स्थौल्य---अति मेदस्विता;

८. अति स्वेद--- इत्यादि।

प्रमेहों के पूर्वरूपों को ऊपर मेदोदोषज कहा है। प्रकरण-पूर्ति के लिए इनका निर्देश करते हैं[3]।

१—देखिए—सु० नि० १६।४-१२ तथा इन पर टीका-द्वय।

२—देखिए—सु० नि० ६।२४-२७, सु० चि० १२।६ तथा इन पर डल्हन और गयदास की टीकाएँ।

३—देखिए—च० नि० ४।४७, सु० नि० ६।५ तथा टीकाएँ, अ० हृ० नि० १०।३८-३९, माधवनिदान तथा मधुकोश।

१. केशों की जटिलता—प्रमेहो में कफ, मेद और स्वेद प्रधान दोष-दूष्य होते है। इनके पैच्छिल्य के कारण[1] केश भी पिच्छिल होकर परस्पर व्यामिश्र हो जाते है—एक दूसरे से उलझ जाते है। रोग का प्रभाव (स्वभाव) भी केशो की जटिलता आदि में कारण माना जाता है। बाहर की धूलि भी इन पिच्छिल केशो में स्वाभाविक ही सविशेष ससक्त होती है। इससे उनकी जटिलता में और वृद्धि होती है। कघी से बाल सँवारते समय इस जटिलता का अनुभव होता है;

२ केशों की अतिवृद्धि—प्रमेहो में शरीर में मलाश की वृद्धि बहुत होती है। सो मलभूत केशो की वृद्धि भी स्वभावत. होती है। स्वस्थ पुरुषो की अपेक्षया, किवा अपनी ही स्वस्थ अवस्था की तुलना में पुरुष को दाढी जल्दी करनी पडती है तथा केश शीघ्र कटाने पडते है। इन दशाओ से केशो और नखो की अति वृद्धि का अनुमान किया जा सकता है;

३. नखों की अतिवृद्धि—इसके भी कारण केशो की अतिवृद्धि के समान ही है। स्मरण रहे, अग्नियो की मन्दता आदि हेतुओ से केशो और नखो की अतिवृद्धि ये लक्षण राजयक्ष्मा के भी पूर्वरूप तथा रूप (लक्षण) होते है। नखो की अति वृद्धि भी अन्य पुरुषो की अपेक्षया अथवा अपनी ही स्वस्थ अवस्था की तुलना में नख अधिक शीघ्र काटने पड़ने से सूचित होती है;

४. मुखमाधुर्य—मुख का रस मधुर होना। दोष-दूष्य प्राय. मधुर-रस होने से मुख में माधुर्य प्रतीत होता है,

५. हस्तपादतल-दाह—हथेली तथा तलुओ में दाह (जलन)। नव्य मत से मधुमेह मे कार्बोहाइड्रेटो का दहन अपूर्ण रह जाने से, उनके दहन की पूर्णता पर जिनका दहन अवलम्बित है उन स्नेहो का भी दहन यथावत् नही होता। परिणामतया, उनके अपूर्ण पाकवश आम या अर्धपक्व द्रव्य—एसीटोन आदि उत्पन्न हो शरीर में प्रसृत होते है। इनके अम्ल—पित्तवर्गीय—होने से हस्तपादतलादि में दाह की अनुभूति होती है;

६ हस्तपादसुप्तता—एक या दोनो हाथो और पैरो में सुप्ति—स्पर्शनाश या झणझणी—होना;

७ मुखतालुकण्ठशोष—प्रमेहो में प्रधान दोष बहुद्रव श्लेष्मा बताया गया है[2]। इन रोगो में जो प्रकुपित दोष-दूष्य मूत्रमार्ग से निकलते है वे द्रवरूप हो

१—देखिए—केशो की जटिलता तथा वृद्धि और नखो की वृद्धि की विशदता के लिए टीकाएँ।

२—बहुद्रवः श्लेष्मा दोषविशेषः —च० नि० ४।६।

तभी मूत्रमार्ग से उनकी प्रवृत्ति हो सकती है। अत: इनका प्रवर्तक वायु श्लेष्मा को भी बहुद्रव (अति द्रवगुणयुक्त) बना देता है। इसीसे प्रमेह-मात्र में आविलता--मलिनता, उनके प्राकृत रासायनिक स्वरूप में रूपान्तर--तो होती है, साथ ही क्लेद् या द्रव धातु की भी अति प्रवृत्ति होने से प्रभूतता (मूत्र के वेगो तथा प्रमाण में आधिक्य) भी होकर ये दो प्रमुख लक्षण होते हैं।

तत्राविलप्रभूतलक्षणाः सर्व एव प्रमेहा भवन्ति

मृ० नि० ६।६

मूत्र की इस प्रभूतता के कारण शरीरगत अब्धातु का क्षय (उदक-क्षय, डीहाइड्रेशन) होने से मुखादि मे शोष, पिपासा प्रभृति लक्षण होते हैं। नवीनो ने केवल मधुमेह के प्रकरण में अतिद्रव-प्रवृत्ति (डायबिटीज इनसिपिडस) का अनुबन्ध बताया है। प्राचीनों ने प्रमेहमात्र मे मूत्र में द्रवाधिक्य की लक्षणतया गणनो की हे।

८ पिपासा--अति तृषा। इसका विचार ऊपर किया हे;

९ आलस्य, १० अहर्निश तन्द्रा, ११ अङ्गसाद--अङ्गो में शैथिल्य; १२ शरीरावयवों मे स्निग्धता, पिच्छिलता, चिक्कणता तथा गुरुता--प्रमेहारम्भक दोष-दूष्य प्राय: स्निग्धादि गुणयुक्त होने से शरीरावयवो में स्निग्धता, पिच्छिलता तथा गुरुता करते हैं। पिच्छिलता का केशो पर प्रभाव ऊपर दर्शाया है। त्वचा पर स्निग्धता होने से स्नानोदक शरीर पर टिकता नहीं तथा ऐसा प्रतीत होता है जैसे अभ्यङ्ग किये शरीर पर जल डाला गया हो। गुरुगुणयुक्त दोष-दूष्यो के सचय के कारण शरीर में गौरव और उसके कारण सर्वदा तन्द्रा, अङ्गसाद और आलस्य शरीर एवं मन को अभिव्याप्त किये रहते हैं;

१३ शरीर मे मलों का संचय; १४. शरीर के मलद्वारों में मलाधिक्य (उपदेह; मलाढ्यत्व)--आँख, नाक, कान, शिश्न, चर्म आदि में तत्-तत् मल अधिक होना, अतएव इन स्थलो पर कण्डू तथा त्वग्रोग होना;

१५. शरीरावयवों मे दाह तथा सुप्तता,

१६ शरीर (त्वचा) और मूत्र पर पिपीलिकाओं (चिऊँटियो) तथा भ्रमरों (मक्खियो) का अभिसरण--शरीर तथा मूत्र में माधुर्य आदि प्रिय गुण होने से इन प्राणियो का उनके उपभोगार्थ आकर बैठना;

१७ शरीर मे आम गन्ध--कच्चे द्रव्यो में सड़ाद होने से जो मछलियों की-सी दुर्गन्ध आती है, उसे आम या विस्र-गन्ध कहते हैं। दुर्गन्धयुक्त प्रस्वेद जिन्हें आता हो उनके केश तथा वस्त्र धुले न हो तो उनमें जो उग्र दुर्गन्ध पाई जाती

है उसे विस्र-गन्ध कहते हैं। प्रमेहारम्भक दोष-दूष्य कोथ-स्वभावी होने से उनमें दुर्गन्ध गुण उदित होकर प्रमेह के पूर्वरूप में शरीर (त्वचा), मल, मूत्र, वस्त्र प्रभृति में दुर्गन्ध का आविर्भाव होता है ;

१८ तालु, गल, जिह्वा, नेत्र, कर्ण, हृदय (छाती), प्राणवह स्रोतों और दंतों पर अतिशय मलोत्पत्ति, इस लक्षण से स्पष्ट है कि जिन स्त्री-पुरुषो के दन्तादि में मल, दुर्गन्ध आदि चिह्न पाये जाएँ उनमें नव्यमताभिभूत हो केवल मुख के स्वस्थवृत्त (ओरल हाईजीन) पर लक्ष्य न दे शरीरगत दोषो के निवारण के प्रति भी ध्यान देना चाहिए। स० १४ में कहे पूर्वरूप का यहाँ विवरणमात्र है,

१९ मू० मे मधुरता, शुक्लता तथा अन्य दोषों (विकृतियो) का दृष्टिगोचर होना ;

२० श्वास—क्षुद्र श्वास यहाँ अभिप्रेत है। अति मेदस्विता आदि के कारण रोगी को न्यूनाधिक श्रम से हाँफ चढ जाती है। इसे क्षुद्रश्वास कहते हैं। अंग्रेजी—शॉर्ट ब्रेथ ;

२१. अतिस्वेद—शरीर में क्लेद का आधिक्य होने से स्वेद की अति प्रवृत्ति ;

२२. शयन (लेट रहना), आसन (बैठ रहना) और स्वप्न (निद्रा) के रूप मे सुख की इच्छा—निष्क्रियता के प्रति अभिरुचि। तन्द्रा, निद्रा आदि पूर्वरूपो की ही यह व्याख्या है ;

२३ शरीर की स्थूलता—शरीर में गुरुता की ही यह विवृति है ;

२४. शीतप्रियत्व—शीतल जल, स्थान आदि की अभिलाषा। दाह, पिपासा, शोष आदि के कारण यह पूर्वरूप होता है।

मेदोज (मेद सश्रय) रोगो में अष्टौनिन्दितीयाध्यायोक्त मेदस्विता के दोषो की भी गणना चरक ने की है। सो, प्रकरण की पूर्त्ति के लिए उनका भी नामत. निर्देश यहाँ किया जाता है।

मेदस्विता (अतिस्थौल्य)[1] के दोष—

१. आयुर्ह्रास—आयु अल्प होना। अति मेदस्वी पुरुष में मेद का ही उपचय (पुष्टि) होता है, रसादि अन्य धातुओ की पुष्टि वैसी नही होती। अतः उसकी आयु का ह्रास होता है ;

२ जरोपरोध—जरा (वृद्धावस्था) शीघ्र आविर्भूत होकर उसके कारण जीवन में विघ्न उपस्थित होना। मेद के शिथिल, सुकुमार और गुरु होने से

१—देखिए—च० सू० २१।४-१०।

जरावस्था के लक्षण शीघ्र प्रकट होते हैं। शिथिलता का अर्थ यह है कि मेद के शैथिल्यवश मेदस्वी पुरुष के स्फिक् (नितम्ब, चूतड), उदर, स्तन (छाती) आदि ढीले, लटकते और चल (हिलते) होते हैं।

जवोपरोध--यहाँ 'जवोपरोध' यह पाठान्तर है। उसका अर्थ है, किसी भी कार्य में गति न्यून होना,

३. कृच्छ्रव्यवायता--व्यवाय (मैथुन) में कष्ट होना; अनेक कारणो से उभय पक्ष को सन्तोष न होना। इतर धातुओ के समान शुक्र का भी प्रमाण स्वल्प होने से तथा उसका मार्ग मेदो धातु से आवृत होने से यह विक्रिया होती है। शुक्र का मार्ग मेद से आवृत होने का अर्थ यह है कि शुक्र का प्रादुर्भाव करनेवाले स्रोत (वृषण-ग्रन्थियो में स्थित सेमीनिफेरस ट्युब्यूल्स) पर मेद का पीडन होने से स्रोतो की शुक्रोत्पादन की क्रिया सम्पूर्ण भाव से नही होती। अति मेद के कारण व्यवाय की क्रिया दुष्कर होती है। इस क्रिया के लिए भी मार्ग शब्द का व्यवहार किया गया हो, ऐसा प्रतीत होता है,[1]

४ दौर्बल्य--धातुओ के विषम होने से उनमें, परिणामतया शरीर में दौर्बल्य (जेनरल डेबिलिटी, अशक्ति) तथा कर्म में अनुत्साह होता है। धातुओ का बल एव उत्साह उनके सम प्रमाण पर ही आश्रित होता है। वे क्षीण हो तो उनका बल भी अल्प ही होता है;

५ दौर्गन्ध्य--मेद दुष्ट (दोषाक्रान्त) होने से दुर्गन्धयुक्त होता है, स्वभाव से भी वह आमगन्धि होता है। इन दो कारणो से तथा मेदस्वी पुरुष में स्वेदाधिक्य भी होने से और इस स्वेद में भी अनुभवसिद्ध दुर्गन्ध गुण होने के कारण--इस प्रकार सब मिलाकर तीन कारणो से मेदस्वी पुरुष में दौर्गन्ध्य होता है,

६ स्वेदाबाध (स्वेद की कष्टप्रदता)--मेद के साथ समान-गुण श्लेष्मा का ससर्ग होने से, मेद के स्यन्दनशील (द्रव-स्वभाव) होने से, मेद और श्लेष्मा दोनो के आधिक्यवश, शरीर की गुरुता के कारण तथा मेदस्वी पुरुष परिश्रमासहिष्णु होने से स्वेदाबाध नाम स्वेद की कष्टप्रदता होती है। तात्पर्य यह है कि श्लेष्मा द्रवगुण होने से तथा उसका भी मेदस्वी पुरुष में अनुबन्ध होने से द्रव धातु स्वेद की वृद्धि होती है। स्वेद मेद का ही मल होने से मेद का आधिक्य (बहुत्व) होने से मलभूत स्वेद भी स्वभावत. अधिक बनता है। शरीर गुरु और परिश्रमासहिष्णु होने से यत्किंचित् भी परिश्रम करने से उक्त कारणो से स्वेद हो आता है और बड़ा कष्ट उपजाता है;

१--वायु के प्रकोप के दो कारणो मे एक उसके मार्ग का आवरण है। वहाँ मार्ग का अर्थ प्राय क्रिया ही होता है।

७. अतिक्षुधा, ८. अतिपिपासा—तन्त्रकार ने इन दो विकारो का कारण यह बताया है। मेदस्वी पुरुष की प्रथम तो अग्नि ही तीक्ष्ण होती है, इससे उसकी क्षुधा और पिपासा तीक्ष्ण होती है। दूसरे, वायु का बाह्यमार्ग मेद से आवृत होने से वह कोष्ठ में ही घिर जाता है। परिणामतया, कोष्ठ में उसकी प्राकृत क्रिया वृद्धि को प्राप्त होती है—वह कोष्ठ में ही सचार करता हुआ अग्नि को प्रदीप्त कर देता है और उसे शोषित भी कर देता है। इस कारण आहार शीघ्र जीर्ण हो जाता है और पुरुष को अन्नपान की अति इच्छा होती है।

मेदस्वी पुरुष में क्षुधा-पिपासा के अति योग का बुद्धिगम्य कारण यह प्रतीत होता है कि तत्तत् कारण से मेदस्वी पुरुष में मेद की अति वृद्धि होती है—शेष धातुओ की पुष्टि नही हो पाती। परन्तु उनको अपने पोषण के लिए अन्नपान की आवश्यकता तो रहती है। सो यह आवश्यकता क्षुधा-पिपासा के आधिक्य के रूप में व्यक्त होती है। इस प्रकार स्थूल पुरुष में ये आयुर्ह्रास आदि आठ निन्दित लक्षण (दोष) होते है।

अस्थिज (अस्थिदोपज) रोग—

१. अध्यस्थि—अधिक अस्थि होना। कदाचित् इसका अर्थ किसी अस्थि के एक देश की अधिक वृद्धि होना है। कभी अर्बुद भी होता है,

२. अधिदन्त—एकाध दन्त अधिक होना। आयुर्वेद-मत से दन्त और नख अस्थि के ही उपधातु और मल होने से अस्थियो के दोषदूषित होने में इन दोनो का भी दोषाक्रान्त होना परिगणित है,

३. अस्थितोद—अस्थि में सुई चुभने की-सी वेदना। अस्थिगत वात में आचार्य ने यह लक्षण विशेष दिया है। इस विकार में वायु का प्रकोप अस्थिधातु में होने के कारण उसके धात्वश का क्षय होकर वायु के गुण सौषिर्य (छिद्रयुक्तता), लघुता आदि प्रव्यक्त होते है। सौषिर्य में तारतम्य-भेद से रोग में स्वरूप-भेद होता है। कभी अस्थि धातु के सघात में घनत्व अल्प हो जाता है। अंग्रेजी में इसे रेअरीफेक्शन कहते है। रञ्जन किरणो (एक्स-रे) से देखने से आसपास की स्वस्थ अस्थि और शुषिर अस्थि का स्वरूप-भेद स्पष्ट दिखाई देता है। विकार अधिक बढ जाए तो घनत्व का ह्रास अधिक हो जाता है। इसे नेक्रोसिस कहते है। रोग की और भी वृद्धि होने पर स्पष्ट कोटर पड जाते है। इनके कारण अस्थि में भगुरता आ जाती है। आयुर्वेद-मत से वात की इस कारणता को लक्ष्य में रख वातक्षयकारी घृतो तथा रसो का सेवन कराना चाहिए। यह क्षीणता यक्ष्मा के जीवाणुओ से और कभी उनके बिना भी होती है;

४. अस्थिशूल--अस्थि में तीव्र वेदना। नव्य प्रत्यक्षानुसार अस्थि में विकार होने से कभी अस्थि-धरा-कला (पेरीऑस्टिअम) दोषाक्रान्त होने से तथा कदाचित् अस्थि-विवरान्तर्गत मज्जा धातु रुग्ण होने से भी अस्थियो में शूल होता है।

५ अस्थिभेद--अस्थियो में उल्लिखित कारणो से भेदनाकार (वे टूट रही हो ऐसी) वेदना, किवा उक्त कारणो से ही उनका अल्पमात्र कारण से टूट जाने का स्वभाव। बार-बार और। अथवा स्वल्प कारण से अस्थिभङ्ग का इतिहास हो तो अस्थिदोष की (अस्थियो की क्षीणता की) कल्पना प्रथम करनी चाहिए ;

६ कुनख--निदानस्थान अध्याय १३ में सुश्रुत ने क्षुद्ररोग नाम से रोगो का एक वर्ग दिया है। इस वर्ग में कुनख भी एक है। पित्त और वात प्रकुपित हो, नख के मास में (नख जिस पर स्थित रहता है, उस मृदु धातु में--नख के 'बेड' में)--नख और चर्म के अन्तराल में स्थानसश्रय कर, पाक, शोथ, दाह और वेदना उत्पन्न करें तो इस रोग को चिप्प, अक्षत या उपनख (अग्रेजी में ह्विटलो) कहते है। इसमें रक्त और मास दूषित होते है। पाक अतिशीघ्र होता है। तन्त्रान्तर में इसीको अंगुलीवेष्टक (गुजराती अपभ्रश---आगल-पेडा) भी कहा है[१]। चिप्प रोग मे ही दोषो का प्रकोप स्वल्प हो, अभिघात के कारण नख दूषित हो रूक्ष, खर, परुष तथा स्वाभाविक श्वेत वर्ण से भिन्न वर्ण का हो जाए तो इसे कुनख या कुलीन कहा जाता है ;

७ केश, लोम, श्मश्रु और नखों की दुष्टि से होनेवाले विविध रोग--शिर के वालो को केश, मुख के वालो को श्मश्रु तथा त्वचा के शेष स्थानो के वालो को लोम या रोम कहते है। केश, श्मश्रु, रोम तथा नख अस्थि के मल माने गए है। सो अस्थि दोषाक्रान्त होने से उनके मलो के भी इन्द्रलुप्त (वाल गिर जाना) आदि विकार होते है। इनके अतिरिक्त अन्य भी अस्थिदोषज रोग होते है।

मज्जज (मज्जदोषज) रोग--

मज्जा के दोषाक्रान्त होने से अधोलिखित रोग होते है। -

१ तमोदर्शन--आँखो के आगे अन्धेरी छा जाना ;

२ मूर्च्छा--चैतन्य का नाश ;

३ भ्रम--चक्कर, अग्रेजी में गिडीनेस, डिजीनेस, वर्टिगो ;

१---इन लक्षणो के लिए देखिए---सु० नि० १३।२१-२३, इन पर डल्हन तथा गयदास की टीकाएँ, च० चि० १२।८८, माधव निदान, क्षुद्ररोगाधि-कार तथा मधुकोष-टीका।

४ पर्वो (अस्थि-संधियो) पर विशाल मूलवाले व्रण होना।

शिवदास सेन ने विशाल मूल का अर्थ किया है गहरे विस्तारवाले ;

५ पर्वो मे वेदना ;

६. पर्वो में गौरव--मज्जा दूषित होने से--विशेषतया उसमें विद्रधि होने से, अस्थियो पर भी प्रभाव होकर पर्वगत ये लक्षण होते है। चरक ने लिखा है कि मज्जवाही स्रोतो (मज्जा को पोषक रस-रक्त पहुँचानेवाली केशिकाएँ) आघातादि से दूषित होने से मज्जदोषज रोग होते है। यही स्रोत नव्य प्रत्यक्षानुसार अस्थियो में भी रस-रक्त पहुँचाते है। सो इन स्रोतो के आघातादिवश शोथयुक्त होने के कारण जैसे मज्जा का पोषण रुक जाता है, वैसे अस्थियो को भी पोषण मिलना बन्द हो जाता है। परिणामतया, वे प्रणष्ट (मृत) हो जाती है। अस्थियो के जितने अश का पोषण रुकता है उतना ही भाग मृत होकर शेष अस्थि से वियुक्त हो जाता है। शल्य तुल्य होने से यह मांस और त्वचा में व्रण उत्पन्न करता है। इसका मुख ऊपर छोटा तथा अन्दर अस्थिखण्ड के आकार के अनुसार स्थूल होता है। इसी स्थिति का यहाँ निर्देश है। इस रोग को प्राचीनो ने मज्जविद्रधि तथा नवीनो ने 'ऑस्टिओमायलाइटिस' कहा है।

७ नेत्राभिष्यन्द--आँख आना। इनके अतिरिक्त अन्य भी कई रोग मज्जा के दूषित होने से होते हैं।

शुक्रज (शुक्रप्रदोपज) रोग--

शुक्र के दोषदूषित होने से नीचे लिखे विकार होते है :--

१ क्लैब्य--ध्वजोत्थान (शिश्न की दृढता) न होना या होने पर भी व्यवाय में शक्ति न होना ; षण्ढता। भ्रमवश इस विकार के लिए ध्वजभङ्ग शब्द लोक में प्रचलित हो गया है। सत्य यह है कि, सुश्रुत ने जिसे उपदश कहा है तथा जिसे 'सॉफ्ट शैंकर' 'एलोपैथी में कहते है उसी को चरक ने ध्वजभङ्ग कहा है ;

२ अप्रहर्ष--स्त्रियो के प्रति आकर्षण न होना ;

३ शुक्रमेह--दिवस में या रात्रि मे स्वप्न में शुक्रपात ; अथवा प्रमेह-विशेष ;

४. शुक्राश्मरी--शुक्र बँधकर उससे मार्ग रुद्ध होना ;

५. शुक्रदोप--दोषो से शुक्र आक्रान्त होकर तत्तत् रोग होना। सु० शा० २।३-४ में तथा च० चि० ३०।१३३-१४५ में इनके लक्षण तथा आगे चिकित्सा कही है। शुक्रावृत वात, शुक्रगत वात आदि शीर्षको से भी शुक्र-दोषो का उल्लेख हुआ है। इनका विचार प्रकरणानुसार किया जाएगा। कुछ निर्देश अगली सख्या में हुआ है ;

६ विविध गर्भ विकार--गर्भ स्थिति न होना, यदि हो तो उसका पात या स्राव होना, या पूर्ण मासिक प्रसव हो तो शिशु रोगी, क्लीव, अल्पायु किंवा विरूप (विकृत आकृतिवाला, मॉन्स्टर) होना। इस प्रकार दोषदूषित शुक्र गर्भस्राव आदि के कारण स्त्री को तथा आदिबलप्रवृत्त रोगो की पात्रता आदि के कारण सतति को पीडित करता है।--

शुक्र हि दुष्टं सापत्यं सदारं बाधते नरम्।

च० सू० २८।१९

पहले कह आए है कि, अनपत्यता की व्यथा लेकर आई स्त्री में प्राचीन-नवीन उभय मत से बहुत बार पुरुष भी दोषपात्र होता है।

इनके अतिरिक्त अन्य कई रोग शुक्रदोष से होते है।

इन प्रकरणो मे आगे आचार्यो ने इन्द्रियादि में स्थानसश्रय कर कुपित हुए दोषो से उत्पन्न रोगो का भी निर्देश किया है। उनका भी उल्लेख यहाँ किया जाता है।

इन्द्रियाश्रित रोग--

इन्द्रियो नाम इन्द्रियायतनो में अर्थात् सूक्ष्म शरीर की अङ्गभूत सूक्ष्म इन्द्रियो के आश्रयभूत, स्थूल इन्द्रियगोलको में, जिन्हें इन्द्रियाधिष्ठान भी कहा जाता है, उनमे दोषो का स्थान-सश्रय हो तो नीचे लिखे इन्द्रियाश्रित रोग होते है।

१ इन्द्रियोपघात--जो इन्द्रियाधिष्ठान दोषाभिभूत हो उसका पूर्ण विनाश, तथा उसके कारण--

२ इन्द्रिय की अप्रवृत्ति--उस इन्द्रिय-विशेष की अपने कार्य की शक्ति पूर्णतया विनष्ट होना, अथवा--

३ इन्द्रियोपताप--इन्द्रियाधिष्ठानो में किंचित् वैकल्य (रचनात्मक विकृति) होना; तथा उसके कारण--

४. इन्द्रिय की अयथाप्रवृत्ति--जिस इन्द्रिय में विकृति हो उसकी प्राकृत क्रिया यथावत् न होना।

मलायतन-दोषज रोग--

मलायतनो मे नाम विभिन्न मलो, उनके आशयो (अधिष्ठानो) एव उनके बहिर्मुख स्रोतो (बहिर्द्वारो) में दोषो का प्रकोप हो तो नीचे लिखे रोग होते है।--

१ त्वग्दोष--त्वचा के विभिन्न रोग, जिन्हें कुष्ठ तथा प्रचलित भाषा में रक्तदुष्टि आदि कहा जाता है।

२ मलों का भेद--अपने आशय में बहि प्रवृत्ति के लिए उद्यत मल एक ही वार में समग्र न निकल कर खण्डित हो, थोडा-थोडा करके प्रवृत्त होना। चक्रपाणि

कहता है—यह (विशेषतया) पुरीष में होता है। इसमें या तो मलप्रवृत्ति की संख्या में वृद्धि हो जाती है, थोडा-थोडा प्राय· शुष्क और ग्रथित मल बार-बार आता है ; अथवा संख्या में वृद्धि नही होती, परन्तु एक ही बैठक में थोडा-थोड़ा करके प्राय. शिथिल मल देर तक प्रवृत्त होता रहता है। मल-प्रवृत्ति मे पूर्वापेक्षया बहुत समय लगता है। इसे विड्भेद कहते है। यह स्वतन्त्र रोग भी होता है, वातातिसार आदि का अङ्गभूत (लक्षण-रूप) भी होता है। इससे पीडित कई व्यक्ति घण्टो टट्टी मे बैठे रहते है—अखबार बाँचने, बीडी पीने आदि में काल-क्षेप करते है।

३ मलों का शोप—अग्नि (पित्त) या वायु के प्रभाव से पुरीष, मूत्रादि मल शुष्क होकर अल्प (क्षीण) हो जाते है। उनकी प्रवृत्ति नही होती या अल्प होती है। इसी को आगे इन शब्दो में कहा है ,

४ मलों का संग—कर्ण, नासा, मुख, नेत्र, स्वेदवह स्रोत, शिश्न, अपत्य-पथ आदि मे मलो की प्रवृत्ति न होना . अथवा—

५ मलों की अति प्रवृत्ति—यथा पित्त से मल या स्वेद में द्रवत्व आकर इन मलो की अति प्रवृत्ति होना इत्यादि ;

६ मलों की दुष्टि—मलो के जो प्राकृत वर्ण आदि होते है, उनमे दोषो के प्रभाव से अन्यथाभाव होना , यथा कफ मे पुरीप की श्वेतता, स्निग्धता आदि होना। इसी कारण—

७ मलों की अयथाप्रवृत्ति—मलो का जितने प्रमाण मे, जितनी संख्या में, जिस वेग से तथा जैसे स्वरूप में (उनकी जिन प्राकृत गुणो से युक्त होकर प्रवृत्ति होनी चाहिए उन गुणो सहित) प्रवृत्ति न होना।

स्नायु-आदि-संश्रित दोपज रोग—

स्नायु, सिरा या कण्डरा इनमें एक या अनेक में दोपो ने प्रकुपित हो स्थानसंश्रय किया हो तो स्तम्भ (अवयव–हाथ, पैर आदि–अकड़ जाना), संकोच, खल्ली, स्नायु आदि पर ग्रन्थि, स्फुरण और सुप्ति ये रोग पुरुष को पीडित करते हैं।

मार्गाश्रित रोग[1]

धातुओ के समान ही दोषो का स्थानसंश्रय उदर आदि अवयवो में होकर उस-उस अवयव के रोग होते हैं। इनका वर्णन आगे स्थान-संश्रय के प्रकरण

१—देखिए—च० सू० ११।४८-४९ , च० सू० २८।३१-३३ , अ० हृ० सू० १२।४३-४९ तथा इनकी टीकाएँ , माधवनिदान, पञ्चनिदान पद्य पाँचवाँ, मधुकोप टीका।

से किया जायगा। स्थानभेद से रोगो का एक वर्गीकरण मार्गानुसारी रोग नामक है। रोगो की साध्यासाध्यता जानने तथा चिकित्सा में भेद के प्रयोजन से रोगो का यह वर्गीकरण किया गया है, और इसी कारण इसका जानना आवश्यक है। इस वर्गीकरण का अर्थ, भेद तथा प्रत्येक वर्ग में होनेवाले रोगो का नामत' निर्देश करने के पश्चात् प्रयोजन का उल्लेख करना सुबोधता की दृष्टि से उपयुक्त होगा।

दोषो के विषय मे ज्ञातव्य वस्तुओ के प्रकरण में एक विषय दोषों की गति का उल्लेख आगे व्याख्या-सहित किया जाएगा। इसमें गति शब्द के दो अर्थ है, यथा—१. दोषो की अवस्था या प्रकार; तथा २ शरीर में दोषो का गमन या सचरण[1]। इस दूसरे अर्थ में गति शब्द शरीर के ऊर्ध्व, मध्य तथा अधः प्रदेश में दोषो के सचार को बतलाने के लिए प्रयुक्त होता है; साथ ही एक परिभाषित (शास्त्रीय) अर्थ में भी इसका प्रयोग होता है, जिसके लिए मार्ग या अयन सज्ञा का भी व्यवहार होता है।

दोषो के विशेष स्थान—

कोष्ठ किवा मध्यकाय में दोषो का एक-एक विशेष स्थान बताया गया है। प्रत्येक दोष का एक-एक विशेष स्थान होने का आशय क्रियाशारीर में यह बताया जा चुका है कि प्रत्येक दोष का जो मुख्य स्थान कहा जाता है वह उस दोष का मूल या उद्भव-स्थान है। यही से प्रसृत हो (शरीर में फैलकर) और प्रत्येक स्थूल-सूक्ष्म स्थान में जाकर प्रत्येक दोष समावस्था में अपने प्राकृत कर्म करता है, एव वृद्धि और क्षय को प्राप्त होकर क्रमश. प्रकोप तथा प्राकृत कर्मो की मन्दता के कारण तदनुरूप तत्तत् रोगो को उत्पन्न करता है। दोष प्रकुपित हो शरीर के किसी भी अवयव में स्थानसश्रय करके रहा हो उसे तत्तत् उपाय से कोष्ठान्तर्गत अपने-अपने विशेष स्थान मे लाया जाता है। पश्चात् बस्ति आदि सशोधन उपचारो से दोष को निकटवर्ती बहिर्मुख स्रोत से बाहर निकाल दिया जाता है—उसका सशोधन किया जाता है। इस उपाय से दोष के मूल का ही उच्छेद होने से रोग के पुन. होने का भय नही होता—

स्वे स्वे स्थानेऽनिलादीना सर्वेषा मूलमिष्यते।
जितेऽत्र जायते तेषा कृत्स्ननाशो यथा रुहाम्॥

सु० नि० १।८ पर गयदास-धृत तन्त्रान्तर-वचन[2]

१—देखिए—च० सू० १७।११२-११८, तथा मधुकोष—उल्लिखत स्थल।

२—व्याख्या के लिए इसी पद्य के ऊपर गयदास की टीका तथा च० सू० २०।१३, १६ और १९ मे क्रमश बस्ति, विरेचन और वमन की तर्क-सगत उपयोगिता दर्शाते तन्त्रकार के वचन देखिए।

इसके सिवाय कई कारण हैं, जिनके वश हो दोष कोष्ठ से शरीर के विभिन्न अवयवों में और शरीरावयवों से कोष्ठ में आते हैं। इन कारणों का उल्लेख इस प्रकरण के अन्त में किया जायगा।

तीन रोगमार्ग—

त्रयो रोगमार्गा इति—शाखा, मर्मास्थिसंधयः, कोष्ठश्च ॥

च० सू० ११।४८

रोगों की साध्यासाध्यता का ज्ञान इत्यादि प्रयोजनों से शरीर में दोषों के सचरण और स्थानसंश्रय को दृष्टि में रखकर शरीर के तीन विभाग किये गए हैं[1]। इन विभागों को दोषों की गति या सचरण का आधार[2] होने से मार्ग यह विशेष नाम दिया गया है। ये रोगमार्ग तीन हैं—शाखा, मर्मास्थिसन्धि तथा कोष्ठ। शाखा शब्द हाथ तथा पैर के लिए अन्यत्र प्रसिद्ध है[3]। पर यहाँ इसका परिभाषित अर्थ विशेष में व्यवहार हुआ है। शाखा शब्द का यहाँ अर्थ है—रक्तादि छ धातु तथा त्वचा। त्वचा शब्द से तदन्तर्गत रस धातु भी गृहीत है। हृदयस्थायी रस धातु का हृदय के आश्रयभूत कोष्ठ शब्द से ही ग्रहण होता है। इसी प्रकार यकृत्प्लीहाश्रित रक्त का ग्रहण भी कोष्ठ से ही होता है। शाखा को बाह्य रोगमार्ग कहा जाता है।

मर्म तथा अस्थिसधियाँ मध्यम रोगमार्ग कहा जाता है। मर्म बस्ति, हृदय, शिर आदि रचनाशारीर में प्रसिद्ध हैं। अस्थिसधि शब्द से उनपर निबद्ध शिरा, स्नायु, कण्डरा, धमनी, कूर्चा आदि का भी ग्रहण होता है[4]। मर्मों तथा अस्थिसधियों में हुआ रोग कृच्छ्रसाध्य होता है यह सामान्य धर्म (समान धर्म) होने से दोनों का ग्रहण एक साथ किया गया है[5]।

आमाशय, अग्न्याशय (पच्यमानाशय, क्षुद्रान्त्र का आरम्भिक $\frac{2}{3}$ भाग), पक्वाशय (क्षुद्रान्त्र का अन्तिम $\frac{1}{3}$ भाग, तथा उत्तरगुद अधरगुद सहित स्थूलान्त्र—

१—देखिए—वृद्धा दोषा. कदाचित् कोष्ठ कदाचिच्छाखा· कदाचिन्मर्मास्थिसधीनाश्रित्य रुजन्ति। मर्मास्थिसंधिषु गति कृच्छ्रसाध्यत्वापादकत्वादेकत्वेन निर्दिष्टा। —माधवनिदान, पञ्चनिदान, श्लोक ५ पर मधुकोष।

२—देखिए—शाखादीनामाधारत्वम्, न कारणत्वम्।

—अ० हृ० सू० १२।४३ पर हेमाद्रि।

३—अंग्रेजी में—एक्स्ट्रिमिटी या लिम।

४—देखिए—अ० हृ० सू० १२।४७-४८ तथा उस पर अरुणदत्त की टीका।

५—देखिए—पहले धृत मधुकोष-टीका।

पचन होकर अन्न रस की उत्पत्ति तथा रसमल-विवेक महास्रोत के जिस भाग में होता है उसे पच्यमानाशय आदि नाम दिये गए हैं। रसमल-विवेक होकर रस का ग्रहण होने के अनन्तर शेष पक्वाश जिस प्रदेश में रहता है, उसे पक्वाशय कहा जाता है), मूत्राशय (सम्पूर्ण मूत्रयन्त्र), रक्ताशय (रक्त की उत्पत्ति, प्रसादन तथा संग्रह के स्थानभूत यकृत्प्लीहा), हृदय, उण्डुक (सीकम) और फुप्फुस ये सब मिलकर कोष्ठ कहे जाते हैं। इसी को शरीरमध्य (धड, मध्यकाय), आम-पक्वाशय, महास्रोत तथा महानिम्न भी कहा जाता है। नवीन लेखको ने 'महान् स्रोत' इस व्याकरण-सिद्ध अर्थ को लक्ष्य में रखकर मुख से गुद पर्यंत मार्ग के लिए महास्रोत शब्द का प्रयोग प्रचलित किया है। वस्तुत. यह शब्द स्रोतोमय और स्रोतो के अति व्यापक होने से महान् सपूर्ण मध्यकाय के लिए आयुर्वेद में प्रयुक्त हुआ है। इस विषय का अधिक विचार स्व० डॉ० धीरेन्द्रनाथ बनर्जी कृत अंग्रेजी ग्रन्थ 'आयुर्वेदीय शारीर' में देखिए। यह कोष्ठ आभ्यन्तर रोग-मार्ग कहा जाता है।

मार्गाश्रित रोग--

१. गण्ड (फोडे), पिडका, अलजी, अपची (आधुनिको के अपक्व और पक्व रसग्रन्थियो के शोथ), चर्मकील (त्वचा के मस्से), अधिमास, मषक (मस्से), कुष्ठ, व्यङ्ग, अर्वुद आदि रोग तथा वहिर्मार्गगत विसर्प, श्वयथु (शोथ), गुल्म, अर्श, विद्रधि आदि रोग शाखानुसारी (या शाखागत) कहे जाते हैं।

यहाँ विसर्प-प्रभृति के लिए 'बहिर्मार्गगत' विशेषण का तात्पर्य यह है कि ये रोग अन्तर्मार्गों में--मध्यममार्ग तथा कोष्ठ में--भी होते हैं। यहाँ केवल उल्लिखित वहिर्मार्ग (वाह्य रोगमार्ग) में हुए विसर्पादि रोग ग्राह्य हैं। शेष दो मार्गों में ये रोग हुए हो तो उनकी गणना उन मार्गों के रोगो में होती है।

अर्श के प्रकरण में कहा जायगा कि यह गुद-मार्ग की तीन वलियो में होता है। इनमें जो अर्श का अकुर वाहर की वली (चक्र) में हो, वह शाखानुसारी (शाखा-गत) तथा शेष ऊपर की दो वलियो में हो वह कोष्ठगत कहलाता है[1]।

१--देखिए--अर्शो वहिर्वल्याश्रितं शाखागतम्, अन्यच्च कोष्ठगतम्--च० सू० ११।४६ पर चक्रपाणि। आगे अर्श के प्रकरण मे हम देखेंगे कि अर्श की आश्रयभूत तीन वलियो मे सवसे वाहर की वलि आधुनिको द्वारा वर्णित तीन पेशियो से वना चक्र है, जिसे गुदद्वार कहते हैं। इन तीन पेशियो के नाम ये हैं--स्फिक्टर एनाई एक्स्टर्नस, स्फिक्टर एनाई इटर्नस तथा लिवेटर एनाई। म० म० गणनाथसेन जी ने इन्हे क्रमश गुदसकोचनी वाह्या, गुदसकोचनी आभ्यन्तरा→

२ पक्षाघात, अपतानक, अर्दित, शोष (धातुक्षय),[1] राजयक्ष्मा, अस्थियो, अस्थिसंधियो तथा त्रिक में शूल और ग्रह (स्तब्धता, चेष्टाभाव); गुदभ्रंश एव शिर, हृदय, वस्ति आदि मर्मो में हुए रोग, मध्यम-मार्गानुसारी (या मध्यम-मार्गगत) रोग कहे जाते है।

३ ज्वर, अतिसार, छर्दि (वमन), अलसक (विषूचिका-विशेष, जिसमें दोषो का सचय विषूचिका के समान ही होता है, परन्तु उनकी ऊर्ध्व या अधोमार्ग से वमन तथा अतिसरण के रूप में प्रवृत्ति नहीं होती, कोलेरा सिक्का,ड्राई कॉलेरा), कास, श्वास, हिक्का, आनाह (कब्ज), उदर, प्लीहा आदि रोग एव अन्तर्मार्गगत (आभ्यन्तर रोगमार्ग में हुए) विसर्प, श्वयथु, गुल्म, अर्श, विद्रधि आदि रोग कोष्ठानुसारी (या कोष्ठगत) कहे जाते है।

गुल्मो में वहिर्मार्गगत गुल्म वह है जो वाहर त्वचा को धकेलकर उभरा हुआ दीख पडता है तथा पककर वाहर की ओर ही फूटता है। इससे भिन्न गुल्म कोष्ठ-गत कहा जाता है।

शाखानुसारी रोगो को धातुगत तथा शेष दो को मार्गानुसारी या मार्गगत रोग भी कहते है।

रोग-मार्गो के ज्ञान का प्रयोजन--

रोग-मार्गो के ज्ञान के प्रयोजन सक्षेप में दो है--रोगों की साध्या-साध्यता[2] आदि का ज्ञान, तथा मार्गभेदानुसार चिकित्सा में भिन्नता[3]।

रोगो की साध्यासाध्यता के प्रकरण में आचार्य ने रोगमार्गो का भी विचार

--तथा पायुधारिणी ये अर्थवाहक नाम दिये है। नव्य मत से गर्भ मे शरीरावयवो की उत्पत्ति के मूलभूत प्रजनन-चर्मो से उत्पन्न होने वाले अवयवो मे मुख और गुद वाह्य चर्म से उत्पन्न होते है, शेप सम्पूर्ण महास्रोत मध्य चर्म से। अत गुद-द्वार का शाखागत रोगो के आश्रय रूप मे किया गया निर्देश नव्य मत से भी यथार्थ ही प्रतीत होता है।

१--शोप शब्द धातुक्षय तथा राजयक्ष्मा दोनो के लिए आते है। प्रकरणा-नुसार योग्य अर्थ का ग्रहण करना चाहिए।

२--देखिए--च० सू० ११।४८ पर चक्रपाणि--एतच्च मार्ग-भेदकथन तदाश्रितव्याधीनां सुखसाध्यतादिज्ञानार्थम्।

३--विस्तार के लिए देखिए--माधवनिदान, पञ्चनिदान, श्लोक ५, मधुकोष-टीका, एव वहाँ उद्धृत मूल वचनो पर टीकाएँ।

किया है[1]। सुखसाध्यता के लक्षणो में आचार्य ने एक लक्षण यह बताया है कि रोग एक ही मार्ग मे प्रसृत हो, विशेषत हृदय-प्रभृति मर्म स्थानो में स्थित न हो (यथा, आमवात में हृदय-दौर्बल्य के रूप मे) तो रोग सुखसाध्य होता है। आगे कष्टसाध्य का एक लक्षण बताया है कि रोग मर्म, सन्धि आदि मे विद्यमान हो तथापि चारो चरणो की पूर्ण[2] सपत्ति न हो, किवा रोग दो मार्गो में स्थित हो परन्तु उसे हुए बहुत काल न बीता हो तो वह कृच्छ्रसाध्य होता है। असाध्यो में याप्य[3] का लक्षण-निर्देश करते हुए आचार्य ने कहा है—याप्य रोगो मे रोग गम्भीर नाम उत्तरोत्तर धातुओ मे प्रविष्ट होता हुआ मेद आदि पर्यन्त पहुँचा होता है, अनेक धातुओ मे सश्रित होता है एव मर्मो और अस्थिसधियो में स्थित होता है। असाध्यो मे प्रत्याख्येय (अनुपक्रम, अचिकित्स्य होने से त्याज्य) रोग के लक्षण बताते आगे तन्त्रकार ने कहा है—रोग यदि तीनो मार्गो मे प्रविष्ट हो तो उसे त्याज्य समझना चाहिए। इस प्रकार मार्गो का निर्देश रोगो की साध्यासाध्यता के ज्ञान मे उपयोगी होता है।

रोगमार्गो के परिज्ञान का अन्य प्रयोजन मार्गभेद से चिकित्सा की भिन्नता ऊपर बताया है। कतिपय उदाहरणो से इसे स्पष्ट किया जाता है—

१. वात की चिकित्सा में रूक्ष उपचार वात के वर्धक होने से विरुद्ध (कॉण्ट्रा-इडिकेटेड) होते है। परन्तु वात का स्थानसश्रय यदि आमाशय में हो तो, आमाशय कफ तथा आम का स्थान होने से प्रथम स्थान और स्थानी दोष (कफ और आम) को दृष्टि मे रखकर लङ्घन आदि रूक्ष उपचार करने चाहिए। पश्चात् वात को दृष्टिगत रख स्वेदन तथा स्निग्ध उपचार करना चाहिए। इसी प्रकार प्रकुपित हुए कफ की चिकित्सा में स्निग्ध उपचार विरुद्ध (दोष तथा रोग की वृद्धि करनेवाले) होते है, यह नियम है। तथापि, प्रकुपित कफ का स्थान-

---

१—देखिए—च० पू० १०1७-२०

२—चिकित्सक, परिचारक, औषध और रोगी—ये चार चिकित्सा के चरण (पाद) कहे जाते है। इनके गुण इसी ग्रन्थ मे आगे कहे जाएँगे।

३—याप्य का लक्षण आगे आयगा ही। अर्थ-प्रतिपत्ति के लिए सक्षेप मे लक्षण यह समझना चाहिए कि आहार, विहार, देश (जलवायु), काल (ऋतु), औषध जब तक रोग-विरोधी रहे तबतक जो रोग शान्त रहे, और रोग के अनुकूल आहारादि का सयोग होते ही जिसके लक्षण ऊभर आएँ, उस रोग को याप्य कहा जाता है। जैसे कई स्त्री-पुरुषो को चौमासे या शीतकाल मे श्वास (या पहले कभी लगे प्रहार के स्थल पर वेदना) के वेग हो आते है। शेष सम्पूर्ण वर्ष ससुख व्यतीत होता है। अत श्वास को याप्य रोग कहा जाता है।

संश्रय यदि पक्वाशय में हुआ हो तो पक्वाशय वात का स्थान होने से स्थानी दोष वात तथा उसके आशय (स्थान) को लक्ष्य में रखते हुए प्रारम्भ में स्नेहन कराना चाहिए, पश्चात् कफ को ध्यान में रख उष्ण स्वेदादि उपचार करने चाहिए[1]। यथा, प्रवाहिका में आरम्भक (रोगोत्पादक) दोष पक्वाशय में सचित हुआ कफ होता है। इसके स्थान पक्वाशय को लक्ष्य में रख शुण्ठी-क्वाथ में एरण्ड तैल आदि की योजना की जाती है।

स्थानी दोष की चिकित्सा में एक कारण यह होता है कि, रोग का आरम्भक दोष कोई भी हो, वह अन्य दोष के स्थान में पहुँचा हो तो स्थानी दोष का भी प्रकोप हो ही जाता है, यह आयुर्वेद का अनुभवसिद्ध नियम है। यथा, प्रवाहिका में ही सचित दोष कफ अपनी मन्दता तथा पिच्छिलता से आम-पक्वाशय में वायु की मल, वात आदि का अनुलोमन करनेवाली क्रिया (पेरिस्टाल्टिक मूवमेण्ट) के मार्ग में अवरोध उपस्थित करता है—विशेषतया अपने मन्द गुण के प्रभाव से उसे मन्द कर देता है। इस अवरोध या आवरण के कारण वायु का प्रकोप होता है। किसी दोष के प्रकोप का अर्थ (स्वरूप) होता है—उसके प्राकृत कर्म का अतिशय (आधिक्य)। प्रवाहिका में पक्वाशय में सचित कफ के कारण हुए आवरणवश वात का प्रकोप होने में स्थिति यह होती है कि, उसकी मलवातानुलोमनी सकोचात्मक क्रिया अधिक तीव्रता से होने लगती है। इस संकोचातिशय के कारण ही प्रवाहिका में शूल-विशेष होता है। इस प्रकार प्रवाहिका में शूल की सप्राप्ति का स्वरूप यह होने से बुद्धिसगत उपचार यही होना चाहिए कि शूल के मूलभूत कफ का निर्हरण (सशोधन) अभया, एरण्डतैल आदि के मात्रावत् सेवन से कर दिया जाए। ऐसा न कर, अहिफेन-सत्त्व (मॉर्फिया) से शूल की निवृत्ति की जाए, किंवा सग्राहक द्रव्य दिये जायँ तो शूल तथा द्रवमलप्रवृत्ति तो कदाचित् शान्त हो जायगी परन्तु दोष अन्दर ही रहकर ग्रहणी, ज्वर प्रभृति विकारो को उत्पन्न करेगा। इस विषय का अधिक विचार आगे अतिसार-प्रवाहिका-ग्रहणी-अधिकार में किया जायगा।

स्थानी दोष तथा आशय को लक्ष्य में रखकर प्रथम की जानेवाली इस चिकित्सा के विषय में यह स्मरण रखना चाहिए कि, स्थानी दोष की चिकित्सा ऐसी होनी चाहिए कि, स्थानस्थ (उस स्थान पर आया) दोष कुपित न हो जाए—

स्थानं जयेद्धि पूर्वं तु स्थानस्थस्याविरोधतः॥

च० सू० १४।६ चक्रपाणि-धृत तन्त्रान्तर वचन

२ विषम ज्वरो की सप्राप्ति कायचिकित्सको तथा धान्वन्तरीयो (शल्य

१—देखिए—च० सू० १४।६।

चिकित्सको) ने भिन्न-भिन्न बताई है[1]। इनमें कायचिकित्सकों का मत है कि, दोष तत्-तत् धातु में स्थित हो विषमज्वर के तत्-तत् भेद को उत्पन्न करते हैं। यथा, दोष रस-स्थानगत हो तो सतत ज्वर को तथा मांस-धातुगत हों तो अन्येद्युष्क को उत्पन्न करते हैं, इत्यादि[2]।

३ तिमिर, पाण्डुरोग, गुल्म और उदर रोगों में कफ प्रकुपित हो तो भी वमन नहीं कराना चाहिए।

४ चरक-संहिता के व्रण-चिकित्साधिकार में अग्निकर्म के प्रकरण में अग्निकर्म (दाह, कॉटराइजेशन) का अविषय दिखाते हुए कहा है—व्रण यदि स्नायुओं अथवा मर्म पर हुआ हो तो अग्निकर्म न करना चाहिए[3]।

४ रोगमार्ग के ज्ञान की उपयोगिता संशोधन की दृष्टि से भी है। संशोधन करने के पूर्व उन्हें कोष्ठ में अपने-अपने मुख्य स्थान पर लाना होता है। दोषों को कोष्ठ में न लाया जाए तो उनके शरीर में इतर मार्गों में ही स्थित रह जाने से पुन प्रकोप होकर रोगोत्पत्ति होती है। कोष्ठ में लाने के लिए स्नेहन और स्वेदन ये दो पूर्व कर्म करने होते हैं। स्नेहन से दोष क्लिन्न (द्रवीभूत, लिक्विफाईड, शिथिल) होते हैं। परिणामतया, वे शुष्क और ससक्त हों—किसी स्रोत में चिपटे रहे हों तो क्लेदवश वहाँ से पृथक् होते हैं। स्वेद से उनका पाक होता है। पाक का अर्थ है कि बहिर्द्वार से निकलने के पूर्व अग्नियों की क्रिया से उनका जो अन्तिम रूप बनना चाहिए वह बनना। अपक्व दोषों, अन्नपान, मलों तथा रोगों की आयुर्वेद में आम यह विशेष सज्ञा है। आम (या साम) दोष तथा मल कफ-सदृश होने से शरीर के स्रोतों और आशयों में ससक्त और स्थिर रहने के स्वभाववाले होते हैं। इस दशा में और निराम (या पक्व) दशा में भी शरीर में स्थिर हो रहे हुए दोषों को स्तब्ध यह विशेष नाम दिया गया है। स्तब्ध दोष साम हों तो लङ्घन, स्वेदन आदि से उन्हें निराम (पक्व) किया जाता है। पक्व दोषों में ससक्ति का स्वभाव न होने से वे अपनी स्वाभाविक दिशा में कोष्ठ में अपने मुख्य स्थान के प्रति स्वत गति करने लगते हैं। तभी उन्हें वमनादि

१—देखिए—इदानी भोजभालुकिपुष्कलावतप्रभृतीना शल्यतन्त्रविदा मतेन विषमज्वरोत्पत्तिमभिधाय कायचिकित्साविदामग्निवेशादीना मतेन धातुस्थानैर्दोषैर्विषमज्वराणामुत्पत्ति दर्शयति—दोष इत्यादि ॥

—सु० उ० ३९।६६ पर डल्हन

विस्तार आगे विषमज्वर के प्रकरण मे देखे।

२—देखिए—सु० उ० ३९।६७-६८ तथा उस पर डल्हन की टीका।

३—देखिए—च० चि० २५।१०६।

द्वारा शुद्ध कर दिया जाना चाहिए। कोष्ठ में पहले सचित मल (कफ आदि) की शुद्धि प्रथम होने पर शाखाओ में स्थित मल आशय (अवकाश, रिक्त—शून्य—स्थान) उपलब्ध होने से कोष्ठ के प्रति उसकी गति सुलभ हो जाती है।

पहले कह आए है, सशोधनात्मक चिकित्सा दोषो की मूलोच्छेदकरी होने से रोगो की अपुनर्भवकर चिकित्सा है। यह मूलगामी चिकित्सा तभी सभव है जब रोगमार्गो का ज्ञान होने से हमें विदित हो कि दोष सप्रति कोष्ठ में है, शाखाओ में है या मर्मास्थि सधियो में है?

कोष्ठो और शाखाओ मे दोषो के गमनागमन के हेतु[1]—

दोष तत्तत् कारणवश इन तीनो रोगमार्गो में सचरण किया करते है। इनके सचार के हेतुओ का निर्देश सप्राप्ति का विषय है। तथापि प्रकरण की पूर्त्ति के लिए यहाँ उनका सक्षेपत उल्लेख किया जाता है।

नीचे लिखे हेतुओं से दोष कोष्ठ से नाम कोष्ठ में अपने-अपने सचयस्थान से शाखाओ में (शाखाओ में तथा कोष्ठ के बाहर स्थित मर्मास्थि सधियो में) जाते हैं।—

१ व्यायाम—व्यायाम तथा कठिन परिश्रम से हुए क्षोभ से दोष शाखाओ में अपने स्थान से पृथक् हो शाखाओ में जाते है,

२ अग्नि की तीक्ष्णता—तीक्ष्ण अग्नि के प्रभाव से दोष विलीन (शिथिल और सूक्ष्म) हो कोष्ठ ही में संसक्त न रह शाखाओ में जाते है;

३ अहित-सेवन—अहित अर्थात् दोषो की अभिवृद्धि करनेवाले आहार-विहार आदि के अतियोग से दोषो का कोष्ठ से शाखाओ में गमन ऐसे ही होता है जैसे जलाशय में जल अति वृद्धि को प्राप्त हो जाए तो अपनी मर्यादा का अतिक्रमण कर बाहर जाता है,

४ वायु का चलत्व—वायु का चल (गतिमत्त्व) स्वभाव दोषो को एक स्थान से स्थानान्तर पर ले जाने में हेतु है। वायु के इस कर्म के विषय में अधिक वक्तव्य अपेक्षित नही है। इतना ही स्मरण करा देना आवश्यक है कि, वायु प्रकुपित हो तो अन्य धर्मो के साथ उसका यह चलत्व स्वभाव, जिसके कारण वह शरीर में दोषो और मलो का विक्षेपण करता है, वह भी वृद्धि को प्राप्त करता है। अतः रोग का हेतु इतर दोषो का प्रकोप हो तो भी वायु का प्रकोप उसमें कारणतया अवश्य रहता है। सो चिकित्सा में भी रोगमात्र में वायु को समावस्था में लाने पर सविशेष ध्यान देना चाहिए।

१—देखिए—च० सू० २८।३१-३३ तथा इन पर चक्रपाणि-टीका।

कोष्ठ से शाखाओं में (शाखाओं तथा कोष्ठ के बाहर स्थित मर्मास्थि संधियों में) गए ये दोष रोग उत्पन्न कर सकें इतने प्रमाण में कुपित हों तो पूर्वरूपादि क्रम से तत्काल रोग का प्रादुर्भाव होता है। अन्यथा दोष अल्प होने से (उनका प्रकोप अल्प होने के कारण) उनका बल अल्प हो तो शाखाओं में ही रह प्रकोप करनेवाले अन्य हेतुओं की प्रतीक्षा करते हुए, रोगोत्पत्ति में विलम्ब करते हैं—प्रकोपक हेतु प्राप्त होने पर पूर्ण प्रकुपित हो कालान्तर में रोगोत्पत्ति करते हैं। प्रकुपित हुए ये दोष भी तभी रोग उत्पन्न करने में समर्थ होते हैं जब उनको अनुगुण (अनुकूल) देश (जलवायु, क्लाईमेट, आबोहवा) और काल प्राप्त हो जाए।

नीचे लिखे कारणों से दोष शाखाओं को छोड़कर कोष्ठ में (कोष्ठान्तर्गत अपने उद्भव स्थान में) आते हैं।—

१ वृद्धि—अहित-सेवन से हुई वृद्धि से जैसे दोषों का कोष्ठ से शाखाओं में गमन होता है, वैसे यह वृद्धि विपरीत दिशा में गति का भी कारण है,

२ विष्यन्दन—दोषों का विलयन, द्रवीभाव, लिक्विफैक्शन। दोष द्रव हों तो वे स्वभावतः कोष्ठ के प्रति गति करते हैं। संशोधन-चिकित्सा में स्नेहन उपचार यही क्रिया करते हैं,

३ पाक—दोषों का परिपक्व होना। जैसे फल परिपक्व हो तो काल आने पर स्वयं अपने वृन्त (डंडी) से च्युत हो जाता है किंवा स्वल्प प्रयत्न से तोड़ा जा सकता है, वैसे ही परिपक्व (निराम) दोषों में स्वयं ही शरीर से वियुक्त (पृथक्) होने के लिए कोष्ठ के प्रति गमन का एवं वहाँ से निकटवर्ती बहिर्मुख स्रोत (गुद, मुख आदि द्वार) से निकल जाने का स्वभाव होता है। ज्वरादि रोगों में उपचारतया प्रयुक्त लङ्घन, स्वेदन, दीपन-पाचनादि कर्म दोषों का परिपाक कर उनमें स्वतः प्रवृत्त होने का यह स्वभाव उत्पन्न कर देते हैं।

परिपाक से दोषों के सुगमता से प्रवृत्त होने (शरीर से बाहर निकलने) के इस स्वभाव को तन्त्रकार ने एक स्मरणीय उपमा से समझाया है। वे कहते हैं—

सर्वदेहानुगाः सामा धातुस्था असुनिर्हराः।
दोषाः फलानामामाना स्वरसा इव सात्यया.॥

च० चि० ३।१४८

अर्थात्—जैसे आम (अपक्व, कच्चे) फलों से उनके स्वरस छूटना दुष्कर होता है, वैसे ही, सर्वशरीर की सूक्ष्म सिरा, धमनी, स्नायु, त्वचा आदि में अनुप्रविष्ट, साम होने से ससक्त (स्वभाववश चिपटकर रहे हुए) तथा अप्रचलनशील एवं धातुओं में गम्भीरतया लीन दोषों का वमनादि उपायों द्वारा निर्हरण असुकर (दुष्कर, कठिन) होता है। इस अवस्था में, नाम दोष शाखाओं को छोड़ अपने

संचयस्थान में आकर उपस्थित न हुए हो ऐसी स्थिति मे, उनके सशोधन का प्रयास करने से विविध विपरिणाम होते हैं।

४ स्रोतोमुख-विशोधन--दोषो का वहन करनेवाले स्रोतो में कोई अवरोधक हो तो उसके दूर कर देने से मार्ग स्वच्छ हो जाता है और दोष अपनी स्वाभाविक गति करने लगते है। स्रोतो की यह शुद्धि लङ्घन, स्नेहन-स्वेदन, दीपन-पाचन, सशोधन आदि से होती है। इस प्रकार शुद्ध होनेवाले स्रोतो में मुख्यतया गणनीय स्रोत दोषो के कोष्ठान्तर्गत अपने-अपने स्थान हैं। दोषो की परिपक्वता के लक्षणो का उदय हुआ देख, स्नेहन, स्वेदनादि से शरीर में दोष परिपक्व हो कोष्ठाभिमुख गति करने को उद्यत हो गये है, यह ज्ञान होते ही दोषभेद से यथायोग्य संशोधन दिया जाता है। कोष्ठगत दोषो की शुद्धि होने से उनके मुख---उनकी कला में स्थित छिद्र, जिनसे दोष स्रुत हो इन आशयो में आते है---शुद्ध हो जाते है। इस प्रकार मार्ग शुद्ध हो जाने से पक्व हुए दोषो को कोष्ठ मे आने का अवकाश सुलभ हो जाता हे।

आधुनिक भौतिकशास्त्र की दृष्टि से भी इस वस्तु को समझा जा सकता है। भौतिकशास्त्र और तदनुसारी क्रियाशारीर में भी कहा जाता है कि, द्रव-द्रव्य तथा उन द्रव-द्रव्यो में घुले हुए घन द्रव्य जिस कला (पर्दे, मेम्ब्रेन) के आरपार जा सकते हो उसे (उस कला को) मध्य में रखकर दोनो ओर ऐसे द्रव द्रव्य रखे जाएँ जिनमें घन और द्रव द्रव्यो का प्रमाण परस्पर समान न हो तो कुछ ही काल में स्थिति यह होगी कि, या तो द्रव जिस ओर अधिक हो उस ओर से दूसरी ओर कुछ प्रमाण में चला जाएगा, या घन भाग कला के जिस ओर अधिक प्रमाण में होगा, उसके दूसरी ओर कुछ अश में चला जाएगा, या दोनो क्रियाएँ होगी। परिणाम यह होगा कि कालान्तर में दोनो ओर घन और द्रव द्रव्यो का प्रमाण (कॉन्सेन्ट्रेशन) परस्पर समान हो जाएगा।

रोगो की सप्राप्ति तथा चिकित्सा को समझने की दृष्टि से यह विषय बडा उपयोगी है। यहॉ आवश्यकता हो तो किसी आप्त से इसे पुन॰ समझ लेना चाहिए। जिस ओर घन द्रव्यो का प्रमाण अधिक हो उधर (उन द्रव्यो मे) दबाव (प्रेशर) अधिक है, ऐसा माना जाता है। कई आहार, औषध द्रव्यो मे पीडन (दबाव) के आधिक्य का कारण यह होता है कि उनमें महास्रोत या शरीरान्तर्गत अन्य स्रोतो के अन्दर प्रवेश का स्वभाव (पेनिट्रेबिलिटी) न्यून होता है। परिणाम यह होता है कि इनका प्रवेश कला में और उसके द्वारा शरीर मे शीघ्र न होने से कला के दोनो ओर घनत्व-द्रवत्व का प्रमाण सम रखने के प्रयोजन से कला मे से अधिक द्रव आकृष्ट होता है, यहॉ तक कि स्रोत के अन्तर्गत स्थित आहार या औषध द्रव्य तथा कला के उस पार स्थित रस-रक्त में घनत्व-द्रवत्व का प्रमाण

परस्पर सदृश हो जाता है। औषध-द्रव्यों में विरेचन कर्मों में यह स्वभाव होता है। इनके इस स्वभाव के कारण महास्रोत में अधिक द्रवत्व आ जाता है। इसका पीडन पच्यमानाशय और पक्वाशय पर होने से यह उत्तेजित हो, उसकी अपकर्षणी गति (पेरिस्टालसिस) बढ़ जाती है और विरेचन होता है। अवयव-भेद से इस प्रकार द्रवत्व की वृद्धि होकर मूत्र-विरेचन आदि तत्तत् परिणाम उन द्रव्यों के सेवन से होते हैं। दूध में रही प्रोटीन भी इसी प्रकार रक्त कला में प्रविष्ट नहीं होती। अत कला से जल का आकर्षण करती है। यह जल अन्त को उदर के अन्य अवयवों से आकृष्ट होकर महास्रोत की दिशा में आता है। दूध के इस गुण का लाभ जलोदर में लिया जाता है। बहुत वैद्य जलोदरी को केवल दूध पर रखते हैं, जिससे विरेचन औषध के विना भी अथवा अभयादि सदृश स्वल्प विरेचन से अपेक्षित प्रमाण और संख्या में द्रव मल प्रवृत्ति जलोदर के रोगी को होती है और वही इस रोग में परम कर्त्तव्य होता है—नित्यमेनं विरेचयेत्। किसी क्रूरकोष्ठ रोगी में या वातकफप्रकोपक देश-काल में तीव्र विरेचन भी देना पड़ता है।

महास्रोत में रस-रक्तान्तर्गत द्रव अंश तथा तदन्तर्गत दोषों के ग्रहण और त्याग करनेवाले स्रोतों के मुख की शुद्धि होने का उपर्युक्त परिणाम अब नव्य मत से समझा जा सकता है। वमन, विरेचन और बस्ति द्वारा महास्रोत में स्थित दोषों की शुद्धि कर दी जाए, उधर शरीर के इतर भागों में स्थित दोष भी परिपक्व होने से कोष्ठाभिमुख गति के लिए उन्मुख (उद्यत) हो तो परिणाम यह होता है कि महास्रोत में दोषों का शोधन हो जाने से दबाव (प्रेशर) न्यून हो जाता है। इसके कारण स्वभावत रस-रक्त में घुले हुए दोष आकृष्ट हो महास्रोत में आते हैं। अगली बार दिए संशोधन द्रव्य से कोष्ठ में उपस्थित हुए इस दोष की शुद्धि हो जाती है। यह शुद्ध (निर्हृत) दोष भी पूर्वकथित रीति से शाखाओं से कोष्ठ की दिशा में आनेवाले अपने अनुगामी दोष के लिए स्थान खाली कर देता है। इस प्रकार शरीर संपूर्ण शुद्ध न हो जाए तब तक संशोधन द्रव्य दिया जाता है।

विरेचन को पित्तहर उपक्रम में श्रेष्ठ कहा जाता है—विरेचनं पित्तहराणाम्। यह पित्त तो यकृत्प्लीहा में रहता है। विरेचन की उसपर क्रिया कैसे होती है, यह वस्तु व्याख्या के विना विद्यार्थी के लिए समझना दुष्कर होता है। पित्त की विरेचन से शुद्धि भी उल्लिखित प्रकार से ही होती है। विरेचन से पच्यमानाशय (ग्रहणी) में रहे द्रव्य की पक्वाशय में गति होने से यह आशय कुछ रिक्त हो जाता है, जिससे उसमें दबाव (प्रेशर) भी उतने प्रमाण में अल्प हो जाता है। परिणाम में चतुर्दिक् स्थित अन्य अवयवों के समान पित्त-प्रसेक (कॉमन बाइल डक्ट), पित्ताशय (गॉल ब्लैडर) तथा यकृत् में दबाव पच्यमानाशय के दबाव की तुलना

में बढ जाता है। पित्तप्रसेक आदि अवयवो मे प्रमाण वास्तव मे वृद्धि को प्राप्त नहीं होता, परन्तु पच्यमानाशय में दबाव कम होने के कारण ही पित्तप्रसेक आदि अवयवो में दबाव यथापूर्व होता हुआ भी अधिक हो जाता है। उक्त रीति से अधिक दबाववाले पित्तप्रसेक प्रभृति अवयवो से पित्त आकृष्ट हो न्यून दबाववाले पच्यमानाशय में क्षरित होता है, जहाँ पहुँचने पर विरेचन द्रव्य की क्रिया से उसका निर्हरण होता है। आयुर्वेद में इस प्रकार विरेचन-मात्र को पित्तहर कहा है। तथापि, आधुनिक प्रत्यक्षानुसार कई द्रव्यों मे पित्त के संशोधन का यह स्वभाव विशेप होता है। इन द्रव्यो को कॉलेगॉग यह पृथक् सज्ञा दी गई है। कई द्रव्य जल की ही प्रवृत्ति सविशेष कराते हैं। उन्हें हाइड्रेगॉग नाम दिया गया है। प्रयोजन-भेद से इन द्रव्यो का उपयोग होता है। यथा, प्राचीनकाल से ही पाण्डुरोग तथा कामला में विशेपतया पित्त-विरेचक होने से कटुरोहिणी (कटुकी) का उपयोग अद्यावधि होता है।

पित्तविरेचन के इस उदाहरण के समान ही आयुर्वेद-मत से इतर दोष भी अपने-अपने द्वार से वाहर निकलते हैं।

शिरोविरेचन-द्रव्यों की ऐसी ही क्रिया शिर पर होती है। इनका उद्धूलन (फूँकना) नासिका में किया जाता है। प्रयोग-स्थल पर हुए क्षोभवश नासास्रोत से पुष्कल द्रव प्रवृत्ति होती है। इससे इस स्रोत की कला मे पीडन न्यून हो जाता है। परिणाम यह होता है कि, इस प्रदेश मे स्थित सिराजाल में पीडन कला की तुलना मे अव अधिक हो जाने से उधर से द्रव आकृष्ट हो नासास्रोत मे आता है और वाहर निकल जाता है। नासास्रोत की सिराजाल का सम्वन्ध पुर.कपाल मे स्थित वाताशयो (साइनसो) के सिराजाल मे होता है, उनका भी सम्बन्ध सारे मस्तिष्क में परिव्याप्त होकर रहे हुए सिराजालो से होता है। इन सिरा-जालो का भी सम्वन्ध तर्पक कफ (सेरीब्रो-स्पाइनल फ्लुइड) को उद्वहन (धारण) करनेवाले आशयो (वेण्ट्रीकल्स) से होता है। शिरोविरेचन द्रव्यो की क्रिया से पिछले-पिछले स्रोत में पीडन वढता जाता है। परिणामतया, वेण्ट्रीकल्स से आरम्भ कर द्रव उत्तर-उत्तर स्रोत में आकर अन्त को नासास्रोत मे आता और वहाँ से वाहर निकल जाता है।

कामला में बन्दाल (देवदाली) का इस प्रकार शिरोविरेचन रूप मे उपयोग होता है। इसके हिम या कषाय का उपयोग करने का विधान है। कागज की नली आदि से सूक्ष्म चूर्ण नासिका में फूँकना अच्छा होता है। इससे एक तो औषध का अच्छा प्रमाण कार्य-प्रदेश पर जाता है। हिम या कषाय मे कार्यकारी तत्त्व चूर्ण जितने प्रमाण में नहीं आ सकता, यह समझी जा सके ऐसी बात है।

दूसरे, द्रव द्रव्य कभी गले में उतर जाने से तीव्र पाक तथा तज्जन्य लक्षण होते है। वन्दाल के नस्य से जो द्रव-प्रवृत्ति होती है, उसमें सिराजाल से आया रस भी होता है। इस रस मे मिश्रित (घुला हुआ) याकृत पित्त का वर्ण-द्रव्य और लवण भी और कभी स्वय याकृत पित्त भी होता है। इस द्रव के साथ उसकी भी प्रवृत्ति होती है। कामला में दिये इस नस्य से प्रभूत पीतवर्ण स्राव होता है।

शिरोविरेचन द्रव्यो की क्रिया का जो स्वरूप ऊपर बताया है, उससे समझा जा सकता है कि, इसका सीधा प्रभाव तर्पक कफ पर होता है। सो मोह, मूर्च्छा, उन्माद, अपस्मार आदि में यथावश्यक तीव्र शिरोविरेचनो का उपयोग कर देखना चाहिए।

इतने प्रासगिक विवेचन के पश्चात् अब दोषो की शाखा से कोष्ठ में गति का अगला और अन्तिम कारण देखते है।

५ वायु का निग्रह—ग्रन्थ के आरम्भ में वायु से रोगमात्र की उत्पत्ति की सभावना का विचार हमने किया है। प्रस्तुत प्रकरण में भी ऊपर कहा है कि, वायु का प्रकोप होने के कारण दोष कोष्ठ से शाखाओ में जाते है। इन सचाइयो से सीधा बोध यह ग्रहण किया जा सकता है कि इस वायु को यदि निगृहीत (नियन्त्रित, समावस्था को प्रापित) किया जाय तो उससे शाखाओ में प्रक्षेपित दोष भी, अब वायु के प्रभाव में न रहने से, अपनी स्वाभाविक गति को प्राप्त होते है—शाखाओ को छोडकर कोष्ठ में आने लगते है। निदान-चिकित्सा में वायु के महत्त्व के विषय में ग्रन्थ के आरम्भ में हम जो कह आये है उसकी पुष्टि में इस प्रकरण में आया यह आप्तवचन प्रस्तुत किया जा सकता है। वाचक वायु के प्रभाव को इस प्रकरण में भी पुन समझ लें और आत्मसात् कर लें।

रोगमार्गो के विषय में अपेक्षित वक्तव्य समाप्त हुआ। रोगो के वर्गीकरण के प्रसग से अब इस अध्याय के शीर्षक में निर्दिष्ट अगले वर्ग 'स्रोतोदुष्टि जन्य रोग' का विचार करते है।

स्रोतोदुष्टिजन्य रोग

जैसे धातु, मल, स्थान या मार्ग दोषो के आश्रय और रोगो के स्थान-संश्रय के पात्र है वैसे ही स्रोत या शरीरान्तर्गत अवकाशमय अवयव भी। रोगो के निदान और चिकित्सा मे सौकर्य की दृष्टि से आचार्यो ने शरीरगत मुख्य-मुख्य स्रोतो की पृथक् गणना कर उनकी व्याप्ति, दुष्टि एव क्षति के लक्षण तथा उपचार बताए है। इस प्रकार धातुगत, मार्गगत आदि वर्गो के समान स्रोतोगत रोगो का पृथक् ही वर्ग तन्त्रो मे उपवर्णित प्राप्त होता है। आयुर्वेद में स्रोतो का जो महत्त्व बताया है उसे देखते यह यथार्थ भी है।

आरोग्य तथा अनारोग्य मे स्रोतो का स्थान—

शरीर की क्रिया एवं आरोग्य मे जो पद वात-पित्त-कफ तथा उनके साम्य का है वही स्रोतो का भी है। शरीर मे जितने भी भाव (जिनकी उत्पत्ति और स्थिति हो ऐसे द्रव्य रूप या अद्रव्यरूप पदार्थ) है उनकी उत्पत्ति-स्थिति किंवा विनाश स्रोतो के विना हो नही सकता—सर्वे हि भावाः पुरुषेनान्तरेण स्रोतांस्य-भिनिर्वर्तन्ते, क्षयं वाऽप्यभिगच्छन्ति। च० वि० ५।३

आयुर्वेदीय क्रियाशारीर के अध्ययन से विदित हुआ होगा कि यह शरीर दोष, धातु और मल इन तीन के समवाय से बना है। ये तीन इसके समवायी या उपादान कारण है। वही जीवच्छरीर में इनकी उत्पत्ति या पुष्टि का क्रम बताते कहा गया है कि रस-रक्तादि क्रम से अन्नरस प्रत्येक धातु की पुष्टि करता है। पुष्टि के इस क्रम में प्रत्येक धातु के साथ उसके उपधातु तथा मल की भी पुष्टि होती है। दोष नाम से अभिहित वात-पित्त-कफ मल-विशेष ही है। सो धातुओ की उत्पत्ति या पुष्टि के क्रम मे ही उपधातुओ, दोषो और मलो की भी पुष्टि होती रहती है। अन्य शब्दो मे कहना हो तो शरीर के सर्व पदार्थ, किंबहुना सम्पूर्ण शरीर की पुष्टि इन धातुओ के क्रम मे ही होती है। धातुओ की पुष्टि को लक्ष्य में रखकर कहा गया है—

यथास्वेनोष्मणा पाकं शारीरा यान्ति धातवः।
स्रोतसा च यथास्वेन धातुः पुष्यति धातुतः॥
च० चि० ८।३९

तात्पर्य—अन्नरस का पचन कर शरीर के धातुओ की—साथ ही उक्त क्रमानुसार उपधातुओ, दोषो एवं मलो की—पुष्टि के लिए उनकी अपनी-अपनी अग्नि आवश्यक होती है। साथ ही, प्रत्येक धातु तथा उसके उपधातु आदि की समभाव से पुष्टि हो इस हेतु उन्हें अन्नरस यथावत् पहुँचानेवाले अपने-अपने स्रोतो की आवश्यकता होती है।

इससे सिद्ध है कि, जबतक जठराग्नि, धात्वग्नि और भूताग्नि अविकृत रहें तथा धातुवाही स्रोत स्वस्थ (अवरोध, दुष्टि या वैगुण्य-रहित) रहे तब ही तक धातु आदि से वने शरीर के एक-एक अवयव की पुष्टि अव्याहत होती रहती है।—तदेतत् स्रोतसा प्रकृतिभूतत्वान्न विकारैरुपसृज्यते शरीरम्—च० वि० ५।७। 'सर्वे हि भावा......' इत्यादि पूर्व-धृत वचन मे तन्त्रकार ने जो बात कही है, उसी का विरतार यहाँ धातु-पोषणक्रम में प्रतिपादन मे किया है[1]। किंबहुना,

१—च० सू० २८।३ वचन आयुर्वेदीय क्रियाशारीर का मूल स्तम्भ कहा→

स्रोतांसि रुधिरादीनां वैषम्याद् विषमं गताः।
रुद्ध्वा रोगाय कल्पन्ते, पुष्यन्ति न च धातवः॥

च० चि० ८।२९

तदेतत् स्रोतसां प्रकृतिभूतत्वान्न विकारैरुपसृज्यते शरीरम्॥

च० वि० ५।७

× × × अहितसेवनात्।
तानि दुष्टानि रोगाय, विशुद्धानि सुखाय च॥

अ० हृ० शा० ३।४२

पुरुष विषमाशन करे—अन्नपान के सेवन के शास्त्रोक्त नियमो का उल्लङ्घन कर आहार का सेवन करे, एव विपरीत विहार (चेष्टा) आदि करे तो उसके दोष प्रकुपित होकर अपना अनुलोम (प्राकृत) मार्ग छोड, उन्मार्ग में गमन करते हुए स्रोतो में पहुँचते है तथा उनमें अवरोध उत्पन्न करते है। इस प्रकार स्रोतो का अवरोध होने से विविध रोगो की उत्पत्ति होती है तथा धातुओ की पुष्टि नही होती। ये ही स्रोत हिताहार विहारादि के सेवन से विशुद्ध रहें—उनका मध्यगत विवर या अवकाश जैसा होना चाहिए वैसा रहे—तो ये (स्रोत) आरोग्य के कारण होते है।

स्रोत शब्द का सामान्य तथा विशेष अर्थ—

अपने-अपने प्रतिपाद्य विषय के प्रतिपादन में सौकर्य को लक्ष्य में रखकर कायचिकित्सको तथा शल्यचिकित्सको ने स्रोत शब्द का स्वल्प भिन्न अर्थो मे व्यवहार किया है। चरकादि कायचिकित्सको ने अवकाशमय अवयव-मात्र को स्रोत यह सज्ञा दी है, जबकि सुश्रुतादि शल्यतान्त्रिको ने अवकाशमय अवयवो के एक देश के अर्थ में इस संज्ञा का सीमित व्यवहार किया है[1]। इसे मतभेद न समझकर इसका इतना ही आशय समझना चाहिए कि कायचिकित्सा के ग्रन्थो का अर्थ करते हुए स्रोत शब्द का व्यापक अर्थ लेना चाहिए तथा शल्यतन्त्र के वचनो का अनुशीलन करते हुए उसका मर्यादित अर्थ ग्रहण करना चाहिए।

प्रथम चरक वचनानुसार स्रोत शब्द का अर्थ देखते है। स्रोत का अधोनिर्दिष्ट लक्षण प्रसिद्ध है—

←जा सकता है। वहाँ प्राकृत शरीर का विशेषण आया है—अनुपहतसर्वधातूष्ममारुतस्रोत—जिसमे सर्व धात्वग्नि, वायु तथा स्रोत अविकल—प्रकृतिस्थ—है ऐसा। यह वचन भी इस प्रकरण मे स्मरण किया जा सकता है।

१—देखिए—न च चरके सुश्रुत इव धमनीसिरास्रोतसां भेदो विवक्षित.॥

च० वि० ५।३ पर चक्रपाणि

स्रोतांसि खलु परिणाममापद्यमानानां धातूनामभिवाहीनि भवन्त्ययनार्थेन ॥ च० वि० ५।३

तात्पर्य—अपने-अपने अग्नियो के ऊष्मा की क्रिया रसधातु पर होकर उसका परिपाक होते हुए जो धातु तथा मल बनते है उनका अभिवहन— नाम एक स्थान से अन्य स्थान पर गमन—जिन मार्गों द्वारा होता है उन्हें स्रोत कहते है। दोष भी मल-विशेष ही होने से उनका भी अभिवहन इन स्रोतो द्वारा ही होता है। मन की पुष्टि भी हृदयस्थायी रस द्वारा होती है[1], सो उसका भी इन्द्रिय के प्रदेश मे गमन इन स्रोतो से ही होता हे।

इन स्रोतो के अनेक पर्याय है। तथाहि—

स्रोतांसि सिरा धमन्यो रसायन्यो रसवाहिन्यो नाड्यः पन्थानो मार्गा. शरीरच्छिद्राणि संवृतासंवृतानि स्थानान्याशया निकेताश्चेति शरीरधात्ववकाशाना लक्ष्यालक्ष्याणा नामानि भवन्ति ॥ च० वि० ५।९

स्रोत, सिरा, धमनी, रसायनी, वाहिनी, रसवाहिनी, नाड़ी (नाली), पथ, मार्ग, शरीरछिद्र, सवृतासवृत,[2] अयन, स्थान (अधिष्ठान), आशय, क्षय, निकेत —ये सब शरीर के धातुओ के (अभिवहन करनेवाले) दृश्य या अदृश्य अवकाशो (पोले स्थानो) के नाम है। इन सब शब्दो से स्रोतो का निर्देश शास्त्र में हुआ हे।[3]

१—आयुर्वेद मे तो मन की इस प्रकार पुष्टि की वात कही नही है। परन्तु छान्दोग्योनिपद् ५।१ मे कहा हे—अन्नमशितं त्रेधा विधीयते। तस्य य. स्थविष्ठो धातुस्तत् पुरीषं भवति, यो मध्यमस्तन्मास, योऽणिष्ठस्तन्मन। पाक के अनन्तर अन्न के तीन भाग हो जाते है। स्थूलतम भाग पुरीप होता है, मध्यम भाग शरीर के धातु-उपधातु तथा सूक्ष्मतम भाग मन।

मन की पुष्टि तथा क्षय (नि सारता) का यह उल्लेख प्रत्यक्ष-सिद्ध है। विभिन्न जीर्ण रोगो मे शरीर धातुओ की क्षीणता के साथ मन भी क्षीण और दीन हो जाता है।

उपनिषद्-वाक्य मे आए मास का अर्थ धातु लिया है। सु० शा० ४।६ मे 'मास' शब्द इस व्यापक अर्थ मे ही प्रयुक्त हुआ है।

२—हृदय, महास्रोत, सिरा, धमनी आदि की क्रिया देखे तो वे एक निश्चित कालक्रम से सकुचित तथा विकसित होते है। इस क्रिया को लक्ष्य मे रखकर ही इन्हे सवृतासवृत सज्ञा दी गयी है।

३—अ० स० शा० ६ भी देखे।

सुश्रुत ने धमनी व्याकरण अध्याय (शा० ९) के आरम्भ में सिरा, धमनी और स्रोतो में अभेद माननेवाले काय-चिकित्सकों का पूर्वपक्ष प्रस्तुत किया है। उसकी टीका में डल्हन ने अधोलिखित तन्त्रान्तर-वचन द्वारा पूर्व पक्ष की व्याख्या की है।

आकाशीयावकाशाना देहे नामानि देहिनाम्।
सिराः स्रोतासि मार्गा खं धमन्यो नाड्य आशया ॥ इत्यादि
सु० शा० ९।३ पर

अर्थात् पञ्चमहाभूतमय होते हुए भी शरीर के जो अवयव आकाश महाभूत की अधिकता होने से अवकाशमय होते हैं उनको सिरा, स्रोत, मार्ग, ख (छिद्र) धमनी, नाडी, आशय इत्यादि नामों से पुकारा जाता है।

जैसा कि आगे देखेंगे, सुश्रुत ने सिरा और धमनी को छोड शेष सर्व आकाशीय अवकाशों को स्रोत कहा है। स्रोत शब्द का यह मर्यादित अर्थ लें तो भी स्रोतो की सख्या और विस्तार अपरिमित है। काय-चिकित्सकों की पद्धति का अनुसरण करते हुए सिराओ और धमनियो का भी समावेश स्रोतों में किया जाए तो इन स्रोतो की सख्या और विस्तार असाधारण हो जाएगा। इसी से कोई आचार्य पुरुष (जीवच्छरीर) को स्रोतो का ही समुदाय मानते हैं। कई कहते हैं, स्रोतो के वाह्य द्रव्य, पोष्य अवयव, आश्रय का स्थान तथा स्रोत जिनसे बने हैं वे द्रव्य—ये सब स्रोतो से भिन्न हैं, अत पुरुष को केवल स्रोतोमय नहीं कहा जा सकता। अलवत्ता, स्रोतो की सख्या अति बहु होने से उन्हें अपरिसंख्येय कहना सगत है। कोई आचार्य कहते हैं, स्रोत सख्येय हैं—उनकी गणना करना सभव है[1]।

सुश्रुत मत से स्रोत का लक्षण—

मूलात् खादन्तरं देहे प्रसृतं त्वभिवाहि यत्।
स्रोतस्तदिति विज्ञेयं सिराधमनिवर्जितम् ॥ सु० शा० ९।१३

हृदय आदि मूल स्थानो (उद्भव स्थानो) से शरीर में प्रसृत हुए जो अवकाश हैं, सिरा[2] और धमनी को छोडकर शेष उन सबको स्रोत कहा जाता है।

१—देखिए च० वि० ५।४

२—शल्यचिकित्सा के ग्रन्थो मे सिरा-धमनी के सिवाय अवकाश-वाचक सब शब्द तथा काय-चिकित्सा आदि के ग्रन्थो मे मार्ग-वाचक शब्दमात्र अनेक प्रकार से भिन्न अनेक अवकाशमय मार्गों के लिए व्यवहृत हुए हैं। तथापि, आधुनिक प्रत्यक्षानुसार ग्रन्थ रचना करते हुए सिरा, धमनी, रसायनी, आशय आदि सज्ञाओ का एक-एक अर्थ निश्चित कर एक मार्ग के लिए एक ही शब्द का व्यवहार करना उपयुक्त है। इससे घोटाले की सभावना न रहेगी।

स्रोतो के प्राथमिक भेद बहिर्मुख तथा अन्तर्मुख[१]—

स्रोतो के प्रथम दो भेद होते हैं—दृश्य या बहिर्मुख स्रोत तथा अदृश्य या अन्तर्मुख स्रोत। अन्तर्मुख स्रोतो को अन्त स्रोत, जीवितायतन या योगवह स्रोत भी कहते हैं।

दो नासापुट (घ्राण), दो नेत्र, दो कर्ण, एक मुख, एक गुद (पायु), एक मूत्रप्रसेक (मेढ्र, शिश्न) इन नौ प्रत्यक्ष स्रोतो को दृश्य या बहिर्मुख स्रोत कहते हैं। स्त्रियो में दो स्तन तथा एक आर्तववह ये तीन दृश्य स्रोत अधिक होते हैं। अध्यात्म-ग्रन्थो में पुरुषो के नौ प्रत्यक्ष स्रोतो को 'नव द्वार' कहा जाता है।

स्रोत यो असख्य होते हुए भी स्रोतो के इन प्राथमिक भेदो के अवान्तर भेद शल्यतान्त्रिको और कायचिकित्सको ने पृथक्-पृथक् बताए हैं। शल्यतान्त्रिको ने जिन स्रोतो के हृदयादि स्थूल मूलो का वेध होने से तत्तत् चिन्तनीय वेदनाएँ होती हैं[२] उन्हें दृष्टि में रखकर स्रोतो के ग्यारह युग्म बताए हैं तथा उनके मूल के वेध से होनेवाले परिणाम और उनकी चिकित्सा का निर्देश किया है[३]।

कायचिकित्सको (चरक तथा वाग्भट) ने जिन स्रोतो की दोष-प्रकोपजनित दुष्टि (विकृति) होने से स्मरणीय परिणाम होते हैं[४], ऐसे तेरह स्रोतो का नाम निर्देश कर उनकी दुष्टि के हेतु-लक्षण-चिकित्सा का प्रतिपादन किया है[५]।

१—देखिए सु० शा० ५।६, १०, अ० स० शा० ६, अ० हृ० शा० ३।४०-४१ तथा इनकी टीकाएँ।

२—शा० ९।१२ मे सुश्रुत ने स्पष्ट कहा है—येषु अधिकार, जो हमारे प्रतिपाद्य है, उन्ही स्रोतो का उल्लेख यहाँ किया जा रहा है। इन पद्यो का डल्हन कृत विस्तृत विवरण द्रष्टव्य है।

३—देखिए—सु० शा० ९।१२ तथा उस पर डल्हन की टीका।

४—स्रोतो की असख्यता का ऊपर कहे प्रकार से निरूपण कर आगे तेरह स्रोतो का उल्लेख करते हुए भूमिका-रूप मे चरक ने स्पष्ट कहा है—कतिचित् प्रकारान्—यहाँ कुछ ही आवश्यक भेद बताए जा रहे हैं। इनके विवरण से बुद्धिशाली विद्यार्थी अन्य स्रोतो की दुष्टि को भी समझ सकता है, और मन्दबुद्धि के व्यवहार के लिए इतने ही पर्याप्त है। (देखिए च० वि० ५।५ तथा उस पर चक्रपाणि-टीका)। समझा जा सकता है, कि चरक और सुश्रुत के बताए स्रोतो मे कोई तात्त्विक भेद नही है। अपरच, अन्य प्रकरणो मे अन्य भी स्रोत तत्रकारो ने बताए ही है, जसे—सु० उ० ५३।३ मे स्वरवह स्रोत (कण्ठ), सु० नि० १।८३ मे शब्दवह स्रोत इत्यादि।

५—देखिए च० वि० ५।५-२८।

पाँचवाँ अध्याय

आदिबलप्रवृत्तादि रोग-वर्ग तथा अन्य वर्गीकरण

अथातो व्याधिभेदविज्ञानीयं चतुर्थमध्यायं व्याख्यास्यामः। इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः॥

आदिबलप्रवृत्तादि रोग-वर्ग तथा अन्य वर्गीकरण[1]

रोगो के आध्यात्मिक आदि तीन वर्ग--

सुश्रुत ने रोगो के प्रथम आध्यात्मिक आदि तीन भेद बताकर अनन्तर इन्हीं के सात भेद बताए है। यह वर्गीकरण अधिक व्यापक है, यद्यपि पहले कहे गये और आगे कहे जानेवाले वर्गीकरण का ही प्रकारान्तर से इसमें उल्लेख हुआ है।

जीवच्छरीर को होनेवाले दु:ख-सज्ञक रोगो के प्रथम तीन विभाग है: आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक।

आध्यात्मिक रोग--आत्मा का अर्थ है मन-सहित शरीर, नाम जीवित प्राणि-शरीर[2]। आत्मा में रोगोत्पत्ति करनेवाले वात-पित्त-कफ ये शारीर दोष तथा रजस्-तमस ये मानस दोष अध्यात्म कहाते हैं। इनसे होनेवाले शारीर-मानस-रोगो को आध्यात्मिक कहा जाता है।

१--देखिए सु० सू० २४।४--७, तथा इन पर डल्हन और चक्रपाणि की टीकाएँ।

२--आत्मा का अर्थ टीकाकारो ने यह दिया है आत्मशब्देन समनस्क शरीरमुच्यते--डल्हन, आत्मशब्देन शरीर भण्यते--चक्रपाणि। इससे आध्यात्मिक शब्द का अर्थ समझा जा सकता है। आयुर्वेद मे आत्मा से किस का ग्रहण करना अभीष्ट है, यह भी इससे स्पष्ट है। प्राचीन वाङमय मे सर्वत्र आध्यात्मिक का अर्थ 'जीवच्छरीर से सबन्ध रखनेवाला' यही है। आत्मा का अर्थ केवल जीवात्मा रूढ हो जाने से भाषा ग्रन्थो तथा लोक मे आध्यात्मिक का अर्थ 'पारलौकिक' प्रसिद्ध हो गया है। उसके लिए आधिदैविक शब्द है। यह अर्थ-भेद प्राचीन वाङमय पढते हुए स्मरण रखना चाहिए।

आधिभौतिक रोग—भूत का अर्थ है पृथिवी, वायु आदि बाह्य महाभूत, अथवा प्राणी। इन उभयविध भूतो से होनेवाले आगन्तु[1] रोगो को आधिभौतिक रोग कहते हैं।

आधिदैविक रोग—देव नाम विभिन्न अमानुष योनियों से होनेवाले, किंवा दैव (पूर्व-जन्मकृत कर्म) से होनेवाले रोगो को[2] आधिदैविक कहा जाता है।

इन्हीं तीन को अधिक विशद करने के प्रयोजन से पुन अधोलिखित सात भेदो में विभक्त किया गया है. आदिबलप्रवृत्त, जन्मबलप्रवृत्त, दोपबलप्रवृत्त, संघातबलप्रवृत्त, कालबलप्रवृत्त, दैवबलप्रवृत्त, तथा स्वभावबलप्रवृत्त। इनमें प्रथम तीन नाम आदिबलप्रवृत्त, जन्मबलप्रवृत्त तथा दोपबलप्रवृत्त आध्यात्मिक के भेद हैं, सघातबलप्रवृत्त या आगन्तु आधिभौतिक का पर्याय है तथा कालबलप्रवृत्त, दैवबलप्रवृत्त और स्वभावबलप्रवृत्त का समावेश आधिदैविक मे होता है। कोई टीकाकार स्वभावबलप्रवृत्त क्षुधा, पिपासा, जरा, मृत्यु, निद्रा आदि व्याधियो की गणना आध्यात्मिक वर्ग में करते हे।

अब इन सात भेदो के लक्षण, उपभेद तथा उदाहरण देखते हैं।

आदिबलप्रवृत्त रोग

वातादि-दोपदूषित शुक्र-शोणित (पुबीज—स्त्रीबीज) में दोषो के कारण रहे रोगजनक स्वभाव से हुए रोगो को आदिबलप्रवृत्त रोग कहते हैं। इस शब्द में आदि पद का अर्थ है—शुक्र और शोणित का समूर्च्छन (सयोग, फ्युशन) होने पर हुआ जीव का सयोग। यह शरीर में चैतन्य और उसके कारण उसकी (शरीर की) वृद्धि और पुष्टि का हेतु होता हे। इस 'आदि' या शुक्रशोणित-संयोग में माता-पिता के शरीर में स्थित रोग भी शुक्र और शोणित द्वारा सक्रान्त होकर आए होते हैं तथा गर्भ-शरीर मे सचरित होते हैं।

आदिबलप्रवृत्त रोगो की असाध्यता—

इन रोगो को चरक ने कुलज[3] नाम दिया है। वेद मे इन्हे

१—आगे सु० सू० २४।६ मे सघातबलप्रवृत्त रोगो को आधिभौतिक कहा है। वही उनका पर्याय आगन्तु दिया है।

२—देवा. सुरा. सुरयोनयश्च—सु० सू० २४।४ पर डल्हन, दैव प्राक्तनं कर्म, तदधिकृत्य वर्तत इत्यधिदैवम्, तत्र भूतमित्याधिदैविके व्युत्पत्तिमिच्छाम· सु० सू० २४।७ पर चक्रपाणि।

३—प्रमाण इमी प्रकरण मे आगे देखिए।

क्षेत्रिय[1] कहा गया है। लोक में इनके लिए आनुवंशिक (अंग्रेजी—हेरेडिटरी) आदि शब्द प्रचरित हैं।

आदिबलप्रवृत्त या कुलज रोगों के ज्ञान की आवश्यकता इसलिए है कि कुलज रोग असाध्य होते हैं। प्रमेहों के प्रकरण में अत्रि-पुत्र ने कहा है—

जातः प्रमेही मधुमेहिनो[2] वा
न साध्य उक्तः स हि बीजदोषात्।
ये चापि केचित् कुलजा विकारा
भवन्ति तांश्च प्रवदन्त्यसाध्यान्॥

च० चि० ६।५७

× × बीजदोषादिति प्रमेहारम्भकदोषदुष्टबीजजातप्रमेहित्वात् × × ॥ चक्रपाणि

प्रमेह रोग-पीडित माता-पिता का अपत्य प्रमेही हो तो उसका रोग साध्य नहीं होता। कारण, वह प्रमेह के उत्पादक दोषों से दूषित बीज से उत्पन्न हुआ होता है। (इस प्रकार रोगी पुरुष का जितना वय होता है उससे भी अधिक वय उस रोग का होने से रोग चिरकारी—पुराना एवं गम्भीर होने के कारण असाध्य हो जाता है।) केवल प्रमेह की बात नहीं, अन्य भी जो रोग कुलज होते हैं वे भी इसी प्रकार असाध्य (याप्य किंवा प्रत्याख्येय) होते हैं।

कुलजता के ज्ञान से निदान की शुद्धि में भी सहायता होती है, विशेषतया व्यवसाय के आरम्भ में अपरिपक्व बुद्धि के चिकित्सक को। यथा, क्षय एक कुलज रोग है। कोई रोगी जीर्ण प्रतिश्याय, कास, श्वास, अरुचि, धातुक्षय (शरीर की क्षीणता, कृशता), रक्तष्ठीवन आदि न्यूनाधिक लक्षण लेकर आया

१—अथर्ववेद के भाष्य में क्षेत्रिय की व्युत्पत्ति सायणाचार्य ने इस प्रकार दी है।—क्षेत्रे परक्षेत्रे पुत्रपौत्रादिशरीरे चिकित्स्य क्षयकुष्ठादिदोषदूषित-पितृमात्रादिशरीरावयवेभ्य आगत क्षयकुष्ठादि रोग क्षेत्रिय इत्युच्यते—अथर्व का० २, अ० २, सू० ८, मं० १ पर, क्षेत्रियाणां क्षेत्रात् परक्षेत्रात् माता-पितृशरीरादागतानां कुष्ठापस्मारग्रहण्यादिरोगाणाम्—अथर्व २।१।४।५ पर। अर्थात् '(पर) क्षेत्रात् आगत' यह क्षेत्रिय की व्युत्पत्ति है। (गुरुवर्य वैद्य यादवजी त्रिकमजी आचार्य कृत व्याधि-विज्ञान में।) वेद में अन्यत्र इसे जायान्य भी कहा गया है।

२—मधुमेह शब्द यहाँ प्रमेह के लिए प्रयुक्त हुआ है, इस विषय में विस्तृत ऊहापोह चक्रपाणि की टीका में देखिए।

हो तो उसके अमुक स्वजनो के विषय में प्रश्न करना चाहिए कि उनकी मृत्यु तो नहीं हुई, और हुई है तो मृत्यु का कारण क्या था? यदि उत्तर 'क्षय' मिले तो प्रस्तुत रोगी में भी क्षय किंवा उसके पूर्वरूप का निदान किया जा सकता है। कई बाल-वृद्ध रोगी यह नहीं जानते कि उनके पिता आदि को क्या रोग था। वे इतना कहते हैं कि वे दीर्घ काल शय्यावश रहे थे, शरीर अति क्षीण हो गया था, कास, श्वास थे, मुख से रक्त पडता था, इत्यादि। इनमे दो-तीन या सभी लक्षणो का निर्देश वे करते है। उससे क्षय की संभावना सुगमता से कोई भी चिकित्सक कर सकता है।

आदिवलप्रवृत्ति या कुलजना के ज्ञान के लिए अनुभवी चिकित्सक नीचे लिखे स्वजनों की मृत्यु किंवा वे जीवित हो तो उनकी वर्तमान प्रकृति-विकृति के विषय में प्रश्न-परीक्षा करना उचित समझते है पिता, माता, ताया, चाचा, सगे या चचेरे, फुफेरे, ममेरे, मौसेरे भाई-बहिन, मामा, मासी, फूफी।

पद्य में आए 'बीजदोषात्' पद की जो व्याख्या चक्रपाणि ने दी है उससे तथा आगे दिये जानेवाले मूल वचन से स्पष्ट होगा कि, पिता-माता से स्वयं रोग संतान में संक्रान्त नहीं होता, किन्तु रोग के आरम्भक दोष से हुई दुष्टि शुक्र-शोणित द्वारा संतति मे आती है। नवीनो का भी यही मत है, यह हम आगे देखेंगे।

स्वभावत. आदिवलप्रवृत्त रोगो के दो भेद होते है. मातृज या शोणितज तथा पितृज या शुक्रज। आदिवलप्रवृत्त रोगो के उदाहरण ये है—कुष्ठ अर्श, प्रमेह, क्षय, अपस्मार, ग्रहणी, श्वित्र[1] आदि। कुष्ठो में फिरङ्गकुष्ठ का भी ग्रहण समझना चाहिए।

१—सुश्रुत ने इन रोगो के उदाहरण कुष्ठार्श प्रभृतय दिए है। डल्हन ने प्रभृति ने अन्य रोगो का ग्रहण करते लिखा है—प्रभृतिग्रहणान्मेहक्षयादय। इस गणना मे ऊपर धृत सायण-भाष्य मे दिए अपस्मार और ग्रहणी भी ले लिए है। भगवान् मनु के आगे दिए पद्य मे ऐसे रोगो की गणना मे आए श्वित्र का भी यहाँ ग्रहण कर लिया है।

रोग-पीड़ित कुलो में विवाह का निषेध—

मैथुन के अधिकार (प्रकरण) मे आचार्यों ने रोग-पीडित स्त्री या पुरुष के साथ मैथुन का निषेध किया है। भगवान् मनु ने रोग-पीडित कुलो से मैथुन के प्रायिक मूल विवाह-सबन्ध का ही प्रतिषेध कर दिया है। देखिए

महान्त्यपि समृद्धानि गोऽजाविधनधान्यत।
स्त्रीसबन्धे दशैतानि कुलानि परिवर्जयेत्॥ →

रोग की नही, दोपजनित दुष्टि की ही कुलजता—

प्रकृतियो के प्रकरण में आया आयुर्वेद का यह सिद्धान्त वाचको को विदित होगा कि · शुक्र और शोणित के समूर्च्छन (एकीभाव, फर्टिलाइजेशन) के समय इन दोनो की जो प्रकृति होगी—अर्थात् इनमें जिस दोष का आधिक्य होगा, उस दोष के आधार पर ही भावी सतति की प्रकृति का निर्माण होगा—उसके शारीरिक स्वरूप तथा मानसिक स्वभाव की रचना प्राधान्येन उस दोप के अनुसार ही होगी। रोगी की परीक्षा करते हुए प्रकृति की परीक्षा प्रथम करनी होती है। इसका कारण तन्त्रकारो ने यह बताया है कि, प्रकृति का आरम्भक (उत्पादक) दोप अपने इतर-दोप-विपरीत गुणो से उन्हे दबाए रहता है—कदाचित् उनके प्रकोपक अहिताहार-विहार, औषध, देश और काल का सेवन हो भी जाए तो उन दोपो का प्रकोप उतना नही होने देता।

← हीनक्रिय निष्पुरुष निश्छन्दो रोमशार्शसम्।
क्षय्यामयाव्यपस्मारिश्वित्रिकुष्ठिकुलानि च ॥

मनुस्मृति अ० ३

—कोई कुल उच्च एव गौ-बैल, बकरी, भेड, धन और धान्य मे समृद्ध हो, तो भी यदि उनमे धर्मानुकूल क्रिया-कलाप न होता हो, उनमे पुरुप सतान न होती हो, उनमे स्वाध्याय और प्रवचन का प्रचार न हो, उनमे शरीर पर बडे-बडे लोम हो, किवा उनमे अर्श, क्षय (राजयक्ष्मा), आमय (आम-विकार, ग्रहणी-विकार), अपस्मार, श्वित्र और कुष्ठ इनमे कोई रोग हो, तो इनमे विवाह न करना चाहिए।

वस्तुत क्षय आदि रोगो को राष्ट्र मे प्रसृत होने से अटकाने का यही सर्वोत्तम उपाय है। प्राचीन आर्य इन नियमो का कितनी दृढता से पालन करते होगे, इसका सूचक एक पद्य मनुस्मृति से दिया जाता है।—

काममामरणात्तिष्ठेद् गृहे कन्यर्त्तुमत्यपि।
न त्वेवैना प्रयच्छेत्तु गुणहीनाय कर्हिचित्॥

—कन्या ऋतुमती होने पर भले आमरण पितृ-गृह मे रहे, परन्तु गुणहीन के साथ तो उसका पाणिग्रहण कभी न कराना चाहिए।

आजकल कुछ ऐतिहासिक कारणो से लोको की दृष्टि मे भिन्नता आ गयी है, और विशेपतया कन्या को अविवाहित रखना ठीक नही समझा जाता। रोगिष्ठ, जराजीर्ण भी पुरुप या स्त्री का विवाह कर दिया जाता है। इसमे सुधार की आवश्यकता है, यह कहना अस्थाने न होगा।

रोगी स्त्री-पुरुष को आजीवन विवाह न करने देने के नियम मे किसी को निर्दयता की गन्ध आ सकती है। परन्तु एक ओर एक व्यक्ति का अवास्तविक→

प्रकृति के निर्माण में यद्यपि तात्कालिक ऋतु आदि की भी कारणता होती है तथापि मुख्य कारण तो प्रकृति-निर्माण में शुक्र-शोणित या पुंबीज-स्त्रीबीज की मूल प्रकृति ही होती है। एवं ऋतु, देश आदि शेष कारण भी शुक्र-शोणित पर क्रिया करते हुए ही अपना प्रभाव दर्शाते हैं। इस प्रकार प्रकृति के रूप में पिता-माता में प्रधानतया स्थित दोष भी संतति में संक्रान्त होता है, जिससे सामान्यतया संतति को भी उस दोष से आरब्ध (उत्पादित) रोग होने की संभावना होती है, जिस (दोष) के रोग उसके माता-पिता में प्रायः होते हैं। परन्तु क्षय, कुष्ठ आदि रोगों में यह विशेषता होती है कि वे उपचार न होने से या मिथ्योपचारवश कालक्रम से गम्भीर (उत्तरोत्तर धातु में अनुप्रविष्ट) होते हुए अन्त को शुक्र-शोणित में और उनके द्वारा संतान में संक्रान्त हो जाते हैं। रोगों के संक्रमण का अर्थ पुनः स्पष्ट कर दूँ, रोगजनक दोष से हुई दुष्टि का संक्रमण ही है।

आदिबलप्रवृत्त या कुलज रोगों के प्रकरण में चिकित्सा की दृष्टि से ज्ञातव्य इस बात का भी उल्लेख आवश्यक है कि, पिता-माता तथा संतान दोनों को समान रोग होने का एक कारण यह भी हो सकता है कि पिता-माता जिस रोगारम्भक देश में रहते हों, जिस अहिताहार का सेवन करते हों किंवा जिस वेगावरोधादि रोगोत्पादक विहार के अभ्यासी हों, स्वभावतः संतान भी उन अहित आहारादि का सेवन करती है। इनमें वेगावरोध आदि अहित विहार का सेवन बाल्य वय

←—हित देखना है और दूसरी ओर समग्र समाज और राष्ट्र के वास्तविक हित का विचार करना है—उसमें प्रसृत होनेवाले यक्ष्मा तथा अन्य कृच्छ्रसाध्य रोगों का समूलोन्मूलन करना है। प्राचीन नीति-शास्त्रों ने इस तथा ऐसे ही अन्य विषयों में दृढता से कह दिया है—

त्यजेदेकं कुलस्यार्थे ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत्।
ग्रामं जनपदस्यार्थे आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत्॥

—कुल की रक्षा का प्रश्न हो, तो एक (कुल की अङ्गभूत एक व्यक्ति) की रक्षा का विचार छोड दे। ग्राम की रक्षा के लिए कुल को छोड दे। देश के लिए ग्राम को छोड दे और अपना हित होता हो, तो देश को भी छोड दे।

विवाह-विषयक यह विचार राष्ट्र के स्वास्थ्य का विषय होने से तो आयुर्वेद से संबद्ध है ही, इसका विशेष संबन्ध आयुर्वेद और वैद्य के साथ इस कारण भी है कि—आचार्यों ने वर और कन्या की परीक्षा और उनके विवाह का कार्य कौमार-भृत्य का ही बताया है। देखिए

अथाऽस्मै पञ्चविंशतिवर्षाय षोडशवर्षां पत्नीमावहेत् पित्र्यधर्मार्थकाम-प्रजाः प्राप्स्यतीति॥ सु० शा० १०।५३

के अज्ञानवश देखादेखी होता है। इस प्रकार अहिताहार-विहारादि के साम्य मे पिता-माता जिन रोगो से पीडित हो उन्हीं से अपत्य का भी पीडित होना सभाव्य होता है।

गर्भ के मातृज तथा पितृज अवयव—

आदिवलप्रवृत्त रोगो के प्रकरण में एक और वस्तु को स्मरण किया जा सकता है। गर्भ या सतान के शरीरावयवो के विषय में आचार्यों ने कहा है कि शरीरावयवों मे कुछ मातृज नाम माता के शोणित से बनते है और कुछ पितृज होते है। अवयवो के मातृज और पितृज होने का फलितार्थ यह है कि, माता या पिता के बीजो से गर्भ के जो अवयव बनते हैं उनका स्वरूप, उनका स्वास्थ्य तथा उनका अस्वास्थ्य माता-पिता के अवयवो के स्वरूप आदि के अनुसार होता है। इस दृष्टि से रचनाशारीर में आए हुए गर्भ के मातृज तथा पितृज अवयवो की यहाँ पुन स्मृति करा देना उचित होगा।

गर्भ (सन्तान) के पितृज अवयव ये है—केश, श्मश्रु, लोम, अस्थि, नख, दन्त, सिरा, स्नायु, धमनी, शुक्र आदि स्थिर (मृदु-विपरीत) अवयव। गर्भ के मातृज अवयव ये है—मास, रक्त मेद, मज्जा, हृदय, नाभि, यकृत्, प्लीहा, त्वचा, क्लोम, वृक्कद्वय, वस्ति, पुरीषाधान, (उण्डुक-सीकम), आमाशय, पक्वाशय, उत्तरगुद, अधरगुद, क्षुद्रान्त्र, स्थूलान्त्र, वपा, वपावहन आदि मृदु अवयव[1]।

सो माता के ये अवयव कुलज रोगाक्रान्त होगे तो सतान में भी ये अवयव रुग्ण होगे। यही स्थिति पितृज अवयवो के सम्बन्ध में भी समझनी चाहिए। यह बात तो सरलता से समझ में आ सकती है; परन्तु कभी-कभी धातु-विशेष की रुग्णता से उस धातु की प्रधानता वाला माता या पिता का अमुक अवयव रुग्ण होता है, परन्तु सतान में वही अवयव किंवा उस धातु के आधिक्य वाला अन्य कोई अवयव

१—देखिए—सु० शा० ३।३३, च० शा० ३।१२–१३। यद्यपि प्रत्येक अवयव मे माता-पिता दोनो का अश होता है, तथापि 'व्यपदेशस्तु भूयसा–' जिस द्रव्य मे जिस उपादान का आधिक्य होता है उसके नाम पर उस कार्य द्रव्य को नाम दिया जाता है (अ० हृ० सू० ९।२)—इस आयुर्वेद-प्रसिद्ध नियम के अनुसार इस प्रकरण मे भी जिस अवयव मे माता का अश अधिक होता है, उसे मातृज तथा जिसमे पिता का अश अधिक होता है, उसे पितृज कहा गया है। अ० हृ० शा० ४–५ की टीका मे अरुणदत्त का यह वचन प्रमाणभूत है—अस्मिन् देहे अनेकसामग्रीकेऽपि यन्मृदु वस्तु तन्मातृजम्। मातुराधिक्येन कारण-भाव इत्यर्थ ॥

रुग्ण हो सकता है। उदाहरणतया, पुत्र को मास धातु के दौर्बल्यवश गुदभ्रंश (प्रोलेप्स एनाई) हो तो परीक्षा करने से माता में इसी धातु के आधिक्य वाले तथा सुविदित कारणो से अधिक रोगपात्र अपत्यपथ, गर्भाशय-ग्रीवा या गर्भाशय का भ्रंश (प्रोलेप्स) होता है, या स्वल्प से श्रम से इनके भ्रष्ट होने की सभावना होती है; किवा गर्भाशय के स्थान-सम्वन्धी विविध विकार होते है। कदाचित् पिता को फ्लैट-फुट नामक स्नायु-दौर्वल्यजनित विकार हो तो बच्चे को गुदभ्रंश, नाभिभ्रंश आदि हो सकते हैं। सो रोग-परीक्षा के प्रसग में रोगी के माता-पिता के रोगो की परीक्षा करते हुए उनके तत्तत् अवयव की प्रकृति-विकृति की परीक्षा भी चित्त में रखनी चाहिए।

वीज द्वारा प्रकृति की अवतारणा का प्रकार—

आयुर्वेद में शुक्रधरा कला को सर्वशरीरव्यापिनी कहा है, उसका आशय इस प्रकरण में समझ में आ सकता है। शरीर के प्रत्येक अवयव में स्थित वशानुगत एव माता-पिता द्वारा अर्जित (एक्वायर्ड) प्रकृति, उसके स्वरूप तथा क्रिया की विशेषता एवं उनकी रचना या क्रिया सम्वन्धी विकृति (वैकल्य या रोग) अपत्य में उतरते है। माता या पिता के कान की किनारी पर अणी हो वह भी सतति में देखी जाती है, इतने से समझा जा सकता है कि कितनी साधारण-सी प्रतीत होनेवाली वस्तुएँ भी सतति में सक्रान्त होती हैं। यही प्रकार प्रत्येक प्राकृत या वैकृत वस्तु के पिता और माता से सक्रमण में होता है। इससे अनुमान किया जा सकता है कि, भले पुवीज और स्त्रीबीज की उत्पत्ति अपनी-अपनी बीज-ग्रन्थियो मे होती हो तथापि शरीर के प्रत्येक स्थूल अवयव तथा उसके घटक सूक्ष्म परमाणुओ (कोषो, सेलस) के साथ इन वीजो का कुछ-न-कुछ सम्वन्ध होता है, जिसके द्वारा उनकी रचना तथा क्रिया प्राकृत एव विकृत रूप में प्रथम इन बीजो में (पुंवीज और स्त्रीवीज में) सक्रान्त होती है और वहाँ से अपत्य में उतरती है। कम से कम शरीरावयवो और पुवीज-स्त्रीबीज के इस सम्वन्ध को देखते हुए शुक्र को सर्व शरीरगत कहने में कोई असगति नही है। प्राच्य-पाश्चात्य उभय मत से इस विषय के अधिक विश्लेषण की आवश्यकता है।

यहाँ हमने शुक्र के स्थान-निर्देश तथा प्रकृति की अवतारणा के प्रसग में स्त्री-शुक्र का भी उल्लेख किया है। स्त्रियो में भी शुक्र होता है, यह आयुर्वेद-सिद्धान्त है। वह (स्त्री-शुक्र) भी सर्वव्यापी तथा पुरुष-शुक्र के सदृश प्रकृति और विकृति का वाहक होता है यह समझ लेना चाहिए।

संतान में माता और पिता की प्रकृति-विकृति का वहन (सचरण) कैसे होता है, इसका विवरण चरक ने मुख्यतया मातृज तथा पितृज अवयवो का निर्देश कर

उनकी विकृति बताने के प्रसग मे[1] किया है। इनमें प्रथम स्थल की टीका मे चक्रपाणि ने पहले प्राकृत स्थिति का निरूपण किया है, पश्चात् मूल वचनो की व्याख्या की है। वह कहता है--

मनुष्यबीजं हि प्रत्यङ्गबीजभागसमुदायात्मकं स्वसदृशप्रत्यङ्गसमुदायरूपपुरुषजनकम् ॥ च० शा० ३।२३ पर चक्रपाणि

मनुष्य (नर या नारी) का बीज विविध अगो के बीजभागो का समुदाय-रूप होता है। रचना की इस विशेषता के कारण ही वह बीज (गर्भ-बीज, फर्टिलाइज्ड ओवम) अपने--पिता-माता के--समान आकृति-प्रकृति वाले विविध अगो के समुदाय-रूप पुरुष को उत्पन्न करता है।

बीजभाग का अर्थ है--बीज मे स्थित बीज का वह भाग (अश) जिससे बीज किसी अङ्ग-विशेष की रचना करता है। ऐसे अनेक बीजभागो के मिलने से सम्पूर्ण बीज बना होता है।

यस्य यस्य ह्यङ्गावयवस्य बीजे बीजभाग उपतप्तो भवति, तस्य तस्याङ्गावयवस्य विकृतिरुपजायते ॥ च० शा० ३।२३

किसी अङ्ग का उत्पादक बीजभाग उपतप्त हो तो सतान का वह अङ्ग-विशेष या तो बनता नही, या उसमे कुछ विकृति होती है। परिणाम का यह भेद इस बात पर अवलम्बित है कि बीजभाग मे विकृति कितने प्रमाण में है। विकृति यदि बीजभाग के किसी अवयव में हो तो सतान के उस समग्र अवयव मे विकृति या उसका अभाव नही होता किन्तु उस अश-विशेष का ही कोई विकार पाया जाता है[2]।

आदिबलप्रवृत्त (कुलज) रोगो के वहन के विषय मे इतनी स्पष्टता कर देनी आवश्यक है कि : कुष्ठादि कुलज रोग तभी सतान में सचरित होते हैं जब रोग-जनक दोष तथा रोग अत्यधिक होने से उत्तरोत्तर धातुओ में अनुप्रविष्ट हो अन्तत. उनसे शुक्र और शोणित दुष्ट हो चुके हो। अन्यथा, माता-पिता भले कुष्ठादि-रोग-पीडित हो, उनकी सतति कुष्ठादि पीडित नही होती। देखिए :

स्त्रीपुंसयोः कुष्ठदोषाद् दुष्टशोणितशुक्रयोः।
यदपत्यं तयोर्जातं ज्ञेयं तदपि कुष्ठितम् ॥
सु० नि० ५।२८

१--देखिए च० ३।२३, च० शा० ४।३०-३१।

२--च० शा० ३।२४, च० शा० ४।३०-३१, च० चि० १४।५; सु० नि० ५।२८ तथा इन पर चक्रपाणि और डल्हन की टीकाएँ।

पद्य की टीका करता हुआ डल्हन कहता है कि. कुष्ठ से शुक्र-शोणित अर्थात्--पुंबीज-स्त्रीबीज उपहत (नष्ट) हो गया हो तो प्रजा होती ही नही। परन्तु बीज केवल उपतप्त (रोगग्रस्त) हो तो प्रजा तो होती हैं, पर उसमे उपताप के प्रमाण के अनुसार रोग-बाधा होती है[1]।

शारीरस्थान मे चरक ने आरम्भ मे मातृज-पितृज अवयवो के अपत्य-शरीर में संक्रमण के विषय मे सामान्य नियम का उल्लेख कर आगे स्त्री और पुरुष की लिङ्गोत्पत्ति-सम्बन्धी कुछ स्पष्टता की है। मातृज तथा पितृज आदिबलप्रवृत्त रोगो पर वह घटित होने से उसका तात्पर्य यहाँ देना आवश्यक है।

स्त्रीबीज या पुंबीज मे क्रमशः माता तथा पिता द्वारा प्राप्त होनेवाले जिस-जिस अङ्गावयव को बनानेवाला बीज-भाग रोगाक्रान्त (उपतप्त) होता है उस-उस अङ्गावयव में विकृति--रचना में वैकल्य या प्राकृत क्रिया में वैषम्य--होता है। बीज-भाग मे ऐसा कोई रोग का सम्बन्ध न हो तो उससे उत्पन्न अङ्ग-प्रत्यङ्ग मे (अङ्ग के अवयव-भूत प्रत्यङ्ग में) ऐसी कोई विकृति नही पाई जाती। तथाहि--

यस्य यस्य ह्यङ्गावयवस्य बीजे बीजभाग उपतप्तो भवति, तस्य तस्याङ्गावयवस्य विकृतिरुपजायते, नोपजायते चानुपतापात् ॥

च० शा० ३।२३

बीज इति शुक्रशोणिते। बीजस्याङ्गप्रत्यङ्गनिर्वर्तको भागो बीजभागः॥ चक्रपाणि

आगे लिङ्ग-सम्बन्धी विकृति की व्याख्या करते तन्त्रकार कहते हैं[2]।

शुक्र-शोणित (पुबीज-स्त्रीबीज) की विकृति दो प्रकार की होती है। उसके परिणाम भी दो प्रकार के देखे जाते हैं। एक स्थिति यह हो सकती है कि, रोगारम्भक दोष से उपतप्त हुआ पुंबीज या स्त्रीबीज अथवा दोनो उपहत (नष्ट) हो गए हो। इस दशा मे स्त्री-पुरुष का समागम होकर शुक्र-शोणित का संमूर्च्छन होने पर भी गर्भ-लाभ नही होता[3]। दूसरी स्थिति नीचे लिखे अनुसार होती है--

---

१--पहले उद्धृत पद्य 'शुक्र हि दुष्ट सापत्य सदार बाधते नरम्' मे दुष्टि का यह व्यापक अर्थ लेना उत्तम होगा। च० शा० ३।२३ पर चक्रपाणि ने यह पद्य उद्धृत किया है। वहाँ इसकी व्याख्या भी इस प्रसग मे द्रष्टव्य है।

२--देखिए च० शा० ४।३, ३०--३१ तथा इन पर चक्रपाणि की टीका।

३--'न तु कात्स्न्येंन दूषयन्ति' इति वचनेन, कात्स्न्येंन दुष्टौ गर्भजन्मैव न भवतीति दर्शयति। बीजे इति कृत्स्न एवारम्भके बीजे। बीजभागे वेत्यवयव-बीजस्यैकदेशे। --च० शा० ४।३० पर चक्रपाणि

दुष्टि के प्रमाण-भेद से परिणाम-भेद—

स्त्री दोषों के प्रकोपक कारणों का अति सेवन करे, परिणामतया उसके दोष प्रकुपित हो शरीर में प्रसृत होते हुए आर्तव (स्त्रीबीज) और गर्भाशय में पहुँचें, परन्तु आर्तव और गर्भाशय को पूर्णतया दूषित न करें—ऐसी स्थिति में स्त्री को गर्भस्थिति तो होती है[1], परन्तु गर्भ में जितने मानव अवयव होते हैं उनमें से एक या अनेक अवयवों में विकृति होती है। विकृति कितनी और किन अवयवों में होती है इसमें कारण यह होता है कि, स्त्रीबीज के अन्तर्गत जिस-जिस अवयव के घटक बीज में विकृति होती है गर्भ-शरीर के उस-उस अवयव में विकृति पाई जाती है। विकृति यदि अवयव-विशेष के घटक बीज के एक भाग में हो अर्थात् उस अवयव के किसी भाग का निर्माण करनेवाले बीजभाग में विकृति हो, तो उस अवयव के उस भाग-विशेष में ही रचनात्मक या क्रियात्मक विकृति होती है—

यस्य यस्य ह्यवयवस्य बीजे बीजभागे वा दोषाः प्रकोपमापद्यन्ते, तं तमवयवं विकृतिराविशति॥ च० शा० ४।३०

उदाहरणतया—स्त्री के आर्तव (सर्व शरीरारम्भक स्त्रीबीज) में गर्भाशय को बनानेवाला भाग (गर्भाशय-बीज भाग=गर्भाशयजनक बीज-भाग) अतिशय दोषाक्रान्त होता है तब जो स्त्री संतति उत्पन्न होती है वह वन्ध्या होती है। गर्भाशय अर्थात् गर्भयन्त्र का जनक बीज-भाग मातृबीज में इतना दोषोपहत होता है कि स्त्रीबीज के अन्तर्गत अन्य समस्त शरीरावयवों के उत्पादक भाग निर्दोष होने से संतति में शेष सर्व शरीरावयव तो उत्पन्न होते हैं, परन्तु गर्भाशयजनक बीज-भाग अत्यन्त दोषोपहत होने के कारण ही उसके स्त्री-संतान में गर्भयन्त्र का (अन्त फल, आर्तववह स्रोत, स्त्रीबीज, गर्भाशय और अपत्यपथ इन सबका, अथवा इनमें एक या अनेक का) निर्माण ही यथावत् नहीं होता। परिणामतया स्त्री संतति वन्ध्या होती है। परन्तु—

स्त्री के आर्तव (स्त्री-बीज) में गर्भाशयजनक बीजभाग पूर्णतया दोषदूषित न हुआ हो, किन्तु उसका एक अवयव दोषोपहत हुआ हो तो उस दोषोपहत बीज-भागावयव से स्त्री के गर्भयन्त्र के अङ्गभूत जिस अवयव का निर्माण प्राकृत अवस्था में होता है वह अवयव स्त्री-संतति में उत्पन्न नहीं होता। परिणामतया, जो स्त्री संतान होती है वह पूतिप्रजा होती है। पूतिप्रजा का अर्थ है ऐसी स्त्री जिसके

१—इस प्रसंग में मधुकोष का यह वचन भी द्रष्टव्य है दुष्टं शुक्रमार्तवं वा सर्वथा बीजत्वानुपघातादपत्यजनकम्, किंतु विकृतं जनयतीति द्रष्टव्यम्—मा० नि०, कुष्ठ नि०, श्लो० ३० पर मधुकोष।

अपत्य होकर भी गर्भ मे ही किवा बाहर आकर मर जाते हो। कोई टीकाकार पूतिप्रजा का अर्थ ऐसी प्रजा (सन्तान) वाली स्त्री करते है जिसके अङ्ग-प्रत्यङ्ग क्लिन्न नाम अत्यधिक अब्धातुवाले होने से शोथ, कोथ (सडाद) आदि रोगो से पीडित हो। एवमेव--

स्त्री के आर्तव (स्त्रीबीज) मे एक ओर ऊपर निर्दिष्ट उदाहरण मे कहे प्रकार से गर्भाशयजनक बीजभागावयव अति दोषोपहत हो, दूसरी ओर स्त्री-बीज में स्त्रीत्व के व्यञ्जक (सूचक) स्तन, उपस्थ, रोमराजि आदि अवयवो के जनक बीजभागावयव भी साथ ही दोष-दूषित हो तो जो सतति होती है उसका आकार-प्रकार अधिकाश स्त्री के समान होता है परन्तु उसमे स्त्री के सपूर्ण लक्षण नही होते। ऐसी व्यक्ति को वार्त्ता (पाठान्तर-रान्ता) कहते हैं। (यह होजडो-नपुसको-यूनवस का एक प्रकार है। इसमें न पुरुष के लक्षण सम्पूर्ण होते है, न स्त्री के; तथापि स्त्री के चिह्न अधिक देखे जाते है)।

इसे 'स्त्री-व्यापत्' कहते है। अब पुरुष-व्यापत् का विवरण देखिए।

स्त्री-व्यापत् के सदृश ही पुरुष-व्यापत् में भी बीजभाग अर्थात् शुक्रयन्त्र-जनक बीजभाग अतिशय दूपित हो तो जो पुरुष सतति होती है वह वन्ध्य होती है। परन्तु, शुक्रयन्त्र-जनक बीज-भाग का एक अवयव नाम शुक्रयन्त्र के किसी एक अश का निर्माण करनेवाला बीजभाग दूषित हो तो जो पुरुष सतति होती है वह पूतिप्रजा होती है। इसका अर्थ स्त्री-व्यापत् के समान ही समझना चाहिए। यदि बीज की विकृति अधिक हो--शुक्रयन्त्र के अवयव का जनक बीजभाग तो दूषित हो ही, साथ ही पुरुषत्व के व्यञ्जक अवयवो के जनक बीजभाग भी अति दोषाक्रान्त हो तो जो सतति होती है उसमे पुरुष के लक्षण संपूर्ण नही होते, किन्तु उसकी आकृति-प्रकृति पुरुष से अधिक मिलती-जुलती होती है। ऐसे (नपुंसक) को तृणपुत्रिक (पाठान्तर-तृणपूलिक, तृणपूलीक) कहा जाता है। यह पुरुष-व्यापत् का वर्णन हुआ।

टीकाकार चक्रपाणि अन्य विद्वानो का मत दर्शाते कहते है कि, वार्ता और तृणपुत्रिक में व्यवाय की इच्छा तो होती है परन्तु उसका सामर्थ्य (मैथुन-शक्ति) नही होता।

अर्श की आदिवलप्रवृत्ति--

माता-पिता के बीज की सम्पूर्ण किवा अवयव-विशेष या उसके भी एक देश की दोष-कृत दुष्टि के परिणामो की इस व्याख्या से अन्य अवयवो की रचनात्मक या कर्मात्मक विकृतियो और रोगो की आदिबलप्रवृत्ति (कुलजता) का स्वरूप

समझा जा सकता है। अर्श के प्रकरण मे स्वयं तन्त्रकार ने इसकी व्याख्या की है[1]। तथाहि

गुदज अर्शो के दो प्राथमिक भेद तन्त्रकार ने बताए है—सहज (जन्मजात) तथा जन्मोत्तरकालज। इनमें सहज अर्शो की उत्पत्ति का कारण दर्शाते तन्त्रकार आगे कहते है—

तत्र बीजं गुदवलिबीजोपतप्तमायतनमर्शसां सहजानाम ॥

च० नि० १४।५

ऐसे शुक्रशोणित (पुबीज-स्त्रीबीज), जिनमें अर्श की अधिष्ठानभूत गुदवलियो का उत्पादक बीजभाग अर्श के जनक दोषो से दूषित हो, सहज अर्शो की उत्पत्ति में कारण है।

गुदवलिजनक बीजभाग के उपतप्त (दोष-दूषित) होने के दो कारण है—(१) माता-पिता का अहिताहार-विहार, जो शुक्र-शोणित के गुदवलि-रूप भाग-विशेष का प्रदूषित करनेवाला हो। तथा (२) सहज अर्शो से पीडित पुरुष का पूर्वकृत ऐसा कर्म, जिसका परिणाम सहज अर्शो की ही विशेषतया उत्पत्ति करे। यह कर्म यदि दुर्बल हो तो माता-पिता के अपचार (अहिताहार-विहार) के साथ मिलकर गुदवल्यारम्भक बीजभाग को दूषित कर सहज अर्शो की उत्पत्ति में कारणभूत होता है। यह पूर्वकृत कर्म यदि बलवान् हो तो माता-पिता के अपचार के बिना भी सहज अर्शो को उत्पन्न करता है।

सहज अर्शो की उत्पत्ति मे जो यह कारणो की मीमासा की है वह अन्य सहज रोगो पर भी घटित होती है।

तथाऽन्येषामपि सहजाना विकाराणाम्। च० चि० १४।५

बीज, बीजभाग तथा बीजभागावयवो का ऊपर जो उल्लेख किया है वह क्रमश आधुनिको के स्त्रीबीज-पुबीज (ओवम तथा स्पर्मेटाजोआ), उनके भी अङ्गभूत एव प्रकृति और विकृति के वाहक क्रोमोसोम नामक सूत्र-विशेष तथा इन सूत्रो के भी घटक जेन नामक कण जिनमे प्रत्येक एक-एक वस्तु की सतान में अवतारणा का कारण होता है, उनका स्मरण कराता है। विद्वज्जन इस विषय मे अधिक विचार कर सकते है।

कुलज रोगो के विषय मे एक स्पष्टता ऊपर की है कि रोगारम्भक दोष उत्तरोत्तर धातुओ में प्रविष्ट (गम्भीर) होता हुआ अन्त को शुक्र-शोणित को उपतप्त कर चुका हो तभी इनके समूर्च्छन से हुए गर्भ या सतति में कुलज रोग सचरित होता है। दूसरी स्पष्टता इनके विषय मे यह करने योग्य है कि, उत्पन्न होने के

१—च० चि० १४।५ तथा उस पर चक्रपाणि-टीका।

साथ ही संतान मे कुलज रोग देखे नही जाते। किन्तु, कालक्रम से दुष्टि के अभिव्यक्त होने पर, अर्थात् अहिताहार–विहार के सेवन से उसके अधिकतर कुपित हो व्यक्तावस्था मे आने पर ही रोग के लक्षण प्रादुर्भूत होते है। प्रमेह के प्रकरण में कुष्ठ का उदाहरण देते हुए मधुकोषकार ने प्रमेह की कुलजता की एतद्विषयक व्याख्या करते कहा हे :—

नहि प्रमेहिणा जात इत्येतावता जातमात्र एव प्रमेही भवति, किं तर्हि, कालवशेन दुष्टेरभिव्यक्तया, यथा कुष्ठिजातस्य कुष्ठम् ॥

माधवनिदान, प्रमेह निदान, २२ पर मधुकोष

आदिवलप्रवृत्त (कुलज) रोग नव्य-मत से—

आधुनिको ने भी अनेक रोगो को कुलज (हेरेडिटरी) कहा है। ऊपर धृत आर्ष वचनो मे कहा है कि, रोग स्वय नही, परन्तु उसके आरम्भक दोष से हुई दुष्टि ही अपत्य में सचरित होती है। नवीनो ने भी कतिपय रोगो के सम्बन्ध में यही बात कही है। वे कहते है कि, सतान मे तत्-तत् रोग के उपसर्ग (सक्रमण) को अन्य व्यक्तियो की अपेक्षया अल्प कारण से ग्रहण करने की प्रवृत्ति (झुकाव) होती है। इसे वे टेन्डेन्सी, डायाथिसीस, ससेप्टिबिलिटी आदि नाम देते है। इनमें कुछ रोगो के विषय मे नवीनो का मत दिया जाता है :—

प्राइस ने राजयक्ष्मा के विषय में अपनी सहिता में लिखा है : राजयक्ष्मा के उपसर्ग (सक्रमण, छूत) के प्रति धातुओ की गम्यता (रोगोत्पत्ति की अधिक सभाव्यता) एक निश्चित सत्य है। राजयक्ष्मा की आदिवलप्रवृत्ति, यदि इसका अर्थ पुबीज या स्त्रीबीज द्वारा राजयक्ष्मा के जीवाणु का गर्भशरीर मे सक्रमण हो, तो यह शेष प्रश्न ही है। राजयक्ष्मा के सहज (जन्मजात) कुछ रोगी, जिनका आप्त-कृत वर्णन उपलब्ध है उनमें सक्रमण सम्भवत. रुग्ण (यक्ष्मी) अपरा से गर्भ के रस-रक्त में होता है[१]।

१—*Inheritance*—Inheritance of tissue susceptibility to infection by tuberculosis is a definite fact But inheritance of tuberculosis is problematical, if by this is meant the transmission of tubercle bacilli in spermatozoon or in the ovum. In the few cases of "Congenital tuberculosis" that have been authentically described, the transmission has probably been from a diseased placenta to the blood of the foetus Vide A Text-Book of the Practice of Medicine, by F W. Price (1950 edition), P 46

इसी पृष्ठ पर आगे कारणों की मीमांसा करते ये तन्त्रकार कहते हैं राजयक्ष्मा के हेतुओं में निश्चय से मुख्य इसके उपसर्ग के प्रति धातुओं की आदि बलप्रवृत्त (कुलज, वंशानुगत) गम्यता है, जिसका उल्लेख ऊपर किया है। गम्यता का यथार्थ स्वरूप विदित नहीं हुआ है तथापि इसका अस्तित्व चिकित्सा-शास्त्र के आधारभूत सिद्धान्तों में एक है[१]।

प्राइस ने अधिक विस्तार से इस विषय का उल्लेख करते पुन कहा है·

कुलप्रवृत्ति राजयक्ष्मा निश्चित ही कई कुलों में असाधारण प्रमाण में पाया जाता है। क्योंकि बीज द्वारा यक्ष्मा के जीवाणुओं का गर्भ में साक्षात् संक्रमण असभवप्राय है, अत दो संप्राप्तियाँ इस विषय में सम्भव प्रतीत होती हैं। (१) यक्ष्मी वंश में उत्पन्न हुए बच्चों में राजयक्ष्मा के प्रति अपेक्षया अधिक गम्यता (आक्रमण की पात्रता) या न्यून क्षमता होती है। इसे यक्ष्मा की प्रवृत्ति कहते हैं, अथवा (२) जीवन के आदि काल में वे यक्ष्मी माता-पिता के संसर्गवश प्रभूत मात्रा में संक्रमण के पात्र होते हैं[२]।

विद्वान् लेखक ने आगे साध्यासाध्यता के प्रकरण में आरम्भ में ही कुलप्रवृत्ति का विषय लिया है और कहा है. कुल में यक्ष्मा का इतिहास सविशेष हो तो प्राय रोग असाध्य होता है, यद्यपि इसके अपवाद भी देखे जाते हैं[३]।

ऊपर आयुर्वेदीय तन्त्रकारों तथा भगवान् मनु ने यक्ष्मा की कुलज प्रवृत्ति का उल्लेख कर यक्ष्मी कुलों में विवाह का जो निषेध किया है वह आधुनिकों के प्रत्यक्ष से सवाद रखता है, यह उक्त वचन से सिद्ध है। इसी की पुष्टि के लिए प्राइस का

१—Among *other aetiological factors* the chief is undoubtedly the *inherited tissue susceptibility* to infection already referred to The exact nature of this susceptibility is not known but its existence is one of the cardinal facts of clinical medicine Vide ibid, P 46

२—*Heredity*—Pulmonary tuberculosis certainly occurs with undue frequency in certain families Since the direct transmission of the tubercle becillus to the infant is extremely rare, two explanations seem possible—(1) Children born of tuberculous stock may inherit an increased susceptibility or diminished resistance, the tuberculous diathesis, or (2) they may contract tuberculosis on account of their exposure to massive infection in early life Vide ibid, P 1249

३—A marked family incidence generally suggests an unfavourable course, though this rule is not invariable Vide ibid, P 1267

साध्यासाध्यता के ही प्रकरण मे आया यह वचन भी देखिए जिनमें यक्ष्मा की वृद्धि स्थगित हो गई हो ऐसे आतुरो में विशेषतया स्त्रियो में, विवाह के कारण प्राय. स्वास्थ्य गिर जाता है एवं यक्ष्माक्रान्त स्थलो मे अधिकतर वेग से रोग के प्रसर को अवकाश मिलता है[1]।

गर्भस्थिति का यक्ष्मा पर प्रभाव—

कई स्त्रियो मे कदाचित् विवाह और उसके परिणामस्वरूप हुई गर्भस्थिति के पश्चात् यक्ष्मा शान्त हुआ भी पाया जाता है। अतएव बहुत से चिकित्सको की यह मान्यता हो गयी जानी जाती है कि . यक्ष्मी स्त्रियो का विवाह न हुआ हो, तो विवाह करा देना और विवाह हुआ हो, तो गर्भस्थिति करा देना श्रेयस्कर होता है। ऐसी रुग्णाओ में आत्यन्तिक (हमेशा के लिए) रोग-निवृत्ति हुई हो, तो इसके कारण की मीमासा नव्य-मत से यो की जा सकती है। राजयक्ष्मा के शस्त्रोपचारो का मुख्य लक्ष्य फुप्फुस के यक्ष्माक्रान्त प्रदेश पर बाहर की ओर से दबाव डालना होता है। इस दबाव का पहला परिणाम यह होता है कि, रुग्ण प्रदेश पर दबाव पड़ने से तदन्तर्गत जीवाणु, पूय आदि क्लिन्न द्रव्य श्वास-पथ द्वारा बाहर निकल जाते हैं। इस प्रकार उनको विकृति उत्पन्न करने का अवकाश उपलब्ध नही होता। दूसरा परिणाम इस पीडन का यह होता है कि, श्वसन (श्वासक्रिया) में फुप्फुस में जितना पीडन (प्रेशर) होता है उसकी अपेक्षया यह कृत्रिम दबाव अधिक होने से पीडित प्रदेश श्वसन-क्रिया में सकुचित-विकसित नहीं होने पाता, किन्तु विश्रान्त (विश्राम की अवस्था में स्थित) रहता है। रुग्ण अवयव या शरीर के पुन. नीरोग होने के लिए, विशेषतया व्रणित अवयव के आरोग्य के लिए विश्राम आवश्यक है, यह सुविदित है। अस्थिभग्न (फ्रेक्चर), शाखाओ में हुए व्रण (जैसे हाथ में हुए व्रण में गोफणाबन्ध द्वारा हाथ को विश्रान्ति देना) आदि मे विश्राम का उपयोग सर्वजन-प्रत्यक्ष है। यक्ष्मा में व्रणित या या क्षत फुप्फुस-प्रदेश को विश्राम देने के लिए शस्त्रोपचार किया जाता है। उसका महत्त्व इससे समझा जा सकता है। व्रणित, भग्न, क्षत आदि स्थानो को विश्राम दिया जाय, तो रोपण में भाग लेने वाले तत्त्वो को अपनी क्रिया करने में सुगमता होती है।

राजयक्ष्मा के शस्त्रोपचारो मे एक में उदरधराकला (पेरीटोनिअम) में वायु-पूरण है। इसे न्यूमोपेरीटोनिअम या सक्षेप मे पी० पी० कहा जाता है। उदर

१—Marriage often leads to a break-down in arrested cases, especially in women, and induces more rapid spread of active lesion Vide, ibid P 1267.

से फु...न यह वायु श्वासपटल (डायाफ्राम) पर दबाव डालता है। श्वासपटल फुप्फुसो को पीडित करता है। यह पीडन पर्याप्त हो, तो श्वास-क्रिया में होनेवाला सकोच-विकास नही होता, और रुग्ण प्रदेश को विश्राम मिलता है, जिससे उसके रोपण का कार्य सुस्थित होता है। इस पी० पी० से हुए पीडन का जो प्रभाव यक्ष्माक्रान्त प्रदेश पर होता है ठीक वही प्रभाव गर्भ और गर्भाशय के कारण हुए पीडन का होता है। परिणामतया, सगर्भावस्था मे रुग्णा को कुछ स्वास्थ्य-लाभ सा होता है। क्षत या व्रण यदि स्वल्प हो, तो नवमासिक विश्राम में उसका पूर्ण रोपण कदाचित् हो जाए तो रुग्णा को आत्यन्तिक लाभ होता है। परन्तु, प्राय. रुग्णाओ में व्रण या क्षत प्रदेश व्यापी होने से प्रसव के के पश्चात् पीडन सहसा लुप्त हो जाने से बडे वेग से रोग की वृद्धि होने लगती है। सगर्भावस्था में गर्भ के पोषण मे एव प्रसव के अनन्तर स्तन्यपान में रुग्णा के धातुओ का उपयोग होने से उसके धातु क्षीण होने से क्षमता (रोग-प्रतीकार-शक्ति) का ह्रास होने के कारण रोग में भूयसी वृद्धि होती है। अतएव, नवीनो मे एक कहावत इस आशय की प्रवृत्त है कि, रुग्णा यदि कुमारी हो, तो उसे विवाहित न होने दो, विवाहित हो, तो व्यवाय न करने दो, व्यवाय हो, तो गर्भ-स्थिति न होने दो, गर्भस्थिति हुई तो उसे समाप्त कर दो, गर्भ पूर्णमासिक अवतीर्ण हुआ हो, तो उसे स्तन्यपान न करने दो। तात्पर्य, चिकित्सक के पास रुग्णा इनमे किसी भी दशा में आ सकती है, और उसे अगली अवस्था मे पहुँचने न देना रुग्णा के उपचार की सफलता के लिए आवश्यक है। आयुर्वेद में यक्ष्मा के चार कारणो में एक धातु-क्षय को बताया है। उसीकी यह प्रकार-विशेष से व्याख्या है।

कदाचित् विवाह, व्यवाय आदि से राजयक्ष्मी स्त्री-पुरुष के कादाचित्क स्वास्थ्य का हेतु यह भी हो सकता है कि, परस्पर प्रेमालाप, नियमित उत्तम आहार, व्यवाय-जनित मानस सुख आदि के परिणाम-स्वरूप जो सुखपूर्ण मनःस्थिति होती है उससे भी आरोग्य-लाभ मे सहायता मिलती हो। राजयक्ष्मा के निदान-चिकित्सा प्रकरण में हम देखेंगे कि प्राचीन-नवीन उभय मत से सतुष्ट मन स्थिति का अनुकूल परिणाम रोग पर होता है।

अस्तु। प्राइस का मत देख कर अब हम वैसे ही एक प्रामाणिक तन्त्रकार बोमॉण्ट का मत यक्ष्मा की कुलज प्रवृत्ति के विषय में देखते है।

कुल-प्रवृत्ति---राजयक्ष्मा निर्विवाद वशो में पाया जाता है। कई विरल दृष्टान्तो में बच्चे जन्म से ही यक्ष्मी होते है[१]।

१—*Heredity*—The disease undoubtedly occurs in families, and in some rare instances infants may be born with tuberculosis Vide Medicine by Beaumont (1953) P 155.

यक्ष्मा पर दाम्पत्य का प्रभाव दर्शाते बोसॉण्ट ने लिखा है--दाम्पत्यजनित संक्रमण एक अत्यन्त सत्य खतरा है। अब तक इसका महत्त्व पूरा आँका नही नही गया था[1]।

हृदय तथा रसरक्तवह स्रोतो के अनेक विकार, जिनमें कई को आज सामान्य जनता भी जान गयी है, आधुनिको ने आदिबलप्रवृत्त माने हैं।

धमनी-प्रतिचय की आदिवलप्रवृत्ति—

कफ-नानात्मज बीस विकारो मे चरक ने धमनी प्रति (वि) चय नामक एक रोग की गणना की है। टीकाकार ने इसका पर्याय धमनी-उपलेप दिया है। उपलेप का अर्थ स्रोतो में मलो का सचय प्रसिद्ध है। रोग कफज होने से इस सज्ञा का वाच्यार्थ यह होना चाहिए कि जिस रोग मे धमनियो मे--धमनियो के मण्डलो में[2]--कफवर्गीय शरीर-पोषक द्रव्य का सचय हो जाए उसे धमनी-प्रति (वि) चय कहा जाता है। कफ शब्द का अर्थ है रस-धात्वन्तर्गत वह द्रव्य जिसका धात्वग्नियो की मन्दता आदि कारणो से धातुओ ने अपने पोषणादि कार्यों में उपयोग न किया हो। यह द्रव्य कभी मूत्रादि मार्गो से बाहर भी निकल सकता है, कभी श्लेष्मधरा कला आदि में अति सचित हो कर शोथ आदि लक्षण भी उत्पन्न कर सकता है। आधुनिको ने कुछ रोग बताए हैं, जिनको धमनी-प्रतिचय कह सकते है।

एक रोग जिसको धमनी प्रति (वि) चय कहा जा सकता है वह है--डिफ्यूज हाइपरप्लास्टिक स्क्लेरोसिस। पहले इसके पदो का शाब्दिक अर्थ देख ले। स्क्लेरोसिस का अर्थ है किसी भी अवयव का किसी भी कारण से हुआ काठिन्य। नेत्रबुद्‌बुद के श्वेत कठिन मण्डल का अंग्रेजी में नाम इसी अर्थ के कारण 'स्क्लेरा' है। अब हाइपरप्लास्टिक का अर्थ देखें। किसी अवयव का स्थायी उत्सेध (वृद्धि) जिसमे उसके परमाणुओ--कोषो--की वृद्धि होती है, परिणामतया समग्र अवयव का परिमाण बढ जाता है, उसके दो भेद आधुनिको ने किए हैं।

१--Conjugal infection is a very real danger, which has been under-estimated in the past Vide, ibid, P 155

२--नेत्रबुद्बुद (नेत्रगोलक) के रचनाशरीर में सुश्रुत ने उसके पाँच मण्डल और कुछ पटल बताए है। इनमे मण्डल आधुनिको के विभिन्न कोट्स है तथा पटल प्रकाश की किरणो को गुजरने देनेवाले माध्यम। यहाँ कोट के लिए आए मण्डल शब्द को धमनी, सिरा, महास्रोत आदि अन्य अवयवो के घटक कोट्स के लिये भी व्यवहार मे लाना चाहिये। प्राय लेखक कोट्स के लिए स्तर आदि सज्ञाओ का उपयोग करते हैं।

एक, जिसमे अवयव के परमाणुओ की सख्या में वृद्धि हो जाती हे तथा द्वितीय जिसमे परमाणुओ के परिणाह (विस्तार) में वृद्धि होती हे, संख्या में नहीं। दोनो का परिणाम एक ही होता हे--समग्र अवयव की प्रमाण-वृद्धि। पहले भेद को हाइपरप्लाजिया कहते हे तथा दूसरे को हाइपरट्रॉफी। पाक (इन्फ्लेमेशन) में होनेवाला उत्सेध जो अस्थायी होता है, वह इन दोनो से भिन्न है। हाइपर-प्लाजिया के कारण काठिन्य होने से उसे हाइपरप्लास्टिक कहते हैं। डिफ्यूज का अर्थ है व्यापक। यह रोग वहुत व्याप्त होता हे, वहुधा समस्त धमनी-सस्थान मे हुआ पाया जाता है, अत. इसे डिफ्यूज यह विशेषण दिया गया है।

यह विकार छोटी धमनियो, धमनिकाओ (आर्टीरिओल्स) तथा मध्यम प्रमाण की धमनियो में होता है। छोटी धमनिओ और धमनिकाओ के आभ्यन्तर मण्डल (इण्टिमा) में हाइपरप्लाजिया होता हे; एव प्रकोष्ठीया धमनी (रेडियल आर्टरी) आदि मध्यम-प्रमाण की धमनियो के मध्यमण्डल (मीडिया) की हाइपरट्रॉफी होती है। आगे धमनिकाओ के मण्डलो में स्नैहिक वैरूप्य (फैटी डीजेनेरेशन) भी हो जाता है। कभी-कभी एथीरोमा भी साथ ही होता हे। इन रोगो का वर्णन अनुपद (ठीक पीछे) करेंगे।

इन विक्रियाओ का परिणाम यह होता हे कि धमनियाँ स्थूल और स्पर्श में कठिन हो जाती हैं। उनका अन्तर्गत विवर (ल्यूमेन) न्यूनाधिक अवरुद्ध हो जाता है। इस अवरोध या आवरण के कारण व्यान वायु का प्रकोप होता है। प्रकुपित हुआ व्यान वायु हृदय और धमनी-सस्थान के सकोच-विकासकालिक दबाव को बढा देता है--उच्च रक्तदाब को उत्पन्न करता है। शेष परिणामो के लिए मूल ग्रन्थ देखने चाहिए।

इस रोग के विषय में प्राइस ने अपनी सहिता में कहा है· 'कुलक्रमागत शरीर-प्रकृति का इस रोग मे महत्त्व है। कारण, कई रोगियो में इस रोग की सारे वश में अति व्याप्ति देखी जाती है[१]।' आयुर्वेद में शारीर और मानस प्रकृति को कुलज माना है। विचार कर देखना चाहिए कि किस दोष की प्रकृति में यह रोग होना आयुर्वेद-मत से सम्भव है।

फैटी डीजेनेरेशनमें धमनियो के मण्डलान्तर्गत मास-सूत्र लुप्त हो जाते है तथा उनके स्थान पर पहले स्नेहो का सचय होता है,[२] पश्चात् रोपण की क्रिया होकर

१—The inherited constitution is of great importance as shown by the high familial incidence in certain cases Page 1111

२—किसी भी स्थान मे स्नेहो का इस प्रकार सचय होना भी कुल-प्रवृत्ति-जन्य होता है। प्राइस कहता है Heredity is a factor (P 1024)।→

इन स्नेहों के स्थान पर सौत्र धातु (फाइब्रस टिश्यु) आ जाता है। परिणामतया, धमनियाँ दुर्बल और भंगुर हो जाती हैं। यह विकार प्रायः सभी धमनियो मे होता है। यह रोग उच्च रक्तदाब तथा उल्लिखित डिफ्यूज हायपरप्लास्टिक स्क्लेरोसिस का परिणाम होता है। अति पाण्डु आदि अन्य भी कारण होते हैं।

एथीरोमा या एथीरोस्क्लेरोसिस धमनियो के आभ्यन्तर मण्डल का रचनात्मक विकार है। इसमें इस मण्डल में मूल धातु विध्वस्त होकर उसके स्थान पर प्रथम स्नेहो का सचय होता है, पश्चात् चूने के लवण सचित हो जाते हैं। चूने का जमाव कभी-कभी इतना होता है कि प्रत्यक्ष पट्टी (प्लेक) आदि के रूप में देखा जा सकता है। इसी से मिलते-जुलते दो विकार हैं, जिनमे क्रमश आभ्यन्तर मण्डल में सौत्र धातु का तथा हायेलीन नामक द्रव्य का स्थान-सश्रय मूल धातु के स्थान पर हो जाता है। एथीरोमा विशेषतया बडी, स्थितिस्थापक और मासप्रचुर धमनियो में होता है। महाधमनी में प्राय. अधिकतम दृष्टिगोचर होता है। हृदय और मस्तिष्क की धमनियो पर इसका प्रभाव सर्वोपरि स्मरणीय होता है।

धमनियो की स्थितिस्थापकता नष्ट होने से तथा उनमे भगुरता आदि उत्पन्न हो जाने से पूर्वोक्त प्रकार से रक्तदाब की अधिकता, रक्तस्राव, पक्षाघात आदि विकार होते हैं। मस्तिष्क के स्रोतो में क्षत और रक्त का स्कन्दन या स्राव होने से पक्षाघात आदि परिणाम होते हैं। हृदय के रसरक्तवह स्रोत (कॉरोनरी आर्टरीज) इस रोग से आक्रान्त होने से हृद्ग्रह (एन्जाइना पेक्टोरिस), हृद्गतिस्तम्भ, सहसा मृत्यु आदि होते हैं।

यह रोग परिहाणि (क्षीयमाण) अवस्था का है। रस-रक्तवह स्रोतो (धमनियो) में स्थिति-स्थापकता न्यून होने से वे यथायोग्य प्रमाण मे शरीरावयवो में रस-रक्त पहुँचा नहीं पाते। परिणामतया वे क्रमश क्षीण और वृद्ध होते जाते हैं। अत अग्रेजी में कहावत है कि ' पुरुष का वय उतना ही होता है जितना उसकी धमनियो का[१]।

इस रोग का आर्टीरिओस्क्लेरोसिस नाम भी प्रसिद्ध है। पहले इस दशा को ही रक्तदाब की वृद्धि का कारण समझा जाता था। अब यह मत हुआ है कि जिन रोगो का इस प्रकरण मे निर्देश किया गया है उन तथा अन्य कुछ रोगो के

←हृदयधरा कला आदि जिन स्थलो मे सामान्यतया मेद होता है उसमे मेद का आधिक्य होना (फैटी इन्फिल्ट्रेशन) भी कुलज रोग है। वही लेखक इस रोग के प्रकरण मे लिखते हैं Heredity is certainly a factor (P. 1026)

१—A man is only as old as his arteries.

परिणामस्वरूप रक्तदाब होता है एव उनके सिवाय भी रक्तदाब होता है। पहले को परतन्त्र (सेकण्डरी) तथा दूसरे को स्वतन्त्र (एसेन्शल या प्राइमरी) कहते है। द्वितीय प्रकार में किसी अज्ञात कारण से परिसरीय धमनियो तथा धमनिकाओ में स्तम्भ हो जाता है। परिणामतया, रस-रक्तवह अवयवो की क्रिया में अवरोध होने से हृदय आदि अपनी क्रिया विशेष बल-पूर्वक करते है। यही अधिक प्रयुक्त बल रक्तदाबमापक यन्त्र में पारद को ऊँचा चढाकर उच्च रक्तदाब की सूचना देता है। आयुर्वेद मत से परिसरीय स्तम्भ का कारण वायु समझकर तदनुरूप शोधक-शामक उपचार करने चाहिए।

परिणाम मे होनेवाले खरत्व, पक्षाघात आदि को देखते यह विकार (एथीरोमा) आयुर्वेद-मत से वातप्रकृति पुरुषो में सभावित है। प्रकृति कुलज होने से यह विकार भी कुलज होना सिद्ध है। अतएव प्रकृति देखकर इस रोग की अनुत्पत्ति के लिए आयुर्वेदोक्त स्वस्थवृत्त के पालन की उपयोगिता भी स्वत सिद्ध है। इस रोग को लक्ष्य में रखकर प्राइस ने कहा है 'धमनियो का घटक धातु जो कुलक्रम से मिला है वही हीन कोटि का होना सम्भव है। कई घरानो मे घर के सभी पुरुषो में अमुक वय आने पर इस रोग के प्रादुर्भाव के चिह्न प्रायः देखे जाते है। इस वस्तु को दृष्टि मे रखते आदिबलप्रवृत्ति का इस रोग में प्रभाव स्पष्ट है[१]।'

इस रोग के अन्य भी कारणादि तन्त्रकारो ने बताए है। उनका विवरण मूल ग्रन्थो में देखना चाहिए।

तन्त्रकार ने यहाँ धमनियो का घटक धातु माता-पिता से ही हीन कक्षा का प्राप्त होने का उल्लेख किया है। इस प्रत्यक्षाश्रित तर्क से मेरी धारणा है, अर्श, जो कुलज या आदिबलप्रवृत्त होता है, उसमें भी कारण सिराओ के घटक मासमय मण्डल की कुलक्रमागत दुर्बलता ही होना सम्भव है। जैसा कि, पहले कहा है, माता-पिता का जो अहिताहार-विहार उनमें अर्श आदि रोगो को उत्पन्न करता है वही बच्चो को भी सस्कारवश प्राप्त होने से भी उनमे माता-पिता के सदृश ही रोग होने की सभावना होती है।

इसी रोग से मिलता-जुलता एक रोग (मॉन्क्बर्ग्स मीडिअल स्क्लेरोसिस) होता है। इसमें मासपेशीगामी बडी धमनियो के मध्यमण्डल में वार्धक्यवश

१—The quality of the arterial tissue that has been inherited may be poor, and a tendency to the development of atheroma at about the same age is often seen in all the members of certain families, thus showing "the influence of heredity in the production of the condition P 1113

स्थितिस्थापक तथा मासमय धातु के स्थान पर चूने के लवणो का सचय हो जाता है। और्वी (फीमोरल) धमनियो मे यह सविशेष देखा जाता है। नीचे के भाग में पोषण अटक जाने से उसमे कर्दम-विसर्प (गेंग्रीन) हो जाता हे तथा अङ्ग-च्छेद आवश्यक हो जाता है।

स्वतन्त्र उच्च रक्तदाब का निर्देश ऊपर किया है। यह भी नव्य मत से कुलज विकार है। प्राइस ने लिखा है: कतिपय रोगियो के कुलो में वडी सख्या में इस रोग से पीडित व्यक्ति देखे जाते है, जिससे व्यक्त है कि कुलक्रमागत शारीर-मानस प्रकृति का इसके निदान में महत्वपूर्ण भाग है[१]।

आयुर्वेद-मत से इस रोग की सम्प्राप्ति ऊपर दी है। उससे ज्ञात होगा कि, वात-प्रकृति पिता-माता आदि से अपत्य में सक्रान्त होने से उस प्रकृति के पुरुषो में ही इतर वातज रोगो के सदृश यह रोग भी होने की सभावना होती है।

हृद्रोगो की आदिवलप्रवृत्ति--

उल्लिखित रोगो के परिणाम रूप में एव अन्य कारणो से भी हृदय के दो प्रसिद्ध रोग हृद्ग्रह[२] (एन्जाइना पेक्टोरिस) एव हृच्छूल[२] (कॉरोनरी थ्राम्बोसिस) होते है। इनमें हृद्ग्रह के विषय मे प्राइस ने लिखा है 'मेरे मत में आदिबलप्रवृत्ति एक निश्चित कारण है। इस बात की सिद्धि मे एक हेतु यह है कि हृदय और रस-रक्तवह स्रोतो के अपध्वसात्मक रोग (डिजेनेरेटिव चेन्जिज) कुछ वंशो में विशेष प्रमाण में होते है[3]।' आगे साध्यासाध्यता के प्रकरण मे भी लेखक ने आदिबलप्रवृत्ति को स्मरण किया है।

१—An inherited constitution is an important factor, as revealed by the high familial incidence in certain cases Vide, Medicine by Price P 1139

२-२—एन्जाइना पेक्टोरिस मे भी शूल होता है, परन्तु विशेष लक्षण तो ग्रह (छाती को किसी ने जकड रखा हो ऐसी प्रतीति, सेन्सेशन ऑफ ऑप्रेशन और कान्स्ट्रिक्शन) होता है। कभी-कभी वेदना विना भी केवल यही लक्षण होता है। दूसरी ओर, कॉरोनरी थ्राम्बोसिस मे शूल मुख्य और नियत चिह्न होता है। जकडाहट होती है, परन्तु कदाचित् ही। अत एन्जाइना पेक्टोरिस के लिए आयुर्वेद का हृद्ग्रह और कॉरोनरी थ्रॉम्बोसिस (कॉरोनरी ऑक्लूजन) के लिए हृच्छूल मानना उपयुक्त समझा है।

३—Heredity is, in my opinion, certainly a factor, one of the reasons for this being that cardio-vascular degenerative changes are more prone to occur in certain families P 1045

हृच्छूल के आधे से अधिक रोगियो में हृद्ग्रह का इतिहास होता है। अन्य कारणो में उच्च रक्तदाब आदि की गणना है। इन बातो को लक्ष्य में रखते कह सकते है कि हृच्छूल मे भी आदिबलप्रवृत्ति होती है। उभयमत से इन रोगो में कुलज प्रवृत्ति के निर्देश का आशय यह है कि . आयुर्वेद-मत से ग्रह और शूल वातप्रकोप के कर्म माने गये है। सो पूर्वजो में इन तथा पूर्वोक्त अन्य रोगो का इतिहास हो, पुरुष वातप्रकृति हो तो उसके स्वस्थवृत्त में ऐसी चर्या का समावेश चिकित्सक को पहले से ही करा देना चाहिए जिससे इन रोगो की उत्पत्ति ही न हो। हो तो मृदु हो और सहसा प्राणहरी न प्रमाणित हो। रोग का प्रादुर्भाव हो गया हो तो वात को, एव किसी दोष का अनुबन्ध हो तो उसे भी लक्ष्य में रखकर उपचार करना चाहिए।

इस प्रकरण को पूर्ण करने के पूर्व आयुर्वेद और पाश्चात्य पद्धति के संवाद (समन्वय) में उपयोगी अन्य एक तथ्य की ओर वाचको का चित्त आकृष्ट कर देना चाहता हूँ। आयुर्वेदोक्त प्रत्येक महाभूत, प्रत्येक दोष, दोषो का प्रत्येक भेद एव आयुर्वेदोक्त प्रत्येक रोग, ऐसा प्रतीत होता है नव्योक्त एक-एक वस्तु नही है। किन्तु समान स्वरूप आदि वाले अनेक-अनेक द्रव्यो के वर्ग है। यहाँ धमनीप्रतिचय नाम से कहे रोग का साम्य नव्योक्त अनेक रोगो से है, यह हमने ऊपर देखा है। इससे कल्पना होती है कि आयुर्वेदोक्त धमनी-प्रतिचय या धमनीविचय रोग नवीनोंके अनेक रोगोंका समुदाय है। इनका दोष-दूष्यादि क्रम से विचार कर आयुर्वेदीय अनुत्पत्तिकर तथा उत्पन्न होने पर चिकित्सात्मक उपचार निश्चित करने चाहिए। भेदो के नाम सचित द्रव्य के अनुसार मेदोविचय (फैटी डिजेनेरेशन) आदि घड लेने चाहिए। अस्तु।

परस्पर सम्बद्ध इन हृदय-विकारो का विचार समाप्त कर अब हम नवीनोक्त अन्य कुलज रोगो का विचार करते है।

आयुर्वेद की दृष्टि से जिसे वात-प्रकृतिजन्य विकार कह सकते है ऐसा एक रोग नवीनोक्त 'एन्जीओन्यूरॉटिक एडीमा' है। इसमें केशिकाओ से रस के निर्गलन (पर्मिएबिलिटी छनना) का कार्य अधिक हो जाता है। परिणामतया, त्वचा में और उसके नीचे स्थान-स्थान पर वर्तुल उत्सेध (शोथ) हो जाता है। इसके निदान के विषय में प्राइस आरम्भ में ही लिखता है कुलज प्रवृत्ति एक स्मरणीय वस्तु है। ऑस्लर ने एक वश का विवरण दिया है, जिसमे पॉच पीढियो से यह रोग चला आया था, और बाईस व्यक्ति इससे पीडित हुए थे। रुग्ण व्यक्ति प्राय अस्थिर (नर्वस) प्रकृति के होते है[1]।

१—Heredity is an important factor Osler reported the case of a family in which five generations had been affected,→

आधुनिक चिकित्सा-शास्त्र मे नाडी-सस्थान के अन्य कतिपय कुलज रोगो का उल्लेख किया गया है। जैसे, एक रोग मे वय उपस्थित होने पर सुषुम्णा-काण्ड का अपध्वस (डिजेनेरेशन) होने लगता है, दूसरे में धम्मिल्लक (सेरीबेल्लम) की क्षीणता होने लगती है। अन्य रोगो में अन्य अवयवो में इसी प्रकार विकृति होती है। सब में पक्षवध आदि नाना परिणाम होते है।

आधुनिक विज्ञान मे प्रकृति का विचार—

इस प्रकरण के आरम्भ में हमने कहा है कि आयुर्वेद-मत से रोग के अनुकूल दोप-प्रकृति ही माता-पिता से अपत्य-शरीर को प्राप्त होती है। दोषारब्ध प्रकृतियो के लक्षणो पर दृष्टिपात करे तो विदित होगा कि प्रत्येक प्रकृति मे अमुक निश्चित प्रकार के शारीर-मानस लक्षण होते है। पर्सनेलिटी नाम से आधुनिको ने इनका उल्लेख किया है। प्रकृति-जनक दोप से उत्पादित शारीर-मानस लक्षणो के निरूपण के अतिरिक्त रचना-शारीर के प्रकरणो में ही आयुर्वेद के आचार्यों ने रस-रक्तादि धातुओ एव मन की सारासारता का भी विचार किया है। इनके अगणित भेद है, यह लिख कर विद्यार्थियो के मार्ग-दर्शनार्थ प्रत्येक मानसकाय (मानसी प्रकृति) के कुछ-कुछ भेदो के लक्षण आचार्यो ने दिये है। प्रकृति, धातुसारता एव मन की सारासारता इन सबके उल्लेख में आचार्यो का मनोगत आशय यही है कि, प्रत्येक शारीर-मानस प्रकृति अमुकामुक रोगो की सभावना दर्शानेवाली होती है। अत. आहार, विहार, परिस्थिति आदि का चुनाव ऐसा होना चाहिए कि सभावित रोग उत्पन्न न होने पाएँ। उत्पन्न ही हो जाएँ तो उनका बल अल्प हो।

मन की असारता मानस-रोगो का प्रथम हेतु—

आयुर्वेदीय पदार्थ-विज्ञान में प्रत्येक दोष के प्रत्येक भेद तथा प्रत्येक धातु की सारासारता का मन पर प्रभाव मैंने दिखाया है। दिग्दर्शनार्थ यहाँ एक-दो उदाहरण देता हूँ —

उन्मादाधिकार मे उन्माद के कारणो का निरूपण कर अत्रिपुत्र लिखते है :—

> तैरल्पसत्त्वस्य मलाः प्रदुष्टा
> बुद्धेर्निवासं हृदयं प्रदूष्य।
> स्रोतास्यधिष्टाय मनोवहानि
> प्रमोहयन्त्याशु नरस्य चेतः॥ च० चि० ९।५

←involving 22 members ××× Those attacked are usually of a nervous disposition Vide, Medicine by Price, P 1146

इसका आशय यह है कि, दोष भले प्रदुष्ट हो जाएँ परन्तु मन पर उनकी क्रिया होकर अन्त में बुद्धि, हृदय और मनोवह स्रोतो की दुष्टि और उनमें दोषो का स्थानसश्रय होकर मन उन्माद के लक्षणो से ग्रस्त हो इसके लिए एक बडी शर्त्त है और वह यह कि, पुरुष अल्पसत्त्व होना चाहिए––उसमें सत्त्वगुण के लक्षण न्यून होने चाहिए , तभी दुष्ट दोषो का प्रभाव उस पर होता है। जो पुरुष सत्त्ववान् होते है वे सर्व प्रकार से सकटो को अपने मनोवल के कारण आप ही सहते है। ऐसी व्यक्तियो के मन पर भय, शोक आदि को उत्पन्न करनेवाली परिस्थितियो का कोई प्रभाव नही होता––

सत्त्ववान् सहते सर्व, संस्तभ्यात्मानमात्मना। सु०सू० ३५।३८

इसके विपरीत तामस प्रकृति के पुरुष घडी-घडी भय, शोकादि मनोभावो के भोग होते रहते है––संनिहितभयशोकलोभमाना, (च० वि० ८।११६)। अत वे मद, उन्माद, अपतन्त्रक, अपस्मार-प्रभृति विभिन्न मानस रोगो के सहज ही में ग्रास हो जाते है।

धातुओ की दृष्टि से मानस रोगो का विचार करते हुए सर्वोपरि स्मरणीय शुक्रधातु है। धन्वन्तरि ने शुक्र का पहला ही गुण धैर्य बताया है। डल्हन ने धैर्य का अर्थ बताया है शौर्य, और कहा है कि क्लीब पुरुष शुक्र की क्षीणता के कारण ही अधीर होते है। विशेषतया शुक्र की उपचिति के कारण ही सर्वसार व्यक्तियो के लक्षणो में एक लक्षण यह भी है कि वे सर्व कार्यो मे आत्म-विश्वास-सम्पन्न––सर्वारम्भेष्वात्मनि जातप्रत्यया: (च० नि० ८।१११) होते है। मैं समझता हूँ आधुनिक मनोविज्ञान में सुपीरिऑरिटी कॉम्प्लेक्स के जो लक्षण कहे है उनका कारण शुक्रसारता तथा इन्फीरिऑरिटी कॉप्लेक्स का कारण हीनशुक्रता ही है।

शुक्रसारता––मन के सार मे प्रमुख हेतु––

शुक्र (वृषणग्रन्थियो का बहि स्राव तथा अपरओज या वृषणग्रन्थियो का अन्त स्राव) के इस महत्त्व की प्रतीति अव आधुनिक वैज्ञानिको को भी होने लगी है, इस विषय का एक वचन प्रस्तुत करता हूँ।

सर्जरी मे नोवल-पुरस्कार पानेवाले डॉ० एलेक्सिस केरल अपने युगान्तर-कारी ग्रन्थ 'अज्ञात मानव' (मैन ध अननोन) में लिखते है––

'अन्य सभी ग्रन्थियो की अपेक्षया वृषणग्रन्थि मन की शक्ति और गुणो पर अधिक गहरा प्रभाव डालती है। सक्षेप मे, महान् कवि, कलाकार और सन्त, इतना ही नही विजेता भी, अत्यधिक कामुक होते है। प्रौढ स्त्री-पुरुषो मे भी वीज-ग्रन्थियो के आहरण से उनकी मानसिक स्थिति मे अमुक परिवर्तन हुए देखे

जाते है। स्त्रियाँ अन्त फलो के आहरण के पश्चात् तटस्थ वृत्ति की हो जाती है एव अपनी बौद्धिक कर्तृत्वशक्ति और आचार-विषयक भावना से अशत रहित हो जाती है। क्लैब्य-जनन (खस्सी) के अनन्तर पुरुषो के शारीर-मानस स्वरूप मे भी न्यूनाधिक लक्ष्य परिवर्तन होते है। Heloise के उत्कट प्रेम और वलिदान के होते हुए भी Abelard ने जो इतिहास-विदित भीरुता दर्शायी उसका मूल कदाचित् उसका निर्दय अङ्गच्छेद था। प्राय. सभी महान् कलाकार वडे 'प्रेमी' थे। उत्साह, प्रतीत होता है, बीजग्रन्थियो की विशिष्ट अवस्था पर अवलम्बित है। प्रेम अपने अभीष्ट को प्राप्त नही कर पाता तो मन को उद्दीप्त करता है। Beatrice यदि Dante की पत्नी हो जाती तो Divine Comedy कदाचित् लिखी न जाती। महान् रहस्यवादी प्राय. सॉलोमन के गीत के शब्दार्थो का उपयोग करते थे। सभव है, उनकी अतृप्त कामवासना उन्हें अधिक वेग से त्याग और पूर्ण वलिदान का मार्ग अपनाने के लिए प्रेरित करती होगी। श्रमजीवी की पत्नी अपने पति की याचना प्रतिदिन कर सकती है। परन्तु, किसी कलाकार या दार्शनिक की पत्नी को इतनी वार याचना करने का अधिकार नही है। यह सुविदित है कि काम का अतियोग वुद्धि के व्यापार में वाधक होता है। सभवत, वुद्धि को अपने उत्कर्ष की चरम सीमा तक पहुँचने के लिए सम्यक् परिपुष्ट वृषणग्रन्थियाँ तथा कामेच्छा का अल्प-कालिक निरोध दोनो की आवश्यकता होती है। जीवच्छरीर के व्यापारो में कामवेग के अत्यधिक महत्त्व पर भार देकर फ्रायड ने ठीक ही किया है। तथापि, उसका प्रत्यक्ष प्रधानतया रोगियो से सम्बन्ध रखता है। उसके निगमनो (निष्कर्षो) को व्यापक बनाकर स्वस्थ स्त्री-पुरुष पर भी उन्हे लागू न करना चाहिए। जिन्हे वलिष्ठ नाडी-सस्थान तथा अपने ऊपर प्रभुत्व (आत्म-सयम) प्राप्त हुआ है ऐसे व्यक्तियो पर लागू न करने का ध्यान तो विशेषतया रखना चाहिए। काम के वेगो का निरोध करने से दुर्बल, भीरु तथा चल-मानस स्त्री-पुरुष अधिकतर अस्वस्थ हो जाते है, यह सत्य है; परन्तु वलिष्ठ पुरुष इस प्रकार के सयत जीवन के अभ्यास से अधिक बली ही हो जाते है[१]।'

१—The testicle, more than any other gland, exerts a profound influence upon the strength and quality of the mind In general, great poets, artists, and saints, as well as conquerors are strongly sexed, the removal of the genital glands, even in adult individuals, produces some modifications of the mental state After exterpation of the ovaries, women become apathetic and lose part of their intellectual activity or moral sense The personality of men who have undergone castration→

शुक्र के संरक्षण की या अन्य शब्दों में ऊर्ध्वरेता होने के परिणामों की एक आधुनिक द्रष्टा द्वारा की गयी यह एक स्मरणीय व्याख्या है।

सत्त्व या मन का बलाबल प्रत्येक चेतनापुरुष (लिङ्ग शरीर) में भिन्न-भिन्न होता है। जन्म-जन्म के संस्कारवश उसमें न्यूनाधिकता होना स्वाभाविक है। सत्त्व या लिङ्ग शरीर को जिस प्रकृति या सार वाला शरीर मिला है, इस बात से सत्त्व के बलाबल में भिन्नता आना भी स्वाभाविक है। कारण, सत्त्व तो कर्ता है, उसे साधनभूत शरीर जैसा मिलता है उसके अनुसार उसका बलाबल भिन्न हो जाता है। यन्त्रवित् कैसा भी हो, यन्त्र का भी उत्तम होना आवश्यक है। मो. शुक्र की सारता मनोबल की वृद्धि करनेवाली होती है तथा असारता उसमें ह्रास उत्पन्न करती है। मन की पुष्टि आहार के अधीन है, यह उपनिषद्वचन है। आहार-शक्ति वातादि प्रकृतियों पर अवलम्बित है और यह प्रकृति माता-पिता

←is altered in more or less marked way. The historical cowardice of Abelard in face of the passionate love and sacrifice of Heloise was probably due to the brutal mutilation imposed upon him. Almost all great artists were great lovers. Inspiration seems to depend on a certain condition of the sexual glands. Love stimulates mind when it does not attain its object. If Beatrice had been the mistress of Dante, there would perhaps be no Divine Comedy. The great mystics often used the expressions of Solomon's song. It seems that their unassuaged sexual appetites urged them more forcibly along the path of renouncement and complete sacrifice. A workman's wife can request the services of her husband every day. But the wife of an artist or of a philosopher has not the right to do so often. It is well known that sexual excesses impede intellectual activity. In order to reach its full power intelligence seems to require both the presence of well-developed sexual glands and the temporary repression of the sexual appetite. Freud has rightly emphasized the capital importance of sexual impulses in the activities of consciousness. However his observations refer chiefly to sick people. His conclusions should not be genralised to include normal individuals especially those who are endowed with a strong nervous system and mastery over themselves. While the weak, the nervous, and the unbalanced became more abnormal when their sexual appetites are repressed, the strong are rendered still stronger by practising such a form of asceticism. Vide Man, the unknown (P 137–38)

की प्रकृति के अनुनार ही प्रायः होती है। इस प्रकार शरीर का स्वरूप मन को प्रभावित करता है। इसीलिए मन एव मानस रोगो के प्रसङ्ग में प्रकृति, सार आदि का विचार करना उपयुक्त हो जाता है। मन का भी प्रभाव इसी प्रकार शरीर पर पडता है। शरीर और मन एक दूसरे के अनुसारी—एक दूसरे से प्रभावित होनेवाले—होते हैं: शरीरं ह्यपि सत्त्वमनुविधीयते सत्त्वं च शरीरम्—च० शा० ४।३६।

मानसिक रोगों के कारणों के दो विभाग किये जा सकते है। प्रथम जिनमें कोई शारीर कारण होता है, जैसे नाडीसस्थान के किसी विभाग में हुआ अर्वुद, नाड़ीसस्थान या उसे रस-रक्त पहुँचानेवाले स्रोतो की फिरङ्गजन्य विकृति आदि। द्वितीय, जिनमें ऐसा कोई कारण (ऑर्गेनिक विक्रिया) नही होती। मानस-रोगियो की वहुत वडी सख्या इस द्वितीय वर्ग की ही होता है। इनमें मनोवल की न्यूनता, या अति उत्साह (एग्जाल्टेशन) आदि मानस प्रकृति-विशेष ही मनोरोगो का आदि हेतु हुआ करता है। शारीर रोगो के समान मानस रोगों की आदि-वल-प्रवृत्ति के सम्वन्ध मे भी स्थिति यही होती है कि: स्वयं रोग अपत्य में नहीं उतरता, किन्तु रोग के ग्रहण के अनुकूल विशिष्ट शारीर-मानस प्रकृति या स्वरूप ही पिता-माता आदि पूर्वजो से अपत्य शरीर में उतरता है[1]। इस प्रकार मानसरोगो की कुलज प्रवृत्ति एक नियत कारण होते हुए भी रोग जन्म से ही देखे नही जाते। अलवत्ता, उसकी झाँकी कभी-कभी स्वभाव-विशेष को परिचय देनेवाले लक्षणो के रूप में हो जाती है। जैसे श्लेष्मोन्माद (मेलन-कॉलिया) जिसे होना हो, वह पुरुष प्राय निश्चल, निश्चेष्ट बैठ रहने के स्वभाव वाला हो सकता है। यही स्थिति अन्य रोगों के विषय मे भी समझनी चाहिए।

किंवहुना, मानस रोगो के कारणो में नियततम एक कारण आदिवलप्रवृत्ति (हेरेडिटी) है। इसका तात्पर्य यह है कि: रोगो के प्रति रोगियो का जन्म से ही झुकाव (प्रवणता) हुआ करता है। परिस्थिति-विशेष (एनवायर्नमेण्ट) आने पर रोग की अभिव्यक्ति होती है। परिस्थितियो में आर्थिक संकट सहसा आ पड़ना आदि मानस कारणो एव पाण्डुरोग, तारुण्य (प्युवर्टी), रजोनिवृत्ति (क्लाइमेक्टरिक, मेनॉपॉज़) आदि शारीर कारणो की गणना है। इन्हे 'स्ट्रेस' (आयास) नाम दिया गया है। आदिबलप्रवृत्ति तथा परिस्थिति कैसे संयुक्त होकर मानसरोग को उत्पन्न करती हैं इसका उत्तम उदाहरण प्राइस ने दिया है। एक पुरुष के माता-पिता दोनो कफोन्माद (मेलनकॉलिया) से ग्रस्त थे।

१—The signs of a transmissible tendency to same mental disorder may not be actual illness, but only a special kind of personality. Medicine by Price, P 1882

पत्नी [illegible] किया। यह [illegible] (हिस्टी-रिया) हो गया। [illegible] पत्नी के पास जाता [illegible]।

आयुर्वेद-मत से उक्त उन्माद भी [illegible] उन्माद की अभिव्यक्त परिस्थितियों में विशेष [illegible] दोषों पर आरोप है।

अपतन्त्रक की [illegible]—

मानसरोगों में अपतन्त्रक (हिस्टीरिया) प्रसिद्ध है। [illegible] इसको एक ही [illegible] (रोग) में परिणित है। परन्तु आधुनिकों ने इसका प्रति विस्तृत वर्णन कर बताया है कि कोई भी शारीर या मानस विकार जिसके लक्षण-रूप का रोगी को परिज्ञान हो उससे रोगी पीड़ित हो सकता है। इस प्रकार उसमें पक्षाघात के लक्षण भी देखे जा सकते हैं। वास्तविक भी इन लक्षणों का मूल एक ही होता है कि रोगी अमुक मन की भावना में इन्हें अभिव्यक्त कर रहा होता है, यद्यपि उसे स्वयं इस भावना का ज्ञान नहीं होता। लक्षणों में एक विस्मरणशीलता भी होती है। रोगी को लगे कि अमुक वस्तु की स्मृति कष्टप्रद है तो वह उसे अज्ञानतया भुला देता है। ऐसा ही एक लक्षण असत्यशीलता है। इसे नवीनों ने 'सूडोलॉजिया फेन्टेस्टिका' का विशेष नाम दी है। उसे लगे कि अमुक प्रसंग पर सत्य बोलने से हानि और अथवा असत्य बोलने से लाभ है तो वह अज्ञानतया सत्य को छुपाता और असत्य बोलता है। कभी-कभी यह प्रवृत्ति अपराध की सीमा तक पहुँच जाती है। इस प्रकार वैकारिक असत्यशील पुरुषों का लेखा रखकर पता लगाया गया है कि, स्वस्थ पुरुषों के जितने स्वजन मानस-आरोग्यशालाओं में थे उनसे पाँचगुना अधिक इन असत्यशीलों के थे। एवं इनके पूर्वजों में छठा (छः में एक) मानस-रोगसे पीड़ित था। इससे इस रोग में कुछ कुलज प्रवृत्ति होने की सम्भावना की जाती है।

वातप्रकृति पुरुषों के लक्षण प्राय. इन 'हिस्टेरिक पर्सनेलिटी' के व्यक्तियों से मिलते है। वातप्रधान रोगो में भी इस वर्ग के रोगियो को होनेवाले रोगो की गणना प्राय आयुर्वेदकारो ने की है।

अपस्मार की आदिबलप्रवृत्ति—

प्रकरण के आरम्भ में आदिबलप्रवृत्त रोगो की श्रेणी में हमने अपस्मार का उल्लेख किया है। आधुनिक नवीनतम शोधो ने प्राचीनो के इस दर्शन का सुन्दर समर्थन किया है।

अपस्मार के अनेक प्रकार से भेद आधुनिको ने किये है। इनमे एक विभाजन में इस रोग के दो भेद किये गए है। एक, जिसमें मस्तिष्क के किसी प्रदेश मे कोई रचनात्मक विकृति हो जाती है, किवा रस-रक्त मे यूरिआ (यूरीमिआ) या गर्भावस्था-सहज विष (एक्लेम्सिआ) आदि विषद्रव्य प्रसृत हो जाते है। कारण का ज्ञान होने से इसे परतन्त्र (सिम्प्टोमेटिक) अपस्मार कहा जाता है। द्वितीय, भेद के कारण का स्पष्ट ज्ञान अबतक नही हो सका है। इसे स्वतन्त्र (एसेन्शल या ईडिऑपेथिक) अपस्मार नाम दिया गया है। इसीको केवल 'अपस्मार' (एपिलेप्सी) भी समझा और कहा जाता है।

अपस्मार के ये तथा अन्य प्रकार से किए विभाजनो के अनुसार जितने भी भेद है उन सबकी निर्भ्रान्त परीक्षा मस्तिष्क में स्वभावतः होनेवाली विद्युत्तरङ्गो में भिन्नता देखकर की जा सकती है। जिस यन्त्र से विद्युत्तरङ्गो का मापन किया जाता है उसे इलेक्ट्रो एन्केफेलोग्राम (सक्षेप—ई० ई० जी०) कहते है। नाडी-अणुओ मे क्रियामात्र के समकाल होनेवाली स्वाभाविक तरङ्गो तथा अपस्मार के वेग के समय होनेवाली तरङ्गो के स्वरूप-भेद का उल्लेख अपस्मार के अधिकार में करेंगे। यह भिन्नता वेग के समय हुई देखी जाती है। कई रोगियो में वेगान्तर मे भी तरङ्ग-भेद देखा जाता है, जिसका अर्थ यह है कि वेग अपगत होने पर भी वे अर्धवेगावस्था (सबक्लिनिकल एटेक) मे रहते हैं।

अपस्मार के उल्लिखित दोनो भेदो के विप्रकृष्ट (रीमोट) कारणो का विचार करते हुए प्रथम उल्लेखनीय मस्तिष्क की स्वरूप-विकृति है। इसके पश्चात् स्मरणीय कुलज प्रवृत्ति है। इस पर अब उतना ध्यान दिया नही जाता, तथापि यह सत्य निर्विवाद है कि : अपस्मारियो की अच्छी बडी सख्या की परीक्षा करते हुए किसी निकट के स्वजन को भी यह रोग होने का वृत्तान्त उपलब्ध होता है। इसके अतिरिक्त लेनॉक्स ने इन दिनो इलेक्ट्रो-एन्केफेलोग्राम से जो प्रत्यक्ष किया है उससे विदित हुआ है कि : अपस्मारियो के माता, पिता या दोनो के मस्तिष्क की विद्युत्तरङ्गो में प्राय. अत्यधिक अप्राकृतिक भिन्नता पायी जाती है। इसका अर्थ यह लगाया जा सकता है कि स्वय अपस्मार अपत्य-शरीर मे अवतीर्ण न होता हो तो भी मस्तिष्क-वल्क (कॉर्टेक्स) के अणुओ की क्रिया का किसी प्रकार का चाञ्चल्य उतरता होगा, जो अबतक अविदित अन्य कारणो के सहकार से अपस्मार को अभिव्यक्त करने में भाग लेता होगा[1]।

१—Of remote causes of the liability in addition to organic disease of the brain *heredity* is the most important While this factor is regarded much less seriously now than formerly, the fact remains that in a still considerable proportion of cases, a→

कुलज प्रवृत्ति के अतिरिक्त अपस्मार के अन्य सहकारी कारणो का विशद ज्ञान न होते हुए भी एक अद्भुत सत्य इसके विषय में जाना गया है। वह यह कि: वेग के समय अपस्मारी का रक्त निकाल उसकी लसीका (सीरम[1]) परीक्ष्य प्राणियो में प्रविष्ट की जाए तो उनमें भी अपस्मार के आक्षेप (झटके) होने लगते है। आवेगकाल में अपस्मारियो की लसीका का ऐसा प्रभाव देखा नही जाता। इसका आशय यह है कि: वेगकाल में वेग का कारणभूत कोई वैकारिक द्रव्य रोगियो के शरीर में उत्पन्न हो जाता है।

अपस्मार और अपतन्त्रक की कुलज प्रवृत्ति के विषय में एक और विलक्षण सत्य विदित हुआ है। यह ऊपर कहा ही है कि 'ये रोग तो नही, परन्तु इनके प्रति प्रवणता (झुकाव) पूर्वजो से अपत्य-शरीर में अवतीर्ण होती है। जाना गया है कि, पूर्वजो में अपस्मार या अपतन्त्रक ही रहे हो सो बात नहीं, किन्तु कतिपय रोगो का वर्ग है, जिनमें कोई भी पूर्वजो को होना सम्भव है। सतानो को भी इन मे से कोई भी रोग हो सकता है। इन रोगो में एक श्वास है।

श्वास की आदिवलप्रवृत्ति —

आयुर्वेद-मत से तो श्लैष्मिकादि प्रकृतियाँ मुख्यतया शुक्र-शोणित-प्रकृति के अनुसार वनती और अपत्य-शरीर में संक्रान्त होती है। इन के ज्ञान का मुख्य प्रयोजन यह बताया गया है कि: प्रकृत्यारम्भक दोष का प्रकोप अल्पमात्र कारण से होता है; परिणामतया तद्‌तुल्य रोग होने की सभावना उस प्रकृतिवाले

←—history of epilepsy in a near relative is obtained Moreover, recent electro-encephalographic observations by Lennox suggest that in the parents (one or both) of epileptic subject abnormally wide fluctuations in the rhythm of the brain potentials are unduly comman, and it may be that whole epilepsy as such is not inherited, some instability of cortical cell function may be inherited, which, in combination with other factors leads to the appearance of epilepsy under certain (as yet unknown) circumstances Vide, Medicine by Price, P. 1743.

१—लसीका शब्द का व्यवहार कई लेखक लिम्फ के लिए करते है। लिम्फ तथा उसके सदृश प्लाज्मा और टिश्यु-फ्लुइड के लिए आयुर्वेद मे रस शब्द का प्रयोग हुआ है। लसीका शब्द 'सीरम' का वाचक है। देखिए शरीरगत अब्धातु के विविध रूपो का उल्लेख करते अग्निवेश ने कहा है: **यत्तु त्वगन्तरे व्रणगत लसीका शब्द लभते**-च शा ७।१५। इससे लसीका शब्द का उक्त अर्थ होना सिद्ध है।

पुरुष में विशेष रहती है। इस प्रकार विकृति-जनक प्रकृति का ही अवतरण होने से प्रकृत्यारम्भक दोष से होनेवाला कोई भी रोग पूर्वजो को हो तो वही या अन्य कोई भी रोग संतान को होता है यह सिद्ध सत्य है। श्वास आदि रोगो की पारस्परिक कुलज प्रवृत्ति के आधुनिकोक्त विवरण का विचार करते हुए प्रकृति-विषयक इस सचाई को स्मरण रखना चाहिए। किंबहुना, रेकर्ड रखने की आधुनिक पद्धति की सहायता से इसे अधिक व्यापक रूप से अन्य प्रकृत्यारब्ध रोगो के वर्गो पर भी लागू कर गवेषणा करनी चाहिए।

श्वास की कुलजता के विषय मे आधुनिको के मत का सार यह है: श्वास निश्चित ही वंशानुगत रोग है। अन्य रोगो की अपेक्षया इसकी कुलप्रवृत्ति की प्रतिशतकता अधिक है। साक्षात् रोग नहीं उतरता, किन्तु असत्त्वसारता तथा तज्जन्य अस्थिरता संतति में उतरती है। पूर्वजो में किंवा कुल के अन्य स्त्री-पुरुषो मे नीचे लिखे रोगो में कोई दृष्टिगोचर होता है--श्वास, अपस्मार, अपतन्त्रक, अर्धभेद (मिग्रेन), नाडीसंस्थान की कार्यविकृति (न्यूरॉसिस), अथवा--शीतपित्त, पामा (अकौता, छाजन, गुजराती--खरजुआ, अग्रेजी--एग्जीमा), हे-फीवर इत्यादि एलर्जी (द्रव्यविशेष की असहिष्णुता से होनेवाले रोग)। कई विद्वान् एलर्जी की ही आदिबलप्रवृत्ति होना मानते है[१]।

रक्तस्राव तथा वर्णान्ध्य की आदिबलप्रवृत्ति--

रक्तस्राव की प्रवृत्ति के नवीनो द्वारा प्रत्यक्षीकृत कुछ प्रकार है जो कुलज है। इनमें एक हीमोफीलिआ है। इसकी कुलज प्रवृत्ति में एक विलक्षणता

१—*Heredity*—Asthma certainly runs in families The heredity is not always direct, the nervous instability sometimes being evidenced in other generations by migraine, epilepsy or hysteria The view that hypersensitiveness to certain proteins is inherited is now discredited, and it is believed that an unduly irritable bronchial centre is the factor transmitted by heredity Medicine, by Price (P 1207)

Heredity—In higher percentage attacks usually commence at early age, often in 'nervous' families, other members exhibiting epilepsy, migraine, neurosis, or, with allergic manifestations, urticaria, eczema, hay fever etc Vide, A synopsis of Medicine, by Sir Henry Tidy, 10th edition, Get 1954 (P. 690)

Asthma often runs in families, the allergic diathesis being inherited Medicine, by Beaumant, P 138

है कि यह कन्याओ द्वारा उतरता है अर्थात् रोगी पुरुष की कन्याओ की सततियों को ही होता है; परन्तु केवल पुरुष सतान इससे आक्रान्त होते हैं। स्वल्पमात्र कारण यथा खरोच, ब्रश मे दन्तवेष्ट घिस जाना आदि से भी रक्तस्राव होता है। रक्तस्राव अधिक नही परन्तु अविरत होता रहता है और साध्य नही होता। यह और अद्भुत बात है कि, जीवन के प्रथम वर्ष में यह रोग व्यक्त नहीं होता, अन्यथा नाभि-नाल से ही असाध्य रक्तस्रुति होकर शिशु की मृत्यु हो जाए।

यूरोप के कुछ राजवशो में इस रोग का प्रसार होने से इसे प्रमाण मे अधिक प्रसिद्धि मिल गयी है। इस कारण इसके सदृश ही लक्षणो वाले कतिपय रक्तस्राव-प्रधान रोगो को भी भूल से हीमोफीलिया समझ लिया जाता है। इनमें रोग वंशानुगत होता है, पर उसमें उल्लिखित विलक्षण आदिवलप्रवृत्ति का वृत्तान्त नही होता। यह उनकी भेदक परीक्षा है। क्षत मे होनेवाले रक्तस्राव को उचित समय में अटका देने के लिए जो प्राकृत विविध सामग्री होती है, उसी में किसी द्रव्य की आदिवलप्रवृत्त क्षीणता (न्यूनता) इसमें कारणभूत होती है। रक्तवहस्रोतो (केशिकाओ) में रचनात्मक विकृति भी इसके एक भेद में पाई जाती है।

जन्मोत्तरकालज कामला आदि रोग-विशेषो से होनेवाली रक्तस्राव की प्रवृत्ति उल्लिखित आदिवलप्रवृत्त रोगो से भिन्न है। इन सब रोगो का समावेश आयुर्वेद-मत से रक्त-पित्त में किया जा सकता है। पित्त और वात से दूषित रक्त को आयुर्वेद में शीघ्र न जमनेवाला (अस्कन्दि) कहा है। इसके विपरीत कफ-प्रधान रक्त पिच्छिल (तन्तुमान्) तथा चिरस्रावी (मन्दगति से जिसका स्रवण हो ऐसा) अतएव स्कन्दन की अनुकूलता वाला होने से जमकर मासपेशी के सदृश प्रतीत होनेवाला होता है। प्रकृति से ही रक्त में अमुक दोष का प्राधान्य होने से उसमें स्कन्दन का स्वभाव उत्तम न होने के कारण रक्तस्रावी रोग होना आयुर्वेद शास्त्रीय दृष्टि से सिद्ध है। इसे अन्वीक्षण द्वारा आधुनिक विज्ञानोक्त उक्त रोगो के सदृश दृढ भित्ति पर स्थापित करना चाहिए।

इस विषय में समन्वयोपयोगी होने से एक सत्य का निरूपण करता हूँ। लघु वाग्भट ने रक्तपित्त के पूर्वरूपो में लिखा है: नीललोहितपीतानां वर्णानामविवेचनम् (अ० हृ० नि० ३।६)—अर्थात् रोगी नील-हरित, रक्त और पीत वर्णो का भेद परख नही पाता। इसे आधुनिको ने वर्णान्ध्य (कलर-ब्लाइण्डनेस) कहा है तथा इसकी भी आदिवलप्रवृत्ति हीमोफीलिया के सदृश विलक्षण स्वभाव की बताई है। हीमोफीलिया स्पष्ट ही रक्तपित्त-विशेष है। आयुर्वेद में वर्णान्ध्य की रक्तपित्त-वर्ग में स्थापना तथा नव्यमत से दोनो की सुसदृश आदिवलप्रवृत्ति से कल्पना होती है कि—इन रोगो में

कुछ साम्य होना चाहिए। इस कल्पना के निर्देश मे हेतु यह है कि, प्रायः वर्णान्ध्य-रोगी, विशेष कर यदि उनकी वृत्ति का साधन रेलवे, मोटर-ड्राइविंग आदि हो, जिनमें वर्णो का शुद्ध विवेचन सर्वोपरि आवश्यक होता है, इस विलक्षण रोग के कारण अकाल में ही नौकरी से निकाल दिए जाते हैं। इनमें रक्तपित्तहर उपचार आयुर्वेद-मत से कर देखने चाहिए।

वातरक्त की आदिवलप्रवृत्ति—

वातरक्त (गाउट) भी नव्य मत से आदिवलप्रवृत्त रोग है। प्राइस कहता है : वातरक्त आदिवलप्रवृत्त रोग होने के पक्ष मे अति प्रवल प्रमाण मिलता है ; कारण ५० से ८० प्र० श० रोगियो में पूर्वज वातरक्ती होने का वृत्तान्त पाया जाता है। सम्पन्न पुरुषों में ७५ प्र० श० एव आरोग्यशाला में प्रविष्ट रोगियो मे ५० प्र० श० के कुल में वातरक्त होने का इतिहास प्राप्त हुआ था (ए० वी० गेरड)। इससे सिद्ध है कि : यह रोग मुख्यतया वशानुगत है, परन्तु अर्जित भी होना सभव है। स्वय रोग का अवतरण नही होता, किन्तु इसके प्रति प्रवणता ही सतति में उतरती है ; रोग-व्यक्ति (प्रादुर्भाव) के अन्य कारण उत्पन्न होने तक अनभिव्यक्त दशा में रहता है (लेवेलिन)। यह रोग मध्यवय—३५ से ५० वर्ष की अवस्था तक—का है। परन्तु प्रवल आदिवलप्रवृत्त प्रवणता हो तो अति तरुणो में—यहाँ तक कि शालेय विद्यार्थियो में भी—हो सकता है[१]।

आयुर्वेद में भी वातरक्त को आढ्यवात (आढ्य=धनाढ्य) कहा है, यह तथ्य यहाँ स्मरण किया जा सकता है।

इनके अतिरिक्त अन्य भी कई सुलभ-दुर्लभ रोग आदिवलप्रवृत्त होने का प्रत्यक्ष आधुनिको ने किया है। इनमें विशेष स्मरणीय महाकुष्ठ (लेप्रसी) और कैंसर है। इस विषय का अधिक अनुसन्धान नवीनो द्वारा लिखे ग्रन्थो में

१—The evidence in favour of gout being an hereditary disease is very strong, as a history of a gouty ancestry can be obtained in 50 to 80 percent of the cases A history of gout in the family was obtained in 75 percent of well to do patients and in 50 percent of hospital patients (A B Garrod) This evidence suggests that the disease is chiefly hereditary but may be acquired It is not the disease which is inherited, but only the predisposition to it, and the disease may lie latent until it is evoked by other causes (Llewellyn) It is a disease of middle life—between the ages of 35 and 50—but it may occur much youger, even in school-boys who have a strong hereditary taint Vide, Medicine by Price, P 493.

या गुरुमुख से किया जा सकता है। आदिबलप्रवृत्त रोगो का इतना विवरण पूर्ण कर अब इस विभाग के अन्य रोगो का विचार किया जाता है।

जन्मबलप्रवृत्त रोग

पिता-माता के शुक्र-शोणित दुष्ट न हो तथापि, सगर्भावस्था में माता किसी प्रकार का अहिताहार-विहार करे तो जो रोग सतति को होते है, उन्हें जन्मबल-प्रवृत्त कहते है। इस वर्ग के उदाहरण ये है---पगु (चलने के सामर्थ्य से रहित), जात्यन्ध (जन्म से दृष्टि की विकृतिवाला), बधिर, मूक (वाक्शक्ति-रहित), मिन्मिन (अनुनासिक उच्चारवाला), वामन (अति ह्रस्व शरीरवाला ; ठिगना, बौना) ; कुब्ज (कुबडा), खञ्ज (लगडा), कुणि (विकृत हस्तवाला), जड़ (बुद्धिशून्य), विकृत नेत्रादि इन्द्रियोवाला या इन्द्रिय रहित[1] इत्यादि।

जन्मबलप्रवृत्त रोग निदान-भेद से दो प्रकार के है---रसकृत तथा दौहृदापचारकृत।

गर्भ की सम्यक् पुष्टि, आरोग्य आदि की दृष्टि से सर्व रसो के सम अभ्यास की आवश्यकता गर्भिणी के लिए सविशेष बताई गयी है। एक रस के अतिसेवन के विपरिणाम तन्त्रकारो ने बताए है। साथ ही अन्य अहित द्रव्यो के अतियोग के अनिष्टो का भी निर्देश उन्होने किया है। इन अतियोगो से होनेवाले जन्मजात रोगो को रसकृत रोग कहा जाता है।

गर्भ के सम्बन्ध से माता को चतुर्थ मास से ऐसे रस, रूप आदि के सेवन की इच्छा होती है, जिनकी पहले इच्छा न होती थी। इन इच्छाओ को दौहृद दौर्हृद, या दोहद कहा जाता है। चतुर्थ मास में गर्भ के मन का अधिष्ठान-भूत हृदय बन जाता है अतः वह अपने पूर्व जन्म में सेवित सुखद वस्तुओ की इच्छा करने लगता है, ऐसा माना जाता है। इस इच्छा की पूर्ति न होना या अनभिवाञ्छित पदार्थ की उपलब्धि होना दौहृद का अपचार कहा जाता है। इसके कारण हुए रोगो को दौहृदापचारकृत रोग कहते है। दौहृद का अपचार अत्यधिक हो तो गर्भ की मृत्यु भी होना सम्भव है।

रसकृत रोग---

गर्भ को हानि पहुँचानेवाले अहिताहारविहार का तन्त्रकारो ने सविस्तर

१---सु सू २४।५ के अतिरिक्त जन्मबलप्रवृत्त रोगो के उदाहरण सु शा० ३।१८ एव शा० सु० २।५१ मे देखिए। रसकृत रोगो की आगे दी सूची को ध्यान मे रख इन रोगो की और भी पूर्त्ति की जा सकती है।

निर्देश किया है[1]। प्रकरण के वैशद्य के लिए उसे यहाँ उद्धृत करते हैं।—

माता यदि उत्कट (टेढ़े-मेढ़े) या विषम (ऊँचे-नीचे) कठिन आसन और शय्या का उपयोग करे; वात, मूत्र तथा पुरीष के वेगो का अवरोध करे; दारुण तथा अनभ्यस्त परिश्रम या व्यायाम करे; तीक्ष्णोष्ण आहारौषधद्रव्यो का अतियोग करे एव प्रमिताशन (एक ही रस का अति सेवन, या आवश्यक से न्यून राशि में भोजन) करे तो गर्भ कुक्षि मे ही मृत्यु को प्राप्त हो जाता है; उस का अकाल में स्रसन (गर्भस्राव) होता है; अथवा वह शोष को प्राप्त होता है—पहले वर्णित किसी प्रकार से शुष्क हो जाता है, आघात या प्रपीडन (कुक्षिपर दबाव) से, किंवा पुनः पुनः गढे, कुँए या प्रपातो के अवलोकन से अकालपात होता है; अत्यधिक झटकेवाली सवारियो और अति अप्रिय वृत्तान्तो के अतिश्रवण का भी यही विपरिणाम होता है, नारी यदि सर्वदा उत्तान (ऊर्ध्वमुख) सोने के शीलवाली हो तो नाभिनाडी गर्भ के कण्ठ को वेष्टित कर देती है (वेष्टनवश शिशु की मृत्यु हो जाती है); उसका शील यदि अनावृत (खुले) स्थान में सोने का हो या वह रात्रि में इतस्ततः सचरणशीला हो तो माता तथा गर्भ राक्षसादि भूतयोनियो के आक्रमण का सुलभ विषय हो जाने से बच्चा उन्मत्त (भूतोन्माद-पीडित) होता है; स्त्री वाचिक तथा कायिक कलह के शीलवाली हो तो सतान अपस्मारी होता है; गर्भस्थिति होने पर भी वह व्यवाय-शील (मैथुनासक्त) रहे तो अपत्य अप्रियदर्शन, निर्लज्ज किंवा स्त्रैण (स्त्रीवश या स्त्रियो के सदृश आचरणवाला) होता है; स्त्री सर्वदा शोकासक्त रहे तो सतान भीरु, अपचित (क्षीण, निर्बल शरीरवाला) किंवा अल्पायु होता है; निरन्तर मनमे दूसरो के अहित का विचार करती रहे तो बालक भावी जीवन में दूसरो को कष्ट देने मे आनन्द माननेवाला, ईर्ष्यालु या स्त्रैण होता है; चौरकर्म में मग्न रहे तो शिशु आयास-शील (निरर्थक यद्वा तद्वा परिश्रम करनेवाला), अतिद्रोही या कर्मशून्य होता है, वह क्रोधशीला हो तो सतान चण्ड (गरम स्वभाव के कारण पत्नी, आश्रित आदि को घबरा देनेवाली, वायोलेंण्ट), औपधिक (छुपा रह कर दूसरो का अहित करनेवाला) तथा असूयक (अन्यो के गुणो को दोष मानने और वैसा प्रचार करने के स्वभाव वाला) होता है; वह सदा सोने के शीलवाली हो तो कुमार तन्द्रालु (सदा सुस्त), जडमति या मन्दाग्नि होता है, वह दिवानिद्राशीला हो तो बालक भी अपने जीवन में निद्राशील होता है, वह नित्य मद्य-सेवन करती हो तो बालक पिपासालु, अल्पस्मृतिमान् अथवा अस्थिर मनवाला होता है; वह गोह के मास का सेवन

१—इस विषय के विवरण के लिए देखिए च० शा० ४।१५-१९, सु शा ३।१८–२९, अ० हृ० शा० १।५२-५४।

प्राय. करती हो तो वालक शर्करामेही,[1] अश्मरी-पीड़ित या शनैर्मेही[2] होता है; शूकर के मास का सेवन प्राय: करनेवाली हो तो वच्चा रक्तनेत्रो वाला, क्रथन[3] अथवा अति परुप (रूखे कठिन-स्पर्श) रोमवाला होता है, माता मत्स्यमासादन-शीला हो तो कुमार में निमेप (आँख झपकना) का काल दीर्घ होता है या उसकी आँखें स्तब्ध (न झपकनेवाली) होती हैं; वह दूध को छोड़ और मधुर रस का नित्य सेवन करती हो तो कुमार जीवन में प्रमेह-पीड़ित, मूक किंवा अति मेदस्वी होता है, वह नित्य अम्ल रस का उपयोग करनेवाली हो तो वालक रक्तपित्त, त्वग्रोग या अक्षिरोगो से पीड़ित होता है, लवण रस का नित्योपयोग करती हो तो कुमार को वली (वार्धक्य-सूचक त्वक्संकोच, झुर्रियाँ) तथा पलित (वाल-पकना, ग्रे हेअर) अकाल में हो आते है अथवा उसे खालित्य (गंज, टाँट निकलना) रोग होता है, वह सर्वदा कटुरस का सेवन किया करती हो तो शिशु दुर्बल, अल्पशुक्र या अनपत्य (सतान-रहित) होता है; माता नित्य तिक्त रस का सेवन करती हो तो वालक शोपी (शोप-रोगी) वलहीन अथवा कृश (क्षीण धातुओं-वाला) होता है, गर्भिणी नित्य कपायरस का विशेप सेवन करती हो तो कुमार श्याव (धूसर वर्ण), आनाही (कब्ज से पीड़ित) किंवा उदावर्ती होता है[4]। किं वहुना,

---

१—मूत्र-गत द्रव्य घनत्व प्राप्त कर वालुका-सदृश आकार के हो मूत्रमार्ग से प्रवृत्त हो तो इस विकार को सिकतामेह (सिकतामेही) कहते हैं, वे ही कुछ अधिक स्थूल हो स्वल्प गुटिकाकार हो जाए तो इसे शर्करामेह कहते है; वे और भी स्थूल हो मार्गावरोधादि विक्रिया उत्पन्न करे तो रोग को अश्मरी (पथरी) कहते है।

२—प्रवाहिका मे मलप्रवृत्ति के सम्बन्ध मे जो लक्षण होते है वही मूत्र प्रवृत्ति-के सवन्ध मे दिखाई दे, नाम—मूत्र थोड़ी-थोड़ी देर पीछे, अल्प-अल्प, वेग विना, कठिनाई से (वल करने पर), कफयुक्त तथा पिच्छिल (तन्तुमान्) हो तो इस रोग को शनैर्मेह कहते है।'

३—क्रथनमकस्मादुच्छ्वासावरोध, तद्वानपि क्रथन इत्युच्यते—चक्रपाणि श्वास का सहसा अवरुद्ध हो जाना क्रथन कहा जाता है। तद्युक्त रोगी को भी क्रथन कहते है। विशेपत कोष्ठगतवात मे कभी-कभी देखते है रोते-रोते या हँसते-हँसते वच्चे का साँस ऊँचे चढ जाता है और वैसा ही रह जाता है। श्यावता (सायनोसिस) आदि वात प्रकोप के लक्षण व्यक्त हो जाते है। वडे होने पर भी कभी-कभी एक श्वास मे लम्बी वात कहते-कहते यह स्थिति देखी जाती है। वातानुलोमन उपचार से स्थिति सुधर जाती है।

४—देखिए च० शा० ८।२१।

यद्यच्च यस्य यस्य व्याधेर्निदानमुक्तं तत्तदासेवमानाऽन्तर्वत्नी तन्निमित्तविकारबहुलमपत्यं जनयति ॥ च० शा० ८।२१

रोग-निदान प्रकरण में जिस-जिस रोग का जो-जो निदान (उत्पादक हेतु) कहा है उस-उस का अति सेवन गर्भिणी करे तो उस-उस निदान से उत्पन्न होनेवाले विकारो से प्राय पीडित होनेवाले सन्तान को जन्म देती है[1]

लघु वाग्भट ने दोष-प्रकोपक आहारो को लक्ष्य में रख इस विषय का विवेचन करते कहा है कि; गर्भिणी यदि वातल आहारो का प्राय सेवन करती हो तो बालक कुब्ज, अन्ध, जड या वामन होता है, पित्तल आहारो के अतियोग से खल्वाट या पिङ्गल तथा श्लेष्मल द्रव्यो के अति सेवन से श्वित्री या पाण्डुरोगी होता है। देखिए अ ह शा १।४८।

विहार-विशेष गर्भिणी के लिए अनुपशय हो तो उसके भी अतियोग के ऐसे ही विपरिणाम होते हैं। यथा—वह दिवा निद्राशील हो तो बालक भावी जीवन में निद्रालु होता है, अञ्जन का अतियोग करे तो अन्ध, रोदनशीला हो तो विकृत-दृष्टि, स्नान-लेपादि का अतियोग करे तो दु खशील (सौकुमार्य के कारण बात-बात में कष्ट माननेवाला), तैलाभ्यङ्गशीला हो तो कुष्ठरोगी (त्वग्रोगी), नखो का अतिकर्तन (दाँतो से ?) करती हो तो कुनख-रोगी, दौड-दौड करने के स्वभाववाली रहे तो चञ्चल, अति हास्यशील हो तो श्याव-वर्ण दन्त, ओष्ठ, तालु और जिह्वावाला, अति भाषणशीला हो तो प्रलापी, अतिशब्द-श्रवण (रेडियो आदि सारे दिन-रात सुना करना)-शीला हो तो बधिर, कघी आदि से केशो का लेखन बहुत किया करे तो खल्वाट एवं माता मारुत (प्रवात; बाह्य या पखे की हवा) या अर्थहीन श्रम का अतियोग करे तो बालक भविष्य में उन्मत्त (वातल, वात-रोगाक्रान्त) होता है[2]।

१—इस विषय का कौमारभृत्य की दृष्टि से स्मरणीय एक छोटा सा परन्तु व्यवसायोपयोगी उदाहरण देता हूँ। प्रसव मे कितनी ही बार शिशु का श्वसन शीघ्र चालू नही होता और न्यूनाधिक प्रयास करना पडता है। इस मे कारण प्राय माता का सगर्भावस्था मे प्रतिश्याय-श्वास-कासादि जनक आहार-विहार का अतियोग होता है। इसके कारण अधिक उत्पन्न कफ शिशु के कण्ठ तथा प्राणवह स्रोतो का अवरोध करता है।

२—देखिए सु० शा० २।२५। यहाँ यद्यपि ऋतुमती का प्रकरण है तथापि आगे गर्भिणी-व्याकरणाध्याय मे इस प्रकरण का भी अतिदेश **पूर्वोक्तानि च परिहरेत्** (सु० शा० १०।३) वचन द्वारा किया है। अत यह प्रकरण सगर्भा पर भी घटित होता है।

इन प्रकरणो में आचार्यो ने जिन रोगो का निर्देश किया है, सभव है, उनसे भिन्न भी रोगो की जन्मबलप्रवृत्ति का उल्लेख उन-उन रोगो के प्रकरण में किया हो। सूचीमुखी योनि ऐसे रोगो में एक है। शेप प्रकरणो का भी इस दृष्टि से अनुसधान किया जाना चाहिए। चरक ने इस योनि की संप्राप्ति देते कहा है--

गर्भस्थायाः स्त्रिया रौक्ष्याद्वायुर्योनिं प्रदूपयन्।
मातृदोपादणुद्वारां कुर्यात् सूचीमुखी तु सा ॥
च० चि० ३०।३२

मातृदोपादिति–मातुर्गर्भकाले वातप्रकोपहेतुसेवारूपापचारात्—
चक्रपाणि

सूचीवक्त्राऽतिसंवृता ॥ सु० उ० ३८।१६

अतिसंवृता अत्यर्थसंकुचितमुखी– डल्हन

स्त्री अपनी माता के गर्भ मे रही हो उस काल माता ने यदि वातप्रकोपक आहार-विहारादि का अतिसेवन किया हो तो परिणाम में रूक्ष गुण का प्रकोप हो जाता है। यह रूक्ष गुण स्त्री (सतान) की योनि के द्वार (मुख) को अणु नाम अति सकुचित कर देता है। वातप्रधान इस योनिव्यापत् को सूचीमुखी या सूचीवक्त्रा योनि कहते हैं। यह नवीनो का 'इन्फेन्टाइल यूटेरस' आदि विकारों में पाया जानेवाला 'पिन-पाइण्ट ऑस' प्रतीत होता है। एक अर्जित रोग भी ऐसा होता है, इसमे द्वार पर व्रण हो कर रोहण होते हुए जो सौत्रिक धातु बनता है वह प्रमाणातीत होने से योनि का मुख रुद्ध हो जाता है। वह इससे भिन्न है। 'पिन-पॉइण्ट ऑस' तथा सूचीमुखी इन दोनो नामो का साम्य भी द्रष्टव्य है। (ऑस=आस्य, मुख)।

दौहृदापचारकृत रोग---

पूर्व-निर्दिष्ट प्रकरणो में आचार्यो ने दौहृद के पूरण पर अत्यन्त भार दिया है। यह भी कहा है कि: किस-किस पदार्थ की इच्छा होने से किस-किस गुण-अवगुणशाली सतान की सभावना की जा सकती है। प्राचीन वाङमय में भी दौहृद की पूर्ति का उल्लेख आता है, यथा रामायण मे सीतादेवी का। आधुनिक विज्ञान के ग्रन्थो में ऐसा कुछ पाया नहीं जाता। लोको में भी दौहृद होने की कुछ वात देखने-सुनने में नही आती। तथापि प्राचीन मत इस विषय में संक्षेप में यह है---

गर्भो वातप्रकोपेण दौहृदे वाऽवमानिते।
भवेत् कुब्जः कुणिः पङ्गुर्मूको मिन्मिण एव वा ॥
सु० शा० २।५१

वात का प्रकोप और तज्जन्य अत्यन्त रौक्ष्य हो अर्थात् गर्भ के शरीर धातुओं को उपचित करने के सामर्थ्य की माता के रस धातु में न्यूनता हो तो, किंवा दौहृद की पूर्त्ति न की जाए तो सतान कुब्ज, कुणि (हाथ रचनात्मक वैरूप्य या कर्मात्मक वैकल्य वाला होना), पङ्गु, मूक या मिन्मिन(ण) होता है।

रसधातु में गुरुता (नव्य मत से मासादि का पोषक मुख्यतया प्रोटीन), स्निग्धता (स्नेहद्रव्य, फैट) इत्यादि गुण न हो तो उसे रूक्ष कहा जाता है। यह वात के प्रकोपवश होता है तथा स्वयं वात-प्रकोप का निदान (मूल कारण) भी होता है। माता के रस धातु में इस वातप्रकोपवश गर्भ-शरीर का पूर्ण पोषण न होने से उल्लिखित विक्रियाएँ होती हैं। प्राचीन दर्शनानुसार दौहृद के अवमानन से भी यही विपरिणाम होते हैं। इसीसे प्राचीन आचार्य नियम कर गए हैं—

सा यद्यदिच्छेत् तत्तदस्यै दद्यादन्यत्र गर्भोपघातकरेभ्यो भावेभ्यः॥

च० शा० ४।१७

सगर्भा स्त्री जिन-जिन भी पदार्थों की इच्छा व्यक्त करे, उन सब की पूर्ति करनी चाहिए। किन्तु पात, स्राव, वैरूप्य आदि के रूप में गर्भ को हानि पहुँचाने वाली इच्छाओं की पूर्ति न करे। तथापि—

तीव्रायां तु प्रार्थनायां काममहितमप्यस्यै हितेनोपहितं दद्यात् प्रार्थना-विनयनार्थम्॥ च० शा० ४।१८

अभिलषित गर्भोपघातकर वस्तु की इच्छा अदम्य हो तो उसे भी उसका वारण करनेवाले हित पदार्थों से समिश्र करके या हित कल्पना के रूप में दे, जिससे अभिलषित वस्तु की प्राप्ति हो जाने से इच्छा की शान्ति हो जाए। इच्छा को इस प्रकार शान्त न किया जाए तो—

प्रार्थनासंधारणाद्धि वायु प्रकुपितोऽन्तः शरीरमनुचरन् गर्भस्यापद्य-मानस्य विनाशं वैरूप्यं वा कुर्यात्॥ च० शा० ४।१९

× × × इच्छाविघातश्च मनःक्षोभादिकरभयादिवद् वातप्रकोपको भवति। आपद्यमानस्येत्यनेन गर्भस्यातितरुणत्वेन मनागपि वात-क्षोभासहत्वं दर्शयति। वैरूप्यविनाशविकल्पस्तु वातप्रकोपप्रकर्षा-पकर्षकृतो ज्ञेयः॥ चक्रपाणि

वह अतृप्त (निगृहीत, सप्रेस्ड) इच्छा भय आदि भावों के सदृश मन को विक्षुब्ध कर वायु को सुतरां प्रकुपित कर देती है। गर्भ जो अभी बन रहा होता

है, वह इसी कारण अति सुकुमार होने से वात के इस प्रकोप को सहन नही कर पाता। अतएव प्रकोप के प्रमाण के आधिक्य या न्यूनता के अनुसार उसकी या तो गर्भाशय में ही मृत्यु हो जाती है या कुब्जता प्रभृति शारीर तथा जड़ता प्रभृति मानस विकारो से वह पीडित होता है। अत ;--

अहितानाहारविहारान् प्रजासंपदमिच्छन्ती स्त्री विशेषेण वर्जयेत्॥
च० शा० ८।२१

यो तो सर्वदा ही स्त्री को तथा औरो को भी अहिताहार विहार से वचना चाहिए, परन्तु स्त्री यदि प्रजा-सपत् (सर्वगुण सपन्न प्रजा की प्राप्ति) की इच्छा रखती हो तो उसे और उसके पति को भी अहित आहार-विहार का विशेषतया परिवर्जन करना चाहिए।

गर्भ की विकृतियो का कारण-समुच्चय--

चरक-सहिता के शारीरस्थान के अतुल्यगोत्रीय शारीर नामक द्वितीय अध्याय में, विशेषतया गर्भोत्पत्ति-सबन्धी प्रश्नोत्तर सुन्दर उपजातियो में आए है। इनमे एक प्रश्न है ?--

कस्मात् प्रजा स्त्री विकृता प्रसूते
हीनाधिकाङ्गीं विकलेन्द्रिया वा॥
च० शा० २।२८

प्रश्न है--कभी-कभी स्त्री को सर्प-वृश्चिकादि विकृत आकृति की हीनाङ्गी (एकाध अवयव की न्यूनतावाली), अधिकाङ्गी या विकलेन्द्रिय (इन्द्रिय-विशेष की जडता--मन्दता--वाली) सन्तति होती है। इसका कारण क्या है ? उत्तर देते स्वयं तन्त्रकार कहते है--

वीजात्मकर्माशय कालदोपै-
र्मातुस्तथाहार विहारदोपैः।
कुर्वन्ति दोपा विविधानि दुष्टाः
संस्थानवर्णेन्द्रिय वैकृतानि॥
वर्पासु काष्ठाश्म वनाम्बुवेगा-
स्तरोः सरित्स्रोतसि संस्थितस्य।
यथैव कुर्युर्विकृति तथैव
गर्भस्य कुक्षौ नियतस्य दोपाः॥
च० शा० २।२९-३०

बीज (शुक्र और शोणित ; पुंबीज-स्त्रीबीज), गर्भस्थ जीव के अपने पूर्व-जन्म के कर्म, योनि-सहित गर्भाशय और काल इनकी विकृति एवं माता के आहार-विहार इन से प्रकुपित हुए वातादि शारीर दोष मिल कर शरीर के आकार, वर्ण और इन्द्रिय में वैरूप्य (रचनात्मक या कर्मात्मक विकृति) उत्पन्न करते हैं।

वर्षाकाल में नदी के प्रवाह में खेंचे जाते वृक्ष पर लकडी, पत्थर तथा जल का वेग इन तीन की क्रिया होकर जैसे उस की (वृक्ष की) विकृति अर्थात् स्वरूप-हानि होती है वैसे तीनों दोष मिल कर शरीरावयवों के आकार आदि में विकृति उत्पन्न करने में हेतु होते हैं।

सु० शा० २।५०–५२ में सुश्रुत ने भी गर्भो की विकृति का हेतु स्त्री-पुरुष के विशेषतया स्त्री के पापकर्म, गर्भगत जीव के प्राक्तन कर्म, वातादि दोषों का विशेषतया वात का प्रकोप एवं दौहृद की पूर्ति न होना इन वस्तुओं को ही कहा है[1]।

हृदयकार ने दोष-प्रकोपवश गर्भ में होनेवाली इन विकृतियों में एक स्मरणीय विकृति योनि का अभाव या विकृति (वियोनि) बताया है। यहाँ योनि शब्द गर्भ-यन्त्र के अर्थ में आया है। योनिव्यापत् इत्यादि संज्ञाओं में इस शब्द का यह व्यापक अर्थ प्रसिद्ध है। गर्भयन्त्र की विकृति का विस्तृत विवेचन अन्तःफल (ओवरी) न होना, गर्भाशय का अभाव, गर्भाशय के स्वरूप में विभिन्न विरूपताएं होना, योनि का अभाव इत्यादि रूपों में नवीनों ने बताया है। उनका प्रत्यक्षाश्रित विवरण आधुनिक ग्रन्थों और गुरुओं से जानना चाहिए। हृदयकार का उक्त वचन यह है :—

वियोनिर्विविधाकारा जायन्ते विकृतैर्मलैः ॥

अ० हृ० शा० १।६

१—देखिए—सर्पवृश्चिककूष्माण्डविकृताकृतयश्च ये ।
गर्भास्त्वेते स्त्रियाश्चैव ज्ञेयाः पापकृतो भृशम् ॥
गर्भो वातप्रकोपेण दौहृदे वाऽवमानिते ।
भवेत् कुब्जः कुणिः पंगुर्मूको मिन्मिन एव वा ॥
मातापित्रोस्तु नास्तिक्यादशुभैश्च पुराकृतैः ।
वातादीनां प्रकोपेण गर्भो वैकृतमाप्नुयात् ॥

सु० शा० २।५०–५२

पुरुष के पूर्वकर्म इस प्रकार वर्तमान शरीर मे रोग का कारण बनते हैं और ये पूर्वकर्म आत्माधिष्ठित लिङ्ग-शरीर द्वारा इस शरीर मे अवतीर्ण होते हैं। विशेषतया इसी कारण आत्मा को चिकित्सा-प्रधान इस तन्त्र मे स्थान दिया गया है। इस प्रकार हुए रोगो को कर्मज रोग कहा गया है।

बीज-दोष से शिशु को विकृति होने का उत्तम उदाहरण भी नव्य मत से यह दिया जा सकता है कि : फिरङ्ग पीड़ित माता के जीवित सन्तान के नेत्र, नासामध्य, दन्त, ओष्ठ, त्वचा आदि में अमुक जन्मजात वैरूप्य देखा जाता है। गर्भाशय-दोष के उदाहरण रूप में भी फिरङ्ग एवं पूयमेह उदाहरणतया प्रस्तुत किये जा सकते है। पूयमेहाक्रान्त गर्भाशय या योनि से प्रसव काल मे बाहर आते शिशु के नेत्रो मे पूय का सक्रमण हो जाए तो दु साध्य अभिष्यन्द हो जाता है। इसीसे आधुनिक कौमारभृत्यो ने नियम बना दिया है कि : शिशुमात्र के नेत्रो में प्रसव के तत्काल पश्चात् अभिष्यन्दहर सिल्वरनाइट्रेट के हलके घोल के बिन्दु टपका देने चाहिए।

शरीरावयवो की रचनात्मक विकृतियो के लिए अंग्रेजी मे राक्षस-वाचक 'मॉन्स्टर' शब्द प्रसिद्ध है। वाल्मीकि रामायण में अशोक वाटिका में सीता देवी को वेष्टित कर बैठी राक्षसियो के जो विविध आकार वर्णित किए है वे इन 'मॉन्स्टरो' के ही उदाहरण है। आधुनिक कौमारभृत्य मे भी इनके पर्याय सुलभ है। जन्मबलप्रवृत्त रोगो को अग्रेजी में 'कन्जेनिटल' कहते है।

जन्मबलप्रवृत्त पगु, वामन तथा जड़ एक स्पष्टता —

जन्मबलप्रवृत्त रोगो के उदाहरणो मे एक जात्यन्ध है। इस संज्ञा का प्रयोग सुश्रुत ने (सु० सू० २४।५) मे इन रोगो की व्याख्या करते हुए किया है। जन्मोत्तरकालज समान लक्षणवाले रोग से उन्ही लक्षणोवाले जन्मबलप्रवृत्त रोगो की पृथक्ता दर्शाने के लिए जन्मवाचक जाति शब्द का व्यवहार जात्यन्ध शब्द के अनुकरण में किया जा सकता है। इस प्रकार जन्म से पगु आदि को जातिपंगु या जन्मपगु आदि नाम दिए जा सकते है।

ये जातिपगु आधुनिको के 'रिकेटी' प्रतीत होते है। गर्भिणी को अस्थि-पोषक सामग्री पर्याप्त न मिलने से या अस्थिधात्वग्नि के दौर्बल्य से यह होता है। नव्य मत से इसमें जीवनीय डी का हीनयोग प्रमुख कारण होता है। शरीर मे जाकर जीवनीय डी अस्थिपोषक सामग्री का सफल उपयोग कराता है। कभी अस्थिपोषक सामग्री सम प्रमाण में अन्नपान में हो तथापि पच्यमानाशय मे कफ का लेप होने से उसका रसवह स्रोतो द्वारा ग्रहण नही हो तो भी शिशु की अस्थियाँ तथा दन्त पुष्ट नही होते।

इसी प्रकार जन्म-वामन नवीनो के 'ड्वार्फ' प्रतीत होते है। पिट्युइटरी के अस्थिपोषक अन्त स्राव की क्षीणता होने से यह होता है। एवं जाति-जड़ नवीनो के क्रीटिन होने सभव है। क्रीटिनिज्म चुल्लिकाग्रन्थि (थायरॉयड) के पूर्ण कार्यक्षम न होने से होता है।

जातिपगु आदि रोगो का साम्य नवीनोक्त रोगो के साथ दर्शाने मे प्रयोजन यह है कि पाश्चात्य चिकित्सा-शास्त्र के प्रचार के परिणाम-स्वरूप प्राय बाल-रोगियो का निदान रिकेट्स, क्रीटिनिजम आदि नामो से उपलब्ध होना सभव है। इन रोगों की अनुत्पत्तिके लिए प्रथम तो शिशुको अन्नपान तथा औषध द्रव्योके रूप में सर्वधातुपोषक द्रव्य सम प्रमाण में मिलें इस दिशा में प्रयास होने चाहिए। एतदर्थ सर्व रसो के सम अभ्यास का जो सूत्र प्राचीन आचार्य कह गये है उसका अनुसरण किया जाए तो आधुनिको के प्रोटीन आदि का साम्य भी सिद्ध हो जाता है। साथ ही जिस रस या द्रव्य की सविशेष स्वस्थ रुचि हो उसकी पूर्त्ति की जाए तो तत्काल विशेषतया आवश्यक द्रव्य की भी उपलब्धि माता और शिशु को हो जाती है। दूसरी आवश्यक वस्तु यह है कि सर्वधातुपोषक सामग्री अन्नपान मे होने पर भी माता के शरीर में और उसके द्वारा गर्भस्थ शिशु के शरीर में सम प्रमाण में पहुँचे इस दृष्टि से माता का पच्यमानाशय कफ से अवरुद्ध न होना चाहिए। कफ का अवरोध होने से उदीरित[1] पाचक पित्तोका पच्यमानाशय में वहन सम्यक् नही होता, अपरच, पचने पर अन्न का रसवह स्रोतो द्वारा ग्रहण भी यथावत् नही होता। प्रसवोत्तर जब शिशु क्षीरप (क्षीराद), क्षीरान्नाद किंवा अन्नाद होता है, उस काल भी सर्वरसाभ्यास एव आमपच्यमानाशय का कफादि दोषो से अभिभूत न होना ये दोनो नियम मातृ-शरीर तथा शिशु-शरीर के लिए अवश्य-स्मरणीय तथा अवश्य अनुसरणीय होते है। परन्तु यदि उक्त रोग हो चुके हो और--

बालरोगी क्रीटिन, ड्वार्फ आदि नवीन सज्ञाओ से रोग की निश्चिति लेकर आए तो आयुर्वेद-मत से उनके उपचार का प्रयास, विशेषतया अनुसन्धान की दृष्टि से, किया जा सकता है। सुश्रुत ने शा० १०।६८–७० मे तथा अन्य आचार्यों ने भी यथास्थान बालको के शरीर, मेधा, बल और बुद्धि की अभिवृद्धि करनेवाले --कुमाराणा वपुर्मेधाबलबुद्धिविवर्धना --प्राशादि का विधान किया है। इन द्रव्यो की उक्त रोगो में उपयोगिता की परीक्षा कर देखनी चाहिए। युगानुसार इनमें से ब्राह्मी, वचा, कुष्ठ (प्रतिनिधि-अकरकरा, या मरेठी), शखपुष्पी आदि निर्दिष्ट द्रव्य लेकर एव उस्तखुद्दूस आदि इन प्रकरणो में अनिर्दिष्ट द्रव्य भी मिला घृत और मधु से सयुक्त कर प्रत्येक मात्रा में दो-चार बार सोने की अँगूठी आदि

१—भोजनकालिक दोषो की वृद्धि जो अन्नपचन के प्रयोजन से तथा शरीरस्थ अन्य दोषो के साम्य के लिए होती है, उसे विकार-सूचक प्रकोप नाम न देकर उदीरण नामान्तर तन्त्रकारो ने दिया है। पचन के प्रकरण मे इसी सज्ञा का व्यवहार लेखको को करना चाहिए।

घिसने के रूप मे सुवर्ण का भी सयोजन कर बच्चे को दे सकते है। केवल सुवर्ण का इस प्रकार घासे के रूप मे उपयोग पुत्रघ्नी योनि (बच्चे उत्पन्न हो-होकर शोष आदि रोगो से उनकी मृत्यु होना) मे गुणकारी देखा गया है। व्यवसायी चिकित्सक इसका व्यवहार कर देखें।

जन्मबलप्रवृत्त रोगो के विषय मे इतना विवरण कर अब अग्रिम विभागान्तर्गत दोषबलप्रवृत्त रोगो का विचार प्रस्तुत किया जाता है।

दोषबलप्रवृत्त रोग

जैसा कि नाम से सूचित है इस वर्ग में उन रोगो की गणना होती है, जो वात-पित्त-कफ इन शारीर दोषो एव रजस्-तमस् इन मानस दोषो के बल से अर्थात् उनका प्रकोप या क्षय के रूप मे वैषम्य होकर शरीर एव मन मे रोगजनन-सामर्थ्य के उत्पन्न होने से होते हैं।

दोषबलप्रवृत्त रोगो के दो प्रभेद हैं १ मिथ्याहार-विहार से दोषो का प्रकोप होकर जिनकी साक्षात् उत्पत्ति होती है, वे रोग तथा, २. प्रकुपित हुए दोषो से पूर्वोत्पन्न रोगो से जिनकी उत्पत्ति होती है। चरक ने इन पिछले प्रकार के रोगो का उदाहरण सविस्तर अधोलिखित प्रसिद्ध पदो में दिया है

निदानार्थकरो रोगो रोगस्याप्युपलभ्यते।
तद्यथा ज्वरसंतापाद् रक्तपित्तमुदीर्यते॥
रक्तपित्ताज्ज्वरस्ताभ्यां शोषश्चाप्युपजायते।
प्लीहाभिवृद्ध्या जठरं जठराच्छोथ एव च॥
अर्शोभ्यो जाठरं दुःखं गुल्मश्चाप्युपजायते।
प्रतिश्यायाद् भवेत् कासः कासात् संजायते क्षयः॥
क्षयो रोगस्य हेतुत्वे शोषस्याप्युपजायते[1]॥

च० नि० ८।१६-१९

शोषश्चापीत्यत्र श्वासश्चापीति पाठान्तरम्॥

कभी-कभी एक रोग अन्य रोग की उत्पत्ति में निदान का कार्य करता हुआ देखा जाता है। अर्थात्—जैसे प्रज्ञापराधवश किए अहिताहार-विहारादि से तत्तत् रोग उत्पन्न होते है वैसे एक रोग से अन्य रोग उत्पन्न होता है। जैसे—ज्वर के सताप से रक्त-पित्त होता है—आमाशय, नासिका, गुदमार्ग आदि द्वारो

१—ये पद्य माधव निदान मे भी उद्धृत हैं। उन पर मधुकोष तथा आतङ्क-दर्पण टीकाए द्रष्टव्य है।

से रक्त का स्राव होता है। कभी रक्तपित्त से ज्वर हो जाता है। ज्वर और रक्तपित्त दोनो से राजयक्ष्मा (पाठान्तर मे--श्वास) हो जाता है। प्लीहा की अभिवृद्धि (सब ओर वृद्धि) से उदर (प्लीहोदर तथा उसका परिपाक होने पर जलोदर) हो जाता है। उदर रोग से शोथ होता है। अर्शो से मल तथा वात का विबन्ध और उदावर्तन एव उनके परिणामस्वरूप अतिमात्र दोष-सचय होकर कष्टकारी उदर किवा गुल्म रोग होता है। प्रतिश्याय से कास और कास से रसरक्तादि धातुओ एव ओज प्रभृति उपधातुओ का क्षय होता है। यह धातूपधातुओ का क्षय शोष (राजयक्ष्मा) का कारण बनता है।

एक रोग से अन्य रोग की उत्पति मे कारण--

पूर्वोत्पन्न रोगो से रोगोत्पत्ति के इस कथन का तात्पर्य यह नही है कि निदान-प्रकरण मे जो प्रज्ञापराधादि कारणत्रय बताया जाएगा उससे भिन्न यह चतुर्थ कारण है। तन्त्रकार ने रोग रोग के निदान होते है ऐसा न कहकर रोग निदान के रोगोत्पत्ति-रूप प्रयोजन (अर्थ) के करनेवाले होते है ऐसा कहा है, उसमें तात्पर्य यही है कि

रोगोऽपि रोगान्तरं कुर्वाणो निदानान्तरोपबृहितबल एव करोतीति ॥

मधुकोप

ज्वरकारणान्येव हि उष्णादीन्यतिमात्राणि ज्वरमभिनिर्वर्त्य रक्त-पित्तमपि कारणान्तरवर्धितशक्तीनि जनयन्तीत्याद्यनुसरणीयम् ॥

चक्रपाणि

पूर्वोत्पन्न रोग जब अन्य रोग को उत्पन्न करता है उसमे स्थिति यही होती है कि, पूर्व रोग की उत्पत्ति के जो कारण होते है उनका ही अतियोग चालू रहे तो उनकी रोगजनक शक्ति बढ जाती है--उपबृहित हो जाती है। जैसे, जिन उष्ण-तीक्ष्णादि कारणो से ज्वर की उत्पत्ति होती है वे ही विद्यमान रहे तो उनकी शक्ति में वृद्धि होने से वे रक्तपित्त की उत्पत्ति मे भी कारण होते है। जैसा कि आगे देखेंगे, इस प्रकार एक रोग से रोगान्तर की उत्पत्ति मे एक कारण चिकित्सा का अप्रशस्त होना होता है। यथा, इसी ज्वर में क्वीनाइन का प्रयोग करने से क्वीनाइन की उष्णवीर्यता के कारण कभी नासिका से रक्तस्राव (नकसीर) होता है। कभी निर्गुण्डी के उपयोग से भी यह परिणाम होता देखा जाता है। सततज्वर-विशेष (टायफॉयड) मे मुखपाकादि लक्षणो से पच्यमानाशय मे भी पित्तप्रकोप की सभावना कर तदनुरूप उपचार न किया जाए तो रोग मे भूयसी वृद्धि होकर गुदमार्ग से रक्तस्रुति होती है।

स्वयं तन्त्रकार के शब्दों में उस प्रकार रोगोत्पादक कारण के सविशेष सेवन से एक रोग से रोगान्तर की उत्पत्ति होने की बात समझ लेना अधिक उपयुक्त होगा। पित्तातिसार की परिणति रक्तातिसार में होती है, यह विषय प्रतिपादित करते महर्षि अग्निवेश कहते हैं

पित्तातिसारी यस्त्वेतां क्रियां मुक्त्वा निषेवते।
पित्तलान्यन्नपानानि तस्य पित्तं महाबलम्॥
कुर्याद्रक्तातिसारं तु रक्तमाशु प्रदूषयेत्।
तृष्णां शूलं विदाहं च गुदपाकं च दारुणम्॥

च० चि० १९।७७-७८

पित्तातिसार का जो उपचार कहा गया है उसका अनुसरण न कर रोगी यदि पित्तल अन्नपान का सेवन करता रहे तो उसका पित्त और भी प्रकुपित होकर रक्त को भी दूषित कर रक्तातिसार को उत्पन्न करता है। इसमें ज्वर, तृष्णा, शूल, विदाह (अन्तर्दाह) तथा विकट गुदपाक ये सहचारी लक्षण होते हैं[1]।

यहाँ स्मरण रखना चाहिए कि रक्तातिसार यद्यपि पित्तातिसार के अनन्तर होता हुआ यहाँ कहा गया है, तथापि कारण पहले से ही अतिमात्रा में विद्यमान हो तो प्रारम्भ से भी रक्तातिसार हो सकता है।

इसी विषय का अन्य एक उदाहरण तन्त्रकार के शब्दों में देखिए। कामला के एक भेद कोष्ठशाखाश्रित कामला की उत्पत्ति पाण्डुरोग से होती बतलाते तन्त्रकर्त्ता कहते हैं —

पाण्डुरोगी तु योऽत्यर्थं पित्तलानि निषेवते।
तस्य पित्तमसृङ्मांसं दग्ध्वा रोगाय कल्पते॥

च० चि० १६।३४

पाण्डुरोगी हो पित्तल अन्नपानादि का अत्यधिक सेवन करे तो उसका पित्त सुतरां प्रकुपित होकर रक्त और मांस को भी दग्ध कर कोष्ठशाखाश्रित कामला को उत्पन्न करता है।

रोग के लक्षण देकर अन्त में मुनि कहते हैं —

कामला बहुपित्तैषा कोष्ठशाखाश्रया मता॥

च० चि० १६।३६

१—सु० उ० ४०। ११६ पर प्रायः यही शब्द सुश्रुत ने दिए हैं।

कोष्ठशाखाश्रित कामला मे पित्त अधिक कुपित होता है। इस कामला के विषय में भी स्मरण रखना चाहिए कि यह भी पाण्डुरोग के बिना भी प्रारम्भ से ही हो सकती है।

अतिसार-प्रवाहिका से ग्रहणी रोग की उत्पत्ति बताते सुश्रुत ने भी कहा है --

अतीसारे निवृत्तेऽपि मन्दाग्नेरहिताशिनः।
भूय संदूपितो वह्निर्ग्रहणीमभिदूपयेत्॥
सू० उ० ४०।१६७

अतिसार तथा प्रवाहिका शान्त हो गये हो, परन्तु उसके दोष तथा शक्ति पूर्णतया समावस्था में न आ गये हो, अग्नि भी मन्द हो ऐसी स्थिति मे भी रोगी अहिताहार-विहार करता रहे तो ग्रहणी और अधिक दूषित होकर ग्रहणीरोग (प्रसिद्ध नाम सग्रहणी) उत्पन्न होता है।

इस रोग के विषय में भी जानना चाहिए कि अतिसार और प्रवाहिका के बिना भी, एव वे शान्त न हुए हो तो भी उल्लिखित कारणो के अतियोग से ये रोग होते है। दूसरी बात स्मरणीय यह है कि पूर्वाचार्यो ने प्रवाहिका का वर्णन अतिसार-विशेष के रूप में ही किया है। अत यहाँ अतिसार शब्द से प्रवाहिका का भी ग्रहण किया हे। प्रत्यक्ष मे भी प्राय प्रवाहिका (अमीबिक डिसेण्ट्री) की ही परिणति ग्रहणी मे होती है।

एक रोग से अन्य रोग की उत्पत्ति के चरकोक्त उदाहरणो मे ये तथा अन्य रोग भी स्पष्टता की दृष्टि से बढाए जा सकते हैं।

अर्श, अतिसार तथा ग्रहणी-रोग की परस्पर कारणता--

रोग अनेक हो, परन्तु उनकी उत्पत्ति का कारण एक (समान) ही हो तो कारणो का अतियोग होने पर विद्यमान रोग से अन्य रोग की उत्पत्ति होती है, इस विषय का उत्तम उदाहरण अर्श, अतिसार और ग्रहणी-विकार है। ग्रहणी-विकार शब्द के दो अर्थ है '--सग्रहणी नाम से लोक में प्रचलित तथा शास्त्र में जिसे ग्रहणी कहा है वह रोग एव जाठराग्नि के दोषो से अभिभूत होने से होनेवाले मन्दाग्नि, तीक्ष्णाग्नि तथा विषमाग्नि ये विकार। इनकी परस्पर कारणता तथा तीनो के मूल की एकता को लक्ष्य मे रखकर कही गयी लघु वाग्भट की यह इन्द्रवज्रा वैद्यो मे प्रसिद्ध है --

अर्शोऽतिसारग्रहणीविकाराः प्रायेण चान्योन्यनिदानभूताः।
सन्नेऽनले सन्ति, न सन्ति दीप्ते रक्षेदतस्तेपु विशेपतोऽग्निम्॥
अ० हृ० चि० ७।१६४

अर्थात्——अर्श, अतिसार और ग्रहणी-विकार ये प्राय. एक-दूसरे के निदान-भूत——एक दूसरे की उत्पत्ति में कारणभूत——है। अग्नि मन्द हो तो ये तीनों होते है। अग्नि प्रदीप्त हो तो उत्पन्न होने नही पाते——किया हुए हों तो अग्निदीपक उपचार करने से शान्त हो जाते है। अत इन रोगो मे अग्नि की रक्षा विशेषतया करे। इन रोगो का कारण एक होने से ही चिकित्सा-विधि में भी एक रोग के अधिकार में कहे योग अन्य रोगो की चिकित्सा में भी व्यवहृत होते है।

पद्य में इन रोगो की परस्पर कारणता के लिए 'प्राय ' शब्द का प्रयोग किया है। इसका आशय यह है कि पूर्व-निर्दिष्ट एक रोग से उत्पन्न अन्य रोगो के सदृश अर्श आदि ये रोग भी एक दूसरे से उत्पन्न होते है, परन्तु इनकी स्वतन्त्र उत्पत्ति भी होती है।

एक रोग से अन्य रोग की उत्पत्ति के उदाहरण देते हुए आचार्य ने प्रतिश्याय से कास तथा अन्त में शोष का उत्पन्न होना बताया है। इसमे व्यवसायोपयुक्त एक-दो बातें यहाँ जान ली जा सकती है। प्रतिश्याय के प्रकरण में हम देखेंगे कि यह रोग वात-प्रधान होता है——वायु का उदावर्त तथा मल और वायु का विबन्ध होने से होता है। मल और वायु की शुद्धि सम्यक् हो तो यह रोग हो नहीं सकता। उपचार में भी मल और वायु के अनुलोमन पर ही प्रथम ध्यान देना चाहिए। प्रतिश्याय वातप्रधान रोग होने से इसमे जो कास होता है वह भी वातप्रधान अतएव शुष्क होता है। शुष्क कासपीडित रोगी की परीक्षा करते हुए, इसी कारण, प्रतिश्याय होने की परीक्षा प्रश्न द्वारा अवश्य करनी चाहिए। प्रकुपित वायु की रूक्षता से प्राणवह स्रोतो में स्थित कफ शुष्क हो जाता है। शुष्क कफ का मुख तथा नासाद्वार की ओर गमन यथावत् न होने से उसे बाहर निकालनेवाला वायु आवृत हो कुपित होता है——ससक्त कफ को बाहर निकालने के लिए कास के वेगो के रूप में प्रयत्न करने लगता है। अत शुष्क कास में मल और वात के अनुलोमन के अतिरिक्त कफ को द्रव और मृदु करनेवाले विभिन्न लवण, क्षार तथा मधुयष्टी आदि द्रव्यो की योजना की जानी चाहिए।

शोष अथवा राजयक्ष्मा स्वतन्त्र हो तो भी प्रतिश्यायपूर्वक होता है। यह संप्राप्ति अन्य जीर्णज्वरो——यथा सूतिकाज्वर, ग्रहणीजन्य ज्वर (एमीबाएमिस) आदि से भेदक परीक्षा के लिए उत्तम है। ये ज्वर प्रतिश्यायपूर्वक नही होते।

प्लीहावृद्धि से उदर होने का निर्देश यहाँ किया है। प्लीहावृद्धि और प्लीहोदर मे भेद यह है कि प्लीहा की वृद्धि चाहे कितनी भी हो परन्तु उदर (एण्टीरिअर एब्डॉमिनल वॉल) का उत्सेध (फुलावा) न हो तो इसे उदर नही कहते। उदर का उत्सेध होने पर ही रोग को उदर कहते है।

उदर से शोथ होता है यह यहाँ कहा है। दूसरी ओर स्वयं शोथ से उदर भी होता है। इन दोनो रोगो में पूर्वोत्पन्न एक रोग के अनन्तर दूसरा रोग भी उत्पन्न हो गया हो तो चिकित्सा की शुद्धि के लिए मूल रोग का ज्ञान आवश्यक होता है। इसकी परीक्षा पहले कौन रोग हुआ था इस वस्तु के ज्ञान से हो सकती है।

अर्श से उदावर्त आदि होकर उदर तथा ग्रहणीरोग होते है। किं वहुना, ग्रहणीरोग या अग्निविकृति से पीडित रोगी की परीक्षा करते हुए उसे अर्श है या नही इस वात का प्रश्न अवश्य करना चाहिए। रोगी को स्वय अर्श न हो तो उसके माता-पिता, अग्रज आदि पूर्वजो को अर्श था या नहीं, इस वात के परिज्ञान से सहज अर्शो की प्रवृत्ति का ज्ञान होता हे और तदनुरूप चिकित्सा के मार्ग की शुद्धि होती है। प्रसगवश यह भी लिख दूँ कि अग्नि को मन्दता आदि विकारो से पीडित रोगी का इतिहास देखते हुए उसे अग्नि को मन्द करनेवाले रोगो में विशेषतया प्रवाहिका तथा कफप्रधान सतत ज्वर-विशेप (मुख्यतया नवीनो का टायफॉयड) तो नहीं हुआ था यह प्रश्न भी करना चाहिए।

रोगो का सकर तथा उनकी अनुत्पत्ति का उपाय[1]——

एक रोग से रोगान्तर की उत्पत्ति होते हुए दो स्थितियाँ हो सकती है। या तो प्रथम रोग रोगान्तर को उत्पन्न कर शान्त हो गया होता हे अथवा पूर्व रोग स्वयं भी शान्त नहीं हुआ होता और इतर रोग का हेतु भी वनता हे——इतर रोग को उत्पन्न करता है'——

कश्चिद्धि रोगो रोगस्य हेतुर्भूत्वा प्रशाम्यति।
न प्रशाम्यति चाप्यन्यो हेतुत्वं कुरुतेऽपि च॥
च० सू० ८।२१

इस प्रकार पूर्वापर दोनो रोगो की विद्यमानता या व्याधि-संकर होता है। यह व्याधि-सकर वडा कष्टदायी और कष्टसाध्य होता है। इस व्याधिसकर की उत्पत्ति के कारण दो हैं——प्रयोग (चिकित्सा) की शुद्धि नाम शास्त्रानुसारिता न होना तथा स्वभाव से ही रोगो की परस्परोत्पादकता। यथा——

आमातिसार में अतिसार के रूप में प्रवृत्त होते हुए दोप की उपेक्षा करना——उसे प्रवृत्त होने देना, इतना ही नही प्रवृत्ति यथावत् न होती हो किवा सकष्ट होती हो तो अभया आदि द्वारा उनका प्रवर्तन——यही औपध होता है[2]। स्तम्भन

१——देखिए च सू ८।२०-२३ तथा इन पर चक्रपाणि-टीका, सु० उ० ४०।१६८।

२——तस्मादुपेक्षेतोत्क्लिष्टान् वर्तमानान् स्वयं मलान्।
कृच्छ्रं वा वहता दद्यादभया सप्रवर्तिनीम्॥ च० चि० १९।२१

से—प्रवृत्ति को अहिफेन आदि कल्प देकर रोक देने से—आमदोष अन्दर ही रहकर एव प्रसृत होकर शूल, आनाह, आध्मान, ग्रहणी, ज्वर आदि रोगो को उत्पन्न करता है[1]। यह आमातिसार की शास्त्रोक्त शुद्ध चिकित्सा है। इसका अनुसरण न कर स्तम्भन किया जाए तो अतिसार तो कदाचित् शान्त हो जाए पर दोष शरीर में ही रह जाने से ग्रहणी आदि रोग नए उत्पन्न हो जाएँगे। इसे ऊपर के पद्य में प्रयोगापरिशुद्धि कहा गया है। अजीर्ण के किसी भी भेद से जो अतिसार होता है—कच्चे, हरे-पीले, दुर्गन्धयुक्त दस्त होते हैं—उसे आमातिसार कहते हैं। इसी प्रकार दोषज अतिसारों में भी मल या दोष साम हो तो उन्हें आम-वातातिसार आदि नाम दिए गए है। शुद्ध चिकित्सा उनमें भी पूर्वलिखित होती है।

प्रयोग की शुद्धि में रोग सपूर्ण निवृत्त न हो जाए तबतक पथ्यापथ्य के नियमों के पालन की भी गणना की जानी चाहिए। अतिसार से ग्रहणी की उत्पत्ति होने का पूर्वोद्धृत पद्य में निर्देश कर आगे सुश्रुताचार्य कहते है —

तस्मात् कार्यः परीहारस्त्वतीसारे विरिक्तवत् ।
यावन्न प्रकृतिस्थः स्याद्दोषतः प्राणतस्तथा ॥

सु० उ० ४०।१६८

अन्य रोग उत्पन्न न हो जाएँ इस हेतु अतिसारी को विरिक्त (जिसे विरेचन दिया गया है उस पुरुष) के समान तबतक परीहार—पथ्यापथ्य-सम्बन्धी नियत्रण—करना चाहिए जब तक उसके दोष एव शक्ति प्राकृतावस्था में न आ जाएँ। चिकित्सा के तीन अङ्गो में निदान-परिवर्जन नाम से इस परीहार या अपथ्य के त्याग का भी निर्देश तन्त्रकारो ने किया है। अत इसे भी प्रयोग या चिकित्सा के अन्तर्गत यहाँ ग्रहण किया है।

निदान-परिवर्जन समेत चिकित्सा की शुद्धि से ही एक रोग दूर होता है तथा अन्य नवीन रोग उत्पन्न नही होने पाता।

प्रयोगः शमयेद्व्याधिं योऽन्यमन्यमुदीरयेत् ।
नासौ विशुद्ध, शुद्धस्तु शमयेद्यो न कोपयेत् ॥

च० चि० ८।२३

शुद्ध प्रयोग उसी का नाम है जो विद्यमान व्याधि को शान्त करे, एव नवीन

१—तेषूपेक्षैव भेषजम् ॥ अ हृ चि ६।३

नतु सग्रहण देय पूर्वमामातिसारिणे ।
विबध्यमाना प्राग्दोषा जनयन्त्यामयान् बहुन् ॥

च चि १६।१६

व्याधि को उत्पन्न न करे। वह प्रयोग (चिकित्सा) विशुद्ध नही कहा जा सकता जो (पूर्व रोग को शान्त करे या न करे परन्तु) अन्यान्य रोगो को उत्पन्न करे।

आधुनिक चिकित्साशास्त्र द्वारा सशोधित नवीन औषधो को आत्मसात् करते हुए शुद्ध वैद्यो द्वारा इस पद्य में कही कसौटी प्राय प्रस्तुत की जाती है। वह यथार्थ ही है। देखते हैं--त्वरित रोग-निवृत्ति की लालसा में लगा आज का जन-समाज तथा चिकित्सक-समाज इन नवाविष्कृत औषधो से कदाचित् एक रोग को शान्त करता है, पर प्राय नए-नए रोगो को जन्म देता है। परिणामतया, इन औषधो से साध्य रोगो के सम्बन्ध में आज जितना वाङमय पाया जाता है उससे अधिक वाङमय इनके विपरिणामो, उनकी चिकित्साओ तथा उनके प्रयोग के सम्बन्ध की चेतावनियो पर होता है। कठिनाई यह है कि चिकित्सक-वर्ग इस परिस्थिति को स्वय समझता है, पर इन औषधो का प्रचार इतना विपुल हो गया है कि रोगी इन्हीं औषधो की माँग करता चिकित्सक के पास आता है और वह चिकित्सा में इन औषधो का उपयोग न करे तो अन्य चिकित्सक के द्वार पर जाता है।

दोषबलप्रवृत्त रोगो के द्वितीय भेद के कारणभूत मिथ्याहार-विहार विषयक वक्तव्य आगे निदान-प्रकरण में आएगा ही। अत उसे छोड आगे इनके शास्त्रोक्त भेद देखते हैं।

आमाशय-समुत्थ तथा पक्वाशय-समुत्थरोग---

तेऽपि द्विविधाः-आमाशयसमुत्थाः पक्वाशयसमुत्थाश्च ॥

सु० सू० २४।५

आमाशयसमुत्था नाभेरुपरिजाः कफपित्तजन्या वा। पक्वाशय-समुत्था नाभ्यधोगता वातजन्या वा ॥ चक्रपाणि

द्वे रोगानीके आशयभेदेन-आमाशयसमुत्थं पक्वाशयसमुत्थं चेति ॥

च० वि० ६।३

आमाशयसमुत्थत्वेन आमाशयाश्रयाः कफपित्तजाः सर्वे गदा गृह्यन्ते, पक्वाशयसमुत्थग्रहणेन सर्वे वातजाः। एवं सर्वविकारावरोधः ॥

चक्रपाणि

इन दोषबलप्रवृत्त रोगो के आशय-भेद से दो भेद है--आमाशयसमुत्थ नाम आमाशय में जिनका आरम्भ हुआ है ऐसे रोग तथा पक्वाशयसमुत्थ नाम जिनका आरम्भ पक्वाशय में हुआ है ऐसे रोग।

यहाँ आशय का अर्थ है वह अवयव जिसमे रोगारम्भक दोष ने प्रथम स्थान-संश्रय किया है। वैसे तो शरीर में अवयव अनेक है परन्तु चिकित्सा मे उपयोगिता

की दृष्टि से दोषो का प्रथम उद्भव जिन अवयवो या आशयो में होता है उन्हीं को दृष्टि में रखकर रोगो के यहाँ दो अनीक या वर्ग बना दिए गए है---आमाशयोद्भव तथा पक्वाशयोद्भव।

यहाँ आमाशय का अर्थ है, महास्रोत का नाभि से ऊपर का भाग जिसमें आम का आश्रय होने से पच्यमानाशय भी परिगणित है। पक्वाशय का अर्थ है नाभि से नीचे का भाग, जिसमें मुख्यतया स्थूलान्त्र का समावेश होता है। आम-पच्यमानाशय में उद्भूत रोगो का ही निर्देश दोषानुसार करना हो तो कह सकते है कि इस वर्ग में उन रोगो का समावेश है जो कफ या पित्त के प्रकोप से उत्पन्न होते है। कारण, दोषो का स्थान बताते हुए आमाशय को कफ का तथा पच्यमानाशय को पित्त का प्रधान स्थान पूर्वाचार्यों ने कहा है। इसी प्रकार पक्वाशयोद्भूत रोगो का ही नामान्तर है---वे रोग जिनमें मुख्य प्रकोप वायु का होता है, कारण, वायु के प्रकोप और प्रसर का मुख्य स्थान पक्वाशय को ही बताया गया है।

आशय-भेद से रोगो के वर्गीकरण का प्रयोजन---

उक्त स्थानों को दोषों का मुख्य स्थान कहने का प्रयोजन यह है कि कफादि दोषो की प्राकृत पुष्टि प्रथम इन्ही स्थानो पर होती है, पश्चात् उनका ग्रहण होकर शरीर के इतर स्थानो पर वहन होता है और अन्य स्थानो पर स्थित तत्तत् दोष की भी पुष्टि होती है। दोषो का चय-पूर्वक प्रकोप भी अपने-अपने प्रकोपक आहार ग्रहण करने से इन्हीं स्थानो पर प्रथम होता है। यही से उनका प्रसर तथा शरीर के इतर अवयवो में स्थान-सश्रय होकर रोगोत्पत्ति होती है। उपचार करते हुए स्नेहन और स्वेदन से रोग के आश्रयभूत अवयव-विशेष से दोष को मुक्त करके अपनी उत्पत्ति के मूल स्थान पर लाया जाता है। इसके अनन्तर यथादोष वमन, विरेचन या वस्ति द्वारा इनका सशोधन किया जाता है। देखिए

स्वे स्वे स्थानेऽनिलादीना सर्वेषा मूलमिष्यते।
जितेऽत्र जायते तेषा कृत्स्ननाशो यथा रुहाम्॥

सु० नि० १।५।८ पर डल्हन धृत तन्त्रान्तर-वचन।

अर्थात्---दोषो का जो एक-एक अपना स्थान कहा है उसे इन का मूल समझना चाहिए। कारण, जैसे मूल का उच्छेद कर देने से वृक्ष-वनस्पतियो का नियत उच्छेद होता है वैसे इन मूलभूत स्थानो पर दोषो का उपर्युक्त संशोधनात्मक, आगे कहा जानेवाला संशमनात्मक तथा पथ्यापथ्य इस पर्याय नाम से प्रसिद्ध निदान-परिवर्जनात्मक त्रिविध उपचार कर दिया जाए तो रोग मूलोच्छिन्न हो जाता है। साथ ही उसकी पुनरुत्पत्ति का भी कोई कारण नही रह

जाता। इन मूल स्थानो को लक्ष्य मे रखकर की गयी उक्त त्रिविध चिकित्सा को ही आयुर्वेद-मत से मूलगामी चिकित्सा कहा जा सकता है।

आयुर्वेद-दृष्ट्या मूलगामी चिकित्सा के अङ्गभूत-सशोधन का विवरण ऊपर किया है। सशमनात्मक चिकित्सा भी आशय-भेद से भिन्न होती है। उदाहरणतया—

शान्तिरामाशयोत्थाना व्याधीना लङ्घनक्रिया ॥

च० नि० ८।३१

आमाशय कफ और पित्त का स्थान है। अत सामान्यतया इन दोषो का प्रकोप होकर उन से उत्पन्न होनेवाले रोगो की प्रथमोत्पत्ति आमपच्यमानाशय में होती है। परन्तु वायु का स्थानसश्रय आमाशय में हुआ हो तो भी स्थानीय दोष कफ और पित्त का भी यत्किञ्चित् प्रकोप होता ही है। परिणामतया, चिकित्सा का आरम्भ स्थानीय दोष को (वह आशय जिस का मूल स्थान है उस दोष को) लक्ष्य मे रखकर किया जाता है। अथवा यो कह सकते है कि स्थान को दृष्टि में रख कर आयुर्वेद-मत से आरम्भिक चिकित्सा में भेद होता है।

कफ और पित्त द्रव और स्निग्ध धातु है, अत ये लङ्घनसाध्य है। कफ मे द्रवत्व, गुरुत्व, स्निग्धत्वादि गुण सविशेष होने से उस मे लङ्घन स्वभावत अधिक काल करना आवश्यक होता है। साथ ही, प्रकोप का प्रमाण जितना होता है उतना ही लङ्घन-काल भी दीर्घ होता है। पित्त मे ये गुण अल्पतर होते है, साथ ही उसके तीक्ष्ण गुण के कारण भी लङ्घन की मर्यादा स्वभावत न्यून होती है, अत कफ की अपेक्षया पित्त में लङ्घन-काल अल्पतर होता है। कफ तथा पित्त की इस लङ्घन-साध्यता को लक्ष्य में रखकर ही पूर्वाचार्यो ने यह मत निर्धारित किया है:—

कफपित्ते द्रवे धातू सहेते लङ्घनं महत् ॥

च० चि० ३।२८३ पर चक्रपाणि धृत तन्त्रान्तर वचन।

एक-दो प्रसिद्ध रोगो का उदाहरण देकर आमाशयोत्थ रोगो की लङ्घन-साध्यता का स्वरूप कुछ स्पष्ट देख ले।

आमाशयोद्भव रोगो में वमन का अन्तर्भाव सरलता से समझ में आ सके ऐसी वस्तु है। इस की चिकित्सा का प्रथम सूत्र बताते आचार्यो ने कहा है—

आमाशयोत्क्लेशभवा हि सर्वाश्छर्द्यो मता लङ्घनमेव तस्मात्।
प्राक्कारयेन्मारुतजा विहाय संशोधनं वा कफपित्तहारि ॥

च० चि० २०।२०

× × लङ्घनमल्पदोषविषयं शोधनं च बहुदोषविषयम्। संशोधन-शब्देन चेह विरेचनवमने द्वे अपि गृह्यते × ×[1] ॥

आमाशयोत्क्लेशभवा हि सर्वास्तस्माद्धितं लङ्घनमेव तासु ॥
सु० उ० ४९।१५

'बलिनः' इति वाक्यशेष ॥ डल्हन

वमनमात्र में आमाशय का उत्क्लेश कारणभूत होता है। अत वातिक को छोड शेष सर्व वमनो में रोगी बली हो अर्थात् लङ्घन को सहन कर सकता हो तो लङ्घन ही कराना चाहिए। परन्तु दोष कदाचित् अधिक हो तो दोष-भेद से वमन-विरेचन द्वारा उन का सशोधन कर देना चाहिए।

वायु के प्राकृत कर्मो में एक दोषो का बहि क्षेपण है—क्षेप्ता बहिर्मलानाम् आमपच्यमानाशय में कफ और पित्त का सचय हुआ हो तो उसे निकटवर्त्ती द्वार मुख से बाहर निकालने के प्रयोजन से वायु की जो क्रिया होती है उसे उत्क्लेश कहा जाता है।

वमन के उदाहरण के अनन्तर अब रोगो में प्रधान ज्वर की आमाशय-समुत्थता तथा तदाश्रित लङ्घन-साध्यता सक्षेप मे देखते है।—

तत्र पूर्वरूपदर्शने ज्वरादौ वा हितं लघ्वशनमपतर्पणं वा, ज्वरस्यामाशयसमुत्थत्वात् ॥ च० नि० १।३६

× × × आमाशयसंबन्धेन वातोऽपि मनाग् लङ्घनीयः स्थानापेक्षया भवतीति भावः। वचनं हि—'स्थानं जयेद्धि पूर्वं स्थानस्थस्याविरुद्धं च' इति ॥ चक्रपाणि

ज्वरे लङ्घनमेवादावुपदिष्टमृते ज्वरात्।
क्षयानिलभयक्रोधकामशोकश्रमोद्भवात् ॥
च० चि० ३।१३९[2]

१—इस विषय का मूल सुश्रुत का अधोलिखित वचन है—

वमीषु बहुदोषासुच्छर्दनं हितमुच्यते।
विरेचनं वा कुर्वीत यथादोषोच्छ्रयं भिषक् ॥ सु० उ० ४९।१६

२—विशेष तथा पूर्ण स्पष्टता के लिए इन स्थलो की चक्रपाणि तथा शिवदास सेन की टीकाएँ, च० चि० ३।१३९-१४३, सु० उ० ३९।१००-१०६, अ. हृ चि १।१-३, २१-२४ तथा इन पर चक्रपाणि, डल्हन, अरुण तथा हेमाद्रि की टीकाएँ देखिए। आगे ज्वर-प्रकरण मे भी यह विषय सविस्तर दिया गया है।

आमाशयस्थो हत्वाग्निं सामो मार्गान् पिधाय यत्।
विदधाति ज्वरं दोषस्तस्मात् कुर्वीत लङ्घनम्॥

अ० हृ० चि० १।१

ज्वर की सप्राप्ति के प्रकरण मे देखेंगे कि ज्वरारम्भक दोष कोई भी हो उसका प्रथम प्रवेश आमाशय मे होता है। वहाँ वह अग्नि को अभिभूत एव मार्गो को आवृत कर, पश्चात् रस धातु के साथ सयुक्त हो ज्वरोत्पत्ति के लिए सर्व शरीर में प्रसृत होता है। इस प्रकार ज्वर आमाशय-समुत्थ होने से उसके पूर्वरूपो का प्रादुर्भाव होने पर किवा ज्वर के लक्षणो का उदय होने पर रोगी बली हो तथा दोषो का प्रमाण विशेष हो तो लघुता के लक्षणो का आविर्भाव न हो तबतक लङ्घन (उपवास) करना चाहिए। परन्तु ज्वर यदि धातुक्षय, राजयक्ष्मा, वायु, भय, क्रोध, काम, शोक या श्रम इन कारणो से उत्पन्न हुआ हो तो लङ्घन न करना चाहिए। कारण, लङ्घन वायु का प्रकोपक एव धातुक्षयकारी होने से इन हेतुओ से उत्पन्न ज्वरो मे विरुद्ध (कॉन्ट्रा-इडिकेटेड) होता है। इन ज्वरो मे भी दोष का प्रवेश आमाशय में होकर ज्वर की उत्पत्ति हुई होने से स्थान के सवन्ध से, लङ्घन के समान गुणवाला परन्तु वायु को प्रकुपित एव धातुओ को क्षीण न करनेवाला लघ्वशन (हलका, दोष-विपरीत भोजन) करना चाहिए। परन्तु यदि वायु साम हो तो निरामता उत्पन्न हो तबतक लङ्घन ही करना चाहिए।

विषय के विशदीकरण की दृष्टि से आवश्यक होने से साम तथा निराम वायु का विचार किंचित् प्रस्तुत करता हूँ। वायु के प्रकोप के दो कारण सक्षेप में आचार्यो ने कहे है—धातुक्षय और मार्गावरण—वायोर्धातुक्षयात् कोपो मार्गस्यावरणेन वा (च. चि २८।५९)। इनमें धातुक्षय से वायु का प्रकोप हुआ हो तो वह रूक्ष (गुरुत्व-स्निग्धत्वादि गुणरहित) होने से निराम होता है। ज्वर की उत्पत्ति इस वायु से हुई हो तो आमाशय के सबन्धवश लघ्वशन करना चाहिए। द्वितीय कारण मार्गावरण से वायु का प्रकोप हुआ हो तो वह प्राय साम होता है। उसमे लङ्घन ही विधेय है। अलबत्ता लङ्घन की मर्यादा कफ जितनी न होनी चाहिए। देखिए

अनिलशब्देन निरामानिलग्रहणम्। किवा क्षयानिलशब्देन धातुक्षयकुपितानिलग्रहणम्। यदुक्तम्—'वायोर्धातुक्षयात् कोपो मार्गस्यावरणेन वा' (च० चि० २८।५८) इति। यस्तु मार्गावरणेन वायुः कुप्यति स आवरक-धर्मितया प्रायेण सामो भवति। तत्र च लङ्घनं मात्रया

कर्तव्यमेव। यदुक्तम्--'सामे वातेऽपि लङ्घनं कुर्यादेव मलपक्त्यर्थं युक्त्या, न तु यथा कफे' इति॥ च० चि० ३।१३८ पर चक्रपाणि

जैसा कि आगे ज्वर की चिकित्सा के प्रकरण में देखेंगे दोष साम होने के कारण तथा उससे अग्नि अभिभूत एवं मन्द हो गया होने से स्वयं औषध का भी इस काल में पूर्वाचार्यों ने निषेध किया है। कारण, अग्नि की मन्दता से औषध का परिपाक न होने से वह आम रह जाता है। परिणामतया शरीर में आम की वृद्धि ही होती है, जो ज्वर को और बढ़ाता है।

आमाशय-समुत्थ रोगों के चिकित्सा-सूत्र के रूप में यहाँ मुख्य होने से केवल लङ्घन का उपदेश शास्त्रकार ने किया है। इसे उपलक्षण समझना चाहिए। दोषों को निराम और सम करनेवाले अन्य भी उपचारों का ग्रहण लङ्घन शब्द से यहाँ करना ही चाहिए।

आमाशय-समुत्थ रोगों के सदृश ही पक्वाशय-समुत्थ रोगों की चिकित्सा में भी वस्ति आदि विशेष होता है। यथा रक्तातिसार या रक्तप्रवाहिका में पिच्छावस्ति। मुख से औषध दिया जाय तो उसका पच्यमानाशय में ही पचन हो सर्व शरीर में प्रसर होने पर अति अल्प मात्रा रोग के अधिष्ठान पक्वाशय में जाती है। अतः पिच्छावस्ति और वह भी कुछ कालपर्यन्त अन्दर स्थिर रहे इस दृष्टि से दी गई हो तो रोग में निश्चित तथा त्वरित लाभ होता है। नवीनों ने भी इन रोगों में प्रत्यक्ष किया है कि सल्फाग्वायनीडीन, थैलाजोल, एन्ट्रोवायोफॉर्म तथा अन्य द्रव्य मुख से प्रायः लाभ नहीं करते, परन्तु इन्हीं द्रव्यों की स्थिर बस्ति (रिटेन्शन एनीमा) से नियत और त्वरित गुण होता है। ये द्रव्य छः आठ, बारह घण्टे और कभी-कभी आवश्यकतानुसार चौबीस घण्टे भी रखे जाते हैं।

स्थान-भेद से रोगों के उल्लिखित दो भेद तथा इस भेदन (विभजन) की चिकित्सा की दृष्टि से उपयोगिता दर्शा कर दोषबलप्रवृत्त रोगों के संबन्ध में तन्त्रकार का इसी प्रकरण में आया अन्य वक्तव्य अब देखते हैं।

दोषबलप्रवृत्त रोगों के पुनः दो भेद--

दोषबलप्रवृत्त रोगों के पुनः दो प्रभेद किए जाते हैं--शारीर और मानस। इन भेदों का विचार पहले किया जा चुका है। यद्यपि शारीर रोग भी अनन्तर काल में मानस रोगों को उत्पन्न करते हैं तथा मानस रोगों से भी पीछे से शारीर रोग उत्पन्न होते हैं तथापि शारीर रोग शारीर दोषों के वैषम्य से और प्रथम शरीर में उत्पन्न होते हैं, पश्चात् मन में उपताप या व्यथा उत्पन्न करते हैं; इसी प्रकार मानस रोग प्रथम मानस दोषों के वैषम्य से और मन में उत्पन्न होते हैं, पश्चात्

शारीर दोषों का भी वैषम्य होकर शारीर रोगो को उत्पन्न करते है। उपचार में भी शारीर रोगो में शारीर दोषो का तथा मानस रोगो मे मानस दोषो का मुख्यत्वेन करना चाहिए।

जैसा कि अध्याय के आरम्भ मे कह आए है अबतक वर्णित तीन भेदो आदि-बलप्रवृत्त, जन्मबलप्रवृत्त तथा दोषबलप्रवृत्त मे कहे रोगो का समावेश आध्यात्मिक इस एक वर्ग मे किया जाता है। अब अगले भेद सघातबल-प्रवृत्त का विवरण करते है।

संघातबलप्रवृत्त रोग

रोगो के वर्गीकरण के आरम्भ मे रोगो के दो प्रमुख भेदो—निज और आगन्तु—का उल्लेख किया जा चुका है। शारीर या मानस दोषो का प्रकोप प्रथम होकर जो रोग होते है उन्हे निज कहा गया है तथा प्रहार, पतन, दश आदि बाह्य कारणो से जो रोग होते है उन्हें आगन्तु कहा गया है। इन आगन्तुओ का ही एक भेद सघातबलप्रवृत्त रोग होते है[1]।

जो आगन्तु रोग शरीर, मन और वाणी से दुर्बल पुरुष को अपने से इन में किसी भी प्रकार से बलवत्तर पुरुष के साथ कायिक, वाचिक या मानसिक कलह करने से, किवा पतन (गिरना) आदि कारणो से होते है[2] उन्हे सघातबलप्रवृत्त कहते हैं।

सघातबलप्रवृत्त रोग कारण-भेद से दो प्रकार के होते है। १—शस्त्रकृत—अर्थात् शस्त्र, प्रहार, पीडन (दबना, कुचलना) आदि हिसा-प्रधान क्रियाओ से होते हैं ऐसे रोग[3]। तथा २—व्यालकृत—दुष्ट प्राणियो के दश आदि से जो

१—देखिए, आगन्तव इति आगन्तुविशेषा इत्यर्थ। अपरागन्तूना भूतादीनामाधिदविकेऽभिधानात्—चक्रपाणि। आगन्तु का अर्थ यहाँ आगन्तु-विशेष है। कारण, भूतादि से होनेवाले आगन्तु रोगो की गणना आधिदैविक रोगो मे की है। अत यहा सघातबलप्रवृत्त शब्द से सभी आगन्तुओ का गहण नही होता।

२—देखिए दुर्बलस्य बलवद्धिग्रहादिति आगन्तुकारणविशेषोपलक्षणम्, तेन पतनादिजन्यानापि ग्रहणम्—चक्रपाणि।—मूल मे दुर्बल का बलवान् के साथ कलह होना, यह जो कारण कहा है वह उपलक्षण (अपना तथा अन्य वस्तुओ का भी ग्रहण कराने वाला) है। अत इस शब्द से पतन आदि अनुक्त कारणो से होनेवाले सघातबलप्रवृत्त रोगो का भी ग्रहण होता है।

३—शस्त्रकृता इत्यत्र शस्त्रस्य हिसकमात्रोपलक्षणतया अतिरिक्ताभिघात-पीडनादिकृताश्च गृह्यन्ते—चक्रपाणि।—शस्त्र शब्द हिंसार्थक शसु धातु से→

होते हैं वे रोग। व्याल शब्द संस्कृत भाषा में व्याघ्र तथा हिंसक प्राणी दोनों अर्थों में व्यवहृत होता है। यहाँ द्वितीय अर्थ ग्राह्य है। मूल में हिंसक प्राणियों के लिए प्रयुक्त 'दुष्ट' इस विशेषण के दो आशय हैं— उनका कोपाविष्ट होना तथा / अथवा उनका सविष होना[२]।

संक्षेप में द्वितीय भेद से उन सर्व रोगों का अभिधान होता है जिनके विवरणार्थ पूर्वाचार्यों ने आयुर्वेद के अष्ट अङ्गों में एक पृथक् अङ्ग विषतन्त्र या अगदतन्त्र की रचना की है। प्रथम भेद का विस्तार शल्यतन्त्र में हुआ है।

संघातबलप्रवृत्त रोगों को आधिभौतिक रोग भी कहा जाता है। इस शब्द में भूत का अर्थ है—प्राणी। उनसे होनेवाले होने से इन्हें आधिभौतिक कहते हैं।

संघातबलप्रवृत्त रोगों के विषय में इतना संक्षिप्त निर्देश कर अब अगले वर्ग कालबलप्रवृत्त की व्याख्या प्रस्तुत की जाती है।

इस प्रकरण में आए आदिबलप्रवृत्त तथा जन्मबलप्रवृत्त रोगों का भेद समझने में ओष्ठभेद (हेअरलिप) उत्तम उदाहरण है। माता-पिता के फिरङ्ग के कारण पुत्र का ओष्ठ फटा हो तो यह आदिबलप्रवृत्त कहा जाएगा, और ऐसे किसी रोग का इतिहास न हो तो ओष्ठभेद को जन्मबलप्रवृत्त समझना चाहिए।

कालबलप्रवृत्त रोग

शीतोष्णवर्षलक्षणाः पुनर्हेमन्तग्रीष्मवर्षाः संवत्सरः।
सकालः॥ च० सू० ११।४२

कालः शीतोष्णवर्षलक्षणः षड्ऋतुकः॥ डल्हन

कालः पुनः परिणाम उच्यते॥ च० सू० ११।४२[२]

आयुर्वेदीय पदार्थविज्ञान (दर्शन) में काल शब्द बहुत व्यापक अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। यथा—ज्वरादि रोगों की सामता, निरामता आदि अवस्थाओं के

←व्युत्पन्न होने से वह, हिंसा जिसका परिणाम हो ऐसी जानत-अजानत की गयी क्रियामात्र का द्योतक है। अतः यहाँ 'शस्त्र' शब्द से कण्ठरव से अनुक्त अभिघात-पीडनादि भी गृहीत हैं।

१—संघात का अर्थ है—आघात। दोनों शब्दों में केवल उपसर्ग का भेद है। आघात का अर्थ प्रहार प्रसिद्ध है। इसी से डल्हन ने कहा है—**संघातबलप्रवृत्ता इति प्रहारशक्तिजाता।**

२—सु० सू० २४।४-७ (चालू प्रकरण) तथा उस पर डल्हन की टीका के अतिरिक्त सु० सू० १।३३-३४ तथा उस पर डल्हन-टीका भी देखिए।

लिए भी काल शब्द का व्यवहार हुआ है। परन्तु रोगो के वर्गीकरण के इस प्रकरण में काल शब्द का प्रयोग कुछ मर्यादित अर्थ में हुआ है।

आगे निदान-प्रकरण मे हम देखेगे कि रोगो का संनिकृष्ट (साक्षात्, सीधा) कारण यद्यपि दोषो का प्रकोप या क्षय है तथापि इनका प्रकोप या क्षय प्रज्ञापराध आदि कारणो से होता है। रोगोत्पत्ति में इन प्रज्ञापराधादि को विप्रकृष्ट (दूरवर्ती, परोक्ष) कारण कहा जाता है। दोष-वैषम्य के हेतुभूत प्रज्ञापराधादि तीन कारणो मे एक परिणाम है[1]। परिणाम का अर्थ है--शीत (सर्दी, ठड), उष्ण (गर्मी) और वर्षा--ये तीन जिनके क्रमिक लक्षण है ऐसी हेमन्त, ग्रीष्म और वर्षा इन तीन प्रधान ऋतुओ में किवा इन्ही लक्षणोवाली छ ऋतुओ मे विभक्त संवत्सर-रूप काल। इन ऋतुओ के शीत, उष्ण, वात, वर्षा, आतप (धूप), निवात, अन्धकार आदि कारणो से जो ज्वर, व्रण, जाड्य (स्तब्धता) आदि रोग या लक्षण होते हैं उन्हें कालबलप्रवृत्त कहा जाता है। यह सवत्सरात्मक काल प्राकृत हो या वैकृत--दोनो अवस्थाओ मे इसमें स्थित रोगोत्पादक शक्ति से इन रोगो के उत्पन्न होने से इन्हें काल-बल-प्रवृत्त कहते हैं[2]। चरक ने जिन रोगों को परिणाम-जन्य कहा है वही सुश्रुत-संहिता में कालबल-प्रवृत्त नाम से अभिहित है, यह वस्तु सक्षेप मे समझ लेनी चाहिए।

कालबलप्रवृत्त रोगो के भेद--

तेऽपि द्विविधाः--व्यापन्नर्तुकृताः, अव्यापन्नर्तुकृताश्च ॥

सु० सू० २४।७

अव्यापन्नर्तुकृताः कालस्वभावकृतपित्तादिचयादिकृता ॥

चक्रपाणि

१--देखिए च सू २०।५, च सू १।५४, च नि १।३ तथा इनपर चक्रपाणि-टीका।

२--च० सू० १।५४ की विस्तृत टीका मे चक्रपाणि ने कहा है--वयोरूप काल का परिणाम (परिपाक) होने मे होनेवाले जरा और मृत्युरूप रोग, प्राक्तन कर्मो का परिपाक होने मे होनेवाले कर्मज रोग तथा सततादि विषमज्वर--इन्हे भी च० शा० १।११३--११६ मे कालज कहा है। उनका परिणामज (कालबलप्रवृत्त) रोगो मे ग्रहण न करना चाहिए। कारण वे वस्तुत कालज नही है। काल-विशेष उपस्थित होने पर उनकी अभिव्यक्ति होती है, इतना ही। उनमे वास्तविक कारण प्रज्ञापराध ही है।

प्रत्येक ऋतु के जो शास्त्रोक्त[1] तथा लोकविदित लक्षण हैं उनसे भिन्न लक्षण किसी ऋतु में दृष्टिगोचर हो तो उसे उस ऋतु की व्यापत्ति कहते हैं। लक्षणों की भिन्नता के प्रकारों का निर्देश अनुपद किया जायगा। इनमें किसी भी प्रकार की व्यापत्ति ऋतु-विशेष में देखने में आए तो ऋतु को व्यापन्न ऋतु कहा जाता है।

ऋतु व्यापन्न होने पर तो तत्तत् रोग होना बुद्धिगम्य है, परन्तु अव्यापन्न ऋतुओं में भी रोगोत्पत्ति स्वभावतः होती है। स्वस्थवृत्त में कहा गया है कि प्रत्येक ऋतु के स्वभावानुसार उसमें अमुकामुक दोष का सचय, प्रकोप और प्रशम हुआ ही करता है। परिणामतया जिस ऋतु में जिस दोष का स्वाभाविक प्रकोप होता है उस ऋतु में उस दोष के प्रकोपवश जायमान रोग अवश्य होते हैं—किसी को न्यून किसी को अधिक। इसी से पुरुष कितना भी नियमित जीवन व्यतीत करता हो ऋतुओं का परिवर्तन होने पर उसे यत्किचित् शारीरिक व्यथा होती ही है। व्यवहार में इसे ऋतु-परिवर्तन का परिणाम माना और कहा जाता है। परन्तु आयुर्वेद के दर्शनानुसार इनका कारण दोषों का ऋतुस्वभाव-जन्य सचय, प्रकोप और प्रशम होता है। आयुर्वेदीय चिकित्सकों को जनता में आयुर्वेदीय सिद्धान्तों का परिचय कराने की दृष्टि से स्वय इस सप्राप्ति को लक्ष्य में रखना एव अपने आतुरों को इस विषय का बोध कराते रहना चाहिए।

किस ऋतु में किस दोष का प्रकोप होता है और क्यों यह विषय विस्तार में स्वस्थवृत्त के ग्रन्थ में आएगा। यहाँ उपयोगी और स्मरणीय होने से केवल एक पद्य दिया जाता है, जिसमें तत्तत् ऋतु में तत्तत् दोष के निर्हरण का विधान सुश्रुत ने किया है —

हरेद्वसन्ते श्लेष्माणं पित्तं शरदि निर्हरेत्।
वर्षासु शमयेद्वायुं प्राग्विकारसमुच्छ्रयात्॥

सु० सू० ६।३८

ऋतु-स्वभाववश प्रकुपित हुआ दोष रोग-विशेष को उत्पन्न करे इसके पूर्व ही उसका सशोधन-सशमनादि[2] उपचार करना चाहिए। वसन्त ऋतु में

१—अव्यापन्न ऋतुओं के लक्षणों के लिए देखिए सु० सू० ६।२१-३६। सम्पूर्ण पद्यमाला अत्यन्त सुन्दर, कण्ठाग्र करने योग्य तथा सस्कृत के किसी भी पाठ्यपुस्तक में स्थान ग्रहण कर सके ऐसी है।

२—इस पद्यवाले अध्याय में ही पहले आगे धृत सु० सू० ६।१६ की टीका में डल्हन ने निर्हरण का यह व्यापक अर्थ लेने की सूचना की है।

प्रकुपित श्लेष्मा का, शरद् ऋतु में पित्त का तथा वर्षा में वायु का प्रशमन करना चाहिए।

प्रकोप-काल उपस्थित होने पर ही दोष का यथोचित उपचार करना चाहिए यह नियम यहाँ न समझ लेना चाहिए। किन्तु सचयकाल में भी ऐसी चर्या रखना योग्य है कि जिससे अगली ऋतु में प्रकोप उतना कष्टदायी न हो, साथ ही दोष के स्वस्थान पर सचय से जो रोग होते है उनका भी प्रादुर्भाव न हो। आयुर्वेद में दोषो के सचय को प्रथम क्रियाकाल कहा गया है। इसी दृष्टि से तन्त्रकारो ने विभिन्न ऋतुओ में विभिन्न चर्या का उपदेश किया है। तथाहि :

तत्र वर्षाहेमन्तग्रीष्मेपु संचिताना दोपाणा शरद्वसन्तप्रावृट्सु च प्रकुपितानां निर्हरणं कर्तव्यम्॥ सु० सू० ६।१२

ऋतुओ की व्यापत्ति का अर्थ—

स्वगुणैरतियुक्तेपु विपरीतेपु वा पुनः।
विपमेष्वपि वा दोपा कुप्यन्त्यृतुपु देहिनाम्॥
सु० सू० ६।३७

इदानीमध्यायपरिसमाप्तौ व्यापत्संग्रहश्लोकः-स्वगुणैरित्यादि × × ×॥ डह्लन

तत्रातिमात्रस्वलक्षणः कालः कालातियोगः, हीनस्वलक्षणः (कालः) कालायोगः, यथास्वलक्षणविपरीतलक्षणस्तु (कालः) कालमिथ्यायोगः॥
च० सू० ११।४२[1]

रोगनिदान-प्रकरण मे कहे गये प्रज्ञापराधादि विप्रकृष्ट कारणो मे कर्म, इन्द्रियार्थ-सयोग तथा काल (ऋतु) के अतियोगादि को रोगों का निदान (कारण) कहा जाएगा। प्रकरणवश यहाँ काल के अतियोगादि का निर्देश किया जाता है—

अव्यापन्न ऋतुओ के जो पृथक् लक्षण (लिङ्ग) या गुण कहे है उनका अधिक प्रमाण मे होना काल का अतियोग कहा जाता है, जैसे शीतकाल मे अति शीत पडना। इसके विपरीत, ऋतुओ के यही प्राकृत लक्षण या गुण किसी ऋतु मे हीन (स्वल्प) हो तो इसे काल का अयोग कहा जाता है। ऋतुओ के शास्त्रोक्त तथा लोकविदित लक्षण या गुणो से विरुद्ध (विषम, विपरीत) लक्षण या गुण किसी ऋतु में देखे जाएँ तो इसे काल का मिथ्यायोग कहते है; यथा, हेमन्त में वृष्टि, वर्षा में शीत होना इत्यादि। इन त्रिविध या छ ऋतुओ में प्रत्येक की तीन

१—च० वि० ३।१० भी प्रमाणतया द्रष्टव्य है।

व्यापत्तियाँ गिनें तो कुल अष्टादशविध व्यापत्तियो मे जिन रोगों की उत्पत्ति हो उन्हें व्यापन्नर्तुकृत रोग कहते हैं।

ऋतुऐं अव्यापन्न नाम स्वलक्षणयुक्त हो तो ओषधियां (अन्न, धान्य) तथा जल के जो प्राकृत रस, गुण, वीर्य, विपाक तथा प्रभाव होते हैं वे उनमें सुरक्षित रहते हैं। उनका उपयोग करने से अग्नि (पित्त), सोम (कफ) आदि एकादश प्राण, आयु, बल (उत्साह तथा उपचय--पुष्टि), वीर्य (शक्ति) तथा ओज (सप्त धातुओ का सारभूत प्रसिद्ध उपधातु)--इनकी यथावत् पुष्टि होती है और इनका साम्य स्थिर रहता है। परिणामतया शरीर भी नीरोग बना रहता है[1]। वायु, जल, देश और काल मे प्राकृत-विपरीत लक्षण दिखाई पड़ें तथा धान्यो और जल पर उनका विकारजनक प्रभाव पड़े इसके पूर्व ही धान्यो, ओषध-द्रव्यो और जल का सग्रह कर लेना चाहिए[2]।

व्यापन्न ऋतुओ में देश-कालादि अपने लक्षणो से भ्रष्ट हो जाते हैं। उनके सेवन से विविध जनपदोद्ध्वसक रोगो (मरकों) या व्यक्तिगत रोगो का प्रादुर्भाव होता है। ऐसी स्थिति मे पूर्वसचित अव्यापन्न धान्यो तथा जल का एवं जल का पूर्व-सचय न हो तो उसे उबालकर उपयोग करना चाहिए[2]।

ऋतुव्यापत्ति का कारण--सामुदायिक अधर्म[3]--

देश, काल आदि की व्यापत्ति का कारण प्रजा तथा सरकार का पूर्वजन्म का सामुदायिक अधर्म तथा उससे उत्पन्न अदृष्ट (दैव) किंवा उनका इसी जन्म का

१--देखिए सु० सू० ६।१५-१८, च० वि० ३।८। चरक-वचन मे कहा है कि महर्षि अग्निवेश शिष्यो समेत सचरण करते पाञ्चाल मे पहुँचे। वहाँ नक्षत्र, ग्रह, देश, काल आदि के स्वलक्षणों के होते हुए विपर्यय के प्रति सकेत कर अन्नपान के सग्रह इत्यादि का उपदेश किया है। यह बोधक रम्य प्रकरण जिज्ञासु को यहाँ देख लेना चाहिए।

२--देखिए--सु० सू० ६।१५-१८ तथा च वि ३।१६-२२। सुश्रुत-वचन की टीका मे डल्हन ने जल को अव्यापन्न करने का अर्थ उसे क्वथित करना बताया है आपश्चाव्यापन्ना. क्वथिता। स्मरण रहे, क्वथित जल के अर्धावशेष आदि कल्पना-भेद से दोष-विशेष पर पृथक्-पृथक् प्रभाव होता है।

च० वि० ६।६-१५ मे चरक ने वायु आदि की व्यापत्ति के लक्षण विस्तार से बताए हैं।

यह समग्र विषय स्वस्थवृत्त के ग्रन्थो मे विद्यार्थी अधिक विस्तार से पढेंगे ही।

३--देखिए च० वि० ३।२३-३२, इन पर चक्रपाणि टीका, सु० सू० ६।१९-२० तथा इन पर डल्हन टीका।

अधर्म होता है। चरकाचार्य तथा धन्वन्तरि ने इस सामुदायिक अधर्म का स्वरूप बतलाते कहा है कि .

वायु, जल, देश और काल का वैगुण्य (व्यापत्ति) जिसके कारण जनपदो-ध्वसक (मरक, एपिडेमिक) रोग होते है उसका कारण इस जन्म मे अथवा पूर्व-जन्म में किया गया अधर्म ही है। और अधर्म में प्रवृत्ति का मूल (कारण) प्रज्ञापराध ही है[1]।

ऐहिक और आमुष्मिक अधर्मों में प्रत्यक्ष होने से ऐहिक अधर्म का स्वरूपतः निर्देश करते तन्त्रकार आगे कहते है : देश, नगर, निगम (कस्बे) और जनपद (देहात, ग्राम-प्रदेश) के शासनाधिकारी जब अपने प्रजा-पालन-सम्बन्धी धर्म का उल्लङ्घन कर प्रजा के प्रति व्यवहार करते है, उनके आश्रित और उपाश्रित नगर तथा जनपद के कर्मचारी और वाणिज्योपजीवी (वैश्य) शासनाधिकारियो की देखादेखी एवं उनसे मिलकर उस अधर्म में और भी वृद्धि करते है, तव इस प्रकार वृद्धि को प्राप्त हुआ यह अधर्म धर्म को दबा देता है--उस पर हावी हो जाता है। जिनका धर्म अधर्म द्वारा अभिभूत कर दिया गया है ऐसे इन देशवासियों को देश, नगर इत्यादि के अधिष्ठाता देवगण भी छोड देते हैं। इस प्रकार अधर्म जिनका अभिभूत हो गया है, अधर्म जिनके आचरणो में प्रधानत्वेन स्थित हे एव देवो ने जिनका परित्याग कर दिया है ऐसे इन देशवासियो के प्रति ऋतुएँ भी व्यापन्न हो जाती है। परिणामतया मेघ यथाकाल वर्षा नही करते, अथवा सर्वथा बरसते नही, अथवा विकृत (जलभिन्न द्रव्यो की) वृष्टि करते है, वायु भी प्राकृत स्वरूप में तथा प्राकृत रीति से वहते नहीं, पृथ्वी भी व्यापन्न अर्थात् हीन लक्षणोवाली होकर अन्नपान तथा औषध-द्रव्यो को अपने-अपने प्राकृत रस-वीर्यादि की पोषक सामग्री न देनेवाली हो जाती हे; जल सूख जाते हे; ओषधियाँ (धान्य तथा चिकित्सोपयुक्त औषध) अपना स्वभाव--प्राकृत रस-गुणादि-युक्तता--का परित्याग कर विकृत हो जाती है--रोगमुक्ति का कार्य छोड़ उलटे रोगजनक और रोगाभिवर्धक हो जाती है। परिणामतया, आहार, पान, स्पर्श, घ्राण (सूँघना) आदि के रूप में व्यवहार मे आनेवाली वस्तुमात्र दूषित हो जाने से जनपदोद्ध्वंसक रोग व्याप्त होकर प्रजा की सामुदायिक विनष्टि का कारण बनते है।

अव्यापन्न ऋतुओ मे जनपदोद्ध्वसक रोग[2]--

कभी-कभी ऋतुएँ अव्यापन्न हो अपने शास्त्रोक्त प्राकृतिक लक्षणो और

१--प्रज्ञापराध का लक्षण इसी ग्रन्थ मे आगे देखिए।

२--स्थल के लिए देखिए पूर्वतर-प्रकरण।

गुण-कर्मोवाली अतएव रोगोत्पादन के स्वभाव से रहित--हो तो भी कतिपय कारणो से जनपदोद्ध्वंसक (मरक) रोग जनपदो को पीडित करते है। यथा, देश कभी कृत्या (शासन या राष्ट्र का विरोधी पुरुष मन्त्र-तन्त्र के प्रयोग विशेष से सारे राष्ट्र को उच्छिन्न करनेवाली विशिष्ट राक्षसी को उत्पन्न करता है, इसे कृत्या कहते है, ऐसा प्रयोग एक ही पुरुष के मारणार्थ प्रयुक्त हुआ हो तो इसे अभिचार कहते है), गुरु-सिद्ध-वृद्ध-ऋषि आदि का अभिशाप; हिंसा के प्रयोजन से विहरण करनेवाली[1] राक्षसादि भूतयोनि, क्रोध अथवा अधर्म इनका पात्र होता है तो समग्र जनपद का उद्ध्वंस हो जाता है।

अथवा--कभी वायु द्वारा विषों किंवा ओषधियों के पुष्पों का गन्ध (गन्धयुक्त विष-द्रव्य अथवा पुष्पो का पराग)[2] देश-विशेष में पहुँचाया जाता है तो लोको की प्रकृति इत्यादि कुछ भी हो प्राय समग्र देशवासी कास, श्वास, प्रतिश्याय (जुकाम), गन्धाज्ञता, भ्रम, शिरोरुजा, ज्वर, मसूरिका (चेचक), वमन प्रभृति रोगो से उपतप्त होते है। इनमें वायु द्वारा विषद्रव्य या ओषधि-पुष्पगन्ध नासारन्ध्र से प्रविष्ट होता है तो कास, श्वास, प्रतिश्याय, गन्धाज्ञता, भ्रम, शिरो-रोग--ये रोग होते है। इन विष द्रव्यो का संसर्ग त्वगिन्द्रिय द्वारा हो तो ज्वर और मसूरिका (शीतला) होते है। वसन्त ऋतु में आयुर्वेद-मत से ऋतु-स्वभाव-वश हुआ कफ-प्रकोप तत्तत् रोग का कारण होता है। नवीनो ने इनका कारण पराग-कणो का नेत्र, नासिका आदि में प्रवेश होकर उनसे होनेवाला क्षोभ (इरि-टेशन) बताया है। वह कारण जनपदोद्ध्वंसक रोगो में भी समझना चाहिए। यहाँ कहे विष-द्रव्यो का जब तक अन्य उत्तम अर्थ न मिले तब तक कोई विद्वान् विकारी जीवाणुओ तथा उनके उत्पन्न किए विषो का ग्रहण इन शब्दो से करना ठीक समझते है।

कभी जनपदोद्ध्वंस का कारण ग्रहो का गर्हित स्थान में स्थित होना अथवा अश्विनी आदि जन्म-काल के नक्षत्रो का किसी कारण दुर्बल होना भी होता है। व्यक्तिगत रोगो में भी ग्रह-नक्षत्रो की यह प्रतिलोमता स्मरण में रखनी चाहिए।

१--उन्माद प्रकरण मे भूतोन्माद के तथा कौमारभृत्य मे बालग्रहो के विवरण मे कहा गया है कि इन भूतयोनियो के आवेश के तीन कारण होते है--हिंसा (गम्य व्यक्ति को कष्ट पहुँचाना या उसका मरण उत्पन्न करना) अपनी पूजा कराना तथा किसी अभिलषित वस्तु की प्राप्ति की इच्छा। इनमे यहाँ हिंसा यह प्रथम प्रयोजन ही विवक्षित है।

२--देखिए गन्धेन गन्धवद् द्रव्य सूक्ष्म गृह्यते। निराश्रयस्य गन्धस्य गत्यभावात्--मु० सू० ६।१९ पर चक्रपाणि।

अथवा--कभी गृह, स्त्री, शय्या, आसन (बैठने के उपकरण--कुर्सी आदि तथा चटाई आदि), यान--डोली, रथ आदि, वाहन--अश्व, हस्ती आदि, रत्न, विभिन्न उपकरण--इनसे सम्बद्ध गर्हित चिह्न तथा निमित्तो का प्रादुर्भाव होने से जनपदोद्ध्वस होता है। इन कारणो से हुए जनपदोद्ध्वस मे स्थान-परित्याग कर शान्ति कर्म आदि दैवव्यपाश्रय उपचार करना चाहिए[१]।

अव्यापन्न-ऋतुकालिक रोगो का भी मूल अधर्म[२]--

ऋतुओ की व्यापत्ति का कारण प्रजाजनो का सामुदायिक अधर्म होता है। परन्तु ऋतुएँ अव्यापन्न हो ऐसी स्थिति में जिन उल्लिखित मरको का प्रादुर्भाव होता है उनकी उत्पत्ति का कारण भी अधर्म ही होता है। ऋतुओ की व्यापत्ति के कारणभूत अधर्म का जो रूप ऊपर दिया है उसे निमित्त बनाकर किवा अशौच आदि अन्य कारणो को द्वार बनाकर ही राक्षसादि विविध भूतयोनियाँ पुरुषो मे आवेश कर पाती हैं। गुरु आदि के शाप से होनेवाले जनपदोद्ध्वस में भी हेतु अधर्म ही होता है। कैसे? जो स्त्री-पुरुष धर्म से पराङमुख हो जाते है वे गुरुओ, वृद्धो, सिद्धो, ऋषियो तथा अन्य पूजनीयो की सलाह का तिरस्कार कर अहिताचरण करते हैं। अपने उपदेश का इस प्रकार तिरस्कार होने से गुरु आदि रुष्ट होकर अभिशाप देते हैं, जिनके परिणाम-स्वरूप एक साथ अनेक पुरुष रोगी होते हैं जिनमें बडी सख्या मृत्यु का ग्रास होती है।

रोगात्मक कारणो से होनेवाले उल्लिखित जनपदोद्ध्वसो का कारण तो प्रजा-जनो का अधर्म होता ही है, शस्त्रजनित जनपदोद्ध्वस की उत्पत्ति भी अधर्म ही से होती है। प्रजाजनो में लोभ, क्रोध, मोह और मान की अति प्रवृद्धि हो जाती है तो जो (राज्य आदि) बलवान् होते है वे दुर्बलो को दबाने का प्रयास करते है। परिणाम में होनेवाली शस्त्राशस्त्रि से आत्मपक्ष-परपक्ष दोनो का भयङ्कर एवं विपुल प्रमाण में सहार होता है[३]।

१--देखिए--मु० मू० ६।२०। इन का विचार अगले रोग-वर्ग की व्याख्या के अन्त मे किया गया हे

२--देखिए--च वि ३।२५-२७।

३--इन प्रकरणो मे अधिकारियो का अपने कर्त्तव्य का पालन न करना, वैद्यो का चोर-बाजार मे द्रव्योपार्जन करना एव लोभ, मोह, क्रोध, मान आदि मानसिक आवेग, पूजनीयो की पूजा न करना इत्यादि को ही अधर्म कहा है। इस प्रकरण मे ही आगे रोगो के प्रथम अवतार का निरूपण करते हुए इस बात की ओर भी विशद व्याख्या की हे। वाचको को उससे विदित होगा कि प्राचीन आचार्यो के मतानुसार धर्म का स्वरूप क्या था? रोगो के→

चरक-सुश्रुत दोनो के मत उद्धृत कर यहाँ प्रसगोपात्त जनपदोद्ध्वस रोगो का निरूपण करते हुए अभिचार, अभिशाप, भूतावेश आदि रोगो का उल्लेख किया गया है। कालबलप्रवृत्त रोगो का प्रकरण होने से इन्हें इस वर्ग के रोग न मानना चाहिए। ये आगे कहे जानेवाले दैवबलप्रवृत्त वर्ग के रोग हैं।

दैवबलप्रवृत्त रोग

दैवबलप्रवृत्त उन रोगो को कहते हैं जो देवो, गुरुओ, सिद्धो तथा गो-ब्राह्मणो का द्रोह करने से--उन्हें हानि पहुँचाने से--होते हैं, किवा ऋषियो के अभिशाप से होते है, किवा अथर्ववेदोक्त मारणात्मक अभिचार-मन्त्रो[1] के उपयोग से होते हैं अथवा जो उपसर्ग नाम ज्वरादि रोग-पीडित जनो के सानिध्य से ज्वर आदि औपसर्गिक रोग होते हैं।

इन रोगो के पुन दो भेद किए जाते हैं--विद्युत् या अशनि से हुए रोग तथा पिशाच आदि योनियो से हुए रोग। लता के रूप में तिर्यक् (तिरछे) गिरनेवाली मेघज्योति को विद्युत् या विद्युल्लता कहा जाता है। मूसल के सदृश स्थूल और सीधे नीचे गिरनेवाली मेघज्योति को अशनि कहते हैं[2]।

इस प्रकार विभक्त दैवबलप्रवृत्त रोगो के पुन दो प्रविभाग किए जाते हैं--संसर्गज और आकस्मिक। इनमें ससर्ग का प्रसिद्ध अर्थ है--उपसर्ग, ज्वर आदि से पीडित रोगियो का सानिध्य। उससे जो रोग उत्पन्न होते हैं उन्हें ससर्गज या औपसर्गिक कहते हैं।

आधुनिकों ने औपसर्गिक रोगों के दो भेद किए हैं। जिन रोगो में रोगी के साथ स्पर्श (कॉन्टेक्ट, कटेजिअन) रोग के सक्रमण का कारण होता है उन्हें कंटेजिअस कहते हैं। उदाहरण--पूयमेह। व्यवायकालिक स्पर्शवश यह रुग्ण पुरुष से स्वस्थ स्त्री मे या रुग्ण स्त्री से स्वस्थ पुरुष में संक्रान्त होता है। पूयमेहिनी योनि से प्रसव के समय गर्भ के नेत्रो में सक्रमण होता है। पूयमेहाक्रान्त

←प्रथमावतार के निरूपण मे आचार्य ने जिस पदावली का प्रयोग किया है उनसे यह भी विदित हो सकेगा कि समाज मे विषमता उत्पन्न होने का कारण लोभ तथा उससे उत्पन्न असत्यभाषण आदि दुष्कर्म ही है। अधिक विवरण आयुर्वेदीय हितोपदेश (वैद्यनाथ-प्रकाशन) मे उद्धृत इस प्रकरण मे जिज्ञासु देख सकते है।

१--गुजराती मे इन्हे मैली विद्या कहा जाता है।

२--यह समझ नही आता कि दैवबलप्रवृत्त रोगो के जो भेद प्रथम किए है उन आथर्वण और उपसर्गज के साथ विद्युत्-अशनिकृत तथा पिशाचादिकृत इन वर्गो का क्या सबन्ध है?

पुरुष द्वारा व्यवहार में लाए अगोछे से मुख पोछने से कभी नेत्र का सक्रमण होता है। एवमादि कारणो से इस रोग को कटेजिअस कहा जाता है। ये छूत के रोग नाम से हिन्दी में प्रसिद्ध है। इन्हें गुजराती में चेपी रोग कहते है।

कतिपय सक्रामी रोगों मे स्पर्श विना ही सक्रमण होता है। कारणभूत जीवाणु इन रोगो में वायु, जल, अन्नपान आदि के साथ वाहित होता है। यथा—राजयक्ष्मा का वहन प्राय· वायु से एव टायफॉयड का वहन प्राय दुष्ट पुरीष जिसमें डाला गया हो ऐसे जल से होता है। ऐसे रोगो को इन्फेक्शस कहते हैं।

उभयविध रोग पृथक्-पृथक् व्यक्तियो को होते तो प्राय. देखे जाते हैं, परन्तु कई वार इनका वेग वहुसंख्यक जन-समुदाय को पीडित करता देखा जाता है। इस प्रकार रोग का प्रसार यदि एक राज्य या देश मे सहसा उभर आए तो इस प्रसार को एपिडेमिक कहते है। रोग यदि वारहो मास किसी प्रदेश मे घर किए रहता हो तो इसे एन्डेमिक कहते हैं। यथा——भारत के कतिपय भागो में विषम ज्वर (मलेरिया)। कोई रोग यदि किसी भूखण्ड के वडे भाग में सहसा उभर आए तो इसे पैन्डेमिक कहते हैं। प्रथम महायुद्ध के पश्चात् हुआ कफ-वातप्रधान ज्वर (इन्फ्लुएन्जा, वार फीवर) इसका उदाहरण है।

डल्लन ने अपनी टीका में ससर्गज और उपसर्गज दोनो को संपर्कज रोग माना है, परन्तु उनमें कुछ भेद वताया है। वह कहता है——ज्वरादिरोग-पीडित जनो के सपर्क (सानिध्य, सामीप्य) से जो रोग होते है उनका नाम उपसर्गज है तथा जो रोग देव आदि का द्रोह (विद्वेष) करनेवाले पुरुषो के सम्पर्क से होते है उन्हें ससर्गज कहते है[1]।

आकस्मिक रोग वे है जो ससर्ग के विना ही प्राक्तन कर्मो का विपाक होने से होते है। इन का कारण प्रत्यक्ष दृश्यमान न होने के कारण इन्हे आकस्मिक कहा गया है।

चक्रपाणि और डल्लन दोनो टीकाकारो ने आकस्मिक रोगो की व्याख्या करते हुए इनके लिए 'ससर्ग के विना ही होनेवाले' इन शब्दो का प्रयोग किया है। इससे एक कल्पना की जा सकती है। ससर्गज तथा आकस्मिक इन दोनो प्रकार

१——देखिए——उपसर्गजा इति उपसृज्यन्त इत्युपसर्गा, पीडितजनसमीपोत्पन्ना ज्वरादय। ×× ससर्गजा इति देवादिद्रोहकजनसपर्कजा इत्यर्थ.। ×× उपसर्गजससर्गजयोरय विशेष ——उपसर्गजा ज्वरादिरोगपीडितजनसंपर्काद् भवति, ससर्गजाश्च देवादिद्रोहकजनसंपर्काद् भवन्ति। सु० सू० २४।७ पर डल्लन। इस प्रकरण मे चक्रपाणि ने सम्सर्गज का अर्थ औपसर्गिक ही दिया है——अत्र ससर्गजा औपसर्गिकरोगिससर्गजाता·॥

के रोगो मे पूर्वरूप, रूप और चिकित्सा का साम्य होता है। भेद प्राचीनो द्वारा परिदृष्ट केवल यह है कि कुछ रोगो मे ससर्ग का इतिहास प्रत्यक्ष होता है तथा शेष में ऐसा कोई इतिहास उपलब्ध नही होता। सभव है--आधुनिको ने जिन्हें कटेजिअस कहा है वे प्राचीनो के ससर्गज रोग है तथा जिन्हें आधुनिक इन्फेक्शस कहते हैं वे प्राचीनो के आकस्मिक है।

ऊपर नव्य मत से कटेजिअस तथा इन्फेक्शस रोगो के उदाहरण देते हुए हमने जिन रोगो का उल्लेख किया है वे उल्लिखित वर्गो मे ही मर्यादित नही रहते। टायफॉयड दुष्ट जलपान से भी होता है और रोगी पुरुष के सपर्क में रहने से भी होता है। इसी प्रकार राजयक्ष्मा दुष्ट वायु से भी होता है और रोगपीडित पुरुष के सानिध्य से भी होता है। तात्पर्य--रोगो के ये वर्ग कारण-भेद को दृष्टि में रखकर ही बनाए गए है।

प्राचीनो ने ससर्ग से रोगो की उत्पत्ति का दर्शन किया था, आधुनिको ने संसर्गज के अतिरिक्त आकस्मिक रोगो में भी सक्रमण के स्वरूप का अधिक विशद रूप मे दर्शन किया है।

सक्रामक रोग--

विश्व के प्राचीनतम ग्रन्थ वेद से लेकर सपूर्ण प्राचीन भारतीय वाङमय से इस बात के स्पष्ट प्रमाण प्रस्तुत किए जा सकते है--बहुत से विद्वानो ने उनका अभिनन्दनीय सग्रह किया भी है--जिनसे विदित होगा कि प्राचीन आचार्यो को जीवाणुओ का परिज्ञान था। प्राय राक्षस, कृमि आदि नामो से इन का निर्देश पूर्वाचार्यो ने किया है। जीवाणुओ की बात विवाद्य मानकर छोड दें तो भी यह निश्चित है कि--रोगो के सक्रमण का दर्शन प्राचीनो ने किया था। स्वय आयुर्वेदीय सहिताओ में इसका उल्लेख है। तथाहि·

प्रसंगाद् गात्रसंस्पर्शान्नि.श्वासात् सहभोजनात् ।
सहशय्यासनाच्चैव वस्त्रमाल्यानुलेपनात् ॥
कुष्ठं ज्वरश्च शोपश्च नेत्राभिष्यन्द एव च ।
औपसर्गिकरोगाश्च[1] संक्रामन्ति नरान्नरम् ॥

सु० नि० ५।३३।३४[1]

१--औपसर्गिकरोगा शीतलिकादय --डल्हन। औपसर्गिकरोगा· सामान्याधर्मप्रवृत्ता मसूर्यादय --गयदास।--दोनो टीकाकारो ने औपसर्गिक रोग का अर्थ नवीनो का एपीडेमिक किया है। गयदास ने इन का विशेपण-->

स्पर्शैकाहारशय्यादिसेवनात् प्रायशो गदाः।
सर्वे संचारिणो नेत्रत्वग्विकारा विशेषतः॥ अ० म० नि० १४

पुन.-पुन. शरीर का स्पर्श, नि श्वास, सह (एकसाथ बैठ कर) भोजन, सह (एक बिस्तर पर) शयन, सह (एक कुर्सी आदि पर) आसन—बैठना; (अन्य पुरुष के उपयोग किए) वस्त्र, पुष्प और लेप का उपयोग—इत्यादि कारणो से कुष्ठ (त्वचा के रोग, रक्तविकार), ज्वर, राजयक्ष्मा (शोष), नेत्राभिष्यन्द (आँख आना) एव सामान्य (जनसमुदायगत) अधर्म से होनेवाले मसूरिका—शीतला (चेचक) आदि सचारी (सक्रामक) रोग एक पुरुष से अन्य पुरुष मे संक्रान्त होते हैं।

प्रसग शब्द का अर्थ समागम (व्यवाय, मैथुन) प्रसिद्ध है। उससे भी फिरङ्ग, उपदंश, पूयमेह, यक्ष्मा आदि सचारी रोग होते है। परन्तु वह अर्थ स्पर्श शब्द से गृहीत ही है। सो, टीकाकारो का दिया पौन पुन्य अर्थ यहाँ इस शब्द से ग्राह्य है। प्रसंगादिति प्रसंगेन अभ्यासेन कृतात्, पुनः पुनः कृतादित्यर्थः—डल्हन; प्रसंगात् प्रसंगेन कृतादत्यन्ताभ्यासेन कृतादित्यर्थः—गयदास। महाकुष्ठ (लेप्रसी) के विषय में विशेषत तथा कुछ अश मे यक्ष्मा के विषय में नवीनो का भी प्रत्यक्ष यह है कि—ये रोग चिरकाल के सानिध्य से होते हैं। सो प्रसगात् का अर्थ पुन-पुन ग्रहण करना ही संगत है।

दूसरी बात। यहाँ रोगी पुरुष से अन्य पुरुष मे रोगो का सक्रमण होता है, ऐसा सहिताकार का कथन नही है। वह कहता है—एक पुरुष से अन्य पुरुष में ये रोग संक्रान्त (संचारित) होते हैं। वस्तुत. आधुनिको ने प्रत्यक्ष किया है कि—डिफथीरिआ, टायफॉयड आदि कतिपय रोग कई बार ऐसे पुरुषो से अन्य पुरुषो मे सचरित होते है जिन में स्वयं उन रोगो के लक्षण होते नही। परन्तु उनमें रोगजनक जीवाणु अन्य पुरुषो मे रोग उत्पन्न कर सके ऐसी उत्कट शक्तिवाले (विरूलेंट) होते है। इन स्वय स्वस्थ पुरुषो को वाहक (केरीअर) कहा जाता है। प्राचीनो की योजना में एक-एक शब्द इस प्रकार गूढ अर्थ रखता है यह विद्यार्थी को स्मरण रखना चाहिए।

स्वस्थवृत्त के प्रकरण में कई ऐसे आचारो का तन्त्रकारो ने उल्लेख किया है, जो उक्त कारण के सदृश ही रोगो का सचार करनेवाले हेतुओ का निषेध करते हैं। यथा जलाशय, चतुष्पथ (चौराहा) आदि जन-समर्द के स्थानो मे मल

←'सामान्य (वहुजन के) अधर्म से उत्पन्न दिया है। वह इन रोगो के वहुजन-व्यापक या जनपदोद्ध्वंसक (मारक) स्वरूप के प्रति सकेत करता है।

मूत्र, श्लेष्मा, सिघाणक (नासा-मल) आदि का उत्सर्ग न करना, हँसते-छीकते-खाँसते समय मुख पर हाथ आदि रखना।

रोगो के सक्रमण के इन असाधारण (प्रति-पुरुषनियत, वैयक्तिक पर्सनल), कारणो के अतिरिक्त कुछ साधारण (सामान्य, बहुजन-सबद्ध) कारण भी होते है[1]। इनमे प्रधान राज्याधिकारियो तथा वाणिज्योपजीवियो का अधर्म है। इसका उल्लेख हम ऊपर कर आए है। इनके अतिरिक्त दोष-दुष्ट वस्तुएँ रोगो का प्रसार न कर पाएँ एतदर्थ वसतियो मे स्वच्छता के सामान्य नियमो का निर्माण राज्य द्वारा किया जाता है। इन नियमो की अवहेलना से संचारी औपसर्गिक रोग होते हैं। आयुर्वेद के तन्त्रो मे इन नियमो का उल्लेख नही है। कौटिलीय अर्थशास्त्र (चाणक्य-कृत, काल-५०० वर्ष ई० पू०) में एक समस्त अध्याय ही इस बात पर है। उसमें मार्ग पर विष्ठा, मृत मूषक आदि डालने तथा अन्य ऐसे ही कार्य करनेवालो के लिए दण्ड-विधान है। इससे अनुमान होता है कि साधारण (संपूर्ण जनता से सवन्ध रखने वाले) रोग-कारणो की निवृत्ति का कार्य पुराकाल मे राज्य का उत्तरदायित्व समझा जाता था। आज से पाँच

१—नवीन लेखक पर्सनल हाईजीन के लिए वैयक्तिक, पवलिक के लिए जानपद इत्यादि नव-निर्मित सज्ञाओ का व्यवहार करते है। इनके लिए प्राचीन शब्द क्रमश **असाधारण** तथा **साधारण** है। च वि ३।१-२ पर आई **चक्रपाणि** की टीका के नीचे दिए अशो मे रोगकेदो हेतु वताए है—साधारण और असाधारण। इनमे असाधारण हेतु वह है जिसका सवन्ध प्रत्येक पुरुप से पृथक् होता है। इन का निर्देश वातादि दोपो के प्रकोपक कारणो के रूप मे तन्त्रकारो ने अनेक प्रकार से किया है। साधारण कारण वह है जिसका सम्वन्ध वहुजन (जनता, प्रजा) से सामान्य रूप से होता है। जनपदोद्ध्वसनीय अध्याय मे तथा अन्यत्र जो सामुदायिक अधर्म को रोग का कारण कहा है, वह साधारण रोग-कारण है। यह अधर्म वायु, जल, देश और काल को विकृत कर सामुदायिक रोगोत्पत्ति करता है। इस वचन मे रोग-कारणो के रूप मे आए साधारण और असाधारण शब्दो का व्यवहार रोगानुत्पत्तिकर स्वस्थवृत्त के उक्त दो भेदो के लिए भी किया जा सकता है। **चक्रपाणि** का वचन अधोलिखित है—

द्विविधो हेतुर्व्याधिजनक प्राणिना भवति—साधारणोऽसाधारणश्च। तत्रासाधारण प्रतिपुरुषनियत वातादिजनकमभिधाय बहुजनसाधारणवातजलदेशकालरूप साधारणरोगकारणमभिधातुं जनपदोद्ध्वंसनीयोऽभिधीयते। यहाँ आया वहुजन शब्द प्राचीन वाङमय मे जनता के लिए प्रयुक्त होता रहा है। प्रसिद्ध शब्द **बहुजनहिताय बहुजनसुखाय** इस विषय मे प्रमाण है।

सहस्त्र वर्ष पूर्व के खुदाई मे निकले मोहन-जो-दडो के स्नानगृहो और बडी-बड़ी गटरो को देखने से कल्पना होती है कि इन की व्यवस्था का कार्य भी आज के समान शासन या नगरपालिका ही करती होगी।

इसके अतिरिक्त वहुजन के स्वास्थ्य के लिए--विशेषतया रोगो की अनुत्पत्ति (प्रीवेन्शन) के लिए शासन की ओर से बड़े-वड़े यज्ञ किए जाते थे। यज्ञ ऋतु-सधियो में होते थे। कारण यह कहा गया है कि--ऋतु सन्धियो मे नाना रोगो का प्रादुर्भाव होता है। उनके निवारणार्थ ये यज्ञ किए जाते थे। तथा हि--

भैपज्ययज्ञा वा एते। तस्मादृतुसंधिषु प्रयुज्यन्ते। ऋतुसंधिषु वै व्याधिर्जायते ॥ गोपथ ब्राह्मण, उ० प्र० १।१९

इसी से इन यज्ञो को भैपज्य-यज्ञ ही नाम प्राचीनो ने दिया है।

दैवव्यपाश्रय चिकित्सा[१]--

कालवलप्रवृत्त तथा दैववलप्रवृत्त रोग-वर्गो में दैववश होनेवाले रोगो के उपचार के लिए चिकित्सा का एक विशेष अङ्ग निरूपित है, जिसे दैवव्यपाश्रय चिकित्सा कहते है। इस चिकित्सा को यह नाम इस कारण दिया गया है कि--जिस दैव या पूर्वकर्म के प्रभाव से रोग-विशेष उत्पन्न हुआ है, चिकित्सा मे प्रयुक्त मन्त्रादि उस दैव से विपरीत दैव इसी जन्म में उत्पन्न करते है, जो रोग को विनष्ट करता है। अथवा दैव शब्द यहाँ देव तथा अन्य योनियो का वाचक है। वलि आदि से देवगण प्रसन्न होते है और अपने प्रभाव से रोगो का अपहरण करते है।

दैववलप्रवृत्त रोगो के लिए ही विशेषतया प्रवर्तित इस दैवव्यपाश्रय चिकित्सा के अङ्ग ये है--मन्त्र अर्थात् किसी सिद्ध-पुरुष द्वारा सूचित वाक्य-विशेष का जप

१--देखिए--च सू० ११।५४, सु० सू० ६।२० तथा इन पर चक्रपाणि और डल्लन की टीकाएँ। सुश्रुत ने इस चिकित्सा का विशिष्ट नाम नही दिया है। टीकाकार ने--ऋतुकोपस्य अवर्मकारित्वात्तत्र दैवव्यपाश्रयं भेषजम्--कहकर इसका नाम वताया है।

प्रकरण की पूर्ति के लिए कह दूँ कि--चरक ने इस प्रकरण मे औपध के तीन प्रकार वताए हैं। दैवव्यपाश्रय के अतिरिक्त शेष दो का नाम है--युक्तिव्यपाश्रय तथा सत्त्वावजय। औपध तथा आहार की योजना को युक्तिव्यपाश्रय कहते है। चिकित्सा नाम से सामान्यतया यही प्रसिद्ध है। अहित अर्थो से मन विमुख रखने को सत्त्वावजय कहते हैं। इसी को निदानपरिवर्जन नाम सुश्रुत ने दिया है।

करना, भिन्न-भिन्न देवों को लक्ष्य कर प्रयुक्त होनेवाले ऐसे मन्त्र तथा उनका प्रभाव लोक-प्रसिद्ध है, औषध—औषधों का धारण, मणि—मणियों का धारण—विविध रत्न ज्योतिष की दृष्टि से भी विभिन्न ग्रह-नक्षत्रों की बाधा दूर करनेवाले प्रसिद्ध हैं, इन प्रशस्त औषधों तथा मणियों के धारण आदि को मङ्गल नाम दिया गया है, देवताओं को बलि—गौ, पशु आदि का प्रदान करना; उपहार—इन देवों को ही अन्य वस्तुएं भेंट करना, होम—इष्ट मन्त्रों से लक्ष, कोटि अथवा प्रयुत आहुतियां देना, नियम—शास्त्रोक्त मौन आदि विधियों का पालन; प्रायश्चित्त—प्राक्तन कर्मों की शान्ति के लिए प्रयुक्त चान्द्रायण आदि व्रत, अथवा प्राय का अर्थ होता है तप, और चित्त का अर्थ होता है उसका निश्चय; तप—शरीर तथा मन को जिससे क्लेश हो ऐसे उपवास—अनशन—आदि का अनुष्ठान, स्वस्तिवाचन (स्वस्त्ययन)—जिन के पाठ से गृह, शरीर आदि का कल्याण हो ऐसे मन्त्रों का ब्राह्मणों से पाठ कराना या स्वयं करना, शान्तिकर्म—पाठ-पूर्वक जिन की आहुति से, जिन के द्वारा किए गए यज्ञ से गृह आदि में शान्ति हो ऐसे वेदोक्त मन्त्रों से यजन (इज्या) अथवा—शान्ति का अर्थ है इन्द्रिय-विजय, अञ्जलि—देवों, द्विजों तथा गुरुओं के प्रति भक्ति-सहित दो हाथ जोड़ना; प्रणिपात प्रणाम या नमस्कार—देवादि के प्रति मन में श्रद्धा और आपको प्रणाम करता हूँ इस आशय के वचन-समेत अपने शरीर को पृथ्वी पर न्यूनाधिक नमा देना, गमन—अपने निवासस्थान से दूर स्थित देवों या सिद्धों के दर्शनार्थ या उनका आशीर्वाद-ग्रहण करने के लिए जाना, इस श्रेणी में हिन्दू मन्दिर आदि के अतिरिक्त पीर आदि के दर्शनादि के लिए जाना भी प्रख्यात है, जप—ओंकार सहित ऋग्, यजु या साम के मन्त्रों का अथवा गुरु के दिए अन्य किसी मन्त्र का पाठ—आवृत्ति, दया—प्राणियों पर कृपा, दान—अपने सामर्थ्य के अनुसार पात्रों को धनादि देना, दीक्षा—गुरु से मन्त्र आदि का ग्रहण करना, अभ्युपगम—गुरु के वाक्य इत्यादि को स्वीकार करना, एवं इनके अतिरिक्त भी देवताओं, ब्राह्मणों और गुरुओं में जीवन को लीन कर देना—और इन सब के साथ रोग यदि जनपदोद्ध्वंसक हो तो स्थानपरित्याग।

एवं साधु भवति। सु० ६।२०

इस चर्या में तत्पर होने से रोगों से मुक्ति होती है।

यहाँ देवों से—देव आदि योनियों एवं सिद्ध पुरुषों के प्रभाव से—रोगों की निवृत्ति होना लिखा है। यह प्रत्यक्ष भी देखा जाता है। आज के युग में ऐसे वृत्तान्तों को एकत्र कर उनका प्राचीन-नवीन उभय मतों से विवेचन करने की आवश्यकता है। इन उपचारों में प्रार्थना दान आदि कइयों का सम्बन्ध मन की शान्ति से है। प्रार्थना और परमार्थ-वृत्ति, मौन और मनन, दान और दया तथा

ऐसे ही कायिक, मानसिक वाचिक कर्म आज तो परलोक के साथ ही सबन्ध रखने-वाली वस्तुएँ मानी जा रही है। और वह परलोक भी सदेह का विषय होता जा रहा है। लोको को पता नही प्राचीनो ने इस लोक को, इस जीवन की, इस शरीर की, समाज और राष्ट्र की ही चिन्ता सविशेष की थी। प्राचीनो ने धर्म का जो स्वरूप समझा था मध्यकाल मे वह विस्मृत हो गया--रूपान्तरित हो गया। इस लोक मे व्यष्टि और समष्टि के अभ्युदय की दृष्टि से भी ये कर्म उतने ही उपयोगी हैं। इन का महत्व समझने के लिए वैदिक धर्म का शुद्ध स्वरूप समझाने की बडी आवश्यकता है।

शरीर और मन के स्वास्थ्य के लिए--विशेषतया रोगो की अनुत्पत्ति (प्रिवेन्शन) के लिए--षड्रसात्मक आहार एव जीवन मे प्रार्थना, शान्ति, दान-दक्षिणा, औदार्य, आतिथ्य आदि परलोक से सबद्ध समझे जानेवाले अनुष्ठानो के प्रचार और आचार का महत्व सर्वोपरि है। आज तो मानसिक आवेशो के समत्व की महत्ता वैज्ञानिक जगत भी समझता जा रहा है। हृदय तथा धमनियो के रोग, उनके कारण अकाल मृत्यु, श्वास, पैत्तिक शूल (आमाशय तथा ग्रहणी के क्षत) मधुमेह, यक्ष्मा आदि प्राय· सर्व रोगो का मूल 'स्ट्रेस' ही को माना जाने लगा है। इसमें चिन्ता, विषाद (फ्रस्ट्रेशन, मनोभङ्ग), मानस आवेशो का विनिग्रह (सप्रेशन) आदि मानसिक आघातो (इमोशनल ट्रॉमा) की गणना होती है। चरक ने अग्र्याधिकार[1] मे कहा है--आयास सब से बडा अपथ्य है, तथा विषाद सर्वोपरि रोगवर्धक हे--आयासः-सर्वापथ्यानाम्--विषादो रोगवर्धनानाम्--च० सू० २५।४०। यहाँ आयास का अर्थ शरीर और मन दोनो पर शक्ति से अधिक आ पडने वाला श्रम ही है। सो प्राचीन विज्ञान को अब अर्वाचीन विज्ञान का भी समर्थन प्राप्त हो गया होने से प्राचीनोक्त चर्या को पुन जीवन मे उतारने के पक्ष मे प्रबल प्रचार आवश्यक है। आयुर्वेद के पुनरुज्जीवन का यह एक अङ्ग है।

प्रार्थना से रोगो के उपचार के उदाहरण सर्वत्र प्राप्त होते है। वैज्ञानिक विचारणा के लिए उनका प्रमाणभूत सकलन उपयुक्त है। मै सूरत के एक भक्त गृहस्थ को जानता हूँ। उनको भगन्दर का निदान कर अगले दिन प्रातः शस्त्रकर्म करने का निर्णय किया गया। भक्त ने सारी रात प्रार्थना (भजन) में व्यतीत की। अगले दिन उन्हे शस्त्रोपचार के लिए टेबल पर ले जाया गया तो भगन्दर जैसी कोई वस्तु ही उपलब्ध न हुई।

१--च सू २५।३७-४४ में तत्तत् हित-अहित कर्म करनेवाले आहार, औषध या विहार मे सर्वोपरि (अग्र्य) वस्तु का उल्लेख किया गया है। इस प्रकरण को अग्र्याधिकार नाम दिया गया है। दोनो सूत्र इस प्रकरण के हें।

प्रार्थना से दु:साध्य रोगों की शान्ति—

प्रार्थना द्वारा स्वयं प्रार्थनाकारी की रोग-निवृत्ति की बात तो समझी जा सकती है, पर अमेरिका में एक आरोग्यशाला (हॉस्पिटल)[1] स्थापित है। इसमें अन्य ही जन प्रार्थना करता है और रोगी का रोग दूर होता है। साधारण रोगों के उपचार की बात नहीं—कैंसर, अस्थियों का यक्ष्मा जैसे दु:साध्य रोग भी प्रार्थना के इस प्रकार प्रयोग से शान्त होते हैं, वह भी कुछ ही निमेषों में। पूर्व-लिखित डॉ० एलेक्सिस केरल के ग्रन्थ अज्ञात मानव (मैन, द अननोन) से इस विषय का एक उद्धरण भाषान्तर-सहित वाचकों की प्रतीति के लिए दिया जाता है।

"[2]कुछ आधिदैविक अनुष्ठान शरीर की धातुओं और अवयवों की रचना एवं क्रिया में परिवर्तन उत्पन्न कर सकते हैं। ये चेतन-गत घटनाएँ अनेक

१—हॉस्पिटल के लिए आरोग्यशाला प्राचीन नाम है।

२—"Certain spiritual activities may cause anatomical as well as functional modifications of the tissues and the organs. These organic phenomena are observed in various circumstances, among them being the state of prayer Prayer should be understood, not as a mere mechanical recitation of formulas, but as a mystical elevation an obsorption of conciousness in the contemplation of a principle both permeating and transcending our world Such a psychological state is not intellectual It is incomprehensible to philosophers and scientists and inaccessible to them But the simple seem to feel God as easily as the heat of the sun or the kindness of a friend The prayer which is followed by organic effects is of a special nature First, it is entirely disinterested Man offers himself to God. He stands before him like the canvas before the painter or the marble before the sculptor At the same time, he asks for His grace, exposes his needs and those of his brothers in suffering Generally, the patient who is cured is not praying for himself, but for another Such a type of prayer demands complete renunciation, that is, a higher form of ascetism The modest, the ignorant, and the poor are more capable of this self denial than the rich and the intellectual When it possesses such characteristics, prayer may set in motion a strangephenomenon, the miracle

"In all countries, at all times, people have believed in the existence of miracles, in the more or less rapid healing of the sick at places of pilgrimage, at certain sanctuaries. But after→

परिस्थितियो में देखी जाती है। इनमें एक स्थिति प्रार्थना की है। प्रार्थना से किसी मन्त्र-विशेष के यन्त्रवत् जप का ग्रहण यहाँ नही है। प्रार्थना का यहाँ अर्थ है आधिदैविक ऊर्ध्वगमन—इस विश्व में ओत-प्रोत तथा उसके भी पार स्थित शक्ति का अनुध्यान और चेतन्य का आत्मसात्करण। यह मनोवैज्ञानिक स्थिति बुद्धिकृत नही होती। दार्शनिको और वैज्ञानिको की बुद्धि का यह विषय नही होती—वे इसे समझ नही सकते। परन्तु प्रतीत

←the great impetus of science during the ninteenth century such belief completely disappeared. It was generally admitted, not only that miracles did not exist, but that they could not exist. As the laws of thermodynamics make perpetual motion impossible, physiological laws oppose miracles. Such is still the attitude of most physiologists and physicians. However, in view of the facts observed during the last fifty years this attitude cannot be sustained. The most important cases of miraculous healing have been recorded by the Medical Bureau of Lourdes. Our present conception of the influence of prayer upon pathological lesions is based upon the observation of patients who have been cured almost instantaneously of various affections, such as peritoneal tuberculosis, cold abscesses, osteitis, suppurating wounds, lupus, cancer, etc. The process of healing changes little from one individual to another. Often, an acute pain. Then a sudden sensation of being cured. In a few seconds, a few minutes, at the most a few hours, wounds are cicatrized, pathological symptoms disappear, appetite returns. Sometimes functional disorders vanish before the anatomical lesions are repaired. The skeletal deformations of Pott's disease, the cancerous glands, may still persist two or three days after the healing of the main lesions. The miracle is chiefly characterized by an extreme accelaration of the processes of organic repair. There is no doubt that the rate of cicatrization of the anatomical defects is much greater than the normal one. The only condition indispensable to the occurrence of the phenomenon is prayer. But there is no need for the patient himself to pray, or even to have any religious faith. It is sufficient that someone around him be in a state of prayer. Such facts are of profound significance. They show the reality of certain relations, of still unknown nature, between psychological and organic processes. They prove the objective importance of the spiritual→

होता है, प्राकृत पुरुष भगवान को उतनी ही सरलता से समझ सकते है जैसे सूर्य के ताप को या किसी मित्र की अनुकम्पा को। जिस प्रार्थना का शरीर पर परिणाम होता है उसका स्वरूप विशेष होता है। प्रथम तो, यह सर्वथा स्पृहा-रहित (निष्काम) होती है। मानव अपने आप को प्रभु को अर्पित कर देता है। प्रभु के समक्ष वह ऐसे ही स्थित होता है जैसे चित्रकार के सामने केनवास या मूर्तिकार के सामने संगमर्मर। इस स्थिति में वह उसके आशीर्वाद की याचना करता है। अपनी तथा अपने पीड़ित बन्धुओ की आवश्यकताओं को प्रस्तुत करता है। प्रायश, रोगी जो रोग-मुक्त होता है अपने लिए नहीं, अन्य के लिए प्रार्थना करता

←activities, which hygienists, physicians, educators, and sociologists have almost always neglected to study. They open to man a new world

"Miraculous cures seldom occur Despite their small number, they prove the existence of organic and mental processes that we do not know. They show that certain mystic states, such as that of prayer, have definite effects They are stubborn, irreducible facts, which must be taken into account. The author knows that miracles are as far from scientific orthodoxy as mysticity The investigation of such phenomena is still more delicate than that of telepathy and clairvoyance But science has to explore the entire field of reality He has attempted to learn the characteristics of this mode of healing, as well as of the ordinary modes He began his study in 1902, at a time when the documents were scarce, when it was difficult for a young doctor, and dangerous for his future career, to become interested in such a subject To-day, any physician can observe the patients brought to Lourdes, and examine the records kept in Medical Bureau Lourdes is the centre of an International Medical Association, composed of many members There is slowly growing literature about miraculous healing Physicians are becomming more interested in these extra-ordinary facts Several cases have been reported at the Medical Society of Bordeaux by professors of the medical school of the university and other eminent physicians The Commitee on Medicine and Religion of the New York Acedamy of Medicine presided over by Dr F Peterson, has recently sent to Lourdes one of its members in order to begin a study of this important subject" Vide, *Man, The unknown* P 141 to 143.

है। प्रार्थना की इस पद्धति में सपूर्ण आत्मत्याग अपेक्षित होता है। तप की यह उच्चतर भूमिका है। शालीन, अबुध तथा अकिंचन व्यक्तियो में आत्मत्याग का यह सामर्थ्य धनिको और बुद्धिशालियो की अपेक्षया अधिक होता है। प्रार्थना का सयोग जब इन विशिष्टताओ के साथ होता हे तो वह एक अद्भुत घटना का—एक चमत्कार का सूत्रपात करने में समर्थ होती है।

"सभी देशो में, सभी कालो में चमत्कारो की सत्यता में—तीर्थस्थानो में किंवा पुण्यस्थानो में रोगियो का रोग यत्किंचित् द्रुतगति से शान्त होने में—लोको का विश्वास रहा है। परन्तु उन्नीसवी शती में विज्ञान की वेगवती धारा चालू होने के पश्चात् ऐसे विश्वास पूर्ण लुप्त हो गए। यह सामान्यतया माना जाता था कि, न केवल चमत्कारो का अस्तित्व नही है, वे शक्य भी नही हैं। तापयन्त्र-शास्त्र के प्राकृतिक नियमो के अनुसार जैसे अविरत गति असभव है वैसे ही क्रिया-शारीर के नियम चमत्कारो के विरोधी हैं। प्रायः क्रियाशारीरविदो और चिकित्सको का अबतक यही मन्तव्य बना हुआ है। तथापि, गत पचास वर्षो में (स्मरण रहे, पुस्तक का प्रथम संस्करण १९३५ में प्रकाशित हुआ था), जो सत्य प्रत्यक्ष हुए हैं उन को ध्यान में लिया जाए तो यह मन्तव्य टिक नहीं सकता। लोउर्ड्स के मेडीकल ब्यूरो ने चमत्कृत उपचारो के आवश्यकतम वृत्तान्त प्रकाशित किए हैं। वैकारिक परिवर्तनो पर प्रार्थना के प्रभाव के विषय में हमारा वर्तमान ज्ञान उन रोगियो पर हुए प्रत्यक्ष दर्शन पर आश्रित है जो उदरधरा के यक्ष्मा, यक्ष्मी व्रण, अस्थिपाक, पूयस्रावी व्रण, ल्यूपस (त्वचा का यक्ष्मा), कैन्सर आदि विविध रोगो से पीडित थे और लगभग तत्क्षण रोग-मुक्त हुए पाए गए। प्रत्येक व्यक्ति में रोगनिवृत्ति के समय होनेवाले परिवर्तनो में अन्य व्यक्तियो से विशेष भेद नही होता। प्राय, लक्षण ये देखे जाते थे। आरम्भ में तीव्र वेदना। इसके पश्चात् स्वास्थ्य-लाभ की सहसोद्भूत प्रतीति। कुछ ही निमेषो में, कुछ मिनटो में अधिक हुआ तो कुछ ही घण्टो में, व्रण पर किण आ जाता है, वैकारिक लक्षण लुप्त हो जाते हैं, क्षुधा का उदय होता है। कभी-कभी रचनात्मक विकृति सुधरने के पूर्व क्रियात्मक विकृति में सुधार हो जाता है। पृष्ठवंश आदि अस्थियो के यक्ष्मा का अस्थि-वैरूप्य या कैंसर-ग्रस्त ग्रन्थियाँ मूल विकार नष्ट होने के भी दो या तीन दिन पीछे तक रह सकते हैं। चमत्कार का प्रमुख लक्षण प्राण्यङ्ग में होनेवाली मरम्मत की प्रक्रियाओ की द्रुततम गति होता है। इसमें सशय नही कि, रचनात्मक विकृतियो में व्रणचिह्न (स्कार, सिकेट्रिक्स) के प्रादुर्भाव की जो दर होती है उसकी अपेक्षया इसकी दर अति वेगवत्तर होती हे। ये घटनाएँ होने में एक मात्र अपरिहार्य वस्तु प्रार्थना है। परन्तु इसमे आवश्यक नही कि

रोगी स्वयं प्रार्थना करे। इतना ही नहीं, रोगी में धार्मिक श्रद्धा हो यह भी आवश्यक नहीं। इतना ही यथेष्ट होता है कि उसके आसपास कोई प्रार्थना की अवस्था में हो। ऐसे तथ्यो का महत्त्व गम्भीर है। इनसे व्यक्त होता है कि मानस तथा शारीर क्रियाओ मे परस्पर कोई नियत सबन्ध है, जिनका स्वरूप अब तक जाना नहीं गया है। आधिदैविक अनुष्ठान, जिन की अबतक स्वस्थ-वृत्त, कायचिकित्सा, शिक्षण और समाजशास्त्र के विशारदो ने प्राय सर्वदा उपेक्षा ही की है, उन का यथार्थ महत्त्व इन से सिद्ध होता है। ये तथ्य मानव के लिए नये विश्व का अनावरण करते है।

"लोक में चमत्कारो से रोग-शान्ति की घटनाएँ कभी-ही घटती है। सख्या में अल्प होती हुई भी ये घटनाएँ ऐसी कुछ शारीर तथा मानस प्रक्रियाओ का अस्तित्व सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है, जिनके विषय में हम अजान है। ये इस बात की निदर्शक है कि, साधना की कुछ अवस्थाएँ जिनमें एक प्रार्थना की अवस्था है, उनके निश्चित प्रभाव होते है। ये दृढ और अविवाद्य सत्य है, जिनका विचार किया ही जाना चाहिए। लेखक जानता है कि, चमत्कार रूढिवादी विज्ञान से उतने ही दूर है जितना रहस्यवाद। ऐसी घटनाओ का अन्वीक्षण परोक्ष-दर्शन या परोक्ष-भाषण से भी अधिक सूक्ष्म है। परन्तु 'सत्' (रीएलिटी) के समग्र क्षेत्र की छानबीन विज्ञान का कर्त्तव्य है। लेखक ने स्वास्थ्य-लाभ की इस पद्धति तथा प्रचलित पद्धति दोनो की विलक्षणताओ को समझने का प्रयास किया है। उसने यह अध्ययन १९०२ में प्रारम्भ किया था। समय ऐसा था जब कि उल्लेख नहिवत् उपलब्ध थे, साथ ही एक युवा चिकित्सक के लिए ऐसे विषय में प्रवृत्त होना दुष्कर एव उसके भावी जीवन के लिए हानिकर था। आज तो कोई भी चिकित्सक लोउर्ड्स में लाए गए रुग्णो को देख सकता एवं मेडीकल ब्यूरो में रखे उल्लेखो की परीक्षा कर सकता है। लोउर्ड्स अनेक सदस्यो की सख्यावाले अन्तर्राष्ट्रिय मेडिकल असोसिएशन का केन्द्र है। चमत्कारो से स्वास्थ्य-लाभ के विषय में वाङमय भी शनैः-शनैः बढता जा रहा है। चिकित्सक भी इस प्रकार के असाधारण तथ्यो के प्रति अधिकतर रुचि दर्शाते जा रहे है। बोर्डो की मेडिकल सोसायटी मे विश्वविद्यालय के चिकित्सा-विभाग के प्रोफेसरो तथा अन्य प्रतिष्ठित चिकित्सको द्वारा कुछ रुग्णो के विवरण भी प्रस्तुत किए गए है। न्यूयॉर्क की एकेडेमी आफ मेडिसिन की चिकित्सा तथा धर्म विषयक समिति जिसके अध्यक्ष डॉ० एफ० पीटर्सन है, उसने हाल ही में अपने एक सदस्य को इस महत्त्वपूर्ण विषय का अध्ययन करनेके निमित्त लोउर्ड्स भेजा है।"

प्रार्थना—वह भी परकृत—कितना महत्त्व रोग के निर्मूलन में रखती है, इसका उत्तम निदर्शन यह दीर्घ उद्धरण है। दैवव्यपाश्रय चिकित्सा के अन्य अङ्गो

का विचार भी वाचक इसी पद्धति से कर सकते है। यह सत्य है कि, इस विषय का विपुल विस्तार अर्वाचीनो ने किया है, पर प्राचीनो का एतद्विषयक विचार सूत्ररूप होते हुए भी अधिक गम्भीर है। कालक्रम से अर्वाचीन विद्वान् भी प्राचीनो के मार्ग पर आते जा रहे हैं। आसन, प्राणायाम, गीता, उपनिषद्, रसायन-विधि आदि ने आधुनिक वैज्ञानिको की बुद्धि तथा कर्म में स्थान पा लिया है। मो वाचको को प्राचीनो द्वारा किए इस विषय के ऊहापोह को समझने के लिए मूल ग्रन्थ स्वयं वाचने चाहिए—यथाशक्य मूल भाषा में। ग्रन्थ के गौरव के भय से मैं इस विषय को यहींछोडकर रोगो के अगले वर्ग स्वभावबलप्रवृत्त पर आता हूँ।

स्वभावबलप्रवृत्त रोग

अन्यत्र[1] किए रोग-विभाग मे स्वय सुश्रुत ने इन्हें स्वाभाविक नाम दिया है। शरीर की प्रकृति या स्वभाव-वश होनेवाले क्षुधा, पिपासा, जरा, मृत्यु, निद्रा इत्यादि रोगो को स्वभावबलप्रवृत्त या स्वाभाविक रोग कहा जाता है। कारण-भेद से इन के दो भेद हैं। १—कालज—जो क्षुधा, पिपासा आदि प्रयत्न[2] करने पर भी, अपना काल आने पर स्वभावत आकर उपस्थित होते ही हैं, जिनका उपचार ही शक्य नही है, प्रादुर्भाव होने पर अन्न,पान, रसायन आदि के सेवन द्वारा जिन्हें शान्त कर दिया जाता है, अतएव जो याप्य-सदृश होते हैं उन्हें कालज कहते हैं। प्रतिदिन दृश्यमान क्षुधा, पिपासा, जरा, मृत्यु और निद्रा को ही यहाँ कालज स्वाभाविक रोग कहा है, यह स्पष्टता के लिए कहना आवश्यक है। सामान्यतया क्षुधा होने पर अन्न, पिपासा होने पर पान, निद्रा का वेग होने पर शयन आदि द्वारा इन्हें शान्त किया जाता है, अत ये एक तरह से याप्य विकार है तथापि रसायन-विधि में कहे उपचारो से इन का आत्यन्तिक प्रतीकार भी किया जा सकता है। आत्यन्तिक शब्द का अर्थ यो 'सदा के लिए' होता है, परन्तु सदा के लिए मृत्यु आदि की निवृत्ति शक्य न होने से असाधारण काल-मर्यादा पर्यन्त इन का अप्रादुर्भाव यह अर्थ यहाँ लेना चाहिए। सुश्रुत ने स्वभावव्याधि-प्रतिषेधनीय यही नाम देकर एक सपूर्ण अध्याय (चि. २९) स्वभावबलप्रवृत्त व्याधियो के निवारणार्थ सेवनीय रसायनो के उपदेश के लिए लिखा है। इस मे सोम के सेवन का विधान है। अगले अध्याय (निवृत्तसंतापीय नामक ३० वाँ अध्याय) में अन्य रसायन ओषधो का निर्देश किया गया है।

१—देखिए—सु० सू० १।२५(४) तथा इन पर डल्लन और चक्रपाणि की टीकाएँ।

२—मूल मे परिरक्षण शब्द है।

२—अकालज स्वभावबलप्रवृत्त रोग। जो क्षुधा, पिपासा आदि रोग प्रयत्न करने पर भी होते हैं, जिनका आविर्भाव सामान्यकाल आने के पूर्व ही (अकालमें ही) होता है, उन्हें अकालज कहते हैं। इनमें दोषों का वैषम्य कारणभूत होने से इन्हें दोषज भी कहते हैं। इनकी गणना दोषबलप्रवृत्त या निज रोगो में भी की जा सकती है। स्वरूप के साम्य से यहां स्वाभाविक रोगों में गणना कर उनके द्वितीय भेद के रूप में इनका इस वर्ग में निर्देश किया गया है। सामीप्य से कालज और अकालज निद्रा, क्षुधा आदि में भेद पहचानना भी इस शैली से सुगम हो सकता है।

पित्त की प्रवृद्धि एव श्लेष्मा का क्षय होकर भस्मकाग्नि नाम का रोग होता है। उसमें मध्याह्न आदि नियत काल आने के पूर्व पुन -पुन क्षुधा के वेग होते हैं। दोष-वैषम्य से इसी प्रकार तृषा (तृष्णा रोग) भी अकाल में होती है। निद्रा, अकाल में वलि, पलित आदि के रूप में जरा (वार्धक्य) तथा मृत्यु भी इसी प्रकार दोषो के वैषम्यवश अकालज होते हैं। दोषों का यह वैषम्य उन्हें समावस्था में रखने के शास्त्रोक्त प्रयत्न (परिरक्षण) न करने से होता है। अतएव दोष-समुद्भूत अन्य रोगो के सदृश इनका प्रतीकार या उपचार किया जा सकता है। दोष और रोग को लक्ष्य में रखकर इन का यथायोग्य उपचार करना चाहिए।

प्रथम-वर्गोक्त कालज स्वाभाविक रोग भी यों तो दोषज ही होते हैं, जैसे प्रतिदिन प्रत्येक प्राणी में देखी जानेवाली कालज क्षुधा, पिपासा तथा जरा (वृद्धावस्था) पित्तज और निद्रा श्लेष्म-तमोभवा होती है। तथापि, अल्पदोषारब्ध होने से उन्हें दोषज नही कहा गया, उसी प्रकार जैसे कोई चावल का केवल एक दाना लेता हो तो अशन की अत्यल्पता के कारण वह अनशन कर रहा है यही कहा जाता है।

दोषज स्वाभाविक रोगो के सदृश इन कालज निद्रा आदि का उपचार भी रसायन-विधि में कहे अनुसार किया जा सकता है, यह ऊपर कहा है। इन प्रकरणो की फलश्रुति में भी कहा है और लोक में प्रसिद्ध भी है कि—तत्तत् औषध के सेवन से पुरुष बिना खाए-पिए चिरकालपर्यन्त रह सकता है। जरा और मृत्यु को भी धकेल सकता है। जरा और मृत्यु का निवारण करनेवाले रसायनो के लिए लोक में कायाकल्प शब्द प्रसिद्ध है।

कालबलप्रवृत्त, दैवबलप्रवृत्त तथा स्वभावबलप्रवृत्त इन तीन व्याधि-वर्गो को आधिदैविक कहा जाता है, यह पहले कह आए हैं।

अत्र सर्वव्याध्यवरोधः। सु० सू० २४।७

इन सात वर्गो में समस्त शारीर-मानस रोगो का अवरोध (अन्तर्भाव) हो जाता है।

छठा अध्याय

अथातो व्याधिभेदविज्ञानीयं पञ्चममध्यायं व्याख्यास्यामः। इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ॥

आगन्तु आदि चार व्याधि-भेद[1]—

प्रयोजन-भेद से व्याधियों के अनेकधा भेद पूर्वाचार्यो ने किए है। इनमें कुछ का उल्लेख गत अध्यायो मे कर आए है। शेष का इस अध्याय में करेंगे।

सहिता के आरम्भ में सुश्रुत ने रोगो का इन चार वर्गो में विभाग किया है—आगन्तु, शारीर, मानस और स्वाभाविक।

वाह्य अभिघात से हुए रोगो को आगन्तु कहते है।

स्वस्थवृत्त में कहे काल-वैषम्य ; शरीर, वाणी और मन के विहार (चेष्टा) का वैषम्य ; इन्द्रियो का अपने अर्थो के साथ वैषम्य और इन सबसे वढ़कर अन्न पान (आहार) का वैपम्य—इन विषमताओ से जिनकी उत्पत्ति होती हे उन शरीर में हुए वातज, पित्तज, कफज, रक्तज, द्वद्वज तथा सनिपातज रोगो को शारीर रोग कहते है।

अन्नपान आदि के वैषम्य का अर्थ हे—अपनी प्रकृति, ऋतु आदि को दृष्टि में रखकर जिन गुण आदि वाले आहार का जिस प्रमाण में, जिन नियमो का अनुसरण करते हुए सेवन करना चाहिए उससे विपरीत प्रकार से सेवन करना। इन नियमो का विवरण स्वस्थवृत्त के ग्रन्थो में किया जाता है। आयुर्वेदीय हितोपदेश में भी सक्षेप से यह विषय लिया है। यह अन्नपान का वैषम्य दोप-वैषम्य का प्रधान हेतु है। अन्नपान का सम्यक् (सम) सेवन किया जाए तो इनके विपम सेवन से होनेवाले रोग नही होते ; साथ ही देश, काल आदि जिन दोष-वैषम्यकारक अन्य हेतुओ का तन्त्रकारो ने उल्लेख किया है उनका भी अन्नपान के सम्यक् सेवन से अर्थात् देश, काल आदि के गुणो के विपरीत गुणवाले अन्नपान के सेवन से प्रतिकार किया जा सकता है।

दोपों के वैपम्य का अर्थ हे—उनका क्षय या वृद्धि। दोषो के क्षय या वृद्धि के विपय में भी पुन यह जान लेना चाहिए कि तन्त्रकारो ने प्रत्येक दोप के जितने गुण वताए है उन सव का प्रकोप या क्षय एक साथ हो सो वात नही।

१—देखिए सु० सू० १।२४-२७ तथा इस स्थल और सु० सू० १।४ पर डल्लन

प्रकोपक या क्षयकारक कारण में दोष-विशेष के जिस एक या जिन अनेक किंवा सर्व गुणो के प्रकोप या क्षय की शक्ति हो उसी एक, अनेक या सर्व गुणो का प्रकोप या क्षय हुआ करता है। और प्रत्येक गुण का यह प्रकोप या क्षय भी उसी प्रमाण में होता है, जिस प्रमाण में प्रकोपक या क्षयकारक कारण में उस गुण के प्रकोप का सामर्थ्य हो। प्रकुपित या क्षीण हुए गुण और उसके प्रकोप या क्षय के प्रमाण एव उनके स्थान-सश्रय के अनुसार ही शरीर में रोगो की भिन्नता होती है।

सुश्रुत ने यहाँ दोषो के प्रकरण में दूष्य होते हुए भी रक्त का परिगणन किया है। इसका कारण बताते तन्त्रकार ने कहा है कि—सुश्रुत का प्रतिपाद्य विषय शल्यतन्त्र है और शल्यतन्त्र में व्रण प्रधान होता है और व्रण में सर्व दूष्यो में रक्त प्रधान होता है। इसी से सुश्रुत ने इसका यहाँ दोषो के प्रकरण में ग्रहण किया है। इस विषय का बहुत प्रपञ्च पहले कर आए हैं। वहाँ कही एक बात का यहाँ पुन उल्लेख कर दूँ कि—चरकादि कायचिकित्सको ने भी कण्ठरव से रक्त की दोषो में गणना भले न की हो परन्तु दोषो के नानात्मक रोगो के सदृश रसज, रक्तज आदि रोगो में रक्तज रोगो की गणना करके भी पुन पृथक् अध्याय मे रक्तज रोगों का परिगणन किया है। इसमे सिद्ध है कि उन्होने भी प्रकारान्तर से रक्त को प्राधान्य दिया ही है। सो, तन्त्रमात्र में इतर-दूष्यापेक्षया रक्त का प्राधान्य अभिमत है। यह सत्य है कि रक्त में वातादि के सदृश स्वय दुष्टि-कर्तृत्व नहीं होता। रक्तज रोग भी वातादि दोष-दूषित रक्त से होनेवाले रोग ही है।

रजस् और तमस् इन मानस गुणो के प्रकोप तथा सत्त्वगुण के क्षय के कारण जो क्रोध, शोक, हर्ष, विषादादि मनोविकार होते हैं, उन्हें मानस रोग कहते हैं। क्षुधा-पिपासा प्रभृति देहस्वभावोत्थ रोगो को स्वाभाविक रोग कहते हैं।

इन रोग-भेदो का अधिक विवरण पहले कर आए है।

वृद्ध-वाग्भटोक्त सात वर्ग[1]

वृद्ध-वाग्भट ने अष्टाङ्गसग्रह में रोगो का सात वर्गो में विभाग कुछ नाम-रूप-भेद से इस प्रकार किया है—सहज, गर्भज, जातज, पीडाज, कालज, प्रभावज, स्वभावज। सहज आदि प्रत्येक रोग-वर्ग के पुनः दो-दो भेद होते है।

कुष्ठ, अर्श, मधुमेह आदि जो रोग तत्तद्रोग-दूषित शुक्र या आर्तव (पुबीज या स्त्रीबीज) द्वारा अपत्य में संक्रान्त होते है उन्हें सहज कहते है। सहज रोगो के दो भेद ये हैं—पितृज नाम पिता से—शुक्र दोष से—सक्रान्त रोग तथा मातृज

1—देखिए अ० स० सू० २२।

किंवा माता से—दोष-दूषित आर्तव (स्त्रीबीज) के कारण हुए रोग। ये सहज रोग सुश्रुत के आदिबलप्रवृत्त रोग हैं।

कुब्जता (कुबड़ापन), पैङ्गल्य (त्वचा, रोम, केश, पुतली पिङ्गलवर्ण—बिल्ली के नेत्र के समान वर्ण के होना), किलास (श्वित्र, श्वेत कुष्ठ) आदि जो रोग गर्भावस्था में माता के किए अपचार से—अहिताहार-विहार से—होते है उन्हें गर्भज कहा जाता है। इनके दो भेद है—अन्नरसज—गर्भिणी के अहिताहार-विहारवश उसके शरीर में दोषो का वैषम्य होने से रसधातु की विकृति होकर और उसके कारण गर्भ-शरीर में भी दोषो की विषमता होकर उत्पन्न हुए रोग; तथा—दौहृद-विमानज—गर्भिणी को गर्भावस्था में हुई विशिष्ट इच्छाएँ पूर्ण न करने से हुए रोग। गर्भज रोग सुश्रुत के रोग-विभाग में जन्मबलप्रवृत्त नाम से वर्णित हैं।

उत्पत्ति के अनन्तर पुरुष के अपने अपचार से जो रोग होते है उन्हें जातज कहते है। कारण-विशेष के भेद से इन रोगो के दो भेद होते है—संतर्पणज नाम वे रोग जो शरीर की आवश्यकता से अधिक अन्नपान के सेवन से होते है; तथा—अपतर्पणज—वे रोग जो शरीर को जिन-जिन गुणो की आवश्यकता है उनका यथावत् प्रमाण में सेवन न होने से होते है। आधुनिको ने तत्तत् विटामीन, एमाइनो एसिड आदि द्रव्यो के अयोग या हीनयोग से होनेवाले रोगो को डेफिशिअन्सी डिसीज कहा है। उनका साम्य अपतर्पणज रोगो से देखा जा सकता है। जातज रोगो का उल्लेख सुश्रुत में दोषबलप्रवृत्त नाम से हुआ है।

जो रोग क्षत, भङ्ग, प्रहार, क्रोध, शोक, भय आदि से होते हैं उन्हे पीडाज या पीडाकृत रोग कहते हैं। इनके अधिष्ठान-भेद से दो भेद हैं—शारीर अर्थात्—क्षत, भङ्ग, प्रहार आदि; तथा मानस, यथा—क्रोध, शोक, भय आदि। सुश्रुत-कृत रोग-वर्ग में पीडाज रोगो का निर्देश संघातबलप्रवृत्त नाम से हुआ है। अन्य रोग-विभागो में इन्ही को आगन्तु कहा गया है।

जो रोग शीत, उष्ण और वर्षारूप कालस्वभाव से उत्पन्न होते है उन्हें कालज कहते है। इनके दो भेद होते हैं—व्यापन्नज, नाम वे रोग जो ऋतुओ की पूर्व-वर्णित व्यापत्ति (अन्यथाभाव) से होते हैं; तथा असंरक्षणज—अर्थात् वे रोग जो ऋतुओ की व्यापत्ति न हो तथापि उनके स्वभाववश दोषो का सचय-प्रकोप होने से होते हैं। ऋतु-स्वभाववश होने वाले रोगो का प्रतिकार ऋतु-चर्या के पालन से होता है। इसी को यहाँ सरक्षण यह नाम दिया है। यह सरक्षण या ऋतुचर्योक्त स्वस्थवृत्त का अनुष्ठान न करने से जो रोग होते हैं उन्हे असरक्षणज नाम तन्त्रकार ने दिया है। इन्हें सुश्रुतोक्त रोग विभाग में कालबलप्रवृत्त कहा गया है।

जो रोग देवो या गुरुओ (किसी भी दृष्टि से अपने से बडो) का उल्लङ्घन करने से—उनका अनादर करने से—शाप से या आथर्वण (अथर्ववेदोक्त मन्त्र-तन्त्र) आदि से होते है उन्हें प्रभावज कहते है। इनके दो भेद है—ज्वरादि (शरीराधिष्ठान) तथा पिशाचावेशादि (मनोऽधिष्ठान)। सुश्रुत के वर्ग मे इनका उल्लेख दैवबलप्रवृत्त नाम से हुआ है।

क्षुधा, पिपासा, जरा आदि देहस्वभाव से होने वाले रोगो को स्वभावज कहते है। इनके दो भेद है—कालज, या रक्षणकृत रोग—अर्थात् उपाय करने पर भी अपना काल आने पर जिनका वेग हो आए ऐसे रोग ; तथा—अकालज या अरक्षणज—अर्थात् इस प्रकार के क्षुधा आदि रोग, जो दोषो को समावस्था में रखने के उपाय (रक्षण) न करने से दोषो की विषमता होकर अकाल में ही अपना प्रभाव दिखाते है। सुश्रुत कृत वर्गीकरण मे स्वभावबल-प्रवृत्त नाम से ये वर्णित है।

दोषज, कर्मज तथा दोषकर्मज रोग[1]

महाकुष्ठादि कई रोगो के निदान में शास्त्रकारो ने कहा है कि कई वार वे पूर्वभव (पूर्वजन्म) के दुष्कृत के परिणाम रूप में होते है। लोक में भी यह प्रसिद्धि है। वर्तमान जन्म के अपचार (रोग-हेतु) से हुए रोगो की दारुणता, चिरकालानुबन्धिता आदि का संबन्ध भी गत जन्म के कर्मो से मानकर रोगी तथा उसके स्वजन-परिजन कहते सुने जाते है कि जबतक कर्मफल का भोग होगा तब तक रोग का कष्ट सहन करना होगा। इस प्रकार रोगो का एक मूल प्राचीन-मत से प्राक्तन कर्म भी है। उन्हें दृष्टि में रखकर पूर्वाचार्यो ने तीन वर्गो के रूप मे एक अन्य रोग-विभाग किया है। उसका निर्देश किया जाता है।

पुरुष सद्वृत्त तथा पथ्य का पालन करता हो—शास्त्रोक्त आहार-विहार का सेवन करता हो तो भी वह उक्त महाकुष्ठादि रोगो से पीडित होता है किंवा जिस ऋतु में ऋतु-स्वभावाधीन जो रोग नही होने चाहिए उनसे पीडित होता है यथा हेमन्त-शिशिर में रक्तपित्तादि से, वसन्त मे वातव्याधि से यद्वा प्रावृट् मे श्लेष्मज व्याधि से—इस प्रकार किसी दृष्ट (प्रत्यक्ष) रोग-निमित्त के विना जो रोग होते है, जन्मान्तर में किए अशुभ कर्म (दैव) के परिपाक का काल उपस्थित होने से जो उत्पन्न होते है उन्हें कर्मज रोग कहा जाता है। देखिए—

१—स्थल सु० उ० ४०।१६३-६६ तथा डल्हन, च० शा० १।११६-११७ तथा चक्रपाणि, अ० स० सू० २२, अ० हृ० सू० १२।५७-५९ तथा अरुण—हेमाद्रि।

निर्दिष्टं दैवशब्देन कर्म यत्पौर्वदैहिकम्।
हेतुस्तदपि कालेन रोगाणामुपलभ्यते॥

च० शा० १।११६

इन रोगों को पूर्वापराधज, दैवज, पूर्वकर्मज या अदृष्टकर्मज भी कहते हैं।

जो रोग इसी शरीर से किए ज्ञात या अज्ञात प्रज्ञापराधादि रोग-हेतु के सेवन से होते हैं—अर्थात् शास्त्र में जिस आचार का उपदेश किया है उसका अनुष्ठान न करने से अथवा/और जिसके परित्याग का विधान (प्रतिषेध) किया गया है उसके सेवन से होते हैं उन्हें इस अपचार या रोगारम्भक अहिताहार-विहार के दृष्ट (प्रत्यक्षगोचर) होने से दृष्टापचारज कहा जाता है। इसी कारण इन्हें प्रत्युत्पन्नकर्मज या दृष्टकर्मज भी कहते हैं। शास्त्रविरुद्ध मिथ्याहार-विहार से हुए दोष-वैषम्य के कारण ये उत्पन्न होते हैं, इस कारण इन्हें दोषज भी कहा जाता है। कभी ये दोषज रोग प्रहार आदि पर-कृत अपचार से भी होते हैं। भेद इतना ही है कि इनमें (इन आगन्तु रोगो में भी) दोष-वैषम्य पीछे से हो जाता है।

कई व्याधि न केवल पूर्वापराध से और न केवल ऐहिक मिथ्याहार-विहार से होते हैं, प्रत्युत दोनो कारणो के सकर (मिश्रत्व) से होते हैं। इन्हें उभयात्मक, उभयज, दृष्टादृष्टकर्मज, कर्मदोषोद्भव या कर्मदोषज कहा जाता है।

कर्मज आदि रोगों का निदान और लक्षण—रोगो के इन तीन भेदो में कर्मज रोगो में दोषो के प्रकोप का कोई कारण, जैसे लघु, रूक्ष आदि द्रव्यो का अतियोग आदि होता नही, न ही किसी आगन्तु कारण का इतिहास होता है। दोषज रोग में प्रत्येक दोष का जो लघु, रूक्षादि गुणो वाले द्रव्यो का अतियोग इत्यादि प्रकोपक कारण कहा गया है उसकी उपलब्धि होती है। उससे दोष का प्रकोप होकर रोग उत्पन्न होता है। दोषकर्मज रोग में दोष-प्रकोपक निदान अल्प होता है। उसकी तुलना में रोग के पूर्वरूपो और रूपो (लक्षणो) की संख्या तथा बल पूर्वकर्म के परिपाकवश अत्यधिक होता है। रोग का कष्ट भी बहुत होता है। इसके विपरीत, इन रोगो में कभी यह भी स्थिति होती है कि रोगोत्पादक दोष के प्रकोपक कारणो का अतियोग तथा उसके कारण उस दोष का प्रकोप बहुत होता है तथापि रोग मृदु होता है—उसके पूर्वरूपो और रूपो की सख्या और बल स्वल्प (स्वल्प कष्टकारी) होता है—मृदवो बहुदोषा वा—सु० उ० ४०।१६५।

कर्मज-प्रभृति रोगों का उपचार—इन रोगो में कर्मज रोगो की दोष-व्याधि-प्रत्यनीक जो भी चिकित्सा की जाए वह व्यर्थ होती है। उनकी शान्ति

फलोपभोग द्वारा किंवा प्रायश्चित्त, जप, होम, उपहार, याग, दान, मन्त्र, वलि, देवताराधन गुरु-पूजन आदि द्वारा विशेपतया प्रायश्चित्त द्वारा व्याधिजनक पूर्व-कर्म का क्षय होने से ही होती है। यदुक्तम्—

क्रियाघ्नाः कर्मजा रोगाः प्रशमं यान्ति तत्क्षयात् ॥
च० शा० १।११७

लोक में ऐसे रोगो के वेगो तथा रोगशान्ति के काल का सत्य निर्णय वहुवा ज्योतिष के आधार पर किया जाता है। काल व्यतीत होने पर रोग स्वय भी शान्त हो जाता है, वेग का काल हो तो हजार उपचार करने पर भी वेग हो आता है या स्थिर रहता है।

दोपज रोग स्नेहन-स्वेदन-वमन आदि के रूप में दोप-व्याधि-प्रत्यनीक आहार, विहार, औषध, देश और काल के सम्यक् सेवन से (विपक्ष-शीलनात) ही शान्त होता है।

दोप-कर्मज रोग दोप और कर्म दोनो की उक्त चिकित्सा यथावत् करने से शान्त होते हैं।

रोगो का दोप और कर्म की दृष्टि से किया यह विभाग समझने की आवश्यकता इसलिए है कि कर्मज रोगो का कारण समझे विना दोप-व्याधिपरक चिकित्सा की जाए तो उसमे सिद्धि नही मिलती। अच्छे-अच्छे निष्णातो को भी चिकित्सा ऐसी स्थिति में सफल नही होती। उल्लिखित देववलप्रवृत्त उपचारो से सिद्धि मिलती है। कई वार अनुभवी चिकित्सक अपने अनुभव के आधार पर कहता है कि रोग के वेग अव नही होगे, परन्तु ग्रह-गणित आदि से उनके होने का पूर्वज्ञान होता है और वस्तुत रोग का वेग हो भी आता है। ग्रह-गणित आदि के अनुसार निर्दिष्ट समय पर रोग विना उपचार या निमित्त-मात्र उपचार से शान्त हो जाता है। समय न आने तक किसी प्रकार शान्त नही होता। रोगो मे प्राक्तन कर्म की कारणता का सूत्र चिकित्सक की दृष्टि में हो तो वह प्रत्येक रोगी की परीक्षा मे ग्रह आदि काल-मान को भी दृष्टि में रखता है। कई सुचिकित्सक रोगी के उपस्थित होने पर दोषो की परीक्षा न कर घडी देखकर निर्णय करते हैं कि इस समय किस रोग का काल है। तदनुसार विनिश्चय कर किया उपचार सफल भी होता है। अत. प्रत्येक वैद्य को कम से कम रोगनिदानोपयुक्त ग्रह-गणित आदि का ज्ञान तो प्राप्त करना ही चाहिए। न्याय, वैशेपिक आदि दर्शनो की अपेक्षया ज्योतिष आयुर्वेद के व्यवसाय में अधिक उपयोगी है। अत. शक्य हो तो उसका व्यवसायोपयुक्त ज्ञान आयुर्वेद के विद्यार्थी को कराना चाहिए। चिकित्सक स्वय इस विषय का ज्ञाता न हो तो इसके ज्ञाता की समय-समय पर सहायता उसे लेते रहना चाहिए।

कर्मज रोगे के कारणभूत पूर्वभव-कृत अधर्म का वर्तमान देह मे सक्रमण आत्मा द्वारा होता है। आत्मा को निर्विकार मानते हुए भी उसका अस्तित्व इस शास्त्र में मानने का एक कारण कर्मज रोगो की इस प्रकार संक्रान्ति होना है।

दश प्रकार के रोगानीक (रोग-समूह)[1]

विमान-स्थान के छठे अध्याय के आरम्भ में संक्षेप में रोगो के अनेक प्रकार के अनीक (वर्ग, समूह) चरक ने वताए है। इनमें एक-दो वर्ग नवीन है तथा उनका उपयोग शास्त्र में होता है, अत उनका और पुनरुक्ति होते हुए भी अन्यो का भी उल्लेख किया जाता है।

प्रभाव-भेद से रोगो के दो वर्ग होते हैं—साध्य और असाध्य। इनके लक्षण इस प्रकरण के अन्त में अधिक विस्तार से वताए जाएँगे।

वल-भेद से रोगो के दो भेद होते है—अल्प वल वाले या मृदु, तथा महावल-वान् अर्थात् जिनके पूर्वरूपो एवं रूपो की सख्या और वल अधिक हो ऐसे अर्थात् दारुण। सग्रहकार ने दारुण को अधिमात्र कहा है तथा दोनो के मध्यवर्ती (मध्य-लक्षण) मध्य नामक वर्ग का निर्देश किया है। अन्य तन्त्रकारो ने भी अपने ग्रन्थो में अन्यत्र मध्यवल रोगो का उल्लेख किया ही है। दारुण रोग प्रारम्भ से ही कष्टसाध्य होते हैं। उनका उपक्रम (चिकित्सा) न किया जाए या चिकित्सा मिथ्या हो तो ये अल्पकाल में ही वलवत्तर होकर प्राणहर सिद्ध होते हैं। दारुण रोगो किवा उनके आरम्भक दोषो के इस स्वभाव को शीघ्र-कारिता कहते है। मृदु रोग सुखसाध्य होते है। नाममात्र यत्न (उपचार) करने से भी उनमें नियत सिद्धिलाभ होता हे। इन मृदु और दारुण तथा साध्यासाध्य व्याधियो के ही चार प्रभेद होते है, जिनका सलक्षण उल्लेख अनुपद किया जाएगा।

अधिष्ठान (आश्रय)-भेद से रोगो के दो भेद होते है : मनोऽधिष्ठान और शरीराधिष्ठान। आशय भेद से रोगो के दो भेद होते है : आमाशय-समुत्थ और पक्वाशय-समुत्थ। दोष-भेद से आमाशयाश्रय रोगो में समस्त कफ-पित्तज रोगो का अन्तर्भाव (अवरोध) होता है तथा पक्वाशयाश्रय रोगो में सर्व वातज रोगो का। निमित्त-भेद से रोगो के दो वर्ग होते हैं : स्वधातु-वैषम्य-निमित्त अर्थात् रुग्ण पुरुष के अपने शरीर के धातुओ (दोषो) मे वैषम्य होने से हुए तथा आगन्तु-निमित्त।

१—स्थल च० वि० ६।३, च० सू० १८।३७-४१ (मृदु आदि भेद), ४२-४३ (सख्येयासख्येयत्व), तथा चक्रपाणि, अ० स० सू० १२ (मृदु आदि भेद)।

दोषों के वैषम्य से हुए शारीर रोगों के वातज आदि नाम प्रसिद्ध हैं। निदान-स्थान के आरम्भ में चरक ने दोषों के आरम्भक महाभूतों के नाम पर पैत्तिक रोगों को आग्नेय, कफज रोगों को सौम्य तथा वातज रोगों को वायव्य नाम दिया है।

साध्यासाध्य भेद से रोगों का वर्गीकरण[1]

साध्यासाध्यविभागज्ञो ज्ञानपूर्वं चिकित्सकः।
काले चारभते कर्म यत्तत् साधयति ध्रुवम्॥
अर्थविद्यायशोहानिमुपक्रोशमसंग्रहम्।
प्राप्नुयान्नियतं वैद्यो योऽसाध्यं समुपाचरेत्॥

च० सू० १०।७-८

रोगी की चिकित्सा आरम्भ करने के पूर्व वैद्य को इस वस्तु की निश्चित परीक्षा कर लेनी चाहिए कि रोग साध्य है या असाध्य ? रोग साध्य हो, चिकित्सक को उपचार का समग्र ज्ञान हो तथा चिकित्सा समय पर की जाए तभी रोग को सिद्ध (शान्त) करने में चिकित्सक को सफलता मिलती है। इसके विपरीत वैद्य असाध्य रोगी की चिकित्सा का प्रयत्न करे तो उसे आर्थिक क्षति उठानी पड़ती है, उसकी विद्या कलङ्कित और यश लाञ्छित होता है, लोक में निन्दा होती है तथा भविष्य में रोगी मिलने की सभावना नष्ट हो जाती है। इस प्रकार उसके व्यवसाय को निश्चित धक्का लगता है।

तन्त्रकार ने ऊपर एक सर्वविदित एव व्यवसायोपयोगी सत्य का सुन्दर शब्दों में उल्लेख किया है। इसी कारण प्रत्येक संहिताकार ने अपनी संहिता के आरम्भ में साध्य-असाध्य रोगों के सामान्य लक्षण बताए हैं। इसके पश्चात् पृथक्-पृथक् रोगों की असाध्यता के लक्षणों एव सामान्य अरिष्ट (नियतमरण-ख्यापक) लक्षणों का एक साथ निर्देश किया है। इन्हीं प्रकरणों में स्वप्नों से तथा दूत (रोगी के घर पर वैद्य को ले जाने के लिए आए पुरुष) के लक्षणों से असाध्य रोगी की परीक्षा के नियमों का उल्लेख किया है। पश्चात् प्रत्येक रोग की निदान-चिकित्सा के प्रकरण में भी साध्यासाध्यता के लक्षण बताए गए हैं।

१—स्थल च० सू० १०।७-२२, च० सू० १८-३७-४१, च० नि० ८।३३-३५ तथा चक्रपाणि, सु० सू० १०।६,८, सु०सू० ३५।१८, सु० सू० २३।६-११, १५-१७ तथा डल्हन, अ० स० सू० २, अ० हृ० सू० १।३०-३५ तथा अरुण-हेमाद्रि।

कालज्ञान नाम से इन सर्व विकीर्ण लक्षणो का सग्रह पुस्तक रूप में मुद्रित उपलब्ध होता है।[1] चिकित्सा में सिद्धि की इच्छा रखने वाले वैद्य को कालज्ञान के लक्षणो का नित्य अनुशीलन करते रहना चाहिए[2]।

चिकित्सा की सिद्धि-असिद्धि की दृष्टि से रोगो के दो विभाग है : साध्य तथा असाध्य। इनमें प्रत्येक के पुन. दो भेद होते है : साध्य के सुखसाध्य (सुसाध्य) तथा कृच्छ्रसाध्य (कष्टसाध्य, दु.साध्य या दुश्चिकित्स्य) और असाध्य के याप्य (यापनीय) तथा अनुपक्रम (प्रत्याख्येय, या त्याज्य)। इनमें प्रत्येक के लक्षण देते है।

सुखसाध्य रोग के लक्षण—

सुखसाध्य और कृच्छ्रसाध्य रोगो के लक्षण सक्षेप में अधोलिखित है :—

सुखसाध्यः सुखोपायः कालेनाल्पेन साध्यते।
साध्यते कृच्छ्रसाध्यस्तु यत्नेन महता चिरात्॥
च० नि० ८।३३, अ० स० सू० २

सुखसाध्य रोग वे है जिनकी शान्ति सरल और स्वल्प उपचारो से एवं स्वल्प काल में होती है। इनके विपरीत कृच्छ्रसाध्य रोग वे होते है जिनमें बहुत यत्न करना पड़ता हे तथा रोग को शान्त होते बहुत काल लगता हे। सुखसाध्यता तथा कृच्छ्र-साध्यता आगे दी गई परिस्थितियो में होती हे।

रोग सुखसाध्य तब होते है जब—रोगो के हेतु (कारण, निदान), पूर्वरूप तथा रूप (लक्षण) अल्पसख्यक और अल्पबल हो,

प्रकुपित हुए जिस दोप से रोग उत्पन्न हुआ है दूष्य धातु या मल उसी के समान गुणवाला न हो—न च तुल्यगुणो दूष्यः (च० सू० १०।११); इसी प्रकार रोगी की प्रकृति का आरम्भक (उत्पादक) दोष भी वही न हो जिससे वर्तमान रोग की उत्पत्ति हुई है—न दोप· प्रकृतिर्भवेत् (च० सू० १०।११); एव देश, काल (ऋतु) और सात्म्य (अभ्यस्त आहार-विहार, औषध आदि) भी रोगारम्भक दोष की वृद्धि के अनुकूल न हो;

रोगोत्पादक दोष एक हो—दोपश्चैकः समुत्पत्तौ (च० सू० १०।१३); वह एक ही मार्ग में प्रसृत हो—गतिरेका (च० सू० १०।१२); विशेषतया

१—स्थल च० इन्द्रिय स्थान सपूर्ण (बारह अध्याय), सु० सू० २८-३४ अध्याय, ३५ वे अध्याय मे दिए आयु के लक्षण, अ० स० शा० ८-१२ अध्याय, अ० हृ० शा० ५-६ अध्याय मे कालज्ञान-विषयक उक्त जानकारी तन्त्रकारो ने दी है। २—देखिए सु० सू० ३५।३।

हृदय, शिर, वस्ति, कण्ठ आदि मर्मस्थानो में स्थित न हो (यथा—आमवात में हृदय-मर्म में एव अर्श में गुद-मर्म में दोष का सश्रय होना) ; इसी प्रकार दोष का स्थान-सश्रय अपने प्रधान स्थान मे न हो, जैसे वात का पक्वाशय में ;

रोग तरुण—अचिरोत्पन्न—हो, उसे हुए एक वर्ष से न्यून समय हुआ हो[1] ; साथ ही वह उपद्रव-रहित हो ,

रोगापनयन के लिए जो औषध, आहार तथा विहार उपशय-भूत (पथ्य, उपयुक्त) हो उसे, एव जिस मात्रा में इनके सेवन से रोग-निवृत्ति शक्य हो उस मात्रा में सहन करने का सामर्थ्य शरीर में हो—वह औषधादि उस मात्रा में देने से कोई अपाय (हानि, अवाञ्छित लक्षण) उत्पन्न न हो—देहः सर्वौषधक्षमः (च० सू० १०।१३) ,

रोगी सत्त्वसार (दृढ, धीर मनवाला) हो , वह पुरुष हो, युवा हो और जितेन्द्रिय हो—जिह्वादि इन्द्रियो के लौल्य (लोलुपता) से रहित हो ,

रोगी की अग्नि तथा देह सम हो , चिकित्सा के चारो चरण अपने-अपने गुणो से युक्त हो (पाद-सपद्, चतुष्पादोपपत्ति) , और इन सबसे बढकर—

रोगी के सूर्यादि ग्रह अनुकूल हो—अनुकूल राशियो में तथा उत्तम स्थानो मे स्थित हो (ग्रहेष्वनुगुणेषु—अ० हृ० सू० १।३१) और उसकी आयु शेष हो ।

आवश्यक होने से इनमें कतिपय लक्षणो की उदाहरणादि द्वारा व्याख्या की जाती है ।

रोगो के उत्पादक कारण अल्प हो तो पूर्वरूप और रूप भी अल्प होते है, यह सामान्य नियम माना जा सकता है । क्योकि, कारण-सामग्री की जैसी पूर्णता या अपूर्णता होगी कार्य की निष्पत्ति भी वैसी ही होगी । इस स्थिति में 'हेतुओ का अल्प होना' इतना कहने से ही 'पूर्वरूप और रूप की अल्पता' का भी सामान्यतया ग्रहण हो ही जाना चाहिए । तथापि यहाँ हेतुओ के साथ पूर्वरूप और रूप की अल्पता का भी निर्देश पृथक् किया है । कारण, कभी-कभी रोगोत्पादक कारण अल्प होते हुए भी, रोग कर्मज हो तो पूर्वरूपो और रूपो की सख्या और बल (उत्कटता, दारुणता, जोर) अधिक होता है[2] । इस विषय का अभी ही उल्लेख कर आए है ।

दूष्यादि रोगारम्भक दोष के अनुकूल न हो—विपरीत-गुण हो—तो रोग सुसाध्य होता है, यह ऊपर कहा है । इसके उदाहरण देते है ।—

१—देखिए इस प्रकरण के अन्त मे दिया सुश्रुत-वचन , तथा हृदयकार के वचन पर अरुण की टीका ।

२—देखिए अ० हृ० सू० १।३०-३१ पर अरुण ।

व्याध्युत्पादक दोष वात हो—रोगी वातव्याधि से पीडित हो और जिस देश में उसका वर्तमान निवास है वह मरु (धन्वदेश, ड्राई क्लाइमेट—सूखी आबोहवा—वाला) हो तो रोग सुखसाध्य नहीं होता। कारण, मरुदेश अपने रूक्षता आदि गुणो के कारण शरीर के स्नेह का शोषण करता हुआ वात का प्रकोपक होने से वात में वृद्धि करता हे, जिससे रोग में भी वृद्धि होती है। इसी प्रकार आनूप देश (जलप्राय देश, डैम्प क्लाइमेट—आर्द्र आबोहवा-वाला देश) श्लेष्म-प्रकोपजन्य व्याधि को और वढाता हे। इसके विपरीत, यथा आनूप देश में पित्तजन्य रोग हुआ हो तो वह सुखसाध्य होता है। कारण, आनूप देश अपने स्वभाववश शरीर में श्लेष्मा की वृद्धि करता है। वह पित्त के गुणो से विपरीत होने से उसका, परिणामतया तद्‌तुल्य व्याधि का, शमन करने में सहायक होता हे।

इसी प्रकार रोगारम्भक दोष और प्रकृत्यारम्भक दोष भिन्न हो तो रोग सुखसाध्य होता है। कारण, प्रकृत्यारम्भक दोष अपने प्रभाव से शेष दो दोषो को दवाए रहता है। किसी कारण इतर दोषो का प्रकोप हो कर तज्जन्य कोई रोग हुआ हो तो प्रकृति-जन्य दोष के प्रभाव से प्रकोप का प्रमाण विशेष बढने नहीं पाता। यथा, पुरुष पित्तप्रकृति हो तो उसे हुआ श्लेष्मोद्भव व्याधि सुख-साध्य होता है।

एव, ऋतु तुल्य न हो, अर्थात् जिस दोष से रोग हुआ है उसका प्रकोप उस ऋतु में न होता हो तो रोग सुखसाध्य होता है। कारण, ऋतु-स्वभाववश प्रकुपित होने वाला दोष अपने विपरीत गुणो से रोगोत्पादक दोष का प्रशमन करता रहता है, जिससे रोग की बल-वृद्धि होने नही पाती। यथा, शरदृऋतु में कफज रोग हुआ हो तो वह सुखसाध्य होता है।

दूष्य दोष-विपरीत हो तो भी रोग सुसाध्य होता है। यथा, श्लेष्मा से रक्त का प्रकोप हुआ हो तो वह सुखसाध्य होता है। रक्त उष्णगुण है और श्लेष्मा शीतगुण। शीतगुण श्लेष्मा के वल का वहुत-सा व्यय रक्त के उष्ण गुण द्वारा प्रशमित कर दिया जाता है। इसी से रक्तप्रकोपज व्याधियों में पित्तप्रकोप ही प्रधानतया होता है, यह हमने रक्तप्रकोपज रोगो के प्रकरण में देखा है।

पित्त और रक्त का परस्पर अनुवन्ध—अग्निदग्ध-प्रकरण में अग्नि, रक्त और पित्त के समानधर्मा होने से अग्निदग्ध-जनित परिणामो का जो उल्लेख किया है वह पित्त और रक्त के परस्पर अनुबन्ध पर उत्तम प्रकाश डालने वाला होने से समग्र उद्धृत करने योग्य है। तथाहि :

अग्निना कोपितं रक्तं भृशं जन्तोः प्रकुप्यति।
ततस्तेनैव वेगेन पित्तमस्याभ्युदीर्यते॥

तुल्यवीर्ये उभे ह्येते रसतो द्रव्यतस्तथा।
तेनास्य वेदनास्तीव्राः प्रकृत्या च विदह्यते॥
स्फोटाः शीघ्रं प्रजायन्ते ज्वरस्तृष्णा च बाधते॥

सु० सू० १२।१७-१८

अग्निदग्ध रोगियो में अग्नि के प्रभाव से रक्त का अत्यधिक प्रकोप हो जाता है। अग्नि और प्रकुपित रक्त दोनो के मेल से पित्त का भी प्रकोप हो जाता है। कारण, तुल्यवीर्ये उभे ह्येते रसतो द्रव्यतस्तथा। रक्त और पित्त दोनो द्रव्य, रस और वीर्य की दृष्टि से समान है। दोनो में अग्नि महाभूत की उल्वणता होती है, दोनो के उत्पादक द्रव्य भी समान होते है। रस भी दोनो का समान है—कटु। वीर्य भी पित्त और रक्त का एक ही है—उष्ण। अग्नि का साम्य तो पित्त और रक्त से सिद्ध ही है। इस सप्राप्ति के अनुसार अग्निदग्ध रोगियो में पित्त का प्रकोप हो जाने से तीव्र दाह आदि पित्त-प्रकोप-सुलभ वेदनाएँ, होती है, स्वभाववश विदाह होता है—रस-रक्त में अम्लता (एसीडोसिस, एसिडीमिश्रा) होती है। शीघ्र ही स्फोट (छाले, विसाइकल्स) उत्पन्न होते हैं। ज्वर और तृष्णा से रोगी पीडित होता है।

दूष्यादि सभी रोगारम्भक दोष से विपरीत अतएव रोग सुखसाध्य होने का उदाहरण यह है। रोग पित्त के प्रकोप से हुआ हो, मेद, मज्जा आदि दूष्य हो, देश (रोगी का वर्तमान निवास-स्थान) आनूप हो, ऋतु शीत चलती हो और रोगी वातप्रकृति हो तो इन दूष्यादि के शीत-स्निग्धादि गुण रोगोत्पादक दोष के उष्ण-तीक्ष्णादि से विपरीत होने से उसका बल बढने नहीं पाता। परिणामतया, उससे उत्पन्न रोग सुखसाध्य होता है।

रोग तरुण (नवीन) हो तो सुखसाध्य होता है। वैसे तो विभिन्न रोगो की तरुणता, मध्यता तथा जीर्णता की काल-मर्यादा कहीं पृथक् भी कही है; जैसे ज्वर के प्रकरण में सामान्य दोषज ज्वर के लिए कहा है कि—एक सप्ताह-पर्यन्त ज्वर तरुण, बारह दिवसो तक मध्य और इसके अनन्तर जीर्ण (पुराण या पक्व) होता है; एव विषम ज्वर दो सप्ताह के पश्चात् जीर्ण हुआ कहा जाता है, उसके पूर्व मध्य या तरुण होता है; परन्तु सामान्यतया साध्यासाध्यता के विचार में तरुण रोग का अर्थ है जिसे हुए एक वर्ष से न्यून समय हुआ हो; इसके पश्चात् रोग जीर्ण हो जाता है। इसी से कहा है—

परिसंवत्सरोत्थिताश्च विकारान् प्रायशो वर्जयेत्॥

सु० सू० १०।६

परिसंवत्सरोत्थिताः संवत्सरातीताः सर्वर्तु च महाबला ये तान् परिवर्जयेदिति। यदि ह्येकदोषजास्ते भवेयुरेवं तेषां तद्दोषप्रशमनर्तुषु प्रशमो भवेदल्पता वा, स च न भवति, तेन तेषां त्रिदोषजत्वाधिगमः। अतस्तान् परिवर्जयेत्। अथवा संवत्सरेणोत्तरोत्तरधात्वनुक्रमाद्-साध्यत्वं प्रायशः। प्रायशो बाहुल्येन, नावश्यतया। तेन केचिद्रक्त-गुल्मादयः संवत्सरानन्तरमुपक्रमयोग्या भवन्ति। अर्दितस्तु त्रिभिर्वर्षैः साध्य इति॥ डल्हन

रोग का प्रादुर्भाव हुए एक वर्ष न बीता हो तो रोग सुखसाध्य होता है। इसमें कारण दो होते हैं। एक तो यह कारण कि, रोग को पूरे बारह मास व्यतीत हो गए हो तथापि न वह शान्त हुआ हो न उसके लक्षणो में मन्दता आई हो तो अर्थापत्ति से इसका अर्थ यह होता है कि प्रकृत रोग त्रिदोषज है। कारण, हम जानते हैं कि तत्-तत् ऋतु में तत्-तत दोष का प्रशमन होता है, इस प्रकार संपूर्ण वर्ष में ऋतु-भेद से प्रत्येक दोष के प्रशमन का काल आ ही जाता है। अपने काल में दोष-विशेष का प्रशमन होने से जो रोग उस दोष से उत्पन्न हुआ हो उसकी शान्ति या मन्दीभाव उस ऋतु में होना ही चाहिए। वर्ष की किसी भी ऋतु में यह सुस्थिति देखी नही गई इसका अर्थ यही हुआ कि रोग त्रिदोषज है। एक ऋतु में एक दोष शान्त हुआ तो भी शेष दो दोषो का विशेष प्रकोप होगा, जिससे रोग के लक्षणो की उग्रता में कुछ भी हानि न पाई जाएगी। इस प्रकार रोग त्रिदोषज है यह सिद्ध हो गया तो यह भी स्वय गृहीत है कि रोग कष्टसाध्य या असाध्य होना चाहिए। कारण त्रिदोषज रोग सुखसाध्य नही होते।

इस सप्राप्ति को लक्ष्य में रखकर ही अन्यत्र कष्टसाध्य या असाध्य रोगो के लक्षणो में कहा है, कि जो रोग सर्वर्तु च महाबलाः—वर्ष की तीनो ऋतुओ में बलवान् बने रहें उनका परित्याग कर देना चाहिए।

एक वर्ष पर्यन्त रोग सुखसाध्य और तदनन्तर दुःसाध्य या असाध्य होने में अन्य हेतु यह भी है कि—अनुपचार या मिथ्याचार से रोग-मात्र उत्तरोत्तर धातु में प्रविष्ट (गम्भीर) होता जाता है। तथाहि—

साध्या याप्यत्वमायान्ति याप्याश्चासाध्यता तथा।
घ्नन्ति प्राणानसाध्यास्तु नराणामक्रियावताम्॥

सु० सू० २३।६

रोगी का उपचार न हो किंवा मिथ्या (विरुद्ध) उपचार हो तो इसका विपरिणाम यह होता है कि—साध्य रोग याप्य में तथा याप्य प्रत्याख्येय

(अनुपक्रम) में परिणत हो जाते हैं और असाध्य अर्थात् कालान्तर-प्राणहर रोग सद्य प्राणहर हो जाते हैं। कारण ?

क्रमेणोपचयं प्राप्य धातूननुगतः शनैः।
न शक्य उन्मूलयितुं वृद्धो वृक्ष इवामयः॥
स स्थिरत्वान्महत्त्वाच्च धात्वनुक्रमणेन च।
निहन्त्यौषधवीर्याणि मन्त्रान् दुष्टग्रहो यथा॥

सु० सू० २३।१५-१६

अप्रतिकार या मिथ्या-प्रतिकारवश स्वभावतः रोगारम्भक दोष के धातुओं मे अवगाहन (प्रवेश) और वहीं अवस्थान के कारण रोग उपचय (पुष्टि, वृद्धि) को प्राप्त होता चला जाता है। परिणामतया, कालक्रम से जिस वृक्ष के मूल गम्भीर तथा दूर-देशव्यापी हो गए हैं तद्वत् यह रोग भी सरलता से उन्मूलन किया जा सकने योग्य नही रह जाता।

ऐसा रोग महान् (महादोषवान्) एव धातुओ में अनुप्रविष्ट अतएव स्थिर हो गया होने से औषधो के वीर्यो (रसादि कार्यकारिणी शक्तियो) को उसी प्रकार व्यर्थ बना देता है जैसे कोई दुष्टग्रह मन्त्रो की शक्तियो को। इसके विपरीत—

अतो यो विपरीतः स्यात् सुखसाध्यः स उच्यते।
अवद्धमूलः क्षुपको यद्वदुत्पाटने सुखः॥

सु० सू० २३।१७

जिस रोग मे गम्भीरता आदि उक्त लक्षण नही होते वह सुखसाध्य होता है, उसी प्रकार जैसे जिसके मूल अभी वद्ध नही हुए हैं ऐसा क्षुपक (अतिवालवृक्ष) अनायास उच्छिन्न किया जा सकता है।

अन्यत्र आचार्य ने यही उपमा देते हुए प्रारम्भ में त्वचा (रसधातु में) मे उत्पन्न कुष्ठ (त्वग्रोग, रक्तविकार) का धातुओ में अवगाहन होकर असाध्य होते जाना वताया है। तथाहि—

यथा वनस्पतिर्जातः प्राप्य कालप्रकर्षणम्।
अन्तर्भूमि विगाहेत मूलैर्वृष्टिविवर्धितैः॥
एवं कुष्ठं समुत्पन्नं त्वचि कालप्रकर्षतः।
क्रमेण धातून् व्याप्नोति नरस्याप्रतिकारिणः॥

सु० नि० ६।२०-२१

कालक्रम से तथा अन्य कारणो से रोगो के दु:साध्य होने का जो उल्लेख यहाँ किया है उसे उत्सर्ग (नियम—रूल) समझना चाहिए। इसके अपवाद (एक्सेप्शन) भी है।

ज्वरे तुल्यर्तुदोपत्वं प्रमेहे तुल्यदूष्यता।
रक्तगुल्मे पुराणत्वं सुखसाध्यस्य लक्षणम्[1] ॥

ज्वर में रोगारम्भक दोष तथा ऋतुस्वभाववश प्रकुपित होनेवाला दोष तुल्य (एक ही) होना, प्रमेहो में रोगारम्भक दोष के गुण दूष्य के तुल्य होना एव रक्त गुल्म में पुराणता (जीर्णता) उत्सर्गानुसार (उक्त नियमानुसार) कृच्छ्र-साध्यता के लक्षण न होकर सुखसाध्य के लक्षण है। इस अपवाद का कारण तत्-तत् रोग का प्रभाव-विशेष है (चक्रपाणि)।

ज्वर-विषयक जो अपवाद यहाँ दिया है उसे एक-दो उदाहरणो से स्पष्ट कर लें। शरद्‌ऋतु में तीक्ष्ण-वेग-लक्षित विषमज्वर (नवीनो का मलेरिया) का प्रकोप प्रायः होता है। वेग की तीक्ष्णता, वमन, शिरोरोग (शिरोवेदना) आदि कारणो से यह वडा कष्टदायक प्रतीत होता है। वेग की तीक्ष्णता से स्पष्ट है कि इसमें प्रधान कारण पित्त होता है। वायु का विशेष कर्म अपने चाञ्चल्यवश वेग को तीक्ष्ण और शान्त कर देना है। इसी प्रकार वसन्त ऋतु में प्रतिश्याय-कासयुक्त कफप्रधान मन्द-वेगयुक्त ज्वर-विशेष (नवीनो का इन्फ्लुएंजा) प्रायः लोको को पीडित करता है। इसमें कष्ट के प्राधान्य के कारण ज्वर-वेग भले मन्द हो तथापि तज्जनित आम और स्वयं कफ से वायु का आवरण होने से वडा कष्टकर शैथिल्य (अवसाद) और वेदनाएँ होती हैं। दोनो ज्वर यो कष्टदायी होते हुए तुल्य ऋतु में हुए होने से सुसाध्य ही होते है।

रक्तगुल्म (कदाचित् नवीनो के गर्भयन्त्र-गत सिस्ट तथा ट्यूमर) के लिए अन्यत्र भी कहा है—मासे व्यतीते दशमे चिकित्स्य (च० चि० ५।१९)। ऐसी मिथ्या-प्रसिद्धि है और चक्रपाणि ने तथा मधुकोष-टीका मे विजयरक्षित ने इस आशय का पूर्व पक्ष भी दिया है कि गर्भ और रक्तगुल्म मे भेद करना दुष्कर होने से प्रसव-काल व्यतीत होने के अनन्तर गर्भ नही है यह निर्धारित हो जाने से रक्त-गुल्म का विनिश्चय हो जाता है। अतः उसके अनन्तर ही चिकित्सा का विधान किया है। इस पक्ष का टीकाकारो ने सम्यक् खण्डन किया है। वह वहीं देखना चाहिए। इस ग्रन्थ में भी आगे यह विषय आएगा। संक्षेप

१—च० सू० १०-११-१३ पर चक्रपाणि तथा अ० हृ० सू० १।३०-३१ पर अरुण-धृत तन्त्रान्तर वचन।

में, प्रसवकाल के अनन्तर रोग-प्रभाववश रक्तगुल्म चिकित्सा से सुखोच्छेद्य (सुखसाध्य) हो जाता है।

अर्दित तीन वर्ष का (त्रिवर्ष) हो वहाँ तक सुसाध्य होता है, यह उपदेश अर्दित के विषय में है। उसे भी यहाँ कहे उत्सर्ग का अपवाद (एक्सेप्शन) समझना चाहिए। स्मरण रहे अर्दित की असाध्यता के प्रकरण में आए 'त्रिवर्ष' शब्द का यह अर्थान्तर भी किया जाता है कि रोगी के मुख, नासा, और नेत्र इन तीन (त्रि) से जल का—क्रमशः लाला, सिंघाणक तथा अश्रुजल का—स्रवण (वर्ष, वृष्टि) होता हो तो भी अर्दित असाध्य होता है।

रोगों की असाध्यता का प्रकृत कारण दोष का उत्तरोत्तर धातु में अनुप्रवेश बताया है। इससे आयुर्वेद का एक सिद्धान्त पुनः समझा जा सकता है कि नव्य मत कुछ भी हो, आयुर्वेद तो धातुओं का क्रम-विशेष मानता ही है। धातुओं के पोषण में अनेक पक्षान्तर होते हुए भी एक पौर्वापर्य (क्रम) सभी को समत है। यहाँ निदानाधिकार में भी अप्रतिकृत रोग के आरम्भक दोष का पूर्वापर क्रम से ही धातुओं में प्रविष्ट होना निर्दिष्ट हुआ है। चिकित्सा-प्रकरण में भी कहा जायगा कि लङ्घनादि उपचारों से दोष उत्तर-उत्तर धातु को छोड़कर पूर्व-पूर्व धातु में शेष रहते जाते हैं। विषों के प्रसर के प्रकरण में भी आचार्यों ने धातुओं का यह पौर्वापर्य स्वीकारा है।

सुखसाध्यता की अगली शर्त रोग उपद्रव-रहित होना है। उपद्रवों से रोग की बल-वृद्धि होती है, यह सरलता से जाना जा सकता है।

शरीर सर्व औषधों के वीर्य (क्रिया-शक्ति) को सहन करने में समर्थ हो—औषध लेने से उसे कोई अपाय न हो यह सुखसाध्यता की अगली शर्त है। औषध अपाय-कर्त्ता हो तो उसका उपयोग न होने से रोग साध्य ही नहीं होता, सुख-साध्यता की बात ही क्या? इस विषय के उत्तम उदाहरण के रूप में नवीनों द्वारा आविष्कृत तीक्ष्णवीर्य द्रव्य प्रस्तुत किये जा सकते हैं। कितने ही रोगी ऐसे मिलते हैं जिनको ये द्रव्य सह्य नहीं होते—उनकी 'ईडियोसिनक्रेसी' किंवा 'एलर्जी' होती है। परिणामतया देखते है—इन नवीन औषधों के लाभों पर जितना वाङ्मय प्रकाशित होता है उससे कुछ कम इनके अपायों पर नहीं प्रकाशित होता। कितनी बार तो रोगी या रोग-जनक जीवाणुओं के लिए औषध सात्म्य हो गया होने से जीवाणुओं और रोग पर कुछ प्रभाव ही औषध-द्रव्य का नहीं होता।

सुखसाध्यता की एक शर्त रोगी का युवा (तरुण, वयःस्थ) होना है। व्रण-प्रकरण में भी आचार्यों ने साध्य व्रण के लक्षणों में इस शर्त को स्थान दिया है[1]।

१—स्थल—सु० सू० २३।३, च० चि० २५।३६ तथा इन पर डल्हन और चक्रपाणि।

वहाँ दी इस तथा अन्य प्रकृत गुणो की व्याख्या उपयोगी होने से यहाँ दी जाती है।

तत्र वयःस्थानां दृढाना प्राणवतां सत्त्ववताम् आत्मवता च सुचिकित्स्याः व्रणाः ॥ सु० सू० २३।३

वय स्थ नाम तरुण, दृढ अर्थात् ऐसे पुरुष जिनकी संधि, सिरा और स्नायु गूढ है—मासादि धातुओ की पुष्टि सम होने से सन्ध्यस्थि, सिरा आदि जिनमें प्रत्यक्ष दीख नही पडते ऐसे सुसंहत-सम शरीर, प्राणवान् अर्थात् शक्तिशाली, सत्त्ववान् अर्थात् सत्त्वसारता के कारण किसी भी दशा में घबरा न जानेवाले एवं आत्मवान् नाम जितेन्द्रिय पुरुषो को जो व्रण होते हैं वे सुखसाध्य होते है। इतनी प्रतिज्ञा कर प्रत्येक की व्याख्या के प्रसंग मे तरुणो के विषय मे कहा है—

तत्र वयःस्थाना प्रत्यग्रधातुत्वादाशु व्रणा रोहन्ति। सु० सू० २३।३

वयःस्थ (तरुण) पुरुषो के धातु नवीन होते हैं। अतः उनके व्रण शीघ्र भर आते है। इसके विपरीत बालको के धातु अपूर्ण तथा वृद्धो के क्षीयमाण होते है, अतः उनके व्रणो का रोपण शीघ्र नही होता।

निज रोगो पर भी यह बात घटित होती है। लोक में यह सत्य प्रचलित भी है। (गुजराती में तरुण के लिए 'चढतुं लोही' तथा वृद्ध के लिए 'उतरतुं लोही' पद प्रयोग रूढ है)। तरुणो मे धातु पुष्ट होने से उनमें बल नाम रोगक्षमता (प्रतिकार-शक्ति) भी ईप्सित प्रमाण में होती है। अतः उनके रोग सुसाध्य होते हैं।

सुखसाध्यता की अन्य शर्त रोगी का पुरुष होना हैं। स्त्रियाँ भीरु, सुकुमार होने से तीक्ष्ण औषधोपचार न ग्रहण कर सकनेवाली एव प्रायः अबुध तथा पथ्यापथ्य पालन न करनेवाली और वेगावरोधासक्त होती हैं। अतः उनका रोग दु.साध्य होता हैं। इस दृष्टि से स्मरणीय अन्य जनो का उल्लेख आगे सुसाध्य होते हुए भी प्रत्याख्येय रोगियो के प्रकरण में किया जाएगा।

सुखसाध्य रोग की अन्य शर्त सत्त्वसारता है। इसकी व्याख्या आगे आएगी ही। मन वलवान् होने से रोग होते ही नही। मन का शरीर पर प्रभाव स्मरण करे तो यह वस्तु सरलता से समझी जा सकती है। मनोदौर्बल्य रोग को वढ़ाने मे भी प्रवल हेतु होता है—विषादो रोगवर्धनानाम्। इसके अतिरिक्त नि सारता से साधारण रोग भी गम्भीर समझ लेने से निदान और चिकित्सा में भूल होना तथा उसके कारण रोग कष्टसाध्य होना संभव होता है।

सुखसाध्यता के लक्षण लिखकर अब साध्यता के क्रमप्राप्त भेद रोगो की कष्टसाध्यता (कृच्छ्रसाध्यता, दु.साध्यता) का लक्षण लिखा जाता है।

कृच्छ्रसाध्यता के लक्षण—

कृच्छ्रसाध्य रोगो का सक्षिप्त लक्षण ऊपर दिया है कि—इन रोगो में यत्न बहुत करना पडता है तथा रोग शान्त होने में समय बहुत लगता है। रोग कृच्छ्रसाध्य तब होते है जब—

निदान (रोग-कारण), पूर्वरूपो और रूपो (लक्षणो) का बल मध्यम हो—न सुखसाध्य रोगो के समान मृदु हो, न असाध्य रोगो के समान दारुण हो—निमित्त-पूर्वरूपाणा रूपाणा मध्यमे बले (चरक),

या, काल (ऋतु), प्रकृति, दूष्य (देश और सात्म्य) इनमें कोई एक रोगारम्भक दोष के समान हो—उस दोष की वृद्धि के अनुकूल हो ;

या, रोगी बालक, वृद्ध या गर्भिणी हो—गर्भिणी (गुर्विणी) वृद्धबालानाम् (चरक) ,

या, उपद्रव हो परन्तु उनकी सख्या तथा बल बहुत न हो ;

या, रोग शस्त्रकर्म, क्षारकर्म किंवा अग्निकर्म (दाह) से साध्य हो ;

या, रोग नवीन (तरुण) न हो ; या वह मर्म, सन्धि आदि कृच्छ्र स्थानो में स्थित हो ,

या, वह एक मार्ग में हो तथापि रोगी आदि चारो पादो की सपत्ति पूर्ण न हो ;

या, वह दो मार्गो में स्थित हो तो भी उसे हुए बहुत काल न बीता हो ,

या, वह द्विदोषज (द्वंद्वज) हो।

सक्षेप में—सुखसाध्यता की जो शर्तें कही है उनमें कुछ विद्यमान हो और किन्ही का विपर्यय (विपरीत-स्थिति) विद्यमान हो—इस प्रकार साध्य-असाध्य लक्षणो का साकर्य हो किंवा रोग शस्त्रादिसाध्य (सर्जिकल केस) हो तो रोग कष्टसाध्य होता है। साकर्य के अन्य उदाहरण भी कल्पे जा सकते है—यथा रोगी युवा हो पर जितेन्द्रिय न हो या स्त्री हो , जितेन्द्रिय हो पर रोग मर्मस्थानगत हो ; देह भी सर्वौषधक्षम न हो. . .इत्यादि।

साध्य के इन दो भेदो—सुखसाध्य,कृच्छ्रसाध्य—तथा असाध्य का एक भेद—याप्य, जिनमें उपाय किया जाता है उनके उपाय-भेद से तीन भेद किये जाते है—अल्पोपायसाध्य, मध्योपायसाध्य तथा उत्कृष्टोपायसाध्य। असाध्य के द्वितीय भेद का उपाय न होने से ऐसे भेद नही किये जाते। अवश्य ही परिणाम-भेद से उनके प्राणहर, वैकल्यकर (शारीर या मानस विकृति ; शारीर रचना-विकृति—डिफॉर्मिटी), सद्यःप्राणहर, कालान्तरप्राणहर आदि कल्पनाएँ (भेद) की जाती है।

उपायो के इस त्रिविध भेद का कारण साध्यासाध्यता के जो कारण ऊपर कहे गये है, उनके ही बल में भेद होना है। यथा, लक्षण अल्प हो सकते है, बहुत

हो सकते हैं तथा शास्त्र में जितने भी लक्षण गिनाए गए है वे सब ही विद्यमान हो सकते हैं। उपद्रव की बात लें तो रोग उपद्रवरहित हो सकता है, उपद्रवयुक्त हो सकता है किंवा शास्त्र में जितने भी उपद्रव कहे गए हैं उन सबसे युक्त (यावदुक्तोपद्रवत्व) भी हो सकते हैं। इसी प्रकार साध्यासाध्यता के लक्षणो के भेद का अधिक विचार किया जा सकता है।

अस्तु। साध्य के इन दो भेदो का लक्षण लिखा गया। अब असाध्य के दो भेदो में प्रथम याप्य के लक्षण देखिए।

याप्य रोगो का लक्षण—

यापनीयं विजानीयात् क्रिया धारयते तु यम्।
क्रियाया तु निवृत्तायां सद्य एव विनश्यति॥
प्राप्ता क्रिया धारयति याप्यव्याधितमातुरम्।
प्रपतिष्यदिवागारं विष्कम्भः साधु योजितः॥

सु० सू० २३।१०-११

यह भी असाध्य ही का एक भेद है। इससे इतना तो समझा जा सकता है कि—याति नाशेपता व्याधिरसाध्यो याप्यसंज्ञित (च० नि० ८।३४)—कितना भी प्रयत्न किया जाए याप्य रोग का सर्वथा मूलोच्छेद तो नही ही होता। किन्तु प्राक्तन-कर्मवश इसमें पुरुष की आयु शेष होती है, जिसके परिणाम-स्वरूप असाध्य के द्वितीय भेद अनुपक्रम या प्रत्याख्येय के समान याप्य मे मृत्यु नहीं हो जाती, परन्तु, जबतक पथ्य आहार, विहार, औषध (देश या काल) के अभ्यास नाम सतत सेवन के रूप में चिकित्सा चालू रहती हे तबतक रोगी का जीवन रहता हे—रोगी को अल्प सुख या स्वास्थ्य की प्रतीति होती है, रोग दब-सा जाता हे, चिकित्सा छोड़ देते ही किंवा यत्किंचित् भी हेतुलाभ होते ही रोग पुनः उभर आता है। इस प्रकार—सुसाध्वपि कृतं येपु कर्म यात्राकरं भवेत् (च० सू० १८।३९)—कितना भी प्रयत्न किया जाए वह यात्राकर (यापनाकर, जीवन के धारणमात्र में समर्थ) ही सिद्ध होता है। इसीसे स्थिति यह होती है कि, जैसे पतनोन्मुख गृह को कौशलपूर्वक लकडी आदि के स्तम्भ लगाकर गिरने से बचाया जाता है वैसे चिकित्सा आदि जब तक चलते रहते हैं उनके आश्रय से रोगी भी जीवित रहता है

शेपत्वादायुपो याप्यमसाध्यं, पथ्यसेवया।
लब्धाल्पसुखमल्पेन हेतुनाऽऽशु प्रवर्तकम्॥

च० सू० १०।१७

याप्य रोगो में उल्लिखित स्थिति अधोलिखित कारणो से होती है—इनमें दोष गम्भीर होता है, अर्थात् उत्तरोत्तर धातुओं में पहुँचता हुआ मेद आदि पर्यन्त अनुप्रविष्ट हुआ होता है ; वह अनेक धातुओ में स्थित होता है ; रोग का स्थानसश्रय मर्मो और अस्थिसन्धियो में होता है, वह नित्य अनुबद्ध रहता है—रोग के लक्षण क्वचित् न्यूनाधिक दब जाएँ तथापि दोष के प्रकोप के अनुकूल स्थितियाँ रहने से एक तरह से रोग शरीर में विद्यमान रहता[1] ही है ; वह द्विदोषज (द्वन्द्वज, किन्ही दो दोषो से उत्पन्न) एव चिरकालानुबद्ध (जीर्ण, पुराण) होता है।

प्रत्याख्येय से इसमें यह भेद विशेष होता है कि दोनो के लक्षण प्रायः समान होते है ; भेद मुख्य यही होता है कि याप्य मे आयु शेष होने से रोगी जीवित रहता है, जब कि प्रत्याख्येय मे उसकी मृत्यु हो जाती है।

याप्य रोग के उदाहरण के रूप में प्रसिद्ध होने से तमक श्वास (दम नाम से प्रसिद्ध रोग , ब्रॉङ्कियल एस्थमा) को प्रस्तुत किया जा सकता है। रोग के वेग के अनुकूल ऋतु (वर्षा या शीत) आते ही कइयो में इसके वेग प्रतिवर्ष हो आते है। शेष समग्र वर्ष रोग दबा रहता है। इसी प्रकार अन्यों में वेग के अन्य कारण होते है, जिनके सपर्क से रोग के लक्षणो का उदय हो आता है। विचर्चिका (अकौता ; छाजन ; अग्रेजी ऐग्जीमा, गुजराती खरजुआ) में भी रोग के वेग पूर्णिमा-अमावास्या आने पर सामुद्र-जल की वृद्धि के साथ हो आते है। इन तथा अन्य याप्य रोगो के अन्य कारणो का प्रत्यक्ष एव अनुमान इसी आधार पर स्वय किया जा सकता है।

अब प्रत्याख्येय रोगो के लक्षण देखिए।

प्रत्याख्येय (अनुपक्रम, त्याज्य) रोगो के लक्षण—

परोऽसाध्यः क्रियाः सर्वाः प्रत्याख्येयोऽतिवर्तते ॥
च० नि० ८।३४

१—रोग के लक्षण दब जाने पर भी उक्त प्रकार से रोग को विद्यमान कहने मे विषम ज्वर का उदाहरण प्रस्तुत किया जा सकता है। विषम ज्वर का वेग निवृत्त हो गया हो तब भ्रम होता है कि रोग कुछ काल के लिए शान्त हो गया। परन्तु ग्लानि, गौरव आदि लक्षण तो उस काल भी विद्यमान रहते ही है—अत कहना चाहिए कि—स चापि विषमो देह न कदाचिद्विमुञ्चति—विषम ज्वर सपूर्ण शान्त हुए पर्यन्त देह को एक क्षण के लिए भी छोडता नही। (देखिए—सु० उ० ३९।६३-६४ तथा उस पर डल्हन। यह प्रकरण आगे विषमज्वराधिकार मे पुन सविस्तर देखे)।

संक्षेप में प्रत्याख्येय असाध्य के उस भेद का नाम है जिसमें सर्व प्रकार की चिकित्सा विफल होती है। इसी से यश, अर्थ आदि का विरोधी होने से इसे प्रत्याख्येय (त्याज्य) किंवा अनुपक्रम (अचिकित्स्य) कहा जाता है[1]। यह त्रिदोषजनित एवं तीनो रोगमार्गों में प्रविष्ट होता है। इसमें साध्योक्त लक्षणों से सर्वथा (शत प्रतिशत) विपरीत लक्षण पाए जाते हैं। नीचे लिखे लक्षण पृथक् या मिलित इसके द्योतक होते हैं। तथाहि: इसमें औत्सुक्य (विषयोत्कण्ठा या हर्षोद्रेक), समोह (धी, धृति, स्मृति आदि मन के ज्ञानो का नाश), तथा अरति (उठना, वैठना आदि किसी भी स्थिति में चैन न होना)—ये लक्षण होते हैं। चक्षु आदि इन्द्रियो की शक्ति की हानि होती है अरिष्ट (नियत-मरण ख्यापक) चिह्नो का आविर्भाव हो जाता है। रोगी अत्यन्त दुर्वल होता है। निदान, लक्षण आदि सब दृष्टियो से रोग अत्यधिक वृद्धि को प्राप्त होता है।

प्रत्याख्येय रोग मे भी[2] प्रसगानुसार प्रत्याख्यान करके नाम रोग अच्छा होगा ही इस वात का आश्वासन न देते हुए चिकित्सा करनी चाहिए। आभ्यन्तर वली में हुए असाध्य माने गए अर्शो के लिए कहा गया है—वल्यामाभ्यन्तरायां तु प्रत्याख्याय समाचरेत्। अथवा, मांसतान, अलास प्रभृति मुखरोगो के प्रकरण में कहा है—तेषु चापि क्रिया वैद्यः प्रत्याख्याय समाचरेत (सु० चि० २२।८१)। कारण, अनुभव है कि कदाचित् दैवयोगेन दृष्टरिष्टोऽपि जीवति।

साध्य होते हुए भी त्याज्य रोगी[3]—

तत्र साध्या अपि व्याधयः प्रायेणैषां दुश्चिकित्स्यतमा भवन्ति ॥

सु० सू० १०।८

नीचे लिखे पुरुषो को, हुए रोग साध्य हो तो भी वे दुश्चिकित्स्यतम (अति दुःसाध्य) होते हैं।

१—प्रत्याख्येय रोगो के लिए ही प्रसिद्धि है—औषध जाह्नवी-तोयं वैद्यो नारायणो हरिः। रोगी शान्ति से परलोक का चिन्तन करता हुआ देहत्याग कर सके यही प्राचीनो के मत से इस स्थिति मे अभीष्ट होता है। इसके विपरीत आज जो प्रथा है वह सुविदित है। कई अर्थ-लोलुप चिकित्सक तो मृत्यु के अनन्तर भी इजेक्शन देते देखे जाते हैं।

२—देखिए सु० सू० ३५।१८ पर डल्हन

३—स्थल सु०सू० १०।८, च० वि० ३।५० ; अ० हृ० सू० १।३४-३५ तथा इन पर डल्हन, चक्रपाणि, अरुण—हेमाद्रि।

श्रोत्रिय--पौरोहित्य, मन्त्रपाठ, कथावाचन आदि कर्म करने वाले विप्र। अपने कर्म मे इन्हे बहुधा वेगधारण करना पडता है तथा प्रकृति-विरुद्ध होते हुए भी स्नानादि अनेक वार करना पडता है। ज्वर में एवं ज्वरमुक्ति के पश्चात् स्नान परम अपथ्य होता है, स्नान से उसकी वृद्धि होती है। अन्य रोगो में अपथ्यभूत अन्य आहार-विहार श्रोत्रियो को करना पडता है। अन्नपान भी बहुधा पर-प्रदत्त गरिष्ठ होता है। उसके काल का भी नियम नही रहता। मल-मूत्रादि का वेग धारण करने से शरीर में मलो और दोषो का सचय तथा वात का प्रकोप होता है। इन कारणो से श्रोत्रियो के रोग सुसाध्य नही होते।

राजा--ये स्वतन्त्र होने से यत्किंचनकारी, हिताहित आहार-विहार का ध्यान न करने वाले, एव दुराग्रही होते हैं। इसके अतिरिक्त ये प्राय. सुकुमार भी होते हैं--सुकुमार होने से औषधो के रस, क्रिया के वेग, पथ्यपालन, अपथ्य-वर्जन आदि को सहन नही कर सकते। इसी स्वभाव के उच्च शासनाधिकारियो की भी गणना यहाँ समझी जा सकती है।

स्त्री--ये भी लज्जा या कार्यातिपातवश वेगो का धारण करती हैं, रोग के लक्षण सपूर्ण बताती नही, भीरु तथा सुकुमार होती हैं जिससे विरेचनादि चिकित्सा इनको सप्रमाण की नहीं जा सकती। कई स्त्रियाँ तो अपथ्य का परिवर्जन सर्वथा करती नही। इन कारणो से इन्हें हुए रोग दुश्चिकित्स्य होते हैं।

वालक--इनका बल (रोगप्रतिबन्धक शक्ति) अल्प होता है, जिससे स्वल्प भी व्याधि का वल इन्हे अधिक पीडित करता है। सुकुमार होने से ही विरेचनादि क्रिया इन्हें पूर्णतया दी नही जा सकती।

वृद्ध--इनके धातु जीर्ण होने से शरीर दुर्वल होता है। वय स्वभाववश सभी दोष भी विषम होते हैं। विरेचनादि औषध इन्हे भी इनकी सुकुमारता के कारण यथावत् दिए नही जा सकते।

भीरु--भीरु पुरुष अल्पसत्त्व (नि.सार मन वाला, मनोवलहीन) होने से उसकी चिकित्सा सपूर्ण नही की जा सकती। मन की दुर्वलता से रोग वढ़ते जाते हैं। किं वहुना नवीन-नवीन रोग उत्पन्न होते है। यथा--विशेषतया नवीनो ने कहा है कि--पैत्तिकशूल (आमाशय तथा ग्रहणी मे क्षत) का मूल मानसिक आघात (स्ट्रेस) ही है। इसके अतिरिक्त भीरु (सत्त्वसारहीन) पुरुष कई वार स्वल्प भी रोग से घबरा कर ऐसा उत्पात करते हैं कि उनका रोग वड़ा समझ लिया जाता है। इस मिथ्या परीक्षावश कभी उग्र औषध दे दिया जाए तो परिणाम अनिष्ट होता है।

राजसेवक--राज्य तथा अन्य कार्यालयो में कार्य करनेवालो के भोजन-काल का नियम नही होता ; खा कर सहसा कार्य के लिए भागना पडता है ; अधिकारी के समक्ष किंवा कार्यालय मे लज्जावश तथा कार्यातिपातवश वेगावरोध करना पडता है, कई बार तो अन्य साथियो के साथ सह-भोजन मे अहित पदार्थों का भी सेवन करना पड़ जाता है। इन तथा अन्य कारणो से राजसेवको और अन्य प्रकार की सेवाओ (सर्विसिज़) में पड़े हुए लोको के रोग दु:साध्य होते है।

कितव--कितव या द्यूतकार (जुआ आदि व्यसनो में मग्न पुरुष) रोगो के उत्पादक तथा अभिवर्धक व्यसनो, वेगविनिग्रह तथा आहार-विहारादि का नियम न होने के कारण इनके रोग विकट होते है।

दुर्बल--बालक और वृद्ध के समान दुर्बल पुरुष भी विरेचन, वमन, शस्त्र, क्षारकर्म आदि क्रियाओ को सहन करने में समर्थ न होने से उसकी चिकित्सा कठिन होती है। विरेचन-साध्य रोगो में भी दुर्बल और कृश पुरुषों की अविरेचनीयता का उदाहरण व्यवसाय मे उपयोगी होने से यहॉ प्रस्तुत किया जाता है।

विषमाशन-जन्य राजयक्ष्मा की संप्राप्ति के प्रकरण मे चरकाचार्य कहते है।--पुरुष अत्यधिक विषमाशन (स्वस्थवृत्तोक्त नियमो का उल्लङ्घन कर अन्नपान का सेवन) करता है तो उसके वात-पित्त-कफ ये शारीर दोष विषम हो जाते है। परिणामतया--ते विपमाः शरीरमनुसृत्य यदा स्रोतसाम् अयनमुखानि प्रतिवार्यावतिष्ठन्ते, तदा जन्तुर्यद्यदाहारजातमाहरति तत्तदस्य मूत्रपुरीपमेवोपजायते भूयिष्ठं, नान्यस्तथा शरीरधातु। स पुरीपोपष्टम्भात् वर्तयति। तस्माच्छुष्यतो विशेषेण पुरीषमनुरक्ष्यम्। तथाऽन्येपामतिकृशदुर्बलानाम्--च० नि० ६।११।--विषम हुए दोष समग्र शरीर मे अनुसरण करते हुए स्रोतो की गति के द्वारो को आवृत कर लेते है। इस स्थिति में पुरुष जो भी अन्नपान ग्रहण करता है उसका अधिकाश मूत्र और पुरीष के रूप मे ही परिणत होता रहता है। शरीर के इतर धातुओ की वैसी पुष्टि नही होती। इस पुरीष का जो प्राकृत उपष्टम्भ नाम शरीर के धारण का कर्म होता है उसी से पुरुष का जीवन टिका रहता है। अत राजयक्ष्मी के पुरीष की विशेष रक्षा करनी चाहिए। अन्य कारणो से जो पुरुष अति कृश और दुर्बल हो उनके पुरीष की रक्षा पर भी इन्ही कारणो से लक्ष्य देना चाहिए।

स्रोतो के दोषकृत अवरोध से मूत्र-पुरीष की सविशेष पुष्टि का स्वरूप यह होता है।--पाचक-पित्तवह स्रोतो का मुख अवरुद्ध होने से उनका सप्रमाण

वहन और ग्रहणी में प्रवेश नहीं होता, जिससे अन्नपान का यथावत् पचन नहीं होता। पक्व होकर अन्नपान का जितना अन्नरस बनता है उसका भी सम्यक् ग्रहण अन्नरसवह स्रोतो से होता नही। परिणामतया, पूर्वोक्त अपक्व तथा यह पक्व अन्नपान यथाक्रम पक्वाशय में पहुँचा दिया जाता है। इसके क्लेद भाग से मूत्र की तथा घनभाग से पुरीष की पुष्टि विशेष प्रमाण में होती है यह समझा जा सकता है।

शोषी (यक्ष्मी) तथा अन्य कृशो और दुर्बलों के पुरीष की रक्षा का तात्पर्य यह होता है कि इन्हें यदि अतिसार हो जाए तो उसके स्तम्भन पर ही ध्यान देना चाहिए––अतिसार के सामान्य नियम को दृष्टि में रख उपेक्षा (सरण होते रहने देना, जिससे दोषो की स्वयं प्रवृत्ति होकर समता हो जाए) किंवा प्रवर्तन(सर औषध देकर दोषो का शीघ्र निर्हरण) इत्यादि उपचारो का अवलम्बन न करना चाहिए।

इन पुरुषो को विरेचन देते हुए भी विचार करना चाहिए। प्रश्न-परीक्षा में यह भी पृच्छा प्रत्येक रोगी से करनी चाहिए कि अतिसार किंवा विरेचन की अथवा सामान्य नैत्यक मलप्रवृत्ति की भी उनपर क्या क्रिया होती है। कई रोगी ऐसे मिलेंगे जिन्हें मलप्रवृति आदि के पश्चात् दुर्बलता का अनुभव होता है। तदनुसार औषधोपचार में योजना-भेद करना चाहिए।

वैद्यविदग्ध (वैद्यमानी, वैद्यंमन्य)––अपने को वैद्य समझनेवाला पुरुष वैद्य के निर्देशानुसार औषध-सेवन, पथ्य-पालन तथा अपथ्य-परिवर्जन नही करता। इतना ही नही, कई बार तो ऐसे व्यक्ति समाज में वैद्य के विरुद्ध प्रचार भी करते हैं। ऊपर कहे तथा आगे कहे जानेवाले दुश्चिकित्स्यो में अन्यो की चिकित्सा हाथ में ले या न लें इन वैद्यमन्यो को तो दूर से ही छोड़ देना चाहिए। अपयश के सिवाय इनकी चिकित्सा का कोई परिणाम नही होता। अतएव प्रायः यशस्वी चिकित्सक भूल से या एक वार भी अपथ्यसेवी या अनिर्देशकारी रोगी को तिरस्कार-पूर्वक औषधालय से निकाल देते हैं। निन्दक।

व्याधिगोपक––लज्जा आदि कारणो से व्याधि के लक्षणो को छुपानेवाले या मिथ्या वृत्तान्त देने वाले रोगियो की परीक्षा मे तथा तदनुसार चिकित्सा में भूल होना सर्वथा सभव होता है। आधुनिको ने मानस रोगो के विचार में ऐसे रोगियो का उल्लेख किया है जो जान-बूझकर (यथा नौकरी से छुट्टी लेने आदि के प्रयोजन से) या अज्ञानत. रोग के लक्षणो का निर्देश करते हैं। अज्ञानतः अपने शरीर में रोगी के लक्षणो का अनुभव (मेलिंगरिंग या फीलिंग) करनेवाले इन व्यक्तियो के आन्तर मन में छपी अव्यक्त इच्छाएँ इन लक्षणो के रूप में व्यक्त होती हैं। ऐसे रोगो का वर्णन 'हिस्टीरिआ' नाम से आधुनिको ने किया है।

स्वजन-परिजन की अनुकम्पा (समवेदना, सहानुभूति) आकृष्ट करने की निगूढ़ इच्छा से व्यक्त मन की प्रेरणा के विना भी आन्तर मन की अव्यक्त प्रेरणा उनमें इन लक्षणो को प्रादुर्भूत कराती है। निगूढ इच्छाएँ पुरुष-मात्र के मन में इस प्रकार लक्षणो की अभिव्यक्ति नही करातीं, किन्तु सत्त्वहीन (दुर्बल मनवाले) पुरुषों के मन ही इस प्रकार आक्रान्त होते हैं। इनकी विशिष्ट मानस प्रकृति को 'हिस्टेरिकल टेम्परामेण्ट' नाम दिया है। हिस्टेरिआ नाम से प्रसिद्ध रोग इस रोग-वर्ग का एक रोगमात्र है। दुनिया का कोई भी रोग, जिसका रोगी को ज्ञान हो, इस प्रकार रोगी में प्रकट हो सकता है। इस वर्ग का विचार आगे यथाप्रकरण किया ही जाएगा।

किसी भी कारण रोग के लक्षणो की परीक्षा यथावत् न हो तो रोग दुश्चिकित्स्य होता है। तथाहि—

मिथ्या दृष्टा विकारा हि दुराख्यातास्तथैव च।
तथा दुष्परिमृष्टाश्च मोहयेयुश्चिकित्सकम्॥

सु० सू० १०।७

जिन रोगो की प्रत्यक्षादि परीक्षा सम्यक् न हुई हो, रोगी तथा उसके स्वजन-परिजन ने जिनका वृत्त यथावत् न दिया हो तथा जिनका विचार सम्यक् न किया गया हो ऐसे रोग चिकित्सक को विमार्ग पर डाल देते हैं। अतः—एवमविज्ञाता ये रोगास्तान् परिवर्जयेत्—डल्हन—इन तथा अन्य कारणो से जिन रोगो का ज्ञान (परीक्षा) समीचीन न हो उन्हें अपयश दिलाने वाले समझ कर छोड दे।

सत्त्वसार पुरुष अपने मनोबल के कारण रोग की व्यथा को हावभाव से किंवा भाषण द्वारा भी व्यक्त नही करते। इससे उनके रोग का गाम्भीर्य पूर्ण अवगत नही होता। परिणामतया, चिकित्सा यथावत् नही होती। व्याधिगोपक के प्रसग में उन्हें भी स्मरण किया जा सकता है।

दरिद्र या हीनोपकरण—अर्थकृच्छ्र के कारण जो रोगी औषध, आहार, साधन, देशत्याग (स्थल-परिवर्तन) आदि की व्यवस्था न कर सके उसका रोग कैसे साध्य होगा, यह समझा जा सकता है। तथापि, देखते है कई कृपालु चिकित्सक ऐसे पुरुषो से न केवल शुल्क नही लेते अपनी ओर से पथ्यादि के लिए पैसे भी देते हैं।

कृपण—धन के लोभ से धन होते हुए भी कई रोगी अपने रोग के लिए द्रव्यव्यय नही करते, सो तो ठीक; स्वस्थ होने पर भी चिकित्सक को उसकी दक्षिणा नहीं देते। ऐसे स्वार्थी रोगी की कोई भी चिकित्सक चिकित्सा करना पसंद नही करता, यह लोक-व्यवहार प्रत्यक्ष है।

क्रोधशील (चण्ड)--क्रोध स्वय रोग की वृद्धि का साक्षात् कारण है। इससे मानस दोष कुपित हो मनपर तथा शरीर पर विक्रिया करते हैं। इसके अतिरिक्त क्रोधी पुरुष क्रोध के आवेश में पथ्य का परित्याग एव अपथ्य का सेवन कर सकता है। इससे भी बढकर ऐसे पुरुष कई बार अन्य रोगियो की उपस्थिति में चिकित्सक के विरुद्ध बात कर बैठते है जिससे उसका अपयश प्रसृत होता है। कभी ये पुरुष क्रोधावेशवश चिकित्सक का अपकार भी कर सकते है। ऊपर कहे हीनसत्त्व (भीरु) पुरुष भी कभी मनोदौर्बल्यवश अपनी व्यथा बढा-चढाकर अन्य रोगियो की विद्यमानता में चिकित्सक को कहते है। इससे भी चिकित्सक के विषय में बुरी छाप पडने से उसके व्यवसाय की हानि होती है। ऐसे रोगियों में वात की प्रबलता होती है। वात के प्राबल्य से जैसे धातुओ का क्षय होता है वैसे मन तथा उसके अधिष्ठानभूत हृदय का भी क्षय होता है। परिणामतया, वह दुर्बल हो जाता है--सदसद्विवेक नही कर पाता। आधुनिको ने पक्वाशय की विकृति से होनेवाले ऐसे मनोदौर्बल्य का उल्लेख किया है तथा इसे 'कोलन न्यूरॉसिस' नाम दिया है। यह आयुर्वेद-मत से उपर्युक्त सप्राप्ति से विलक्षण साम्य रखता है।

अनात्मवान् (अजितेन्द्रिय)--ये पुरुष अपथ्याचरण करने वाले होने से इनका रोग सुसाध्य नहीं होता।

अनाथ--अनाथ का अर्थ है एकाकी पुरुष। इनका कोई परिचारक न होने से इनका साध्य भी रोग दु साध्य होता है; अपरिचारक।

अविधेय--किसी भी कारणवश वैद्य के निर्देश को न पालनेवाला। इसको हुए रोग की कष्टसाध्यता सुव्यक्त ही है।

व्यग्र--व्यग्र या कार्यान्तरासक्त जैसे जनसेवा, विशिष्ट प्रकार की नौकरी या कुछ काल के लिए आ पडे विवाह इत्यादि कार्यों में निरत पुरुष अपने स्वास्थ्य के सरक्षण पर ध्यान न दे सकने से उनका रोग दु साध्य होता है। व्यवसाय में ऐसे पुरुष प्राय: उपलब्ध होते है।

गतायु--ज्योतिष के अनुसार किंवा अरिष्ट लक्षणो की उत्पत्ति के कारण जिसकी आयु पूर्ण होने का ज्ञान हो गया है, ऐसे पुरुष में सुसाध्यता के अन्य लक्षण होने पर भी ग्रहो के बल के कारण रोग दु साध्य या असाध्य होता है। दूसरी ओर ग्रह अनुकूल हो तो अरिष्ट-लक्षण उत्पन्न होने पर भी ऐसे रोगी साध्य होते देखे जाते है।

शोकातुर--स्त्री-विरह, धनक्षय आदि कारणो से जो शोक-ग्रस्त हो उसके रोग कष्टसाध्य होते है। इस विषय में चरक के वचन प्रसिद्ध है--विषादो रोगवर्धनानाम्, हर्षः प्रीणनानाम्, शोकः शोषणानाम्, निवृत्तिः

पुष्टिकराणाम्—च० सू० २५।४०—विषाद (मनोभङ्ग) रोगो की वृद्धि करने-वाले कारणो में, हर्ष शरीर के तर्पण के हेतुओ में, शोक धातुओ तथा शरीर को शुष्क करने वाले भावो में एव निवृत्ति (नि स्पृहता) पुष्टिकारक हेतुओ मे सर्वोपरि है।

कृतघ्न—उपकार को न स्मरण करनेवाले पुरुष का उपचार करने की वृत्ति चिकित्सक में होना दुर्लभ है। अत इनके रोग सुसाध्य नही होते।

अत्यन्त अधार्मिक—

अपने शत्रु, राजा (शासक) के द्वेषपात्र एव राजा के द्वेषी—इनके रोग का उपचार भी अपने हाथ में लेना श्रेयस्कर नही होता।

इनके रोग दु साध्य होते है, यही यहाँ अभिप्रेत है। ऐसे व्यक्तियो की चिकित्सा करनी ही हो तो सर्व परिस्थिति अपने ध्यान में रखकर तदनुकूल मार्ग निश्चित करना चाहिए।

सदाऽतुर पुरुष—

कौन-सा व्यवसाय करनेवाले पुरुष सदैव रोगी रहते है एव उनके सदा रोगी रहने का कारण क्या है इस विषय के विवेचन में तन्त्रकार ने जो सत्य प्रस्तुत किए है वे चिकित्सा-व्यवसाय में अत्यन्त स्मरणीय है एव रोगो की दु साध्यता के उल्लिखित कारणो पर उत्तम प्रकाश डालते है। देखिए :—

अथाग्निवेशः सततातुरान्नरान् हितं च पप्रच्छ गुरुस्तदाह च।
सदातुराः श्रोत्रियराजसेवकास्तथैव वेश्या सह पण्यजीविभिः॥
च० सि० १२।२७

अग्निवेश ने गुरु से पूछा—कौन पुरुष सदा रोगी रहते है? गुरु ने उत्तर दिया—श्रोत्रिय (वेदपाठी, कथावाचक विप्र), राजसेवक (सरकारी अधिकारी), वेश्या तथा वैश्य।

इनके सदाऽतुर (नित्य रोगी) रहने के कारण बताते हुए गुरु आगे कहते है—

द्विजो हि वेदाध्ययनव्रताह्निकक्रियादिभिर्देहहितं न चेष्टते।
नृपोपसेवी नृपचित्तरक्षणात् परानुरोधात् बहुचिन्तनाद्भयात्॥
नृचित्तवर्त्तिन्युपचारतत्परा मृजाविभूषानिरता पणाङ्गना।
सदाऽसनादत्यनुबन्धविक्रयक्रयादिलोभादपि पण्यजीविनः॥
सदैव ते ह्यागतवेगनिग्रहं समाचरन्ते न च कालभोजनम्।
अकालनिर्हारविहारसेविनो भवन्ति येऽन्येऽपि सदातुराश्च ते॥
च० सि० १२।२८-३०

ये सबके सब उपस्थित वेग का निग्रह करते है तथा यथाकाल भोजन नही करते। विशेष में, द्विज (ब्राह्मण) वेदाध्ययन, व्रत, आह्निक (दैनिक पूजा-

पाठ) क्रिया आदि के कारण अपने शरीर के हित की चिन्ता नहीं करते। राज-सेवक (अन्य भी सेवक पुरुष) राजा (अधिकारी) के चित्त की रक्षा करते रहने से—उसे बुरा न लग जाए इसी बात की चिन्ता और तदनुकूल प्रयास करते रहने के कारण, अन्य भी व्यापारिक व्यवहार कार्य के लिए आए पुरुषों की अनुकूलता-प्रतिकूलता का ध्यान रखने के कारण सब प्रकार चिन्ता तथा भय के कारण अपने शरीर का विचार नहीं करते। वारांगना (वेश्या) भी राजा या अन्य ग्राहक के चित्त का अनुवर्तन करती हुई, अन्य पुरुषों की भी परिचर्या में लीन रहती हुई तथा वृत्ति (समय-असमय पर और अति मात्रा में व्यवायादि) एवं शृङ्गार में तत्पर रहती हुई शरीर के हित का ध्यान नहीं रखती। पण्यजीवी (वैश्य) भी सदासन (सदा बैठकर कार्य करने—सीडेन्टरी हैबिट) के कारण और निरन्तर होनेवाले क्रय-विक्रय के लोभ के कारण उपस्थित वेग का धारण करते हैं तथा यथाकाल (क्षुधा का उदय होने पर एवं नियत समय पर) भोजन नहीं करते।

इन लोगों की ही बात नहीं, अन्य भी जो पुरुष असमय पर (वेग उपस्थित हो तब नहीं) मल-विसर्जन, विहार और आहार के सेवन के स्वभाव वाले हों, वे भी इसी प्रकार सदा रोगी रहते हैं।

स्वभावतः दुश्चिकित्स्य आठ महारोग—

असाध्य रोग तीन वर्गों में विभक्त किए जा सकते हैं—लिङ्गासाध्य, उपद्रवासाध्य तथा रिष्टासाध्य। स्वभाव से असाध्य त्रिदोषज विसर्प प्रभृति रोगों में देखे जानेवाले उत्पत्ति-सिद्ध लक्षणों से ही जिनकी असाध्यता जानी जाती है उन्हें लिङ्गासाध्य कहते हैं। (लिङ्ग=लक्षण)। तत्-तत् रोग में तत्तत् उपद्रव होने से जो रोग असाध्य कोटि में पहुँच जाते हैं उन्हें उपद्रवासाध्य कहते हैं। रिष्ट या अरिष्ट (निश्चित मृत्यु-सूचक) लक्षण उत्पन्न होने पर रोगमात्र असाध्य हो जाता है। उसे रिष्टासाध्य कहते हैं।—त्रिप्रकारा व्याधीनामसाध्यता लिङ्गविशेषयोगात्, उपद्रवविशेषयोगात्, रिष्टविशेषयोगाच्च। तत्र लिङ्गासाध्यता स्वभावासाध्यानां त्रिदोषविसर्पादीनाम् उत्पत्तिसिद्धलिङ्गैरेवासाध्यता। × × रिष्टासाध्यता उपद्रवासाध्यता। × × सु० सू० ३३।४-५ पर चक्रपाणि।

उपद्रवैस्तु ये जुष्टा व्याधयो यान्त्यसाध्यताम्।
रसायनाद् विना वत्स ताञ्छृण्वेकमना मम॥

सु० सू० ३३।३

कतिपय रोग हैं जो स्वभाव से ही दुःसाध्य होते हैं। इनमें आगे कहे सामान्य तथा विशेष उपद्रव उत्पन्न हो जाएँ तो ये असाध्य कक्षा में पहुँच जाते

हैं। अवश्य ही, रसायन उपचारो से ये असाध्य व्याधि भी साध्य होते है—रसायनेन ह्यसाध्यो व्याधिरपि प्रायः साध्यते—उक्त स्थल पर डल्हन।

वातव्याधिः[१] प्रमेहश्च कुष्ठमर्शो भगन्दरम्।
अश्मरी मूढगर्भश्च तथैवोदरमष्टमम्॥
अष्टावेते प्रकृत्यैव दुश्चिकित्स्या महागदाः॥

सु० सू० ३३।४-५

पक्षाघात, अपतानक (धनु स्तम्भ) आदि महावातव्याधि, प्रमेह (मूत्र-विकार), कुष्ठ (त्वग्रोग, रक्त विकार), अर्श, भगन्दर, अश्मरी (पथरी) मूढगर्भ तथा उदर—ये आठ स्वभाव से ही दुश्चिकित्स्य महारोग हैं। महागदा इति मारणात्मकत्वादसाध्यत्वाच्च महत्त्वमेषामिति—डल्हन। ये मारक स्वभाववाले तथा असाध्य होते हैं, अत. इन्हें महागद (महारोग) कहा गया है।

इन महारोगो में देखे जानेवाले सामान्य तथा प्रतिरोग में विशेष उपद्रव हैं। उपद्रव प्रादुर्भूत हो जाने पर ये रोग दु:साध्य से असाध्य हो जाते हैं। विशेष उपद्रवो का उल्लेख तत्तत् रोग के अधिकार में करेंगे। यहाँ सामान्य उपद्रवो का उल्लेख करते हैं। उपद्रव का लक्षण इसी अध्याय में अनपद किया जाएगा।

प्राणमासक्षयः[२] शोपस्तृष्णाच्छर्दिर्ज्वरस्तथा।
अतीसारश्च मूर्च्छा च हिक्का श्वासस्तथैव च॥
एतैरुपद्रवैर्जुष्टान् सर्वानेव विवर्जयेत्॥

सु० सू० ३३।५-६

अर्थात्—उत्साह तथा धातुओ का क्षय, शोष (शुष्कता), तृष्णा (उदक-क्षय), वमन, ज्वर, अतिसार, मूर्च्छा (कोमा), हिक्का तथा श्वास—ये उक्त आठ महागदो के सर्वसामान्य उपद्रव है। इनमें किसी भी रोग में ये उपद्रव उत्पन्न हो जाएँ तो वह रोग असाध्य तथा प्रत्याख्येय हो जाता है। सामान्य

१—वातव्याधिरत्र महावातव्याधिरभिप्रेतो महच्छब्दलोपात्—डल्हन। सुश्रुत ने वातरोगो के वातव्याधि और महावातव्याधि ये दो भेद कर दोनो की चिकित्सा पृथक् अध्यायो मे—क्रमश चिकित्सास्थान के चतुर्थ तथा पचम अध्यायो मे दी है। पचम अध्याय—नाम्ना महावातव्याधिचिकित्सताध्याय मे—वातरक्त, अपतानक, पक्षाघात, मन्यास्तम्भ, अपतन्त्रक, अर्दित इत्यादि का उल्लेख हुआ है।

२—प्राणमासक्षय उत्साहोपचयक्षय इत्यर्थ—डल्हन। धातुक्षय कृशता तथा भार मे न्यूनता से गम्य होता है।

इन उपद्रवों के अतिरिक्त प्रत्येक रोग के पृथक् उपद्रव भी हैं। इनका निर्देश प्रत्येक के प्रकरण में होगा।

असाध्य व्याधियों की साध्यता ?—एक विचार—

असाध्य व्याधियों के लिए आयुर्वेद का सिद्धान्त है—नासाध्यः साध्यतां याति—च० नि० ८।३५—जिस रोग को असाध्य कहा गया है वह असाध्य ही रहता है—साध्य हो ही नहीं सकता। इसीलिए कहा है—असाध्य रोगों का एक ही भेद होता है—असाध्य, उनके अन्य भेद (विकल्प) हो ही नहीं सकते—न त्वसाध्याना नियताना विकल्पना—च० सू० १०।१०। और इसी कारण चिकित्सा भी साध्य रोगों की ही शास्त्र में उपदिष्ट है, असाध्य रोगों की नहीं–साधनं न त्वसाध्यानां व्याधीनामुपदिश्यते। परन्तु संभव है, स्वशास्त्र या परशास्त्र में कालक्रम से प्रगति होने से असाध्यतया निर्दिष्ट रोग साध्य भी हो जाएँ। वैद्य यादवजी त्रिकमजी आचार्य ने अपने 'आयुर्वेदीय व्याधि विज्ञान' के पूर्वार्ध में लिखा है—

'असाध्य माने गए रोग सर्वदा (अनंत समय) के लिए असाध्य नहीं रहते हैं, उनकी चिकित्सा आविष्कृत होने पर वे साध्य हो जाते हैं। जैसे—सुश्रुत ने फलकोष (अण्डकोष) में प्राप्त अन्त्रवृद्धि (हर्निया) को असाध्य बताया है[1] परन्तु आजकल यह रोग शस्त्र-क्रिया से अच्छा किया जाता है (पृ० १३)।'

वैद्यों को इसका विचार करना चाहिए। अन्य भी रोगों को इस प्रकरण में उदाहरणतया प्रस्तुत किया जा सकता है। साध्य रोग भी इसी प्रकार साध्यतर हो जाते हैं, यह भी ध्यान में रखना चाहिए।

अनुबन्ध्य-अनुबन्ध (स्वतन्त्र-परतन्त्र अथवा उपद्रव तथा प्रधान रोग)[2]

उपद्रव कॉम्प्लीकेशन का पर्याय नहीं—

चिकित्सा की दृष्टि से इस वर्ग का जानना आवश्यक है। प्रकरण आरम्भ

१—देखिये—सु० नि० १२।६, माधव निदान (वृद्धिनिदान) और उस पर मधुकोष, अ० स० सू० २२, अ० हृ० नि० ११।२१-३१ तथा उस पर अरुण और तोडर-टीका।

२—स्थल—च० वि० ६।८-११, च० चि० २१।४०, च० सू० १६।७ तथा इन पर चक्रपाणि, सु० सू० ३५।१८ तथा डल्हन, अ० हृ० सू० १२। ५६-६३।

करने के पूर्व एक भ्रान्ति का निरसन कर देना उचित प्रतीत होता है। प्राय समझा जाता है कि इस वर्गीकरण में वर्णित उपद्रव-नामक रोगवर्ग आधुनिको का 'कॉम्प्लीकेशन' है। परन्तु उपद्रव और कॉम्प्लीकेशन मे भेद है।

एक रोग की विद्यमानता में अन्य रोग हो जाए इसे आधुनिको ने कॉम्प्लीकेशन कहा है। इसमे पूर्व और पर दोनो रोगो में परस्पर साक्षात् सवन्ध होना आवश्यक नही। जैसे टायफॉयड हो तव या उसकी शान्ति के पश्चात् मैलेरिया या न्यूमोनिया हो जाना परवर्ती रोग का कॉम्प्लीकेशन कहा जाता है। इसे प्राचीनो ने संकर कहा हे। संकर (साकर्य) का अर्थ तथा उदाहरण पहले वताया जा चुका हे।

आधुनिको के 'सेकडरी इन्फेक्शन' एवं 'टर्मिनल इन्फेक्शन' की भी गणना प्राचीनो के सकर में की जा सकती है। एक रोगजनक जीवाणु द्वारा उत्पन्न किए रोग के अनन्तर अन्य कोई जीवाणु भी शरीर में रोग उत्पन्न कर दे तो इसे सेकडरी इन्फेक्शन कहते है। यथा—श्लीपद-जनक जन्तुओ के अण्डो तथा वच्चो ने रसवाहिनियो में अवरोध उत्पन्न किया हो तो पूयजनक जीवाणु वहाँ स्थान-सश्रय कर विद्रधि (फायलेरिअल एव्सेस) उत्पन्न करते हैं। इसे सेकंडरी इन्फेक्शन कहते हैं।

टर्मिनल इन्फेक्शन में शरीर किसी क्षयकारी रोग से जीर्ण-शीर्ण और अक्षम (रोग-प्रतीकार शून्य) हो चुका हो और किसी घातक रोग के जीवाणु रोग उत्पन्न कर प्रतिकारहीन शरीर को शीघ्र मृत्यु-वश कर देते है। इस प्रकार मधुमेह किंवा सिरोसिस ऑफ ध लिवर से आक्रान्त पुरुष कॉकस नामक जीवाणुओ एवं यक्ष्माणुओ के लिए सुगम्य होता है।

उपद्रव और पूर्वतर रोग में परस्पर सवन्ध होता है। वह यह कि पूर्व रोग की उत्पत्ति के जो कारण (निदान) होते है उन्ही से उपद्रव भी उत्पन्न होता है और प्राय. पूर्व (मुख्य, प्रधान) रोग की चिकित्सा करने से शान्त भी हो जाता है। इतने सक्षिप्त विवेचन के पश्चात् अव इस वर्ग के रोगो का शास्त्रशुद्ध स्वरूप देखिए।

दोषो और रोगो का परस्परानुवन्ध—

शारीरदोपाणामेकाधिष्ठानीयानां संनिपातः संसर्गो वा समानगुणत्वात्। दोपा हि दूपणैः समानाः॥ च० वि० ६।१०

शारीर आदि रोगो के प्रकरण मे उनके परस्पर अनुबन्ध का निर्देश करते कहा गया था कि—शारीर दोष वात, पित्त और कफ एक ही अधिष्ठान शरीर

में सहवास करते हैं। इन शारीर दोषों के प्रकुपित करनेवाले कारणों की क्रिया भी तीनों दोषों पर स्वभावतः होती है। दूसरी ओर—

हम जानते हैं कि दोषों में जो शास्त्रोक्त गुण होते हैं उनमें कुछ परस्पर-विरुद्ध होते हैं और कुछ परस्पर समान। दोषों के गुण परस्पर-विरुद्ध एवं परस्पर-समान होने के परिणाम स्मरणीय होते हैं। परस्पर-विरुद्ध गुणों के कारण दोष एक दूसरे को प्रकुपित नहीं होने देते। यथा, कफ में गुरु, पिच्छिल आदि गुण हैं तो वायु में लघु, विशद आदि। इन परस्पर-विरुद्ध गुणों के कारण कफ वायु को और वायु कफ को कुपित नहीं होने देता—समावस्था में रखता है। इसी प्रकार पित्त अपने उष्ण गुण से शीतगुण कफ और वायु को और कफ तथा वायु अपने शीत गुण से पित्त को कुपित नहीं होने देते। शारीर और मानस दोषों के परस्पर-विरुद्ध अन्य गुणों की यह शरीरानुग्रहकारिणी क्रिया इसी प्रकार समझी जा सकती है।

दोषों के परस्पर-सदृश गुणों का परिणाम उनसे होनेवाले रोगों की सहोत्पत्ति के रूप में देखा जाता है। दोषों को प्रकुपित करनेवाले कारण दोषों के विभिन्न गुणों की वृद्धि करते हैं। यह और बात है कि कोई प्रकोपक कारण किसी दोष के सपूर्ण गुणों को प्रकुपित करता है और कोई एक, दो या अधिक गुणों को प्रकुपित करता है। दोष-विशेष के प्रकुपित हुए गुण अन्य दोषों के समान होते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि, अपने प्रकोपक कारणों से प्रकुपित हुए दोष के साथ समान गुणवाले अन्य दोष का भी प्रकोप होता है। अवश्य ही, प्रकोपक कारण में जिस दोष के स्व-सदृश गुणों को प्रकुपित करने का स्वभाव विशेष होगा उसका कोप अधिक प्रमाण में होगा; और जिस दोष के गुणों के साथ प्रकोपक कारण का साम्य न्यून होगा उसका प्रकोप उसी प्रमाण में न्यून होगा। इस प्रकार—

एक ही अधिष्ठान शरीर में सह-वास के कारण एव प्रकोपक कारणों द्वारा दोषों के समान गुणों का प्रकोप होने के कारण दो या तीनों दोषों का प्रकोप होता है तथा दो या तीनों दोषों के प्रकोप से होनेवाले रोग एक ही काल में प्रादुर्भूत हुए देखे जाते हैं। दो दोषों के रोग इस प्रकार एक साथ एक ही शरीर में हो तो इसे उनका संसर्ग कहा जाता है तथा तीन दोषों से हुए रोगों के समवाय को संनिपात कहते हैं।

ससर्ग या सन्निपातसे हुए रोग कभी एक साथ उत्पन्न होते हैं और कभी आगे पीछे।

ससर्ग और सनिपात की व्याख्या—

गुण-साम्य से प्रकोपक कारणों द्वारा एकाधिक दोषों के प्रकोप की व्याख्या करता चक्रपाणि उक्त वचन की टीका में कहता है—

समानगुणत्वादिति हेतुं विवृणोति--दोषा हीत्यादि। दूषणैरिति हेतुभिः। प्रायो हि शारीराणां वातादीनां समान एव हेतुर्भवति। यथा ह्यम्लं लवणं कटु च पित्तकरम्। तत्राम्लं सकफं पित्तं करोति, लवणं च सपित्तं कफं करोति, कटु तु सवातं पित्तं करोति। तथा--

वसंतः श्लेष्मकारकोऽप्यादानत्वेन वातपित्ते च करोति। वर्षास्वपि पित्तं चीयमानं शरदि प्रकुप्य कफानुगतमेव कुप्यति। तथा ग्रीष्मो वातचयं रूक्षत्वेन कुर्वन् उष्णत्वेन मनाक् पित्तचयमपि करोतीत्यनुसरणीयम् ॥

दोषों के प्रकोपक कारणों और एकाधिक दोषों के गुण परस्पर समान होने से एक ही काल में एक से अधिक दोषों के प्रकोप को उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते हैं।--अम्ल, लवण और कटु ये तीन रस पित्त-प्रकोपक है यह विदित है। इनमें अम्ल-रस गुण-साम्यवश पित्त के साथ कफ को भी प्रकुपित करता है; इसी भाँति लवण रस कफ के साथ पित्त को और कटु रस पित्त के साथ वात को भी प्रकुपित करता है।

समान द्रव्यों से समान दोषों के युगपत् (एक साथ) प्रकोप का उदाहरण देकर अब समान-गुण काल के कारण एकाधिक दोष के प्रकोप को उदाहरण द्वारा विशद किया जाता है।--वसन्त ऋतु श्लेष्म-प्रकोपक रूप में प्रसिद्ध है। परन्तु यह ऋतु आदान (धातुक्षयकारी) होने के कारण रूक्ष-लघु आदि गुणों वाले वात और अल्प स्नेह, लघु आदि गुणयुक्त पित्त को भी प्रकुपित करती है। एवम् वर्षाकाल में पित्त का संचय होकर शरत्काल में प्रकोप (पैत्तिक रोगों के प्रादुर्भाव के रूप में) होता है; परन्तु साथ ही कफ का भी अनुबन्ध होता है। कारण, वर्षा ऋतु में स्वस्थवृत्तोक्त तत्तत्कारणवश अन्नपान का विदाह नाम अम्लपाक होता है--अन्नपान का जरण यथावत् न होकर शुक्त-सदृश विभिन्न अम्ल द्रव्यों में परिणति होती है। विदग्धाजीर्णवश उत्पन्न हुए ये अम्ल द्रव्य उसी प्रकार शरीर में कफ को प्रकुपित करते हैं, जैसे प्रकृत्या अम्ल रसों का सेवन करने से कफ का प्रकोप हुआ करता है। इस प्रकार, शरत्काल में प्रधानतया प्रकुपित पित्त के साथ अनुबन्ध रूप में कफ का भी प्रकोप स्वभावतः होता है। इसी प्रकार ग्रीष्मकाल में ऋतु की रूक्षता से वायु का सचय शरीर में होता है तो उसके उष्णत्व से यत्किंचित् पित्त का भी प्रकोप होता है। अन्य उदाहरणों की कल्पना इसी प्रकार कर लेनी चाहिए।

स्वतन्त्र और परतन्त्र किंवा अनुबन्ध्य और अनुबन्ध दोष—

स्वतन्त्रो व्यक्तलिङ्गो यथोक्तसमुत्थानप्रशमो भवत्यनुबन्ध्यः, तद्विपरीतलक्षणस्त्वनुबन्धः[1] ॥ च० वि० ६।११

ऊपर के वर्णन से स्पष्ट है कि, प्रकोपक द्रव्य, देश या काल मे एकाधिक दोष का प्रकोप सभावित होने पर भी प्रधानतया प्रकुपित होनेवाले एक-एक ही दोष का उल्लेख तन्त्रकारो ने किया है। एव, चिकित्सा भी इस प्रधानतया प्रकुपित हुए दोष को लक्ष्य मे रखकर ही बताई गई है। इस प्रकार—

जिस दोष का शास्त्र में निर्दिष्ट अपने प्रकोपक कारणो से प्रकोप हुआ हो तथा शास्त्र में अपने प्रशमनार्थ निर्दिष्ट उपचारो से ही जिसका प्रशमन हो, जिसके प्रकोप के लक्षण व्यक्त हो—सख्या और बल अधिक होने के कारण सुस्पष्ट हो, जिन्हें देखने से सुगमता से जाना जा सके कि ये लक्षण इस दोष के है; अतएव जो स्वतन्त्र हो—अपने शास्त्रनिर्दिष्ट प्रकोपकाल में रोग को उत्पन्न करने मे प्रधानतया भाग ले उसे अनुबन्ध्य या स्वतन्त्र (प्रधान) दोष कहते है। इसके विपरीत—

प्रकोपक हेतु (द्रव्य, देश, काल) प्रधानतया अपने प्रकोपक न होने के कारण जिस दोष का प्रकोप विशेष प्रमाण में न हो, अतएव सख्या और बल स्वल्प होने के कारण जिसके लक्षण व्यक्त (स्पष्ट) न हो—अर्थात् जिनको देखकर यह सुगमता से कहा न जा सके कि ये लक्षण इस दोष के प्रकोप के है; एव शास्त्र में निर्दिष्ट प्रकोपक तथा प्रशमन कारणो से जिसका प्रकोप और प्रशमन न हुआ हो, किन्तु पूर्वलिखित स्वतन्त्र दोष के प्रकोपक कारणो से ही गौण रूप में (आनुषङ्गिक रूप म) जिसका प्रकोप हुआ हो और उस प्रधान दोष को दृष्टि में रखकर की गयी चिकित्सा से ही जिसका शमन प्रायश हो जाए; अतएव प्रकोप और चिकित्सा दोनो में स्वतन्त्र दोष के अधीन होने के कारण जो पराधीन हो—उस दोष को अनुबन्ध, परतन्त्र या अप्रधान कहा जाता है।

जैसे, शरद् ऋतु में पित्त के प्रकोप का ही होना शास्त्र में लिखा और समझाया गया है और उसी के उपचार का भी उल्लेख हुआ है। परन्तु वर्षाकाल में हुआ जो अम्ल पाक शरद् ऋतु में पित्त के प्रकोप का हेतु है वह कफ को भी यत्किंचित् उत्पन्न करता है। एव, पित्त के शमन की जो चिकित्सा तिक्त घृत आदि के

१—सग्रहकार ने सू० २२ मे अनुबन्ध्य और अनुबन्ध शब्द प्रधान और अप्रधान रोगो के लिए भी प्रयुक्त किए है। च० सू० १९।७ मे आए इन शब्दो की भी एक व्याख्या चक्रपाणि ने यही की है।

रूप में शास्त्र में निर्दिष्ट हुई है उसी के सेवन से तिक्त रस कफ-प्रत्यनीक होने से कफ का भी प्रशमन होता है। इस उदाहरण में पित्त प्रधान या अनुवन्ध्य तथा कफ अनुवन्धी, अप्रधान या परतन्त्र दोष कहा जाता है।

आगे निदान-प्रकरण में हम देखेंगे कि पञ्च निदानो में एक सप्राप्ति का एक अङ्ग प्राधान्य भी है। इसकी परीक्षा म कुपित दोपो में कौन प्रधान है तथा कौन अप्रधान इस वात की गवेषणा की जाती है। पुन॰, कुपित सभी दोषो एवं उनके प्रकोप को प्राप्त गुणो (अंशो) में भी प्रकोप का तरतमभाव (डिग्री) देखा जाता है। यह विषय आगे संप्राप्ति में आएगा ही।

अनुवन्ध्य और अनुवन्ध दोषो के तरतमभाव के समान इन द्विविध दोषो से उत्पन्न अनुवन्ध्य और अनुवन्ध रोगो के भी प्राधान्य-अप्राधान्य एवं तरतम-भाव का विचार चिकित्सा के वैशद्य और वैशारद्य की दृष्टि से किया जाना आयुर्वेद में आवश्यक माना गया है। चरकाचार्य कहते है—

तत्रानुवन्धं प्रकृतिं च सम्यक्।
वुद्ध्वा ततः कर्म समारभेत॥

च० सू० १९।७

यहाँ प्रकृति शब्द का अर्थ मूल या प्रधानभूत दोष किंवा रोग (अनुवन्ध्य) है।

प्रधान तथा अप्रधान व्याधि (उपद्रव)—

अनुवन्ध्य और अनुवन्ध[1] दोषो का विचार कर अव इन द्विविध दोषो से उत्पन्न द्विविध या त्रिविध रोग-वर्ग का विचार क्रमप्राप्त होने से प्रस्तुत किया जाता है। चरक, सुश्रुत तथा वाग्भट तीनो ने प्रधान-अप्रधान भेद से होनेवाले इस वर्गीकरण में रोगो के नामो तथा सख्या में कुछ भेद रखा है। सवका समन्वय कर नीचे इस वर्ग का निर्देश करेंगे।—

तत्रैतान् भूयस्त्रिधा परीक्षेत–किमयमौपसर्गिकः, प्राक्केवलोऽन्यलक्षण इति॥ सु० सू० ३५।१८

किसी भी रोग की परीक्षा करते हुए देखना चाहिए कि अधोलिखित वर्ग के किस भेद में उसकी गणना हो सकती है—अर्थात् प्रस्तुत रोग औपसर्गिक है, प्राक्केवल है या अन्यलक्षण है?

१—स्मरण रहे तन्त्र में अनुवन्ध का अर्थ शुभ या अशुभ आय भी होता है। देखिए च० सू० १।४२, च० वि० ८।७४, ९१ तथा इन स्थलो पर चक्रपाणि-टीका।

औपसर्गिक या उपद्रव का लक्षण—सुश्रुत ने जिसे औपसर्गिक रोग[1] कहा है उसी को चरक तथा वाग्भट ने और स्वय सुश्रुत ने भी इसी प्रकरण में उपद्रव कहा है। औपसर्गिक या उपद्रव का लक्षण यह है—

तत्रौपसर्गिको नाम यः पूर्वोत्पन्नं व्याधिं जघन्यकालजातो व्याधिरुपसृजति स तन्मूल एवोपद्रवसंज्ञ.॥ सु० सू० ३५।१८

उपद्रवस्तु खलु रोगोत्तरकालजो रोगाश्रयो रोग एव स्थूलोऽणुर्वा रोगात् पश्चाज्जायत इत्युपद्रवसंज्ञः॥ च० चि० २१।४०

प्रधान या मूल (प्रथम उत्पन्न) रोग की उत्पत्ति के अनन्तर (सामान्यतया) जिसकी उत्पत्ति हो, प्रधान रोग की उत्पत्ति जिस दोष के प्रकोप के कारण हुई हो उसी दोष के प्रकोप से जिसकी भी उत्पत्ति हुई हो (तन्मूल एव सुश्रुत; रोगेण समं तुल्यकारण'-चक्रपाणि) उस अप्रधान रोग को, चाहे वह स्थूल या अणु (छोटा या बडा) किसी भी प्रकार का हो, औपसर्गिक या उपद्रव कहा जाता है।

औपसर्गिक शब्द में उप उपसर्ग और गत्यर्थक सृज धातु है। उपद्रव पूर्वोत्पन्न व्याधि के उप=समीप, सृजति=अपने आपको ले जाता है, पूर्व व्याधि से जाकर मिलता है अतः उसे औपसर्गिक नाम दिया गया है। उपद्रव शब्द में भी उप उपसर्ग और गति अर्थ की द्रु धातु है। यह रोग मूल और प्रधान व्याधि के उप=समीप, द्रवति=गमन करता है, अत इसे उपद्रव कहा जाता है।

मूल व्याधि के पश्चात् हुए (जघन्य-कालजात) रोग को ही उपद्रव कहा जाता है। इस काल-भेद से मूल रोग के साथ उत्पन्न अरुचि आदि रोगो (लक्षणो) का ग्रहण उपद्रव शब्द से नहीं होता। शेष लक्षण—मूल व्याधि के तुल्य कारण तथा चिकित्सा होना—लक्षणो पर भी घटित होता है। वैसे तो उपद्रव रोग-विशेष होता है ऐसा उसके लक्षण में कहा है, और अरुचि आदि लक्षण सामान्यतया रोग नही कहाते अत रोग न होने से ही लक्षणो की भी व्यावृत्ति हो ही जाती—उनका उपद्रवो में ग्रहण न होता। परन्तु कभी-कभी लक्षणो को भी रोग माना जाता है, अत. यह स्पष्टता यहाँ की गयी है।

१—औपसर्गिक शब्द अन्यत्र भिन्न अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है। ज्वरादि-रोग-पीडित पुरुष के समीप वास से जो रोग उत्पन्न होते है उन्हे भी औपसर्गिक कहा जाता है। यहाँ उपद्रव के लिए इस सज्ञा का व्यवहार हुआ है। उप उपसर्ग का सामीप्य अर्थ दोनो अर्थो मे अभीष्ट है।

अविपाक (अजीर्ण), अरुचि आदि व्यथाएँ सामान्यतया लक्षण नाम से प्रसिद्ध है उन्हें कभी-कभी रोग नाम भी दिया जाता है। देखिए :

ज्ञानार्थं यानि चोक्तानि व्याधिलिङ्गानि संग्रहे।
व्याधयस्ते तदात्वे तु लिङ्गानीष्टानि नामया:[1] ॥

च० नि० ८।४०

अर्थात् निदान-प्रकरण में विविध रोगो के जो अजीर्ण, अरुचि आदि लिङ्ग (लक्षण) कहे गए है वे जब स्वतन्त्र रूप में उत्पन्न हो तब इन्हें लिङ्ग न कहकर व्याधि ही कहना चाहिए। कारण, व्याधि या रोग उस व्यथा (शिकायत, फरियाद) का नाम है जो स्वतन्त्र हो, अर्थात् शास्त्र में कहे अपने कारणो से जिसकी उत्पत्ति हो तथा शास्त्रोक्त ही अपनी चिकित्सा से जिसका प्रशमन हो जाए। अरुचि, अजीर्ण आदि व्यथाएँ जब ज्वर आदि रोगो के उत्पादक कारणो से, ज्वर आदि रोगो की उत्पत्ति के साथ ही उत्पन्न हो एव ज्वर आदि की चिकित्सा करने से जिनकी शान्ति हो जाए तब उन्हें ज्वर आदि रोगो के परतन्त्र होने के कारण लिङ्ग या लक्षण ही कहा जाता है, व्याधि या रोग नही।

तात्पर्य, परिस्थिति-विशेष में लक्षण भी रोग-शब्दवाच्य होते है—उन्हें भी तब रोग कहा जाता है। उधर, उपद्रव भी रोग-विशेष का ही नाम है। सो रोगत्व, प्रधान रोग के तुल्य कारण एव तुल्य ही चिकित्सा प्रधान-उपद्रव की इतनी परिभाषा लक्षणो पर भी घटित होती है। परन्तु लक्षण प्रधान रोग के सहोत्पन्न होते हैं और उपद्रव की परिभाषा में उसका जघन्य-कालजात होना निर्दिष्ट है। उपद्रव का यह लक्षण लक्षणो पर घटित न होने से उन्हें उपद्रव नहीं कहा जाता। इसी प्रकार कदाचित् कोई लक्षण प्रधान रोग उत्पन्न होने के कुछ काल पश्चात् उत्पन्न हो तो उन्हें भी उपद्रव नही कहते। कारण, ये लक्षण भी उस रोग के साथ ही सामान्यतया उत्पन्न होते देखे जाते है। पश्चात् उत्पत्ति अपवादरूप ही होती है। परन्तु—

लिङ्गान्यपि यदि चिरकालानुबन्धीनि भवन्ति तदा तान्युपद्रवसंज्ञानि भवन्ति ॥ सु० सु० ३५।१८ पर डल्हन

१—ये निदानस्थाने ज्ञानार्थं प्रधानभूतज्वरादिज्ञानार्थं व्याधय. सन्ति, तेऽविपाकारुच्यादय· स्वातन्त्र्येणोत्पद्यमाना व्याधय एव, व्याधित्वेनैव व्यपदेष्टव्या इत्यर्थः। तदात्वे तु लिङ्गानीति—यदा ज्वरादिपरतन्त्रा जायन्तेऽरुच्यादय·, तदा पारतन्त्र्याल्लिङ्गान्येव ते, नामयाः। आमयो हि स्वतन्त्र स्वचिकित्साप्रशमनीयो भवतीत्यायुर्वेदस्थितिः; ज्वरलिङ्गरूपास्त्वरुच्यादयो ज्वरचिकित्साप्रशमनीया एवेति भावः॥ चक्रपाणि

लक्षण भी यदि चिरकालानुबन्धी हों—बहुत देर तक रहें तो उन्हें भी उपद्रव कहा जाता है।

इसी प्रकार उपद्रव व्याधि-विशेष होना चाहिए इस परिभाषानुसार रोगों की जो विविध उत्तरकालज अवस्थाएँ होती हैं, जैसे शोथ की व्रणरूपावस्था, उन्हें उपद्रव नहीं कहा जाता। कारण, ये अवस्थाएँ मूल रोग में अवश्यम्भावी होने से मूल व्याधि की अङ्गभूत ही होती हैं। उपद्रव अवश्यम्भावी परिणाम नहीं होता।

उपद्रव उसी रोग को कहा गया है जिसका उत्पादक कारण वही हो जो प्रधान रोग का है। यह तुल्यकारणता न हो तो प्रधान रोग के साथ उत्पन्न अथवा उत्तर-कालोत्पन्न अन्यकारणक रोगों को उपद्रव न कहा जायगा। जैसे पुरुष को गलगण्ड हुआ हो और उत्तरकाल में अपने-अपने कारणान्तर से ज्वरादि रोग हो जाएँ, अथवा श्लीपद-पीडित पुरुष को पश्चात् काल में संसर्गवश कुष्ठ हो जाए तो उसे उपद्रव न कहेंगे।

उपद्रवों के विषय में यह सूक्ष्म विचार संहिताकारों तथा टीकाकारों ने इसलिए किया है कि उपद्रवों को देखकर रोग की साध्यासाध्यता का विचार आयुर्वेद में किया जाता है और चिकित्सा भी उपद्रव की पृथक् न कर प्राय. प्रधान रोग की ही की जाती है। सो इस विषय की शुद्धि के लिए कोई व्यथा रोग है उपद्रव है, या लक्षण है इस बात का विनिश्चय करना आवश्यक होता है।

उपद्रव उत्तरकालज होता है यह उसका एक लक्षण है। परन्तु—केचिन्महाबलदोषारब्धा व्याधय उपद्रवयुक्ता एवोत्पद्यन्ते। सहोत्पन्ने चोपद्रवार्थो नास्ति। तथापि ये गदा उपद्रवरूपा जायन्ते ते तत्र सहोत्पन्ना अपि योग्यतया उपद्रवा भण्यन्ते—च० चि० २१।४० पर चक्रपाणि।—कई रोग जिनके उत्पादक दोष अति बलवान् होते हैं वे उपद्रवों के साथ ही उत्पन्न होते हैं। ये उपद्रव सामान्यतया उस-उस रोग के उत्पन्न होने के अनन्तर उत्पन्न होते देखे जाते हैं और उस-उस रोग के उपद्रव के रूप में प्रसिद्ध हैं। इस बात को दृष्टि में रख प्रधान व्याधि के साथ ये उत्पन्न हुए हों तो भी इन्हें उपद्रव ही कहा जाता है।

तत्र प्रधानो व्याधिः, व्याधेर्गुणभूत उपद्रव। तस्य प्रायः प्रधानप्रशमे प्रशमो भवति। स तु पीडाकरतरो भवति, पश्चादुत्पद्यमानो व्याधिपरिक्लिष्टशरीरत्वात्। तस्मादुपद्रवं त्वरमाणोऽभिबाधेत॥

च० चि० २१।४०

तत्र सोपद्रवमन्योन्या-विरोधेनोपक्रमेत। बलवन्तमुपद्रवं वा॥

सु० सू० ३५।१८

उपद्रवों का चिकित्सा-सूत्र—'प्राय.' प्रधान रोग की चिकित्सा करने से ही उपद्रव की भी शान्ति हो जाती है। इस प्रकार कारण और चिकित्सा की दृष्टि से मूल व्याधि के अधीन होने से मूल रोग को प्रधान तथा उपद्रव को अप्रधान (परतन्त्र, गुणभूत) कहने का प्रचार है।

मूल रोग के आक्रमण से शरीर अति अवसन्न (शिथिल), अबल और क्षीण हो गया होता है। शरीर की यह दशा होने से उपद्रव अत्यधिक कष्ट देनेवाला सिद्ध होता है। अत. उपद्रव कैसा भी हो उसका सत्वर उपचार करना चाहिए।

ऊपर 'प्राय' शब्द से यह सूचित किया है कि, सामान्यतया उपद्रव की चिकित्सा पृथक् करनी नही पड़ती। प्रधान रोग की चिकित्सा ही उसकी भी चिकित्सा होती है। परन्तु, कभी-कभी उपद्रव बलवान् हो तो उसकी पृथक (स्वतन्त्र) और प्रथम चिकित्सा करनी पडती है। उपद्रव विशेष बलवान् न हो तो भी उसका बल किंचित् भी अधिक होने पर उसकी पृथक् चिकित्सा करनी होती है। उसका बल प्रधान व्याधि से अधिक न हो तो प्रथम प्रधान रोग की चिकित्सा करे पश्चात् उपद्रव की। यदि दोनो की चिकित्सा साथ-साथ करना आवश्यक हो तो योजना ऐसी करनी चाहिए कि प्रधान व्याधि तथा उपद्रव दोनो की चिकित्सा परस्पर-विरोधिनी न हो।

प्रत्येक रोग के उपद्रव उस रोग के निदान-चिकित्साधिकार मे पृथक् बताए जाएँगे। उपद्रवो से रोग की साध्यासाध्यता का निर्णय होता है और चिकित्सा का मार्ग परिष्कृत होता है।

प्राक्केवल या प्रधान रोग—

औपसर्गिक रोग या उपद्रव के लक्षणादि का निर्देश कर अब प्रसङ्गोपात्त प्राक्केवल का लक्षण लिखते है।—

प्राक्केवलो नाम यः प्रागेवोत्पन्नो व्याधिरपूर्वरूपोऽनुपद्रवश्च[1] ॥

सु० सू० ३५।१८

१—इस वचन का अर्थ करते हुए उचित होने से चक्रपाणि की टीका का अनुसरण किया है। स्पष्टता के लिए प्रथम डल्हन की टीका उद्धृत करता हूँ—"**अपूर्वरूप इति पूर्वरूपरहित इत्यर्थ। अनुपद्रवश्चेति उपद्रवरहित इत्यर्थः। एतेन मशकतिलकालकन्यच्छव्यङ्गादय प्राक्केवला व्याधय कथ्यन्ते; व्याधि-स्वभावात् पूर्वरूपमन्तरेणापि प्रागेवोत्पद्यन्त इत्यर्थ॥**" अर्थात् उस व्याधि को प्राक्केवल कहते है जिसके न पूर्वरूप होता है, न उपद्रव, जैसे त्वचा पर हुए मसे, तिल, न्यच्छ (लाञ्छन), व्यङ्ग आदि। रोग-स्वभाववश ये बिना→

प्राक्केवल उस रोग का नाम है जो प्रथम उत्पन्न हुआ हो तथा जिसकी गणना न पूर्वरूपो में की जा सके न उपद्रवो में।

स्पष्ट ही 'प्रथमोत्पत्ति' इस लक्षण से सुश्रुत ने उन्हीं रोगो का ग्रहण किया है जिनको चरक ने पश्चात् काल में होनेवाले उपद्रवो से पूर्व होनेवाला मूल और प्रधान रोग कहा है। 'अपूर्वरूप.' तथा 'अनुपद्रव.' से इसी बात को स्पष्टतर कर दिया है।

प्राक्केवलं यथास्वं प्रतिकुर्वीत ॥ सु० सू० ३५।१८

प्राक्केवल की चिकित्सा जैसी उस रोग के अधिकार में तन्त्र (टेक्स्ट) में कही है उसी प्रकार करनी चाहिए। उपद्रवो के सदृश उसकी चिकित्सा पराधीन नही होती।

अब प्रस्तुत वर्ग के अन्तिम भेद अन्यलक्षण या पूर्वरूप का लक्षण देखिए।

अन्य लक्षण या पूर्वरूप का लक्षण—

अन्यलक्षणो नाम यो भविष्यद्व्याधिख्यापकः, स पूर्वरूप ॥
सु० सू० ३५।१८

भावी रोग की जिससे सूचना मिले उस, पूर्वरूप इस नाम से प्रसिद्ध व्याधि को अन्य लक्षण कहा जाता है। अरिष्ट या रिष्ट 'नियतमरणख्यापक' होने से वे मृत्यु के पूर्वरूप होते है। उनका भी यहाँ पूर्वरूप होने से ग्रहण है—रिष्टानां च मरणपूर्वरूपतया ग्रहणम्—चक्रपाणि।

इस अन्यलक्षण या पूर्वरूपावस्था में प्रकुपित दोषो का स्थानसश्रय हो जाता है। इस अवस्था में रोग के लक्षण अव्यक्त होते है। वही लक्षण जब व्यक्त हो जाते है तो रोग का प्रादुर्भाव हुआ कहा जाता है। इस अवस्था को व्यक्ति कहते है। स्थानसश्रय की अवस्था में जो पूर्वरूप थे वे ही व्यक्तावस्था मे आने पर रूप या लक्षण कहे जाते है। संचय, वृद्धि आदि प्रत्येक दशा में प्रतीकार आवश्यक होता है। यह सामान्य नियम है। कहीं-कही तन्त्रकारो

←—पूर्वरूप स्वय ही प्रथम (प्राक्) उत्पन्न होते है।" परन्तु यह अर्थ लेने मे प्रस्तुत वर्गीकरण मे ज्वरादि प्रधान रोगो का तो कही अस्तित्व ही नही रह जाता। यह विषम स्थिति चक्रपाणि की टीका का अनुसरण करने मे रहती नही। वह कहता है—प्रागुत्पन्नो व्याधिरित्यनेन ज्वरादय एव व्याधयोऽभिधीयन्ते। अपूर्वरूप इत्यनेन पूर्वरूपादन्यत्वमुच्यते। अनुपद्रव इत्यनेन चोपद्रवादन्यत्व-मुच्यते॥ इस टीकाश का अर्थ ऊपर दिया गया है।

ने स्पष्ट पदों में तत्-तत् रोग के पूर्वरूप में पृथक् चिकित्सा लिखी भी है। यथा, ज्वर के पूर्वरूप में घृतपान आदि की योजना है। तथाहि :

ज्वरस्य पूर्वरूपेषु वर्तमानेषु बुद्धिमान्।
पाययेत घृतं स्वच्छं ततः स लभते सुखम्॥
विधिर्मारुतजेष्वेष, पैत्तिकेषु विरेचनम्।
मृदु, प्रच्छर्दनं तद्वत्कफजेषु विधीयते॥

सु० उ० ३९।९७-९८

निराम वातज्वर के पूर्वरूपों में रोगी को स्वच्छ (अकृत, औषध से असाधित) पुराण घृत का तबतक सेवन करना चाहिए जब तक आरोग्य की प्रतीति न हो। इसके अनन्तर लघु भोजनादि करना चाहिए। पैत्तिक ज्वर की पूर्वरूपावस्था मे मृदु विरेचन और कफज में मृदु वमन कराना चाहिए।

स्मरण रहे, सचय से स्थानसश्रय-पर्यन्त प्रकोपावस्थाओं में संभव है आधुनिक प्रयोगशाला-परीक्षाओं में जीवाणुओं का दर्शन न भी हो। परन्तु जीवाणुओं के स्थानसश्रय के योग्य भूमिका तो तैयार हो ही जाती है। आयुर्वेद-मत से सचय से ही प्रतीकार-योग्य रोगावस्था प्रारम्भ हो जाती है। इतना ही क्यों, दोषों का सचय हो न हो इस दृष्टि से स्वस्थवृत्तोक्त उपचार तो उसके भी पूर्व से अनुसरणीय होते हैं।

पूर्वरूपों के विषय में आगे पञ्चनिदान के प्रकरण में अधिक वक्तव्य आएगा ही, अतः यहाँ प्रपञ्च नही किया जाता।

स्वतन्त्र तथा परतन्त्र रोग—

लघु वाग्भट ने उपद्रवों तथा पूर्वरूपों को एक वर्ग में रखकर इस वर्ग की रचना की है।—

द्विधा स्वपरतंत्रत्वाद् व्याधयोऽन्त्याः पुनर्द्विधा।
पूर्वजाः पूर्वरूपाख्या जाताः पश्चादुपद्रवाः॥ अ० हृ० सू० १२।६०

रोगों के दो भेद हैं—स्वतन्त्र और परतन्त्र। इनमें परतन्त्रों के दो भेद हैं—पूर्वरूप और उपद्रव। प्रधान या स्वतन्त्र रोगों की उत्पत्ति के पूर्व जिनकी उत्पत्ति हो उन्हें पूर्वरूप कहते हैं, तथा प्रधान रोग के पश्चात् उन्हीं के समान कारण से जिनकी उत्पत्ति हो उन्हें उपद्रव कहा जाता है।

शास्त्र में कथित उत्पादक कारणों से, शास्त्र में निर्दिष्ट सम्प्राप्ति-पूर्वक, शास्त्रोक्त पूर्वरूप-रूपादि क्रम से जिनकी उत्पत्ति हो, जिनके लक्षण स्पष्ट हों

न्त। शास्त्र मे अपने अधिकार (प्रकरण) मे कही चिकित्सा-पद्धति के अनुष्ठान से जिनकी निवृत्ति हो उन रोगो को स्वतन्त्र कहते है। इसके विपरीत, जिनकी उत्पत्ति शास्त्र में निर्दिष्ट अपने कारण से न होकर प्रधान रोग के कारणो से ही हो, जिनकी चिकित्सा भी शास्त्र में अपने प्रकरण में जो कही है वह करने की आवश्यकता 'प्राय' न हो, किन्तु प्रधान रोग की चिकित्सा से ही जिनकी निवृत्ति वहुधा हो जाए, एव जिनके लक्षण स्पष्ट न हो उन पूर्वरूपो और उपद्रवोको परतन्त्र रोग कहा जाता है। इनमें उपद्रव यदि प्रधान रोग की चिकित्सा से शान्त न हो जाए तो प्रधान रोग के शान्त हो जाने पर उपद्रव की पृथक् चिकित्सा करे। किंवा उपद्रव वलवान् हो तो प्रधान रोग की चिकित्सा के साथ ही उसकी चिकित्सा इस प्रकार करे कि प्रधान रोग और उपद्रव दोनो की चिकित्सा परस्पर-विरोधिनी न हो जाए। तथाहि—

तेपा प्रधानप्रशमे प्रशमोऽशाम्यतस्तथा।
पश्चाच्चिकित्सेत्तूर्णं वा वलवन्तमुपद्रवम्॥
व्याधिक्लिष्टशरीरस्य पीडाकरतरो हि सः॥

अ० हृ० सू० १२।६२-६३

प्रकरण समाप्त करने के पूर्व विषय की स्पष्टता के लिए इतना कहना आवश्यक है कि—ज्वर, श्वास, अतिसार आदि रोग कभी प्रधान रोग के रूप में देखे जाते है और यही रोग कभी अन्य प्रधान रोग के उपद्रव रूप में उत्पन्न हुए देखे जाते है।

अब रोगो के अन्य वर्गीकरण देखिए।

साम तथा निराम रोग

एक भ्रान्ति—

आम आयुर्वेद की प्रसिद्ध सज्ञा है। इसकी व्याख्या इसी प्रकरण मे करेगे। इस आम से युक्त दोष तथा रोग साम एव उससे रहित ये दोनो निराम कहे जाते है। इनका भी यथाशास्त्र विचार आगे किया जायगा। आरम्भ मे एक भ्रान्ति के प्रति अगुलि-निर्देश करना आवश्यक प्रतीत होता है। आम के अनेक लक्षण उपलब्ध होते है। इनमे अधिक प्रचलित लक्षण के अनुसार 'जठराग्नि के दुर्वल होने से जो भुक्त अन्न अपक्व रह जाता है, उसका नाम आम है।' निश्चित ही रस-रूप को अप्राप्त स्थूल अन्न का ग्रहण (एव्सॉर्प्शन) पच्यमानाशय के रसवह स्रोतो द्वारा हो नही सकता। अत यह आम शरीर के सर्व-दोषो का प्रकोपक और सर्व रोगो का मूल हो, यह सभाव्य प्रतीत नही होता।

इतना अवश्य सभव है कि, जैसा कि इसी प्रकरण मे चरक के वचनानुसार देखेंगे, अपक्व आम-संज्ञक अन्न विष-रूप को प्राप्त हो जाए और विष के सदृश सूक्ष्म होने से उसका ग्रहण रसवाहिनियो द्वारा होकर शरीर में प्रसर और रोगोत्पादन हो। परन्तु, आम अन्न का बड़ा भाग अति द्रव मल-प्रवृत्ति के रूप मे शरीर से बाहर निकल जाता है। इससे शरीर के यावत् दोषो का प्रकोप और सर्व रोगो की उत्पत्ति संभव नही। यत्सत्य, जठराग्नि के दौर्बल्यसे असपूर्ण पक्व अन्नपान जैसे आम संज्ञा को प्राप्त होता है वैसे धात्वग्नियो के दुर्बल होने से असंपूर्ण पक्व रसधातु भी आम-सज्ञक ही होता है। इस प्रकार आम के दो भेद है--अपक्व अन्न एवं अपक्व रसधातु।

उपक्रम-रूप में इतना विचार प्रस्तुत कर अब हम यह विषय सविस्तर देखेंगे।

जठराग्नि के दौर्बल्य से उत्पन्न आम--

जठराग्नि की दुर्बलता से अपक्व रहे अन्नरस की आम यह विशेष संज्ञा है, इस विषय में नीचे लिखे वचन उपलब्ध होते है--

भोजोऽप्याह--

आमाशयस्थः कायाग्नेर्दौर्बल्यादविपाचितः।
आद्य आहारधातुर्यः स आम इति संज्ञितः॥ इति

ईश्वरसेनोऽप्याह--

एवमामाशयेऽप्यन्नं बहु सम्यङ् न जीर्यति।
चीयमानं तदेवान्नं कालेनामत्वमाप्नुयात॥ इत्यादि

च० चि० १५।९३ पर चक्रपाणि

ऊष्मणोऽल्पबलत्वेन धातुमाद्यमपाचितम्।
दुष्टमामाशयगतं रसमामं प्रचक्षते॥

अ० हृ० सू० १३।२५

दुष्टं वाताद्यनुशयितम्-- अरुणदत्त

ऊष्मणो रसाग्नेः॥ हेमाद्रि

जठरानलदौर्बल्यादविपक्वस्तु यो रसः।
स आमसंज्ञको देहे सर्वदोषप्रकोपणः[1]॥

१--इन वचनो मे आए आमाशय का अर्थ निश्चित ही पच्यमानाशय-सहित आमाशय है। कारण, जठराग्नि या पाचक पित्त के दौर्बल्य से अन्न→

इन वचनों का समुच्चित अर्थ यह है।--पुरुष का जठरानल तथा रसाग्नि दुर्बल हो तो किवा अग्नि सम होते हुए भी पुरुष अति सतर्पण (वहु) करे किवा ऐसा ही अन्य अहिताचरण करे तो अन्नपान का सम्यक् जरण न होने से जो अपक्व तथा वातादि दोषो से अनुबद्ध होने से दूषित अन्नरस तय्यार होता है उसे आम कहते है। सचित हुआ यह आम शरीर में सर्व दोषो को प्रकुपित करता है।

आम का स्वरूप--जठराग्नि के दौर्वल्य, अति सतर्पणादि कारणो से अपक्व रहे अन्नपान या आमरस का स्वरूप तन्त्रकारो ने यह वताया है--आमलक्षणं चैवं वदन्ति--"द्रवं गुर्वनेकवर्णं हेतुः सर्वरोगाणां स्निग्धं पिच्छिलमामं तन्तुमदनुबद्धशूलं दुर्गन्धि इत्यादि" इत्यादि--अ० हृ० सू० १३।२७ पर अरुणदत्त धृत तन्त्रान्तर-वचन।--अर्थात् आम अन्नरस द्रव, गुरु, अनेक वर्णो वाला, स्निग्ध, पिच्छिल, अपक्व (पूर्ण पक्व होने पर उसका जैसा रूप होना चाहिए उससे भिन्न), तन्तुमान्, दुर्गन्धयुक्त, निरन्तर शूल-युक्त इत्यादि प्रकार का होता है। यह सर्व रोगो का मूल है।

आम की विषरूप में परिणति--यह आम दोषो को प्रकुपित कर रोगो को उत्पन्न करता ही है, साक्षात् भी विष-रूप में परिणत हो रोगोत्पादन मे हेतु होता है। ग्रहणी-प्रकरण में चरकाचार्य कहते है--

अपच्यमानं शुक्तत्वं यात्यन्नं विषरूपताम् ॥

च० चि० १५।४४

संग्रहकार ने भी कहा है--तथाऽन्नपि तेनैव (अग्निना) पक्वममृतता यात्यपक्वं च विषताम् ॥ अ० स० शा० ६

तात्पर्य--जठराग्नि के बल से अन्न परिपक्व हो जाए तो अमृत-रूप होता है। वही अपक्व रह जाए तो शुक्त-भाव (सिरके के सदृश रूप) को प्राप्त हो विषमय हो जाता है।

आधुनिक प्रत्यक्षानुसार अपक्व अन्नपान पर कोथजनक जीवाणुओ की क्रिया होकर विभिन्न सेन्द्रिय अम्ल द्रव्य तय्यार होते हैं; यथा--शुक्ताम्ल, तक्राम्ल, नवनीताम्ल, पायरूविक एसिड आदि। इन सवका स्मरण 'शुक्तत्वं याति' शब्दो द्वारा तन्त्रकार ने किया प्रतीत होता है। विष से जैसे नाना रोग

←--का विपाक सपूर्ण न होने की वात यहाँ लिखी है और जठराग्नि तथा उसके पचन की मर्यादा पच्यमानाशय-पर्यन्त है। आमाशय शब्द का कभी यह व्यापक अर्थ ग्राह्य होता है, इसका उदाहरणान्तर च० सू० २०।८ वचन है। इसमे कफ और पित्त दोनो के मुख्य स्थानो मे आमाशय की गणना है। उसमे पित्त के प्रकरण मे आमाशय का अर्थ निर्विवाद पच्यमानाशय है।

होते हैं, वैसे यह भी अनेक विकार उत्पन्न करनेवाला होता है अतः इसे विष-रूप कहा है। आम अन्न की शुक्तरूपता (अम्लीभाव) यद्यपि अजीर्ण-विशेष विदग्धाजीर्ण में ही होती है तथापि यहाँ केवल उसका ग्रहण न कर अजीर्ण के सभी भेदो का ग्रहण किया जाता है। टीका में चक्रपाणि कहता है—विष-रूपतामिति यथा विषं बहुविकारकारि भवति तथा तद्रूपताम्। अनेन सर्व एवाजीर्णा अवरुद्धा ज्ञेयाः, ये तन्त्रान्तरे "आमं विदग्धं विष्टब्धं कफपित्तानिलैः क्रमात्। अजीर्णं केचिदिच्छन्ति चतुर्थं रसशेषतः इत्यनेनोक्ताः। अजीर्ण के इन भेदो का उल्लेख आगे आएगा ही। पद्यो के अर्थ की स्पष्टता के लिए यहाँ केवल इतना लिख दूं कि—अजीर्ण के सामान्यतया तीन भेद होते हैं—कफ से आमाजीर्ण, पित्त से विदग्धाजीर्ण और वायु से विष्टब्धाजीर्ण। खूबी यह है कि ये अजीर्ण जिस दोष के प्रकोप से उत्पन्न होते हैं उसी दोष का स्वयं भी प्रकोप करते हैं। कोई आचार्य अजीर्ण का चतुर्थ भी भेद मानते हैं—रसशेषाजीर्ण। इसमें अन्न का अल्पमात्र अश रस-रूप में परिणत होना शेष रहता है; उसका प्राय भाग रसरूप हो जाता है।

अम्लीभाव को प्राप्त आम अन्नरस का विष से एक साम्य यह है कि, जैसे विष सूक्ष्म होता है, सूक्ष्म भी स्रोतो और शरीर-परमाणुओ (कोषो) मे प्रविष्ट होने की उसमें शक्ति होती है, वैसे यह अम्ल अन्नरस भी पच्यमानाशय की रसायनियो में प्रविष्ट होकर सर्व शरीर में पहुँच जाता है और रोगो को उत्पन्न करने में समर्थ होता है।

धात्वग्नियो के दौर्बल्य से उत्पन्न आम—

तन्त्रकारो का स्पष्ट कथन है कि, पाचक पित्त इतर पित्तो एव धात्वग्नियों का भी पोषक है। पाचक पित्त के बलाबल पर ही अन्य पित्तो और अग्नियो का बलाबल स्थित होता है। पाचक पित्त को लक्ष्य कर कहा गया है—(तच्च पक्वामाशयमध्यस्थं पित्तं) तत्रस्थमेव चात्मशक्त्या शेषाणा पित्त-स्थानाना शरीरस्य चाग्निकर्मणाऽनुग्रहं करोति—सु० सू० २१-१०[1]—अर्थात् पाचक पित्त अपने स्थान पक्वामाशयमध्य (आमाशय और पक्वाशय के मध्य पच्यमानाशय) में रहता हुआ ही अपनी शक्ति (अग्निबल) के द्वारा पचनादि अग्निकर्म करता हुआ शेष पित्तो, पित्त-स्थानो तथा शरीर को कृतार्थ

१—लघु वाग्भट का वचन भी प्रसिद्ध है—

तत्रस्थमेव पित्ताना शेषाणामप्यनुग्रहम्।
करोति बलदानेन पाचकं नाम तत्स्मृतम्॥

अ० हृ० सू० १२।१२

करता है। परिणामतया, पाचक पित्त का जैसा बल होगा उतना ही वह अन्य पित्तो और शरीर को अग्निकर्म से अनुगृहीत (पुष्टि आदि से सपन्न) कर सकेगा।

चरकाचार्य ने यह बात स्पष्टतर पदो में कही है--

अन्नस्य पक्ता सर्वेषा पक्तृणामधिपो मतः।
तन्मूलास्ते हि तद्वृद्धिक्षयवृद्धिक्षयात्मका॥
च० चि० १५।३९

अन्न-पाचक पित्त सर्व पित्तो (अग्नियो) का अधिपति माना जाता है। कारण अन्य सर्व पित्तो का मूल पाचक पित्त है। उनकी वृद्धि और क्षय (तथा साम्य) पाचक पित्त की वृद्धि, क्षय (और समत्व) के अधीन है। लघु वाग्भट ने इस वस्तु को अधिक विशद करते यो कहा है कि--जाठराग्नि (कायाग्नि) के ही अश धातुओ मे धात्वग्नि नाम से रहते हैं--स्वस्थानस्थस्य कायाग्नेरंशा धातुषु संस्थिता --अ० हृ० सू० ११।३४।

इस बात को समझना सुकर है कि कैसे पाचकाग्नि इतर अग्नियो को बलदान करता है। क्लेदक कफ तथा अन्नपानगत द्रवो से अन्न भिन्न-सघात और जर्जर तो हो जाता है, परन्तु वह सूक्ष्मता, जिसके कारण वह पित्तधरा कला की रसायनियो द्वारा गृहीत हो जाए, सो पाचक पित्त की क्रिया से ही आती है। नवीन विज्ञान की परिभाषा मे कहना हो तो दन्त, क्लेदक कफ आदि से अन्न में 'भौतिक सूक्ष्मता' आती है और पाचक पित्तो के सयोग से 'रासायनिक सूक्ष्मता' उसमें उत्पन्न होती है। हम समयोगयुक्त आहार का सेवन करे तो भी पाचक पित्त बलवान् न होगा तो उसका यह रासायनिक दृष्टया सूक्ष्म पचन पूर्णतया न होने पाएगा। इस स्थिति में शरीर के धातुओ, उपधातुओ और मलो को उनकी पोषक सामग्री सम प्रमाण में उपलब्ध न हो पाएगी। पाचक पित्त की दीप्ति से पुष्ट होनेवाले इन द्रव्यो में मलो के अन्तर्गत पित्त भी एक है। यह रक्त-धातु का मल है। रक्त धातु को अपनी पुष्टि के लिए रस धातु का जो अंश प्राप्त होता है, उससे रक्त की पुष्टि अपनी आवश्यकता और अग्नि-बल के अनुसार हो चुकने के अनन्तर रस धातु का जितना अश शेष रहता है, वह रक्त धातु के लिए अब अनुपयुक्त होने से त्याज्य एवं मलरूप होता है। इस मल से पित्त की पुष्टि होती है, अत. पित्त को रक्त का मल माना गया है। पाचक पित्त प्रदीप्त होगा तो आहार में स्थित धातुओ, उपधातुओ तथा इतर मलो के सदृश धात्वग्नियो, अन्य पित्तो एव स्वयं पाचक पित्त की भी पोषक सामग्री का पचन और विभजन योग्य प्रमाण मे होगा। इस स्थिति मे ही सर्व पित्तो और

धात्वग्नियो की पुष्टि यथावत् होकर उनका बल स्थिर रहेगा। अन्यथा, पाचक पित्त दुर्बल (मन्द) हो तो आहार में तत्तत् धातु आदि की पोषक सामग्री सम प्रमाण में होते हुए भी उनका पचन न होने से वह किट्ट रूप में ही पक्वाशय मे पहुँचा दी जायगी। अत यथार्थ ही कहा गया है कि---पाचक पित्त का जैसा बलाबल होगा वैसा ही बलाबल इतर पित्तो और धात्वग्नियो का भी होगा।

नव्यमत के साहाय्य से इस सत्य को समझने का प्रयत्न करें। इन्सुलीन तथा थायरॉक्सीन क्रमश अग्न्याशय (पेन्क्रियास) और चुल्लिका ग्रन्थि (थायरॉयड) के अन्त स्राव है। इनकी क्रिया का साम्य आयुर्वेदोक्त धात्वग्नियो के साथ स्पष्ट है। इन स्रावो का निर्माण एमाइनो एसिडो से होता है। हमारे आहार में ये द्रव्य स्व-रूपत नही रहते। मास, दाल, दूध प्रभृति में जो प्रोटीनें होती है वे इन एमाइनो एसिडो से घटित होती है। आहार में गृहीत ये प्रोटीनें पाचक पित्त (नव्यमत मे विविध पाचक रसो) द्वारा एमाइनो-एसिडो के रूप में विभक्त हो जाती है। ये एमाइनो-एसिड ही अन्नरस और रसधातु के अङ्गभूत हो अग्न्याशय और चुल्लिका ग्रन्थि मे जाते है तो क्रमश' इन्सुलीन और थायरॉक्सीन का निर्माण करते है। इससे समझा जा सकता है कि, इन अन्त.स्रावो की उत्पत्ति में पाचक पित्त का तथा उसके प्रदीप्त रहने का कितना महत्त्व है। पाचक पित्त या जठराग्नि प्रबल न हो तो प्रोटीनें अपक्व रहकर अन्न के किट्ट के रूप में मलद्वार से बाहर निकल जाती है और इन्सुलीन तथा थायरॉक्सीन सम प्रमाण में बन नहीं पाते।

यही स्थिति आयुर्वेद-मत से पाचक पित्त द्वारा शेष पित्तो और धात्वग्नियो के पोषण के सबन्ध में समझनी चाहिए। केवल पित्तो की बात नही, सभी धातुओ, उपधातुओ और दोषो-सहित सभी मलो किंवा उनसे बने समस्त शरीर की पुष्टि का आधार इस प्रकार यह पाचक पित्त ही है। अतएव सुश्रुत ने सत्य ही कहा है कि---यह पाचक पित्त अपने अग्निकर्म और अपनी शक्ति द्वारा शेष पित्तो तथा समग्र शरीर को अनुगृहीत किया करता है।

पाचक पित्त से शेष पित्तो तथा धात्वग्नियो के पोषण-विषयक इस नियम के उल्लेख का प्रयोजन यह हे कि---आम के प्रसिद्ध लक्षणो में उसकी उत्पत्ति का हेतु जठराग्नि की दुर्बलता को कहा गया है; अर्थापत्ति से उन लक्षणो से यह भी ग्रहण करना चाहिए कि जठराग्नि दुर्बल हो तो प्रकृत्या इतर पित्त और धात्वग्नियाँ भी क्षीण होती है, परिणामतया उनके द्वारा रसधातु का पचन सम्यक् न होने से भी तत्-तत् धातु के आशय में तत्-तत् अपक्व द्रव्य उत्पन्न होते है। उन्हें भी आम कहना चाहिए। सहिताओ में कण्ठरव से धात्वग्नियो की मन्दता से उत्पन्न अपक्व रसधातु को भी आम नही कहा है; परन्तु टीकाकारो ने अपक्व

रस को भी आम कहना चाहिए--यह कहा है। वस्तुत, जठराग्नि के दौर्बल्य से जो आम होता है वह सूक्ष्म न होने से पित्तधरा कला के रसवह स्रोतों में उसकी प्रवेश-क्षमता नही होती, अत उसका ग्रहण और शरीर मे प्रसर न होने से उससे शरीर मे रोगोत्पत्ति होना उतना सभव नहीं। अलवत्ता, महास्रोत में स्थित आम द्रव्यो का उपरिलिखित शुक्तभाव होने से जो विष द्रव्य उत्पन्न होते हैं वे विषवत् सूक्ष्म होने से उनका प्रवेश और प्रसर सुलभ होने मे उनसे तत्-तत् शारीर रोगो की उत्पत्ति होना सभाव्य है। परतु, साक्षात् जिस आम से शारीर रोगो की उत्पत्ति होती है, वह आम धात्वग्नियो की मन्दता के कारण अपक्व रहे रसधातु से उत्पन्न आम ही होना चाहिए।

चक्रपाणि और डल्हन के अधोलिखित वचनो में धात्वग्नियो की दुर्बलता से अपक्व रहे रसधातु को आम कहा गया है--

आम एवेति इवार्थोऽयमेवशब्दः, रक्तादिरूपेणापरिणततया अपक्व इवेत्यर्थः, न तु 'आमाशयस्थः कायाग्नेर्दौर्बल्यादविपाचित.' इत्यादिनोक्तः, तस्य रोगहेतुतयाऽऽमाशयस्थत्वेन च मेदोजनकत्वा-योगात्॥ सु० सू० १५।३२ पर चक्रपाणि

कथं रसश्चापक्वश्चेति विरोधनीयवचनम्? न ह्यपक्वो रसव्यपदेशं लभते। सत्यम्, जाठरेणाग्निना रसः कद्भावेन कृत एव, किन्तु धात्वग्निभिरपाकादाम इत्युच्यते॥ उक्त स्थल पर डल्हन

धात्वग्नियो की दुर्बलता से अपक्व रसधातु भी आम होना चाहिए, इस विषय में जो तर्क हमने ऊपर दिए है वे टीकाकारो के इन वचनो में उपनिबद्ध है। प्राचीन ग्रन्थो में आम के इन दो अर्थो--जाठराग्नि के दौर्बल्य से अपक्व अन्नपान तथा धात्वग्नियो के दौर्बल्य से अपक्व रसधातु--के अतिरिक्त अन्य भी अर्थ बताए है। अब उनका उल्लेख किया जाता है।

आम के अन्य अर्थ--

आमं चानेकविधमाह--

आममन्नरसं केचित् केचित्तु मलसंचयम्।
प्रथमां दोपदुष्टिं च केचिदामं प्रचक्षते॥
च० चि० १५।६३ पर चक्रपाणि धृत तन्त्रान्तर-वचन

अन्ये दोपेभ्य एवातिदुष्टेभ्योऽन्योन्यमूर्च्छनात्।
कोद्रवेभ्यो विपस्येव वदन्त्यामस्य संभवम्॥
अ० हृ० सू० १३।२६

आम के अनेक लक्षण बताए जाते हैं। इनमे प्रथम लक्षण आम अन्नरस (या आम रसधातु) है, जिसका उल्लेख ऊपर कर आए हैं। कई आचार्य मलो (पुरीषादि मलो तथा दोषो) के संचय को आम कहते हैं। कोई प्रथम दोष-दुष्टि को आम कहते हैं। और अन्य आचार्य कहते हैं कि, जैसे कोद्रवो से विष की उत्पत्ति होती है वैसे अति दुष्ट दोष परस्पर सयुक्त (मूर्च्छित) होते हैं तो उनके इस समूर्च्छन से आम की उत्पत्ति होती है।

आम के ये अनेक अर्थान्तर होते हुए भी प्रथम मत ही प्रसिद्ध है। आयुर्वेद में अन्य प्रकरणो मे भी आम शब्द पक्व के विरोधी के रूप मे ही प्रयुक्त हुआ है; जैसे व्रण-प्रकरण में आम तथा पक्व व्रण। सो, यहाँ भी आम का अपक्व अन्न या अपक्व रस अर्थ ही प्रधानतया ग्राह्य है।

आमेन तेन संपृक्ता दोपा दूष्याश्च दूपिताः।
सामा इत्युपदिश्यन्ते ये च रोगास्तदुद्भवाः॥

अ० हृ० सू० १३।२७

इस आम से संयुक्त (मिश्रित) हुए वातादि दोष तथा उनसे दूषित हुए रसादि दूष्यों को एव उनसे उत्पन्न रोगो को साम कहा जाता है। इसके विपरीत वातादि दोष एवं रसादि दूष्य आम-रहित हो तो उन्हे तथा उनसे उत्पन्न रोगो को निराम कहा जाता है।

नव्य मत से आम की व्याख्या—

ऊपर कहा है कि, आम के अनेक लक्षण होते हुए भी अग्नि की दुर्बलता से जिसकी उत्पत्ति होती है वही वैद्य समाज मे आम नाम से प्रसिद्ध है। नवीन मत से इसका साम्य किन द्रव्यो से है यह दर्शाना उपयुक्त प्रतीत होता है।

प्रोटीन आदि आहारौषध द्रव्यो का जाठराग्नि तथा धात्वग्नियो द्वारा पाक (रासायनिक रूपान्तर) होकर अन्त को तत्-तत् मल मे परिणति होती है। यथा—प्रोटीनो की जठर में एमाइनो एसिडो के रूप में और धात्वग्नियो द्वारा यूरिआ के रूप मे तथा कार्बोहाइड्रेटो और स्नेहो की जल एवं कार्बन डाई ऑक्साइड (अङ्गाराम्ल) के रूप मे परिणति होती है। दोनो मे किसी भी अग्नि की मन्दता से यदि अन्तिम द्रव्य (एण्ड-प्रोडक्ट) न बनकर मध्यवर्ती (इन्टरमीडिअरी) अर्धपक्व द्रव्य बनें तो इन्हें आम कह सकते हैं। जैसे, प्रोटीन के अपूर्ण पाक से यूरिक एसिड बनता है जिसका सन्धिवात मे सन्धियो मे स्थानसंश्रय होता है। कार्बोहाइड्रेटो और स्नेहो के असम्यक् पाक से तक्राम्ल (लेक्टिक एसिड) बनता है। मधुमेह आदि में कार्बोहाइड्रेटो का पाक अपूर्ण रह जाने से एवं अनशन मे

उनकी उपलब्धि ही न होने के कारण स्नेह द्रव्यो के अर्धपक्व अम्ल द्रव्य उत्पन्न होते है। स्नेहो का पाक अधूरा रह जाने का कारण यह है कि आधुनिक प्रत्यक्षानुसार कार्बोहाइड्रेटो के पाक की सपूर्णता हो तो ही स्नेहो का पचन भी संपूर्ण होता हे। अन्यथा अर्धपक्व अम्ल द्रव्य उत्पन्न होते है। इन द्रव्यो के नाम ये है—बीटा-हाईड्रॉक्सी-व्युटिरिक एसिड, एसिटो-एसिटिक एसिड (पर्याय-डाई-एसिटिक एसिड) तथा एसीटोन। इनका मिलित नाम 'कीटोन्स' या 'कीटोन बॉडीज' हे। रस-रक्त में इनके प्रवेश को कीटोसिस या कीटोनीमिआ कहते है। प्रमेहाधिकार में आयुर्वेद में प्रमेहो के जो उपद्रव वताए है उनमें मूर्च्छा को पित्तज उपद्रव कहा गया हे। नव्यमतानुसार मूर्च्छा कीटोसिस के कारण होती हे। इसके कारण-भूत 'कीटोन्स' सव अम्ल होते है। इसी कारण कीटोसिस को कभी एसिडोसिस या एसिडीमिआ भी कहा जाता है। एसिडोसिस अन्य अम्लो के रस-रक्त में प्राचुर्य के कारण भी होता हे, यथा कार्वन-डाई-ऑक्साइड की प्रचुरता होने से। अस्तु। कीटोन-बॉडीज अम्ल होने से उन्हें आयुर्वेदीय परिभाषा में पित्त-वर्गीय कहा जा सकता हे, एव इन अम्ल द्रव्यो के रस-रक्त में आधिक्य के कारण मधुमेह में होनेवाली मूर्च्छा (डायाविटिक कॉमा) को प्रमेह के आयुर्वेदोक्त उपद्रवो में परिगणित मूर्च्छा कह सकते है। डायाविटिक कॉमा का साम्य पित्तज मूर्च्छा से दर्शाने में प्रयोजन यह है कि 'डायाविटिक कॉमा' नाम से जिसका विनिश्चय किया गया हो उस मूर्च्छा में नव्यमताभिभूत हो ग्लुकोज देने के स्थान पर आयुर्वेद के इस अधिकार में कहे उपचार आजमाए जाएँ तो कुछ नवीन उपलब्धि होने की सभावना की जा सकती है। आयुर्वेद में भी तत्-तत् शर्करा को पित्त, तथा पित्तज मूर्च्छा आदि रोगो मे हितकर कहा है, यह सत्य यहाँ स्मरण किया जा सकता है।

व्यवसायोपयुक्त होने से प्रकरणान्तर करके भी इतना उल्लेख किया। अव पुनः नव्यमतानुसार अन्य आम द्रव्यो का निर्देश किया जाता है।

पेशियो की चेष्टा के परिणामस्वरूप तक्राम्ल (लेक्टिक एसिड) सर्वदा उत्पन्न होकर रस-रक्त में प्रविष्ट होता रहता है। अमुक रासायनिक क्रिया द्वारा इसकी अन्तिम मल द्रव्यो मे परिणति होकर उनका तत्तत् वहिर्मुख द्वार से निर्हरण होता है[1]। आमवात (रूमेटिज्म) में इस क्रिया में वाधा उत्थित होकर पेशियो में तक्राम्ल का स्थानसश्रय (सचय) होता है। इन्सुलीन के हीनयोग से या यकृत् के विकारवश द्राक्षाशर्करा का ग्लायकोजन में परिणमन नही होता। उसे भी आम द्रव्य कहा जा सकता है। प्रमेहो में इस आम

१—विस्तार के लिए देखिए आयुर्वेदीय क्रियाशारीर, पृ० २१३।

द्रव्य से लसीका (सीरम) दूषित होती है। इस कारण प्रमेही (विशेषतया मधुमेही) पुरुषो के व्रण या क्षत शीघ्र भर नही आते। अन्य भी प्रमेह-स्वभावी पुरुषो की लसीका में यही दुष्टि होती है। इनके भी व्रणो का पाक सुलभ और रोपण देर से हुआ करता है। इस स्वभाव के कारण गुजराती में ऐसे पुरुषो के रक्त को 'पाकणियु लोही' कहा जाता है। परम्परागत वैद्य ऐसे पुरुषो को हुए व्रण, क्षत, अस्थिभङ्ग, अस्थिभ्रंश आदि में यथायोग्य लङ्घन करा शरीर को निराम कर सिद्धिलाभ करते है। वैद्यो को इन तथा अन्य रोगो मे निर्भय होकर लङ्घन की इस लुप्त परपरा को अपनाना चाहिए। यह भी यहाँ समझा जा सकता है कि—प्रमेह के दूष्यो में लसीका की गणना तन्त्रकारो ने की है, उसका प्रयोजन क्या है? जैसा कि ऊपर देखा, प्रमेहो में लसीका दोषाक्रान्त होती है। उसके कारण इन रोगियो के व्रण आदि में पाक आदि का स्वभाव होता है। उसे लक्ष्य में रखने के लिए सूत्र रूप में एक लसीका को स्मृति में रखना उपयोगी मान कर प्राचीनो ने उसकी गणना प्रमेह के दूष्यो में कर दी है। अब आगे देखिए।

याकृत पित्त (बाइल) के रञ्जक द्रव्यो के अन्त्र में पाक से अन्त को वह द्रव्य बनता है जिसके कारण मल का विशिष्ट वर्ण होता है। यह पाक अपूर्ण रह जाने से विविध अर्धपक्व रञ्जक द्रव्य बनते है, जिनके कारण विशेषतः कुमारो में (बच्चो में) हरे-पीले दस्त होते है। रक्त के रञ्जक द्रव्य हीमोग्लोबीन के अर्धपक्व समास (यौगिक) बनें तो रक्त में जो विकृति होती है उसे मेटहीमोग्लोबीनीमिआ (या सल्फहीमोग्लोबीनीमिआ) कहते है। आमाशयादि में प्रोटीनो का पाक अपूर्ण रह जाने से उनकी एमाइनो एसिडो के रूप में परिणति न होकर जो अर्धपक्व द्रव्य (पेप्टोन तथा प्रोटीओज) बनते है वे भी आम द्रव्य है। इसी प्रकार इन आम द्रव्यो पर पक्वाशय मे कोथ-जनक जीवाणुओ की क्रिया होकर जो इडोल, स्केटोल, हायड्रोजन सल्फाइड, मिथेन, उदजन, स्नेहाम्ल आदि अम्ल, फिनोल (कार्बोलिक एसिड), एमोनिया आदि दुर्गन्ध-युक्त या दुर्गन्ध-रहित विभिन्न स्वरूपो वाले द्रव्य उत्पन्न होते हैं वे भी आम-संज्ञक ही समझे जा सकते है। एमाइनो-एसिडो पर जीवाणुओ की क्रिया से उत्पन्न होने वाला हिस्टेमीन नामक प्रसिद्ध द्रव्य तथा दो द्रव्य जिन्हें अपने अन्तर्गत आने पर वृक्क मूत्रद्वार से बाहर न निकाल दें तो रक्तदाब की वृद्धि होती है, वे भी आम द्रव्यो में परिगणनीय है।

रसधातु का पाक किसी भी कारण अधूरा रह जाने से वैद्यक-मत से ऊर्ध्व-जत्रुगत द्वारो से कफ अधिक निकलता है। यह कफ भी आम है। कफ मे म्यूसीन-नामक प्रोटीन होता है। उसका पूर्णपाक होकर शरीर धातुओ के

लिए उपयुक्त प्रोटीन मे परिणति नही हो पाती है, यह कल्पना करनी चाहिए। रोग-बीजो द्वारा उत्पन्न किए विष या आगन्तु विष क्षमता (शरीर एव मन की रोगप्रतिकारक शक्ति) द्वारा अ-प्रतिकृत होकर शरीर में स्थानसंश्रय किए रहे––विभिन्न प्रकार से नष्ट किए जाकर वाहर न निकाल दिए जाएँ––तवतक आम ही कहे जाने चाहिए।

इस द्रव्य-परम्परा को इसी दिशा मे कल्पना द्वारा और भी बढाया तथा पूर्ण किया जा सकता है। अधिक विवेचन वाचको के लिए छोडकर इतना ही कहकर इस प्रकरण को समाप्त किया जाता है कि––आयुर्वेद मे वात, पित्त, कफ तथा ओज के सदृश आम का भी निर्देश सर्वत्र एक वचन में होने पर भी और वायु और पित्त 'एक' ही है यह स्पष्ट उल्लेख होने पर भी यदि उन्हें नव्य मत से समझने का प्रयास करना हो तो इनमें प्रत्येक को समान धर्मो वाले अनेकानेक द्रव्यो का एक-एक वर्ग मानना उचित होगा। यहा नव्य मत से जितने भी अर्धपक्व द्रव्य दिए गए है उनपर आम का शास्त्रोक्त लक्षण घटित होने से उनमें प्रत्येक आम-पदवाच्य है। अर्थापत्ति से आम के अनेक प्रभेद होने से आम को भी वातादि दोष और ओज के समान नव्यमतप्रतिपादित नाना द्रव्यो का वर्ग मानना चाहिए। इस वर्ग के शेष द्रव्यो का भी अनुसन्धान किया जा सकता है।

सामता-निरामता के ज्ञान की आवश्यकता––

वात, पित्त, कफ, पुरीष, व्रण और ज्वरादि विभिन्न रोग साम हो तो उनमें कौन लक्षण होते है तथा वे ही निराम हो तो उन्हे किन चिह्नो से पहचाना जा सकता है इसका निर्देश आगे प्रकरणानुसार किया जाएगा। इन्हें जानने की आवश्यकता इस कारण है कि ऊपर कहे वातादि साम अवस्था में हो तो तथा वे निराम हो तो दोनों अवस्थाओं में उनका उपचार पृथक् होता है। एवं एक अवस्था मे अन्य अवस्था का उपचार करने का परिणाम अनिष्ट होता है।

ग्रहणी-चिकित्साधिकार में चरकाचार्य ने कहा है––

शरीरानुगते सामे रसे लङ्घनपाचनम् ॥
च० चि० १५।७५

अग्निविकार-जनित साम रस यदि शरीर में व्याप्त हो तो लङ्घन और पाचन द्वारा उसका पचन करना चाहिए। पचन का एक स्मरणीय परिणाम यह होता है कि धातुओ में लीन (अनुत्क्लिष्ट, वहा चिपट कर बैठा) दोष ऐसी स्थिति में आ जाता है कि वहां संसक्त हो रह नही सकता, प्रत्युत निकलने को प्रवृत्त होता है। मलक्षेपण जिसका कर्म है वह वायु इस प्रकार उत्क्लिष्ट अर्थात् उखड़ कर अपने वहिर्द्वार से निकलने को उन्मुख दोषो को उनके महास्रोतोगत

अपने-अपने उद्भव और सचय के स्थान के प्रति प्रेषित करता है और वमन या विरेचन के रूप मे निकटवर्ती द्वार से बाहर निकाल देता है।

सर्व उपाय करके दोषो को उत्क्लिष्ट करना प्रथम आवश्यक होता है। तदनन्तर ही वमनादि संशोधन देना चाहिए। अन्यथा नाना अनिष्ट परिणाम शरीर को पीडित करते है। एक उदाहरण से इस बात को स्पष्ट करे। कफ-प्रधान ज्वर के उपचार के प्रकरण में चरकाचार्य कहते है--

कफप्रधानानुत्क्लिष्टान् दोपानामाशयस्थितान्।
बुद्ध्वा ज्वरकरान् काले वम्यानां वमनैर्हरेत्[1] ॥

च० चि० ३।१४६

ज्वर कफ-प्रधान हो तो उसकी तरुण या अतरुण किसी भी दशा में वमन द्वारा कफ का संशोधन विधेय होता है। वमन के पूर्व यह अनिवार्य है कि दोष समग्र शरीर का परित्याग कर केवल आमाशय में आकर स्थित हो गया हो। अपरच, मलक्षेपणकर्मा वायु की प्रेरणा से उसका उत्क्लेश नाम बहिर्गमनोन्मुखत्व, जिसकी प्रतीति हृल्लास (लालास्राव) आदि से होती है, वह व्यक्त हो गया हो। कफ का या अन्य दोषो का भी उत्क्लेश कभी स्वय अर्थात् चिकित्सक-कृत उपचारों के विना हो जाता है। जिन स्थितियो मे दोष शरीर का परित्याग कर महा-स्रोतोगत अपने अपने सचय स्थान पर आजाते हैं और उत्क्लेश के लक्षण उत्पन्न करते है उनका उल्लेख इसी ग्रन्थ में पहले (पृ० १८८–१९२ पर) कर आए हैं। दोपो का इस प्रकार स्वतः उत्क्लेश न हो तो स्नेहन-स्वेदन द्वारा उन्हें उत्क्लिष्ट किया जाता है। इन उपचारो का विवरण आगे यथास्थान दिया जाएगा। जिन अवस्थाओ में दोष स्वय उत्क्लिष्ट हो जाते है उनमें भी कभी यथावश्यक अल्प स्नेहन-स्वेदन करना पड़ता है। इस प्रकार उत्क्लेश के लक्षण उदित होने पर, वमन का काल उपस्थित हो गया जान कर, रोगी वम्य हो (गर्भिणी आदि वमन के अयोग्य न हो) तो वामक द्रव्य देकर दोष का संशोधन करना चाहिए। दोष उत्क्लिष्ट न हो तो जो विपरिणाम होते है उनका उल्लेख करते आगे चरक कहते है--

---

१--अविशेषेण तरुणातरुणज्वरेऽवस्थाविधेयं वमनमाह-कफप्रधानानित्यादि। उत्क्लिष्टानिति हृल्लासादिना बहिर्गमनोन्मुखान्। आमाशयस्थितानिति सर्व-शरीरं परित्यज्यामाशयगमनं दर्शयति। काले इति यथोक्तायामवस्थायाम्। × × अत्र च वमने स्वयमेवोत्क्लिष्टत्वाद्दोषस्य दोषोत्क्लेशप्रयोजनकौ स्नेह-स्वेदौ न क्रियेते, अल्पौ वा क्रियेते ॥ चक्रपाणि

अनुपस्थितदोषाणां वमनं तरुणे ज्वरे ।
हृद्रोगं श्वासमानाहं मोहं[1] च कुरुते भृशम् ॥

च० चि० ३।१४७

ज्वर तरुण हो, एव दोष अभी उपस्थित न हुए हो--अर्थात् आमाशय में आ न पहुँचे हो--इस अवस्था में वमन दिया जाएगा तो हृद्रोग, श्वास, आनाह (कब्ज) तथा मोह (मूर्च्छा, पाठान्तर मे कास) इन विक्रियाओ को उत्पन्न करता है।

प्रसगवश रोगमात्र मे अनुत्क्लिष्ट दोषो के सशोधन के विषय में रखने योग्य सावधानी का निर्देश करते महर्षि आगे कहते हैं--

सर्वदेहानुगाः सामा धातुस्था असुनिर्हराः ।
दोषाः फलानामामानां स्वरसा इव सात्ययाः[2] ॥

च० चि० ३।१४८

इसी पद्य की अनुकृति में लघु वाग्भट ने कहा है--

सर्वदेहप्रविसृतान् सामान् दोषान्न निर्हरेत् ।
लीनान्[3] धातुष्वनुत्क्लिष्टान् फलादामाद्रसानिव ॥
आश्रयस्य हि नाशाय ते स्युर्दुर्निर्हरत्वतः ॥

अ० हृ० सू० १३।२८

दोनो वचनो का समुदित तात्पर्य यह है कि--दोष सर्व शरीर मे--शरीर के सूक्ष्म सिरा, स्नायु, त्वचा आदि में---व्याप्त हो, परन्तु साम होने के कारण धातुओ मे स्थिर (स्त्यान) होकर लीन (श्लिष्ट, चिपटे हुए) हो, चलायमान न हो, अन्य शब्दो में उनका उत्क्लेश न हुआ हो तो उनका सशोधन न करना चाहिए। जैसे आम (अपरिपक्व) आम्र आदि फल से स्वरस निकालने का परिणाम यह होता है कि एक तो उनसे रस उत्तम प्रकार से निकलता नही, दूसरे

१--'कासं च कुरुते भृशम्' इति पाठान्तरम् ।

२--सर्वदेहानुगा इति सूक्ष्मसिरास्नाय्वाद्यनुगता । ('सूक्ष्मसिरा त्वगाद्यनुगता' इति पाठान्तरम्) । सामा इति सामत्वेन स्त्याना अप्रचलाश्च । धातुस्था इति धातुषु अत्यन्तानुप्रवेशव्यवस्थिता । न सुखेन निर्ह्रियन्ते इति असुनिर्हरा । किंवा असून् प्राणान् निर्हरन्ति इति असुनिर्हरा ० ० । सात्यया इति सव्यापद· ॥ चक्रपाणि

३--लीनान् श्लिष्टान् । अरुणदत्त ।

स्वयं फल का ही पीडनादिवश विनाश हो जाता है वैसे आम दोषो के सशोधन का प्रयास करने से उनका सशोधन तो होता नही, उलटे अनेक व्यापत्तिया (हानियाँ) होती है किवा, आश्रयभूत शरीर का ही नाश (मरण) होता है। अतः, दोष साम हो तबतक उनका निर्हरण न करना चाहिए। किन्तु—

पाचनैर्दीपनैः स्नेहैस्तान् स्वेदैश्च परिष्कृतान्।
शोधयेच्छोधनैः काले यथासन्नं यथाबलम्[1] ॥

अ० हृ० सू० १३।२९

पाचन, दीपन, स्नेहन और स्वेदन उपचारो के द्वारा दोषो को शोधन के योग्य बनाकर जो मार्ग निकट हो उससे, रोगी के बलानुसार शोधन द्रव्य बलानुरूप प्रमाण में दे कर दोषो का शोधन करें।

हेमाद्रि कहता है कि—पाचन द्रव्यो से आम दोषो का पचन होता हे, दीपन उपचारो से वे जिन धातुओ में लीन (श्लिष्ट, सक्त) होकर स्थित होते है उनसे पृथक् किए जाते है, स्नेहन से उनका उत्क्लेश हता है, स्वेदन से वे कोष्ठ में लाए जाते हैं (देखिए पाद-टिप्पणी)

ज्वर का भी उपचार-क्रम सामान्यतया यही बताया गया है—

ज्वरादौ लङ्घनं प्रोक्तं ज्वरमध्ये तु पाचनम्।
ज्वरान्ते भेपजं दद्याज्ज्वरमुक्ते विरेचनम्॥

ज्वर की चिकित्सा करते हुए सामान्यतया आरम्भ मे दोष के पाचन के लिए, एव ज्वर मे प्रथम दूष्य रस धातु को तथा स्थान आमाशय को लक्ष्य मे रखते हुए लङ्घन कराना चाहिए। ज्वर के मध्य में पाचन, ज्वर का वेग मन्द हो जाने पर ज्वर-प्रत्यनीक औषध और ज्वर की मुक्ति होने के अनन्तर विरेचन द्रव्य देना चाहिए। यह उत्सर्ग (सामान्य नियम) है। इसके अपवाद भी है, जिनका निर्देश आगे ज्वराधिकार में किया जाएगा।

कायचिकित्सा-साध्य अन्य रोगो में भी इसी प्रकार साम-निराम भेद से चिकित्सा-भेद होता है। शल्यतन्त्र मे भी व्रणादि के आम, पच्यमान और पक्व भेद से चिकित्सा में भिन्नता होती है। दोष तथा शरीर साम हो ऐसी दशा में औषध दिया जाएगा तो आम के हेतुभूत अग्निमान्द्य के कारण औषध का भी पचन न होने से आम में, परिणामतया रोग में, वृद्धि ही होगी। इसके विपरीत दोष को निराम किया जाए तो वह स्वय शरीर को छोड़ने को प्रवृत्त होता है, जिससे

१—परिष्कृतान् शोधनयोग्यता नीतान। तत्र पाचनै· पक्वत्वम। दीपनैर्धातुभ्य पृथक्त्वम्। स्नेहैरुत्क्लिष्टत्वम्। स्वेदै कोष्ठगतत्वम्—हेमाद्रि।

रोग का बल बहुत घट जाता है। उस समय औषध की विशेष आवश्यकता नहीं होती, या स्वल्पमात्र औषध कार्यक्षम होती है। कालिदास ने सुन्दर पदों में उस स्थिति का वर्णन किया है—

निरामकस्य हि भेषजानि ।
भवन्ति भुक्तान्यमृतोपमानि ॥

शरीर निराम हो ऐसी अवस्था में औषध दिया जाए तो वह अमृततुल्य सिद्ध होता है।

अस्तु। प्रतिरोग प्रकरण में उस-उस रोग के साम-निराम भेद से चिकित्सा-भेद का उल्लेख आएगा ही। प्रस्तावना-रूप से इतना निर्देश कर अब रोगों के अन्य वर्गों का विचार किया जाता है।

शस्त्रसाध्य तथा स्नेहादि क्रियासाध्य रोग[1]

आयुर्वेद के आठ अङ्गों में किसी का भी विषयभूत कोई भी रोग हो, उसे दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है शस्त्रसाध्य तथा स्नेहादि क्रियासाध्य। छेदन, भेदन, विस्रावण (जलोदर आदि में जल-निर्हरण) इत्यादि रूप से शस्त्रों या जलौका-प्रभृति अनुशस्त्रों से जिनका उपचार किया जाता है उन भगन्दर, ग्रन्थि आदि रोगों को शस्त्रसाध्य कहते हैं। स्नेहन, स्वेदन, वमन, विरेचन, वस्तिकर्म, लेप आदि क्रियाओं से जिनकी शान्ति होती है ऐसे रोगों को स्नेहादि क्रियासाध्य रोग कहा जाता है। उनमें शस्त्रसाध्य रोगों में कभी स्नेहादि क्रिया भी आवश्यक होने से करनी पड़ती है। परन्तु जो रोग स्नेहादि क्रिया-साध्य होते हैं उनमें शस्त्रकर्म नहीं किया जाता।

वस्तुत भगन्दर, नाडीव्रण, गिलायु (टॉन्सिल) आदि कई रोग शस्त्रसाध्य अतएव शल्यतन्त्र के विषय कहे गए हैं, तथापि उनमें केवल औषधोपचार भी सफल होता है। आधुनिक पद्धति में जिन्हें शस्त्रसाध्य कहा गया है ऐसे पित्तज शूल (आमाशय या ग्रहणी के व्रण), तरुण अश्मरी, कभी-कभी उण्डुक पुच्छविद्रधि, पूयमेहज मूत्रकृच्छ्र, मूत्रग्रन्थि (प्रॉस्टेट की वृद्धि), राजयक्ष्मा आदि रोगों में आयुर्वेद-मत से औषध चिकित्सा भी सफल होती है। मूढ गर्भ में जहाँ शल्य-चिकित्सा आवश्यक मानी जाती है वहाँ भी औषधोपचार से प्रसव के उदाहरण सुने जाते हैं। इन्हें प्रकाश में लाना चाहिए।

अवस्था-भेद से रोग औषध-साध्य या शस्त्र-साध्य होते हैं। यथा—अश्मरी के लिए कहा है कि वह तरुण (नयी) हो तो औषध-साध्य होती है,

---

१—स्थल सु० सू० २४।३

पुरानी हो गयी हो तो शस्त्रसाध्य---औषधैस्तरुणः साध्यः प्रवृद्धश्छेदमर्हति सु० चि० ७।३। जलोदर की चिकित्सा करते हुए प्रथम विस्रावण करना चाहिए, उसके पश्चात् ही औषध-चिकित्सा का विधान प्राचीनो ने किया है। विस्रावण में शस्त्र की आवश्यकता होने के कारण ही जलोदर की गणना शस्त्र-साध्य रोगो में प्राचीनों ने की है। साप्रत वैद्य जलोदर मे विस्रावण को प्राधान्य नही देते। आरम्भ से ही औषध देने लगते है।

नव्य चिकित्सा में देखते है---रोगो का प्रस्तुत वर्गीकरण स्थिर नही रहता। उण्डुक-पुच्छ-विद्रधि शस्त्र-साध्य तथा सर्जरी की अङ्गभूत व्याधि थी। अव 'एण्टीवायोटिक्स' के युग में वह औषध-साध्य तथा मेडिसिन का अङ्ग हो गई है। राजयक्ष्मा में विभिन्न प्रकार से फुफ्फुसो के पीडन को महत्त्व दिया जाए तो वह शस्त्र-साध्य होता है, एटीवायोटिक्स के उपयोग की दृष्टि से वह औषध-साध्य रोग है। जलोदर आदि में आधुनिकोक्त तीव्र मूत्रल द्रव्य देकर जल का निर्हरण किया जाए तो वह औषध-साध्य रोग का उदाहरण बन जाता है। मूत्रग्रन्थि का आरम्भ हुआ हो तो पर ओज के अन्त.स्राव (पेरेन्ड्रीन) की सूची-वस्ति से लाभ होता है। इससे गुण न हो या वृद्धि अधिक हो गयी हो तो वह शस्त्र साध्य होती है। इन दृष्टियो से इस वर्गीकरण पर बहुधा विचार वाचक-वर्ग कर सकते है।

रोगो का यह वर्ग सुश्रुतोक्त है। चरक ने रोगो का तो नही, परन्तु उनकी चिकित्सा (औषध) का इससे मिलता-जुलता विभाग किया है[1]। भेद केवल यह है कि, स्नेहादि-क्रियासाध्य रोगो के आभ्यन्तर और वाह्य प्रयोग के भेद से उसने दो भेद कर दिए है। इस प्रकार औषध (चिकित्सा) के उसने तीन भेद किए है---अन्तः परिमार्जन (आभ्यन्तर) बहिः परिमार्जन (वाह्य) तथा शस्त्रप्रणिधान। इनका विवरण आगे चिकित्सा के वर्गीकरण के प्रसग में करेंगे।

प्राकृत-वैकृत रोग[2]---

दोषो के ऋतुकालिक संचय और प्रकोप का जो प्रत्यक्ष-दृष्ट क्रम शास्त्र में वताया गया है तदनुसार जिस ऋतु में जिस दोष का सचय-पूर्वक प्रकोप होकर जो रोग उत्पन्न होना चाहिए उस ऋतु में उसी दोष का प्रकोप और उससे उत्पन्न

१---स्थल च० सू० ११।५५।

२---स्थल माधवनिदान, पञ्चनिदान, श्लोक ५ पर मधुकोप, च० चि० ३।४२, च० चि० ३।४८--४६ तथा इन पर चक्रपाणि-कृत टीका।

रोग हो तो प्रकोप और रोग दोनों को प्राकृत कहते हैं। यथा—वसन्त ऋतु में प्रकुपित कफ तथा कफज रोग, शरद् ऋतु में प्रकुपित पित्त तथा पित्तज रोग एवं प्रावृट् (चौमासे के आदिम दो मास) में प्रकुपित वात तथा तज्जन्य वातज रोग प्राकृत कहे जाते हैं। इसके विपरीत, वसन्त में पित्त या वात का, प्रावृट् में कफ या पित्त का तथा शरद् में कफ या वायु का प्रकोप और उससे कोई रोग उत्पन्न हुआ हो तो उसे वैकृत कहते हैं।

रोगों की सुखसाध्यता आदि जानने में इन संज्ञाओं का प्रयोग होता है। साध्यासाध्यता के प्रकरण में हमने देखा है कि—जिस ऋतु में जिस दोष का प्रकोप ऋतु-स्वभाववश होना निर्दिष्ट है उस ऋतु में उसी दोष के प्रकोप से कोई रोग हो तो वह सुख-साध्य नहीं होता। कारण, ऋतु का उस दोष के प्रकोप के अनुकूल (प्रकोपक) स्वभाव उस दोष को अधिक प्रकुपित करता है, जिससे ऋतु-कृत बल पाकर दोष बलवत्तर हो जाता है और आत्म-कृत रोग को कृच्छ्र-साध्य बना देता है। यह उत्सर्ग (सामान्य नियम, रूल) है। ज्वर इसका अपवाद है। तथाहि—

प्राकृतः सुखसाध्यस्तु वसन्तशरदुद्भवः।

च० चि० ३।४८

वसन्त ऋतु में हुआ प्राकृत ज्वर (कफज ज्वर) सताप (ज्वरमान) मन्द होते हुए भी वायु के कफ से आवृत होने के कारण अति दौर्बल्यवश एवं शरद में हुआ प्राकृत ज्वर (पित्तज ज्वर) तीव्र ज्वरमान, वमन आदि के कारण बहुत क्लेशदायी और उद्वेजक होता है, तथापि वह सुखसाध्य ही होता है। नव्य मत से ये ज्वर प्राय क्रमश इन्फ्लुएंजा तथा मेलेरिया होते है। इन ज्वरो के विपरीत, प्रावृट् में हुआ प्राकृत ज्वर (वातिक ज्वर) प्राय दुःसाध्य होता है प्रायेणानिलजो दुःख.—च० चि० ३।४८।

इन ज्वरो की सुखसाध्यता-कृच्छ्रसाध्यता की व्याख्या आगे ज्वर-प्रकरण में करना अधिक संगत होने से वही करेंगे।

रोगो के प्रमुख वर्ग : : निज तथा आगन्तु

आयुर्वेद में नाना दृष्टियो से रोगो का जो विभाग (वर्गीकरण) किया गया है उसका निर्देश गत अध्यायो में हमने किया है। सग्रहकार कहते हैं कि—रोगो का अनेकश वर्ग-विभाग किया जाए तो भी अन्त को उनको निज और आगन्तु इन दो वर्गों से पृथक् नही किया जा सकता—सुबहुशोऽपि च भिद्यमाना व्याधयो निजागन्तुतां न व्यभिचरन्ति—अ० स० सू० २२। रोगो के इन दो भेदो को प्राथमिक भेद समझना चाहिए।

सातवाँ अध्याय

आयुर्वेदाभिमत प्रमाण

अथातः प्रमाणविज्ञानीयमध्यायं व्याख्यास्यामः। इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः॥

प्रमाण का अर्थ——

गत अध्यायो में आयुर्वेदीय सिद्धान्त-विषयक जो जानकारी दी गयी है तथा आगामी अध्यायो में जिसका उल्लेख किया जाएगा, उस सबका ज्ञान जिन प्रत्यक्षादि से होता है उन्हें प्रमाण या हेतु कहा जाता है। प्र उपसर्ग पूर्वक मा (प्रमा) धातु का अर्थ है——तत्त्व या यथार्थ ज्ञान की उपलब्धि। उसके जो साधन या करण हो उन्हें प्रमाण कहते है। आयुर्वेद-शास्त्र में ही नहीं, इतर प्राचीन-अर्वाचीन शास्त्रो में भी उनके सिद्धान्तो के ज्ञान के साधन प्रत्यक्षादि प्रमाण ही होते है। यह और वात है कि शास्त्र-भेद से अभिमत प्रमाण और उनकी संख्या में भिन्नता होती है। उदाहरणतया, चार्वाक एक ही प्रमाण मानते है——प्रत्यक्ष · प्रत्यक्षमेकं चार्वाकाः।

तन्त्राभिमत प्रमाण——

रोगविषयक जानकारी के साधनो के प्रसग में आचार्यो ने अधोलिखित पाँच साधनो का निर्देश किया है——प्रत्यक्ष, अनुमान, आप्तोपदेश, उपमान तथा युक्ति[1]। युक्ति का कही-कही अनुमान में अन्तर्भाव कर उसकी गणना नही की गयी है। उपमान का उतना प्रयोग रोगविज्ञान मे नहीं होता, यह हम उसकी व्याख्या के प्रसंग में देखेंगे। अतएव उसकी कही-कही उपेक्षा की गयी है। रोगी की परीक्षा के प्रकरण में आप्तोपदेश का साक्षात् उपयोग नही होता, केवल आप्तोपदेश-जनित प्रत्यक्ष और तदाश्रित अनुमान का ही उस काल में उपयोग होता है। अत कही आप्तोपदेश का स्मरण प्रमाणो में करते हुए भी परीक्षा में उसकी गणना नही भी की गयी। जहाँ किया गया है उसका कारण आप्तोपदेश

१——स्थल च० वि० ४।३-१२, च० वि० ८।३३, ३९-४२, ८३, च० चि० २५।२२-२३, च० सू० ११।७-८, १८-२५, २७, च० वि० ७।३-८, सु० सू० १।१६; सु० सू० १०।४-५, ७, अ० सं० सू० २२, २३, इन स्थलो पर चक्रपाणि तथा डल्हन की टीकाएँ।

के विवरण में हम देंगे। इस प्रकार युक्ति, उपमान और आप्तोपदेश तीन का ग्रहण न करे तो प्रमाण किंवा उनके द्वारा परीक्षा दो प्रकार की, और आप्तोपदेश का ग्रहण करे तो परीक्षा तीन प्रकार की होती है।

रोग-परीक्षा में पञ्चेन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष और प्रश्न का साक्षात् महत्त्व होने से इन्ही प्रमाणो को दर्शन, स्पर्श और प्रश्न इन तीन प्रकारो में विभक्त किया गया है। अनुमान इन्हीं से उत्पन्न होने के कारण उसका अन्तर्भाव इन्ही में हुआ समझ लिया गया है।

सुबोधता की दृष्टि से इतने सक्षिप्त परिचय के पश्चात् अब इस विषय का शास्त्राश्रित विवरण दिया जाता है।

त्रिविधं खलु रोगविशेषविज्ञानं भवति। तद्यथा—आप्तोपदेशः, प्रत्यक्षम्, अनुमानं चेति ॥ च० वि० ४।३[1]

आयुर्वेद के प्रतिपाद्य रोगो के सबन्ध में जो विविध विज्ञातव्य वस्तुएँ हैं उनके ज्ञान के उपाय, साधन या प्रमाण तीन हैं—आप्तोपदेश, प्रत्यक्ष तथा अनुमान ये तीन प्रमाण कभी तीनो मिलकर रोग-विशेष का ज्ञान कराते हैं कभी दो और कभी एक से ही रोग का ज्ञान होता है। उदाहरणतया अग्निमान्द्य आदि आभ्यन्तर रोगो के ज्ञान में प्रत्यक्ष सदा उपयोग में नही आता।

चरक ने अन्यत्र युक्ति की भी गणना प्रमाणो में की है। उसका यहाँ अनुमान में ही अन्तर्भाव है। चरक-सुश्रुत दोनो ने इन तीन के साथ उपमान की भी प्रमाणतया गणना की है[2]।

आप्तोपदेश

तत्राप्तोपदेशो नामाऽऽप्तवचनम् ॥ च० वि० ४।४

आप्त पुरुष के वचन को आप्तोपदेश, आगम अथवा ऐतिह्य प्रमाण कहा जाता है। जिन पुरुषो का ज्ञान तथा वचन राग-द्वेष किंवा उनके कारणभूत रजस्-तमस् से शून्य हो, अतएव जो निःसशय (निश्चित), शुद्ध, त्रिकालसिद्ध, तथा

१—रोगाणा विशेषो यथावक्ष्यमाणो विज्ञायते येन तद् रोगविशेषविज्ञानम्, उपदेशप्रत्यक्षानुमानरूप प्रमाणत्रयम्। अत्र तु युक्तेरनुमानान्तर्गतत्वादेव न पृथक्करणम्। एतच्च प्रमाणत्रय क्वचिद्रोगे मिलितं, क्वचिद्द्वय, क्वचिदेकं परीक्षायां वर्तते। येन, नान्तरे वह्निमान्द्यादौ प्रत्यक्षमवश्य व्याप्रियते ॥ चक्रपाणि

२—देखिए—च० वि० ८।३३, सु० सू० ११।१६।

वस्तु के सपूर्ण विभागो से संबन्ध रखनेवाला (संपूर्ण, कृत्स्न) हो तथा जिसका वचन (उपदेश, कथन) भी लोको को कर्त्तव्याकर्त्तव्य का ज्ञान कराने एवं कर्त्तव्य में प्रवृत्ति और अकर्त्तव्य से निवृत्ति कराने के शुभ हेतु से ही किया गया हो उन पुरुषो को आप्त कहते हैं। ऐसे पुरुषो के उक्तगुणयुक्त वचनो को आप्त प्रमाण कहा जाता है। इसके विपरीत मत्त (जिसकी बुद्धि मद्यपान आदि से विभ्रान्त हो गयी हो), उन्मत्त (उन्माद रोग पीडित), मूर्ख, राग-ग्रस्त तथा जिसके स्वभाव मे दुष्टता भी मिश्रित हो अथवा जो धूर्त हो ऐसे पुरुष का कहा वचन आप्त अथवा प्रमाण-भूत न समझना चाहिए।

अनाप्त पुरुषो के उदाहरणतया उल्लेख का प्रयोजन है। आगे कहा जाएगा कि रोगी किवा उसके स्वजन-परिजन भी रोग-परीक्षा के प्रसंग पर रोग-विषयक वृत्तान्त का निर्देश करते है। इससे रोग-विनिश्चय मे सुकरता होती है। अत. आयुर्वेद में उन्हें भी प्रमाण (आप्त) मानना चाहिए। कई रोगी तथा उनके स्वजन-परिजन मूढ, सत्त्वसारहीन अथवा ज्ञानत या अज्ञानत रोग का दम्भ (ढोग-मेलिर्गारग) करनेवाले किवा ऐसे ही अन्य अवगुणो से युक्त होते हैं, जिससे उनके वचन रोगादि के विनिश्चय में अश्रद्धेय होने से अ-हेतु होते है। चिकित्सक को ऐसे वृत्तान्त-निवेदको से पद-पद पर सँभलने की आवश्यकता होती है।

लेखक आदि की भी गणना आप्तो में होती है। परन्तु कई वार लेखको के लेखादि अपूर्ण (अधूरे) होते हैं, कई वार अत्युक्ति पूर्ण होते हैं, कई वार प्रत्यक्षादि-प्रमाण-विरुद्ध होते हैं और कई वार तो केवल कल्पना-प्रसूत और अपनी बडाई दिखाने के प्रयोजन से लिखे गये होते है। इसी प्रकार अन्य भी कई दृष्टियो से इनमें दोष होता हे। इन पर विश्वास कर इनका अनुसरण करने से मिथ्या ज्ञान के परिणामो का ग्रास चिकित्सक, विद्यार्थी तथा रोगी को होना पडता है। अनाप्त वाक्यो के इन अनिष्ट परिणामो पर विद्यार्थी की दृष्टि सदा रहे अतः आप्त के साथ अनाप्त के लक्षण भी तन्त्रकार ने वता दिए हैं।

आयुर्वेद का मूल वेद है। अतः प्रथम आप्त वेद ही है[1]। अन्य भी कोई शास्त्र जो वेदानुकूल, सदसद्विवेकशील (परीक्षक) पुरुषो द्वारा निर्मित, शिष्टो को अनुमत एव लोको के अनुग्रह के लिए प्रवृत्त हो उसे भी आप्त कहा जाता है।

आतुर-वचन की भी आप्तोपदेशता—रोग-परीक्षा के समय गुरु आदि से उपार्जित ज्ञान के अतिरिक्त रोगी का वृत्तान्त-निवेदन भी रोग-विनिश्चय में

१—देखिए—च० सू० ११।२७; च० वि० ८।४१।

सहायक होता है। चक्रपाणि कहता है कि इस आतुर-वचन को भी आप्तोपदेश ही कहना चाहिए। इसके साथ हम रोगी के स्वजन-परिजनों द्वारा निवेदित वृत्तान्त को लक्ष्य में रख कर उन्हें भी आप्त तथा उनके वचन को आप्तोपदेश कह सकते हैं। अन्य शास्त्रो में रोगी या उसके स्वजन-परिजन के वाक्य को इस प्रकार आप्तोपदेश नही माना गया है। सो, यह एक उत्तम उदाहरण इस बात का है कि आयुर्वेद का अपना पदार्थ-विज्ञान है—अपना दर्शन है। उसका अध्यापन स्वय आयुर्वेद के ग्रन्थो से कराना चाहिए—कम-से-कम स्नातक कक्षा में। इसके अनन्तर स्नातकोत्तर पाठ्यक्रम में भले तुलना के लिए अन्य शास्त्रो के सिद्धान्तो का भी अध्यापन कराया जाए।

चक्रपाणि का उल्लिखित वचन यह है :—त्रिधा चेत्यनेन व्याधि-परीक्षासमये ह्याप्तोपदेशोऽपि व्याप्रियते ग्रहणीमार्दवस्वप्नदर्शनादि-प्रतिपत्तौ तथा दुरधिगमस्थानसंश्रयादिप्रतिपत्तौ तथा कोष्ठमृदुदारुण-त्वादिपरीक्षायां चातुरवचनरूपाप्तोपदेशोऽपि व्याप्रियत इति दर्शयति ॥ च० वि० ४।५ पर

—रोग-परीक्षा के समय प्रसिद्ध आप्तोपदेश का तो उपयोग होता ही है, साथ ही ग्रहणी की मृदुता (मन्दता), स्वप्न-दर्शन आदि के ज्ञान के लिए, प्रत्यक्ष से दुर्बोध रोग के सश्रय के स्थानादि के ज्ञान के लिए एव कोष्ठ की मृदुता-क्रूरता आदि के ज्ञान के लिए आतुर-वचन (एव स्वजन-परिजन-वचन)—रूप आप्तोपदेश का भी उपयोग होता है।

आप्तोपदेश से—विचक्षणो के लिखे सहिता-ग्रन्थ, भाषण, लेख आदि से यह ज्ञान होता है कि—प्रत्येक रोग का प्रकोपक कारण कौन है, उसका उत्पादक मूल दोष कौन है ; उसकी विशिष्टता क्या है—यथा रोहिणी की दारुणता (घोर, मारक स्वभाव), सन्यास का तत्क्षण उपचरणीय होना इत्यादि ; उसके विप्रकृष्ट कारण क्या है, उसके अधिष्ठान (शरीर, शरीरावयव या मन-रूप स्थान) कौन है, उसमें वेदनाएँ[1] कैसी होती है, उसके लक्षण[1] कैसे होते है ,

---

१-१—रोगी की व्यथाएँ दो प्रकार की होती है। प्रथम—जिनका अनुभव केवल रोगी को होता है (सब्जेक्टिव) , यथा उदर या शिर मे वेदना, दाह, तोद भेद आदि। द्वितीय—जिनका प्रत्यक्ष चिकित्सक या अन्य दर्शक को होता है , यथा, त्वचा या नेत्र की पीतता, उदर का उत्सेध (शोथ) (ऑब्जेक्टिव)। प्रथम प्रकार की व्यथाओ को वेदना कहते है। 'विद' धातु का अर्थ ज्ञान या अनुभव है। रोगी को स्वय प्रतीत होनेवाले कष्टो के लिए यह शब्द लोक मे भी→

उसमें शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध कैसे होते हैं ; उपद्रव कौन होते हैं, उसमें पूर्वरूप कौन से होते हैं ; उसकी वृद्धि, स्थिति या क्षय मे क्या लक्षण तथा कारण होते हैं, उसका उदर्क (अन्तिम फल ; साध्यासाध्यता, प्रॉग्नोसिस, एव किसी अवयव में अथवा उसके कार्य में विकृति आदि परिणाम)[1] कैसा होता है ; उसका नाम क्या होता है ; उसमें योजना (आहारौषधादि) क्या होती है ; उसके प्रतीकार के लिए यह प्रवृत्ति करनी चाहिए--यथा ज्वरारम्भ मे लङ्घन-पाचनादि ; अथवा यह निवृत्ति करनी चाहिए ; यथा नवज्वर में दिवास्वप्न, स्नान आदि की निवृत्ति (परित्याग)[2]।[3]

आयुर्वेद या अन्य किसी भी चिकित्साशास्त्र का अनुशीलन करना हो तो यह ध्यान में रखना चाहिए कि प्राय. एक वस्तु की संपूर्ण जानकारी अनेक ग्रन्थो के मिलित अनुशीलन से ही होती है। युगानुरूप आयुर्वेदीय ग्रन्थ-निर्माण में इस वस्तु पर विशेष लक्ष्य देना आवश्यक हो गया है। आधुनिक शास्त्रो के ग्रन्थो के विषय में भी समझ लेना आवश्यक है कि कई बार अनुभव और ग्रन्थ (टेक्स्ट) में दिए विवरण आदि में भिन्नता देखी जाती है। अतः कभी प्रस्तुत रोगी के लक्षणो में, दिए औषध के परिणाम में तथा अन्य किन्ही बातो में ग्रन्थ में दी गयी जानकारी से कुछ भिन्न स्थिति देखने में आए तो ग्रन्थ पर अन्ध विश्वास न रख अपनी विवेक-बुद्धि का उपयोग कर तत्त्व का विनिश्चय करना चाहिए।

आप्त के विषय में न्यायदर्शन के वात्स्यायन-भाष्य में एक बहुत ही व्यवहारोपयुक्त तथा आयुर्वेद-शास्त्र में व्यवह्रियमाण सत्य का निरूपण किया गया है। आप्त का लक्षण देकर भाष्यकार कहते हैं : ऋष्यार्यम्लेच्छानां समानं लक्षणम्। तथा च व्यवहाराः प्रवर्तन्ते।--अर्थात्, आप्त का जो लक्षण दिया गया है वह ऋषियो, आर्यो तथा म्लेच्छों सब पर समान भाव से घटित होता है। लोक-व्यवहार मे भी इन सभी को आप्त मान कर कार्य किया

←प्रख्यात है। द्वितीय प्रकार की व्यथाओ के लिए **लक्षण** सज्ञा है। 'लक्ष' धातु का अर्थ देखना, प्रत्यक्ष करना सुविदित है। अँग्रेजी मे इनके लिए क्रमश सिम्टम तथा साइन इन पदो का व्यवहार होता है।

१--उत्तर (अन्तिम) फल या परिणाम को **उर्दक** कहते हैं। **उर्दकः फलमुत्तरम्**--अमर का वचन है। साध्यासाध्यता, मृत्यु आदि परिणामो को दर्शानेवाला यह शब्द है, ऐसा प्रामाणिको का वचन है।

२--निवृत्तियो के लिए अँग्रेजी मे 'नॉटस' शब्द प्रख्यात है।

३--देखिए--च० वि० ४।६, इस पर चक्रपाणि, अ० सं० सू० २२।

जाता है। आयुर्वेद के तन्त्रकर्त्ताओ ने भी इसी पथ का अनुसरण किया है। वे कहते है--

न चैव ह्यस्ति सुतरमायुर्वेदस्य पारम्। तस्मादप्रमत्तः शश्वद्भियोगमस्मिन् गच्छेत्। एतच्च कार्यम्। एवंभूयश्च वृत्तसौष्ठवमनसूयता परेभ्योऽप्यागमयितव्यम्। कृत्स्नो हि लोको वुद्धिमतामाचार्यः, शत्रुश्चावुद्धिमताम्। अतश्चाभिसमीक्ष्य वुद्धिमताऽमित्रस्यापि धन्यं यशस्यमायुष्यं पौष्टिकं लौक्यमभ्युपदिशतो वचः श्रोतव्यमनुविधातव्य च ॥ च० वि० ८।१४

आयुर्वेद का पार सुतर (जिसे सरलता से तरा जा सके ऐसा) नहीं है। अत· अप्रमत्त (सावधान) हो इसकी उपलब्धि के लिए अविरत उद्योग करना चाहिए। साथ ही इसका अनुष्ठान (व्यवहार में उपयोग) भी करना चाहिए। पर-शास्त्रवादी किवा शत्रु भी यदि कोई सद्वृत्त की बात कहे तो आप्त (आगम) मान कर उसे ग्रहण करना चाहिए। कारण, वुद्धिशाली के लिए समग्र विश्व ही आचार्य है। (इस प्रसग मे दत्तात्रेय भगवान् को स्मरण किया जा सकता है, जिन्होने पशु-पक्षियो को भी गुरु वना कर उनसे वोध प्राप्त किया था।) इसके विपरीत वुद्धिहीनो को सर्वत्र शत्रु ही दीखते है। इन सव वातो का विचार कर, वुद्धि-सपन्न पुरुष को चाहिए कि शत्रु भी यदि पुण्य, यश प्रद, आयु के लिए हितावह, पुष्टिकर एव लोकाभिमत वचन कहे तो उसे सुने और सुन कर आचरण करे।

वस्तुत· आयुर्वेद में गोपालो, अजपालो, अविपालो तथा वनेचरो से भी वनौषधियो का परिचय प्राप्त करने का उपदेश किया गया है। आयुर्वेद के मूल वेदो में तो वराह, नकुल आदि प्राणियो के भी जीवन का अनुसधान कर यह जानने का उपदेश किया है कि वे किस रोग मे किस वनौषधि की योजना करते हैं[1]।

आप्तोपदेश का प्राथम्य--

यह सिद्ध है कि, आप्तोपदेश से रोग-विषयक सपूर्ण जानकारी प्राप्त होगी तभी प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और युक्ति का प्रसर होगा।--

त्रिविधे त्वस्मिन् ज्ञानसमुदाये पूर्वमाप्तोपदेशाज्ज्ञानं, ततः प्रत्यक्षानुमानाभ्या परीक्षोपपद्यते। किं ह्यनुपदिष्टं पूर्वं यत्तत् प्रत्यक्षानुमानाभ्या परीक्षमाणो विद्यात् ॥ च० वि० ४।५

१--वेद का प्रकृत सूक्त 'आयुर्वेदीय हितोपदेश' (वैद्यनाथ प्रकाशन) मे अविकल उद्धृत किया गया है।

प्रत्यक्ष, अनुमान और आप्तोपदेश इन तीन प्रमाणो में प्रथम आप्तोपदेश से ज्ञान प्राप्त होता है, पश्चात् रोगी उपस्थित होने पर प्रत्यक्ष और अनुमान से परीक्षा की जाती है। कारण, स्पष्ट है कि उपदेश द्वारा प्रथम रोग-विषयक ज्ञान न उपार्जित किया हो तो प्रत्यक्ष किस का और अनुमान भी किस का किया जाएगा ?

इस प्रकार आप्तोपदेश द्वारा जिन्होने ज्ञान प्राप्त कर लिया है उनके लिए परीक्षा में दो प्रमाण होते हैं——प्रत्यक्ष तथा अनुमान। अथवा उपदेश की भी गणना करें तो परीक्षा तीन प्रकार की होती है[1]।

आप्तोपदेश को ग्रहण कर परीक्षा का त्रैविध्य क्यो स्वीकार किया इसकी व्याख्या करता चक्रपाणि कहता है कि गुरु-वचन रूप आप्तोपदेश का परीक्षा में साक्षात् उपयोग नहीं होता, तथापि आतुर-वचन-रूप आप्तोपदेश का तो साक्षात् प्रयोग परीक्षा-काल में होता ही है। अतः उसे भी साथ लेकर परीक्षा त्रिविध मानी गयी है। चक्रपाणि का यह वचन हमने ऊपर उद्धृत किया है। रोग-परीक्षा में दोनो ही आप्तोपदेशो का महत्त्व है। इनमें भी तत्काल एव साक्षात् उपयोगी होने से द्वितीय आप्तोपदेश का महत्त्व विशेष है। इसीसे रोग-परीक्षा में इसे प्रश्न-परीक्षा (इंटेरोगेशन) नाम से स्थान दिया गया है। प्रश्न-परीक्षा से ज्ञेय विषयो का निर्देश आगे करेंगे। इसके पूर्व शेष प्रमाणो का लक्षण दिया जाता है।

प्रत्यक्ष-प्रमाण

प्रत्यक्षं तु खलु तद्यत् स्वयमिन्द्रियैर्मनसा चोपलभ्यते ॥

च० वि० ४।४[2]

प्रत्यक्षं नाम तद्यदात्मना चेन्द्रियैश्च स्वयमुपलभ्यते। तत्रात्मप्रत्यक्षाः सुखदुःखेच्छाद्वेषादयः। शब्दादयस्त्विन्द्रियप्रत्यक्षाः ॥

च० वि० ८।३९[3]

१——देखिए——४ वि० ४।५, च० वि० ८।८३ तथा चक्रपाणि-टीका।

२——स्वयमिन्द्रियैर्मनसा चेत्यनेन यदात्मनेन्द्रियैश्चक्षुरादिभिरव्यवधानेन गृह्यते रूपादि तत्प्रत्यक्षमिति बाह्य प्रत्यक्ष गृह्णाति। मनसा चेत्यनेन च मनसाऽव्यवधानेन यदुपलभ्यते सुखादि तच्च मानसं प्रत्यक्ष गृह्णाति।। चक्रपाणि

३——आत्मनेति मनसा। तेन मानसप्रत्यक्ष सुखाद्यवरुध्यते। इन्द्रियैश्चेत्यनेन बाह्यं गृह्यते। स्वयमुपलभ्यत इति साक्षादुपलभ्यते। अनेन→

आत्मा, मन, इन्द्रिय और उसके अर्थ (विषय) का व्यवधान-रहित (साक्षात्) सबन्ध[1] होने पर तत्काल जो व्यक्त (सशय-रहित और निश्चित) ज्ञान होता है उसे एव मन का अपने विषयो से सबन्ध होने पर स्वय मन को जो तत्काल तथा व्यक्त ज्ञान होता है उसे प्रत्यक्ष ज्ञान कहते हैं। इस ज्ञान का अन्य वस्तु के ज्ञान में प्रयोग होता है तो इसे प्रत्यक्ष प्रमाण कहा जाता है। ज्ञान का साधन केवल मन है या मन-सहित इन्द्रिय इस वात के भेद से प्रत्यक्ष दो प्रकार का होता है। शब्द, स्पर्श आदि इन्द्रियो के विषयो के प्रत्यक्ष को वाह्य प्रत्यक्ष कहते हैं तथा सुख, दु.ख, इच्छा द्वेष आदि मानस विषयो के प्रत्यक्ष को मानस प्रत्यक्ष कहते हैं। प्रत्यक्ष से ज्ञेय विषयो का निर्देश आगे करेगे। अव अगले प्रमाण अनुमान का लक्षण देखिए।

अनुमान प्रमाण तथा युक्ति

अनुमानं नाम तर्को युक्त्यपेक्षः ॥ च० वि० ४।४, ८।४०

युक्ति-पूर्वक परोक्ष पदार्थ का जो ज्ञान होता है उसे अनुमान कहते हैं। युक्ति का अर्थ है लिङ्ग (हेतु) का साध्य से नियत सवन्ध---युक्तिः संबन्धोऽविनाभाव इत्यर्थः। तेनाऽविनाभावजं परोक्षज्ञानमनुमानमित्यर्थः---च० वि० ४।४ पर चक्रपाणि[2]। जैसे आगे अनुमान से ज्ञेय विषयो की गणना करते कहेंगे कि---अग्नि के वल का अनुमान रोगी की जरणशक्ति (पचनशक्ति) से करना चाहिए। इस उदाहरण में जरणशक्ति के मन्द, मध्य तथा तीक्ष्ण भेदो का नियत संबन्ध अग्नि के यथासख्य तीन भेदो मन्द, मध्य तथा तीक्ष्ण से होता है। सो इस नियत सबन्ध के आधार पर जरणशक्ति इन तीन भेदो में से किस प्रकार की है यह देख कर परोक्ष अग्नि-वल का तारतम्य जाना जाता है। यही प्रकार अनुमान के अन्य उदाहरणो में भी समझना चाहिए। अनुमान तथा युक्ति के लक्षणो के विषय में अन्य ज्ञातव्य 'आयुर्वेदीय पदार्थ विज्ञान' में देखिए।

←--चेन्द्रियव्यापारे सत्यपि यदनुमानविज्ञान तदसाक्षात्कारित्वान्न प्रत्यक्षमिति दर्शयति। चक्रपाणि

प्रत्यक्ष के लक्षण के लिए सु० सू० १।१६ पर डल्हन की टीका भी देखिए।

१---यहाँ 'व्यवधान-रहित' विशेषण को उपलक्षण समझना चाहिए। च० सू० ११।७-८ मे कहे प्रत्यक्ष की अनुपलब्धि के अन्य कारणो को भी इससे गृहीत समझना चाहिए।

२---साधन (लिङ्ग, हेतु) को साध्य के विना---उसके अभाव मे---न रहना अविनाभाव कहाता है।

अनुमान से ज्ञेय विषयो का निर्देश आगे किया जाएगा। अब अगले प्रमाण उपमान का लक्षण देखिए।

उपमान प्रमाण[1]

किसी प्रसिद्ध (सुपरिचित) वस्तु के सादृश्य से अन्य वस्तु का जो ज्ञान होता है, उसे उपमान या औपम्य कहते है। उपदेश-काल मे अमुक रोग, द्रव्य आदि सुलभ न होने से गुरु दिखा न सके हो, परन्तु यह रोग या द्रव्य इस वस्तु के सदृश होता है इतना परिचय दे दिया हो, और दैवात् वह रोग या द्रव्य व्यवसाय-काल मे प्रत्यक्ष हो तो गुरूपदिष्ट सदृश वस्तु के साधर्म्य (सादृश्य) से चिकित्सक स्वय जान लेता है कि इस रोग या द्रव्य का यह नाम है। इस प्रकार उसकी वुद्धि में स्थित संज्ञा (रोग या द्रव्य आदि का नाम) तथा सज्ञी (पदार्थ) का परस्पर सवन्ध का ज्ञान कि, इस सज्ञा का व्यवहार इस संज्ञी के लिए होता है, सादृश्यवश अनायास होता है। इस रीति से दण्डक[2] का ज्ञान, नाम इस रोग की दण्डक सज्ञा है, यह ज्ञान दण्ड के सदृश उसका स्वरूप देख कर होता है। इसी प्रकार धनुष के साम्य से धनुः स्तम्भ का, माष के साम्य से मषक (त्वचा के मस्से) का, तिल के साम्य से तिलकालक (तिल, जो त्वचा में होते है, उन) का, विदारी कन्द के सादृश्य से विदारी रोग का, शालूक (कमल का कन्द) के साम्य से पनसिका का एवं लक्ष्य-भ्रष्ट न होनेवाले धनुर्धर के सादृश्य से सुचिकित्सक का ज्ञान होता है।

शास्त्र से उपमान से संज्ञासंज्ञि संवन्ध के ज्ञान के अन्य भी उदाहरण दिए जा सकते हैं। यथा मुद्ग या माष के पत्रो के समान जिन वनौषधियो के पत्र हो उन्हें मुद्गपर्णी, माषपर्णी कहा जाता है। तिलपर्णी, शालिपर्णी, अजगरी, वाराही इत्यादि अन्य अनेक वनौषधियो के नाम भी इसी प्रकार उपमान-ज्ञेय है।

परीक्षा-त्रैविध्य

पाँच ज्ञानेन्द्रियों तथा मन से होनेवाला द्विविध प्रत्यक्ष, अनुमान, युक्ति, उपमान तथा आप्तोपदेश—रोग-परीक्षा के साधन या प्रमाण हैं। इनके लक्षणों का ऊपर निर्देश किया गया। इन साधनो या प्रमाणो से रोगी की जो परीक्षा की जाती है उसे तीन विभागो में पूर्वाचार्यो ने विभक्त किया है : दर्शन, स्पर्शन

१—स्थल च० वि० ८।४२, सु० सू० १।१६ तथा इन पर चक्रपाणि और डल्हन।

२—अपतानक (टिटेनस) का एक भेद, जिसमे शरीर दण्डवत् स्तब्ध हो जाता है; अथवा इसी लक्षणवाला आम विष का एक भेद, जिसे दण्डालसक भी कहा जाता है।

और प्रश्न। आधुनिकोक्त रोग-परीक्षा का 'इन्स्पेक्शन' प्राचीनो का दर्शन है, 'पेल्पेशन' तथा 'पर्कशन' का अन्तर्भाव प्राचीनो के स्पर्शन में है। पर्कशन का निर्देश प्राचीनो ने उदर-परीक्षा मे 'आकोठन' नाम से किया है। आधुनिको का 'इन्टरोगेशन' प्राचीनो का प्रश्न है।—

दर्शनप्रश्नसंस्पर्शैः परीक्षा त्रिविधा मता ॥

च० वि० २५।२२

अनुमानं च यद्यपि परीक्षाधिकारे प्रोक्तं 'द्विविधा परीक्षा ज्ञानवता प्रत्यक्षमनुमानं च' (च० वि० ४।१५ ; च० वि० ८।८३), तथाऽप्यत्रानुमानस्य प्रायो व्यापाराभावात् अनुपादानमिति ब्रूते। किन्तु दर्शनादिपूर्वकत्वादनुमानस्य दर्शनादिना अनुमानमप्यतीन्द्रियादिषु ग्राहकं संगृहीतमिति युक्तं पश्यामः। दर्शनशब्दश्चात्र साक्षादुपलब्धिवचनः, तेन व्रणगतगन्धेनापि व्रणपरीक्षणं संगृहीतं भवति। दर्शनशब्देन च गृहीतोऽपि स्पर्श इह भूयसा व्याप्रियमाणत्वात् पुनरुक्तः ॥ चक्रपाणि

आतुरगृहमभिगम्य, उपविश्य, आतुरमभिपश्येत् , स्पृशेत् पृच्छेच्च। त्रिभिरेतैर्विज्ञानोपायै रोगाः प्रायशो वेदितव्याः ॥ सु० सू० १०।४

षड्विधो हि रोगाणां विज्ञानोपायः ; तद्यथा—पञ्चभिः श्रोत्रादिभिः प्रश्नेन चेति[1] ॥ सु० सू० १०।४

१—सुश्रुत-संहिता के ऊपर दिए वचन मूल मे देखे तो प्रतीत होगा कि प्रथम वचन एकीय मत (पूर्वपक्ष) है और वह आचार्य को अभिमत नही है। उसका निषेध कर तन्त्रकार ने "षड्विध" आदि उत्तर पक्ष (अपना पक्ष) रखा है। तन्त्रकार ने एक-दूसरे के पूरक-सदृश इन मतो को मतभेद का स्वरूप कैसे दे दिया, समझ नही आता। जिसे उसने पूर्वपक्ष कहा है उसमे परीक्षाओ के प्रकार बताए गए है तथा उत्तरपक्ष मे इन परीक्षाओ के साधन कहे है। स्वय तन्त्रकार ने इसी अध्याय के सातवे पद्य मे दर्शन, आख्यान (प्रश्न का उत्तर) तथा इन दोनो के अनुसार परिमर्श (विचार, अनुमान) शुद्ध होने पर जो भार दिया है, वह भी इस बात का गमक है कि—तन्त्रकार को परीक्षाएँ दो ही अभिमत हैं—प्रत्यक्ष तथा प्रश्न अथवा अनुमान के साथ तीन। इनमे प्रत्यक्ष से प्रथम वचन मे कथित दर्शन-स्पर्शन का ग्रहण है। →

दर्शनस्पर्शनप्रश्नैः परीक्षेताथ रोगिणम् ॥

ऊपर प्रत्यक्ष और अनुमान ये दो प्रकार प्रमाणो के कहे गए हैं। आतुर-वचन रूप आप्तोपदेश भी तत्कालोपयुक्त होने से उसका भी ग्रहण कर प्रमाण तीन भी माने जा सकते हैं यह भी ऊपर कह आए है। यहाँ कहे परीक्षा-त्रैविध्य में आतुर-वचन रूप इस आप्तोपदेश का प्रश्न नाम से ग्रहण किया है।

१—**आयुर्वेदीय क्रियाशारीर** मे विपाक के प्रकरण मे भी मैंने दर्शाया है कि सुश्रुत ने उस प्रसग मे भी, जहाँ मतभेद की कोई बात नही है, वहाँ मतभेद खडा कर दिया है। इन उदाहरणो के प्रस्तुत करने का प्रयोजन यह है कि, ऐसे प्रसगो पर वाचक अपनी विवेकिनी वुद्धि का प्रयोग कर सगति लगाने का प्रयास करे। ऊपर इन वचनो का सगति-पूर्वक अर्थ दिया गया है।

जिज्ञासुओ के लिए सु० सू० १०।५ की टीका मे डल्हन ने उत्तम सामग्री दी है। वह लिखता है—सुश्रुत के पञ्जिका टीकाकार गयदास की पुस्तक मे दर्शन आदि तीन ही प्रकार की परीक्षा पठित है। सातवे श्लोक 'मिथ्या दृष्टा विकारा हि' के अन्त मे उसने 'तस्मात् परीक्ष्या ' इत्यादि श्लोक दिया है। (श्लोक का अर्थ यह है कि—व्यवसाय मे नियत सिद्धि की आकाक्षा रखनेवाले वैद्य को सभी रोगो की परीक्षा युक्तिपूर्वक दर्शनादि प्रमाणो से करनी चाहिए।) इस पद्य की व्याख्या मे वह कहता है—'दर्शनादिभि ' शब्द से भी अभीष्ट अर्थ प्राप्त हो जाता, तथापि 'प्रमाणै,' शब्द भी दिया, उसमे प्रयोजन यह है कि—दर्शनादि निर्दिष्ट प्रमाणो के अतिरिक्त प्रमाणो का भी ग्रहण हो सके। इस रीति से गन्ध, रस और शब्द का भी अन्तर्भाव प्रमाणो मे हो जाता है। जिन टीकाकारो ने छहो प्रकार की परीक्षा के उपदेशक शब्द अपनी प्रतियो मे उद्धृत किये हैं उन्हे "सम्यक् शास्त्राववोधो नास्ति"—शास्त्र का उत्तम ज्ञान नही है। 'आत्मसदृशेषु' इत्यादि वाक्य भी पञ्जिकाकार की पुस्तक मे नही है। पञ्जिका टीका-विषयक डल्हन का मूल वचन अधोलिखित है—

पञ्जिकाकारस्तु दर्शनादिपरीक्षा त्रिविधामेव पठति। 'मिथ्यादृष्टा विकारा हि' इत्यादि श्लोकान्ते "तस्मात् परीक्ष्याः सतत भिषजा सिद्धिमिच्छता। युक्त्यैव व्याधय. सर्वे· (र्वे) प्रमाणैर्दर्शनादिभि "—इति श्लोकमधीते, व्याख्यानयति च-दर्शनादिभिरित्येव कर्त्तव्ये यत 'प्रमाणै' इत्यधिक करोति तदधिकप्रमाण-प्राप्त्यर्थम्। तेन गन्धरसशब्दानामप्यवरोध.। ये त्वत्राक्षरैः षड्विधामपि परीक्षा पठन्ति, तेषा सम्यक् शास्त्रावबोधो नास्तीति भाषते। 'आत्मसदृशेषु विज्ञानाभ्युपायेषु तत्स्थानीयैर्जानीयात्, इत्यपि न पञ्जिकाकार· पठति ॥

अनुमान का ग्रहण प्रमाणो में करके भी परीक्षा में उसके द्वारा साक्षात् परीक्षा नही की जाती, अत. उसका ग्रहण नहीं किया। प्रत्यक्ष और प्रश्न के पश्चात् अनुमान का व्यापार स्वत. सिद्ध है, अत. शब्द मे ग्रहण न होने पर भी अनुमान का ग्रहण हो गया समझना चाहिए।

दर्शन-परीक्षा में आई 'दृश्' धातु केवल चक्षुरिन्द्रिय के व्यापार की सूचक नही है। वह ज्ञानेन्द्रियमात्र के व्यापार की बोधक है। सो, दर्शन का अर्थ प्रत्यक्ष-परीक्षा समझना चाहिए। चरक के इसी प्रकरण के पूर्व तथा पश्चात् व्रण के गन्धादि की परीक्षा लिखी है। उसमे 'दृश्' धातु का यह विस्तृत अर्थ लेना सिद्ध है।

'दर्शन' शब्द का व्यापक अर्थ पञ्चेन्द्रिय-कृत परीक्षा लिया जाए तो स्पर्शन का भी ग्रहण स्वय हो जाता है, तथापि 'स्पर्शन' का जो पृथक् उल्लेख किया, उसका कारण यह है कि प्रत्यक्ष परीक्षा में स्पर्श-परीक्षा का व्यवहार विशेष होता है। इसी प्रकार पञ्चेन्द्रिय-कृत परीक्षाओ में भी दर्शन-परीक्षा विशेषत. व्यापृत होती है।

तात्पर्य, प्रत्यक्षादि प्रमाणो से होनेवाली परीक्षा के तीन प्रकार हैं—दर्शन, (आकोठन-सहित) स्पर्शन तथा प्रश्न और इनके आधार पर तथा इनके अनु (अनन्तर) होनेवाला इन्हीं में अन्तर्भूत अनुमान। इन परीक्षाओ के साधनो को लक्ष्य में रख कर सुश्रुत ने कहा है—रोग के विज्ञान के उपाय छ प्रकार के हैं—पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ तथा प्रश्न।

त्रिविधेन खल्वनेन ज्ञानसमुदायेन पूर्वं परीक्ष्य रोगं सर्वथा सर्वमथोत्तरकालमध्यवसानमदोषं भवति। न हि ज्ञानावयवेन कृत्स्ने ज्ञेये ज्ञानमुत्पद्यते। च० वि० ४।५

आप्तोपदेशादि तीनो प्रमाणो किंवा प्रश्नादि तीनो परीक्षाओ का शुद्ध एवं एवं समग्र उपयोग कर रोग और उसके उपचार का जो निश्चय किया जाता है वह अदुष्ट होता है। प्रमाण या परीक्षा के एक देश का उपयोग करने से ज्ञातव्य रोग का संपूर्ण ज्ञान नहीं हो पाता। किं बहुना—

मिथ्यादृष्टा विकारा हि दुराख्यातास्तथैव च।
तथा दुष्परिमृष्टाश्च मोहयेयुश्चिकित्सकम्॥

सु० सू० १०।७

रोग का दर्शन सम्यक् तथा समग्र न हो, प्रश्न-परीक्षा के प्रसंग में दिए गए उत्तर सम्यक् (शुद्ध) तथा समग्र न हो तथा उनका चिन्तन (अनुमान) शुद्ध और

संपूर्ण न हो तो चिकित्सक मूढ (कर्त्तव्यच्युत) हो जाता है--अपने साध्य रोगोपशान्ति को सिद्ध नहीं कर पाता। वस्तुत.--

शास्त्रशुद्ध (साइन्टिफिक) चिकित्सा दर्शन, स्पर्शन और प्रश्न द्वारा प्रकृति, निदान, लक्षण, उपशयानुपशय आदि समस्त परीक्षणीय पदार्थों की सम्यक् और समग्र परीक्षा से ही होती है। वैसे तो रोगी ज्यो ही औषधालय में प्रवेश करता है, वैसे ही उसके अपाङ्गमात्र (आँख के कोने) से दर्शन से ही अनुभवी चिकित्सक उसके विषय में वहुत-सी बातें जान लेता है और प्रायः उसका निदान (स्नैप-डायग्नोसिस) भी कर लेता है, तथापि इस प्रकार की परीक्षा मे कभी-कभी भूल होने की सभावना होती हे। रोगी को भी इससे सतोष नही होता और चिकित्सा की सिद्धि के लिए रोगी का संतोष, तज्जन्य श्रद्धा तथा उसकी स्थिरता का मूल्य अनल्प है। अतः तीनो प्रकार की परीक्षाओ द्वारा रोगी के सबन्ध में संपूर्ण ज्ञातव्य वातें जाननी ही चाहिए। आधुनिक चिकित्सा-शास्त्र के शब्दो का प्रयोग करना हो तो आपाद-मस्तक समस्त सस्थानो की क्रमश परीक्षा करके रोग निदान करना चाहिए।

परीक्षा के लिए प्रत्येक रोग के पूर्वरूप, रूप आदि का उत्तम ज्ञान आवश्यक है। इमसे दशन और स्पर्शन परीक्षा में तो सौकर्य होता ही है, विशेष लाभ तो प्रश्न-परीक्षा में होता हे। रोग-विशेष की सभावना करके एक केन्द्रीय प्रश्न पूछ कर क्रमश· उससे सवद्ध प्रश्नो की परपरा उपस्थित करते जाना चाहिए, जिससे रोगी को भी चिकित्सक के प्रति श्रद्धा हो कि वह रोग को ठीक-ठीक समझता जा रहा है। प्रश्न-परीक्षा में अगले प्रश्न का विचार करने के लिए अटकना रोगी की श्रद्धा का विघात करता है। सो, त्रिविध परीक्षा की पूर्णता के लिए अपना स्वाध्याय और अनुभवजन्य ज्ञान प्रतिदिन और प्रतिक्षण वढे इस हेतु चिकित्सक को अप्रमत्त हो कर गाढ प्रयत्न करते रहना चाहिए।

प्रमाणो तथा परीक्षाओ के लक्षण के सबन्ध में इतना कह कर अव हम इस बात का निर्देश करेंगे कि प्रश्न-परीक्षा आदि द्वारा किन-किन वातो का ज्ञान प्राप्त किया जाता है। गुरूपदेश-रूप आप्तोपदेश से ज्ञेय वातो का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। शेष प्रश्न-परीक्षादि से ज्ञातव्य वातो का उल्लेख यहाँ करते हैं।

प्रत्यक्ष द्वारा रोग-परीक्षा[1]

पाँच ज्ञानेन्द्रियो द्वारा परीक्षा का नाम प्रत्यक्ष परीक्षा है। अपनी

१—स्थल च० वि० ४।७, च० चि० २५।२२, सु० सू० १०।५ इन पर चक्रपाणि तथा डल्लन, अ० स० सू० २२।

रसनेन्द्रिय द्वारा विविध प्रकार से रस की परीक्षा को छोड़ रोगी के शरीर में स्थित अन्य सर्व विषयो की परीक्षा अपनी ज्ञानेन्द्रियो से करनी चाहिए। यथा—अन्त्रकूजन[1], सन्धियो में स्फुटन (चेष्टाकालिक शब्द), अगुली-स्फुटन, रोगी के विभिन्न स्वर; कास, हिक्का, श्वास आदि के शब्दो की परीक्षा श्रवणेन्द्रिय से करनी चाहिए। प्राणवह स्रोतो अर्थात् हृदय-पर्यन्त श्वासमार्ग के शब्दो की परीक्षार्थ सप्रति 'स्टेथोस्कोप' का व्यवहार वैद्यो ने भी अपना लिया है।

शब्द-परीक्षा में शल्यतन्त्र का उदाहरण लेना हो तो कह सकते है कि—धमनी में यदि शल्य प्रविष्ट हो गया हो तो कुपित वायु शब्द-सहित फेनयुक्त रक्त को प्रवृत्त करता हुआ स्वय बाहर निकलता है। श्रोत्रेन्द्रिय ग्राह्य इस शब्द के श्रवण से शल्य के धमनी-गत होने का अनुमान करे।

रोगी के वय, प्राकृत-वैकृत वर्ण, इन्द्रियो के अधिष्ठान, आकृति, शरीर तथा विभिन्न अङ्ग-प्रत्यङ्गो का प्रमाण, प्रभा, छाया, शरीर तथा उसके अङ्ग-प्रत्यङ्ग का उपचय-अपचय, बल (उत्साह तथा व्यायाम-शक्ति), रोग के लक्षण, आयु के लक्षण, शरीर के प्राकृत स्वरूप में हुए कोई भी विकार (परिवर्तन); पुरीष, मूत्र, वान्त द्रव्य एव रोगी के शरीर में स्थित किंवा अन्यत्र स्थित रोग-विषयक अन्य कोई भी ज्ञातव्य जो चक्षुरिन्द्रिय का विषय हो उसे चक्षुरिन्द्रिय से प्रत्यक्ष करना चाहिए।

चक्षुरिन्द्रिय की सहायतार्थ सप्रति रञ्जन-किरण (एक्स-रे), अणु-वीक्षण आदि साधनो का उपयोग प्रवृत्त हुआ है। फुप्फुस, हृदय, महास्रोत आदि की रञ्जन-किरण से परीक्षा सुविदित है, वय की परीक्षा भी इस साधन द्वारा होती है। शलाकास्थियो के प्रान्त (सिरे) जो आरम्भ में तरुणास्थि-रूप होते है, काल-क्रम से अस्थि-रूप होते जाते है। भिन्न-भिन्न शलाकास्थियो के प्रान्त अस्थिमय हो कर शलाकास्थि के काण्ड से सयुक्त होने का काल भिन्न-भिन्न परन्तु निश्चित होता है। अमुक-अमुक निश्चित वय आने पर अमुक-अमुक शलाकास्थि का प्रान्त अस्थिरूप हो अपने काण्ड से सयुक्त होता है। सर्व अस्थियो की रञ्जन-किरण से परीक्षा कर जाना जा सकता है कि किसी कुमार का वय क्या है?

रोगी के सर्वाङ्ग में पाया जानेवाला प्राकृत-भिन्न वैकारिक गन्ध; एवं शकृत् (पुरीष), स्वेद, व्रण आदि के गन्ध को गन्धेन्द्रिय से जानना चाहिए। व्रण अथवा व्रणभिन्न पदार्थो की परीक्षा अरिष्टो के लक्षण जानने मे भी व्यापृत होती है।

१—अँग्रेजी मे बॉर्बोरिग्माई या गर्गलिङ्ग, पेट मे गुडगुडी, गुजराती मे धुधवाटो।

ज्वर, शोथ आदि रोगो मे[1] शीत-उष्ण, श्लक्ष्ण-खर, मृदु-कठिन, स्तम्भ, स्पन्दन आदि प्राकृत या वैकृत स्पर्श की परीक्षा स्पर्शनेन्द्रिय (त्वचा) से करनी चाहिए। नाडी-परीक्षा भी स्पर्श-परीक्षा का ही प्रकार है। इसका स्वल्प विचार इस ग्रन्थ में आगे किया है। वर्तमान मे स्पर्शनेन्द्रिय की सहायतार्थ तापमापक (थर्मामीटर); व्यान-मापक (स्फिग्मोमेनोमीटर)[2] आदि का आविष्कार हुआ है।

आतुर-शरीर-गत रस यद्यपि रसनेन्द्रिय का विषय है तथापि यह घृणित होने से प्रश्न और अनुमान से ही इसका ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। यथा—दोष-भेद से मुख का रस भिन्न-भिन्न होता है। रस द्वारा दोष-प्रकोप के ज्ञान के लिए रोगी को प्रश्न करके उसका ज्ञान प्राप्त करे। शरीर पर यूकाएँ (जूं) सश्रय करें तो शरीर की दुष्टि का अनुमान करे। वे शरीर छोडती हो तो शरीर में प्राकृत रस है, ऐसा समझें। मक्षिकाएँ आकर बैठती हो तो शरीर-माधुर्य का अनुमान करे। यह लक्षण मधुमेह मे होता है। आधुनिको ने माधुर्य का मूल संश्रय रक्त में कह कर इसे 'ग्लायकीमिआ' नाम दिया है। अपत्यपथ आदि मार्गो से प्रवृत्त रक्त जीवरक्त (शुद्ध रक्त धातु) है या रक्तपित्त (पित्त-

---

१—देखिये स्पृष्ट्वा शीतोष्णादीन् स्पर्शविशेषान् विपरीताविपरीतान् ज्वरशोफादिषु—सु० सू० १०।५ मे पाठान्तर।

२—'ब्लडप्रेशर' मापने का यन्त्र यहाँ अभिप्रेत है। हृदय से विक्षेपित द्रव पाश्चात्य-विज्ञान मे 'ब्लड' कहा है, जबकि आयुर्वेद मे रसधातु हृदय से विक्षेपित होती बताई गई है। अत कतिपय विद्वान् रक्तभार, रक्तचाप, रक्ताभिनोदन आदि ब्लडप्रेशर के वाचक शब्दो मे रक्त के स्थान पर रस शब्द का व्यवहार करना योग्य समझते है। आयुर्वेद की दृष्टि मे अधिक सत्य स्थिति यह प्रतीत होती है कि, रक्त या रस का वहन स्वतन्त्र नही होता है। वायु ही उनका वाहक होता है। अत उनके दबाव की परीक्षा से वायु की ही समता, क्षीणता या प्रकोप (नॉर्मल, लो या हाई ब्लडप्रेशर) का प्रत्यय होता है। सो इसे वायु (यहाँ व्यान-वायु)की ही परीक्षा तथा यन्त्र को व्यानमापक या ऐसा ही अन्य नाम देना चाहिए। नाम के आग्रह मे आयुर्वेदिक दृष्टि रखने का प्रमुख कारण यह है कि ब्लड-प्रैशर का विचार हम वायु के साम्य, क्षय और प्रकोप के रूप मे करे तथा चिकित्सा मे मुख्यतया उसे दृष्टि मे रखे। सग्रहकार ने वायु के प्रत्येक भेद के प्रकोप के पृथक् कारण बताए है। उन्हे लक्ष्य मे रख यहाँ व्यानवायु का विचार किया जा सकता है। उनके अतिरिक्त आवरण का भी व्यानवायु के प्रकोप के कारण के रूप मे विचार करना चाहिए।

दूषि. रक्त) यह जानना चिकित्सा के पूर्व आवश्यक होता है। जीवरक्त का स्तम्भन उचित होता है तथा रक्तपित्त में प्रायः उपेक्षा विधेय होती है। एतदर्थ, निर्गत रक्त में कपडा या रुई भिगो कर उसे कौए या कुत्ते को खाने को दें। पित्त से दूषित होने के कारण विकृत रसयुक्त होने से वे इसे न खाएँ तो रक्तपित्त का निश्चय करें, खाएँ तो जीवरक्त मानें। प्रवृत्त मूत्र पर यदि पिपीलिकाएँ (मकौडे या चिऊँटी) बैठें तो मूत्र में माधुर्य (मधुमेह या इक्षुमेह-शीत मेह) का अनुमान करे। नव्यो ने शारीर अथवा मूत्रगत माधुर्य की परीक्षार्थ विविध परीक्षण निश्चित किए है।

विभिन्न ज्ञानेन्द्रियो से होनेवाले प्रत्यक्ष की सहायतार्थ आधुनिको ने तत्-तत् यन्त्रो और उपकरणो का आविष्कार किया हे, यह ऊपर कहा हे। इस विषय में विशेष भार दे कर जतलाने की आवश्यकता हे कि चिकित्सक को इन यन्त्रो तथा परीक्षणो की अपेक्षया अपने नेत्र, श्रवण, स्पर्शादि इन्द्रियाँ द्वारा परीक्षा-शक्ति का अभ्यास विशेष वढ़ाना चाहिए। साथ ही, प्रश्न-परीक्षा को भी सपूर्ण बनाना चाहिए और एतदर्थ रोग-मात्र के लक्षण, पूर्वरूप, निदान, अरिष्ट, उपद्रव आदि का ज्ञान उत्तरोत्तर वढाते रहना चाहिए। अत्यन्त शोचनीय बात है कि प्राचीन-अर्वाचीन उभय पद्धति के चिकित्सको में रोग-परीक्षा में अपनी इन्द्रियो की शक्ति के विकास पर लक्ष्य उत्तरोत्तर न्यून होता जाता है। पुराने अनुभवी चिकित्सक दर्शन-मात्र से जितनी परीक्षा कर पाते है, अनेक साधनो के साथ भी प्राय. आधुनिक चिकित्सक उसका अश-मात्र नही कर पाते, उलटे कितनी ही भूलें करते है। चरक का यह वचन स्मरण रखते हुए अपनी गुण-संपत्ति की अभिवृद्धि के प्रति प्रत्येक वैद्य को सदा ध्यान देना चाहिए--

तस्मात् प्रयत्नमातिष्ठेद् भिपक् स्वगुणसंपदि॥ च० सू० ९।२५

अपनी निरीक्षण-शक्ति को वढाता हुआ सुचिकित्सक अपने रोगियो को निरर्थक प्रयोगशाला-परीक्षाओ के भारी व्यय से भी वचा सकेगा।

प्रत्यक्ष-परीक्षा का विस्तार प्रत्येक रोग के निदान-चिकित्सा के प्रकरणो में आएगा। शेष दो परीक्षाओ में अनुमान प्रत्यक्ष और प्रश्न परीक्षाओ के अधीन होने से प्रत्यक्ष का इतना निरूपण कर अव प्रश्न-परीक्षा से ज्ञेय विषयो का विचार किया जाता है।

प्रश्न द्वारा रोगों का परीक्षा[1]

प्रश्न-परीक्षा द्वारा रोग तथा रोगी के विषय में निम्न वातें ज्ञात होती है।

१—स्थल ' सु० सू० १०।५, तथा डल्हन, अ० स० सू० २२, च० वि० ४।८, च० चि० २५।२३ तथा चक्रपाणि।

१—देश

देश शब्द के दो अर्थ हैं—भूमि और आतुर (रोगी)।

देशस्तु भूमिरातुरश्च— च० वि० ८।९२

देशस्त्रिविधो जाङ्गलानूपसाधारणभेदात् ॥

सु० सू० १०।५ पर डल्हन

भेषजमवचारयन् प्रागेव तावद्देवमातुरं परीक्षेत। कस्मिन्नयं देशे जातः संवृद्धो व्याधितो वा। तस्मिंश्च भूमिदेशे मनुष्याणामिदमाहारजातम्, इदं विहारजातम्, इदमाचारजातम्, एतावद्बलम्, एवंविधं सत्त्वम्, एवंविधो दोषः, एवंविधं सात्म्यम्, इयं भक्तिः, इमे व्याधयः, हितमिदमहितमिदमिति प्रायोग्रहणेन ॥ च० वि० ८।९३, अ० स० सू० २३

आयुर्वेद में भूमि-वाचक देश का प्रसिद्धतर अर्थ दोषो की दृष्टि से किया गया भूमि या स्थल का विभाग है। यही जलवायु आदि नामो से लोक मे विदित है। इन देशो का लक्षण आगे दिया जाएगा। सक्षेप में जाङ्गल, आनूप तथा साधारण ये तीन प्रकार देश के होते है। जाङ्गल देश मे वर्षा न्यून होने से वह शुष्क होता है। अतएव उसमें वात-पित्त के प्रकोप से होनेवाले रोग अधिक होते है। इसे मरु या धन्व देश (सूखी आबोहवा) भी कहते हैं। यह कफ-प्रधान रोगो से पीड़ित रोगियो के प्रवास के लिए अच्छा होता है। आनूप मे वृष्टि अधिक होने से कफज रोगो की सभावना अधिक होती है। यह वात-पित्त रोगाक्रान्त पुरुषो के प्रवास के लिए हितकर है। साधारण मे वृष्टि आदि का स्वरूप मध्य होता है। अत. तीनो दोषो की समता इसमें रहती है। इस प्रकार प्रश्न-परीक्षा से रोगी के निवास या रोगोत्पत्ति के देश का ज्ञान हो जाए तो सामान्यतया किस दोष के प्रकोप से होनेवाले रोग की सभावना हो सकती है, इसका ज्ञान होता है। तदनुसार आवश्यक हुआ तो न्यूनाधिक काल के लिए देश-त्याग (स्थल-परिवर्तन, जलवायु-परिवर्तन) का विनिश्चय किया जा सकता है।

भूमि-वाचक देश का अन्य अर्थ जनपद (राज्य आदि) है। इस अर्थ मे रोगी के देश की परीक्षा करते हुए पूछना चाहिए कि उसका जन्म, वृद्धि अथवा रोगोत्पत्ति किस देश में हुई है? उन देशो के मनुष्यो का आहार, विहार, आचार (रीति-रिवाज), बल, सत्त्व, सात्म्य, भक्ति (रुचि या व्यसन) क्या होता है? उनमें प्रायः कौन से दोष का प्रकोप और कौन से रोग होते है? उन देशो में तथा वहाँ होनेवाले रोगो में क्या आहार-विहार-औषधादि हित (उपशय) होता है

और क्या अहित ? इन सर्व वस्तुओ की स्मृति देश के ज्ञान से हो जाती है। तदनुसार दोष तथा रोग की कल्पना एव योजना की विनिश्चिति का मार्ग प्रशस्त हो जाता है। इन देशो मे भी प्रचलित आहार-विहारादि के अतिरिक्त ये जाङ्गल, आनूप या साधारण इन तीन मे किस कक्षा के है यह भी देखना चाहिए।

देश-विशेष मे प्रयुक्त होनेवाले विशिष्ट अन्नपान का शरीर पर कैसा हिताहित प्रभाव होता है, इसका उत्तम उदाहरण चरक-सहिता मे विमानस्थान के प्रथम अध्याय मे उपलब्ध होता है। पिप्पली, क्षार और लवण के समयोग के सद्गुण बताकर आगे इनके अतियोग से होनेवाली हानियाँ बताई गयी है।[1] इस प्रकरण मे क्षार तथा लवण का अतियोग जिन देशो में होता है उनके निवासियो को होनेवाली शारीर विकृतियो का निर्देश भी किया गया है। इनमें क्षार के समयोग के लाभ दर्शा कर आगे अतियोगादि के विषय में लिखते तन्त्रकार कहते है :

सोऽतिप्रयुज्यमानः केशाक्षिहृदयपुंस्त्वोपघातकरः संपद्यते। ये ह्येनं ग्रामनगरनिगमजनपदाः सततमुपयुञ्जते त आन्ध्यपाण्ढ्यखालित्य-पालित्यभाजो हृदयापकर्तिनश्च[2] भवन्ति, तद्यथा--प्राच्याश्चीनाश्च। तस्मात् क्षारं नात्युपयुञ्जीत॥ च० वि० १।२०

क्षार का अतियोग किया जाए तो वह केश, नेत्र, हृदय और पुंस्त्व का नाश करनेवाला सिद्ध होता है। देखते भी है जिन ग्रामो, नगरो, निगमो (कस्बो) और जनपदो (जिलो) मे इसका सतत सेवन किया जाता है वहाँ के निवासियो मे इन अवयवो के रोग--आन्ध्य (दृष्टि-विकार), षाण्ढ्य (व्यवाय की अशक्ति

१--आजकल जैसे मिर्च के अतियोग की हानियाँ बताई जाती है, वैसे प्राचीनो ने पिप्पली के अतियोग की हानियो का दर्शन किया था। उसी का निरूपण चरक के वचन मे है। लाल मिर्च भारत मे आई, उसके पूर्व अन्नपान मे कटु (तीखे) रस के लिए शुण्ठी, मरिच और पिप्पली का व्यवहार होता था, विशेपतया पिप्पली का। अतएव उत्तर भारत मे कही पिप्पली का स्थान, आज मिर्च ने ले लिया है, इस बात की सूचनार्थ मिर्च को पिप्पली ही कहा जाता है। वैसे ही जैसे अपनी व्याही पुत्री का अवसान हो जाने पर उसके स्थान पर आई अन्य लडकी को पहली के स्वजन पूर्व नाम से ही पुकारते देखे जाते है।

शेष दो द्रव्यो--क्षार और लवण के अतियोग की हानियाँ जैसी चरक नें बताई है उसी प्रकार आज भी उनकी हानियो का प्रतिपादन विशेपतया निसर्गोपचारको द्वारा किया जाता है।

२--हृदयापकर्तिन इति हृदयपरिकर्तनरूपवेदनायुक्ताः। चक्रपाणि

तथा अनपत्यता), खालित्य (गंज), पालित्य (केश पकना) एवं हृदय में परिकर्त्तन-रूप वेदना ये रोग विशेषतः पाए जाते हैं ; जैसे प्राच्य देशों और चीन में। अतः क्षार का अतियोग न करना चाहिए।

आगे लवण के समयोग का साद्गुण्य बताकर अतियोग के अपाय दर्शाते तन्त्रकार ने कहा है—

तदत्यर्थमुपयुज्यमानं ग्लानिशैथिल्य दौर्बल्याभिनिर्वृत्तिकरं शरीरस्य भवति। ये ह्येनद् ग्रामनगरनिगमजनपदाः सततमुपयुञ्जते, ते भूयिष्ठं ग्लास्नवः शिथिलमांसशोणिता अपरिक्लेशसहाश्च भवन्ति। तद्यथा—वाह्लीक-सौराष्ट्रिक-सैन्धवसौवीरकाः। ते हि पयसाऽपि सह सदा लवणमश्नन्ति। येऽपीह भूमेरत्यूषरा देशास्तेष्वोषधिवीरुद्वनस्पतिवानस्पत्या न जायन्तेऽल्पतेजसो वा भवन्ति, लवणोपहतत्वात्। तस्माल्लवणं नात्युपयुञ्जीत। ये ह्यतिलवणसात्म्याः पुरुषास्तेषामपि खालित्य-पालित्यानि वलयश्चाकाले भवन्ति॥ च० वि० १।२१

तत्तद्गुणयुक्त भी लवण का अतियोग किया जाए तो यह शरीर में ग्लानि (हर्ष तथा प्रभा का नाश), शैथिल्य और दौर्बल्य का उत्पादक होता है। देखते भी हैं, जिन ग्रामों, नगरों, निगमों और जनपदों में इसका सतत सेवन किया जाता हैं, वहाँ के निवासी अत्यधिक म्लान-शरीर, शिथिल मांस और द्रव-प्राय रक्तवाले एवं क्लेश के सहन में असमर्थ होते हैं, जैसे वाह्लीक, सौराष्ट्र, सैन्धव और सौवीर इन (प्राचीन) देशों के वासी। वे लोक दूध के साथ भी नित्य लवण का व्यवहार करते हैं।

लवण का यह अतियोग प्राणि-शरीर को ही हानि पहुँचाता हो सो बात नहीं, भूमि पर भी इसकी विक्रिया प्रत्यक्ष देखी जाती है। भूमि के जो भाग अति ऊषर (लवणप्रधान, खारे) होते हैं वहाँ धान्य, लता, वनस्पति और वानस्पत्य होते ही नहीं, होते हैं तो लवण से उपहत (नष्ट) होने के कारण अल्पवीर्य होते हैं। इससे लवण के अतियोग की हानियों को बुद्धिस्थ कर उसके अतियोग से बचना और बचाना चाहिए। समयोग तो लवण का रखना ही चाहिए। उक्त देशों के अतिरिक्त अन्य देशों के वासी भी जो लवण (नमक) का निरन्तर और अति सेवन करते हैं वे भी अकाल में ही (अल्प वय में ही) खालित्य, पालित्य और वली (त्वक्सकोच, झुर्री)—इन वार्धक्य के लक्षणों से आक्रान्त हो जाते हैं[1]।

१—पिप्पली-लवणादि के अतियोग का यह प्रकरण समग्रतया भाषान्तर-समेत मेरे आयुर्वेदीय हितोपदेश (वैद्यनाथ प्रकाशन) मे देखिए। उसी प्रकरण—>

देश-विदेश की रीति-नीति का विचार आज भी इसी प्रकार किया जा सकता है। कदाचित् देशान्तर का रोगी अथवा अचिर काल से देशान्तर का प्रवास कर आया स्वदेश का रोगी चिकित्सक के पास आए। ऐसे प्रसंगों पर चिकित्सा यशस्विनी हो सके इस हेतु देश-विदेश की प्रजाओं, वहाँ के रोगों आदि का परिचय उत्तरोत्तर बढ़ाने का प्रयास चिकित्सक को करते रहना चाहिए।

देश-भेद से रोग-भेद के दो-एक प्रसिद्ध उदाहरण लें। बंगाल में विषम ज्वर तथा उसी का एक भेद, नाम्ना कालाजार, विशेष होता है। अफ्रीका में इसी का एक प्रकार जिसमे मूत्र में नष्ट रक्त की प्रवृत्ति होती है, जिसे अंग्रेजी में 'ब्लैक वॉटर फीवर' कहते हैं, उसकी सम्भावना होती है। कई आनूप देशों में वृद्धि (रस उतरना, फाइलेरियासिस) विशेष होता है, कहीं गलगण्ड प्राय होता है।

किम्बहुना, भूमि-वाचक देश शब्द के दो अर्थ हुए—जाङ्गलादि भूमि तथा भूगोल आदि मे प्रसिद्ध भूमि। इसके अतिरिक्त जैसा कि इस प्रकरण के आरम्भ में कहा गया है—भूमि का अन्य भी अर्थ है—रोगी। रोगी या उसके अवयव-विशेष को देश इसलिए कहा जाता है कि वह चिकित्सा का देश होता है—

आतुरस्तु खलु कार्यदेश: —च० वि० ८।९४।

कार्य-देश आतुर (रोगी) की त्रिविध परीक्षा प्रकृति, विकृति, सार आदि दशविध ज्ञातव्य वस्तुओ के ज्ञान के लिए करनी होती है। इस विषय का विस्तार इस प्रकरण के पश्चात् किया ही जाएगा। यहाँ प्रश्न-परीक्षा के प्रसग मे आतुर-विषयक मुख्य ज्ञेय वस्तु उसका सत्त्व या मनोबल है। विशेषतया स्वजन-परिजन को पूछ कर इसकी परीक्षा करनी चाहिए। रोगी का शरीर और सत्त्व बलवान् (सारवान्) हो तभी उसे रोगारम्भक दोष के प्रमाणानुसार बलवान् औषध यथोचित प्रमाण में दिया जा सकता है अथवा शस्त्रोपचारादि अन्य चिकित्सा की जा सकती है। इसी कारण, विवेकी चिकित्सक अल्पबलवाले आतुरों को ऐसे औषध देते है जो विषाद (शरीर और मन में ग्लानि) न उत्पन्न करें एव जो प्राय मृदु और सुकुमार हो। पश्चात् औषध का बल और प्रमाण (मात्रा) उत्तरोत्तर बढाते जाते है। यह वस्तु स्त्रियो की चिकित्सा करते हुए सविशेष स्मरण में रखनी चाहिए। कारण, उनका हृदय (मन) अत्यन्त मृदु, अगम्भीर और अल्प-मात्र क्लेश से घवरा जानेवाला होता है। स्वभाव से वे सुकुमार तथा अन्य उन्हें धीरज बँधाएँ तभी स्थिरता ग्रहण करनेवाली होती है[१]।

२—मे उन द्रव्यो के अतियोग तथा अन्य प्रज्ञापराधो के हेतु ग्राम्याहार और ग्राम-निवास की गर्हणा का विचार भी देखिए। ग्राम शब्द यहाँ बस्ती के लिए आया है।

१—देखिए च० वि० ८।९४ तथा चक्रपाणि।

सत्त्व की असारता एवं तद्विपरीत सत्त्व-सारता का एक-एक प्रकार-विशेष होता है, जिसे सत्त्व-परीक्षा मे सविशेष स्मरण रखना चाहिए। इस दृष्टि से रोगियो के दो विभाग किये जा सकते है—गुरु व्याधित और लघुव्याधित।

गुरुव्याधित पुरुष उसे कहते हैं जो यत्सत्य गुरु (अधिक दोष, वेदना आदि युक्त) रोग से पीडित होता है, परन्तु सत्त्वबल तथा शरीर-सपत्ति उत्कृष्ट होने से लघु-व्याधित-सा प्रतीत होता है। इसके विपरीत लघुव्याधित पुरुष होते है, जिनका रोग वास्तव में अल्प (अल्प दोष, वेदना, लक्षण आदि वाला) होता है, परन्तु सत्त्व आदि हीन कोटि के होने के कारण वे दृश्य ऐसा खडा करते है जानो कोई बड़ा रोग उन्हें पीडित कर रहा है। विवेक-रहित चिकित्सक केवल बाह्य परीक्षा द्वारा गुरुव्याधित को लघुव्याधित और लघुव्याधित को गुरुव्याधित समझकर मिथ्या चिकित्सा कर देते है। यथा—गुरुव्याधित को अल्पोपाय-साध्य समझ कर, दोष अधिक होने से तीक्ष्ण सशोधन की आवश्यकता होते हुए भी मृदु सशोधन देने की भूल करते हैं और उसके दोषो की सुतरा वृद्धि कर देते है। इसके विपरीत, लघुव्याधित को प्रभूत-दोषाक्रान्त मान कर उसे तीक्ष्ण सशोधन देते है; परिणामतया दोषो का अति निर्हरण हो जाने से उनका (दोषो और मलो. का) क्षय होकर अन्य विपरिणाम होते हैं। कुशल चिकित्सक रोगी की सर्वथा परीक्षा करते है और ऐसी भूल से अपने को बचाते है[1]।

इस प्रकरण मे नवाविष्कृत उन औषधो को स्मरण किया जा सकता है जो दोष को न तो बाहर निकालती है, न ही उसका शमन करती है, प्रत्युत बुद्धि के केन्द्रों पर मोहनात्मक प्रभाव डालकर वेदना को भुला देती है। कई बार तो इन औषधो के उपयोग से दोष और रोग अन्दर ही अन्दर बढता रहता है और अन्त मे प्राणहर सिद्ध होता है। शिरोरोग (शिरोवेदना) के निवारणार्थ प्रयुज्यमान एस्पिरीन आदि कल्प, तथा उदर आदि के विविध शूलो की अप्रतीति के लिए प्रयुज्यमान अहिफेन आदि के कल्प इसी श्रेणी के अन्तर्गत है। वेदनाएँ शरीर में दोष के वैषम्य की सूचक है, इस सर्वतन्त्र सिद्धान्त की उपेक्षा कर दोष का मूलगामी उपचार न कर केवल तात्कालिक सुख की चिन्ता करते हुए इन उपचारो का आश्रय लिया जाता है। आयुर्वेद के उपासक चिकित्सको तथा नागरिको को इस सत्य का जनता मे अधिकाधिक प्रचार करना चाहिए।

कार्य-देश (चिकित्सा का अधिष्ठान)—रूप रोगी के विषय में प्रश्न-परीक्षा से ज्ञातव्य एक वस्तु यह भी है कि, वह किस कल्प के रूप मे (चूर्ण, द्रव, वटी आदि) औषध लेना पसन्द करता है?

१—देखिए—च० वि० ७।३-७, चक्रपाणि, अ० स० सू० २२।

देश के विषय मे इतना विवेचन कर अब प्रश्न-परीक्षा-ज्ञेय अगले विषय काल पर आता हूँ।

२—काल

काल का विचार आगे समग्रतया किया ही जाएगा। यहाँ सक्षेप में इतना जानना चाहिए कि काल के दो भेद है—नित्यग या सवत्सर किंवा ऋतु रूप; तथा आवस्थिक। आवस्थिको द्विविधः स्वस्थस्य बाल्यादिभेदेन, व्याधितस्य ज्वरारम्भादिकालावस्थया च—सु० सू० १०१५ पर उद्धृत। आवस्थिक काल के दो भेद है—बाल्य आदि वय, एव बाल्य के भी क्षीरान्नाद आदि विभाग; तथा ज्वर के उदय का काल आदि रोगो की अवस्थाएँ। काल के दो भेदो में आवस्थिक काल के कई प्रकारो का ज्ञान प्रश्न-परीक्षा से होता है।

वय का ज्ञान प्रश्न से होता है। वय के ज्ञान की आवश्यकता इसलिए है कि, वयोभेद से शरीर में तत्तत् दोष का प्रकोप होकर तज्जन्य रोग प्राय होते है। इस प्रकार बाल्य में कफ का प्रकोप होता है, यौवन में पित्त का तथा वार्धक्य में वायु का। स्वस्थावस्था में भी वय के ज्ञान का उपयोग होता है। यथा, वार्धक्य आने को हो, उसके पूर्व ही अभ्यङ्ग, रसायन चूर्ण आदि रसायन द्रव्यों का सेवन इत्यादि चर्या का अवलम्बन पुरुष करे तो हृद्ग्रह (एन्जाइना), हृच्छूल (कॉरोनरी थ्राम्बोसिस), पक्षाघात, भ्रम (उच्च रक्तभार) आदि रोगो से रक्षित रह सकता है।

बाल्य वय के क्षीराद (स्तन्य-वृत्ति) आदि भेद किये गये है। इनके ज्ञान का निदान-चिकित्सा में उपयोग होता है। बालक क्षीराद या क्षीरान्नाद हो तो माता के स्तन्य का प्रभाव उस पर होता है। अत ऐसे बालक की परीक्षा में माता तथा उसके स्तन्य की भी परीक्षा करनी चाहिए। कभी-कभी माता को विकार स्वल्प ही होता है, पर वही कुमार के लघु शरीर में रोगोत्पत्ति करने में समर्थ होता है। यथा—माता मे पित्त का प्रकोप कदाचित् इतना ही हो कि वह मुख में उष्ण स्पर्श या कटु वस्तुओ का स्पर्श सहन न कर सके पर उससे कुमार के शरीर में ज्वर, अतिसार प्रभृति रोग हो सकते है। माता को केवल अरुचि हो, पर शिशु को इतने से प्रतिश्याय, कास, ज्वर आदि होना सम्भव होता है। रोग का कारण परीक्षा से मातृ-स्तन्य प्रतीत हो तो माता की भी चिकित्सा करना उचित होता है।

बालक-सम्बन्धी ज्ञातव्य काल का एक प्रकार दन्तोद्भेद का काल है। बालक की परीक्षा में दाँत तो नही निकल रहा यह अवश्य पूछना चाहिए। कदाचित् दन्तोद्भेद ही उसके ज्वर, अतिसार आदि किसी भी रोग का कारण हो सकता है। दन्तोद्भेदो हि रोगाणा सर्वेषामेव कारणम्—अमुक-अमुक दन्त अमुक-अमुक

महीने के वय में निकलता है। कई बार अनस्थिसार शिशुओं में दन्तोद्भेद का काल विलम्बित भी हो सकता है। इसके विपरीत अस्थिसार शिशुओं में दन्तोद्भेद सामान्य काल से पूर्व भी हो सकता है। प्रकृति के समान सार भी माता-पिता से ही अपत्य को प्राप्त होता है। परिणामतया एक माता-पिता के बच्चो में दन्तोद्भेद का काल समान ही होता है। अत. नियत वय आने पर भी किसी शिशु को दन्तोद्भेद न हो तो अग्रजो के दन्तोद्भेद का काल प्रश्न द्वारा जानना चाहिए। प्राय. उनमें भी दन्तोद्भेद विलम्बित हुआ विदित होता है।

प्रश्न-परीक्षा से ज्ञेय काल के अन्य उदाहरण ये हैं। रोगी को श्वास, पामा आदि रोग हो और उनके वेग वर्ष में कभी-कभी होते हो तो पूछना चाहिए कि वे किस ऋतु में होते है, दिन तथा रात के किस काल में होते है ? इससे किस दोष का प्रकोप रोग का सनिकृष्ट कारण है यह जानकर तदनुरूप चिकित्सा सुकर होती है। ज्वर-पीडित पुरुष को विषम-ज्वर है या दोषज ज्वर यह प्रथम जानना आवश्यक होता है। इसके लिए वेग तीक्ष्ण है या मन्द , ज्वर सतत रहता है या मोक्ष होता है ; यदि मोक्ष होता हो तो वेगोदय कम्प-सहित तथा मोक्ष प्रस्वेद-सहित होता है या उनके विना ; वेग और मोक्ष के काल निश्चित हैं या अनिश्चित—ये प्रश्न करने चाहिए। इससे चिकित्सा विशुद्ध होती है। ज्वर को हुए कितना काल बीता यह जानने से उसकी सामता-निरामता एव तरुणता-जीर्णता जानने में सहायता प्राप्त होती है। उदर मे शूल हो तो भोजन-काल के साथ उसका क्या सम्बन्ध है, यह जानने से शूल के स्थान तथा कारण-भूत दोष का ज्ञान हो जाता है। शूल भोजन के तत्काल पश्चात् हो तो स्थान आमाशय तथा दोष कफ या पित्त, भोजन के आध-एक घण्टे पश्चात् हो तो दोष पित्त तथा स्थान पच्यमानाशय एवं भोजन के डेढ-दो घण्टे पश्चात् शूल हो तो स्थान पक्वाशय एव मूल दोष वायु है, यह संभावना होती है। आर्तव-प्रवृत्ति सकष्ट हो तो कष्ट के काल के ज्ञान से स्थान का ज्ञान होता है। आर्तव-प्रवृत्ति के दो एक दिन पूर्व वेदना हो तो स्थान आर्तववह स्रोत (फैलोपियन ट्यूब) होता है ; प्रवृत्ति के दिनो में हो तो स्थान गर्भाशय एव प्रवाह चालू हो उस काल कष्ट हो तो स्थान अपत्य-पथ होता है।

इन उदाहरणो से अन्य भी कल्पनाएँ करके समझा जा सकता है कि किस प्रकार काल की रोग के निदान मे उपयोगिता है।

३—जाति

जाति शब्द ब्राह्मण आदि के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। प्राचीन काल में प्रायः जन्मसिद्ध जाति के अनुसार ही व्यवसाय (धन्धा) पसन्द किया जाता था।

अत' जाति शब्द से व्यवसाय का भी ग्रहण स्वय हो जाता था। वर्तमान काल में व्यवसाय जातिगत न रह गया होने से प्रश्न-परीक्षा में उसको पृथक् स्थान दिया जाता है।

व्यवसाय के साथ रोगो का सम्बन्ध कैसे होता है, यह 'सदातुर पुरुष' इस प्रकरण में (पृ० ३०५) पर कर आये है। उससे विदित होगा कि पौरोहित्य, शिक्षण, वाणिज्य आदि कार्य करनेवालो मे वहाँ निर्दिष्ट कारणो से वात रोगो की सभावना सविशेष होती है।

आजकल व्यवसायो का वैविध्य हो जाने से तत्-तत् व्यवसाय से होनेवाले रोगो का अवेक्षण भी उत्कृष्ट रीति से हुआ है। विभिन्न खानो तथा कारखानो मे कार्य करनेवालो को द्रव्यभेद से तत्-तत् आभ्यन्तर और वाह्य रोग होते हैं। इस विषय का अनुशीलन आधुनिक ग्रन्थो से करना चाहिए। आयुर्वेद के ग्रन्थो मे भी इनका उल्लेख कर तदनुरूप चिकित्सा-विनिश्चय किया जा सकता है।

काल के विषय मे इतना निर्देश कर अब अगले ज्ञेय सात्म्य का विचार किया जाता है।

४—सात्म्य

सात्म्य-विषयक अधिक विचार आगे सामान्यत' परीक्षणीय पदार्थों के प्रकरण मे आएगा। सक्षेप मे यहाँ इतना ही कहा जाता है कि, जो आहार, विहार (चेष्टा ; कायिक, वाचिक या मानसिक—वौद्धिक—कर्म), औषध, देश, काल आदि जन्म से ही पुरुष को सुखकर (अनुकूल, कोई हानि न पहुँचानेवाला ; माफिक) हो, किवा जन्म से सात्म्य न होने पर भी जो अहिफेन, सोमल, मद्य, विजया (भाँग), रात्रि-जागरण, दिवास्वप्न प्रभृति आहार-विहारादि अभ्यास से—चिर सेवन से—पीडा न करनेवाले हो चुके हो उन्हें सात्म्य कहा जाता है।

सात्म्य से रोग, साध्यासाध्यता आदि का विनिश्चय होता है। घृत-दुग्ध, मासरस-षड्रसात्मक आहार आदि का सेवन करनेवाले पुरुष बलवान् होने से उन्हें रोग होते नही ; हो तो बलवान् नही होते, किन्तु सुसाध्य होते है। रूक्ष आदि भोजन करनेवालो के रोग उनके दुर्बल होने से दु साध्य होते है।

मद्य के व्यसनियो को पित्तप्रकोप सुलभ होने से यकृत्-प्लीहा रोग होने का सभव होता है। अहिफेन किसी को सात्म्य हो और उसे अतिसार हो जाए तो स्तम्भन द्रव्य क्या दिया जाए यह प्रश्न होने से स्थिति चिन्तनीय होती है। धूम-पान के कारण कास-प्रभृति व्याधियाँ होती है। चाय से मनोविक्षेप, अनिद्रा, मन्दाग्नि, उदकमेह आदि विकार होते है। ये द्रव्य सात्म्य हो चुके हो तो कोई

हानि नही होती। सो, रोग-परीक्षा मे सात्म्य का विचार रोग का निदान तथा योजना का निश्चय करने मे उपयोगी होता है। यह सात्म्य प्रश्न से ही जाना जाता है।

देश-भेद से भी सात्म्य का भेद होता है।

५—आतङ्क-समुत्पत्ति तथा काल-प्रकर्ष[1]

आतङ्क शब्द रोग-वाचक है तथा समुत्पत्ति का अर्थ है रोग का कारण—निदान। निदान-भेद से चिकित्सा-भेद होता है। अत॰ कारण-विशेष का जानना आवश्यक होता है। यथा, रोग वातप्रधान हो तो जिज्ञासा करनी चाहिए कि—किमाहारेण कुपितो वायुः कि विहारेण तथा रूक्षेण लघुना शिशिरेण वा साहसेन वेगरोधेन वा भयेन शोकेन वेति—अ० स० सू० २३। वायु का प्रकोप आहार से हुआ है, या रात्रि-जागरण आदि विहार से; आहार से हुआ हो तो रूक्ष आहार से हुआ है या लघु से; शीतजल, वायु आदि के सम्पर्क से हुआ है या साहस (शक्ति से अधिक शारीरिक, वाचिक या मानसिक कर्म) से हुआ है या वेगावरोध से हुआ है अथवा भय या शोक से हुआ है? चिकित्सा निदान-विपरीत हो तभी गुणावह होती है। यथा, रात्रि-जागरण से हुए वातप्रकोप में दिवास्वप्न ही समीचीनतर चिकित्सा सिद्ध होती है, श्रम-जन्य वात-प्रकोप में विश्राम और निद्रा ही उपयुक्त होते हैं; स्निग्ध-गुरु भोजन आदि से इनमे उल्लेखनीय उपकार नही होता। इसीसे प्रत्येक रोग की सम्प्राप्ति देखते हुए निदान का इस प्रकार पृथक् विचार किया जाता है।

निदान (कारण) जानने के पश्चात् भी इस प्रकरण मे प्रश्न द्वारा यह जानना चाहिए कि रोग कारण-विशेष से उत्पन्न होकर कैसे बढता गया—किन-किन लक्षणो को किस क्रम से उत्पन्न करता गया?

आतङ्क-समुत्पत्ति अथवा रोग के क्रमिक इतिहास के प्रसङ्ग से रोग की अवधि का ज्ञान भी आवश्यक है। प्राय. रोग जैसे-जैसे जीर्ण होते जाते है वैसे-वैसे दु साध्य होते जाते हैं।

जितने भी लक्षण उपलब्ध हो उनकी अवधि पृथक्-पृथक् देखनी चाहिए। कालक्रम देखने से यह निर्णय करना सुगम हो जाता है कि, लक्षणो में कौन स्वतन्त्र या प्रधान रोग है, कौन उसका अङ्गभूत लक्षण है, कौन उपद्रव है और कौन

१—कालप्रकर्षादीश्च विशेषान् इति कियान् कालोऽस्मिन व्याधावुत्पन्ने इत्यादीन् भेदान्—डल्हन।

सन्तानोत्पादक रोग है। यह भी सम्भव है कि स्वतन्त्र रोग एक से अधिक हो। नवीन विद्यार्थी बड़े-बड़े दो-चार लक्षण देखकर ही प्रायः निश्चिन्त हो जाते है कि उन्होंने रोग की परीक्षा कर ली है। इससे परीक्षा शुद्ध और परिपूर्ण नही होती।

लक्षणो की पृथक् अवधि जानना कैसे उपयोगी होता है इसे एक उदाहरण से स्पष्ट करें। सर्वाङ्ग-शोथ का उपद्रव जलोदर होता है, और जलोदर का उपद्रव सर्वाङ्ग-शोथ होता है। दोनो रोगो की चिकित्सा में तारतम्य आदि में भेद होता है। सो, मूल रोग कौन है यह जानना ही चाहिए और इसका ज्ञान प्रथम कौन रोग हुआ था यह प्रश्न द्वारा जानने से होता है।

६—वेदनाएँ

रोगी जिन व्यथाओ का स्वय अनुभव करता है उन्हें वेदना (साइन) कहते है, तथा चिकित्सकादि को जो व्यथाएँ प्रत्यक्ष होती है उन्हें लक्षण (सिम्पटम) कहते है, यह पहले कह आए है।

वेदना के स्वरूप तथा स्थान के ज्ञान से उसके कारणभूत दोष का ज्ञान होता है। तोद (चिउँटी काटने आदि जैसी पीडा, प्रिकिंग सन्सेशन ; गुजराती में चटाका), भेद (फटने के समान वेदना, कटिंग पेन ; गुजराती में फाट) ; छेद (टूटने की-सी वेदना ; टेऑरिग पेन ; गुजराती मे तोड) ; शूल (छुरा आदि भोकने की सी वेदना ; स्टैबिंग पेन ; गुजराती अपभ्रंश हूरो ; उदर मे शल—चूंक), सुप्ति (स्पर्शनाश, नमनेस ; गुजराती—खाली) ; परिकर्तिका (कोई कैंची आदि से काटता हो ऐसी वेदना ; नॉएग पेन ; गुजराती वाढ), इत्यादि वेदनाएँ वात-प्रकोपवश होती है। मिथ्याप्रतीतियो को अँग्रेजी मे 'पैरास्थीशिआ' कहते है। स्फुरण (फड़कना) आदि वातिक वेदनाओ की भी इसी प्रकार गणना की जा सकती है।

ओष (उष्णता की प्रतीति), चोष (चूसने का सा अनुभव), दाह, अम्लक आदि वेदनाएँ पित्त-प्रकोपवश होती है। गौरव (सर्वाङ्ग या एकाङ्ग में भारीपन का अनुभव ; सेन्स ऑफ हेवीनेस), कण्डू आदि कफ-प्रकोपवश होते है।

काल के प्रसग मे कह आए है कि वेदना का काल भी जानना चाहिए। नाम, वह सतत होती है या कभी शान्त होती है ; मन्द (मधुर) है या तीव्र या मध्यम ; उदर मे वेदना हो तो वह भोजन के पश्चात् बढती है या शान्त होती है, रोग के वेदना आदि लक्षण अहोरात्र मे काल-स्वभाववश प्रकुपित होनेवाले किस दोष के समय में वृद्धि को प्राप्त होते है या शान्त होते है—इत्यादि प्रकार से काल का ज्ञान होने से आरम्भक दोष का निश्चय होकर तदनुरूप चिकित्सा का मार्ग परिष्कृत हो जाता है।

७—बल

इसका अधिक विवरण आगे सामान्य परीक्ष्य पदार्थों के प्रसंग मे किया जाएगा। शारीरिक, मानसिक (बौद्धिक) तथा वाचिक श्रम करने की शक्ति (व्यायाम-गम्या शक्ति) को बल कहते है। रोग का प्रतीकार करने की शक्ति तथा औषध का वीर्य सहन करने की शक्ति को भी बल कहा जाता हे। राजयक्ष्मा आदि रोगो मे बल की परीक्षा से रोग की साध्यासाध्यता का ज्ञान होता है। इस बल की इयत्ता (प्रमाण) प्रश्न से ही जानी जाती है।

८—अन्तरग्नि (जठराग्नि)

अन्तरग्नि अन्य अग्नियो का भी मूल है। यह दीप्त हो तो धात्वग्नियो तथा धातु-उपधातुओ की पुष्टि यथावत् होती है, जिससे बल टिका रहता है—मनोबल भी स्थिर रहता है। रोगी की जरण-शक्ति (पचन-शक्ति) जन्मतः कैसी है, पूर्वापेक्षया कुछ न्यूनाधिकता हुई है इत्यादि प्रश्नो से अग्नि के बल का प्रमाण अर्थात् साम्य, वैषम्य या मन्दता तथा इनका भी तरतम-भाव जाना जाता है। अग्नि और रुचि उत्तम हो तो रोग शीघ्र शान्त होने की आशा होती है। अग्नि तथा बल सहसा नष्ट हो जाएँ तो यह एक अरिष्ट समझा जाता हैं। (यहाँ 'दीप्ताग्निता' पाठान्तर है)।

९—कोष्ठ

विरेचन देने की आवश्यकता व्यवसाय में प्रायः पड़ती है। पहले कह आए हैं कि कई रोगी अथवा स्वस्थ भी विरेचन को सहन नही कर सकते। इससे उनमें मल का क्षय होकर दौर्बल्य आ जाता है। कई पुरुष ऐसे होते है जिन्हे दुर्बलता की प्रतीति न हो तो भी मृदु विरेचन से भी अपेक्षित से अधिक मलप्रवृत्ति हो जाती हे। ऐसे पुरुषो का कोष्ठ मृदु कहा जाता है। इनके विपरीत कई जनो को तीव्र विरेचन से ही मलप्रवृत्ति होती है, अथवा नही भी होती। इनका कोष्ठ क्रूर कहा जाता है। स्नेहपान, गुदवर्ति आदि उपायो से इनके कोष्ठ को प्रथम मृदु बनाना उचित होता है। तृतीय श्रेणी मृदु और क्रूर के मध्यवर्ती कोष्ठ वालो की होती है। रोगी प्रथम वार चिकित्सक के पास आया हो तो उसके कोष्ठ का स्वरूप जानना योग्य होता है। यह कोष्ठ प्राय. प्रकृति और व्यवसाय के अधीन होता है। पित्तप्रकृति पुरुषो का कोष्ठ मृदु तथा शारीरिक श्रमजीवियो का श्रमजनित वात के कारण क्रूर होता है।

विरेचन देने के पश्चात् भी प्रश्न करना चाहिए कि औषध की क्रिया कैसी हुई, मलप्रवृत्ति सकष्ट तो नही हुई, इत्यादि। सकष्ट हुई तो कष्ट प्रवाहिका-

सदृश मरोड़ के रूप में या वातातिसार में कोष्ठगत वात के पीडन से जैसा कष्ट होता है वैसा था। वातातिसार की यह वेदना मलप्रवृत्ति के कुछ क्षण पूर्व होती है और मलप्रवृत्ति के पश्चात् लुप्त हो जाती है। प्रवाहिका-सदृश कष्ट स्वर्णपत्री (सनाय) से प्राय होता है। किसी को कटुरोहिणी (कटुकी) से भी यह वेदना होती है। ऐलेयक (एलुआ) के कल्प चिरकाल सेवन करने से किसी को प्रवाहण-सदृश वेदना हो आती है। सो, विरेचन के प्रसग में ये बातें प्रश्न-परीक्षा द्वारा जानते रहना चाहिए।

अज्ञान रोगी या परिचारक कितनी बार मलोत्सर्ग के लिए जाना हुआ यही सख्या के रूप में बताते है। उससे यह मानने की भूल न करनी चाहिए कि मल-शुद्धि भी इतनी ही बार हुई। कई बार ग्रथित मल की ही प्रवृत्ति होती है। उससे भी शुद्धि सम्यक् हुई यह न समझना चाहिए। परन्तु, ये सब बातें प्रश्न-परीक्षा पूर्णतया करने से ही विदित होती हैं।

सशोधन के प्रकरणो में अन्य भी अविरेच्यो का निर्देश किया जाएगा।

विरेचनीयता के सदृश ही वमन कराने की आवश्यकता हो तो उसके सम्बन्ध में भी कोष्ठ का स्वरूप जानना चाहिए। पहले कभी वमन लिया हो तो उसका क्या परिणाम हुआ था यह जानने से इस बात की स्पष्टता हो सकती है। सग्रह-कार ने वमन के विचार से कोष्ठ के इन भेदो को सुच्छर्दत्व-दुश्छर्दत्व नाम दिए हैं।

विरेचन अथवा वमन की दृष्टि से कोष्ठ कैसा है यह रोगी न बता सके ऐसे भी प्रसग उपस्थित होते है। कारण, रोगी ने कभी विरेचन या वमन लिया ही नहीं होता। ऐसी स्थिति में मृदु विरेचन से आरम्भ करना चाहिए तथा इस विषय का खुलासा भी रोगी के आगे कर देना चाहिए। अन्यथा, विरेचन औषध देने पर भी विरेचन नही हुआ इस धारणा से रोगी में चिकित्सक के प्रति अश्रद्धा होने की सभावना हो सकती है।

१०—मल-प्रवृत्ति

अधोवायु, ऊर्ध्ववायु (उद्गार), मूत्र, पुरीष, आर्तव, अधोगामी रक्तपित्त (उष्णताजन्य रक्तस्राव), वमन, गुह्य मार्ग से (शिश्न, अपत्यपथ या गुदमार्ग से) प्रवृत्त पूय, शुक्र इत्यादि का समावेश इस प्रश्न के अन्तर्गत होता है।

प्रश्नो से इन मलो की परीक्षा करते हुए भी यथाशक्य प्रत्यक्ष परीक्षा भी करनी चाहिए। यथा, मूत्र में रक्तप्रवृत्ति का इतिहास लेकर आए रोगी का मूत्र देखना चाहिए। कई बार न्यूनाधिक पीतवर्ण मूत्र को ही अज्ञान रोगी रक्त-मिश्रित समझते हैं। मूत्र श्वेत होने की व्यथा लेकर आए रोगी से पूछना

चाहिए कि श्वेत का अर्थ दुग्ध या तक्र-सदृश श्वेत है या जल-सदृश ? जल-सदृश श्वेत मूत्र उदकमेह आदि में होता है। दुग्ध या तक्र-सदृश लालामेह, क्षारमेह, पिष्टमेह या वसामेह मे होता है। प्रथम दो मे श्वेत पदार्थ की प्रवृत्ति मूत्र के प्रवाह के आरम्भ या अन्त में होती है। वसामेह (काइल्यूरिआ) तथा पिष्टमेह (लाइप्यूरिआ) मे आरम्भ से अन्त तक समग्र मूत्र दुग्ध-सदृश श्वेत होता है। कारण, निर्गत स्नेह द्रव्य मूत्राशय में सचित और मूत्र से मिश्रित हो समूचे मूत्र को दुग्धाभ कर देता है।

मूत्रमार्ग से पूय-प्रवृत्ति हो तो वह न्यून है या अधिक यह जानना चाहिए। अत्यधिक प्रवृत्ति पूयमेह में तथा न्यून प्रमाण मे प्रवृत्ति उष्णवात (यूरिथ्राइटिस) मे होती है। यही स्थिति अपत्यपथ से प्रवृत्त पूय मे भी समझनी चाहिए।

आर्तव-प्रवृत्ति के विषय मे भी प्रमाण न्यून है या अधिक इसका ठीक उत्तर अज्ञान रोगी नही दे पाते। उनसे इस प्रकार के सरल प्रश्न पूछने चाहिए कि, आर्तव कितने दिन रहता है, प्रति दिन पृथक्-पृथक् कितनी-कितनी गद्दियाँ बदलनी पड़ती है, इत्यादि।

पुरीष की प्रवृत्ति-विषयक कुछ प्रश्न ऊपर बता आए है। पुरीष की प्रवृत्ति के साथ अधोवायु की प्रवृत्ति-सम्बन्धी प्रश्न अवश्य पूछना चाहिए। नव्य विज्ञान से अभिभूत हो अधोवायु या ऊर्ध्ववायु-विषयक प्रश्न पूछना ही हम भूल गए है। इन मलो की प्रवृत्ति होती है या नही, होती हो तो उससे सुख-प्रतीति होती है या नही यह प्रश्न करना चाहिए। वात-प्रवृत्ति का परिणाम सुख हो तो उपशयात्मक इस परीक्षा से कोष्ठगत वात के प्रकोप का निदान होने से चिकित्सा का मार्ग स्वच्छ हो जाता है। बहुत बार न केवल कोष्ठगत रोग, ऊर्ध्वजत्रुगत या अध कायगत रोग भी दुर्बोध होते है, उनमें अधोवायु की प्रवृत्ति से सुखोपलब्धि का इतिहास रोगी कहे तो निदान और चिकित्सा का मार्ग स्वच्छ होता देखा गया है। सो, प्रश्न-परीक्षा मे अन्य प्रश्नो के साथ अधोवायु और ऊर्ध्ववायु की प्रवृत्ति पर ध्यान अवश्य देना चाहिए।

वमन के विषय मे रोगी के कहने से हुआ केवल इतना ज्ञान पर्याप्त नही होता कि वमन होता है। वमन मे कुछ द्रव्य निकलता है या नही, निकलता है तो वह कफ-प्रधान होता है या तिक्ताम्ल-रस तथा पीतवर्ण होने से पित्त-प्रधान यह जानना चाहिए। वमन की मिथ्या (द्रव्य-रहित) प्रवृत्ति वात के प्रकोप की सूचक होती है। एतादृश प्रश्नो से दोष का निर्णय करने से तदनुरूप योजना की स्फुरणा होती है।

११–स्वप्न-दर्शन

स्वप्नो के ज्ञान से प्रकृति का ज्ञान होता है यह वस्तु क्रिया-शारीर में विद्यार्थी जान आए है। यथा, आकाश में उडने या एक वृक्ष से अन्य वृक्ष पर फाँदने के स्वप्न से स्वप्नदर्शी पुरुष वातप्रकृति है यह निर्णय होता है। प्रकृति के ज्ञान का उपयोग यह है कि, इससे इस वात की सूचना मिलती है कि रोगी को सामान्यतया किस दोष का प्रकोप और तदुत्थ रोग होने की सभावना हो सकती है। प्रकृत्यारम्भक दोष का प्रकोप ही पुरुष में स्वल्पमात्र निमित्त से हो आता है और तज्जन्य रोग ही प्राय उसे अधिक पीडित करते है, यह आयुर्वेद का सिद्धान्त है। प्रकृति का ज्ञान हो तो प्रकृत्यनुसार ऋतुचर्या आदि का अनुष्ठान कर रोग को उत्पन्न होने से रोका जा सकता है। प्रकृत्यनुरूप रसायनो के सेवन से आयु को भी दीर्घ और स्वस्थ बनाया जा सकता है।

रुग्णावस्था के पूर्वरूपो और रूपो की परीक्षा में भी स्वप्नो की परीक्षा की जाती है। यथा, यक्ष्मा के पूर्वरूणे में शुष्क, दावानल से दग्ध वन इत्यादि के दर्शन के स्वप्न आते है। इनका वर्णन यथास्थान करेंगे। स्वप्नो से रोग का निदान, साध्यासाध्यता, अरिष्ट और प्रधान दोष का परिज्ञान होता है। मनो-विश्लेषण (सायको-एनेलिसिस) के इस युग में स्वप्नज्ञान द्वारा मानस रोग की मूल ग्रन्थि के ज्ञान और तदनुरूप चिकित्सा ने महत्त्व का पद प्राप्त कर लिया है। इसी प्रकार कृत्रिम निद्रा (समोहन, हिप्नोटिज्म) में रोगी को डालकर उसे गत जीवन की स्मृतियाँ ताजी करने को कहा जाता है। इसे 'फ्री एसोसिएशन' नाम दिया गया है। इससे भी रोग के निदान और उपचार का पथ परिष्कृत होता है। 'सोडियम पेन्टोथल' नामक एक औषध की सूचीवस्ति देने से रोगी ऐसी स्थिति मे आ जाता है कि अपने मन में छुपाकर रखी वात को भी आप-ही-आप कह देता है। इससे भी रोग का मूल कारण (कोई मानसिक व्यथा) जान लेने से उसका उपचार सुगम हो जाता है। इस द्रव्य का उपयोग प्राय अपराधियो के मन की वात उन्मुक्त कराने मे किया जाता है।

१२–अभिप्राय

किस रस, आहार या विहार में रोगी की रुचि है, आरोग्य अव कैसा है, प्रकृति पहले से अच्छी है या बुरी, शरीर पूर्वापेक्षया कैसा है इत्यादि विषयक रोगी का अनुभव प्रश्न से जाना जाता है। अभिलषित रस आदि से विपरीत दोष की दुष्टि का अनुमान होता है। कारण, प्रकुपित हुए दोष अपने विपरीत गुणवाले आहार आदि के प्रति अभिरुचि तथा समान गुणवाले आहार आदि के प्रति द्वेष

(अप्रीति) उत्पन्न करते हैं--कुर्वते हि रुचि दोपाः। यथा, कफ का प्रकोप हो तो कटु (तीखे) पदार्थों के अभ्यवहार के प्रति रुचि (इच्छा), श्रम के प्रति अरति, किंवा अल्पमात्र श्रम के पश्चात् काम मे मन न लगना, श्रम के बिना भी जिसका कारण न विदित हो ऐसी अरति (उठने-बैठने आदि किसी कार्य मे चैन न मालूम होना) इत्यादि लक्षण होते है। इन्हें जानकर योग्य उपचार की दिशा निश्चित करनी चाहिए।

रुचि-अरुचि के प्रसग में दो बातें स्मरण-योग्य है। एक तो यह कि कभी-कभी रुचि अहिताहार-विहार की भी होती है। इस विषय का विवरण दोषो के प्रकोप के प्रकरण में करेंगे। दूसरी बात यह कि, प्रायः देखने तथा जानने मे ऐसे दृष्टान्त आते है कि जिनमे किसी चिरानुबन्धी रोग से पीडित जन को निश्चित अहित आहार या विहार की अदम्य इच्छा हुई और अन्त में उसके सेवन से उसका रोग सदा के लिए जाता भी रहा।

१३—आस्यरस

मुख का रस कैसा है, यह ज्ञान प्रश्न से होता है। कफ के प्रकोप मे मुख का रस मधुर होता है, पित्त के प्रकोप में तिक्त या अम्ल और वायु के प्रकोप मे कषाय या विरसता (कोई भी रस प्रतिभात न होना, फीकापन) की प्रतीति होती हैं। महास्रोत में अपने स्थान में प्रकुपित हुए दोष प्रसृत हो जब लालाग्रन्थियो मे आते हैं तो लाला के साथ उनकी भी प्रवृत्ति मुखकुहर में होती है। अन्नपान के रस के सदृश इनकी प्रतीति बोधक कफ के साहाय्य से रसनेन्द्रिय को होती है।

मुख की वात-कृत विरसता की व्याख्या--ऊपर कहा है कि, वात का प्रकोप होने पर मुख का रस कषाय होता है या मुख में विरसता (कोई भी रस न होना) होती है। इनमें कषाय रस को तो उसी प्रकार वात का अपना रस समझना चाहिए जैसे मधुर कफ का है तथा तिक्त पित्त का। शेष विरसता की व्याख्या आयुर्वेद के सिद्धान्त को समझने की दृष्टि से आवश्यक है। इससे आयुर्वेद-मत से अन्य भी वात-कृत विकारो की व्याख्या प्रसगवश हो जाएगी। अतः यहाँ उसका विचार किया जाता है।

रक्त के प्राकृत कर्म रसादि धातुओ के प्राकृत कर्मो के उल्लेख के प्रसग में तन्त्रकारो ने बताए हैं। उनके अतिरिक्त सुश्रुत ने सिराओ में संचरण करते वातादि तीन दोषो तथा रक्त इन चार की प्राकृत और विकृत अवस्थाओ के कर्म बताए है। सिरा-प्रकरण मे बताए कर्मो में अन्यत्र बताए कर्मो से कुछ विशेषता है। तथाहि :

धातूनां पूरणं वर्णं स्पर्शज्ञानमसंशयम्।
स्वाः सिराः संचरद्रक्तं कुर्याच्चान्यान् गुणानपि ॥

सु० शा० ७।१४

रक्त अपनी वाहक सिराओ में सचरण करता हुआ धातुओ का पूरण (उनकी क्षति-पूर्त्ति) करता है, त्वचा आदि में प्राकृत वर्ण को बनाए रखता है, ज्ञानेन्द्रियो द्वारा सशय तथा भ्रम रहित ज्ञान कराता है एव तन्त्र में अन्यत्रोक्त तत्-तत् अन्य प्राकृत कर्म करता है।

स्पर्श शब्द व्यापक अर्थ में मन एव ज्ञानेन्द्रिय-मात्र के अपने विषय के साथ ससर्ग के लिए आता है। इसी प्रकार स्पर्शनेन्द्रिय शब्द भी ज्ञानेन्द्रिय-मात्र के लिए प्रयुक्त होता है। इस दृष्टि से ज्ञानेन्द्रिय एक ही है--स्पर्शनेन्द्रिय[1]। ऊपर के पद्य में प्राकृत रक्त के गुणो में जो स्पर्शज्ञान कहा है, उसका भी अर्थ ज्ञानेन्द्रिय-मात्र से जन्य ज्ञान है। कारण, रक्त और रसधातु द्वारा तर्पक-पूरक सामग्री की उपलब्धि हो तभी ज्ञानेन्द्रियाँ यथावत् पुष्ट रहकर अपनी-अपनी क्रिया करने में समर्थ होती है।

रसधातु तथा उसका मलभूत कफ सम प्रमाण में हो तो शिर में स्थित पञ्च ज्ञानेन्द्रियो का तर्पक नाम से तर्पण करता है (उनमें तरावट रखता है); जिह्वा आदि पृथक इन्द्रियो तथा इन्द्रियाधिष्ठानो में भी सौम्यता (मार्दव आदि विषय-ग्रहणानुरूप गुण) रखता है।--जिह्वामूलकण्ठस्थो जिह्वेन्द्रियस्य सौम्यत्वात् सम्यग्रसज्ञाने वर्तते। शिरःस्थः स्नेहसंतर्पणाधिकृतत्वात् इन्द्रियाणाम् आत्मवीर्येणाऽनुग्रहं करोति[2]। सु० सू० २१।१४

वात का प्रकोप हो, रस-रक्तादि धातुओ का तथा कफ का क्षय हो इन अवस्थाओ मे जिह्वेन्द्रिय आदि इन्द्रियो को अपने-अपने विषय के ग्रहण का सामर्थ्य

१--तत्रैक स्पर्शनेन्द्रियमिन्द्रियाणाम् इन्द्रियव्यापकम् ॥ च० सू० ११।३८
एक स्पर्शनमिति नान्यच्चक्षुरादि ॥ चक्रपाणि
स्पर्शनेन्द्रियसस्पर्श स्पर्शो मानस एव च।
द्विविधः सुखदु खाना वेदनाना प्रवर्त्तक. ॥ च० शा० १।१३३

२--आत्मवीर्येणेति प्राकृतगुणेन। स्नेहो मस्तकमज्जा। इन्द्रियाणां श्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वाघ्राणानाम्--डल्हन। यहाँ त्वचा को भी मस्तकमज्जा या मस्तिष्क मे स्थित कहा है। इससे स्पष्ट है कि त्वचा का आधुनिको के समान मस्तिष्क से सम्बन्ध का दर्शन प्राचीनो ने भी किया था। अन्य इन्द्रिया भी मस्तिष्क मे स्थित उनके मूलस्थानो के रूप मे ही यहाँ ग्राह्य समझनी चाहिए।

न्यून हो जाता है। इसका एक कारण तो जैसा कि ऊपर कहा, इन्द्रियो को अपने-अपने पोषक महाभूत की इष्ट प्रमाण में प्राप्ति नही होती एव इन्द्रियाधिष्ठानो को भी पोषक द्रव्य उपलब्ध नही होते। इन अवस्थाओ में ज्ञान की उपलब्धि न होने या अयथावत् होने में एक अन्य भी कारण है और वह यह कि, प्रकुपित वात रस-रक्तवह सिराओ और स्रोतो के विवरो को सकुचित तथा क्षीण कर देता है, जिससे मस्तक, इन्द्रियो तथा इन्द्रियाधिष्ठानो मे पोषक सामग्री योग्य प्रमाण में और योग्य वेग से जा नही सकती। इससे भी इन्द्रियो की क्रिया में व्याघात होता है। इस प्रकार वात-प्रकोप मे जिह्वेन्द्रिय की दुष्टि से जिह्वा को किसी भी रस का बोध नही होता। इसी को मुखवैरस्य कहा जाता है। कषाय तथा तिक्त रस का अतियोग किया जाए तो जिह्वामूलस्थ बोधक कफ का लेखन और क्षय हो जाता है, जिससे जिह्वा को किसी रस की प्रतीति नही होती---विरसता होती है। चिरकाल अति प्रमाण में खदिरादि वटी आदि कषाय द्रव्यो का सेवन करने में आए तो यह स्थिति देखी जाती है। इस प्रदेश में कही कैसर हो और किरण-चिकित्सा करनी पडे तो किरण-गत अग्नि गुण से भी बोधक कफ की क्षीणता हो जाने से कुछ काल विरसता रहती है। स्मरण रहे, इन स्थितियो मे भी लालास्राव तो प्रचुर होता ही है, तथापि रस-बोध नही होता। इससे भी जाना जा सकता है कि आयुर्वेद का बोधक कफ लाला नहीं है, प्रत्युत गुरु, पिच्छिल, श्वेत प्रभृति कफ के शास्त्रोक्त गुण जिसमें है वह 'म्यूकस' नाम से अँग्रेजी में अभिहित द्रव्य ही आयुर्वेद का बोधक कफ है। इस बात की सिद्धि के लिए पहले यह भी कह आए है कि प्रकोपावस्था में दोनो द्रव्यो की वृद्धि के पृथक् ही नाम तन्त्रकारो ने दिए है---लाला के प्रकोप के हृल्लास, प्रसेक, मुखस्राव आदि तथा कफ की वृद्धि के कफष्ठीवन, ष्ठीवन, कफोद्गिरण आदि। अस्तु।

जैसे रस-रक्तादि धातुओ तथा कफ के क्षय एव वात के प्रकोप से रस-ज्ञान में बाधा उपस्थित होती है वैसे ही अन्य इन्द्रियो की भी विकृति अपने विषय के ग्रहण की न्यूनाधिक असमर्थता के रूप में उपस्थित होती है। इस प्रकार गन्धाज्ञता, उच्चैःश्रुति, बाधिर्य, त्वचा में स्पर्शनाश या सुप्ति, दृष्टि की मन्दता आदि विक्रियाएँ उत्पन्न होती है। उनमे उल्लिखित निदान को स्मरण कर योग्य उपचार करना चाहिए।

वात-नानात्मज रोगो में इन्द्रियो की क्रियाओ के वैकल्य-सम्बन्धी रोगो में शार्ङ्गधर ने दृष्टि-क्षय (दृष्टि-मान्द्य) की भी गणना की है। व्यवसाय मे प्राय: दृष्टिक्षय का रोगी उपस्थित होने पर हम उसे उप-नेत्र के लिए नवर की परीक्षा करने की या लिङ्गनाश (केटरेक्ट) आदि रोगो की परीक्षा की सलाह देते है। कितने ही रोगियो में नवर या लिङ्गनाश नही होता। सर्वाङ्ग-दौर्वल्य का विनिश्चय कोई निपुण चिकित्सक इन रोगियो में करते भी है। उनमें वातप्रकोप

किंवा धातुक्षय कारणभूत होता है। रस-रक्त की क्षीणता तथा वात के प्रकोप की क्रिया से यह रोग कैसे होता है यह ऊपर बताया है। मांसक्षय भी इसमें कारण होता है। नव्य शारीर में कहा गया है कि दृष्टि-गोलक को देखने के समय विविध आकृतियाँ देने के लिए तथा तत्-तत् दिशा में फिराने के लिए कुछ अणु पेशियाँ होती हैं। शरीर में मांसधातु का क्षय हो तो इतर पेशियों के सदृश नेत्रगोलक की पेशियाँ भी क्षीण हो जाती हैं। परिणामतया, उनकी क्रिया-हानि होने से दृष्टि के विकार होते हैं। शीर्षासन से रस-रक्त का आयान सम्यक्तया होने से ही दृष्टि-विकारो में गुण होता है।

प्रसगोपात्त इतना विवरण व्यवसायोपयुक्त होने से किया। अब पुन. प्रश्न-परीक्षा-ज्ञेय शेष विषयो का निर्देश किया जाता है।

१४—नक्षत्र

जन्मामयप्रवृत्ति नक्षत्रम्—अ० स० सू० २२। साध्यासाध्यता के लक्षणो के प्रकरण में ग्रह-नक्षत्रो की अनुकूलता-प्रतिकूलता की परीक्षा का निर्देश तथा विचार कर आए हैं। उसके लिए रोगी या उसके स्वजन-परिजन से प्रश्न कर रोगी के जन्म का नक्षत्र तथा रोग की उत्पत्ति के समय का नक्षत्र जानना चाहिए। कभी रोगी के पति, स्त्री, सतति, बहिन-भाई आदि स्वजनो के नक्षत्रो का विचार भी उपयोगी सिद्ध होता है। इस विषय में अधिक विस्तार पहले कर चुके हैं।

१५—उपशय-अनुपशय[1]

रोग-पीडित व्यक्ति को कौन आहार, विहार, औषध, देश या काल हित अथवा अहित है इसका ज्ञान स्वय रोगी को किंवा उसके स्वजन-परिजनो को होता है। प्रश्न-परीक्षा से उसका ज्ञान हो जाता है। कभी सीधा प्रश्न करने पर कि किस वस्तु के सेवन से रोग के लक्षण उत्पन्न हुए या वृद्धि को प्राप्त हुए, इसका उत्तर अबुध रोगी नही दे पाते, परन्तु सुचिकित्सक प्रकुपित या क्षीण रोगारम्भक दोष को लक्ष्यकर उसके विभिन्न कारणो की स्वय कल्पना करे और एकैकश: उनके सेवन-विषयक प्रश्न पूछे तो उत्तर मिल जाता है। इस तथ्य से वाचक समझ सकते हैं कि, चिकित्सक की दृष्टि कितनी सूक्ष्म-दर्शिनी होनी चाहिए—उसे लक्षणो और रोगो की उत्पत्ति के कारणो का अपना ज्ञान कितना बढाते रहना चाहिए। अनुभव से वाचक को इस कथन की प्रतीति होगी।

१—सात्म्य नाम से चरक ने उपशय-परीक्षा की गणना की है। सात्म्यार्थो ह्युपशयार्थ —सात्म्य का व्यापक अर्थ उपशय भी होता है। चरक तथा सग्रह-कार ने 'द्विष्टेष्टसुखदु खानि' शब्द द्वारा भी इनका ग्रहण किया है। द्विष्ट—अप्रिय, इष्ट—प्रिय, सुख—सात्म्य, दु ख—असात्म्य।

हित-अहित या उपशय-अनुपशय की परीक्षा में यह भी जिज्ञासा करनी चाहिए कि पहले कभी उपचार कराया था या नहीं ? औषध जो दिए गए थे उनका ज्ञान है या नहीं ? ज्ञान है तो वे कौन औषध थे ? कौन वस्तु पथ्य तथा कौन अपथ्य पड़ती थी ? औषधादि के सेवन का परिणाम क्या होता था ? बहुत बार रोग समझ में न आ रहा हो तो उपशय-अनुपशय के ज्ञान से उसकी कुछ झलक चिकित्सक को मिल जाती है। विशेषतः नये चिकित्सकों को, कभी-कभी मार्ग न सूझे तो या अपने निर्णय पर पूर्ण विश्वास न हो तो इस प्रकार के प्रश्नोत्तर से प्रायः दिशा सुलभ हो जाती है। उदाहरणतया, पूछा जाए, कि किसी ने 'एक्स-रे' की सलाह दी थी क्या और इस प्रश्न का उत्तर 'हाँ' मिले तो सम्भावना दृढ हो जाती है कि हमारा किया यक्ष्मा का निदान कदाचित् शुद्ध है।

प्रश्न द्वारा यह ज्ञात हो जाए कि, अतिसार-ग्रहणी आदि किसी रोग से पीडित रोगी को दही या तक्र के सेवन से शोथ आदि हो जाते हैं तो उनके सेवन की सलाह नहीं दी जा सकती। इसी प्रकार ज्वर-पीड़ित किसी पुरुष से प्रश्न करे कि वह लङ्घन सहन कर सकता है या नहीं और उत्तर 'न' में मिले तो उसे लङ्घन न कराने की योजना स्थिर करनी पड़ती है। इस प्रकार उपशयानुपशय से चिकित्सा की भी शुद्धि होती है।

उपशयानुपशय के इस प्रकरण में वर्तमान युग में और एक वस्तु ध्यान रखने योग्य हो गई है। वह यह कि जिन रोगियों ने पहले कभी या प्रस्तुत रोग में ऐलोपेथिक उपचार कराया हो उन पर आयुर्वेदिक औषधों की क्रिया दो-चार दिन विलम्ब से होती है। जिन्होंने इस प्रकार ऐलोपेथिक औषध न लिया हो उन पर तत्काल होती है। सो, प्रश्न-परीक्षा में कौशलपूर्वक यह बात भी जान लेनी चाहिए तथा उसके आधार पर अपने उपचार के परिणाम का संभावित काल भी बता देना चाहिए। रोगी तथा उसके स्वजन-परिजन के श्रद्धोत्पादन में यह वस्तु अति उपयोगी सिद्ध होती है।

प्रश्न-परीक्षा द्वारा इसी रीति से अन्य ज्ञातव्य बातें भी जानी जा सकती हैं। उपसंहार-रूप में इतना कहकर अब हम प्रत्यक्ष तथा प्रश्न-परीक्षाश्रित एवं इनके अनन्तर (अनु) करणीय अनुमान-परीक्षा से क्या-क्या बात जानी जाती है उसका निर्देश करते हैं।

अनुमान द्वारा रोग-परीक्षा[1]

अनुमान से रोग-परीक्षा में ज्ञातव्य कुछ बातों का उल्लेख पहले कर आए हैं।

१—स्थल च० वि० ४।७-८ तथा चक्रपाणि, सु० सू० १।१६ पर डल्हन-टीका, अ० सं० सू० २२।

यथा, रोगी के मुख के रस से प्रकुपित दोप का, शरीर पर यूकाओ (जुओ) या मक्षिकाओ के अथवा मूत्र पर पिपीलिकाओ के आने या न आने से शरीर तथा मूत्र के मधुर या मधुर-विपरीत होने का एव शरीर के किसी द्वार से निर्गत रक्त पशु-पक्षियो के आगे रखा जाए तो रक्त के प्रति उनकी प्रतिक्रिया देखकर उसके शुद्ध या पित्त-दूषित होने का अनुमान करे, यह हम प्रसगवश कह आए है। अब अनुमान-ज्ञेय कुछ अन्य बातो का उल्लेख करते है।

अग्नि जरणशक्त्या--रोगी की अग्नि मन्द, मध्यम या तीक्ष्ण कैसी है, एवं उसकी मन्दता आदि का तारतम्य (न्यूनाधिक्य ; डिग्री) कैसा है यह पचन की शक्ति से जानना चाहिए। जितना और जो अन्नपान कोई भी अनिष्ट लक्षण उत्पन्न किये बिना आगामी भोजन-काल आने के पूर्व पच जाए उससे अग्नि-बल की अनुमिति होती है। अन्नपान का प्रमाण देखकर उससे अग्नि का यथार्थ अनुमान नही होता। कारण, देखते है, यक्ष्मा के असाध्य लक्षणो में एक है--महाशनं क्षीयमाणम्--पुरुष का आहार सुविपुल हो तथापि वह उत्तरोत्तर क्षीण होता जा रहा हो तो इसे असाध्यता का चिह्न समझना चाहिए। अपरच, वातज ग्रहणी के असाध्य होने मे दो कारण बताए गए है--मनोदैन्य तथा जिह्वा-लौल्य (गृद्धिः सर्वरसाना च)। रोगी यद्वा-तद्वा, यत्-तत् प्रमाण में लेता है उससे अग्नि का स्वरूप नही जाना जाता। भुक्त अन्नपान का पचन कैसा होता है उसी से अग्नि का परिज्ञान होता है।

रोगी के बल का अनुमान उसके शारीरिक, मानसिक (बौद्धिक), वाचिक श्रम (व्यायाम) करने की शक्ति से करे। बल से रोग की साध्यासाध्यता आदि का ज्ञान होता है। बल-सम्बन्धी अन्य ज्ञातव्य अगले अध्याय में दिया जाएगा।

श्रोत्र-प्रभृति इन्द्रियगोचर ज्ञानेन्द्रियों की प्रकृति-विकृति का अनुमान उनके विषयो का ग्रहण कैसा होता है इससे करे।

मन की प्रकृति-विकृति का अनुमान इस बात की परीक्षा से करना चाहिए कि परीक्ष्य पुरुष किसी विषय पर कितने काल और किस प्रकार अपने को तल्लीन कर सकता है।

बुद्धि की प्रकृति-विकृति का अनुमान हितावह वस्तुओ मे प्रवृत्ति या निवृत्ति एव अहितावह वस्तुओ मे निवृत्ति या प्रवृत्ति को देखकर करे।

रजोगुण की परीक्षा नारी आदि के प्रति आसक्ति-अनासक्ति तथा उसके तरतम-भाव से करे। रजोगुण पुरुष के चित्त को विक्षिप्त कर शारीर दोषो को भी कुपित कर अनेक मानस रोग उत्पन्न कर सकता है। एक छोटे से उभयात्मक रोग भ्रम का उदाहरण लें। इसका निदान कहा गया है--रजःपित्तानिलाद् भ्रमः--सु० शा० ४।५६। भ्रम या चक्कर आने के कारणो में एक रजोगुण

(इमोशन) है। आधुनिकों ने भी ब्लडप्रेशर अधिक होने के कारणों में एक रजोगुण (इमोशन नाम से) बताया है। ब्लडप्रेशर की उच्चता की प्रतीति भी भ्रम से होती है।

इन्द्रियों तथा मन को ज्ञान न होता हो तो उनके मोह (मूढता ; विषय ग्रहण की मन्दता) का अनुमान करे।

अन्यों को पीडा (हानि) देने की प्रवृत्ति देखकर क्रोध का अनुमान करे। रोदन, विलाप आदि के रूप में दैन्य के प्रत्यक्ष से शोक का अनुमान करे। आमोद (नृत्य, गीत, वाद्य आदि द्वारा उत्सव करना) से मनोगत हर्ष का अनुमान करे। मुख तथा नेत्र का उल्लास (प्रसन्नता) आदि के रूप में तोष (तुष्टि) को देखकर, जिस व्यक्ति या वस्तु के दर्शन से उल्लास हुआ है उसके प्रति प्रीति का अनुमान करे। उन्माद आदि में पुरुष को तुष्टिकर पदार्थों के मध्य रखना आवश्यक होता है। विषाद (मन का अवसाद, मनोभङ्ग) देखकर भय का अनुमान करे--पुरुष भय-ग्रस्त है, यह निर्णय करे। पुरुष में विषाद न हो--उसका मन दीन न हो, विषम परिस्थिति आने पर भी दबा हुआ न हो तो इससे उसमें धैर्य है इस बात का अनुमान करे। उत्थान (विषम घडी में भी कार्य का आरम्भ --अनुष्ठान) देखकर पुरुष में वीर्य है, यह अनुमान करे। कार्य दुष्कर है यह जानते हुए भी मन उसके करने से विमुख न होना, इस पुरुष-गुण का नाम वीर्य है। पुरुष को भ्रान्ति-रहित देखें तो उसमें अवस्थान (स्थिरमति, स्थिर-निश्चय) गुण है, यह अनुमान करे। भ्रम धातु से बना भ्रान्ति शब्द यहाँ मन की चपलता के लिए प्रयुक्त हुआ है। इसका अर्थ बुद्धि का किसी एक वस्तु पर दृढ न होना, उसी का निश्चय न कर पाना है। द्रव्य-विशेष की स्वय अभ्यर्थना (माँग) पुरुष करे तो उसमें उस वस्तु के प्रति श्रद्धा (इच्छा) है यह अनुमान करे। ग्रन्थ, भाषण, संभाषण आदि में कही गयी वस्तु को पुरुष ग्रहण कर सकता हो--समझ सकता हो तो उसमें उतने प्रमाण में मेधा है, यह अनुमान करे। पुरुषों या पदार्थों का नाम कोई व्यक्ति पुकार सकता हो तो इससे संज्ञा का अनुमान करे। संज्ञा या नामों का स्मरण रखना भी बुद्धि का एक गुण है। एक मनो-विकार में पुरुष की शब्दों की स्मृति न्यून हो जाती है या सर्वथा लुप्त हो जाती है। मस्तिष्क में शब्दों के स्मरण तथा वाक्य-रचना के लिए परस्पर सयोजन के जो अधिष्ठान (केन्द्र) है, उनकी विकृति इस मनोविकार में हो जाती है। पुरुष को अतीत वस्तुओं का स्मरण होता हो तो उसमें स्मृति (स्मरण-शक्ति) होने का अनुमान करे। गर्हित (निन्दित, अप्रशस्त) कर्म करने में त्रपा (लज्जा-सूचक आकृति) दृष्टिगोचर हो तो उसमें ह्री (लज्जा) नामक सत्त्वगुण होने का अनुमान करे। पुरुष वस्तु-विशेष का अनुशीलन (सतत सेवन) करता हो तो उसका उसे शील है--उसके

प्रति सहज राग (आसक्ति) है, यह अनुमान करे। पुरुष किसी वस्तु का प्रतिषेध करता हो--उसे सेवनार्थ ग्रहण करने मे इन्कार करता हो--तो उसमें उस वस्तु के प्रति द्वेष (अप्रीति) होने का अनुमान करे। अनुबन्ध (उत्तरकालीन फल) को देखकर उपधि (छद्म, कपट-वेषादि) का अनुमान करे। इसका उदाहरण देता चक्रपाणि कहता है कि भाई आदि का वध देखने में आए इससे समझना चाहिए कि उन्मत्त का वेष चन्द्रगुप्त ने इस प्रयोजन से ग्रहण किया था। पुरुष में रसना आदि इन्द्रियो का लोल्य (लोलुपता) न हो तो उसमें धृति (सयम) है, यह अनुमान करे। धृति का अभाव प्रज्ञापराध के तीन अङ्गों में एक है, यह स्मरण किया जा सकता है। चिकित्सा-व्यवसाय में रोगी में पथ्य-पालन का गुण कैसा है यह जानना प्रथमावश्यक है। उनके लिए धृति की परीक्षा करनी चाहिए। पुरुष में विधेयता हो--चिकित्सक आदि जिस कर्त्तव्याकर्त्तव्य का निर्देश करें उसके पालन की उसमें प्रवृत्ति हो--तो उसमें वश्यता का अनुमान करे। रोगी की गुण-सपत्ति में वश्यता एक है। यह न हो--रोगी वैद्य के कहे में न हो तो रोग-निवृत्ति की आशा कैसे की जा सकती है? इसी कारण उसकी वश्यता का ज्ञान उपचार आरम्भ करते हुए प्रथम होना चाहिए। काल से, अर्थात्--इसके जन्म को इतने वर्ष हुए इससे वय का नाम बाल्य, यौवन या वार्धक्य का अनुमान करे। वयोभेद से भिन्न-भिन दोष का प्रकोप तथा तदनुरूप भिन्न-भिन्न रोगो की सभावना होती है। अत रोग-परीक्षा में वयोज्ञान उचित होता है। पुरुष के देश के ज्ञान से उसकी भक्ति (इच्छा) का अनुमान करे। जैसे, वह मध्य-देशीय हो तो वहाँ के आचार (रिवाज) के अनुसार उसकी गोधूम, माष आदि के प्रति भक्ति का ज्ञान होता है। कोई आहार, विहार आदि किसी को उपशय (हितकर या हित करें या न करें परन्तु हानि न करनेवाले) हो तो उस पुरुष के प्रति उनके सात्म्य होने का अनुमान करे। विशिष्ट वेदनाओ को देखकर रोग-विशेष का अनुमान करे। जैसे किसी को सताप (शरीरोष्मा की वृद्धि)-रूप वेदना हो तो वह वह शारीर ज्वर से पीड़ित है यह ज्ञान प्राप्त होता है। गूढलिङ्गं व्याधिमुपशयानुपशयाभ्याम् परीक्षेत--जिस रोग के लक्षण व्यक्त हो उसका तो ज्ञान लक्षणो से ही हो जाता है, परन्तु जिसके लक्षण गूढ (गुप्त, अव्यक्त) हो उस रोग का अनुमान उपशय और अनुपशय द्वारा करे। अर्थात् कतिपय रोगो की सभावना कर क्रमशः एक-एक रोग में निर्दिष्ट द्रव्य देकर देखें, कि उससे हित होता है या अहित? यथा, जानुशोथ से पीडित व्यक्ति को क्रोष्टुशीर्ष है अथवा सधिवात, इसका निर्णय करने के लिए प्रथम महायोगराज गुग्गुलु आदि उष्ण द्रव्य देकर देखे। उनसे शोथ तथा वेदना में वृद्धि हो तो समझें कि रोग क्रोष्टुशीर्ष है। कारण, क्रोष्टुशीर्ष वात और रक्त की दुष्टि से होता है। उष्ण द्रव्यो की

योजना से उष्णगुण रक्त का कोप होकर रोग के लक्षणो की वृद्धि होती है। रोग-विनिश्चय कर सौम्य उष्ण वातरक्तहर गुडूची, एरण्डमूल आदि द्रव्यो की योजना करे। वे उपशय हो तो वातरक्त का निदान शुद्ध होता है। पञ्च-निदान प्रकरण में यह विषय पुनः प्रसंगागत होने से चर्चा जाएगा। अपचार (मिथ्या-हार-विहार) कितने प्रमाण में हुआ है इस बात का प्रश्न-परीक्षादि से ज्ञान प्राप्त कर यह अनुमान करे कि प्रकुपित दोष का प्रमाण कितना है ? अरिष्टो के प्रत्यक्ष से आयु के क्षय (मृत्यु काल निकट होने) का अनुमान करे। पुरुष कल्याणाभिनिवेशी हो--श्रेयस्कर कार्य के अनुष्ठान में प्रवृत्ति दर्शाए--इससे उसका कल्याण निकटवर्ती होने का अनुमान करे। पुरुष में राग, द्वेष आदि विकारो का अभाव हो तो उसमें सत्त्वगुण का उद्रेक है, इस बात का अनुमान करे।

इसी प्रकार तत्तत् दृष्ट वस्तुओ से प्रकृति, सत्त्व, सार आदि का अनुमान करना चाहिए। शल्य-शालाक्य तन्त्रो में भी अनुमान इसी प्रकार व्यापृत होता है। यथा--प्रनष्टे शल्ये चन्दनवृतोपदिग्धायां त्वचि विशोषण-विलयनाभ्याम् अनुमीयते--अत्र शल्यमिति--सु० सू० १।१६ पर डल्हन। त्वचा के नीचे स्थित अवयवो में शल्य कहाँ है यह निश्चय न होता हो तो सदिग्ध भाग की त्वचा पर चन्दन का लेप करें। जिस भाग की त्वचा का लेप समीपस्थ भाग की त्वचा की अपेक्षया शीघ्र सूख जाए उसमें शल्य है, यह अनुमान करे। इसी प्रकार सदिग्ध भाग पर जमा हुआ घृत रखे। त्वचा के जिस प्रदेश पर स्थित घृत विलीन हो जाए (पिघल जाए) उसके नीचे शल्य है यह अनुमान करे। प्रविष्ट शल्य के कारण व्रणशोथ होता है। उष्णता व्रणशोथ (इन्फ्लेमेशन) का एक धर्म है। शल्य-युक्त प्रदेश उष्ण होने से वहाँ रखा चन्दन शीघ्र सूख जाता है और घृत शीघ्र विलीन हो जाता है।

अनुमान-प्रकरण में हर्ष-शोक, रोष-विषाद, प्रसाद-अप्रसाद आदि मनोविकारो का निर्देश विशेष सख्या में हुआ है। इन विकारो का वेग तीक्ष्ण हो तो स्पष्ट हानि होती है। भारी द्रव्य-लाभ के समाचार मे हुए हर्ष के आवेश से मृत्यु जैसे परिणाम भी होते जाने जाते हैं। इसी से इन मनोविकारो से शारीर-मानस रोगो के होने की संभावना की जा सकती है। इन मनोभावो के निग्रह का भी परिणाम रोगान्त होता है। यथा, ब्रह्मचर्य प्रशस्त वस्तु है; परन्तु उसका भी युक्तियुक्त पालन न हो, मन को दबाकर अत्यधिक इन्द्रिय-सयम आदि किया जाए तो इससे मन का क्षोभ आदि परिणाम होते है--ब्रह्मचर्यस्यायुक्तिः अनभ्यासादतिमात्रेन्द्रियसंयमनादिरूपा। सा हि मनःक्षोभादिहेतुर्भवति--च० सू० ११।३५ पर चक्रपाणि। मनोभावो के निग्रह (रीप्रेशन) के परिणामो का अध्ययन आज के फ्रायड आदि मनोवैज्ञानिको ने सविशेष

किया है। इन मनोभावो से होनेवाले रोगो का अनुशीलन उनके ग्रन्थो मे किया जा सकता हे। इसी प्रकार रोष, शोक आदि मनोभाव किम संप्राप्तिपूर्वक देखते-देखते ग्रहणी में क्षत आदि विकार उत्पन्न कर देते है, उसका भी अध्ययन नवीनो के ग्रन्थो से इस प्रकरण की पुष्टि के लिए किया जा सकता है।

बालकों की रोग-परीक्षा में अनुमानका स्थान[1]

बालकानामवचसा विविधा देहवेदनाः।
प्रादुर्भूताः कथं वैद्यो जानीयाल्लक्षणार्थतः॥
इति पृष्टो महाभागः काश्यपो लोकवृद्धपः।
प्रोवाच वेदनास्तस्मै कारणैर्बालदेहजाः॥

काश्यपसंहिता

बालको की वाणी का विकास नही हुआ होता। अत वे अपनी वेदनाओ का वर्णन नही कर सकते। उनकी विविध चेष्टाओ को देखकर वेदना के स्थल और इयत्ता का अनुमान करना पडता है। इस प्रकार बालको की रोग-परीक्षा में अनुमान का महत्त्व सविशेष है। उनकी रोग-परीक्षा का सामान्य नियम यह है--

शिशोस्तीक्ष्णमभीक्ष्णं च रोदनाल्लक्षयेद्रुजम्[2]॥

अ० हृ० उ० २।५

शिशु रोता हो तो उसे किसी प्रकार की वेदना (कोई कष्ट) है यह प्रथम अनुमान करे। रोदन जितना अधिक काल हो तथा उसकी जितनी तीक्ष्णता हो उसी प्रमाण में वेदना है यह निर्णय करे। परन्तु, इस विषय में स्मरण रखना चाहिए कि जो बालक कफप्रकृति हो वह बाल्यकाल में ही उतना रोदनशील नही होता--न च बाल्येऽप्यतिरोदनो न लोलः। सो, अन्य प्रमाणो से प्रकृति को भी जान कर उसे लक्ष्य में रखते हुए ही रोदन के आधार पर वेदना की तीव्रता या अतीव्रता का अनुमान करना चाहिए।

बालको मे रोग के स्थान-सश्रय का अन्य नियम यह है--

१--स्थल काश्यप-सहिता--पृ० २१-२४; अ० हृ०, उ० २।५-८, माधवनिदान (बालरोगनिदान)।

२--'तीक्ष्णमभीक्ष्णम्' के स्थान पर 'तीक्ष्णाम् अतीक्ष्णाम्' तथा 'तीव्राम् अतीव्राम्' पाठान्तर है।

स यं स्पृशेद् भृशं देशं यत्र च स्पर्शनाक्षमः।
तत्र विद्याद् रुजम् ॥

अ० हृ० उ० २।६

रोता-रोता वालक जिस शरीरावयव को पुन:-पुनः छुए तथा जहाँ स्पर्शाक्षमता हो---स्पर्श करने से वालक वेदनावश रो उठे, और पहले से रो रहा हो तो अधिक बल से रोने लगे---उसी स्थान में वेदना और उसका कारणभूत रोग है, यह अनुमान करना चाहिए। इसके पश्चात् पूर्ण निर्णय के लिए उस स्थान से सवद्ध स्रोतो, अङ्गो और संधियो की यत्नपूर्वक और वार-व्रार परीक्षा करनी चाहिए---

स्रोतास्यङ्गानि संधींश्च पश्येद् यत्नान्मुहुर्मुहुः ॥

माधवनिदान

किस अवयव के स्पर्श से कहाँ रोग की अवस्थिति जाननी चाहिए इसका सविस्तर उल्लेख काश्यप ने तथा समासत: हृदयकार ने दिया है। सो यहाँ उद्धृत करते हैं।

शिशु को शिरोरुजा (शिरोवेदना) हो तो वह शिर को पुन-पुन पछाडता है, आँखें मींचता है, क्रन्दन करता है, किसी भी दशा में रति (चैन) नही अनुभव करता तथा निद्रावश नही होता।

उसे कर्णवेदना हो तो वह हाथो से कानो को वार-वार स्पर्श करता है, शिर पुन-पुन हिलाता है; अरति, अरुचि (स्तन को मुख न लगाना) और अनिद्रा से पीडित होता है।

उसे मुखपाक आदि मुखरोग हो तो अत्यधिक लालास्राव, स्तनद्वेष (स्तन को लगाया जाए तो मुख फिरा लेना), अरति, व्यथा, पिए दूध को उलट देना (तत्काल वाहर निकाल देना) तथा नाक से श्वास लेना (मुख रुग्ण होने से श्वास का वायु भी सहन न होने से मुख से श्वास न लेना)---ये चिह्न होते हैं।

उसे कण्ठ-वेदना (कण्ठ में---गले में---कोई रोग) हो तो पिये दूध का उद्गिरण (तत्काल वाहर निकाल देना), कण्ठ से चिकना और चिपटनेवाला कफ पडना[१], मन्दज्वर, अरुचि तथा ग्लानि (हर्षनाश)---ये लक्षण होते हैं।

वह अधिजिह्विका (जिह्वाग्र के नीचे स्थित लालाग्रन्थियो का शोथ ?) से पीडित हो तो लालास्राव, अरुचि, ग्लानि, कपोल (गाल) में श्वयथु (शोथ) और व्यथा तथा मुख खुला रखना---ये लक्षण होते हैं।

१---मूल मे 'विष्टम्भिश्लेष्मसेवनम्' पाठ है।

शिशु को गलग्रह रोग हुआ हो तो ज्वर, अरुचि और मुखस्राव होता है तथा शिशु कण्ठ ही में अव्यक्त ध्वनि (कण्ठकूजन)[१] करता है।

शिशु को कण्डूक (कण्ठक) रोग हुआ हो तो कण्ठ में (बाहर तथा अन्दर दृश्यमान) श्वयथु, ज्वर, अरुचि और शिरोवेदना होते हैं।

शिशु को ज्वर का पूर्वरूप हो तो, वह बार-बार शरीर को अन्दर की ओर सिकोडता है (जैसे शीतकाल में या ज्वरादि का वेग हो तो शीत की प्रतीति होने पर वयस्थ पुरुष हाथ-पैर, मुख इन सबको कोष्ठाभिमुख लाकर सो जाते हैं वैसे ही शिशु भी करता है), उसे पुनः-पुनः जृम्भा तथा कास होते हैं; वह अकस्मात् धात्री या माता की गोद में अपने को छुपा लेता है (शीत के वेग से त्राण पाने के लिए यह प्रवृत्ति होती है), स्तनपान की उसे बहुत इच्छा नहीं होती, पुनः-पुनः प्रस्राव (पेशाव) एवं शरीर का स्पर्श उष्ण होना तथा मुख की विवर्णता (निष्प्रभता), ललाट अति तप्त (गरम) तथा पैर शीत होना और अरुचि--ये चिह्न होते हैं।

शिशु को अतिसार होनेवाला हो तो उसके पूर्वरूप में शरीर की विवर्णता (फीकापन), अरति, मुख की ग्लानि (हर्ष का नाश), अनिद्रा, तथा वायु के कर्मों की निवृत्ति (उद्गार और अधोवायु की प्रवृत्ति न होना)--ये लक्षण होते हैं।

शिशु को उदरशूल (कोष्ठशूल) हो तो वह स्तन निकट लाने पर उसे झटके से दूर कर देता है (स्तन्य-द्वेष), अथवा स्तन को काटता है; रोता है; उत्तान (सीधा लेटा) हुआ अङ्ग-भङ्ग करता है (शरीर को मोडता है; यथा, पीठ को आगे झुकाता है या ग्रीवा आदि को पीछे ले जाकर पेट को ऊपर करता है); उसे विवन्ध, वमन, आध्मान तथा अन्त्रकूजन होते हैं; उसका उदर स्तब्ध (कठिन), शरीर शीत (न्यून ऊष्मावाला) एवं मुख स्वेद-युक्त होता है।

बालक को वस्ति तथा गुह्य-प्रदेश मे वेदना हो तो मल और मूत्र की अप्रवृत्ति (सग), त्रास (भय-त्रस्तता), तथा चारो ओर देखना--ये लक्षण होते हैं।

बालक को वमन होने को हो तो उसके पूर्वरूप के रूप में अकारण ही बार-बार उद्गार की प्रवृत्ति एवं निद्रा तथा जृम्भा का आधिक्य--ये लक्षण होते हैं।

१—मूल मे 'निष्टनेत्' शब्द है। धातुपाठ मे 'स्तन' धातु भ्वादिगण मे शब्द अर्थ मे पठित है। वह यहाँ गृहीत है। उसके अतिरिक्त चुरादिगण मे भी पठित है तथा उसका अर्थ देव शब्द (पर्जन्यगर्जन) है। अतएव मेघ का नाम स्तनयित्नु तथा उसके गर्जन का नाम स्तनित है। यहाँ अव्यक्त ध्वनि के लिए निपूर्वक स्तन धातु का व्यवहार हुआ प्रतीत होता है।

बालक को हृच्छूल हो तो वह जिह्वा तथा ओष्ठ को दाँतो से काटता है ; मुट्ठियाँ भींचता है, तथा उसे श्वास रोग होता है।

बालक की छाती से शब्दयुक्त उष्ण श्वास आता हो तो उसे श्वास रोग होनेवाला है, यह समझना चाहिए।

बालक कृश हो और उसे अकस्मात् (अनिमित्त) उद्गार-प्रवृत्ति हो आए तो उसे हिक्का होगी यह समझना चाहिए। (अर्थात् यह हिक्का का पूर्व-रूप है)।

बालक तृष्णा रोग से पीडित हो तो वह अत्यधिक स्तन-पान करता है, तथापि उसे तृप्ति-लाभ नही होता, वह रोता है, उसके ओष्ठ और तालु शुष्क होते है, वह जल की अभिलाषा व्यक्त करता है तथा बलहीन होता है।

शिशु को आनाह (कब्ज) हो तो उसके नेत्र विशाल (फटे हुए) तथा स्तब्ध (निमेषोन्मेष-रहित) होते है, उसे सधियो में वेदना, अरति, क्लम (उसके शरीर में बिना परिश्रम थकान होने से चेष्टा की प्रवृत्ति न होना) ; एव मूत्र, वायु और पुरीष की प्रवृत्ति न होना—ये चिह्न होते है।

बालक को अपस्मार होनेवाला हो तो वह अकस्मात् (कारण बिना ही) अट्टहास करता है—जोर से हँसता है।

उसे उन्माद हो तो प्रलाप (बकबक) अरति और चित्त किसी बात पर स्थिर न होना (वैचित्त्य)—ये चिह्न होते है।

उसे मूत्रकृच्छ्र हो तो रोमाञ्च, अङ्गो में झनझनाहट (अतएव हाथ-पैर शीघ्र उठा न पाना) ; तथा मूत्र के समय वेदना (उसके कारण चीख उठना), ओठ पीसना और वस्ति-प्रदेश पर हाथ मारना—ये लक्षण होते है।

बालक को प्रमेह हो तो मूत्र में गौरव (कुछ काल पात्र में रखें तो नीचे का भाग सान्द्र हो जाना), विबन्ध (प्रवृत्ति न होना), जडता (मूत्र-प्रवृत्ति मन्द-मन्द होना), कभी अकस्मात् (सहसा) मूत्र-प्रवृत्ति हो जाना, मूत्र मक्षिकाओ को प्रिय (कान्त) होना, एव वह वर्ण में श्वेत तथा सान्द्र (अपेक्षया गाढ) होना—ये लक्षण होते है।

बालक को अर्श हो तो उसका शरीर कृश होता है, उसे पुरीष का विबन्ध तथा उसकी पक्वता होना, पुरीष सरक्त होना ; एव गुद मे कण्डू तथा तोद होते है ; बालक गुद को दबाता है। बालक में अर्श हो तो इसे सहज अर्श समझना चाहिए। इसी कारण वह जन्मत' कृश होता है।

बालक को अश्मरी-रोग हो तो उसके मूत्र में शर्करा (वालुका, रेती) तथा मूत्र की सख्या और प्रमाण अधिक होना और मूत्र-प्रवृत्ति के समकाल वेदना होती है, बालक क्षीणकाय होता है तथा निरन्तर रोता रहता है।

बालक को विसर्प होनेवाला हो तो उसके पूर्वरूप में रक्तवर्ण छोटे-छोटे मण्डल (दाग या चकत्ते) निकलना, तृष्णा, दाह, ज्वर, अरति एव मधुर-रस तथा शीतगुण द्रव्य उपशय होना--ये लक्षण होते है।

बालक को विसूचिका हो तो उसके अङ्गो में दाह, तोद और भङ्ग (अङ्गमर्द, मोडना) होते है, बच्चा उनके कारण क्रन्दन करता है तथा उसके हृदय मे (हृदय-प्रदेश में) तीव्र शूल होता हे।

अलसक रोग में बालक शिर को स्थिर नहीं रख सकता, अङ्ग-भेद (अङ्ग-भङ्ग) तथा जृम्भा पुन-पुन होते है, स्तनपान बहुत (यथायोग्य) नहीं करता; उसे वमन होता है तो वह ग्रथित (गाँठो के रूप में) होता है, वह विषाद (सुस्ती) आध्मान तथा अरुचि से पीडित होता हे। अलसक में दोषो का प्रकोप विसूचिका के समान ही होता है, परन्तु उनका मुखमार्ग और अधोमार्ग से वमन-विरेचन के रूप में निर्गमन नही होता। दोष अलस (स्तब्ध, निर्गमन-शून्य) होकर आम-पक्वाशय में ही रहते है, अत इसे अलसक नाम दिया गया है। अँग्रेजी में भी इसी आशय के 'ड्राई कॉलेरा' या 'कॉलेरा सिक्का' नाम इस रोग के है।

बालक नेत्ररोग (नेत्राभिष्यन्द) से पीडित हो तो दृष्टि की व्याकुलता (आँख स्थिर और सम न रख सकना), तोद (चुभना), शोथ, शूल, अश्रु-प्रवृत्ति, रक्तवर्णता एव सोने पर आँखो में मल भर आना (उपलेप)--ये लक्षण होते है। तोद, शूल उन्हीं बच्चो में समझने चाहिए जो कुछ बोल सकें। सिरोत्पात (केशिकाएँ रक्तपूर्ण होना), पोथकी (कुकरे, गुजराती में खील, अँग्रेजी में ट्रेकोमा) किवा नेत्र में रजकण आदि गए हो तो तोद होता है--अन्दर कुछ चुभता-सा प्रतीत होता है।

बालक शुष्क कण्डू से पीडित हो तो विछौने पर शरीर को घिसता है, रोता है, कोई हाथ फेरे (खुजलाए) ऐसी इच्छा व्यक्त करता है, ऐसा करने से सुख अनुभव करता तथा शान्त हो जाता है। शुष्क कण्डू न मिटे तो आर्द्र कण्डू हो जाती है। त्वचा में स्नेह का क्षय होने से तथा वात का प्रकोप होने से शुष्क कण्डू होती है। नानात्मज रोगो के प्रकरण में कह आए है कि कण्डू कफ, पित्त तथा वात तीनो से होती है। तीनो में कौन दोष कारणभूत है यह लक्षणादि से जानकर ही उपयुक्त चिकित्सा का निर्णय किया जा सकता है।

आर्द्र (स-स्राव) कण्डू में मर्दन करने से--खुजलाने से--बालक सुख अनुभव करता है, परन्तु ऐसा करने से परिणाम रूप में शोथ हो जाता है। शोथ होने पर उस स्थान से शूल और दाह सहित स्राव होता है[1]।

१--मूल मे यहाँ 'शून स्रवति सस्योढामार्द्रीया शूलदाहवत्' पाठ है। 'सस्योढाम्' का क्या अर्थ होगा ?

वालक के शरीर में आम-दोष होनेवाला हो तो उसमें स्तैमित्य (आर्द्रता या निःस्पन्दता—चेष्टा-हीनता[1]), अरुचि, निद्रा, शरीर की पाण्डुकता (श्वेतता), अरति, क्रीडा, भोजन, शयन तथा धात्री के प्रति अविरत द्वेष (इनमें चित्त न लगना) उसने स्नान न किया हो तो भी (आम-जन्य शरीर के आर्द्रत्व के कारण) स्नान किया हो ऐसा दीखना तथा स्नान किया हो तो भी (मलिनता के कारण) स्नान नहीं किया हो ऐसा आभास होना—ये पूर्वरूप होते हैं।

वालक को पाण्डुरोग हो तो नाभि के चारो ओर शोथ; नख, नयन तथा वदन की श्वेतता; अग्नि की मन्दता, अक्षिकूट (आँख के ऊपर का अस्थिकूट) पर शोथ, उत्साह का लोप, रक्त की क्षीणता और स्पृहा (चेष्टा की इच्छा) का नाश—ये लक्षण होते हैं।

वालक कामला से पीडित हो तो पीतवर्ण के नख, नयन, वदन, पुरीष और मूत्रवाला; उत्साह-रहित, एव अग्निमाद्य, रक्तक्षय और चेष्टानाश-युक्त होता है।

वालक मदात्यय से पीड़ित हो तो मूर्च्छा, प्रजागर (निद्रानाश), वमन, धात्री-द्वेष (या मातृ-द्वेष), अरति, भ्रम, त्रास (भय), उद्वेग (घवराहट, व्याकुलता) और तृष्णा—इन लक्षणो से जाना जाता है।

वालक को पीनस (प्रतिश्याय) हो तो वह स्तन्यपान करता-करता बीच-बीच में वार-वार मुख से श्वास लेता है। (यह श्वास में लिया वायु उदर में जाकर प्रत्याध्मान उत्पन्न करता है); उसकी नासिकाओ से जल का स्राव होता है, ललाट उष्ण रहता है, नासाग्र को वार-वार स्पर्श करता है; उसे हिक्का तथा कास के वेग होते है। वह उरोघात रोग से पीडित हो तो पीनसोक्त लक्षणो के अतिरिक्त छाती में वहुत शब्द (घर्घराहट) सुनाई पडता है।

वालक की चर्या स्वस्थवृत्तानुसारिणी हो, उसे सामान्यत. कोई रोग न हो तो भी वह रात को सोए नही, (अथवा सोता-सोता सहसा चौंक कर जाग उठे, और रोने लगे) तथा त्वचा पर रक्तविन्दु व्याप्त हो तो उसे यूका पिपीलिका,

---

१—पाणिनीय धातुपाठ मे तिम, स्तिम (ष्टिम) तथा स्तीम (ष्टीम) धातुएँ दिवादिगण मे आर्द्रीभाव के अर्थ मे पठित है। लोक मे 'स्तिम' धातु नि स्पन्दता या स्थिरता के अर्थ मे व्यवहृत है। यथा—वालक रघु को देखते दिलीप के वर्णन मे रघुवश मे—**निवातपद्मस्तिमितेन चक्षुषा नृपस्य कान्त पिवतः सुताननम्।** मल्लिनाथ ने स्तिमित का अर्थ नि स्पन्द दिया है। इससे वना स्तैमित्य शब्द आयुर्वेद मे प्रचुर प्रयुक्त है। स्तिमितम् आर्द्रम्, जडमित्यन्ये—सु० सू० ४२।४ (२) पर डल्हन।

मत्कुण आदि जन्तु काटते हैं यह अनुमान करे। छोटे-छोटे रक्त-विन्दु उनके दश के चिह्नभूत होते हैं। उन्ही के कारण उसकी निद्रा नष्ट हुई होती है।

काश्यप-संहिता ने इसके आगे असाध्य तथा अरिष्ट-लक्षणो का निर्देश किया है। उनका निर्देश आगे अरिष्ट-प्रकरण में किया जाएगा।

सम्यक् परीक्षा का महत्व

ये शास्त्रोक्त परीक्षा में उपयोगी प्रमाण हैं। जो चिकित्सक इस प्रकार सर्व प्रमाणो से रोगी की सम्पूर्ण परीक्षा कर तत्पश्चात् आहारौषधादि की योजना करता है वही सिद्धि-लाभ करता है। तन्त्रकारो ने बडे प्राणवान् शब्दो में सम्यक् परीक्षा का महत्त्व नीचे लिखे अनुसार वताया है--

आप्ततश्चोपदेशेन प्रत्यक्षकरणेन च।
अनुमानेन च व्याधीन् सम्यग्विद्याद्विचक्षणः ॥

च० वि० ४।६

विचक्षण वैद्य का कर्त्तव्य है कि प्रत्येक व्याधि को द्विविध आप्तोपदेश, प्रत्यक्ष और अनुमान द्वारा यथावत् जाने।

सर्वथा सर्वमालोच्य यथासंभवमर्थवित्।
अथाध्यवस्येत् तत्त्वे च कार्ये च तदनन्तरम् ॥

च० वि० ४।१०

शास्त्र में कुशल वैद्य को व्याधि-विषयक तत्त्व (सम्पूर्ण ज्ञातव्य) की यथा-सभव सभी प्रमाणो द्वारा समग्रतया परीक्षा कर तत्त्व का निश्चित ज्ञान प्राप्त करना चाहिए और उसके अनन्तर रोग-विषयक अपने कर्त्तव्य का निश्चय करना चाहिए।

कार्यतत्त्वविशेषज्ञः प्रतिपत्तौ न मुह्यति।
अमूढः फलमाप्नोति यदमोहनिमित्तजम् ॥

च० वि० ४।११

चिकित्सा के तत्त्व और विभिन्न प्रसंगो पर करने योग्य उसके विशेष मुद्दो को जो विचक्षण वैद्य जानता है वह कार्य उपस्थित होने पर कभी किंकर्त्तव्यविमूढ़ नही होता। बुद्धि के वैशद्य के जिस परिणाम की कल्पना की जा सकती है वह उसे प्राप्त होता है।

ज्ञानबुद्धिप्रदीपेन यो नाविशति तत्त्ववित्।
आतुरस्यान्तरात्मानं न स रोगांश्चिकित्सति ॥

च० वि० ४।१२

रोगो के निदान और चिकित्सा-सम्बन्धी सम्पूर्ण तत्त्व को जाननेवाला जो वैद्य अपने ज्ञान और बुद्धिरूप प्रदीप की सहायता से रोगी के अन्तरात्मा मे प्रविष्ट नहीं होता--उसके अन्तस्तल तक पहुँच नही जाता--वह कदापि रोग का उपचार करने में समर्थ नहीं हो सकता।

मिथ्यादृष्टा विकारा हि दुराख्यातास्तथैव च।
तथा दुष्परिमृष्टाश्च मोहयेयुश्चिकित्सकम्॥

मु० सू० १०।७

किंबहुना, रोगो की प्रत्यक्ष परीक्षा मिथ्या (असम्यक्) हो, प्रश्न-परीक्षा मे उत्तर असम्यक् दिये गये हो किंवा प्रत्यक्ष और प्रश्न से उपलब्ध रोग-विषयक जानकारी का अनुमान द्वारा विचार यथावत् न किया गया हो तो चिकित्सक अपने कर्त्तव्य-विषयक जो निर्णय करता है वह कार्य-साधक नही होता।

आठवाँ अध्याय

रोग-परीक्षा मे परीक्षणीय विषय

अथातो रोग-परीक्षा-विषय विज्ञानीयमध्यायं व्याख्यास्यामः। इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः[1] ॥

परीक्ष्य विषय[2]--

गत अध्याय में रोग-परीक्षा में ज्ञातव्य विषयो का ज्ञान जिन प्रमाणो से होता है उनका निर्देश सोदाहरण किया गया था। इस अध्याय में तथा आगे इन प्रमाणो द्वारा ज्ञेय विषयो का निरूपण करेंगे।

तस्मादातुरं परीक्षेत—प्रकृतितश्च, विकृतितश्च, सारतश्च, संहननतश्च, प्रमाणतश्च, सात्म्यतश्च, सत्त्वतश्च, आहारशक्तितश्च, व्यायामशक्तितश्च, वयस्तश्चेति बलप्रमाणविशेषग्रहणहेतोः[3] ॥

च० वि० ८।८४

रोग-परीक्षा में रोगारम्भक दोष का बल तथा रोग के आश्रयभूत शरीर का बल (प्रतिकार-शक्ति) जानने के प्रयोजन से ज्ञातव्य विषय अधोलिखित हैं--१. प्रकृति, २. विकृति अथवा रोग, ३. सार; ४. संहनन (शरीर की पुष्टि तथा बल); ५ शरीर-प्रमाण (समस्त शरीर तथा उसके अङ्ग-प्रत्यङ्ग का माप); ६. सात्म्य; ७ सत्त्व (मनोबल); ८ आहारशक्ति तथा अग्नि; ९ व्यायामशक्ति (बल), १० वय, ११. ऋतु काल, १२. देश; १३. दोष, १४. दूष्य, १५ रोग की विविध अवस्थाएँ, १६. औषध।

१—अध्याय-स्थल सु० सू० ३५।३–४६, च० चि० ३०।२९१–३२९, च० सि० ३।६, च० सू० १५।५, च० वि० ८।८८–१२८, अ० हृ० सू० १२।६७–६८, तथा इन पर चक्रपाणि, डल्हन, अरुण-हेमाद्रि।

२—स्थल—च० वि० ८।९४, सु० सू० ३५।३, च० चि० ३०।२९२, च० सि० ३।६, च० सू० १५।५।

३—बलप्रमाणविशेषग्रहणहेतोरिति देहबल दोषबल च सामान्येन गृह्यते ॥
चक्रपाणि

रोग-विषयक ज्ञातव्य निदान-पञ्चक--इन विषयो मे प्रधान रोग के संबध मे ज्ञातव्य विषयो को पाँच वर्गो मे विभक्त किया गया है। इनको निदान नाम दिया गया है। पाँचो निदानो के नाम अधोलिखित है--

निदानं पूर्वरूपाणि रूपाण्युपशयस्तथा।
सम्प्राप्तिश्चेति विज्ञानं रोगाणा पञ्चधा स्मृतम्॥

अ० हृ० नि० १।२

निदान (रोग-हेतु), पूर्वरूप, रूप या लक्षण: उपशय-अनुपशय तथा संप्राप्ति।

निदानपञ्चक या पञ्चनिदान नाम से इनका विवरण शास्त्रकारो ने पृथक् प्रकरण मे किया है। अधिक वक्तव्य होने से उनका उल्लेख पश्चात् करेंगे। रोग-परीक्षा मे शेष विषयो का विवरण इस अध्याय में करते है[1]।

१--**एक संज्ञा का शास्त्र मे अनेक अर्थो मे प्रयोग**--

स्मरण रहे--निदानपञ्चक मे पाँचो ज्ञेयो का नाम भी निदान है और पाँचो मे प्रथम का नाम भी निदान है, जिसका अर्थ कारण है। संस्कृत समृद्ध भाषा होते हुए भी आयुर्वेद के प्राचीन आचार्यो ने एक-एक शब्द का प्रयोग अनेक अर्थो मे किया है। यथा, इस **निदान** शब्द के अतिरिक्त **वीर्य** शब्द द्रव्यो की शक्ति मात्र के लिए भी प्रयुक्त हुआ है तथा शक्ति के एक भेद उत्कृष्ट गुण के लिए भी। **पूर्वरूप** शब्द भी दो तरह के सर्वथा भिन्न लक्षणो के लिए प्रयुक्त हुआ है। **प्रकोप** शब्द दोषो की वृद्धि के लिए आया है तथा वृद्धि की एक अवस्था, जिसमे दोष रोगोत्पत्ति मे समर्थ होते है उसके लिए भी आया है। **ज्वर** शब्द शारीर और मानस दोनो ज्वरो के लिए आया है, यद्यपि दोनो मे शब्द-साम्य के अतिरिक्त कोई सादृश्य नही है। **कषाय** शब्द द्रव्यो की कल्पना-मात्र के लिए आया है तथा कल्पना-विशेष (क्वाथ) के लिए भी। इसी प्रकार **यवागू** शब्द आहारो की कल्पनाओ के एक वर्ग के लिए आया है और उसके एक भेद के लिए भी। **विपाक** शब्द का कुछ भिन्न प्रकार से विचार चरक और सुश्रुत ने किया है। **प्राण-अपान** शब्दो की भी यही स्थिति है। प्राण शब्द एकादश प्राण, पाँच वायुओ मे एक तथा नासाभ्यन्तर सञ्चारी वायु (निकलने वाला वायु) एवं उत्साह के लिए आया है। अपान शब्द भी पाँच वायुओ मे एक तथा नासाद्वार से प्रविष्ट होने वाले वायु के लिए आया है। आचार्यो की इस शैली को न समझ कर टीकाकारो ने इन शब्दो को बडा दुरूह बना दिया है। अध्यापको को प्रत्येक शब्द की स्पष्टता उसके प्रकरण मे कर देनी चाहिए।

१—प्रकृति

प्रकृतिः जन्मप्रभृति वृद्धो वातादिः ॥

च० सू० १७।६२ पर चक्रपाणि

जन्म से ही अर्थात् शुक्र-शोणित का समूर्च्छन (सयोग) और उसमें जीव (सूक्ष्म शरीर) का अनुप्रवेश होने के साथ ही प्रत्येक पुरुष के शरीर में वातादि दोषो मे से एक या अनेक का आधिक्य होता है। इस प्रकार जन्मत शरीर में जो दोष अधिक (उत्कट) होता है उसे किवा उससे बने शरीर और मन के वैशिष्ट्य को प्रकृति कहा जाता है।

जन्म से उत्कट दोष पर ही प्रत्येक पुरुष के शरीर की पुष्टि, उसका स्वभाव, उसका आरोग्य-अनारोग्य, उसका आहार, विहार, गति, उसका अग्निवल, उसकी त्वचा आदि का वर्ण, उसका वय, उसका अन्य व्यक्तियो के प्रति व्यवहार, उसका काम (सेक्शुअल विहेविअर) उसके सतान और इसी प्रकार अन्य अनेक बाते, अवलम्बित होती है, जो उसके अन्य पुरुषो से भिन्न (विशिष्ट) स्वरूप—शारीरिक सघटन तथा मानसिक स्वभाव—होने में कारणभूत है।

प्रकृति-जनित उक्त भावो मे आयुर्वेद की दृष्टि से सवसे अधिक स्मरणीय आरोग्य-अनारोग्य है। प्रकृत्यारम्भक दोष के भेद से प्रकृतियाँ सात प्रकार की होती है—पृथक् दोषो से तीन, नाम वातल (वातिक), पित्तल (पैत्तिक) तथा श्लेष्मल (श्लैष्मिक), ससृष्ट (दो-दो) दोषो से तीन, नाम वातपित्तल, वातश्लेष्मल तथा पित्तश्लेष्मल एव समस्त दोषो से एक वातपित्तश्लेष्मल।

प्रकृतियों के ज्ञान की उपयोगिता इस कारण है कि प्रकृति की उत्पत्ति जिस दोष से हुई हो उसके प्रकोपक (वर्धक) आहार-विहारादि का सेवन करने से उस दोष का प्रकोप शीघ्र होता है। अन्य दोषो के प्रकोपक कारणो का सेवन करने पर भी उनका प्रकोप उतना नही होता[1]। परिणाम यह होता है कि—वातलस्य वातनिमित्ताः पित्तलस्य पित्तनिमित्ताः, श्लेष्मलस्य श्लेष्मनिमित्ता व्याधय प्रायेण बलवन्तश्च भवन्ति—च० वि० ६।१५।—वातप्रकृति पुरुष को वातप्रकोपज रोग, पित्त-प्रकृति को पित्तज तथा श्लेष्म प्रकृति को श्लेष्मज रोग प्राय—अन्य दोषारब्ध रोगो की अपेक्षया अधिकतर—होते है और बलवान् होते है।

होता यह है कि, प्रकृत्यारम्भक दोष अपने विरोधी गुणो के द्वारा शेष दोषो के प्रकोपक कारणो के सेवन से संभावित प्रकोप को दबाए रहता है, अतः

१—देखिए—च० वि० ६।१६, १७, १८।

सामान्यतः इतर दोषो के प्रकोप से होनेवाले रोग उस प्रकृतिवाले पुरुष को पीडित नही करते। इतना ही नही, एक ही कारण जो स्वभावतः दो दोषो को प्रकुपित करनेवाला हो उसका सेवन किया जाए तो वह भी प्रकृति के उत्पादक दोष को ही सविशेष कुपित करता है, शेष दोष को उतना कुपित नही करता। जैसे, अम्ल रस का अतियोग समान-गुण पित्त तथा कफ दोनो के वर्धक के रूप मे शास्त्र में निर्दिष्ट है। परन्तु, पित्तप्रकृति पुरुष मे यह पित्त की तथा कफप्रकृति पुरुष में यह कफ की ही विशेषतया वृद्धि करेगा। इस प्रकार इतर दोषो के प्रकोपक कारण भी मानो प्रकृत्यारम्भक दोष को ही प्रकुपित करनेवाले सिद्ध होते है।

एक उपमा से इस बात को समझने का प्रयास करें। हम जानते है, नाटको तथा अन्य काव्य-भेदो मे एक भाव आदि से अन्त तक स्थिर रहता है और प्रधान रस का उत्पादक होता है। शेष भाव उसी के पोषक होते है और बीच-बीच में जाते-आते रहते है। पहले भाव को स्थायी भाव तथा शेष भावो को संचारी भाव कहते है। शरीर मे भी प्रकृत्यारम्भक दोष को शरीर की पुष्टि, मानसिक स्वभाव, आरोग्य, अनारोग्य आदि का प्रमुख कारण होने से एव जीवन में आदि से अन्त तक स्थिर होने से स्थायी दोष कह सकते है, तथा शेष दोषो को सचारी।

प्रकृत्यारम्भक दोष का प्रकोप सुलभ होने के कारण ही रोगो की साध्यासाध्यता के प्रकरण में भी प्रकृति का विचार प्रथम किया जाता है। रोग का उत्पादक दोष वही न हो जिससे प्रकृति की उत्पत्ति हुई है तो रोग सुखसाध्य होता है। परन्तु, प्रकृति और रोग दोनो का आरम्भक दोष समान ही हो तो दोष का बल बढ जाने से रोग कष्टसाध्य होता है। इसी प्रकार निदान, ऋतु, देश, काल आदि प्रकृत्यारम्भक दोष के अनुकूल या प्रतिकूल होने से भी साध्यासाध्यता मे भेद होता है।

रोग-परीक्षा में ज्ञातव्य वस्तुओ में प्रकृति के प्रथम निर्देश का कारण अब समझा जा सकता है। संक्षेप में, प्रकृति के ज्ञान से प्रथम तो इस बात की कल्पना उदित हो आती है कि रोग का उत्पादक कारण तीनो दोषो में से कौन सा दोष हो सकता है। उसे दृष्टि में रखकर उसी का अनुसरण करते हुए उस दोष के द्वारा उत्पन्न होनेवाले नानात्मज या सामान्यज रोगो का अनुसधान करना चाहिए। चिकित्सा मे भी उसी को प्रथम पद देना चाहिए। इस प्रकार रोग की उत्पत्ति के अनन्तर निदान तथा चिकित्सा की विशुद्धि के प्रयोजन से प्रकृति का ज्ञान उपयोगी है। परन्तु, जैसा कि पहले भी कह आए है, प्रकृति का ज्ञान रोगों की अनुत्पत्ति (प्रिवेन्शन) में भी उतना ही उपयोगी है। पुरुष को अपनी प्रकृति

का ज्ञान हो तो वह स्वस्थवृत्त का अनुशीलन करता हुआ अपनी दिनचर्या, रात्रि-चर्या, ऋतुचर्या तथा ऋतुसंधिचर्या यदि इस प्रकार की रखे कि प्रकृत्यारम्भक दोष की वृद्धि न होने पाए तो वह सम्भावित रोगो से अपने को रक्षित रख सकता है। और नही तो इतना तो होता ही है कि, रोग का बल उतना बढ नही पाता। साथ ही, प्रकृत्यनुसार वाजीकरणो का सेवन कर वह अपनी व्यवाय-शक्ति को परिणत वय-पर्यन्त स्थिर रख सकता है तथा उचित रसायनों का सेवन कर अपनी आयु को दीर्घ, शरीर को स्थिर तथा इन्द्रियो को वार्धक्य में भी अक्षुण्ण रख सकता है।

प्रकृति शब्द आयुर्वेद में विकृति के विरोधी भाव धातुसाम्य या स्वास्थ्य के लिए प्रसिद्ध है। परन्तु, ऊपर प्रकृति-विषयक जो विवेचन किया है उससे स्पष्ट है कि शरीर के जिस धर्म-विशेष को प्रकृति नाम दिया गया है वह आरोग्य का सूचक नही है। वस्तुत, चरकाचार्य ने असदिग्ध पदो में कह भी दिया है कि,[1] जिस पुरुष में प्रकृत्यारम्भक तीनो दोष सम अवस्था में हो,—वातलादि सर्व प्रकृतियो में पृथक् पृथक् कहे प्रशस्त गुणो के समुदाय से जिस प्रकृति की रचना हो उसी को प्रकृति नाम देना चाहिए, तद्युक्त पुरुषो को ही अनातुर (स्वस्थ) कहना चाहिए। शेष वातलादि को प्रकृति न कहकर विकृति ही कहना चाहिए। उनकी शरीर-प्रकृति दोषानुबद्ध (दोष-सपृक्त) होती है—दोषानुशयिता ह्येषा देहप्रकृतिरुच्यते—च० सू० ७।४०।

यह और बात है कि, जैसा कि पूर्वपक्ष ने कहा है—पुरुषो का स्वभाव ही हो गया है कि वे विषमाहार-विहार किया करते है। इसलिए—न समवातपित्त-श्लेष्माणो जन्तवः सन्ति—च० वि० ६।१३। अत उक्त समधातु पुरुष दुर्लभ होने से वातल आदि को ही प्रकृति कहना चाहिए। इसका उत्तर देते तन्त्रकार ने कहा है कि—समधातु पुरुष सुलभ हो या दुर्लभ, वह हमारा आदर्श है—हमारा लक्ष्य है। अत प्रकृति तो उसी को कहना चाहिए, वातलादि को विकृति नाम देना ही समीचीन है।

प्रकृतियों की तुलना—चरक का यह स्पष्ट वक्तव्य होते हुए भी वातिक आदि के लिए ही प्रकृति शब्द का व्यवहार आयुर्वेद और वैद्य-समाज में चिरकाल से प्रवृत्त है। इसीसे समधातु प्रकृति समस्त प्रकृतियो में सिद्धान्तत श्रेष्ठ मानी है, तथापि उसके दुर्लभ होने से शेष वातिक आदि प्रकृतियो की ही परस्पर तुलना करके उनमे कफप्रकृति को उत्तम कह दिया है। देखिए—

१—देखिए—च० सू० ७।३९-४० च० वि० ८।१०० च० वि० ६।१३ तथा चक्रपाणि।

तैश्च तिस्रः प्रकृतयो हीनमध्योत्तमाः पृथक्।
समधातुः समस्तासु श्रेष्ठा, निन्द्या द्विदोषजा ॥

अ० हृ० सू० १।१०

तीनो प्रकृतियो मे कफप्रकृति को उत्तम कहना आयुर्वेद के प्राचीन आचार्यो की आर्य सस्कृति के स्वरूप का सूचक है। प्रकृतियो के लक्षणो की तुलना करने से विदित होगा कि, कफप्रकृति पुरुष के पास धन-सपत्ति, भृत्य, मित्र आदि उपभोग के साधनो का प्राचुर्य होता है, साथ ही शारीर बल सपन्न होने से वह इन साधनो का उपभोग भी समग्रतया कर सकता है; दानशीलता तथा सविभाग-रुचिता के कारण इन साधनो का उपभोग अकेला नही करता; स्वभाव से शान्त होता है अत उसे जीवन मे मानस क्लेश भी बहुत पीडित नही करता। आयु भी दीर्घ होने से उपभोग दीर्घकाल पर्यन्त कर सकता है। कि बहुना, इस प्रकार उपभोग के साधनो तथा उपभोग की शक्ति के बाहुल्य के कारण और यह उपभोग भी त्यागपूर्वक होने से आर्य सस्कृति की दृष्टि से कफ-प्रकृति सर्व प्रकृतियों में उत्तम मानी गयी है। 'त्यक्तेन भुञ्जीथाः' यह आर्य सिद्धान्त है।

द्विदोषज प्रकृतियों को निन्द्य इसलिए कहा गया है कि, प्रकृत्युत्पादक एक दोष रोग उत्पन्न न करे ऐसी चर्या का अवलम्बन किया जाए तो वह चर्या इतर दोष की वृद्धि करनेवाली सिद्ध हो सकती है। इस द्वितीय दोष को समावस्था मे रखनेवाली चर्या रखी जाय तो वह प्रथम दोष को प्रकुपित करती है। यथा, वातकफ-प्रकृति पुरुष में वात के शमनार्थ अभ्यङ्ग करे तो वह कफ की वृद्धि कर सकता है। कफ को सम रखने के प्रयोजन से लङ्घन किया जाए तो उससे वात की अभिवृद्धि होती है। परिणामतया द्विदोषज प्रकृतियाँ रोग उत्पन्न न करे एतदर्थ कोई मार्ग सुगम न होने से (उपक्रम-विरोधित्वात्) उन्हे निन्द्य कहा गया है।

प्रकृति की सूक्ष्म परीक्षा व्यवसायोपयुक्त होने से एक-दो उदाहरणो द्वारा इसे स्पष्ट कर दू। कास और श्वास का अधिष्ठान उरस् है। यह कफ और वात का स्थान है। अत सामान्यतया कास-श्वास कफ-वात की वृद्धि से ही होते है और उष्ण आहार-औषध, वमन-लङ्घन आदि से शान्त होते है। परन्तु ये रोग यदि पित्त-प्रकृति पुरुष मे हो तो उनमे कारण पित्त तो नही है इस बात की गवेषणा करनी चाहिए। उरस् कफ का स्थान होने से पित्तज कास-श्वास में यत्किचित् अनुबन्ध कफ का भी होता ही है। कारण—एकः प्रकुपितो दोषः सर्वानेव प्रकोपयेत्। सो, पित्त के साथ कफ का भी अनुबन्ध होने से अन्य रोगियो के समान इन्हें भी (स्टीरिऑटाइड्) उष्ण औषध दी जाएगी तो क्षणिक लाभ

अवश्य करेगी, परतु स्थायी गुण तो पित्त को लक्ष्य बनाकर की गयी चिकित्सा से ही होगा। आहार में भी दूध आदि शीत द्रव्य ही ऐसे रोगियो को देना ठीक होगा।

कास-श्वास के समान प्रतिश्याय भी पित्त-प्रकृतियो को एवं पित्त-दुष्टि मे होता है, यह वस्तु भी चिकित्सा-व्यवसाय में स्मरण रखनी चाहिए। प्रतिश्याय को भी कफ-वात-प्रधान ही समझा जाता है। गुजराती में 'सर्दी' तथा अंग्रेजी में 'कोल्ड' नाम इसी धारणा के सूचक भी हैं। परन्तु, इसका भी पैत्तिक भेद होता है। उसे ध्यान मे रखना चाहिए। कदाचित् पित्तज प्रतिश्याय में एक नासा में दुष्टि विशेष हो, साथ ही उस ओर के पुर कपालगत वाताशय (फ्रॉण्टल सायनस) में दुष्टि पहुँच जाए तो अर्धभेद तथा सूर्यावर्त-सदृश शिरोवेदना होती है। दुष्टि एक ही ओर के नासास्रोत और वाताशय में होने से वेदना उसी ओर के ललाटार्ध में होती है। एव, प्रात काल वायु उष्ण न होने से वह पित्त का प्रकोपक नही होता। सूर्योदय होकर जैसे-जैसे सूर्य ऊपर चढता जाता है वैसे-वैसे बाहर तथा शरीर में उष्णता की वृद्धि होती जाती है और तज्जनित यह शिरोवेदना भी बढती जाती है। मध्याह्न के पश्चात् विपरीत क्रम होने से वेदना भी घटती जाती है। ऐसे रोगियो में प्रतिश्याय में उपयोगी कोई भी औषध, यथा त्रिभुवनकीर्ति, किसी पित्त-प्रत्यनीक औषध, यथा प्रवाल के साथ देने से त्वरित गुण होता है।

पित्तज कास, श्वास या प्रतिश्याय में कफ का भी अनुबन्ध होने का अर्थ आयुर्वेद की दृष्टि से तो पहले कहा ही जा चुका है कि पित्त के मुख्यतया प्रकोपक अम्ल, कटु आदि द्रव्य मुख्यतया तो पित्त की ही वृद्धि करते हैं, परन्तु समान गुणो-वाले कफ तथा वायु का भी प्रकोप यत्किंचित् करते ही हैं। नव्य मत से इन रोगो के प्रसग मे कफ के प्रकोप का स्वरूप यह होता है। इन रोगो के स्थानो में रोग-जनक हेतु का सश्रय होने पर उनके प्रतिकार के लिए प्रकृति (आयुर्वेद-मत से भगवान् वायु) अधिक प्रमाण में रस-रक्त का आयात इन स्थानो पर करता है। इन स्थानो मे कफ-ग्रन्थियाँ (म्यूकस-ग्लैण्ड्स) भी होती हैं। उन्हें भी रस-रक्त की उपलब्धि अधिक प्रमाण में होती है। इसका उपयोग कर वे सामान्य की अपेक्षया अधिक मात्रा में कफ की उत्पत्ति करती है। यही आयुर्वेद-मत से कफ का अनुबन्ध है। यह कफ भी रोग की निवृत्ति में उपयोगी तो सिद्ध होता ही है। कारण, इसके निर्हरण की जो प्राकृत व्यवस्था होती है वह अब सविशेष व्यापृत हो जाती है, जिससे उसके (कफ के) साथ विकारोत्पादक द्रव्य की भी शुद्धि हो जाती है।

किं बहुना, इस उपयोगी विषयान्तर की समाप्ति में इतना कह देना योग्य है कि, पित्त या वात से प्रवृत्त कफ तनु (पतला) तथा स्वल्प होता है, जबकि गुरु

आदि कफ-प्रकोपक गुणो वाले द्रव्यो के अतियोग से प्रकुपित हुए कफ से उत्पन्न कास, श्वास या प्रतिश्याय में जो कफ प्रवृत्त होता है वह सान्द्र तथा प्रभूत होता है। प्रत्येक दोप के अन्य लक्षण भी अपने-अपने रोग मे होते ही है। इन सब बातो का विचार कर इन तथा अन्य रोगो में दोषानुसार योग्य चिकित्सा करनी चाहिए।

प्रकृति की उत्पादक तथा पोपक सामग्री--जैसा कि ऊपर कहा, शुक्र-शोणित तथा जीव (लिङ्ग शरीर) का समूर्च्छन होने पर शुक्र या पुंबीज मे तथा शोणित या स्त्री-बीज में और उनसे बने गर्भबीज (फर्टिलाइज्ड ओवम) में जिस दोषका आधिक्य होता है उसी के अनुसार प्रकृति बनती है।[1] शुक्र और शोणित मे

१--इस प्रकरण मे (सु० शा० ४।६३ की टीका मे) डल्हन ने अपना तथा गयदास का मत उद्धृत कर एक रसिक सिद्धान्त-चर्चा की है। उपयोगी होने से वह मूल-रूपेन नीचे दी जाती है। अपना मत देते डल्हन कहता है--'यो भवेद् दो॰ उत्कट' इति स्वभावस्थितो न प्रकुपित । द्विविधा ह्युत्कटा वातादय, प्राकृता वैकृताश्च । तत्र प्राकृता. सप्तविधाया प्रकृतेर्हेतुभूता. शरीरैकजन्मान., वैकृताश्च गर्भव्याघातकाः ॥--'शुक्र-शोणित का सयोग होने पर 'उत्कट' दोप से प्रकृति बनती है, इस वचन मे प्रयुक्त उत्कट शब्द का अर्थ स्वभाव-स्थित (स्व-मानावस्थित) दोप है, न कि प्रकुपित। कारण, उत्कट दोपो के दो प्रकार है--प्राकृत तथा वैकृत। इनमे प्राकृत (अप्रकुपित, स्व-प्रमाणस्थ) एव शरीर के ही अङ्गभूत दोपो से सात प्रकार की प्रकृति बनती है, जबकि वैकृत (प्रकुपित) वातादि दोप गर्भ को नष्ट करनेवाले होते है।

आगे गयदास का दिया अन्य ही समाधान उद्धृत करता डल्हन कहता है--गयी त्वन्यथैवाशङ्क्य समादधाति--गयदास ने अन्य ही प्रकार से शङ्का उठायी है और उसका अन्य ही समाधान किया है। यथा, ननु, स्वभावत· शुद्धं बीज कर्मणा वा समधातु गर्भं निष्पादयति, अनिरादिदोषदुष्ट तु गर्भजननाय न समर्थमिति शुक्रशोणितशुद्धावुक्तं, तत्कथमुत्कटेन दोपेण प्रकृतिरिति? उच्यते--प्रश्न है कि, शुक्र और शोणित की शुद्धि के प्रकरण मे कहा गया है कि, बीज स्वभाव से शुद्ध हो, किंवा अशुद्ध हो तो चिकित्सा द्वारा उसे शुद्ध कर लिया गया हो तो ही वह समदोप-धातु-सम्पन्न गर्भ की उत्पत्ति करता है। बीज (शुक्र-शोणित) यदि वातादिदोप दूपित हो तो वह गर्भोत्पत्ति नही कर सकता। सिद्धान्त यह है तो यहाँ यह कैसे कहा कि, उत्कट (प्रकुपित, दुष्ट) दोप से प्रकृति बनती है। उत्तर देते है--न हि सर्वमेव बीज दूषित, किं तर्हि बीजावयवो दूषित.। न चावयवगतदोषेण गर्भप्रतिबन्धो जात्यन्धमूकादेर्दर्शनात्।--प्रकृत्यारम्भक दोप→

एक या अनेक समान-गुण ही दोषो का अधिक होना सभव है। यह भी सभव है कि, दोनो में अधिक दोष भिन्न भी हो। प्रथम स्थिति में तो सरलता से समझा जा सकता है कि समान दोष से प्रकृति की उत्पत्ति होगी। द्वितीय स्थिति में, शुक्र और शोणित दोनो में से जिसमे स्थित दोष वलवान् होगा वह प्रकृति का आरम्भक होगा। अथवा दोनो तुल्य-वल हो तो ससृष्ट (मिश्र) प्रकृति होने की सभावना होगी। यह भी सभव है कि, दोनो दोषों के समान गुणो का आविर्भाव प्रकृति में विशेषतया देखा जाए तथा परस्पर-विरुद्ध गुण दबे हुए हो।

शुक्र और शोणित या पुबीज-स्त्रीबीज प्रकृति के निर्माण मे मुख्यतया

—से समग्र ही वीज की दुष्टि नही होती कि जिसमे गर्भ हो ही नही, किन्तु वीज का अवयवमात्र दूषित होता है। और, अवयव-विशेष के आरम्भक वीजभाग मे दुष्टि हो तो उससे गर्भ के होने मे कोई प्रतिबन्ध नही होता। देखते भी है, अवयवगत दोष होने से जात्यन्ध (जन्मान्ध), जातिमूक आदि अवयव-विकृति वाले पुरुष उत्पन्न होते ही है। तस्माद् य एवांशो बीजस्य दुष्टो भवति तत्कार्यस्यैव गर्भावयवस्य विकृतिरभावो वा भवति। यथा, दृष्ट्यारम्भके बीजभागे दुष्टे जात्यन्धो गर्भो भवति, न तु गर्भ एव न भवति, तथा दोषाख्ये बीजभागे दुष्टे तत्कार्यस्यैव गर्भशरीरभागस्य समधातोरपेक्षया विकृति स्फुटितकरचरणादिलक्षणा भवति, न तु गर्भव्याघात.।—अत यह सिद्धान्त है कि भावी गर्भगत जिस अवयव-विशेष का बनानेवाला वीजगत अश (भाग) दुष्ट (दोषविकृत) होगा, उसी का कार्यभूत—उससे उत्पन्न होनेवाला—अवयव दोष के तारतम्यानुसार विकृत होगा या बनेगा नही। यथा, दृष्ट्यारम्भक (नेत्रोत्पादक) वीजभाग दुष्ट होगा तो गर्भ जात्यन्ध होगा, यह नही कि गर्भ बनेगा ही नही। ठीक इसी प्रकार वीजगत दोष-नामक भाग दुष्ट होगा तो उसके कार्यभूत गर्भशरीरावयव मे दोष-भेद से हाथ-पैर फटे होना आदि वे विकृतियाँ दृष्टिगोचर होगी, जो समधातु (जिसके प्रकृत्यारम्भक दोष दुष्ट नही है ऐसे पुरुष) मे देखने मे नही आती। गर्भ का अभाव नही होता। तदुक्तम्—"शुद्धं स्वभावकर्मभ्यां वाताद्यैर्दुष्टमशत। दृष्टं बीजार्थकृद् बीज तत्र प्रकृतिरुत्तरम्॥" इस विषय मे प्रमाणभूत प्राचीन वचन भी है—बीज (पुबीज, स्त्री बीज), जो वृक्ष-वनस्पतियो के वीजो के समान (समान की उत्पत्ति-रूप) कार्य करनेवाला होता है वह (दो प्रकार का होता है। एक तो) स्वभाव या जन्म से शुद्ध अथवा जिसकी अशुद्धि उपचार-विशेष द्वारा दूर कर उसे शुद्ध (निर्दोष) बना लिया गया है ऐसा, तथा (दूसरा वह जो) वातादि दोषो से अशत दूषित हो। इनमे द्वितीय (उत्तर) प्रकार के बीज से प्रकृति की उत्पत्ति होती है।

भाग लेते है अत उनका प्रारम्भ में पृथक् निर्देश किया गया है। इनके अतिरिक्त अन्य भी कुछ भाव (वस्तुएँ) हैं, जो शुक्र-शोणित को प्रभावित कर प्रकृति के निर्माण मे सहकारी कारण के रूप में भाग लेते है। ये भाव अधोलिखित हैं--काल (माता-पिता का वय तथा ऋतु), गर्भाशय, माता का आहार-विहार एव उस काल बाह्य-सृष्टिगत महाभूत। इनकी जो भी प्रकृति होगी, नाम इनमे गर्भशरीर मे जिस-जिस दोष को उत्कट करने का स्वभाव होगा वही दोष उत्कट होकर शुक्र-शोणितगत दोषो के प्रमाण का निर्माण करेगा और उसके अनुसार गर्भ-शरीर की प्रकृति बनेगी[1]। सक्षेप मे, शुक्र-शोणित और अभी कहे ये काल आदि मिलकर जिस भी दोष को उत्कट बनाएँगे उसके अनुसार ही प्रकृति बनेगी। शुक्र-शोणित के सबध मे ऊपर जो बात कही, वह यहाँ भी लागू समझनी चाहिए कि, प्रकृत्युत्पादक इन भावो में कोई किसी दोष का वर्धक होगा, कोई किसी का। सबका स्योग होने पर ऋण-धन हो कर अन्त में योग-रूप में जो एक, दो या तीन दोष उत्कट रहते हैं उनसे प्रकृति बनती है।

प्रकृत्युत्पादक अन्य सामग्री[2]--आयु का प्रमाण (एक्स्पेक्टेशन ऑफ लाइफ) जानने के लिए चरक ने इन्द्रियस्थान नामक एक पृथक् स्थान रचा है। इसके आरम्भ में ही आयु का प्रमाण जानने में उपयोगी सामग्री का उल्लेख आचार्य ने किया है। इस सामग्री में एक प्रकृति भी है। प्रकृति के विषय मे विचार करते हुए इस प्रकरण मे अन्य कतिपय कारणो से भी प्रकृति का भिन्न होना--तदनुरूप होना--लिखा है। ये कारण अधोदर्शित है--जाति, कुल, देश, काल (युग), वय, बल और प्रत्येक पुरुष का आत्मा।

जाति आदि के भेद से पुरुषो की प्रकृति में भेद प्रत्यक्ष देखा जाता है। देश का विचार करना हो तो एक ही भूखण्ड के अत्यन्त समीप रहनेवाले लोगो मे प्रकृति-भेद होता है। फ्रास और जर्मनी, महाराष्ट्र तथा गुजरात इत्यादि देशो के व्यक्तियो के शारीर-मानस स्वभाव में भेद सुविदित है। युग के भेद से प्रकृति-भेद का उदाहरण आचार्य चरक ने जनपदोद्ध्वसक अध्याय में विशद रीति से दिया है। 'आयुर्वेदीय हितोपदेश' में यह प्रकरण वाचक देख सकते हैं। वयोभेद से बालक, युवा आदि में प्रकृति-भेद होता है। अनुभव और सत्त्व-कृत सयम का इसमें बडा हाथ होता है। तथापि, कोई पुरुष चिरकाल किसी के साथ रहे

१--देखिए--च० वि० ८।९५, च० सू० १७।६२ पर चक्रपाणि।

२--देखिए--च० इ० १।५ तथा चक्रपाणि, अ० स० शा० ८। सग्रहकार ने प्रकृति के लिए 'सप्त' विशेषण दिया है, जिससे सिद्ध है कि यहाँ शुक्र-शोणितोत्पन्न प्रकृति की ही बात है।

तो सयम और अनुभव के आधार पर जो प्रकृति छुपी हुई (दवी हुई) होती है वह पहचानी जा सकती है। वल-भेद से प्रकृति में भेद होता है। शान्त कफ-प्रकृति पुरुष भी पाण्डुरोग आदि से क्षीण हो तो वह क्रोध-शील हो जाता है। आत्मा पूर्वजन्म के सस्कारो के कारण जो प्रकृति लेकर आया होता है, वह शुक्र-शोणित गत प्रकृति को प्रभावित करती है, यह वस्तु सरलता से समझी जा सकती है। महापुरुषो का वलवान् आत्मा शारीर प्रकृति को अभिभूत कर अत्यन्त क्लेशसाध्य कार्य उनके शरीरो से कराता है, यह सदा देखने में आता है।

प्रकृति के विषय में आधुनिक वैज्ञानिको में कुछ मत-भिन्नता है। प्रकृति-विकृति से सवद्ध छोटी-बडी वातें सतान में माता-पिता से आती हैं। उनके वीजो में क्रोमोसोम नामक सूत्र होते हैं, जो प्रकृति की अवतारणा करते हैं। इन सूत्रो पर प्रकृतिगत एक-एक विशिष्टता का वहन करनेवाला 'जेन' नामक एक-एक कण होता है। सृष्टि के आरम्भ से किसी वीज में जो जेन और क्रोमोसोम थे, वही जेन और क्रोमोसोम अपरिवर्तित रहते हुए आज तक सतान-परम्परा के वीजो में चले आ रहे हैं, ऐसा मत प्राय वैज्ञानिको का है। स्थिति यह होने से किसी भी जाति का स्वभाव परिवर्तित हो यह शक्य ही नही है। इस विचार-धारा का एक परिणाम यह हुआ है कि——गोरी जातियाँ अवतक रगीन जातियो पर शासन करती रही हैं, अत दोनो के वीज में ही यह अपरिवर्तनशील स्वभाव ओतप्रोत हुआ माना गया है जिसके कारण गोरी जातियाँ राज्य करने के लिए ही स्वभाव-सिद्ध क्षमता रखती हैं और रगीन प्रजाओ में शासित होकर रहने से अधिक पात्रता ही नहीं है।

उल्लिखित मत के विरुद्ध मन्द ध्वनि इस मत की भी कभी-कभी सुनने को मिलती है कि, परिस्थितियाँ (एनवायर्नमेण्ट) प्रकृति को प्रभावित करती हैं। इतना ही नही, प्रकृति में परिवर्तन भी उनके कारण उत्पन्न हो सकता है। इस विषय का कुछ विचार 'हेविट एण्ड हेरिटेज' में वाचक देख सकते हैं। ग्रन्थ-कार ने उसमें पुष्ट प्रमाणो से सिद्ध किया है कि परिस्थिति-वश ग्रहण किए आचरण आदि से किसी वश या जाति के व्यक्तियो में जो परिवर्तन हुए देखे जाते हैं वे नि सदेह यह सूचित करते हैं कि क्रोमोसोमो में शील-परिवर्तन सभव है। आयुर्वेद प्रकृति की उत्पत्ति मे वीज तथा परिस्थिति दोनो को स्वीकार करता है, यह ऊपर दिए प्रकृति के उत्पादक भावो को दृष्टि मे रखते हुए स्पष्ट समझा जा सकता है। इतना ही नही, जन्म-जन्मान्तर के सस्कार लेकर आया हुआ आत्मा या सूक्ष्म शरीर भी प्रकृति को प्रभावित करने में विशिष्ट स्थान रखता है, यह आयुर्वेद तथा भारतीय विचारको का मन्तव्य है।

अन्य तन्त्रों में प्रकृतिका विचार—प्रकृतियो का विचार भारतीय चिकित्सा-शास्त्र का अविच्छेद्य अङ्ग है। वृक्षायुर्वेद में भी प्रकृतियो का विचार किया गया है। 'आयुर्वेदीय हितोपदेश' में मैंने 'शिवतत्त्वरत्नाकर' तथा शार्ङ्गधर-कृत 'उपवन-विनोद' से वृक्षो की प्रकृति का निरूपण करते पद्य उद्धृत किये है। कामशास्त्र में भी पुरुषो तथा तथा स्त्रियो के शश-वृष, शङ्खिनी-पद्मिनी आदि भेद कहे गये है। उनका प्रयोजन यह दर्शाना तो है ही कि स्वभाव की दृष्टि से किस प्रकृति का पुरुष किस स्त्री के लिए अनुरूप होगा, परन्तु उसका विशेष प्रयोजन यह हे कि काम के प्रमाण का विचार करते कौन स्त्री-पुरुष सम कक्षा के है। कारण, काम (रति की इच्छा और शक्ति) का प्रमाण न्यूनाधिक हो तो वह प्रत्यक्ष या प्रच्छन्न कलह का बीज बन सकता हे। इसी प्रकार इन भेदो से यह भी लक्षित होता हे कि, किस प्रकृति के पुरुष और स्त्री के जननावयव ग्रामधर्म में एक दूसरे के अधिक से अधिक पूरक हो सकते है।

होमियोपैथी में भी प्रकृतियो का स्वीकार एव सविस्तर उल्लेख मिलता है। एलोपैथी के ग्रन्थ देखने से प्रतीत होता हे कि, पश्चिम में प्रकृतियो का विचार ऍलोपेथी का नवीन उत्कर्ष हुआ, उसके पूर्व से चालू था। उसको स्वीकार कर विशेष प्रकार से व्याख्या करने की प्रवृत्ति नवीनो में प्रवृत्त हुई है। प्रकृतियो का आयुर्वेद-समत स्वरूप दर्शा कर हम इस विषय का उल्लेख करेंगे। परन्तु, गत एक-दो दशको में मनोविज्ञान के उत्कर्ष के साथ प्रकृति का विचार नये रूप में खडा हुआ है। रजोगुण (इमोशन) का स्थान मस्तिष्क में थैलेमस या हायपोथैलेमस नामक प्रदेश हे। इसका सबध एक ओर जीवनयोनि (ऑटोनॉमस—अनैच्छिक) नाडी-सस्थान के साथ हे, जिसके कारण मस्तिष्क में स्थित स्वायत्त नाड़ी सस्थान के साथ भी इसका सवध होने से उसकी क्रिया पर भी इसका न्यूनाधिक प्रभाव होता हे। दूसरी ओर थैलेमस का सवध अपने पडोस में ही स्थित पोषणिका (पिच्युइटरी) ग्रन्थि के साथ होता है। यह ग्रन्थि शरीर की शेष सभी अन्तःस्रावी ग्रन्थियो की अधिष्ठात्री है। प्रकृतियो के प्रसंग में यहाँ विशेषतया स्मरणीय ग्रन्थि अधिवृक्क ग्रन्थि है। जिन्हें आयुर्वेद में पित्त-प्रकृति कहा गया है उनमें इन सभी अवयवो की क्रिया उग्र तथा सहसा कुपित हो जाने के शील वाली होती हे। इनका कोप हो जाए तो अधिवृक्क ग्रन्थियो का अन्तःस्राव एड्रीनलीन कुपित (अति स्रुत) हो नाडीसस्थान को अत्यधिक सधुक्षित (उद्दीपित) कर देता है। परिणामतया, शरीर तथा मन में पचनात्मक व्यापार अति तीव्र हो जाते है। इस प्रकार किसी दुर्घटना का वृत्तान्त उपलब्ध होने के अनन्तर एक अहोरात्र में ही पैत्तिक शूल (आमाशय या ग्रहणी में क्षत) होने का वृत्त आधुनिक ग्रन्थो में प्राप्त होता हे। इस प्रकार प्राचीनो ने जो विषाद को सर्वरोगो का मूल

कहा था उसे नवीन अन्वेषणो ने अधिक दृढ भित्ति पर स्थापित कर दिया है। आधुनिक चिकित्साशास्त्र में तो यह सूत्र सा बन गया है कि--रोग-परीक्षा में यह नही देखना चाहिए कि किसी रोगी को किन लक्षणो वाला रोग हुआ है, प्रत्युत इस बात पर हमें ध्यान देना चाहिए कि किन लक्षणो (प्रकृति, टेम्परामेंट) वाले रोगी को कोई रोग हुआ है। यह विचार-सरणि आधुनिक चिकित्साशास्त्र को आयुर्वेद तथा योगविद्या के अधिक निकट ले आई है। आयुर्वेद के उन्नायको को आयुर्वेद का स्वरूप जगद्विदित करने के लिए स्वयमागत इस अवसर का पूरा लाभ उठाना चाहिए।

प्रकृतियो के विषय में आमुख रूप में इतना विवेचन कर अब हम प्रकृतियो के पृथक् लक्षण देंगे। प्रकृतियो का उल्लेख क्रियाशारीर मे भी किया जाता है। वहाँ इनके उल्लेख का अभिप्राय उनके अनुसार सभावित रोगो का परिज्ञान करना है, जिससे स्वस्थवृत्त में कही चर्या बुद्धिस्थ हो जाए, जिसके अवलम्बन से निज तथा आगन्तु शारीर-मानस रोगो की उत्पत्ति नही होने पाती। काय-चिकित्सा में प्रकृतियो के उल्लेख का प्रयोजन रोगो की अनुत्पत्ति तो है ही, इनकी विशेष उपयोगिता तो रोगो की परीक्षा (निदान) में है। कारण, अमुक-अमुक रोग अमुक-अमुक प्रकृतियो वालो को ही होता है, यह प्रकृतियो का लक्षण जानने से विदित होगा।

कफ-प्रकृति पुरुष के लक्षण

श्लेष्मा या कफ के अधोलिखित गुण हैं--स्निग्ध, श्लक्ष्ण, मृदु, मधुर, सार (दृढ), सान्द्र (घन, सुषिर-विपरीत), मन्द, स्तिमित (स्थिर या आर्द्र), गुरु, शीत, पिच्छिल, स्वच्छ, सौम्य।

कफ में, या अन्य किसी दोष धातु आदि शारीर द्रव्य मे, किंवा शरीर-बाह्य द्रव्यो में जिन गुणो की विद्यमानता बताई जाती है वह शरीर पर उनकी बाह्य या आभ्यन्तर क्रिया को विशेषतया लक्ष्य करके ही--कर्मभिस्त्वनुमीयन्ते नानाद्रव्याश्रया गुणा --सु० सू० ४६।५१४। यह सुश्रुत का प्रसिद्ध वचन है। एक उदाहरण से इसे स्पष्ट कर दे। सद्यस्क (सद्योभव, ताजे) नवनीत के गुणो मे एक सुकुमार है (देखिए सु० सू० ४५।६२)। नवनीत (मक्खन) में स्पर्शगम्य सुकुमार गुण भी है, पर आयुर्वेद में उसका वैसा महत्त्व नही। टीकाकार डल्हन ने अतएव सुकुमार का अर्थ देते हुए कहा है कि जिसके बाह्याभ्यन्तर योग से शरीरावयवो मे सौकुमार्य उत्पन्न हो उसे सुकुमार कहते हैं--सुकुमारं देहसौकुमार्यकरम्। यही स्थिति सर्वत्र शारीर या शरीरबाह्य गुणो का अर्थ समझने में रखनी चाहिए।

कफ, पित्त और वात में ये गुण है, इसका अर्थ यह है कि प्रत्येक दोप शरीर में रहता हुआ तत्तत् गुण की विद्यमानता का हेतु है। साथ ही, वह शेप दोपों के विरोधी गुणों को अपने गुणों के प्रभाव से बढ़ने नहीं देता। इस प्रकार अपनी प्रकृति आदि को दृष्टि मे रख पुरुष समयोगयुक्त आहार का सेवन करे तो तीनो दोषो का साम्य (प्रकृति) बना रहता है। इसके विपरीत प्रकोपक निदान का सेवन किया गया तो जिस गुण के प्रकोप करने का स्वभाव सेवित निदान मे होगा उसका प्रकोप होगा। और अन्य दोष के विरोधी गुण की क्षीणता न होते हुए भी क्षीणता के लक्षण प्रकट होगे। दूसरी ओर, निदान किसी दोप के किसी गुण-विशेष को क्षीण करनेवाला होगा तो उस गुण का क्षय होगा, उसका क्षय होने से उसके प्राकृत कर्मो की मन्दता लक्षित हो तदनुसार विकार उत्पन्न होगे। अपरञ्च, क्षीण हुए गुण का विरोधी गुण यद्यपि वास्तव में कुपित नही हुआ है तो भी अन्य दोष के विरोधी गुण के क्षीण हो जाने से उसे दबा कर साम्यावस्था मे रखनेवाला कारण शेष नहीं रहा है, इससे उस गुण के प्रकोप के लक्षण लक्षित होगे। तात्पर्य, दोषो का प्रकोप या क्षय कभी अपने प्रकोपक या क्षयकारक हेतुओ के सेवन से होता है तो कभी विरोधी गुण के क्षयकारक या प्रकोपक कारणो के अति-योग से होता है। चिकित्सा में आत्मविपरीत गुण (गुणवाले द्रव्य) का यथावत् सेवन किया जाए तो दोष पुन. समावस्था में आते हैं।

कहानी में प्रसिद्ध एक उदाहरण से इस बात को समझने का प्रयत्न करे। चार अगुल की एक रेखा को बडा या छोटा करना हो तो दो रीतियाँ है। उसे बढा दिया जाए या मिटा कर कुछ कम कर दिया जाए, यह एक प्रकार है। दूसरा प्रकार यह है कि, उसके पडोस मे ही अपेक्षया छोटी या बडी रेखा खेच दी जाए। छोटी रेखा की तुलना मे पहले खेची रेखा बडी दीखेगी, अथवा बडी की तुलना मे छोटी दीख पडेगी। किसी दोष के गुण-विशेष की साक्षात् वृद्धि या क्षय करने-वाले द्रव्यादि का अतिसेवन पहले उदाहरण के समान है, तथा विरोधी गुण का न्यून या अति सेवन द्वितीय उदाहरण के साथ तुलना करने से समझ आए ऐसा है।

प्रकृतियो में दोषो के लक्षण ज्ञात हो तो किस गुण का कितना प्रमाण है यह जानकर उसे समावस्था मे रखे ऐसे तत्प्रत्यनीक आहार, विहार, देश तथा काल का योग्य प्रमाण में सेवन करते हुए पुरुष अपने देह में दोषो को समावस्था मे रखता हुआ रोगो की उत्पत्ति को रोक सकता है। प्रकृति-मात्र के विषय में प्रस्तावना-रूप इतने विवेचन के पश्चात् अब कफ-प्रकृति पुरुष के लक्षणो का उल्लेख करते हैं।

कफ के गुण ऊपर बताए हैं। कफ-प्रकृति पुरुष के अवयवो मे, उनकी क्रियाओ में, सर्वाङ्ग में, उसके आहार-विहार, भाषणादि मे, एव उसकी मानसी

प्रकृति में--सक्षेप में उसकी समस्त चर्या में इन्ही गुणो का ग्राविर्भाव उपलब्ध होता है। तथाहि--उसके अङ्गो पर ही प्रथम दृष्टिपात करें तो वे स्निग्ध (जानो तैल का अभ्यङ्ग किया हो ऐसे), श्लक्ष्ण (मसृण, फर्नीचर को पॉलिश करने से जैसा स्पर्श होता है वैसे), मृदु--दवाने मे दवनेवाले, नयनानन्ददायी, सुकुमार, शुभ्र (गौर-प्रधान) तथा सुन्दर होते है। प्रत्येक अवयव सुडौल, सम, घन (ढीला-पोचा नही), सारवान् तथा बल-सपन्न, सधियाँ स्थिर (गति तथा अन्य चेष्टाओ के समय न लडखडाने या कॉपनेवाली), गूढ (परिपुष्ट मास-पेशियो, स्नायुओ तथा कण्डराओ से वेष्टित होने से दीख न पडनेवाली) एव सुबद्ध, मास प्रभूत और अस्थियाँ सपुष्ट होती है। उसके मुख की छवि, वर्ण तथा स्वर स्निग्ध और प्रसन्न होते है। (स्वर की स्निग्धता--फटा हुआ या अन्य विकृतिवाला न होना)। नेत्र (नेत्रो की श्लेष्मकला) धवल, किनारो पर ललाई लिए, स्निग्ध तथा विशाल, भौंह (भरावदार होने से) काली और शब्द, जैसा कि ऊपर कहा, स्निग्ध और प्रसन्न होने से मेघ, समुद्र, मृदङ्ग या सिह के स्वर के सदृश गम्भीर होता है। उसका वर्ण दूर्वा, इन्दीवर (नील-कमल), खड्ग, ताजा अरीठा, सरकण्डा, प्रियगु, गोरोचना या सुवर्ण इनमें किसी के समान होता है। उसके बाहु विशाल, वक्ष स्थल विपुल तथा भरा हुआ, ललाट-पट्ट विस्तृत और केशावली स्थिर (न झडनेवाली, पित्त-प्रकृति पुरुष के समान जिसमें खालित्य आ जाए ऐसी नही), कुटिल और (पोषण सम्यक् प्राप्त होने के कारण) गहरी काली होती है। उसकी गति मदयुक्त गजराज के समान (स्विंगिग-झूले खाती) तथा चरण-निक्षेप (भरा हुआ कदम) सपूर्ण, अस्खलित (कम्प-रहित) तथा अचल होता है। (चरण-निक्षेप असंपूर्ण होते है, तो केवल चरणाग्र भूमि को छूता है, मध्य या पश्चात् भाग उठा ही रहता है। कफ-प्रकृति पुरुष में पद के संपूर्ण भाग भूमि पर पडते है और धीमे-धीमे उठते है)।

सर्वाङ्ग तथा प्रत्यङ्ग में दृष्टिगोचर होनेवाले इन लक्षणो से ही कफ-प्रकृति पुरुष दूर से ही जान लिया जाता है। कदाचित्, प्रकृति में अन्य दोषो का संसर्ग या सनिपात हो तो भी इन लक्षणो की उपस्थिति तथा उनका प्रमाण देख कर जाना जा सकता है कि प्रकृति के उत्पादन में कफ का स्थान कितना है? तदनुसार चिकित्सक इतने से ही अपने कार्य (निदान-चिकित्सा) की दिशा का कुछ अवधारण कर सकता है। अब उसके सहवास में कुछ दिन रहने से या प्रश्न-परीक्षा से ज्ञेय लक्षण देखिए।

कफ-प्रकृति पुरुष की क्षुधा तथा तृष्णा मन्द होती है। मधुर रस उसे प्रिय होता है। तथापि, कदाचित् तिक्त, कषाय, कटु, उष्ण, रूक्ष एवं अल्प

भोजन का प्रसग आए तो भी उसका बल स्थिर रहता है। पित्त-प्रकृति या वात-प्रकृति पुरुष के समान अनशन या प्रकृति-विरुद्ध गुणवाले भोजन से वह शारीरिक दौर्वल्य, एवं चिड़चिडापन आदि के रूप में मानसिक क्षोभ के वश नही होता।

कफ का गुण शीत होने के कारण ही उसे धूप, ताप तथा स्वेद बहुत पीडित नहीं करते। पित्त-प्रकृति पुरुष मे पित्त के उष्ण-गुण के कारण (शरीर मे उष्णता की उत्पत्ति का स्वभाव ही विशेष होने से) धूप, ताप वे सहन नही कर सकते। स्वेदोत्पत्ति भी उनमें अधिक होती है। यहाँ भल्लातक-प्रभृति उष्ण-तीक्ष्ण द्रव्यो को भी स्मरण किया जा सकता है। ऐसे द्रव्य पित्त-प्रकृति पुरुषो के लिए सह्य नही होते। सो, इनका प्रयोग करते हुए प्रकृति की परीक्षा प्रथम की जानी चाहिए। कफ-प्रकृति पुरुषो मे इसके विपरीत शीतादि गुणयुक्त कफ-वर्धक द्रव्यो की सहिष्णुता अल्प होती हे। एक उदाहरण से इसे स्पष्ट कर लें। रसायन प्रकरण में एक कल्प है--मण्डूकी-शङ्खकुसुमावाजिगन्धा-शतावरी--अर्थात् मण्डूकपर्णी (ब्राह्मी), शङ्खपुष्पी, अश्वगन्धा और शतावरी--इन चार का दुग्ध के अनुपान से सेवन उत्तम मेध्य है। बद्धिजीवी पुरुष इसका उपयोग करें तो विना श्रम चिरकाल तक कार्य कर सकते है। निद्रा भी स्वस्थ आती है। उसके अनन्तर पुरुष स्फूर्ति से कार्य करने योग्य स्थिति अपने शरीर और मन में अनुभव करता है। इसमें मधुयष्टी और उस्तखुद्दुस नामक यूनानी में प्रसिद्ध मेध्य द्रव्य का भी प्रक्षेप किया जाए तो यह योग गुणवत्तर हो जाता है। इसमे अश्वगन्धा आदि द्रव्य शीत और मन्द है। मन्द का अर्थ नव्य मत से यह है कि, मस्तिष्क के कोषो को ये द्रव्य कुछ अवसन्न कर देते हैं--अत. निद्रा लाभ भी इनसे होता है। इस योग के सेवन से कई पुरुषो को निद्रा अधिक आती हे। समझ लेना चाहिए कि उनकी प्रकृति में कफ का प्राधान्य, ससर्ग या सनिपात है। सो, निद्रा आदि अनभीष्ट परिणामो का प्रमाण देख कर या तो योग का प्रमाण कम कर देना चाहिए या सख्या कम कर देनी चाहिए। अथवा--ऐसे व्यक्तियो के लिए योग में ब्राह्मी का प्रमाण बढा देना चाहिए। अधिक अच्छा यह होगा कि, ब्राह्मी एक भाग के स्थान पर आधा भाग ब्राह्मी (हाईड्रेकोटाइल एशियाटिका) डालें तथा आधा भाग बगाल में जिसे ब्राह्मी कहा जाता है वह द्रव्य (जल-ब्राह्मी, गुजराती--बाम ; लेटिन नाम --हर्पेस्टिस मोनीएरा) डालें। यह द्रव्य कुछ अधिक उष्ण होता हे।

एक अन्य प्रसिद्ध उदाहरण लें। दूध, केला, टमाटर आदि द्रव्यो के सेवन से कई जनो में मल की ग्रथितता तथा अङ्गमर्द-प्रभृति वात-प्रकोप के लक्षण देखे जाते है। प्रथम दृष्टि में ये द्रव्य वात-प्रत्यनीक गुणो वाले होने से

वात-शामक होने चाहिए, यही प्रतीति होती है। तथापि, कइयो से इनके सेवन से विबन्ध तथा वात-प्रकोप होता है, यह निश्चित है। इन लोको में कफ का प्राधान्य होता है। दूध आदि का सेवन करने पर प्रकृति और निदान दोनो समगुण होने से कफ का प्रकोप होता है। अन्य अवयवो के समान प्रकुपित कफ के मन्द गुण का महास्रोत पर भी प्रभाव होता है। समान और अपान वायु जिनका कर्म अन्न, मल तथा वायु को अधोद्वार की दिशा में गति कराना है, वे मन्द-गुण कफ से आवृत होते हैं---परिणामतया उनके द्वारा सपाद्य अनुलोमनी गति में मन्दता आती है। पित्त तथा वायु, जो क्रमश पचन और क्लेद-शोषण द्वारा मल के क्लेद और स्नेह को क्षीण करते हैं, वे प्राकृत हो तो भी उन्हें अपना व्यापार करने के लिए अधिक काल उपलब्ध होता है। उनकी क्रिया से मल ग्रथित हो स्वय तो सचित होता ही है वायु को भी अवरुद्ध करता है। वायु की इस प्रकार वृद्धि, सचय, प्रकोप और प्रसर हो कर तद्रुत्थ लक्षण उत्पन्न होते है। यकृत्-गत पित्तवह स्रोतो पर कफ के मन्द गुण की इसी प्रकार क्रिया हो कर एव वायु द्वारा पित्त के क्लेद (द्रवत्व) का शोषण हो कर सान्द्रता और कभी ग्रथितता होती है। ऐसी अवस्था को प्राप्त पित्त स्वय अपने तथा अपने पीछे आनेवाले पित्त के मार्ग का अवरुद्ध करता है। अवरुद्ध हुए इस पित्त को व्यान वायु शाखाओ में (रस-रक्तादि धातुओ तथा त्वचा मे) प्रक्षिप्त करता है और शाखाश्रित कामला को उत्पन्न करता है। इस सप्राप्ति का उपयोग कामला के प्रकरण में दर्शाएँगे। कि बहुना--

इसी प्रकार रोगो की परीक्षा तथा चिकित्सा मे प्रकृति के विचार का व्यव-सायोपयुक्त विनियोग करना चाहिए। अब कफ-प्रकृति पुरुष के इतर लक्षण देखिए।

कफ-प्रकृति पुरुष मे ओज, शुक्र, मैथुन, सतान तथा भृत्य प्रभूत होते है। उसकी यावत् चेष्टाएँ, आहार, व्यवहार सब मन्द होते है। उसका स्वभाव प्रत्येक कार्य को धीमे-धीमे करने का होता है। (किसी भी कार्य के संपादन मे अन्य जनो की अपेक्षया वह अधिक समय लगाता है)।

कुछ रुक कर इन लक्षणो की व्याख्या करने का प्रयत्न करे। पित्त-प्रकृति पुरुषो मे पित्त का पाकादि कर्म स्वभावत अधिक होता है। परिणामतया, धात्वग्नियो द्वारा अन्नरस के साथ धातुओ का भी पचन होता रहता है। इससे धातुओ का उपचय अधिक नही होने पाता। पुरुष क्षीण और कृश रहता है। नव्य मत का आश्रय ले कर कहना हो तो इन व्यक्तियो मे प्रकृत्या अधिवृक्क (एड्रीनल), चुल्लिका (थायरॉयड) तथा उनकी नियामक पोषणिका (पिच्युइटरी)

ग्रन्थि के अन्त.स्रावो का प्रमाण अधिक होता है, जिससे धातुपाक सविशेष होता है। वात-प्रकृति पुरुषो मे निसर्गत' रसवह एव तत्तत् धातु के पोषक मासवह, अस्थिवह आदि स्रोत कृश होते है; साथ ही रस के ग्रहण और उसे आगे धकेल देने के लिए जो स्थिति-स्थापक गुण या सकोच-विकास शीलता होनी चाहिए वह योग्य प्रमाण में नही होती। परिणाम में, धातुओ को पोषक रस यथावत् न प्राप्त होने से उनका पोषण जैसा होना चाहिए वैसा नही होता। कफ-प्रकृति पुरुष में पित्त और वात के इन गुणो के विपरीत स्थिति होती है। उसमे पित्त-विपरीत शीत गुण होता है--पचनात्मक व्यापार उतना अधिक नही होता। इसीने प्रथम तो क्षुधा-तृष्णा उसे उतना पीडित नही करते। तीनो प्रकृतियो वाले पुरुषो को अन्न या जल विना रहने का प्रसग आए तो पित्त तथा वात-प्रकृति वाले पुरुषो के लिए अन्न-जल विना रहना अति दुर्भर हो जाएगा। पित्त-प्रकृति पुरुष में पचनात्मक व्यापार के आधिक्य के कारण तथा वात-प्रकृति पुरुष में उल्लिखित कारण से धातु क्षीण होने से उनके पूरण के लिए क्षुधा और तृषा के दु.सह वेगो के रूप में अन्नपान की प्रबल माँग होती है। अतएव क्षुधा-तृषा के वेग सहन करना उनके लिए अशक्य हो पडता है। कफ-प्रकृति पुरुष की अग्नि मन्द (शीत) होने से एव उसके धातुओ का उपचय भी सम्यक् होने से वह अन्नपान के विना कुछ काल रह सकता है। इस प्रकार ऐसे छोटे-छोटे प्रसगो से भी प्रकृति की परीक्षा चिकित्सक कर सकता है, यह इस उदाहरण से वाचक समझ सकते है। क्षुधा-तृष्णा मन्द होते हुए भी, परिणाम में अन्न-जल का सेवन उतने प्रमाण मे न होने पर भी कफ-प्रकृति पुरुष के धातु क्यो परिपुष्ट होते है इस बात का विचार करने का अब अवसर है।--

कफ-प्रकृति पुरुष में पचनात्मक व्यापार पित्त-प्रकृति पुरुष के देह जितना नही होता, साथ ही धातु-पोषक रस का वहन करनेवाले स्रोतो का विवर भी विस्तृत और मृदु होने से स्थितिस्थापक गुण युक्त--वात-पित्त की अपेक्षया अधिक सकोच-विकासशील--होता है। इस प्रकार इन पुरुषो में उपचय अधिक और अपचय की क्रिया न्यून होने से स्वभावत सर्व धातुओ का सम्यक् आप्यायन होता है। यह हम कह आए है कि रसधातु के अन्तर्गत जो गुण या घटक द्रव्य शारीर धातुओ के पूरण, तर्पण आदि का कर्म करते है वही रसधातु से पृथक् हो तर्पक कफ प्रभृति तत्-तत् सज्ञा धारण करते हुए तत्-तत् स्थान में तत्तत् कर्म किया करते है। इससे समझा जा सकता है कि, कफ-प्रकृति पुरुष में धातुओ की पुष्टि के साथ अन्य कफ भी परिपुष्ट होने से उनके कर्म यथावत् होते है। तद्यथा--श्लेषक कफ का पोषण सम्यक् होने से गति तथा चेष्टा

के समय सधियो में स्फुटन नही होता। एव, तर्पक कफ का पोषण समीचीन होने से बुद्धीन्द्रियो तथा कर्मेन्द्रियो की पुष्टि समभाव से होने से नियत है कि, उनका स्वभाव शान्त होता है, वे शीघ्र क्षोभ, क्रोध आदि आवेगो के वश नहीं होते। इसीसे जैसा कि आगे कहेंगे उनके वैर की अथवा भृत्य, मित्र, अमित्र या उदासीन व्यक्ति के प्रति असतोष (अप्रीति) आदि की सूचना भी किसी वाक्य आदि से मिलती नही--वे प्रच्छन्न वैर (तथा अप्रीति) करते है। दान भी वे विचार-पूर्वक ही करते है, आवेश में विना विचारे नही। स्वभाव की इस शान्ति-मयता के परिणाम की कल्पना की जा सकती है--इसी कारण उनके भृत्य तथा मित्रो की सख्या बडी होती है। कई गृहस्थो के यहाँ नौकर टिकते ही नही--यह देखा-सुना जाता है। कइयो के यहाँ वर्षो एक ही नौकर या नौकरानी रहती है। यह प्रकृति-भेदवश ही होता है। भृत्यो के रहने में कफ-प्रकृति पुरुषो के स्वभावगत शान्ति तथा वार-वार दोष-दर्शन के अभाव के अतिरिक्त उनकी दानशीलता (भृत्य को यदा-कदा खाना, पीना, वस्त्र आदि देना) एव सविभाग-रुचिता (अपने यहाँ जो वना हो उसे भृत्य को भी देना) आदि गुण भी कारणभूत होते है। इसके विपरीत ऐसे भी व्यक्ति देखे जाते है जो अपने ड्राइवर आदि को नित्य के समय से अधिक समय रोके रखते है, पर चाय के लिए भी पूछते नहीं--भले इस अन्तर में वे स्वयं भोजन भी कर चुके हो और मध्याह्नोत्तर चाय भी पी चुके हो। ऐसे पुरुषो के यहाँ भृत्य नहीं टिकते, यह अनुभव की बात है। इसी प्रकार मित्र भी ऐसे लोगो के अधिक होते है। स्वभाव की इस सौम्यता के कारण हुई भृत्यो और मित्रो की अधिकता के समान व्यवसाय आदि में ग्राहकों से उनका व्यवहार मृदु होता है, जिससे धन लाभ भी उन्हें अधिक हो तो आश्चर्य की वात नही। कफ-प्रकृति पुरुष के पास धन अधिक होता है, यह आगे कहा जाएगा।

वाचक यहाँ प्रकरणान्तर का भय स्वीकार करके भी कुछ निमेष रुकें और आयुर्वेद के क्षेत्र की व्यापकता और तज्जन्य महत्ता का विचार करें। आयुर्वेद आयु का वेद है--हित और अहित आयु के लक्षणो और उनके उपचारो का प्रतिपादक वेद है। यह केवल ज्वर तथा अतिसार का औषध वतानेवाला शास्त्र नहीं है। ऊपर हमने देखा है कि--भृत्य किसके यहाँ टिकते नही--ऐसी सूक्ष्म और जीवनोपयोगी वातें भी आयुर्वेद मे प्रतिपादित है। प्रकृति यद्यपि परिवर्तनीय नही होती तथापि दृढ मन से उसे अकुश में रखा ही जा सकता है। प्रसग को अधिक अच्छी तरह समझने के लिए आयुर्वेद की व्यापकता का एक उदाहरणान्तर लेता हूँ। भृत्यो की न्यूनता प्रकृतिजन्य व्यवहार-विशेष के कारण वात-प्रकृति पुरुषो के गृहो में होती है। उन्हें अपना व्यवहार भली-भाँति चलाने

के निमित्त अपनी प्रकृति को संयम से अकुशित रखना चाहिए। परन्तु, अन्य लोको को भी उनके साथ अपना व्यवहार ऐसा रखना चाहिए कि जीवन सरलता से चले। वात-प्रकृति पुरुषो के लक्षणो में हम देखेंगे कि उनमें क्षोभ, रोष आदि के आवेश शीघ्र आते है। साथ ही उनका तिरोभाव भी आविर्भाव के समान ही शीघ्र होता हैं (हिस्टेरिकल टेम्परामेण्ट)। पित्त-प्रकृति पुरुषो में भी यही स्थिति देखी जाती है। 'क्षणे तुष्ट क्षणे रुष्ट' उनके स्वभाव की विशेषता होती है। सो, अपना पति, पत्नी, मित्र, व्यवसाय या नौकरी में साथी, इतना ही नही रेलवे आदि में अपरिचित सहयात्री--कोई भी प्रकृतिवश शीघ्र क्षुभित हो जाए तो उसके प्रति उतने ही वेग से क्षोभयुक्त प्रतिक्रिया न दिखानी चाहिए। कारण, इससे झगड़ा और बढता ही जाता है। परन्तु, अन्य व्यक्ति ऐसे प्रसंगो पर शान्त रहें तो क्षुभित पुरुष आश्चर्यजनक रीति से कुछ ही क्षण में सहसा शान्त भी हो जाते है। ऐसा प्रतीत होता है, जानो कुछ हुआ ही नहीं था। इसी प्रकार इन प्रकृतियोवाले पुरुषो में प्रीति भी शीघ्र उत्पन्न होती है, पर वह लुप्त भी उतनी ही शीघ्रता से हो जाती है। सो, इनके प्रसाद से बहुत आशा न बाँध लेनी चाहिए। उलटे, कितनी वार तो स्वभावगत शीघ्रगुणजन्य विस्मृति के कारण वात-प्रकृति पुरुष अपने वाक्यो को ही भूल कर अन्य मनुष्यो को कठिनाई में डाल देते है। ऐसे व्यक्तियों से काम लेना हो तो सान्त्वनापूर्वक उन्हें प्रसन्न कर, वे प्रसन्न हों तभी सत्वर कार्य सिद्ध करा लेना चाहिए। वाचक इस प्रकार विचार कर आयुर्वेद की व्यापकता और उसकी उपादेयता के अन्य भी उदाहरणो की कल्पना कर उसके महत्त्व को बुद्धिस्थ करें। इतना निवेदन कर कफ-प्रकृति पुरुषो की अन्य विशेषताओ पर पुन. दृष्टिपात करते है।

ऊपर कहा है कि, कफ-प्रकृति पुरुष में ओज, शुक्र, व्यवाय तथा सन्तान प्रभूत होते हैं। धातुओ के पोषण का प्रकर्ष कफ-प्रकृति पुरुष में क्यो होता है, यह ऊपर समझा आए हैं। धातुओ की पुष्टि जिन कारणो से होती है वे उपधातुओ को भी यथावत् पुष्ट करते है। इन उपधातुओ में ओज भी एक है। शुक्र और ओज दोनो की पुष्टि यथावत् होने से इन पुरुषो में रति की इच्छा (हर्ष), रतिकाल एवं स्वयं और अपनी सहचरी को सुख देने की शक्ति स्वभावतः प्रभूत होती है। इस प्रकार स्त्री को जो सौमनस्य (सतोष, सैटिस्फेक्शन) होता है वह गर्भ-धारण के लिए अनुकूल सर्वोत्तम साधन (करण) है। सौमनस्यं गर्भ-धारणानाम्--चरक का वचन है। इससे इन पुरुषो के घर सतान प्रभूत होना भी स्वाभाविक है। परन्तु, संतानो के आधिक्य में कुछ और भी कारण है। कफ के गुणो में गुरु, स्थिर, पिच्छिल गुण पठित है। गुरु गुण शरीरावयवो, धातुओ आदि की सम्यक् उपचिति (पुष्टि) का द्योतक है। शुक्र और शोणित

(पुबीज तथा स्त्री-बीज) की पुष्टि सम्यक् होगी तो गर्भ-स्थिति की सभावना अधिक होगी। नव्यमत से शुक्र के विषय में कहना हो तो शुक्रान्तर्गत पुबीजो की सख्या अधिक हो तो गर्भस्थिति का सभव विशेप होता है। कपिकच्छू, जीवन्तीमूल आदि जो द्रव्य अनपत्यता आदि मे दिए जाते है वे पुबीजो की वृद्धि करनेवाले देखे गए है। गुरु गुण का स्वभाव अधोगमन का और स्थिर हो जाने का होता है। सो, कफ के कारण शुक्र में (अन्य कफ प्रधान द्रव्यो में भी) स्थिर गुण का सह-अस्तित्व होता है। अथवा, स्थिर गुण स्वतन्त्र रूप से कफ का होता है यह भी कह सकते है। गर्भधारण में यह स्थिर तथा पिच्छिल गुण भी उपयुक्त होता है। कफ प्रधान शुक्र मे इसकी अवस्थिति का परिणाम यह होता है कि--शुक्र गर्भाशय मे पहुँच कर ससक्त एवं स्थिर हो जाता है --वहाँ से निकल नही आता। यो भी कह सकते है कि पुरुष के स्वभाव, शुक्र आदि में यह स्थैर्य तथा ससक्ति देख कर कफ में स्थिर तथा पिच्छिल गुण होने की कल्पना की गई है। इस स्थिरता के कारण भी कफ-प्रकृति स्त्री-पुरुषो में सतान अधिक होते है। स्त्री के गर्भाशय मे भी स्थैर्य गुण गर्भस्थिति के लिए आवश्यक है। उसमें वातकृत क्षोभ और चाञ्चल्य होगा तो वह अन्त.पतित शुक्र को धारण कर रख नही सकेगा—उलट देगा। ऐसी वातप्रधान योनि (गर्भयन्त्र) को योनिव्यापत् रोगो में वामिनी योनि कहा गया है। प्राचीन परम्परागत वैद्य इसी कारण अनपत्यता मे जो कफ तथा शुक्र के वर्धक औषध और आहार पुरुष को देते है वही स्त्री को भी देते है। इतना विवेचन कर अब कफ-प्रकृति पुरुष के अन्य लक्षण देखिए।

कफ-प्रकृति पुरुष सहसा क्रोध, शोक आदि मानसिक विकारो का ग्रास नही होता, प्रत्युत सहनशील, धैर्यशाली, क्षमावान् और परिश्रमी होता है। रस एव तर्पक कफ का प्रमाण इनमे यथेष्ट होने से मन, बुद्धि, इन्द्रियो तथा उनके अधिष्ठानो का पोषण सम्यक् होता रहने से यह सिद्ध है कि कफ-प्रकृति पुरुषो के स्वभाव में ये विशेषताएँ होती है। ये पुरुप बाल-काल में भी उतने रोनेवाले नही होते, न ही बहुत चपल होते है। वे धर्मात्मा होते है। वात-प्रकृति पुरुषो में इसके विपरीत असत्य भाषण, चौर्य आदि वक्ष्यमाण अधर्म के लक्षण होते है। कफप्रकृति पुरुष के मुख से कभी निष्ठुर वाक्य नही निकलते। किसी का दोष उनके जानने में आए तो भी वे प्रथम तो न तो अपने आकार से अपना मनोगत भाव व्यक्त होने देते है, न वाक्य द्वारा, न लेखन द्वारा बात को बढ़ाते है, प्रत्युत साम उपचारो से ही उसे निपटा देते है। वे सरल, कृतज्ञ, निर्लोभ, गम्भीर, सात्त्विक (सत्त्वगुण के लक्षणोवाले), ईर्ष्यारहित, विनीत, वृद्धो का मान करने-वाले, श्रद्धालु, सत्यप्रतिज्ञ, सौम्य तथा शालीन (शिष्ट) होते है। इन गुणो में निर्दिष्ट गम्भीर का अर्थ यह है।--आकार (मुख) पर छाए प्रसाद (प्रसन्नता)

के कारण पुरुष के मनोगत क्रोध, शोक, भय आदि भाव यदि अन्य पुरुषो के जानने में न आएँ तो इस विशिष्टता को गाम्भीर्य कहा जाता है[1] ।

कफप्रकृति पुरुष स्वभाव, वाणी आदि के शम-प्रधान होने से परिमित परन्तु निश्चित (एसर्टिव, जिसका एक ही अर्थ हो, जिसमें एक ही बात का निश्चय हो ऐसा वचन) बोलता है। वह दान बहुत विचार कर करता है, पर जब करता है, तो बहुत उदारतापूर्वक करता है। वह लिखी या कही बात को देर से समझता है (विचार के अन्त में निश्चय करते भी विलम्ब होता है) पर, एक बार समझी हुई बात उसकी स्मृति से बाहर नही होती। वह शास्त्रो में दृढ आस्था रखने-वाला, बुद्धि-संपन्न और दीर्घदर्शी होता है। उसकी मैत्री भी पूर्वोक्त कारणो से स्थिर होती है। वह लक्ष्मी-सपन्न होता है। उसका धन भी स्थिर होता है। कफप्रकृति पुरुष में लक्ष्मी के उपार्जन और स्थैर्य का कारण ऊपर समझा आए है। ऐसा पुरुष किसी से वैर ठानता है तो वह भी चिरस्थायी और दृढ, परन्तु प्रच्छन्न (गुप्त) होता है। अर्थात् आकार द्वारा उसे व्यक्त नही होने देता, अप्रिय वचन बोल कर या लिख कर वैर को जहाँ व्यक्त नही करता वहाँ बाह्य सबन्ध और उससे होनेवाले व्यावहारिक---लौकिक---लाभ को नष्ट भी नही होने देता। अपने अधिकारियो के प्रति भी वह असतोष को वचन द्वारा प्रकट नही करता, तद्वत् साथियो या हाथ के नीचे कार्य करनेवालो का भी छिद्रान्वेषणादि अति स्पष्ट नही करता। वह आचार्य या अध्यापक हो, तो छात्रो के प्रति व्यवहार में भी इसी प्रकार की सावधानी वह रखता है। पित्त या वातप्रकृति पुरुष के समान शीघ्र आवेश में आ कर झगडा नही खडा कर लेता।

इस प्रकार कफ-प्रकृति पुरुष के निश्चय (बुद्धि), स्मृति, मैत्री, वैर, लक्ष्मी, भृत्य, गर्भ, चरण-निक्षेप, आयु आदि सभी बातो में स्थिरता पायी जाती है। उसे रोग होगा तो उसमें भी अनेक प्रकार से स्थिरता देखने में आती है। जैसे, सतत ज्वरो में जो कफ-प्रधान होता है उसमें (नव्यमत से टायफॉयड में) कफ का पचन चिरकालापेक्ष होने से उसके मोक्ष में अधिक काल---बारह या चौबीस दिवस---लगता है। शोथ कफ प्रधान हो तो उसमें (नेफ्राइटिस) भी एक प्रकार की स्थिरता पाई जाती है। प्रायः वह चिरकाल-साध्य होता है। नव्यमत से तो ऐसे रोगियो में वृक्को की स्थायी विकृति हो जाने से वह साध्य ही नही

१---देखिए ---

> यस्य प्रसादादाकारे क्रोधशोक-भयादिकाः।
> अवस्था नोपलभ्यन्ते तद् गाम्भीर्यमिति स्मृतम् ॥

अ० हृ० शा० ३।९६–१०२ पर इन्दु और चन्द्र

रहता। स्थिरता का अन्य स्वरूप यह होता है कि शून (शोथयुक्त) स्थान को अगुली से दबाया जाए तो वह शीघ्र भर नहीं आता, कुछ काल वहाँ गढा पडा रहता है--निपीडितो न चोन्नमेत् च० चि० १२-१४ (पिटिंग ऑन प्रेशर)। इस प्रकार कफ-प्रकृति पुरुष की प्रकृति और विकृति में स्थिर गुण का प्रभाव अन्य अनेक प्रकारो से भी विद्यमान देखा जा सकता है। कफ के अन्य गुणो एव शेष दोषो के भी गुणो का दोषो की प्रकृति-विकृति में विभिन्न रूपो में जो अस्तित्व होता है उसकी भी व्याख्या इसी पद्धति से करनी चाहिए। अस्तु।

कफ-प्रकृति पुरुष को निद्रा बहुत आती है। सामान्य निद्रा भी श्लेष्म-समुद्भवा कही गयी है। पुरुष में कफ का प्राबल्य हो, तो निद्रा अधिक आना स्वाभाविक है। इसीसे अन्य प्रकार से उपयोगी आहारौषध-द्रव्य निद्राप्रद भी हो, तो उनकी योजना करते हुए कफ-प्रकृति पुरुषो में जो सावधानी रखनी चाहिए उसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। कफप्रकृति पुरुषो को स्वप्न आते है, तो उनमें कमलो, हसो और चक्रवाको से परिशोभित जलाशयो और जलदावली जैसे सौम्य जलभूत-प्रधान पदार्थों का ही दर्शन होता है।

संक्षेप मे, श्लेष्मल पुरुष बलवान्, धनवान्, विद्वान्, ओजस्वी, शान्त तथा दीर्घायु होता है। प्रकृतियो के लक्षण बुद्धिस्थ रहें इस प्रयोजन से प्राचीनो ने उनकी उपमा इतिहास या लोक में प्रसिद्ध चेतनो से दी है। इस दृष्टि से कफ-प्रकृति पुरुष की उपमा ब्रह्मा, रुद्र, इन्द्र, वरुण, गरुड, हस, सिह, गजराज, अश्व तथा साँड से दी गयी है। इनमें हाथी से एक साम्य तो ऊपर दर्शाया गया है कि कफप्रकृति पुरुष की गति समद गज के सदृश होती है। शरीर की विशालता, स्वभाव की मृदुता, नम्रता और प्रच्छन्न वैर की दृष्टि से भी गजराज और कफ-प्रकृति पुरुष में समता होती है। प्रच्छन्न वैर की विशदता के लिए दर्जी और हाथी की प्रसिद्ध कथा उदाहरण रूप में प्रस्तुत की जा सकती है। अश्व तथा साँड (वृष) की उपमा विशेषतया व्यवाय-शक्ति को दृष्टि में रख कर दी गयी प्रतीत होती है। आयुर्वेद में व्यवाय के उत्कर्ष के निदर्शन ये प्राणी माने गए है। अतएव शुक्र की वृद्धि आदि कार्य करने वाले द्रव्यो को वाजीकरण या वृष्य कहते है। मानवी भी पुरुषकामा हो तो उसके लिए सस्कृत में 'वृषस्यन्ती' शब्द है। हस का औपम्य सौकुमार्य तथा मन्द गति के कारण होता है।

सक्षेप की दृष्टि से शार्ङ्गधर ने प्रकृतियो के जो लक्षण दिए है वे ज्ञातव्य है। उसने कफप्रकृति पुरुष के ये लक्षण कहे है--

गम्भीरबुद्धिः स्थूलाङ्गः स्निग्धकेशो महाबलः।
स्वप्ने जलाशयालोकी श्लेष्मप्रकृतिको नरः॥

शा० पू० ६।२३

प्रकृति-विषयक मूल वचन रमणीय और स्मरणीय होने से उद्धरणीय प्रतीत होते हैं। कफप्रकृति पुरुष के लक्षण इन शब्दो में तन्त्रकारो ने बताए हैं।—

श्लेष्मा हि स्निग्धश्लक्ष्णमृदुमधुरसारसान्द्रमन्दस्तिमितगुरुशीतविज्जलाच्छः। तस्य स्नेहाच्छ्लेष्मलाः स्निग्धाङ्गाः, श्लक्ष्णत्वाच्छ्लक्ष्णाङ्गाः, मृदुत्वाद् दृष्टिसुखसुकुमारावदातगात्राः, माधुर्यात् प्रभूतशुक्रव्यवायापत्याः, सारत्वात्त सारसंहतस्थिरशरीराः, सान्द्रत्वादुपचितपरिपूर्णसर्वाङ्गाः, मन्दत्वान्मन्दचेष्टाहारव्याहाराः, स्तैमित्यादशीघ्रारम्भक्षोभविकाराः, गुरुत्वात् साराधिष्ठितावस्थितगतयः[1], शैत्यादल्पक्षुत्तृष्णासंतापस्वेददोषाः, विज्जलत्वात् सुश्लिष्टसारसन्धिबन्धनाः, तथाऽच्छत्वात् प्रसन्नदर्शनाननाः प्रसन्नस्निग्धवर्णस्वराश्च भवन्ति। त एवं गुणयोगाच्छ्लेष्मला बलवन्तो वसुमन्तो विद्यावन्त ओजस्विनः शान्ता आयुष्मन्तश्च भवन्ति॥ च० वि० ८।९६

श्लेष्मप्रकृतिस्तु दूर्वेन्दीवरनिस्त्रिंशार्द्रारिष्टशरकाण्डानामन्यतमवर्णः सुभगः प्रियदर्शनो मधुरप्रियः कृतज्ञो धृतिमान् सहिष्णुरलोलुपो बलवांश्चिरग्राही दृढवैरश्च भवति॥

शुक्लाक्षः स्थिरकुटिलालिनीलकेशो
लक्ष्मीवाञ्जलदमृदङ्ग - सिंहघोषः।
सुप्तः सन् सकमलहंसचक्रवाकान्
संपश्येदपि च जलाशयान् मनोज्ञान्॥
रक्तान्तनेत्रः सुविभक्तगात्रः
स्निग्धच्छविः सत्त्वगुणोपपन्नः।
क्लेशक्षमो मानयिता गुरूणा
ज्ञेयो बलासप्रकृतिर्मनुष्यः॥
दृढशास्त्रमतिः स्थिरमित्रधनः
परिगण्य चिरात् प्रददाति बहु।

१—सारगतयो न स्खलन्ति; अधिष्ठितगतय सर्वेण पदेन महीमाक्रामन्ति; अवस्थितगतय इति अवस्थितत्वेन न चपला गतिर्भवति॥ चक्रपाणि

परिनिश्चितवाक्यपदः सततं
गुरुमानकरश्च भवेत् स सदा ॥
ब्रह्मरुद्रेन्द्रवरुणैः सिंहाश्वगजगोवृषैः ।
तार्क्ष्यहंससमानूकाः श्लेष्मप्रकृतयो नराः ॥

गु० शा० ४।७८-८६

श्लेष्मा सोमः श्लेष्मलस्तेन सौम्यो
गूढ - स्निग्धश्लिष्टसंध्यस्थि - मांसः ।
क्षुत्तृड्दुःख - क्लेशघर्मै - रतप्तो
बुद्ध्या युक्तः सात्विकः सत्यसंधः ॥
प्रियङ्गु - दूर्वाशरकाण्ड - शस्त्र-
गोरोचनापद्म - सुवर्णवर्णः ।
प्रलम्बबाहुः पृथुपीनवक्षा
महाललाटो घननीलकेशः ॥
मृद्वङ्गः समसुविभक्तचारुदेहो
बहोजो रतिरसशुक्रपुत्रभृत्यः ।
धर्मात्मा वदति न निष्ठुरं च जातु
प्रच्छन्नं वहति दृढं चिरं च वैरम् ॥
समदद्विरदेन्द्र - तुल्य - यातो
जलदाम्भोधि - मृदङ्गसिंह-घोषः ।
स्मृतिमानभियोगवान् विनीतो
न च बाल्येप्यतिरोदनो न लोलः ॥
तिक्तं कषायं कटुकोऽष्णरूक्ष-
मल्पं स भुङ्क्ते बलवास्तथापि ।
रक्तान्त सुस्निग्धविशाल - दीर्घ
सुव्यक्त - शुक्लासितपक्ष्मलाक्षः ॥
अल्प - व्याहारक्रोधपानाश - नेहः
प्राज्यायुर्वित्तो दीर्घदर्शी वदान्यः ।

आढ्यो गम्भीरः स्थूललक्षः क्षमावा-
नार्यो निद्रालुर्दीर्घसूत्रः कृतज्ञः ॥
ऋजुर्विपश्चित् सुभगः सुलज्जो
भक्तो गुरूणा स्थिरसौहृदश्च ।
स्वप्ने सपद्मान् सविहङ्गमाला-
स्तोयाशयान् पश्यति तोयदाश्च ॥
ब्रह्मरुद्रेन्द्रवरुणतार्क्ष्यहंस - गजाधिपैः ।
श्लेष्मप्रकृतयस्तुल्यास्तथा सिहाश्वगोवृषैः ॥

अ० हृ० शा० ३।९९-१०३

इस प्रकार ये कफ-प्रकृति पुरुषो के लक्षण कहे गए । अब पित्त-प्रकृति पुरुषो के लक्षणो का निर्देश तथा निदान और चिकित्सा में उनका सक्षेप में विनियोग देखते हैं ।

पित्त-प्रकृति पुरुष के लक्षण

पित्त अग्नि महाभूत से उत्पन्न, किवा स्वय अग्नि एव उष्ण, तीक्ष्ण, द्रव, विस्र (दुर्गन्ध गुणयुक्त), अम्ल तथा कटु होता है । परिणामतया, पित्त-प्रकृति पुरुष के शरीरादि में प्रकृत्या ये गुण तथा इनके कारण उत्पन्न विशिष्टताएँ दृष्टि-गोचर होती हैं । तथाहि––

पित्त-प्रकृति पुरुष उष्णस्पर्श या उष्ण गुण-वीर्यवाले आहार, औषध द्रव्य, धूप, ताप, देश, काल आदि के सहन मे असमर्थ, अतएव इन उष्ण वस्तुओ के प्रति अप्रीति रखनेवाला और इनके विपरीत चन्दनादि लेप-द्रव्यो, पुष्पो, हारो, आभरणो आदि में रुचि रखनेवाला होता है । उसके अङ्ग स्पर्श मे उष्ण होते हैं ।

उष्ण काल पित्त-प्रकृति पुरुष को असह्य होता है । इस तथा अन्य लक्षणो से जिस पुरुष की प्रकृति में पित्त का प्राधान्य ज्ञात हो चुका हो, उसे उष्ण ऋतु में एवं उष्णता उतनी न हो पर वायु घिरा हुआ (सचार-रहित) हो अथवा रोगोत्पादक अन्य अनुकूलताएँ हो तब लू लगने का भय सविशेष होता है । ऐसे कालो मे इन पुरुषो को पलाण्डु, आम्र-शलाटु (कच्चा आम) इत्यादि के पानीय, सत्तु, मीठी लस्सी इत्यादि शीत द्रव्यो का व्यवहार करते रहना चाहिए । बाहर जाना ही पड़े तो आतपत्र, शीत जल का प्रमाण के पूर्व पर्याप्त सेवन, जेब मे पलाण्डु रखना आदि अनुत्पत्तिकर उपचार करना चाहिए ।

उष्ण औषध-द्रव्य पित्त-प्रकृति पुरुष के लिए सह्य नहीं होते। इन द्रव्यों में भल्लातक विशेषत. ध्यान खींचता है। रसायन-प्रकरण में भल्लातक की परम प्रशंसा तन्त्रकर्त्ताओं ने की है। आयुर्वेद के पुनरुत्कर्ष के कार्यों में एक भल्लातक का प्रचार भी है। परन्तु इसकी व्यापत्तियों ने वैद्यों को आतङ्कित कर रखा है। रसायन के अतिरिक्त यह पक्षवध आदि वातरोगों, मूढमार (गुमचोट) विषूचिका, अतिसार, वमन, प्रवाहिका, अग्निमान्द्य, उदावर्ता योनि (कष्टार्तव) आदि रोगों में भी एक ही औषध है। पित्त का अतिशय प्राधान्य हो तो कदाचित् इसका गन्ध भी असह्य होता है। परन्तु, पित्त का प्रमाण उतना अधिक न हो, तो असहिष्णुता बहुत नहीं होती। प्रत्युत, अन्य व्यक्तियों की अपेक्षया अल्प अवधि में ही इन पुरुषों में औषध का गुण अभिलक्षित होता है।

जैसा कि कफ-प्रकृति के विवरण में कहा जा चुका है, पित्त-प्रकृति पुरुषों में पचनात्मक व्यापार प्रकृत्या अधिक होता है। नव्य परिभाषा में इनमें आग्नेय-गुण अन्त.स्रावी ग्रन्थियों—अधिवृक्कादि—का कार्य जन्मतः अधिक होता है। परिणामतया, एक ओर तो आगे कहे तीक्ष्ण क्षुधा-पिपासा प्रभृति लक्षण होते हैं, दूसरी ओर उष्णता भी अधिक उत्पन्न होती है, जो स्पर्शगम्य होती है तथा उक्त नाना रूपों में उष्ण-द्वेषिता को भी उत्पन्न करती है।

स्पर्शोष्णता के अतिरिक्त पित्त-प्रकृति पुरुष शुष्क (कृश तथा स्निग्धत्व-हीन गात्र और त्वचावाला), सुकुमार एवं गौरवर्ण होता है। व्यङ्ग (मुख पर कृष्ण मण्डल), नीलिका (वैसे ही मण्डल शरीर के अन्य भाग पर), तरङ्ग, तिल, पिडका (फोडे-फुन्सी) तथा पिप्लुओं से वह प्राय· पीडित होता है। इनमें मुखदूषिका की भी गणना की जा सकती है। पहले कह आए हैं कि पित्त और रक्त समानधर्मा होने से पित्त की वृद्धि से ही रक्त का प्रकोप या दुष्टि सविशेष पाई जाती है। शेष दोषों को स्वयं रक्त अपने उष्णत्वादि विरोधी गुणों से वढ़ने और अपने में स्थानसंश्रय नहीं करने देता। सो, रक्त-दुष्टिजन्य व्यङ्गादि क्षुद्र रोग पित्त-प्रकृति पुरुषों में सहज ही अधिक पाए जाते हैं।

पित्त-प्रकृति पुरुष सुकुमार होता है, इस सत्य का चिकित्सा में विनियोग एक लघु उदाहरण से समझ लें। सौकुमार्य के कारण अन्य लक्षणों के अतिरिक्त इस पुरुष की त्वचा तथा मुखादि की कला सुकुमार होती है। मुख, जिह्वादि की कला तथा दन्तवेष्ट सुकुमार होने का परिणाम यह देखा गया है कि—बबूल का दन्तकाष्ठ (दातुन) भी इनके लिए कर्कश सिद्ध होता है। उसके चबाने से जिह्वा, दन्तवेष्ट आदि पर पाक (छाले पडना) हो आता है। बबूल का कषाय रस भले पित्त-प्रत्यनीक तथा व्रणरोपण हो, पर उसके सूत्रों की कर्कशता कला को छील देती है। नाना उपचार करने पर भी मुखपाक वैसा-का-वैसा

बना रहता है। दन्तकाष्ठ छोड़ने पर ही गुण होता है। पित्त-प्रकृति पुरुषो को वट-जटा सदृश मृदु दन्तकाष्ठ तथा कृष्ण मृत्तिका सदृश मृदु शीत मञ्जन अनुरूप होते हैं। कोयले के मञ्जन भी कई लोगों में प्रकृति-विरुद्ध (पाककर) सिद्ध होते हैं। प्रकृति की मुख पर यह क्रिया देखते हुए ही प्राचीनो ने दन्तकाष्ठ तथा मञ्जन भी प्रकृति-भेद से भिन्न बताए हैं। वाचक इसी प्रकार आयुर्वेद के गाम्भीर्य का विचार और तदनुरूप आचरण करें।

पित्त-प्रकृति पुरुष की क्षुधा और तृषा तीव्र होती है। वह शीघ्र ही (अन्यो की अपेक्षया अल्प वय में ही) वली (त्वक्-सकोच, झुर्री), पलित (केशो की धवलता) तथा केशपात (बाल गिर जाना, खालित्य, गज) से आक्रान्त होता है। उसके केश, लोम तथा श्मश्रु अल्प, क्षुद्र, मृदु एव कपिल वर्ण के होते हैं।

पचनात्मक व्यापार के आधिक्य के कारण धातु-उपधातु अपनी अपनी पुष्टि के लिए अन्नपान की अधिकतर माँग के रूप में क्षुधा और तृषा को तीक्ष्ण बना देते हैं। पचन के आधिक्य के कारण ही धातुओ-उपधातुओ का पोषण भी यथावत् न रहने से मलो का उतना पोषण नहीं हो पाता। इसका एक परिणाम त्वचा की शुष्कता होता है जिसकी गणना ऊपर कर आए हैं। मज्जा का मल भाग त्वचा को स्निग्ध रखता है। इसकी पुष्टि यथावत् न होने से त्वचा शुष्क रहती है। स्मरण रहे, त्वचा में स्वेद पृथक् मल है और स्निग्धता पृथक्। स्वेद से त्वचा में सौकुमार्य रहता है, स्निग्धत्व से त्वचा का स्नेहन होता है। आधुनिको ने भी स्वेद और स्नेह (सीबम) को पृथक् रखा है। अस्तु। मलो की पुष्टि उक्त प्रकार से समीचीन न होने से केशादि की पुष्टि भली-भाँति नही होती। इसीसे केश छोटे तथा पतले होते है। दाढी (श्मश्रु) भी संपूर्ण मुख को व्याप्त कर नहीं उगती। अत, इन्हें उतनी जल्दी क्षौरकर्मादि नही कराने पडते। ऐसी-ऐसी सूक्ष्म बातो से भी चिकित्सक प्रकृति का निर्णय कर सकते हैं। केश यो भी अल्प तथा तनु होते हैं, पकते भी अल्प वय में ही हैं। कितनो के केश बारह-पन्द्रह वर्ष के वय से ही परिपक्व होने लगते हैं। ऐसे केश भी न्यूनाधिक अल्प वय मे ही गिरने लगते हैं। पुरुष गजा हो जाता है। जिनके गंज शीघ्र निकल आई हो वे तीक्ष्ण स्वभाव के (उग्र) पाए जाएँगे। उग्र न हो तो अपने मनोबल से उग्रता को दबाए रखने वाले होगे। मलो के समान मेद तथा त्वचा की भी पुष्टि अयथावत् होने से त्वचा में सकोच (झुर्रियाँ) पड़ जाती है।

पित्त की तीक्ष्णता पित्त-प्रकृति पुरुषो में अनेक प्रकार से लक्षित होती है। वे तीक्ष्ण पराक्रमवाले, तेजस्वी, मेधावी, तीक्ष्ण (पैनी, विषय के मूल तक और शीघ्र ही पहुँचनेवाली)—बुद्धि-संपन्न ; सभा तथा युद्ध में अपनी प्रतिभा

७। शौर्य से प्रतिभट को परास्त करनेवाले ; निर्भय, किसी के आगे न दबनेवाले, धृष्ट (अपनी बात न सुननेवाले) पुरुषो के साथ कठोर व्यवहार करनेवाले परन्तु शत्रु भी शरण मे आ गया--नम्र हो गया तो उस पर प्रीति रखनेवाले ; शीघ्र नाम अतर्कित ही कुपित और प्रसन्न होनेवाले ; अभिमानी, साहसी ; तीक्ष्णाग्नि अतएव बार-बार तथा प्रभूत मात्रा में अन्नपान ग्रहण करने वाले और क्लेश (धूप-ताप आदि) के सहन में असमर्थ होते हैं। यह कह आए हैं कि धूप-ताप में फिरने या भूखे-प्यासे रहने का प्रसग अनेक पुरुषो पर आ पडे तो पित्त-प्रकृति पुरुष के लिए उनका सहन करना कठिन हो जाता है। मधुमेही पुरुष रोग-प्रभाववश समय पर भोजन न मिलने से जैसा मत्त-सा हो जाता है ; वही स्थिति कुछ हद तक पित्त-प्रकृति पुरुष की होती है।

प्रकृति का विचार कहाँ तक जीवन-दर्शन मे उपयोगी है, इसका एक उदाहरण दे। स्वाधीनता के पूर्व ब्रिटेन और भारत में कैसा उग्र विरोध था। वचन-प्रतिवचन द्वारा वह व्यक्त भी हो चुका था। पर, स्वातन्त्र्य के पश्चात् ये दो देश ऐसे निकट आ गए, जानो वे कभी विपरीत पक्षो में रहे ही न हो। इसका कारण यह है कि दोनो ओर जवाहरलाल और चर्चिल जैसे पित्त-प्रधान प्रकृति के पुरुष है जिनके स्वभाव में ही लडते समय लडना और लड़ाई समाप्त होने पर मैत्री-सबन्ध बाँधना, और सधि का प्रसग हो तो शरणागत शत्रु के आगे सौम्य शर्ते रखना, उसे कठिनाई में न डाल देना--ये विशिष्टताएँ निहित हैं। द्वितीय महायुद्ध के समय चर्चिल रूस को मित्र-पक्ष में लाने के लिए समझाने गए तो उनके भोजन की जबर्दस्त मात्रा देख कर ही रूसी नेताओ ने निर्णय कर लिया कि ऐसा वृकोदर जिस पक्ष में है उसमें संमिलित होने में कोई शङ्का न रखनी चाहिए।

पित्त-प्रकृति पुरुष का शीघ्र कोप-प्रसाद का स्वभाव अपरिचित व्यक्ति को दुविधा में डाल देता है। पित्तल पुरुष अकस्मात् ही क्रुद्ध हो यद्वा-तद्वा बोल देता है, प्राय औरो की उपस्थिति में। उसके मन में उतना दुर्भाव प्रायः नही होता। इस अपमान से व्यथित हुए अन्य व्यक्ति के मन की उथल-पुथल परिसीमा पर होती है कि इतने में पित्तल पुरुष क्षमा-याचना करता उसके सामने आ खडा होता है। यह क्षमा-याचना उस व्यक्ति को और भी विस्मित और निरस्त्र कर देती है।

पित्त के द्रवत्व के कारण पित्त-प्रकृति पुरुष शिथिल सधियो और मासवाले तथा स्वेद, मूत्र और पुरीष के बाहुल्यवाले होते हैं। क्लेद या अब्धातु (जल) को आकृष्ट कर रखने का स्वभाव(ऑस्मोसिस) जिस गुण के कारण हो, उसे द्रव कहते हैं। पित्त-प्रकृति पुरुषो के यावत् दोषो, धातुओ, उपधातुओं और मलो मे पित्त के निसर्गज आधिक्य के कारण द्रवत्व भी अधिक होता है। मास

मे द्रवत्व (क्लेद) के कारण इनकी पेशिया शिथिल और श्रमासहिष्णु होती है। सधियो के घटक स्नायुओ और कण्डराओ में द्रवत्व का प्रमाण अपेक्षाकृत अधिक होने से वे भी शिथिल (दुर्बल) होती है।

पुरीष में द्रवाधिक्य के कारण पक्वाशय मे अग्नि और वायु के द्वारा द्रव और स्नेह का यथावत् शोषण होने पर भी शेष द्रव का प्रमाण प्रभूत होता है। परिणामतया, मल शिथिल और उसकी मात्रा बहुत होती है। इन दोनों कारणो से उसका सरण (प्रवृत्ति) भी अनेक बार होता है। यह बात स्पष्ट करने का कारण है। मल के प्रमाण और सख्या का आधिक्य देख कर रोगी और प्राय· चिकित्सक दोनो समझते है कि, रोगी को मलशुद्धि सम्यक् हो रही है। परन्तु, स्थिति विपरीत होती है। रोग विरेचन-साध्य होता है और बिना विरेचन चिकित्सा गुणवती नही होती। रोग पित्तज हो तो विरेचन उसमे प्रमुख सशोधन-कारी होने से उसकी उपयोगिता और उपादेयता आयुर्वेद-सिद्ध ही है। सो, रोग-परीक्षा में मल के प्रमाण और सख्या से होनेवाली उक्त भूल को चिकित्सक को स्मरण में रखना चाहिए।

पित्त में नैसर्गिक विस्र गुण (दुर्गन्ध, कच्ची गन्ध ; कच्चे--अनग्नि-पक्व--पदार्थो के सड़ने से उत्पन्न गन्ध ; आम गन्ध) होने से पित्तप्रकृति पुरुष दुर्गन्धयुक्त काँख, मुख, शिर (केश) तथा शरीर वाला होता है। इन पुरुषो में स्वेद का आधिक्य तो होता ही है, और उससे उक्त अवयव भीगे रहते हैं। यह स्वेद पित्त के पीतवर्ण के कारण पीत होता है। पित्तगत दौर्गन्ध्य के कारण इन अवयवो में दुर्गन्ध होता है। आम गन्ध का अर्थ है--पित्त का स्वरूप कोथ-स्वभावी (सडने की अनुकूलतावाला) होने से उसमें शीघ्र दुर्गन्ध आविर्भूत हो आती है। पीत तथा विस्रगन्धयुक्त स्वेद का प्रभाव पुरुषो के वस्त्रो पर भी होने से वे भी मलिन और दुर्गन्धयुक्त होते है। उन्हें भी इस प्रकरण मे स्मरण करना चाहिए। दुर्गन्धयुक्त अङ्गो मे मुख की भी गणना तन्त्रकार ने की है। पित्त, जो लाला तथा बोधक कफ के साथ स्रुत होता है, उसके पीत वर्ण के कारण दन्तो में पीतता भी रहती है। आयुर्वेद के इस छोटे से सिद्धान्त को न समझ कर दन्तो की पीतता तथा मुख-दौर्गन्ध्य से पीडित व्यक्तियो के मुख की स्वच्छता रखने (ओरल हाईजीन) पर ही अधिक ध्यान दिया जाता है। वे बालक हो, तो उन पर यही दोषारोप किया जाता है कि वे दन्तधावन से जी चुराते हैं। यत्सत्य, यह पित्त का ही दोष होने से विरेचन, आहार-शुद्धि आदि पर भी लक्ष्य देना चाहिए। मुख में दौर्गन्ध्य के समान इन व्यक्तियो में श्वास-दौर्गन्ध्य भी होता है। पित्त-प्रकृति पुरुष रजोगुणी होने से प्रायः, जिसे बनाने में खमीर उत्पन्न किया या डाला गया हो,ऐसी तथा अन्य प्रकार से पित्तकर नमकीन

कटुओं का प्रयोग किया करते हैं[1]। ये दुर्गन्ध गुण विशिष्ट होने से देह-दौर्गन्ध्य में सुतरां वृद्धि ही करते हैं। दुर्गन्धयुक्त द्रव्यों में मल और मूत्र को भी स्मरण किया जा सकता है। इनमें मल तो प्रारम्भ से अन्य व्यक्तियों की अपेक्षया अधिक दुर्गन्धयुक्त प्रवृत्त होता है। मूत्र प्राकृतावस्था में दुर्गन्धाक्रान्त नहीं होता; परन्तु तद्गत पित्त के प्रमाण के अनुसार एक-दो निमेष में किंवा कुछ अधिक समय में सड कर दुर्गन्ध छोडने लगता है। मूत्रस्थान गृह में हो तो इन व्यक्तियों को उसकी स्वच्छता का अधिक प्रयास करना पडता है। शरीर में पित्त का प्रमाण जितना हो उतना ही दौर्गन्ध्य मूत्र में भी अभिव्यक्त होता है। सो, मूत्र-दौर्गन्ध्य की इयत्ता (प्रमाण) देख कर शरीर में पित्त के प्रमाण का अनुमान किया जा सकता है तथा तदनुरूप आहारादि में परिवर्तन करना उचित प्रतीत हो तो वह भी किया जा सकता है। आहार की दुर्गन्ध-वर्धकता के अतिरिक्त मलावष्टम्भ भी मूत्र में दुर्गन्ध का हेतु होता है। कारण, जो पित्त मल-द्वार से निकलना चाहिए वह प्रसृत हो मूत्र-द्वार में आ कर वहाँ से प्रवृत्त होता हुआ मूत्र को दुर्गन्धियुक्त बना देता है। शरीर, वस्त्र, मुख, श्वास आदि में दौर्गन्ध्य के कारण अन्य पुरुष इन पुरुषों के सान्निध्य में आने से बचते हैं। प्रायः स्वयं पुरुष को अपने दौर्गन्ध्य का भान नहीं होता। किसी भी प्रकार से अपने शरीरादि में दौर्गन्ध्य होने का ज्ञान पुरुष को हो तो उसकी इस संप्राप्ति को लक्ष्य में रख कर यथोचित स्वस्थवृत्त का अनुष्ठान करना चाहिए। अस्तु। विस्र गुण के विषय में इतने विवरण के पश्चात् अब पित्त-प्रकृति पुरुष की अन्य विशिष्टताएँ देखिए।

पित्त के कटु और अम्ल होने से पित्त-प्रकृति पुरुष अल्प शुक्र, काम (सेक्शुअल डिजायर), व्यवाय और सतानवाला तथा स्त्रियों की प्रीति न संपादित करनेवाला होता है। मैथुन की अल्पता का अर्थ समय और शक्ति की अल्पता एवं सख्या की भी अल्पता है। इसके कारण वह स्त्री की प्रीति उतनी संपादित नहीं कर सकता, यह सिद्ध है। स्थिति यह होने से वर-वधू की पसंदगी में दोनों की प्रकृति समान हो यह अवश्य देखना चाहिए। अन्यथा गार्हस्थ्य कलह का मूल हो जाता है। अतएव वर-वधू के विनिश्चय का कार्य भी वैद्य का (कौमारभृत्य का) ही है। देखिए : अथास्मै पञ्चविंशतिवर्षाय षोडशवर्षां पत्नीमावहेत्। सु० शा० १०।५३

१—तथाहि —

कट्वम्ललवणात्युष्ण तीक्ष्णरूक्षविदाहिनः।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः॥

भगवद्गीता १७।९

कटु और अम्ल रस पित्त-प्रकोपक होने से आहार के पचन के अतिरिक्त धातुओ का भी पचन होता है और शरीर में उनका प्रमाण प्राकृत नही रह जाता। इन धातुओ में शुक्र और ओज भी एक होने से कामादि की इच्छा पित्त-प्रकृति पुरुष में स्वल्प होती है, यह समझा जा सकता है।

उसकी चेष्टाएँ शोभन होती है। उसमें ईर्ष्या विशेष होती है। आश्रितो के प्रति वह वत्सल होता है। शत्रु भी विपत्ति में पड़े हो तो उनकी सहायता के लिए वह प्रयत्नशील होता है--मित्रो की तो बात ही क्या?

पित्त-प्रकृति पुरुष के नख, नेत्र, तालु, जिह्वा, ओष्ठ तथा हस्त-पाद-तल ताम्र (अरुण-पीत वर्ण) होते है। उसे मधुर, कषाय, तिक्त तथा शीत (स्पर्श एवं गुण-कर्म उभय दृष्टियो से शीत) आहार-द्रव्य प्रिय होते है। शारीर और मानस दोषो का साम्य रहे इस हेतु विकृति के समान प्रकृति के आरम्भक दोष के भी विपरीत रस-गुणवाले द्रव्यो के प्रति साहजिक रुचि पुरुषो में होती है। पित्त उष्ण-तीक्ष्णादि गुणान्वित होने से उसका समत्व स्थिर रहे इस हेतु मधुर, कषाय आदि पित्त-प्रत्यनीक द्रव्यो की इच्छा पित्त-प्रकृति पुरुष को होती है।

मुखपाक के कारण उसका मुख सदा व्यथायुक्त रहता है तथा कृशता आदि के कारण चलने-दौडने आदि में क्लेश अनुभव होने से गति भी व्यथापूर्ण होती है।

उसके नेत्र छोटे, पिङ्गलवर्ण, छोटे-छोटे लोमवाले, प्रायः शीत, चपल तथा क्रोध, मद्यपान और सूर्य के प्रकाश (धूप) से शीघ्र लाल हो जानेवाले होते है। कफ-प्रकृति पुरुष के लक्षणो में हमने देखा है कि उसके नेत्र स्वाभाविक स्थिति में भी रक्तान्त होते है। पित्त-प्रकृति के नेत्रो में क्रोधादि से रक्तमयता आ जाती है। दोनो के नेत्रो की रक्तिमा में यह भेद है। इस प्रकार केवल नेत्र-दर्शन से भी प्रकृति की परीक्षा हो सकती है।

पित्तल पुरुष को स्वप्नो में पुष्पित आरग्वध (अमलतास), पलाश ; दिशाओ में आग, उल्का, विद्युत्, सूर्य, सुवर्ण प्रभृति (पित्त-सदृश) पीत, उष्ण और दाहक द्रव्यो का दर्शन होता है।

पित्तल पुरुष उल्लिखित कारणो से मध्यम आयुवाले, मध्यबल, मध्य ज्ञान, विज्ञान, धन और उपकरणवाले एव क्लेशभीरु होते है।

प्रकृति को सरलता से समझने के लिए उनकी उपमा सर्प, उलूक, गन्धर्व, यक्ष, बिडाल, वानर, व्याघ्र, ऋक्ष (रीछ, भालू) तथा नेवले से दी जा सकती है।

शार्ङ्गधर ने पित्त-प्रकृति पुरुष के ये सक्षिप्त लक्षण दिए है--

अकाले पलितैर्व्याप्तो, धीमान्, स्वेदी च रोषणः।
स्वप्नेषु ज्योतिषां द्रष्टा पित्तप्रकृतिको नरः॥
शा० पू० ६।२२

पित्त-प्रकृति-विषयक मूल वचन—

पित्तमुष्णं तीक्ष्णं द्रवं विस्रमम्लं कटुकं च। तस्यौष्ण्यात् पित्तला भवन्त्युष्णसहा उष्णमुखाः सुकुमारावदातगात्राः, प्रभूत-पिप्लुव्यङ्गतिलपिडकाः, क्षुत्पिपासावन्तः, क्षिप्रवलीपलितखालित्य-दोषाः, प्रायो मृद्वल्पकपिलश्मश्रुलोमकेशाः, तैक्ष्ण्यात् तीक्ष्णपराक्रमा, तीक्ष्णाग्नयः, प्रभूताशनपानाः, क्लेशासहिष्णवो, दन्दशूकाः[1] द्रवत्वा-च्छिथिलमृदुसंधिमांसाः, प्रभूतसृष्टस्वेदमूत्रपुरीषाश्च, विस्रत्वात् प्रभूत-पूतिकक्षास्यशिरःशरीरगन्धाः, कट्वम्लत्वादल्पशुक्रव्यवायापत्याः। त एवंगुणयोगात् पित्तला मध्यबला मध्यायुषो मध्यज्ञानविज्ञानवित्तो-पकरणवन्तश्च भवन्ति ॥ च० वि० ८।९७

पित्तप्रकृतिस्तु स्वेदनो दुर्गन्धः ('शीतसहः' इति अधिकः पाठः क्वचित्) पीतशिथिलाङ्गस्ताम्रनखनयनतालुजिह्वौष्ठपाणिपादतलो दुर्भगो वलीपलितखालित्यजुष्टो बहुभुगुष्णद्वेषी क्षिप्रकोपप्रसादो मध्यबलो मध्यायुश्च भवति।

मेधावी निपुणमतिर्विगृह्य वक्ता
तेजस्वी समितिषु दुर्निवारवीर्यः।
सुप्तः सन् कनकपलाशकर्णिकारान्
संपश्येदपि च हुताशविद्युदुल्काः ॥
न भयात्प्रणमेदनतेष्वमृदुः
प्रणतेष्वपि सान्त्वनदानरुचिः।
भवतीह सदा व्यथितास्यगतिः
स भवेदिह पित्तकृतप्रकृतिः ॥
भुजङ्गोलूकगन्धर्वयक्षमार्जारवानरैः।
व्याघ्रर्क्षनकुलानूकैः पैत्तिकास्तु नराः स्मृतः ॥

सु० शा० ४।६८-७१

१—दन्दशूकाः पुनः पुनर्भक्षणशीलाः। प्रभूताशनत्वं तु बहुभक्षणत्वेन ॥ चक्रपाणि

पित्तं वह्निर्वह्निजं वा यदस्मात्
पित्तोद्रिक्तस्तीक्ष्ण - तृष्णा बुभुक्षः।
गौरोष्णाङ्गस्ताम्र - हस्ताङ्घ्रि वक्त्र.
शूरो मानी पिङ्गकेशोऽल्परोमा॥
दयितमाल्यविलेपन - मण्डनः
सुचरितः शुचिराश्रित - वत्सलः।
विभवसाहसबुद्धि - बलान्वितो
भवति भीपु गतिर्द्विपतामपि॥
मेधावी प्रशिथिलसंधि - बन्धमासो
नारीणामनभिमतोऽल्प - शुक्रकामः।
आवासः पलिततरङ्गनीलिकाना
भुक्तेऽन्नं मधुरकपायतिक्तशीतम्॥
घर्मद्वेपी स्वेदनः पूतिगन्धि-
र्भूर्युच्चार - क्रोधपानाशनेर्ष्यः।
सुप्तः पश्येत्कर्णिकारान् पलाशान्
दिग्दाहोल्का विद्युदर्कानलाश्च॥
तनूनि पिङ्गानि चलानि चैपा
तन्वल्पपक्ष्माणि हिमप्रियाणि।
क्रोधेन मद्येन रवेश्च भासा
रागं व्रजन्त्याशु विलोचनानि॥
मध्यायुपो मध्यबलाः पण्डिताः क्लेशभीरवः।
व्याघ्रर्क्षकपिमार्जार - यक्षानूकाश्च पैत्तिकाः॥

अ० हृ० शा० ३।९०-९५

पित्त-प्रकृति पुरुष के लक्षणो के अनन्तर अब सर्वोपरि स्मरणीय वात-प्रकृति (वातल) पुरुष के लक्षण देखिए--

वात-प्रकृति पुरुष के लक्षण

वायु विभु है--शरीर मे स्वतः व्याप्त है (अन्य दोषो, धातुओ तथा मलो की गति वायु के अधीन है), वायु आशुकारी है--एक स्थान से अन्य स्थान

पर शीघ्र पहुँच जाता है—उसकी क्रिया और विक्रिया भी शीघ्र होती है, वह बली है—स्वयं कुपित हो कर पित्त और श्लेष्मा को भी प्रकुपित करता है, वह स्वतन्त्र है तथा तदुत्थ नानात्मज रोगों की संख्या भी अधिक होती है। इन कारणों से दोषों में वायु बलवान् है[१]। अपरञ्च, वायु रूक्ष, लघु, चल, बहु, शीघ्र, शीत, परुष, और विशद (आर्द्रताहर) है। अतएव वात-प्रकृति पुरुषों में स्वभावत. उक्त कर्मों और गुणों की विद्यमानता होने से वे दोषात्मक होते हैं—उनका शरीर दोषमय होता है और मन में भी शुभ गुण उतने नहीं होते।

वायु के उक्त गुण-कर्म-स्वभाव के परिणामस्वरूप वात-प्रकृति (वातल) पुरुष रूक्ष (स्नेह-रहित), कृश, अपचित (मेद-रहित) और दीर्घ (लम्बे शरीर-वाले) होते हैं। उनके जाँघ आदि अवयव निर्मांस और निर्मेद होने से पतली-पतली पेशियाँ स्पष्ट दृश्यमान होने के कारण रस्सी या वेणी के समान गुंथे हुए-से होते हैं।

उनके केश, श्मश्रु, रोम, नख तथा दन्त अल्प (छोटे और अल्पसंख्यक), परुष (खुरदरे) और धूसरवर्ण (ईषत्पाण्डु-मटमैले) होते हैं। मुख, हाथ, पैर आदि अङ्ग भी रूक्ष, परुष तथा फटे हुए होते हैं। उनके नेत्र भी रूखे, धूसर, गोल, असुन्दर तथा मृतवत् (निस्तेज) होते हैं। दर्शन-मात्र से ही इन लक्षणों से रोगी की वात-प्रकृति पहचानी जा सकती है। लम्बे और पतले होने के कारण उन्हें 'सोटी-जैसे' उपमा दी जाती है। इन पंक्तियों में तत्तत् अवयव को रूक्ष बताया गया है। उसका अर्थ यह है कि वे स्वभावत रूक्ष (निःस्नेह) होते हैं; किंच उन्हें तैल लगाया जाए—अभ्यङ्ग किया जाए तो तैल भी शीघ्र ही शोषित हो कर त्वचा, केश आदि ये अवयव पुन रूक्ष हो जाते हैं। ऐसे पुरुषों को केश पर लगाने के लिए तैल एरण्ड-तैल जैसा पिच्छिल स्नेह-प्रधान ही लेना चाहिए, जिससे शीघ्र शोषित न हो जाए। (विरेचन लेना हो तो भी ऐसा जो स्निग्ध हो यथा यही एरण्ड तैल, ईसबगोल आदि, अथवा लवण-प्रधान, जो लवणों के कारण द्रव होने से मल को द्रव और सर बना दे)।

शरीर के अनन्तर वात-प्रकृति पुरुष के स्वर का परिचय होता है। उनका स्वर किसी का बैठा हुआ, किसी का चल (कभी ऊँचा, कभी नीचा, कभी स्निग्ध, कभी रूक्ष इत्यादि वैषम्योपेत), किसी का जर्जर (फटा हुआ), किसी का गद्गद (रुक-रुक कर निकलने वाला—लरजनेवाला) और रूक्ष (कर्ण तथा मन को प्रिय न लगनेवाला) तथा क्षीण होता है।

१—यह विषय अधिक विस्तार से वात-नानात्मज रोगों के प्रकरण मे पहले चर्चा जा चुका है।

उनकी रक्तवाहिनियाँ (सिराएँ) फूली हुई तथा कण्डराएँ उभरी हुई होती हैं और त्वचा पर से दिखाई देती हैं। स्थितिस्थापक गुण न्यून होने से सिराएँ फूली रहती हैं। ये सिराएं तथा कण्डराएँ त्वचा के नीचे मेद स्वल्प होने से उभरी देखी जाती हैं। इन्हें देख कर भी वात-प्रकृति पुरुष की तत्क्षण कल्पना की जा सकती है।

वायु के चाञ्चल्य के कारण वातिक पुरुषो की सधि, नेत्र, भौह, हनु (गण्ड-प्रदेश), ओष्ठ, जिह्वा, शिर, कन्धा, हाथ-पैर--सब अस्थिर होते हैं--निरर्थक चेष्टा में व्यापृत होते हैं। वातिक पुरुषो के हाथ-पैर की चेष्टा प्रसिद्ध है। ये बैठे हो तो पैर ऊपर-नीचे की ओर (सीने का यत्र चलाते समय होती है वैसी गति) या दोनो पार्श्वों में गति करते हैं। हाथो की अगुलियाँ ऐसी गति करती है जैसे ढोल बजाते हो। जिह्वा प्राय वातवश शुष्क ओष्ठो को आर्द्र करने के प्रयोजन मे ओष्ठ-प्रान्त आदि पर फिरती दिखाई देती है।

वायु के चाञ्चल्य के कारण ही वात-प्रकृति पुरुषो की बुद्धि (निश्चय, विचार) अस्थिर होती है। विचारो की यह अस्थिरता नौकरी, सस्था आदि के कार्यो के सबन्ध में तो होती ही है, घर के छोटे-मोटे कार्य--यथा, शाक आदि भोजन क्या बनाया जाए--इत्यादि में भी व्यक्त होती है। प्राय ये पुरुष किसी बात का प्रस्ताव रखते है और उसी क्षण स्वय उसके आचरण में क्षति दर्शा कर उसकी अयुक्तता प्रतिपादित करते है। साथी को ऐसे पुरुषो के मत पर अपना मत देना तो कठिन होता ही है, कभी-कभी तो ये पुरुष क्षण-क्षण में मत-परिवर्तन के अपने स्वभाव के कारण अन्य व्यक्तियो को कठिनाई में डाल देते है। असत्य भाषण के प्रकृति-सहज स्वभाव के कारण या वैसी ही विस्मरणशीलता के कारण वे अपने वचन से फिर जाते हैं। उन पर विश्वास कर कोई आरम्भ किया जाए तो उनके मत को उद्धृत करने या उसके अनुसार कार्य करनेवाला विषम स्थिति में आ पडता है। कारण, उक्त स्वभाव होने से वे अपनी बात या वचन या मत पर स्थिर नही रहते।

चाञ्चल्य के कारण वात-प्रकृति पुरुषो की मैत्री भी स्थायी नहीं होती। अतएव उनके इष्ट और द्विष्ट (मित्र और शत्रु) घडी-घडी बदलते रहते हैं। आज जिसके प्रति घोर अप्रीति है, कल उसी के प्रति वे प्रेम से बात करते देखे जाते है, और आज जिसे वे हृदय से चाहते प्रतीत होते है कल उसीसे नाता तोडते भी उन्हें देर नही लगती। ऐसा पुरुष अपना पति या पत्नी या मित्र आदि हो तो उसके साथ सबन्ध बना रहे इस हेतु यह सावधानी रखनी चाहिए कि उसे प्रसन्न करने के लिए उसके शत्रु के साथ पति आदि को भी शत्रुता का व्यवहार न करना चाहिए। कारण, वात-प्रकृति पुरुष तो कल उसका मित्र हो जाएगा, पर उसके

पीछे किसी को शत्रु बना लेनेवाले के स्वभाव में यह विशेषता कदाचित् न भी हो कि वह उतनी ही शीघ्रता से पुन मैत्री-सबन्ध स्थापित कर सके। कफ-प्रकृति पुरुष के विवरण में हमने आयुर्वेद के क्षेत्र की व्यापकता की जो बात कही है, उसे इस प्रकरण में पुन स्मरण किया जा सकता है, कि आयुर्वेद जीवन में कैसा व्यवहार-दर्शक शास्त्र है। सामान्यतया अन्य व्यक्तियो के लिए उनका यह स्वभाव मैत्री-सबन्ध स्थिर रखने में अनुकूल न होने से, जैसा कि हम आगे देखेंगे, वात-प्रकृति पुरुष के मित्रो की सख्या बडी नही होती।

वायु के चाञ्चल्य के कारण ही वात-प्रकृति पुरुषो की गति, चेष्टा, आहार तथा वाचा मे हलकापन (छिछोरापन, बालिशता, लडकपन, चाइल्डिशनेस) और चापल्य (तेजी) होता है। कई व्यक्तियो की गति में तेजी (द्रुतगति) प्रसिद्ध है। उनके साथ चलनेवालो को दौडना पडता है। ऐसे पुरुषो की प्रकृति में वात का प्राधान्य समझा जा सकता है। चलते समय उनके पैरो की सधियो में फूटने के शब्द (कडकड आवाज) होते हैं। हलन-चलन से स्कन्ध आदि अन्य सधियो में भी ऐसे शब्द सुने जा सकते हैं।

वायु की प्राकृत तथा वैकृत उभय क्रियाओ में यह चाञ्चल्य देख कर ही उसमें चल गुण होता है, यह कहा गया है, तथा उसके प्रसिद्ध नामो में एक नाम भी चल रखा गया है। रोग-प्रकरण में यह चाञ्चल्य वैषम्य के नाम से प्रसिद्ध है। प्रकृति में चपलता के उदाहरण ऊपर हमने देखे। रोगो में इसके चापल्य या वैषम्य के कतिपय उदाहरण दिए जाते हैं। ज्वर वातिक हो तो ऊष्मा स्थिर नहीं रहता---ज्वर देखते-देखते चढता है और स्वय ही उतर जाता है। इस प्रकार चढ-उतर अहोरात्र मे अनेक बार होती है। विषमज्वर त्रिदोषजन्य होता है, पर उसमें वैषम्य विशेष होता है, जिसका कारण वायु है। ज्वर अहोरात्र मे एक या दो बार चढता और उतरता है। वेग के समय ज्वर अति तीक्ष्ण (तीन-चार अश) होता है, उतरने पर सम या सम से कुछ ही अधिक। वेग और मोक्ष मे ऊष्मा के इस वैषम्य या अन्तर के कारण रोग को विषमज्वर नाम दिया गया है। इसी प्रकार रोगी को शूल आदि हो तो उनके उदय के काल तथा प्रमाण (तीव्रातीव्रता) मे भी प्राय वैषम्य (अनियमितता) होता है। वात के कारण स्त्रियो में आर्तव विषम होता है---कभी उसका प्रमाण न्यून होता है, कभी अधिक ; कभी वह एक मास के पूर्व आता है, कभी न्यूनाधिक काल चढ कर ; कभी कष्ट-सहित होता है, कभी कष्ट-रहित। इस विषमता या अनियमितता का कारण वात ही है यह समझ कर योग्य उपचार करना चाहिए।

विषमता का एक अन्य उदाहरण दन्तोद्गम कहा जा सकता है। दोनो बार निकलनेवाले प्रत्येक दाँत के उद्भेद का काल सामान्यतया नियत होता है।

वैषम्य होने पर प्राय कुछ देर से दन्तोद्भेद होता है। कभी शीघ्र भी। प्राय· अग्रज भाई-बहिनो मे भी दन्तोद्भेद के वैषम्य का वृत्तान्त प्राप्त होता है। इस विषय का विचार पहले कर आए है।

वायु के चाञ्चल्य के कारण ही वात-प्रकृति पुरुष बडे वाचाल तथा असबद्ध-भाषी होते है। अत्यधिक और प्राय निरर्थक भाषण के कारण वात-प्रकृति पुरुष को पहचानना सुगम होता है। सक्षिप्त लक्षणो मे शार्ङ्गधर ने वाचालता को भी स्थान दिया है, सो ठीक ही है। पित्त-प्रकृति के भाषण से इसका भेद समझना चाहिए। उसके वचनो मे बुद्धि और तेजस्विता आदि की झलक होती है, जिसके कारण प्रतिपक्ष परास्त हो जाता है। वात-प्रकृति पुरुष का वाग्व्यापार प्राय निरर्थक होता है। लोहपथ (रेलवे) की यात्रा में माथा-पच्ची करनेवाले ऐसे व्यक्तियो का अनुभव प्राय· होता है। अपने पास कुछ काम न हो तो कालक्षेप करने मे या विनोद में ये उपयोगी भी माने जाते है।

वात-प्रकृति पुरुषो की वाचालता का एक स्वरूप यह भी होता है कि वे क्रुद्ध हो या प्रसन्न मुद्रा मे—वे एक ही बात पचासो बार कहते रहते है। विपक्ष की बात सुनने का नाम नही लेते। इससे सुननेवालो को अरति अवश्य होती है, पर वात-प्रकृति पुरुष के मन का आवेश हलका हो जाता है। वे यदि अपतन्त्रक-पीडित हो तो उनको बोलते अटकाने से या उनके साथ वचन-प्रतिवचन मे पडने से उनमें अपतन्त्रक (हिस्टीरिया) का वेग हो आने की सभावना होती है।

बहुभाषी पुरुष यदि अपने अधिकारी किंवा अन्य प्रकार से उपयोगी व्यक्ति हो, तो उसके सपूर्ण वक्तव्य को व्यवधान उत्पन्न किए बिना धैर्यपूर्वक सुनना (पेशेण्ट हीअरिग) लोक-व्यवहार की दृष्टि से बहुत ही कार्य-साधक होता है। यह व्यवहार अल्पभाषी माननीय व्यक्ति के प्रति भी आवश्यक होता है, पर बहुभाषियो के साथ व्यवहार मे जो धैर्य अपेक्षित होता है उसके कारण यह विशेष उल्लेखनीय है।

वातप्रकृति पुरुष अदृढ (शारीरिक तथा मानसिक दृढता से रहित), अजितेन्द्रिय, अनार्य, नास्तिक, चोर, मत्सरी, क्रोधी तथा कृतघ्न होते है। वातल पुरुषो के स्वभाव की इन विशेषताओ मे अजितेन्द्रियता विशेषत· स्मरणीय है। कारण, पथ्यपालन नाम उपशय का सेवन और अनुपशय का परिवर्जन रोगो की अनुत्पत्ति एव उत्पन्न रोग की निवृत्ति के लिए निश्चित आवश्यक है। वात-प्रकृति पुरुषो मे जितेन्द्रियता का अभाव होने से उनमे रोगो की उत्पत्ति की सभावना विशेष होती है, साथ ही रोगो के शान्त होने का सभव—साध्यता—भी न्यून होती है। वातप्रधान रोगो मे भी अजितेन्द्रियता रोगो को दु साध्य बना देती है। एक उदाहरण ले। वातज ग्रहणी असाध्य कही गयी है। इस

रोग की असाध्यता के कारणो में दो लक्षण उपस्थित किए जा सकते है। वातज ग्रहणी से पीडित पुरुष में वात-प्रकोपवश मन क्षीण होने के कारण दीन हुआ होता है। मनोदैन्य (विषाद) सर्वरोगो का सर्वोपरि अभिवर्धक कहा गया है--विषादो रोग-वर्धनानाम्। वातज ग्रहणी की असाध्यता का द्वितीय कारण होता है--जिह्वालौल्य। 'गृद्धिः सर्वरसानाम्--सर्वरसोवाले पदार्थो की अदम्य इच्छा' इन पदो द्वारा तन्त्रकार ने इस जिह्वालौल्य का उल्लेख किया है। ग्रहणी रोग यो भी अग्निमान्द्य और अहिताशन से होनवाला रोग है, उस पर यह जिह्वालौल्य अधिक होने से वातज ग्रहणी की दु:साध्यता का कारण बन जाता है।

वात-प्रकृति पुरुष गन्धर्व स्वभाव के होते है--अर्थात् गीत, वाद्य, नृत्य, हास्य, मृगया, विलास और कलह उन्हें प्रिय होते है। अन्नपान में मधुर, अम्ल तथा उष्ण आहार उन्हे प्रिय होता है। वे खाऊ होते है। ये पुरुष खाऊ होते हैं--इस कारण ये बार-बार भोजन करते है तथा प्रभूत प्रमाण में करते है। प्रकृतिगत यही विशेषता पित्त-प्रकृति पुरुषो की भी होती है, यह देख आए है। दोनो में भेद यह है कि, पित्त-प्रकृति पुरुष तो पित्त के तीक्ष्णगुण के कारण यथार्थ और बार-बार क्षुधा-पिपासा अनुभव करता होने से पुन:-पुन: प्रभूत प्रमाण में अन्नपान का सेवन करता है, जिससे अत्यशनजन्य कोई रोग उसे होता नही। वात-प्रकृति पुरुष का अग्नि उतना तीव्र नहीं होता। केवल मन की मूढता और असयम (अधृति) के कारण, जानो फिर खाना मिलेगा ही नहीं ऐसी धारणा रखता हुआ, वह गृध्र के समान खाने पर टूटता है। परिणामतया, अग्निमान्द्य और अजीर्ण से होनेवाले रोगो का पात्र होता है।

मधुरादि भोजनो के प्रति वातिक पुरुष की प्रीति का कारण समझा जा सकता है। दोषो के इस स्वभाव का अनेकश उल्लेख किया जा चुका है कि, उनका प्रकोप या क्षय होने पर उनको क्षीण या वृद्ध करनेवाले विपरीत गुण-कर्मवाले पदार्थों पर नैसर्गिक प्रीति उत्पन्न होती है। वात-प्रकृति पुरुषो में वात की वृद्धि सुलभ होने से मधुरादि वातशामक द्रव्यो के प्रति उनमे रुचि स्वभावत होती है।

शारीर दोषो के समान मनोदोषो के साम्य के लिए भी अनुरूप आहार-विहारो के प्रति प्रीति वात-प्रकृति पुरुषो मे होती है। वात-प्रकृति पुरुषो मे धातुओ के क्षय के कारण उनसे बना हृदय भी स्वभावत क्षीण होता है। मन का स्थान हृदय क्षीण होने से एव अन्न से ही मन भी पुष्टि प्राप्त करता होने से (अन्नमयं हि सौम्य मन.) मन भी क्षीण होता है। इसीसे जैसा कि ऊपर कहा--वातकृत प्रकृति-विकृति में मन की क्षीणता और तज्जन्य दीनता एक लक्षण होता है। अतएव वातिक प्रकृति मे शीघ्र क्षोभ, क्रोधादि आवेशो का आविर्भाव होता है। मधुरादि आहार शरीर, हृदय और मन को पुष्ट कर इन लक्षणो को शान्त करते है। नृत्य,

गीत, वाद्य (संगीत) आदि का दर्शन-श्रवण या स्वयं आचरण मन को उल्लसित कर उसके क्षोभ, क्रोध आदि के शील को शान्त करते है। इसीसे इनके प्रति स्वाभाविक प्रीति वातप्रधान पुरुषो मे होती है।

वात-प्रकृति पुरुषो को संगीतप्रियता के आधार पर व्यावहारिक परीक्षा एक वस्तु द्वारा की जा सकती है। रेडियो के इस युग में प्रायः ऐसे पुरुष दृष्टि-गोचर होते है जो दिन-रात निरर्थक रेडियो चालू ही रखते है, वह भी प्राय इतने तीव्र स्वर में कि अड़ोस-पड़ोसवालो के विश्राम और निद्रा का भङ्ग हो। जिन लोगो का रस क्षीण हो (यथा पाण्डुरोगी) ऐसे व्यक्ति शब्दासहिष्णु होने से वे इस तीव्र स्वर से सविशेष क्लेश अनुभव करते है। उनकी भी परीक्षा इससे की जा सकती है। वात-प्रकृति पुरुष द्रुतगति होते है, तथा उनका चरण-निक्षप भी संपूर्ण नहीं होता। अत ये जब सीढ़ियाँ चढ रहे हो तो अत्यन्त वेग से और बहुत शब्द करते हुए चढते है। उससे जो शब्द होता है वह इन्हें प्रतीत नहीं होता, पर अड़ोस-पड़ोस के लोग, विशेषतया यदि वे रुग्ण शरीरवाले हो, तो ऐसी दशा में इस चेष्टा से बहुत त्रास का अनुभव करते है। इन लक्षणों से पुरुष की प्रकृति में वात का प्राधान्य है यह परीक्षा की जा सकती है। कठिनाई यह है कि, आवेश का उदय शीघ्र होना भी उनके स्वभाव का अङ्ग होने से उन्हें उनकी भूल कही जाए तो वे रुष्ट हो कर सम्बन्ध-विच्छेद कर लेते है। इस स्थिति में मार्ग निकालना दुष्कर होता है।

वातिक पुरुषो में आरम्भ या उद्योग के निश्चय का आविर्भाव शीघ्र होने का एक बड़ा सुपरिणाम होता है। विशेषतया कफ-प्रकृति पुरुष एक तो कार्य का निर्णय करने में ही विलम्ब करने है, और निर्णय करके भी उसका अवसर आ उपस्थित हो तो प्रमाद या आलस्यवश कार्य का त्याग कर देते है। परन्तु वात-प्रकृति पुरुष शीघ्र गुण के कारण निर्णय या विचार मात्र को त्वरित क्रिया में लाते है। इस प्रकार इन पुरुषो के हाथ से कभी-कभी अच्छे कार्य हो जाते है और समय पर होते है।

यह अनेकश: कह आए है कि—वायु के शीघ्र स्वभाव के कारण वात-प्रकृति पुरुषो में भय, प्रीति, विरक्ति, क्रोध, क्षोभ, काम आदि विकार तथा कार्य का निश्चय (समारम्भ) शीघ्र उत्पन्न होते है—उनके स्वभाव में जल्दबाजी होती है। इसी गुण के कारण कही या लिखी बात को वे शीघ्र समझ लेते है, परन्तु उतनी ही शीघ्रता से भूल भी जाते है—उनकी स्मृति अल्प होती है। प्रीति और विरक्ति (अप्रीति) शीघ्रकारी होने से उनके 'क्षणे रुष्टः क्षणे तुष्टः' के स्वभाव के कारण इनके साथ व्यवहार करना बड़ी सावधानी का काम होता है। भय शीघ्र उत्पन्न होनेवाला होने से परीक्षा आदि धैर्यापेक्षी प्रसंगो पर वे घबरा

जाते है—'नर्वस' हो जाते है। ऐसे समयों पर इन्हें द्राक्षासव आदि अनुपान से चन्द्रोदय आदि वात-विपरीत द्रव्य देना गुणकारी होता है। भय के समान ही अन्य आवेशो का भी विचार किया जा सकता है।

वायु के शीत होने से उनमें शीतकाल या शीत द्रव्यो की सहिष्णुता न्यून होती है तथा अल्पमात्र कारण से उनमें स्तम्भ (ग्रीवा, कटि आदि अङ्ग तथा संधियाँ जकड जाना), कम्प और शीतक (ठण्ड लगना)—ये विकार पाए जाते है। इसीसे इन्हें कार्यालय मे, या रात को सोते समय पखे आदि की हवा मे विशेषतया बचना चाहिए। कदाचित् वायु उष्ण हो इस दृष्टि से ये बाहर खुले मे सोएँ तो रात को अतर्कित वातावरण में शीत की वृद्धि होने पर ये शरीर के स्तम्भ, प्रतिश्याय, शिरोवेदना आदि के ग्रास हो जाते है। कुलफी, आइसक्रीम आदि शीतस्पर्श लेह्य तथा पेय द्रव्यो की भी इन पर ऐसी ही क्रिया होती है। शीतक तथा शीतद्वेष के कारण वे स्नान में उष्ण जल का तथा परिधान में अनेक वस्त्रो का उपयोग करते देखे जाते है।

ये वात-प्रकृति पुरुष अल्पवीर्य (अल्पशुक्र) और अल्पबल होते हैं। स्त्रियो की प्रीति सपादन करने की शक्ति उनमें अल्प होती है। उनके सतान, आयु, साधन, धन और मित्र अल्प होते हैं। इन विषयो की व्याख्या पहले आ ही चुकी है। धन एव सुख के अन्य साधनो की अल्पता, जो हो उनके भी भोग की शक्ति की अल्पता, मित्रो तथा भृत्यो की भी अल्पता, स्वभाव-सिद्ध अस्थिरता, मिथ्या-भाषण-शीलता आदि के कारण लोको की प्रीति न होना—इत्यादि कारणो को दृष्टि में रखते कह सकते है कि प्राचीनो ने प्रकृतित्रय में वातिक प्रकृति को जो 'हीन' कहा है वह यथार्थ ही है।

इनकी निद्रा अल्प होती है; नाम थोडे समय आती है, देर से आती है, शीघ्र पूरी हो जाती है, गाढ नहीं होती; स्वल्प ध्वनि, कोष्ठवात आदि कारणो से उचट जाती है। वात के चलत्व धर्म के कारण मन की विक्षिप्तता (अस्थिरता) होने से निद्रा-सबन्धी ये लक्षण वात-प्रकृति पुरुषो में होते है। वार्धक्य या उत्तर वय मे शरीर में जैसे-जैसे वात का प्रकोप होता जाता है वैसे-वैसे इतर प्रकृतियो के पुरुषो में भी निद्राल्पता के ये लक्षण आविर्भूत होते है और वढते जाते है। वात-प्रकृति के पुरुषो की निद्रा में अन्य लक्षण भी होते है।—सोते समय उनकी आँखें अधखुली रहती है। सोते समय वे दाँत किटकिटाते है। (कोई आचार्य सुश्रुत के 'दन्तखादी' शब्द का अर्थ क्रोध के आवेश में दाँत किटकिटाते है—यह करते है। वह भी प्रत्यक्ष-सिद्ध है। डल्हन ने 'सुप्त · सन् दन्तान् किटकिटायते' यही अर्थ दिया है)। निद्रा में उन्हें आकाश में उडने एव पर्वतो और वृक्षो के लाँघने—एक से दूसरे पर फाँद कर जाने—के स्वप्न आते है।

उल्लिखित लक्षणो को स्मृतिपथ में रखने के प्रयोजन से वात-प्रकृति पुरुषो का सादृश्य बकरी, गीदड, शशक, चूहा, उष्ट्र, कुत्ता, गिद्ध, गधा, कौआ इन प्राणियो से बताया जाता है। पक्षियो में कौआ (पक्षिणा चैव वायस) तथा प्राणियो में शृगाल धूर्ततम अतएव अविश्वास्य होता है। वात-प्रकृति भी ऐसा ही होता है। ऊँट, बकरी, कुत्ता, गिद्ध, गधा, कौआ--जो कुछ भी सामने आए उसे और जितना हो उतना खाने के शीलवाले होते है। इससे उनकी उपमा वात-प्रकृति पुरुष से दी है। शशक का भय कहानियो का भी विषय हो चुका है। कुत्ते की निद्रा अल्प, तथा वाक्यप्रवृत्ति कभी-कभी (जैसे रात को लोक सोए हो तब) बहुत उद्वेगजनक होती है। वात-प्रकृति पुरुषो की भी यही स्थिति होती है। चूहे की अस्थिरता सुविदित है। इसके अतिरिक्त उसका स्वभाव होता है कि--फूंक मार-मार कर त्वचा को कुतरता है जिससे सुप्त पुरुष को वेदना की प्रतीति ही नही होती। वात-प्रकृति पुरुष भी मधुर बोलता है, प्रतिपक्ष को अपने विश्वास में ले आता है (फँसाए रखता है) और अपकार या वैर-निर्यातन करता है। अस्थिरता भी उसमें होती है। कही स्थिर बैठ नही रहता--इत्यादि रूपो में। इन दो साम्यो से उसके लिए चूहे को उपमान माना गया है। इन सर्व प्राणियो के शरीर भी कृश, रूक्ष तथा मलिन होते है। यह भी इनकी उपमा का हेतु है। इसी प्रकार इस विषय का अधिक विचार किया जा सकता है।

शार्ङ्गधर ने वात-प्रकृति पुरुषो के लक्षण सक्षेप में ये कहे है।--

अल्पकेशः कृशो रूक्षो वाचालश्चलमानसः।
आकाशचारी स्वप्नेषु वातप्रकृतिको नरः॥

शा० पू० ६।२१

बृहत् त्रयी में वात प्रकृति के लक्षण इन शब्दो में दिए गए हैं।

वातस्तु रूक्षलघुचलबहुशीघ्रशीतपरुषविशदः। तस्य रौक्ष्याद् वातला रूक्षापचितालपशरीराः, प्रततरूक्षक्षामसन्नसक्तजर्जरस्वरा जागरूकाश्च भवन्ति; लघुत्वाल्लघुचपलगतिचेष्टाहारव्याहाराः, चलत्वादनवस्थितसन्ध्यक्षिभ्रूहन्वोष्ठ - जिह्वाशिरः - स्कन्धपाणिपादाः; बहुत्वाद् बहुप्रलापकण्डरासिराप्रतानाः; शीघ्रत्वाच्छीघ्रसमारम्भक्षोभविकाराः, शीघ्रत्रासरागविरागाः, श्रुतग्राहिणोऽल्पस्मृतयश्च; शैत्याच्छीतासहिष्णवः, प्रततशीतकोद्वेपकस्तम्भाः; पारुष्यात् परुषकेशश्मश्रुरोमनखदशनवदनपाणिपादाः, वैशद्यात् स्फुटिताङ्गावयवाः,

सततसंधिशब्दगामिनश्च भवन्ति । त एवंगुणयोगाद्वातला: प्रायेणाल्पबलाश्चाल्पापत्याश्चाल्पसाधनाश्चाल्पधनाश्च भवन्ति ॥

च० वि० ८।६८

तत्र वातप्रकृतिः प्रजागरूकः शीतद्वेषी दुर्भगः स्तेनो मत्सर्यनार्यो गन्धर्वचित्तः स्फुटितकरचरणोऽल्परूक्षश्मश्रुनखकेशः क्राथी ('क्रोधी' इति पाठान्तरम्) दन्तखादी च भवति ॥

अधृतिरदृढ - सौहृदः कृतघ्न
कृशपुरुषो धमनीततः प्रलापी ।
द्रुतगति - रटनोऽनवस्थितात्मा
वियति च गच्छति संभ्रमेण सुप्तः ॥
अव्यवस्थितमतिश्चल - दृष्टि-
र्मन्दरत्नधनसंचय - मित्रः ।
किंचिदेव विलपत्यनिबद्धं
मारुतप्रकृतिरेव मनुष्यः ॥

['मारुतप्रकृतिरस्थिरसत्त्वः' इति पाठान्तरम् ।]

वातिकाश्चाजगोमायुशशाखूष्ट्रशुना तथा ।
गृध्रकाकखरादीनामनूकैः कीर्तिता नराः ॥

सु० शा० ४।६४-६७

प्रायोऽत एव पवनाध्युषिता मनुष्या
दोषात्मकाः स्फुटितधूसरकेशगात्राः ।
शीतद्विषश्चलधृतिस्मृतिबुद्धि- चेष्टा-
सौहार्ददृष्टिगतयोऽति बहु प्रलापाः ॥
अल्पवित्त बलजीवित निद्रा
सन्नसक्त[1] चल जर्जरवाचः ।
नास्तिका बहुभुजः सविलासा
गीतहास्यमृगया - कलिलोलाः ॥

१—सक्ता भाषणे विलम्ब्य विलम्ब्य प्रवृत्ता—अरुण ।

मधुराम्लपटूष्ण - सात्म्यकाङ्क्षाः
कृशदीर्घाकृतयः सशब्दयाताः ।
न दृढा न जितेन्द्रिया न चार्या
न च कान्तादयिता बहुप्रजा वा ॥
नेत्राणि चैषा खरधूसराणि
वृत्तान्य चारूणि मृतोपमानि ।
उन्मीलितानीव भवन्ति सुप्ते
शैलद्रुमास्ते गगनं च यान्ति ॥
अधन्या मत्सराध्माताः स्तेनाः प्रोद्बद्धपिण्डिकाः ।
श्वशृगालोष्ट्रगृध्राखु काकानूकाश्च वातिकाः ॥

अ० हृ० शा० ३।८५-८६

महाभूतो के भेद से पञ्चविध प्रकृतियाँ——

ऊपर वातिक, पैत्तिक, श्लैष्मिक प्रकृतियो के जो लक्षण बताए गए है वे एक ही पुरुष मे मिलित भी देखे जाते है। इस प्रकार किन्ही दो या तीनो प्रकृतियो के लक्षण एकत्र पाए जाएँ तो उन-उन दोषो की ससृष्ट प्रकृति का निदान करना चाहिए।

कई प्राचार्यो का कथन है कि प्रकृतियो का आधार समूर्च्छन के समय शुक्र-शोणित में महाभूताधिक्य है। ये अबतक वर्णित तीन प्रकृतियाँ पुरुषो मे पाँच महाभूतो से तीन वायु, अग्नि और जल के आधिक्य से होती है। शेष दो महाभूतो—पृथ्वी और आकाश——के आधिक्य से भी इसी प्रकार प्रकृतियाँ बनती है। इस प्रकार महाभूत-भेद से प्रकृतियो के पाँच भेद होते है। वायु आदि के आधिक्य से हुई प्रकृतियो के लक्षण ऊपर आ गए। शेष पार्थिव और आकाशीय प्रकृति के लक्षण ये है।——पृथ्वी महाभूत के आधिक्य से उत्पन्न पार्थिव-प्रकृति वाला पुरुष विशाल और दृढ शरीरवाला एव क्षमाशील होता है। आकाशीय (नाभस) प्रकृति पुरुष शुद्ध आचार-विचार वाला, चिरायु तथा मुख, कर्ण, नासिका आदि के छिद्र जिसके बडे हो ऐसा होता है।

महभूतो के आधार से मानी गई इन भौतिक प्रकृतियो का उल्लेख जिस पद्य मे सुश्रुत ने किया है उस (सु० शा० ४।८०) की टीकामे डल्लन ने तन्त्रकार का मत उद्धृत कर रहा है कि प्रत्येक महाभूतो के पृथक्-पृथक् आधिक्य, एव अधिक दो-

तीन का सयोग आदि के अनुसार इन भौतिक प्रकृतियो का प्रस्तार किया जाता है। इस प्रकार इनके इकत्तीस प्रभेद होते हैं[1]।

महाप्रकृतियाँ[2]

उद्धृत पद्य की टीका करता डल्हन कहता है, भौतिक प्रकृतियो के सयोगज भेदो के सदृश सत्त्व, रज, तम इन तीन गुणो से जो महाप्रकृतियाँ बनती हैं उनके भी सयोगवश सात भेद होते है। इस विषय में सुश्रुतानुयायी रसवैशेषिककार का मत भी उसने उद्धृत किया है। तथाहि

गुणैः सत्त्वरजस्तमोभिरेकशो द्विश समस्तैश्च सप्त महाप्रकृतयो भवन्ति, सप्त 'दोषतः, सप्त गुणतः' (रसवैशेषिक सूत्र अ० १, सू० ३१) इति नागार्जुनोक्तत्वात् ॥

--दोषो से अर्थात् वातादि से सात प्रकार की ऊपर वर्णित प्रकृतियाँ बनती है, वैसे ही गुणो से अर्थात् सत्त्वादि से सात प्रकार की महाप्रकृतियाँ बनती हैं। गुरु-लघु, शीत-उष्ण एव शब्द-स्पर्शादि गुणो से विशिष्ट होने से उनके पृथक् बोध के लिए सग्रहकार ने इन्हें महागुण कहा है। यत्सत्य, सत्त्व-रज-तम के लिए गुण शब्द गुरु-लघु आदि के समान अर्थ का वाचक नही है। सत्त्व-रज-तम द्रव्य है, गुरु-लघु आदि के सदृश गुण नहीं। भारतीय वाङमय में इन्हें गुण क्यो कहा है यह मैं ने 'आयुर्वेदीय पदार्थ विज्ञान' में सप्रमाण दर्शाया है। तथापि, इनको द्रव्य कहना (इन की द्रव्य-रूपता) अर्वाचीन साख्यमत के अनुसार ही है। प्राचीन साख्यमत से तो ये गुरु-लघु आदि के सदृश ही गुण है, आत्मा के।

कुछ रुक कर इन बातो को स्पष्ट समझ लें।

१---देखिये---

अन्ये तु सा चैकशो द्विशस्त्रिशश्चतुर्भिर्वा भूतै प्रस्तार्यमाणा बहुधा सजायते इति वदन्ति। उक्त च--

"एकैकेन वदन्ति पञ्च दश तु द्वाभ्या त्रिभिस्तावती-
भूतै पञ्च चतुर्भिरेव भिषजस्त्वेका समस्तैरपि।
एक त्रिशतमत्र भूमिसलिलस्वाहाप्रियस्पर्शना-
काशैश्च प्रकृतीर्गुणैरपि पुन प्राहु स्म सप्तापरा" इति ॥

२---स्थल सु० शा० ४।८१-९९ तथा डल्हन अ हृ शा ३।१०४ तथा अरुण।

सत्त्व-रज-तम आत्मा की प्रकृति--

प्राचीन भारतीय वाङमय का अध्ययन करने से विदित होता है कि--कपिल मुनि के नाम से प्रसिद्ध साख्य सूत्रो एव साख्यकारिका में जिस साख्य का प्रतिपादन है, उससे कुछ भिन्न एक सांख्यसंप्रदाय किसी काल विद्यमान था। आयुर्वेद इसी प्राचीन साख्य-सप्रदाय का अनुयायी है। चरक-सहिता में विशेषतया इसका विस्तार पाया जाता है। टीकाकारो के समय प्राचीन साख्य का नाम भी शेष न रह गया होने से उन्हो ने तन्त्रकारो के वचनो को अर्वाचीन साख्य के अनुसार ही घटाने का प्रयत्न किया। वैद्य-समाज भी अबतक इसी रूप में आयुर्वेद के साख्य को समझता आया है। परन्तु अब सत्य सिद्धान्त को समझने की प्रवृत्ति हुई है।

अर्वाचीन साख्य मे पुरुष और प्रकृति को पृथक् मान कर पञ्चविंशति तत्त्व माने गए हैं। इस पक्षमें प्रकृति जड समझी गई है, सत्त्व-रज-तम इस प्रकृति के ही गुण कहे गए हैं। इस पक्ष में प्रकृति द्रव्य-रूप होने से उसके घटक ये गुण भी वस्तुत: द्रव्य ही हैं ऐसा दर्शनकारो ने कहा है।

प्राचीन सांख्य में प्रकृति पुरुष (आत्मा) से पृथक् नहीं मानी गई है। जैसे लोक मे (लोक-व्यवहार में) प्रत्येक पुरुष में सत्त्व-रज-तम तीनो गुण विद्यमान हैं ऐसा समझा जाता है, और जिस गुण के कार्य उसके जीवन में अधिकतम देखे जाते हैं उसके अनुसार ही उसे सात्त्विक-राजस-तामस आदि व्यपदेश (नाम) दिया जाता है, वैसे ही प्राचीन साख्य में अशरीरी आत्मा के ही सत्त्व-रज-तम ये तीन गुण माने गए हैं। इस पक्ष में सत्त्व आदि द्रव्य नही गुण-रूप ही समझने चाहिए। जैसे वेदान्त मे जड़ प्रकृति के विना केवल ब्रह्म से ही सृष्टि की उत्पत्ति होती बताई गई है कुछ वही मत प्राचीन साख्यवालो का भी है। वे सत्त्व-रजस्तमोमय प्रकृति को पुरुष की ही प्रकृति मानते हैं। इस प्रकार उनके मत से प्रकृति पुरुष से भिन्न न होने से कुल तत्त्व चतुर्विंशति होते हैं। अव्यक्त आदि नामो से इस पुरुष का ही ग्रहण कर चरक ने चतुर्विंशतितत्त्ववादी साख्य संप्रदाय का प्रतिपादन अपने तन्त्र मे किया है। परन्तु चक्रपाणि ने क्लिष्ट कल्पना कर अव्यक्त से प्रकृति और पुरुष दोनो का ग्रहण कर पञ्चविंशति तत्त्वो की गणना पूर्ण करने का यत्न किया है।

सुश्रुत-वर्णित साख्य आयुर्वेदाभिमत नही--

सुश्रुत ने शारीरस्थान के प्रथम अध्याय में जो अर्वाचीन साख्यानुसारी मत दिया है वह भी विचारापेक्ष है। प्रकृति का लक्षण, अव्यक्त से महत्तत्त्वादि की उत्पत्तिपूर्वक सृष्टिक्रम, इन्द्रियो के देवता, पञ्चविंशतितम पुरुष के कारण शेष

तत्त्वो में चैतन्य की सङ्क्रान्ति, प्रकृति और पुरुष में साधर्म्य-वैधर्म्य तथा अन्त में चतुर्विंशति तत्त्वो एव स्वय पुरुष की सत्त्वरजस्तमोमयता--निर्णयसागरी सुश्रुत में दस पैरो में बताए इतने विषय के अन्त में स्वय तन्त्रकारने कहा है--इति एके भापन्ते-अर्थात् यह एकीय मत है, स्वय तन्त्रकार का मत नहीं है। शङ्का हो सकती है कि कदाचित् यह वाक्य (इत्येके भापन्ते) केवल दसवें वचन को लक्ष्यकर लिखा गया हो। परन्तु डल्हन ने कहा है पूर्वोक्तस्य सर्वस्याप्येकीयमतत्वं दर्शयन्नाह--इत्येके इत्यादि। अगले पैरे में वैद्यके तु इत्यादि द्वारा आयुर्वेद का मत दर्शाया है। उसकी टीका में भी डल्हन ने स्पष्ट कहा है--स्वमतं दर्शयन्नाह--वैद्यके त्वित्यादि। इसका तात्पर्य यह है कि-अर्वाचीन साख्य-मत के जो विचार ऊपर दर्शाए गए है वे सुश्रुत के मत से आयुर्वेदीय मत का प्रतिपादन नहीं करते। आगे के प्रकरण में कहा है कि--चिकित्सा-कार्य में इतना सूक्ष्म विवेचन न आवश्यक है, न उपयोगी। आयुर्वेद में तो द्रव्यो को पाञ्चभौतिक मान कर ही व्यवहार किया गया है। चिकित्सक की दृष्टि स्थूललक्षी (पृथुदर्शी) होने से वह इस सूक्ष्म चर्चा-विचारणा में न पड कर स्वभाव, ईश्वर, काल इत्यादि छ में जब जिस से कार्य-कारण के प्रश्न का समाधान हो जाए तब उसे प्रकृति या मूल कारण स्वीकार कर अपना कार्य करते है। (देखिए सु० शा० १।११) चिकित्सक सूक्ष्म चिन्ता में पड जाए तो निदान-चिकित्सा का जो विशाल क्रियात्मक वास्तविक लोकहितकारी क्षेत्र पडा है, जिस का कभी अन्त ही नहीं आनेवाला, उसका विचार वह कब करेगा?

वैद्यकीय मत के प्रतिपादन के पूर्व निर्दशित एकीय मत के अनुसार महदादि क्रम से उत्पन्न यावत् द्रव्य सत्त्वरजस्तमोमय होते हैं। इतना ही नहीं--

तदञ्जनत्वात् तन्मयत्वाच्च तद्गुणा एव पुरुषा भवन्ति॥

सु० शा० १।१०

सयुक्त पुरुष भी इन द्रव्यो के अञ्जन (लेप, सबन्ध) के कारण तथा उन्ही मे निमग्न (तन्मय) हुए होने से सत्त्वरजस्तमोमय ही होते है।

आयुर्वेद-मत से साख्यो के समान सर्वगत नाम सूक्ष्मशरीर-व्यतिरिक्त होने से विभु आत्मा को पुरुष नही माना गया है, किंतु सूक्ष्म-शरीर सयुक्त अतएव असर्वगत पुरुष को ही पुरुष कहा है। (देखिए सु० शा० १।१६)। आगे इस पुरुष के अङ्गभूत तथा प्रधान करण (साधन)-भूत मन के और उसके कारण पुरुष के भी सत्त्व, रज या तम के आधिक्यवश होनेवाले सात्त्विकादि भेद सुश्रुत ने बताए है।

सारांश--(१) चरकोक्त प्राचीन साख्य के अनुसार सत्त्व-रज-तम ये तीन गुण आत्मा के ही है। गुणो के न्यूनाधिक्यवश आत्मा सात्त्विक-राजस-तामस

होते हैं। उनके कारण सूक्ष्म और स्थूल दोनो पुरुषो (शरीरो) के भी सात्त्विकादि भेद होते हैं।

(२) अर्वाचीन साख्य-मत से भी सत्त्वरजस्तमोमय चतुर्विंशति तत्त्वो के लेप (सयोग) के कारण आत्मा तथा तदन्वित शरीरो के सात्त्विकादि भेद होते हैं।

(३) सृष्टि को पाञ्चभौतिक माननेवाले स्थूलदर्शी सप्रदाय के अनुसार भी मन और सूक्ष्मशरीर के सात्त्विकादि तीन भेद होते हैं।

प्रकृतियो के इस प्रकरण के आरम्भ में प्रकृतियो की भेदक सामग्री वताते हुए प्रकृति को प्रत्यात्मनियत कहा है। भिन्न-भिन्न मतो से उसका क्या अर्थ होता है यह यहाँ कहा हे। आत्मा या मन की इस प्रकृति का वडा प्रभाव दोपज प्रकृति पर पडता है। महान् पुरुप सात्त्विक हो तो अपने मन की दृढ़ता के कारण और वे ही राजस हो तो अपनी प्रवृत्तिशीलता के कारण दुर्वल भी शरीर द्वारा असाधारण कार्य कराने मे समर्थ होते है।

यद्गुणं चभीक्ष्णंपुरुपमनुवर्तते सत्त्वं, तत्सत्त्वमेवोपदिशन्ति मुनयो वाहुल्यानुशयात्॥ च० सू० ८।६[1]

प्रत्येक पुरुष के मन में सत्त्व, रज, तम तीनो गुण होते हैं और तीनो के ही कर्म न्यूनाधिक प्रत्येक पुरुष में देखे जाते हैं। तथापि, जिस पुरुष के साथ सवद्ध मन में जिस गुण के कर्मो का प्रत्यक्ष पुन -पुन. (वार-वार) तथा अधिक होता है उस पुरुष को वाहुल्य (प्रायोवृत्ति, भूयिष्ठता) के कारण उसी गुणवाला कहा जाता है। यथा, अन्य गुणो की विद्यमानता होते हुए भी जिस पुरुष में सत्त्वगुण के अतिरेक के कारण सत्य, शौच आदि गुण अधिकतर और वार-वार देखे जाएँ उसे सात्त्विक कहा जाता है। इसी प्रकार राजस और तामस का भी अर्थ समझ लेना चाहिए। इस दृष्टि से प्रथम सात्त्विक, राजस तथा तामस महाप्रकृतियो के सामान्य लक्षण देखकर पश्चात उनके भेदो के लक्षण दिए जाते हैं।

सात्त्विकादि मनो एव पुरुपो के लक्षण—[2]

अक्रूरता (दयाशीलता), सविभागरुचिता (अपने पास थोडी या अधिक जो भी वस्तु हो उसे स्वजन-परिजनो, पडोसियो एव भिक्षुक आदि जिन्हें आवश्यकता हो उनमें वाँट कर उपभोग करने का शील) ; क्षमा, सत्य (प्राणियो का हितकर तथा यथार्थ वाक्य), धर्म (शरीर, मन और वचन से उत्तम आचरण) आस्तिक्य

१—यह विषय च० शा० ३।१९ तथा उसकी चक्रपाणिकृत टीकामे भी देखिए।

२—स्थल सु शा १।१८ तथा डल्हन।

(परलोक का अस्तित्व मान कर व्यवहार करना), आत्मज्ञान, बुद्धि (तात्कालिक प्रतिभा), मेधा (ग्रन्थ या भाषण को समझने की शक्ति), स्मृति, धृति (सयम करनेवाली बुद्धि) और अनभिषग (फल की इच्छा रखे विना—निष्काम-सत्कर्म करना)—ये सात्त्विक (शुद्ध) मन और पुरुष के लक्षण है।

दुःख की अधिकता (दुःख की बात की उपेक्षा न करने का स्वभाव, दुःख का अतिध्यान), अटनशीलता (निरर्थक भ्रमण का—भटकने का स्वभाव; पाठान्तर में ताडनशीलता), अधीरता, अहकार, मिथ्याभाषणशीलता, निर्दयता[1], दम्भ, मान (अहकार के साथ अन्यो को क्षुद्र समझने का स्वभाव, पाठान्तर में—मद), हर्ष[2], काम और क्रोध—ये राजस मन और पुरुष के लक्षण है।

विषादित्व (मूढता; या मन भग्न हो जाना), नास्तिकता, अधर्मशीलता, बुद्धिशून्यता, अज्ञान, मेधा का अभाव, कर्म में अनुत्साह और निद्रालुता—ये तामस मन और पुरुष के लक्षण है।

आहार से महाप्रकृतियो की परीक्षा—

श्रीमद्भगवद्गीता (अ० १७) में प्रायः अभिलषित अन्नपान के निर्देश के रूपमें सात्त्विक आदि पुरुषो के लक्षण बताए है। आयुर्वेद से सबद्ध होने से उनका यहाँ उल्लेख किया जाता है।

आयु, सत्त्व (मनोबल), शरीर बल, आरोग्य और मनःप्रसाद इन की वृद्धि करनेवाला; रसादि धातुओ की वृद्धि करनेवाला, स्निग्ध, स्थिर (शरीर और मन को दृढ करनेवाला) और हृद्य (स्वादु) आहार सात्त्विक पुरुषो को प्रिय होता है।

कटु, अम्ल, लवण, (स्पर्श या वीर्य में) अति उष्ण, तीक्ष्ण, रूक्ष और विदाही (तत्काल या पचने के अनन्तर अम्लोद्गार, दाह आदि उत्पन्न करनेवाला) तथा दुःख, शोक और रोग जिसके सेवन से उत्पन्न हो ऐसा आहार राजसो को प्रिय होता है।

जिसे सिद्ध किए एक याम (प्रहर, तीन घण्टे) बीत चुका हो ऐसा, जिसका मूल रस लुप्त हो गया हो ऐसा, पूति (निर्माण की स्वाभाविक प्रक्रिया में खमीर

१—काम की एक विकृति (अ० सैडिज्म) होती है जिसमे पुरुष स्त्री का ताडन कर वासना की तृप्ति अनुभव करता है। इसके विपरीत विकृति मे स्त्री या पुरुष स्वय ताडित तिरस्कृत या दुःखी होकर सतोष मानता है (मैजोकिज्म)। इन्हे भी यहाँ कथचित् ग्रहण कर सकते है।

२—यहाँ हर्ष को रजोगुण का एक लक्षण कहा है। अतिहर्ष का मन, हृदय-गति, रक्तदाब आदि पर हिताहित प्रभाव प्रसिद्ध है।

आदि के रूप में, किंवा सड - गल जाने से जिसमें दुर्गन्ध उत्पन्न हो गया हो ऐसा), पर्युषित (रात का बासी), उच्छिष्ट (जूठा) तथा अमेध्य (अशुद्ध या मेधा को नष्ट करनेवाला) आहार तामसों को प्रिय होता है।

सात्त्विक, राजस और तामस तीन प्रकार के सत्त्व या मन में सात्त्विक अथवा शुद्ध मन कल्याण-प्रधान होने से दोष-रूप नहीं माना जाता। राजस और तामस में क्रमश. रोष और मोह (अज्ञान या मिथ्या ज्ञान) की मात्रा होने से उन्हें दोष कहा जाता है।

मन के इन त्रिविध भेदों में प्रत्येक के लक्षणों के तरतमभाव के कारण, परस्पर संयोगवश तथा आत्मा की प्रकृतिभूत इन लक्षणों में तत्तत् योनि और शरीर के संबन्ध के कारण परिवर्तन स्वाभाविक होने से सात्त्विक आदि प्रत्येक के असंख्य भेद होते हैं[1]। निर्देशन के रूप में प्रत्येक के कतिपय भेद प्रस्तुत किए जाएँगे—सात्त्विक के सात, राजस के छ तथा तामस के पाँच। इन्हें ब्रह्मा आदि प्रसिद्ध उपमानों के अनूक (सादृश्य) को लक्ष्य में रख कर ब्राह्म काय (ब्राह्म सत्त्व) आदि नाम दिए गए हैं।

कायाना प्रकृतीर्ज्ञात्वा त्वनुरूपा क्रिया चरेत ॥

सु० शा० ४।८९

रोगी उपस्थित होने पर इन कायों या सत्त्वों (मनोभेद से पुरुषभेदों) की प्रकृति जान कर तदनुरूप चिकित्सा करनी चाहिए। इस प्रकार चिकित्सा में इनका ज्ञान उद्दिष्ट होने से आगे इन कायों के लक्षण लिखे जाते हैं।

सात्त्विक पुरुषों के भेद तथा उनके लक्षण—

सात्त्विक पुरुषों के ब्राह्म या ब्रह्म काय आदि सात भेद हैं। इनके नाम तथा लक्षण अधोलिखित हैं।

१ शौच (बाह्याभ्यन्तर-शुद्धि[2]), आस्तिक्य (परलोक और पुनर्जन्म आदि को मान कर तदनुरूप आचार-विचार रखना), वेद (अपने धर्मग्रन्थ) का अभ्यास, गुरुओं (विद्या-वयोवृद्धों) की पूजा (उन का मान एवं उनके कथनानुसार आचरण),

---

१—देखिये— च० शा० ४।३६ तथा चक्रपाणि।

२—सर्वेषामेव शौचानामर्थशौच परं स्मृतम्-सर्व शुद्धियों में धन-विषयक शुद्धि सर्वोपरि है (कौटिल्य), योऽन्त शुचि स हि शुचिर्न मृद्वारिशुचि शुचि—जिसमें अन्त करण की शुद्धि है वही शुद्ध है, केवल मृत्तिका और जल से शुद्ध होने को शुद्धि नहीं कहते (मनु)—इन वचनों से शौच या शुद्धि का प्राचीनसंमत व्यापक अर्थ समझा जा सकता है।

अतिथि-प्रियता, यज्ञशीलता, सत्यवचन, जितेन्द्रियत्व, सविभाग ; ज्ञान, विज्ञान (कला, शिल्प), वचन (अपने मत को अभिव्यक्त करनका सामर्थ्य---एक्स्प्रेशन), प्रतिवचन (कोई शङ्का उठाए या विरोध करे तो रोष, अपना या शङ्काकर्ता का अपमान इत्यादि भाव लाए विना उत्तम प्रकार से उत्तर देने का सामर्थ्य)---इन से सपन्न होना , स्मृति ; काम, क्रोध, लोभ, मान, ईर्ष्या, हर्ष और अमर्ष (असहिष्णुता), इन (रजोगुण के लक्षणो) से रहित होना एव सर्वभूत-समभाव---ये ब्राह्म सत्त्व (ब्रह्मकाय, ब्रह्मा के सदृश मानसी प्रकृति) के लक्षण है ।

२ माहात्म्य (महाशयत्व ; महेच्छा[1]), दीर्घ (दूर) दर्शिता, आज्ञा (अन्यो को आज्ञा करने का ---'वे अपनी कही वात का अनुगमन करें ऐसा---शील), आदेयवाक्यता (वचन तर्क, अनुभव, परिस्थिति आदि के अनुरूप होने से सब के लिए ग्राह्य होना[2]), ऐश्वर्य, शौर्य, ओजस्विता, तेजस्विता, यज्ञशीलता[3] , धर्म, अर्थ और काम में अभिरति (सलग्नता) ; सतत शास्त्र-सेवन (श्रवण या स्वाध्याय), सर्वदा शास्त्रानुसारिणी बुद्धि (विचार, निश्चय) होना ; कर्म अनिन्दित होना, भृत्यो का भरण (उनका सर्वप्रकार मे योग-क्षेम सिद्ध करना, उन पर ध्यान देना)---ये माहेन्द्र सत्त्व (माहेन्द्र काय ; पुराण-वर्णित इन्द्र के सदृश मानसी प्रकृति) के लक्षण है ।

३ शीतसेवा (शीत स्थान, वायु, स्नानीय जल, भक्ष्य पदार्थ आदि के सेवन में अभिरति) ; जल-विहार में प्रीति; शौच (शुद्धि), अशुद्धि के प्रति द्वेष, सहिष्णुता, शौर्य, धैर्य, प्रियवादिता ; कोप और प्रसाद यथोचित होना, यज्ञशीलता , कर्म अनिन्दित होना, पिङ्गाक्षता, तथा कपिलकेशता---ये वारुण सत्त्व, (वारुण काय; पुराणोक्त देव वरुण के सदृश मानसी प्रकृति) के लक्षण है ।

१---माहात्म्य का महाशयत्व अर्थ डल्लन ने दिया है। महाशय का अर्थ महेच्छा अमरकोश मे है---महेच्छस्तु महाशय । जिसके लिए हिन्दी मे महत्वाकाक्षा शव्द रच लिया गया है,जिसे अग्रेजी मे एम्वीशन कहते है उसके महेच्छा आदि नाम प्राचीनो ने दिए है। गुजराती मे एम्वीशन के लिए महेच्छा शव्द ही प्रयुक्त है ।

२---पुरुप दूरदर्शी हो तो स्वभावत उसमे आदेयवाक्यता और आज्ञा ये गुण आते है। महेच्छा, तेजस्विता आदि के कारण भी वह औरो को दवाता-सा है। यह सव प्रत्यक्ष दृष्ट है ।

३---प्राचीन काल मे महेच्छा धर्मशीलता आदि के कारण पुरुप यज्ञादि करते थे । सप्रति किसी भी लोकोपयोगी कार्य का ग्रहण इससे किया जा सकता है ।

४ मध्यस्थता (निष्पक्ष एव नि.स्पृह रह कर दो विवादी पक्षो में सधि करा सकने का गुण अथवा अपना मत व्यक्त करने का गुण), सहिष्णुता ; धन के उपार्जन और सञ्चय की कुशलता , उत्तम प्रजोत्पादन-सामर्थ्य , पद (प्रतिष्ठा), समान, उपभोग और परिवार (स्वजन-परिजन) से सपन्नता ; सुखावह क्रीडाएँ ; शुचिता , धर्म, अर्थ और काम में नित्य अभिरति ; कोप और प्रसाद (स्वजन-परिजन तथा आश्रितो के प्रति उनके कार्य आदि से सतोष और तदनुरूप उनकी पदवृद्धि, वेतन-वृद्धि आदि करना , इसके विपरीत धर्म का नाम कोप) ये दोनो व्यक्त होना––ये कौबेर सत्व कौबेर काय––पुराणवर्णित देवो के धनाधिपति कुबेर के सदृश मानसी प्रकृति) के लक्षण है।

५ गन्ध (इत्र, फुलेल आदि), माल्य, लेप, विविध वस्त्र, स्त्रियो की सगति, क्रीडा, काम (अष्टविध मैथुन), नृत्य, गीत, वाद्य (तीनो का मिलित नाम सगीत ; वर्तमान काल मे सिनेमा का अन्तर्भाव इसमें कर सकते है), विहरण (परिभ्रमण) इनमें प्रीति तथा इनका सतत शीलन ; स्तोत्र, श्लोक, आख्यायिका (कथा, कहानी, किस्से), इतिहास और पुराण इनके निर्माण और प्रवचन में कौशल एव असूया (अन्यो के गुणो को दोष मानना) का अभाव––ये गान्धर्वसत्त्व (गान्धर्व काय ; पुराणोक्त गन्धर्वजाति की देवयोनि के तुल्य मानसी प्रकृति) के लक्षण हैं।

६ प्राप्तकारिता (देशकाल––परिस्थिति––देखकर तदनुरूप कार्य करना), अन्यो द्वारा वारण (प्रतिषेध) न हो सकना (अर्थात् उनके कथन या आचरण का विरोध करने का साहस अन्यो में न होना) , कार्य का आरम्भ (आचरण) दृढ होना (जो कार्य हाथ में लिया उससे विचलित होने का नाम न लेना), निर्भयता, स्मृति, धृति (धैर्य, सयम) शुचिता, ऐश्वर्य की उपलब्धि ; ईर्ष्या, द्वेष, राग, मोह, और मद इन से शून्य होना ; कर्तव्य और अकर्तव्य की मर्यादा (लेखा) को जान कर तदनुरूप वर्तन––ये याम्यसत्त्व (याम्य काय, पुराण वर्णित यमराज-सदृश मानसी प्रकृति) के लक्षण है।

७ यज्ञ अध्ययन (धर्म-ग्रन्थो का स्वाध्याय तथा प्रवचन––अध्यापन) जप, होम, व्रत, ब्रह्मचर्य, आतिथ्य––इनमें परायणता , मद, मान, राग, द्वेष, मोह, लोभ और रोष का अभाव ; ज्ञान, विज्ञान, धारण, प्रतिभा (कठिनाई या कोई समस्या उपस्थित होने पर तत्काल सूझ) और वचन-शक्ति (जिसे आजकल अभिव्यञ्जन शक्ति इत्यादि कहा जाता है) इन की सपत्ति––ये आर्षसत्त्व (आर्षकाय, प्राचीन वाङमय में प्रसिद्ध ऋषियो के सदृश मानसी प्रकृति) के लक्षण है।

शुद्ध सत्त्व नाम सत्त्वगुणाधिक मन और पुरुषो के ये सात निदर्शन-भूत भेद है। कल्याण का अंश अधिक होने से इन्हें सात्त्विक वर्ग में स्थान दिया

गया है। इनमें कल्याणांश के आधिक्य के कारण ब्राह्म सत्त्व को अत्यन्त शुद्ध (सात्त्विकतम) समझना चाहिए।

राजस पुरुषो के भेद तथा लक्षण—

राजस या रजोगुण-बहुल पुरुषो के छ निदर्शनभूत भेद हैं। इनके नाम तथा लक्षण अधोनिर्दिष्ट है।

१ ऐश्वर्यशालिता, शूरता, रौद्रता (भयानकता), चण्डता (तीव्र कोप), औपधिकता (उपधि=छद्म प्रहार; छिद्र देखकर प्रहार करने का शील), असूया, आत्म-पूजा (अपनी प्रशसा आदि आप करना), निर्दयता, एकाशिता (सविभाग न कर भोज्य और भोग्य वस्तु का अकेले ही सेवन करने का शील) तथा औदरिकता (पेटूपन), क्षुधा-तृषा का विचार किऐ विना अत्यधिक अशन-पान का स्वभाव (पर्याय—धस्मरता)—ये आसुर सत्त्व (आसुर काय, या दैत्यसत्त्व[1]—पुराणादिप्रोक्त असुर-योनियो के सदृश मानसी प्रकृति) के लक्षण हैं।

२ (नाग आदि सर्पो के सदृश) क्रोध का आवेग हो तो शौर्य, परन्तु क्रोध न हो तो भीरुता, तीक्ष्णता (क्रोध के समय वचन तथा कार्यो में हिंसकता), अति आयास (परिश्रमशीलता), मायाविता (कपटी स्वभाव), भीत-भीत होकर सचार[2] (अतएव) सचार और आचार मे चपलता और आहार-विहार परायणता—ये सार्पसत्त्व (सार्पकाय, सर्पो के सदृश मानसी प्रकृति) के लक्षण हैं।

३ अत्यधिक और सतत काम-सेवा, अविरत आहार-विहार-परायणता, अमर्ष (मानसिक सहिष्णुता का अभाव), अस्थिरता (कही जमकर काम न करना), (धनादि के) सचय का शील न होना[3]—ये शाकुन सत्त्व (शाकुनकाय (शकुनि=पक्षी के सदृश मानसी प्रकृति) के लक्षण हैं।

४ एकान्तग्राहिता (हठ-पूर्वक एक पक्ष पकड रखना; अन्त=पक्ष), (पाठान्तर मे—रूक्षता); असूया, ईर्ष्या, धर्म-विरुद्ध आचरण, अत्यधिक तम (पाठान्तर में-अत्यधिक आत्म श्लाघा), अमर्षशीलता, कोप का अनुबन्ध (सातत्य, क्रोध शान्त न होना), छिद्र देखकर प्रहार करना, क्रूरता, (आकार-प्रकार और

१—च० शा० ४-५६ मे इसी प्रकरण के उपसहार मे असुर के स्थान पर दैत्य शब्द का प्रयोग आया है।

२—यहाँ 'मन्त्र सुगोचरम्' पाठान्तर है। इसका क्या अर्थ होगा?

३—जैसे पक्षी कुछ सचय करके रखते नही, वैसे कई व्यक्तियो मे सचय का स्वभाव नही होता। इनका वेतन प्रतिमास समाप्त हो जाता है। कभी-कभी नय। वेतन मिलने के पूर्व ही वेतन पूरा हो जाता है।

आचरण की) भयानकता, आहार मे अतिमात्र रुचि, मास पर अत्यधिक प्रीति ; निद्रा और आयास (निष्प्रयोजन परिश्रम) का बाहुल्य––ये राक्षस सत्त्व (राक्षसकाय––पुराणादि प्रसिद्ध राक्षस-योनि के पुरुषो के सदृश मानसी प्रकृति) के लक्षण है।

५. उच्छिष्ट आहार का शील (पाठान्तर मे––आचार का परित्याग), अन्नपान का प्रमाण तथा सख्या सुप्रभूत होना (पाठान्तर मे-अतिआलस्य), स्वभाव की तीक्ष्णता (कोपनता ; पाठान्तर मे––रूक्षता), साहस-प्रियता, स्त्री-लोलुपता, निर्लज्जता, स्त्रैणता (स्त्रियो के सदृश विचार, वाणी तथा वर्तन होना), स्त्रियो के साथ एकान्त में रहने की अभिरुचि, अशोच, शुचिता के प्रति द्वेष, भीरुता, अन्यो को भयत्रस्त करने का शील, विकृत (सडा-गला) आहार तथा बीभत्स चेष्टा करने का स्वभाव––ये पैशाच काय (पैशाच सत्त्व, पुराणादिप्रोक्त पिशाच-योनि के पुरुषो के सदृश मानसी प्रकृति) के लक्षण है।

६. सविभाग एव दान का स्वभाव न होना, अकर्मशीलता, आलस्य, दु ख-शीलता (अपने को सदैव दु'खी तथा उद्विग्न––तग आ गया––मानने का स्वभाव) अपना आचरण तथा व्यवहार अन्यो के लिए भी दु खद होना, असूया, लोलुपता (लोभ), आहार में सदा अभिरति तथा असूया––ये प्रेत काय (प्रेत सत्त्व, पुराणादि-निर्दिष्ट प्रेत-योनि के सदृश मानसी प्रकृति) के लक्षण है।

ये छ राजस (रजोबहुल) सत्त्व (मन) और पुरुषो के नाम तथा लक्षण निदर्शनार्थ बताए गए। इन सबो में रजोगुण के प्रधान लक्षण रोप का प्राधान्य होता है। इस कारण इन्हें एक वर्ग में अन्तर्भूत किया गया है।

तामस पुरुपो के भेद तथा लक्षण––

१ मेधा (ग्रन्थ या भाषण की बात को समझने का सामर्थ्य) अल्प होना, कुटिलता, मैथुनपरायणता, नित्य मैथुन के स्वप्न देखना, कुटिलता, अलकरण का स्वभाव न होना (आभरण तथा परिधान एव शयन, गृह इत्यादि को शोभित रखने की वृत्ति न होना ; इतना ही नही, इसके विपरीत) बीभत्स आचार और आहार का स्वभाव होना, निद्राशीलता (बहुत सोए पडे रहना), निराकरिष्णुता (स्वाध्याय की––ग्रन्थो के पठन-पाठन की––अभिरुचि न होना[1])––ये पाशव काय (पाशव सत्त्व, पशुओ के सदृश मानसी प्रकृति) के लक्षण है।

२ अस्थिरता (कही स्थिर न रहना, विचारादि की भी स्थिरता न होना), मूर्खता (बुद्धि हीनता), भीरुता, अनेक प्रकार से जल की इच्छा विशेष होना,

१––अस्वाध्यायो निराकृति ––अमरकोष।

आहार की लोलुपता (जिह्वा-लौल्य) ; काम और क्रोध का नैरन्तर्य, गमनशीलता (भटकने--आवारागिर्दी करने--का स्वभाव) एव परस्पर अभिमर्द (अपने स्वजनो, साथियो तथा नीचे काम करनवालो को उन्नति न करने देना, उन्हें दवाना, कि वहुना, उनके साथ लडना-झगडना, उनके छिद्र देखना)--ये मात्स्यकाय (मात्स्य सत्त्व, मछलियो के सदृश मानसी प्रकृति[1]) के लक्षण हैं।

३ एक ही स्थान मे रहने की वृत्ति[2], आहार को छोड अन्य किसी बात में रुचि और रति न होना, सत्त्वप्रधान धर्म, काम और अर्थ तीनो का अभाव, आलस्य एव वुद्धि के यावत् अङ्गो की शून्यता--ये वानस्पत्य काय (वनस्पतिसत्व, वनस्पतियो के सदृश मानसी प्रकृति) के लक्षण हैं।

ये तमोगुण=प्रधान पुरुषो के तीन भेद तथा उनके लक्षण निदर्शनार्थ वताए गए।

सात्त्विकादि पुरुषो के ये भेद मनुष्यो में प्राय पाए जाते हैं। अत. उदाहरणतया इतनो का ही निर्देश किया गया। एवमनुक्ता अपि विष्णुशंकरव्याघ्रादिसत्त्वानुकारेण सत्वभेदा वोद्धव्या एवेति दर्शयति (च० शा० ४।५६ पर चक्रपाणि)--इसी प्रकार विष्णु, शंकर, व्याघ्र प्रभृति अन्य भी अनिर्दिष्ट उपमानो के अनु-सार सत्त्वो तथा पुरुषो के भेदो की कल्पना की जा सकती है। प्राणिमात्र का निर्देशन शक्य न होने से इतनो ही का उल्लेख निदर्शनतया किया गया है।

प्रकृतियो की अपरिवर्तनशीलता--

कायचिकित्सा की दृष्टि से शारीर या मानस उभय प्रकृतियो के विषय में एक बात स्मरणीय है और वह यह कि--

---

१--वडी मछली जैसे छोटी को खा जाती है वैसे ही शक्तिशाली छोटो को दवाता है (जीवो जीवस्य भोजनम्, माईट इज राइट) इत्यादि प्रकार को मात्स्य न्याय ही नाम दिया गया है। मत्स्य सत्त्व पुरुषो मे यह शील सविशेष लक्षित होता है।

२--एक ही नगर मे घर वदलना, नौकरी के लिए स्थान-परिवर्तन (ट्रान्सफर), अच्छी अन्य नौकरी का ग्रहण, प्रवास गमन, कभी अन्यत्र जाना पडा हो तो कार्य के प्रसग मे जिस स्थल पर जाना पडे उसके सिवाय अन्य स्थानो को भी देखना--इत्यादि का स्वभाव ऐसे व्यक्तियो मे होता नही। वनस्पति के समान 'एकस्थानगति' वे होते हैं।

प्रकोपो वान्यथाभावो क्षयो वा नोपजायते।
प्रकृतीनां स्वभावेन जायते तु गतायुषः॥
सु० शा० ४।७८

प्रकृतियों का यह स्वभाव है कि, इनका न प्रकोप होता है, न क्षय, न अन्यथाभाव (रूपान्तर, प्रकृत्यन्तर, एक प्रकृति का अन्य प्रकृति में परिवर्तन किंवा विद्यमान प्रकृति में ही किन्ही गुण-धर्मों का वृद्धि-ह्रास)। रोगारम्भक दोषों का ही प्रकोप, क्षय या रूपान्तर (कतिपय गुण-धर्मों का वृद्धि-क्षय) होता है। प्रकृतियों में परिवर्तन केवल गतायु, नाम ऐसे पुरुषों, में होता है जिनकी आयु क्षीण हो चुकी है, जो आसन्नमृत्यु हैं। अन्य शब्दों में प्रकृति में परिवर्तन एक प्रकार का अरिष्ट (नियत मरण ख्यापक चिह्न) है। अरिष्ट चिह्नों के प्रकरण के आदि मे ही सुश्रुताचार्य ने कहा है—

शरीरशीलयोर्यस्य प्रकृतेर्विकृतिर्भवेत्।
तत्त्वरिष्टं समासेन, व्यासतस्तु निबोध मे॥
सु० सू० ३०।३

अरिष्ट-लक्षण विस्तार से आगे कहे जाएँगे। सक्षेप में, अरिष्ट का लक्षण यह है कि, शरीर और शील (मनोवृत्ति) के भेद से जो दो प्रकार की प्रकृतियाँ ऊपर कही गई हैं उनमें विकृति या वैपरीत्य दृष्टिगोचर हो तो इसे अरिष्ट समझना चाहिए।

आधुनिक विज्ञान के मत से प्रकृतिया—

पुरुषों के शील (मानसी प्रकृति, टेम्परामेण्ट) का विचार आधुनिक विज्ञान में भी उत्तरोत्तर वेग पकड़ता जा रहा है। यह एक कहावत-सी बन गई है कि रोग-परीक्षा में यह नहीं देखना चाहिए कि, किस प्रकार के लक्षण किसी रोगी को हुए हैं, किन्तु यह जानना चाहिए कि किस प्रकार के रोगी को कोई लक्षण हुए हैं? आधुनिक मनोविज्ञान और मानसरोगविज्ञान के प्रणेताओं में एक पैवलोव का मत इस विषय में द्रष्टव्य है। वह कहता है—

"दो प्रकार की वस्तुओं का नाडीसस्थान पर सर्वदा प्रभाव हुआ करता है। एक प्रकार की वस्तुएँ वे हैं, जो इसकी क्रिया को मन्द या अवसन्न करती हैं। इन्हें अवसादक विषय (इनहिबिटरी स्टिम्युलस) कहते हैं। द्वितीय प्रकार के भाव वे हैं, जो नाडीसस्थान को उद्दीप्त या क्षुभित (उत्तेजित) किया करते हैं। इन्हें उद्दीपक या प्रकोपक विषय (एक्साइटरी स्टिम्युलस) कहते हैं।

उदाहरणतया, भोजनकाल उपस्थित होने पर पाचक पित्तो का उदीरण नाडी-सस्थान सबन्धी एक प्रथित क्रिया है। परन्तु, इसकाल यदि असह्य कोलाहल हो तो पित्तो का उदीरण नही होता। इस प्रकार, इस दशा में कोलाहल अवसादक भाव है।

"इस दृष्टि से परीक्षा करने से नाडीसस्थान तीन प्रकार का पाया गया है। नाडीसस्थान का एक प्रकार वह है जिस पर प्रकोपक (उद्दीपक) विषयों का शीघ्र प्रभाव होता है, अत. जो जरा-जरा बात में क्षुभित हो जाया करता है। इसके विपरीत नाडीसस्थान का द्वितीय प्रकार है, जो अवसादक विषयो के शीघ्र वशीभूत हो जाता है, परिणामतया जिसकी क्रियाएँ समय-समय पर मन्द हो जाया करती है।

"इन दोनो भेदो के मध्यवर्ती तृतीय प्रकार है, जो उभयविधि विषयो की विद्यमानता मे भी शान्तिपूर्वक सम मन स्थिति में कर्म किया करता है। इस तृतीय प्रकार के प्राणियो के दो उप-प्रकार हैं। कुछ प्राणी ऐसे होते हैं जो सर्वदा सुस्त, मन्द, तथा शान्त रहते हैं। दूसरे प्राणी ऐसे होते हैं जो सामान्यतया स्फूर्त होते हैं, परन्तु एक ही स्थिति मे रहने से आश्चर्यजनक शीघ्रता से अवसन्न (सुस्त, जड) हो जाते हैं।

"नाड़ीसस्थान का यह विभाग प्राचीनो के[1] किए प्रकृति-विभाग से अति साम्य रखता है। क्षोभ्य नाडीसस्थानवाले पुरुषो को 'कॉलेरिक टेम्परामेन्ट' (पैत्तिक) वाला, अवसाद्य नाडीसस्थानवालो को 'मेलनकॉलिक टेपरामेण्ट' (शब्दार्थ-श्लैष्मिक) वाला तथा मध्यवर्ती शान्त नाडी सस्थानवालो का 'फ्लेग्मेटिक' (शब्दार्थ-श्लेष्मिक) प्रकृतिवाले तथा मध्यवर्ती स्फूर्त नाडीसस्थानवालो को 'सेग्वाइन' (शब्दार्थ-सम, श्रेष्ठ) कहा जा सकता है।" (देखिए-हेलीबर्टन-कृत 'हैडबुक ऑफ फिजियोलॉजी, ३१ वॉ सस्करण, पृष्ठ ६८३-६८४)

हिस्टेरिकल पर्सनेलिटी--

प्रकृतियो के प्रसग मे आधुनिको द्वारा वर्णित 'हिस्टेरिकल पर्सनेलिटी' (शब्दार्थ-हिस्टीरिया के गम्य व्यक्ति) को स्मरण किया जा सकता है। इन व्यक्तियो का स्वरूप वात-प्रकृति पुरुषो से बहुत मेल खाता है।

हिस्टीरिया निज नाम से प्रसिद्ध रोग है। यह नाम इस देश मे आया तो प्रथम यही समझा गया कि यह युग का दिया नूतन रोग है और केवल स्त्रियो को

१--पश्चिम मे भी भारत के समान प्रकृतियो का विचार प्राचीनो ने किया था। उनके नाम भी आयुर्वेद से मिलते-जुलते है। यहाँ उनका निर्देश है।

होता है। अग्रेजी नाम का मूल पद भी इसी बात का द्योतक है। हिस्टीरिया शब्द 'हुस्टेरा' से व्युत्पन्न है, जिसका अर्थ गर्भाशय है। इसी से इस रोग को भारतीय भाषाओ मे योषापरमार (शब्दार्थ--स्त्रियो को होनेवाला अपस्मार) नाम दिया गया। परन्तु इसके लक्षण आयुर्वेदोक्त अपतन्त्रक रोग से मिलते है। अत इसे वही पर्याय दिया जा सकता है।

दूसरी बात। प्रसिद्ध हिस्टीरिआ के वेगकाल मे आयाम, अर्धमूर्च्छा, गुल्म आदि लक्षण होते है। इन लक्षणो का मूल यह होता है कि रोगी किसी अतृप्त इच्छा को अपने अन्तरतम (अर्धचेतन मन, सबकॉन्शस सेल्फ) में निगृहीत किए--दबाए--रहता है। यह इच्छा काम (सेक्शुअल डिजायर) की हो सकती है, अलंकार-प्राप्ति की हो सकती है, किसी के प्रेम की प्राप्ति की हो सकती है या अन्य किसी प्रकार की हो सकती है। इच्छा की पूर्ति न होने का कारण पुरुषमें स्त्री के प्रति प्रीति न होना, प्रीति होते हुए भी सामर्थ्य न्यून होना, धन की न्यूनता आदि कारणो से अलकार क्रय न कर सकना इत्यादि होता है। इन कारणो से तृप्त न हुई इच्छा, आधुनिको ने जिसे अर्धचेतन मन कहा है, उस अन्त करण-प्रदेश में निगूढ रह कर विविध उत्पात मचाती रहती है। इन सब उत्पातो का मूल यह होता है कि रोगी अपने प्रति स्वजन-परिजनादि के हृदयो में अनुकम्पा[1] उत्पन्न करना चाहता है। अद्भुत बात यह होती है कि स्वय रोगी को अपनी किसी इच्छा या द्वेष का, उनके पूर्ण न होने का या उक्त प्रकारसे लोको की अनुकम्पा आकृष्ट करने की वृत्ति का ज्ञान ही नही होता। इस वृत्ति की चरितार्थता सामान्यतया उन लक्षणो के रूप में होती है, जिनका समुच्चित (मिलित) नाम हिस्टीरिया या अपतन्त्रक है। परन्तु सत्य यह है कि विश्व का कोई रोग ऐसा नही जिसका आविर्भाव इन पुरुषो में न हो सके। शर्त केवल यह है कि उस रोग का परिचय इन को होना चाहिए। इस प्रकार पक्षाघात, पगुता, अन्धता; उदर, शिर आदि अवयवो में शूल; कण्ठ में गुल्माकार अवरोध (ग्लोबस हिस्टेरिकस),

---

१--सहानुभूति शब्द से जो अर्थ अभिप्रेत है उसके लिए अनुकम्पा यह प्राचीन शब्द है। किसी व्यक्ति को होती हुई व्यथा के अनु-पश्चात्, उसका ही अनुवृत्ति मे अन्य के हृदय मे भी कम्पन-सिहरन होना यह अनुकम्पा शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है। उसे न समझकर अग्रेजी 'सिपेथी' की अनुकृति में सहानुभूति यह शब्द रच लिया गया है,। नया शब्द रचना अयोग्य नही है। परन्तु प्राचीन शब्द अज्ञानवश हमारे ध्यान मे न आये अतएव हमे नया शब्द रचना पडे यह स्थिति तो ठीक नही। प्राचीन शब्द विदित होते ही उसका व्यवहार चालू कर देना चाहिए। इस अर्थ मे समवेदना शब्द भी नव-निर्मित है।

बाधिर्य, सज्ञानाश , विविध रोगो की पुरष को आशङ्का (हायपोकॉन्ड्रिएसिस) ; निगिरण-कृच्छ्र (अन्न निगलने में कठिनाई) , अन्नद्वेष, स्पर्शनाश ; दौर्बल्य , अङ्गसाद ; चेष्टानाश , आयाम, स्तम्भ, संकोच, कम्प , वाक्भंग (वाणी की अप्रवृत्ति) , मूकता, मिन्मिनत्व, तुतलाहट, जिह्वा, कण्ठ, गल, या नेत्र की पेशियो के स्तम्भ से उक्त तथा अन्य विविध रोग होना , नेत्र की पेशियो के स्तम्भ से अक्षिव्युदास (आँख तिरछी हो जाना), दृष्टि में प्रकाश के केन्द्रीकरण की स्तब्धता , वर्त्मस्तम्भ, नेत्र-निमीलनी पेशी का स्तम्भ इत्यादि रोग हो सकते हैं। किसी भी रोग के लक्षणो के आविर्भाव में एक शर्त होती है कि रोगी को उस रोग का परिचय होना चाहिए। रोगो का उत्तम परिचय सुचिकित्सक को हो तो वह निदान कर लेता है कि रोग वास्तविक है या 'हिस्टेरिक' प्रकृति के कारण। रोगी का रोग-विज्ञान का परिचय पूर्ण न होने से रोग की उसके द्वारा अज्ञानत की गयी अनुकृति सपूर्ण नहीं होती। उदाहरणतया, उसे पक्षाघात हो तो पैरो में मौजे और हाथो में दस्ताने ऊपर की ओर जितनी ऊँचाई तक पहुँचते है वहाँ तक चेष्टा नाश और सज्ञानाश के चिह्न होते है—सपूर्ण हाथ और पैर में नही, जैसा कि वास्तविक रोग में होना चाहिए। इसके सिवाय इन रोगो की भेदक परीक्षा जानबूझ कर और सज्ञान दशा मे की गई बहानेबाजी (मेलिंगरिंग) से भी करनी पडती है।

हिस्टेरिक व्यक्तियो में विभिन्न मानस रोग भी पाए जाते हैं। इन का विस्तार आप्त ग्रन्थो में देखना चाहिए। इन व्यक्तियो में अपनी अयोग्यता, भूल आदि को छुपाने के स्वय अज्ञात प्रयत्न में अहभाव, मिथ्याभाषणशीलता (सूडोलॉजिआ फन्टेस्टिका), विस्मृति आदि लक्षण पाए जाते हैं। यह प्रकृति प्राय. कुलज होती है। इसका एक प्रमाण यह है कि स्वस्थ व्यक्तियो की अपेक्षया उन्मत्तालयो में इन पुरुषो के स्वजन अधिक सख्या में प्रविष्ट हुए अथवा मानसरोग-पीडित पाये जाते हैं।

प्रकृतियो का नव्यमतसे बहुसमत कारण—

मानव-प्रकृति के सबन्ध मे बहुसंमत विचार यह है कि मनुष्य का स्वभाव विभिन्न अन्तर्ग्रन्थियो के स्रावो पर अवलम्बित है। न केवल शरीर के अवयवो का विविध विकास, रोग तथा आरोग्य, परन्तु मानस प्रकृति का स्वरूप और विकास भी इन्ही अन्तर्ग्रन्थियो से निर्मित होता है।

मनुष्यो मे पाया जानेवाला शरीर का दैर्घ्य (लबाई) या वामनत्व, कृशता वा स्थूलता, दौर्बल्य या सबलता ; त्वचा, कनीनिका आदि का वर्ण-वैचित्र्य ; केश, श्मश्रु और लोमो का वैलक्षण्य ; विविध प्रकार के स्वर ; कामुकता या

विरक्ति, प्रतिभा या मन्दबुद्धिता, स्मृति या मन्द स्मरणशक्ति, दया या निर्दयता, पौरुष या (शारीर-मानस) स्त्रैणता, क्लेश-सहिष्णुता या क्लेश-भीरुता, इन तथा अन्यान्य शरीर या मन के स्वरूप-भेदो का कारण विविध अन्त-र्ग्रन्थियाँ ही है। (जिज्ञासुओ को एतद्विषयक विवरण 'लुई बर्नहाम' के 'ध ग्लैण्ड्स रेग्युलेटिंग पर्सनेलिटी' में अथवा 'केनेथ वॉकर' के 'डायाग्नोसिस ऑफ मैन' में देखना चाहिए। वृषण ग्रन्थियो का शरीर और मन पर प्रभाव हम इसी ग्रन्थ में पहले दर्शा आए है। उसे भी इस प्रकरण में स्मरण किया जा सकता है। उल्लिखित ग्रन्थो में नेपोलियन, सीजर आदि ऐतिहासिक पुरुषो के स्वभाव, उत्थान और पतन के कारण के रूप में उनमें अमुकामुक अन्तर्ग्रन्थि के विकास और ह्रास का निरूपण किया गया है।)

प्राचीन और अर्वाचीन क्रियाशारीरो का सापेक्ष अध्ययन करने से विदित होगा कि अन्तर्ग्रन्थियो के रसो का सादृश्य आयुर्वेद-वर्णित कफो और पित्तो के साथ देखा जा सकता है। प्रकृति और विकृति (रोग) के उत्पादन में जो स्थान कफ और पित्त का है वही अन्तर्ग्रन्थियो का भी है। पेवलॉव का मत हमने ऊपर दर्शाया है कि बाह्य या आन्तर विषयो (स्टिम्युलाई) का प्रभाव नाडीसस्थान पर पडता है। इन विषयो में पैवलॉव के पश्चात् जिनका अध्ययन विशेष विकसित हुआ, उन अन्तर्ग्रन्थियो का भी समावेश किया जा सकता है। आयुर्वेद में यह वस्तु इस रूप में कही है कि वायु योगवाह है—कफ और पित्त के सयोग से उनके गुणो का ग्रहण कर जिसके साथ सयुक्त होता है उस दोष के कर्म प्रदर्शित करता है। तथाहि :—

योगवाहः परं वायुः संयोगादुभयार्थकृत्।
दाहकृत् तेजसा युक्तः शीतकृत् सोमसंश्रयात्॥

च० चि० ३।३८

योगाद् योगिनो गुणं वहतीति योगवाहः। परमिति अत्यर्थम॥

चक्रपाणि

आयुर्वेद की दृष्टि से रोग-परीक्षा मे परीक्षणीय पदार्थो में प्रथम प्रकृति का निरूपण हुआ। नव्य मत से उसकी सक्षेप में व्याख्या करने का प्रयत्न भी हमने किया। विज्ञ वाचक इसी दिशा में स्वय अधिक विचार कर ही सकते है। अब अगले परीक्षणीय भाव सार का विचार क्रम-प्राप्त होने से प्रस्तुत किया जाता है।

सार[1]

दोष-उपधातु-सहित धातु तथा मल--ये तीन स्थूल शरीर के मूल या समवायि कारण है। रोग परीक्षा में दोषो का विचार उनके द्वारा आरब्ध (उत्पादित) प्रकृति और विकृति (रोग) के रूप में किया जाता है। इनमें प्रकृति का विचार ऊपर किया गया है। क्षय, वृद्धि आदि के रूप में विकृति का विचार अनुपद (ठीक इस प्रकरण के पश्चात्) करेगे। धातुओ का प्रकृति से मिलता-जुलता विचार दो प्रकार से किया जाता है। एक उनके प्रमाण के रूप में तथा दूसरा उनके सार के रूप मे। विकृति के रूप में धातुओ और मलो का विचार उनके दूष्य होने के रूप मे किया जाता है। दूष्यो की विकृति का कारण भी दोष होते हुए भी कभी-कभी लक्षण और चिकित्सामे दूष्य का प्राधान्य होता है। यथा, सान्निपातिक ज्वर तथा सतत ज्वर त्रिदोषारब्ध और समान मर्यादा आदि लक्षणोवाले होते हुए भी सन्तत ज्वरो में धातुओ की विकृति से होनेवाले लक्षण प्रधान होते है, जब कि सानिपतिक मे दोषो के ही प्रकोप स्वतन्त्र लक्षण प्रधानतया दृग्गत होते है। उन्हें इसी से सानिपातिक (त्रिदोषारब्ध) नाम दिया गया। चिकित्सा की दृष्टि से विचार करना हो तो विसर्प, रक्तज रोगो और कुष्ठ में दूष्य रक्त का प्राधान्य होता है, अत उसे लक्ष्य मे रखकर रक्तमोक्षण को महत्त्व दिया जाता है। अस्तु। धातुओके प्रमाणका विचार उसी प्रकार प्रत्येक पुरुष की अपनी अञ्जलि से करने का विधान है, जैसे अपनी ही अङ्गुलियो से शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्ग के मापन का। प्रमाण-निर्देश शारीर में आ ही गया है। इस ग्रन्थ मे भी आगे करेगे। रोग-परीक्षा मे विशेषोपयुक्त सार का निर्देश यहाँ करते है।--

सारशब्देन विशुद्धतरो धातुरुच्यते॥

च० वि० ८।१०२ पर चक्रपाणि

सार शब्द का अर्थ है रस आदि तत्-तत् धातु की अति विशुद्धि। प्रमाण से यह भिन्न है[2]। सार की परीक्षा रोगी के बल के प्रमाण का तारतम्य तथा आयु[3] जानने के लिए की जाती है--साराण्यष्टौ बलमानविशेषज्ञानार्थमुपदिश्यन्ते--च० वि० ८।१०२ (तथा ११४)। अंग्रेजी मे जिसे स्टेमीना कहते हैं वह 'सार' शब्द से अभिप्रेत प्रतीत होता है।

१--स्थल च० वि० ८।१०२-११५ तथा चक्र, सु सू ३५।१६ तथा डल्हन।

२--अतएव माससार का भाषान्तर मस्क्युलर बॉडी आदि करना अनुपयुक्त प्रतीत होता है।

३--सार के पश्चात् ही सुश्रुत ने कहा है--विशेषतोऽङ्गप्रत्यङ्गप्रमाणादथ सारत। परीक्ष्यायु सुनिपुणो भिषक् सिध्यति कर्मसु। सू सू ३५-१७।

परीक्षणीय सार आठ है और अधोलिखित है--त्वक्सार (अथवा रससार[1]), रक्तसार, मांससार, मेदःसार, अस्थिसार, मज्जसार, शुक्रसार तथा सत्त्वसार। सुश्रुत ने सारों का क्रम विपरीत देकर कहा है कि--एषा पूर्व प्रधानमायुः सौभाग्ययोरिति--सु० सू० ३५।१६[2]।--सत्त्वसार आदि रससार-पर्यन्त सारों में पूर्व-पूर्व सार उत्तर-उत्तर सार की अपेक्षया आयु और सौभाग्य (बल, सौकुमार्य, धनाढ्यता आदि गुणों) की दृष्टि से प्रकृष्ट है। दो-तीन, दो-तीन सारों के संयोग में आयु तथा सौभाग्य का प्रकर्ष संयुक्त सारों के अनुसार जानना चाहिए।

ऊपर कहा है कि सार शब्द से धातुओं का प्रमाण अभिप्रेत नहीं, किन्तु उनकी शुद्धि एवं तज्जनित बल, आयु आदि सौभाग्य-सूचक गुण सार शब्द से अभिहित हैं। रोग-परीक्षा में उपयुक्त इस सत्य की व्याख्या करते चरकाचार्य कहते हैं।--

कथं नु शरीरमात्रदर्शनादेव भिषङ् मुह्येदयमुपचितत्वाद् बलवान्, अयमल्पबलः कृशत्वात्, महाबलोऽयं महाशरीरत्वात्, अयमल्पशरीरत्वादल्पबल इति। दृश्यन्ते ह्यल्पशरीराःकृशाश्चैके बलवन्तः। तत्र पिपीलिकाभारहरणवत् सिद्धिः। अतश्च सारतः परीक्षेतेत्युक्तम्॥
च० वि० ८।११५

केवल शरीर को देख कर चिकित्सक को इस भ्रान्ति में न पडना चाहिए कि इस पुरुष का शरीर (धातु) उपचित नाम परिपुष्ट है अतः यह बलवान् है; किंवा यह पुरुष कृश (अपचित, क्षीणधातु) है अतः यह दुर्बल होगा, अथवा यह विशाल शरीरवाला है, इस कारण बलिष्ठ होना चाहिए, किंवा, यह अल्प (छोटे और पतले) शरीर वाला है इस लिए यह अल्पबलवाला होना चाहिए। कारण, अल्प शरीरयष्टिवाले एवं कृश भी कई पुरुष बलवान् देखे जाते हैं। इसके विपरीत, विशाल और पुष्ट शरीरवाले भी कई अल्प शारीर-मानस बलवाले देखे जाते हैं। (बल की दृष्टि से पुरुष की इन दो भेदों का वर्णन रोगों के वर्गीकरण के प्रकरण में गुरु-व्याधित और लघु-व्याधित नाम से आ चुका है।) शरीर से अल्प और कृश होते हुए भी बलवान् पुरुषों का स्वरूप समझने के लिए पिपीलिका (चिउंटी) का उदाहरण दिया जा सकता है। वह क्षुद्र-शरीर होती हुई भी अपने से कई गुणा अधिक भार वहन करने की शक्ति रखती है।

१---त्वक्सारं रससारम्। त्वक्शब्देन त्वक्स्थो रसोऽभिहितः॥ सू ३५-१६ पर डल्हन।

२---सौभाग्यशब्देन च कमनीयाश्चरके विस्तरप्रतिपादिता बलसौकुमार्यधनित्वादयो गुणा ग्रहीतव्याः ---चक्रपाणि।

रससार (त्वक्सार) पुरुषो के रोम प्रति स्निग्ध, श्लक्ष्ण, मृदु, प्रसन्न (निर्मल, निर्दोष), सूक्ष्म, अल्प, गम्भीर (गहरे मूलवाले) तथा सुकुमार एवं त्वचा भी प्रभावती, सुप्रसन्न और मृदु होती है। पुरुष रससार हो तो सुख, ऐश्वर्य, सौभाग्य, उपभोग, बुद्धि, विद्या, आरोग्य, प्रहर्षण (आनन्दमय स्वभाव) और आयुष्य की सभावना होती है।

रक्तसार पुरुषो के कर्ण, नेत्र, मुख, जिह्वा, नासिका, ओष्ठ, हस्त-पादतल, नख, ललाट और शिश्न (स्त्रियो मे अपत्यपथ तथा कामच्छत्र), स्निग्ध, ताम्र-(रक्त)--वर्ण, शोभायुक्त एव दीप्तिमान् (चमकदार) होते है। रक्तसार पुरुष सुखी, मेधावी, मनस्वी (उत्कृष्ट मनवाला), सुकुमार, अल्पबल, क्लेश के सहन में असमर्थ तथा उष्णता (धूप, ताप आदि) का असहिष्णु होता है।

सार शब्द का अर्थ ऊपर यह कहा है कि किसी धातु की विशुद्धि का नाम उस धातु की सारवत्ता है। तात्पर्य, जिस धातु का जो स्वरूप होना चाहिए, उसके जो गण तथा प्राकृत कर्म शास्त्र मे निर्दिष्ट है वह उसमें हो, तो उसे सारवान् समझना चाहिए। रक्त मे दोषो के प्रभाव से क्लेद (द्रवाधिक्य), पीलता आदि दृग्गोचर हो, तो इसे उसकी अशुद्धि एव नि सारता कहेंगे। जैसे पाण्डुरोग मे विशेषतया पित्तप्रकोपवश रक्तधातु का क्षय होने से उसके प्राकृत वर्ण, बल, स्नेह आदि गुण अत्यधिक क्षीण हो जाते हैं, रक्त मे क्लेद (द्रवत्व) आदि की वृद्धि हो कर पुरुष अत्यन्त शिथिल (दुर्बल) और गौरव (चेष्टा करने की असमर्थता) इत्यादि से पीड़ित हो जाता है[1]। अन्य धातुओ के प्राकृत स्वरूप का भी इसी प्रकार भ्रश होता है और पुरुष नि सार (धातु साररहित) हो जाता है। इस विवरण से सार शब्द का अर्थ समझा जा सकता है।

विधिशोणितीय अध्याय (च० सू० २४) में रक्तप्रकोपज रोगो के प्रसंग से चरकाचार्य ने विशुद्ध रक्त के लक्षण भी दिए है। रक्तसारता के प्रकरण में वे भी द्रष्टव्य है। विशुद्ध रक्त की परीक्षा दो प्रकार से होती है। एक तो विस्रावण द्वारा अथवा कारणान्तर से रक्तस्रुति हुई हो तो उसके स्वरूप की परीक्षा द्वारा तथा दूसरे आरोग्य-सम्बन्धी विशिष्ट लक्षणो को देखकर। विशुद्ध रक्त की लक्षण-गोचर परीक्षा अधोलिखित है---

प्रसन्नवर्णेन्द्रियमिंद्रियार्थानिच्छन्तमव्याहत पक्तिवेगम्।
सुखान्वितं तु (पु) ष्टिबलोपपन्नं विशुद्धरक्तं पुरुषं वदन्ति ॥[2]
च० सू० २४।२४

१---देखिये---च० चि० १६।४६ तथा उस पर चक्रपाणि की टीका।

२---सप्रति शोणितादर्शनेनापि विशुद्धरक्तज्ञानार्थं लक्षणसग्रह-प्रसन्नेत्यादि ॥
---चक्रपाणि

जिस पुरुष का वर्ण और इन्द्रियगण प्रसन्न (निर्मल) हो, इन्द्रियों के विषयो के ग्रहण में जिसकी अभिरुचि और अभिरति हो, अग्नियो का बल तथा पुरीष-मूत्रादि मलो की प्रवृत्ति जिसकी प्राकृत प्रकार की हो, जो सुख और शान्ति से समन्वित हो, जिसका बल और पुष्टि (तुष्टि) अबाध हो उस पुरुष को विशुद्ध-रक्त जानना चाहिए।

विस्रावण आदि से निःसृत रक्त शुद्ध हो तो उसका वर्ण रक्त होता है। पुरुषो की स्वभावसिद्ध वातिक आदि प्रकृतियो के कारण रक्तिमा में कुछ-कुछ विशेष होता है। सम-प्रकृति पुरुष के रक्त की रक्तिमा इन्द्रगोप (बीरबहूटी) के वर्ण के सदृश होती है। शेष वातादि प्रकृतियो के पुरुषो के रक्त का वर्ण तप्त काचन, रक्त कमल, लाक्षारस या गुञ्जा के वर्ण के सदृश होता है[1]।

वातादि-भेद से दुष्ट स्रुत रक्त की परीक्षा का प्रकार आगे लिखा जाएगा।

नवीन विज्ञान में जिसे 'प्लेथोरा' कहते हैं उससे रक्तसार का साम्य देखा जा सकता है। इस विकृति में रक्तकणो का प्रमाण सामान्य की अपेक्षया अधिक होता है। पुरुष के कपोल (गाल) आदि विशेष गुलाबी-लाल दिखाई देते हैं। रक्तसार का अर्थ रक्त की विशुद्धि तथा प्लेथोरा का अर्थ रक्तकणो की (आयुर्वेद-मत से रक्तधातु की ?) वृद्धि है, यह स्मरण रखना चाहिए।

मांससार नाम शुद्धमांसयुक्त पुरुष में शङ्ख (कनपटी), ललाट, कृकाटिका (ग्रीवा के पीछे का भाग), नेत्र, कपोल (गण्ड, गाल), हनु, ग्रीवा, स्कन्ध, उदर, कक्ष, वक्षस्, हाथ, पैर तथा इनकी एवं अङ्ग-प्रत्यङ्ग की सधियाँ —ये अवयव स्थिर (दृढ) गुरु, शुभ और उपचित (पुष्ट) मास से व्याप्त[2], अतएव अस्थियाँ तथा सधियाँ गूढ (अलक्ष्य), एव शरीर छिद्र (गर्त, निम्नता,) से रहित होना (भरा हुआ दीखना)—ये लक्षण होते हैं। डल्हन ने मांससार का ही मासल नाम बताया है। जिस पुरुष में मांससारता हो उसे क्षमा, धैर्य, अलौल्य (शारीर-मानस चापल्य, छिछोरापन तथा लोलुपता से रहित होना), धन, विद्या, सुख, आर्जव (सरल स्वभाव), आरोग्य, बल और दीर्घ आयु से संपन्न समझना चाहिए। तात्पर्य, अपने दृढ शरीर और उसके कारण दृढ और स्थिर मन के कारण मांससार पुरुष क्रमशः इन गुणो को प्राप्त करते हैं।

मेदःसार नाम शुभ मेदो धातुयुक्त पुरुष का सर्वशरीर विशेषत. वर्ण, स्वर, नेत्र, केश, लोम, नख, स्वेद, दन्त, ओष्ठ, मूत्र तथा पुरीष स्निग्ध और देह विशेष

१—च० सू० २४।२२ तथा चक्र, सु० सू० १४।२२ तथा डल्हन—चक्र

२—प्राय वैद्य स्नायु का अर्थ मासपेशी करते है। अन्य विचारणीय वस्तुओ के साथ उन्हे यह भी विचार करना चाहिये कि यहाँ मांससारता के प्रकरण मे उपचित मास से शरीर की व्याप्ति मे मास क्या होगा ?

विशाल होता है। ऐसे पुरुष में धन, ऐश्वर्य, सुख, दान, भोग, ऋजुता (स्वभाव की सरलता), शारीर-मानस श्रम की असहिष्णुता (परिश्रम एव बुद्धि के कार्य अधिक काल न कर सकना) तथा उपचारो की सुकुमारता जाननी चाहिए। उपचार का अर्थ आचरण और चिकित्सा दोनो वैद्यक-प्रसिद्ध है और यहाँ गृहीत है। मेद सार पुरुष के आचरणो में सौकुमार्य (पौरुष की न्यूनता ?) झलकती है। चिकित्सा-क्रम भी तीक्ष्ण हो तो, यथा तीन-चार मलोत्सर्ग के वेग हो जाएँ इतना भी विरेचन, उन्हें अकुला देता है।

मेद सार तथा मेदस्विता में भेद समझ लेना चाहिए। मेद सार शरीर में सम-प्रमाण में शुद्ध मेद रहता है, जब कि मेदस्विता में अति अधिक प्रमाण में अशुद्ध (तत्तद्दोष-दुष्ट) मेद रहता है। उसके कारण मेदस्वी पुरुष नानाविध रोगो से आक्रान्त रहते और होते है।

अस्थिसार नाम उत्कृष्ट अस्थिवाले पुरुषो की पार्ष्णि (एडी), गुल्फ (गिट्टा), जानु, अरत्नि (मुट्ठी), जत्रु (स्कन्ध-सधि), स्कन्ध, चिबुक (ठोडी), शिर और पर्व--ये अङ्ग तथा अस्थि, नख और दन्त स्थूल (विशाल-लम्बे-चौडे) तथा दृढ होते है। ये अस्थिसार पुरुष अति उत्साही, क्रियाशील, क्लेशसहिष्णु, स्थिर और बलिष्ठ शरीरवाले तथा दीर्घायु होते है।

नव्यमतानुसार पोषणिका (पिट्युइटरी) के अन्त स्राव के प्रकोप (अति-स्राव) का प्रभाव सर्वोपरि अस्थियो की पुष्टि पर होता है। इस ग्रन्थि के अग्रिम खण्ड का प्रमुख अन्त स्राव पुष्टिवर्धन[1] अन्त स्राव (ग्रोथ हॉर्मोन)--नामक होता है। इसकी अतिवृद्धि का प्रभाव अस्थि धातु की पुष्टि पर सविशेष पडता है। अस्थियो की वयोभेद से होनेवाली पुष्टि की अवस्थानुसार अस्थियो की यह अतिपुष्टि दो प्रकार की होती है। पुरुष की वृद्धि सपूर्ण न हो चुकी हो--अर्थात् प्रागस्थियाँ (एपीफिसिस-अस्थियो के तरुणास्थि से कठोर अस्थि में परिणत होनेवाले भाग) अभी परस्पर सयुक्त न हुई हो, इस दशा में पुष्टिवर्धन अन्त स्राव का प्रकोप हो जाए, तो शाखाओ की अस्थियाँ अति विशाल (लम्बी-चौड़ी) हो जाती है। इस वैरूप्य को दानवकाय (जायगैंटिज्म) नाम दिया गया है। सर्कसो में देखे जानेवाले सभी विशालकाय पुरुषो मे पोषणिका का ऐसा ही प्रकोप होता है। अठारहवीं शती में जॉन हटर ने एक आयरिश दानव का वर्णन किया था, जिसका ककाल एक अद्भुतालय में रखा है। उसका पोषणिका-खात (सेला टर्शिका) बहुत बडा है, जो उसकी पोषणिका की अतिवृद्धि तथा प्रकोप का गमक (सूचक) है।

१--त्र्यम्बक यजामहे सुगन्धि पुष्टिवर्धनम्--इत्यादि। वेदमन्त्र (लघु मृत्युञ्जय) मे आया 'पुष्टिवर्धन' शब्द 'ग्रोथ हॉर्मोन' के लिए अपनाया है।

पुष्टिवर्धन स्राव का प्रकोप यदि शरीर की वृद्धि पूर्ण हो जाने के पश्चात्—नाम प्रागस्थियाँ संयुक्त होने के अनन्तर—हुआ हो, तो नलकास्थियो की लम्बाई की दिशा में वृद्धि सम्भव नही होती, परन्तु समग्र ही शरीर की अस्थियाँ समभाव से बढती है। मुख के नीचे के भाग (हनु आदि), कर और पाद पर प्रभाव विशेष होता है—नाक स्थूल हो जाती है, गण्डास्थियाँ उभर आती है, जबडे बहुत बडे हो जाते है, जिससे दन्त भी पृथक्-पृथक् हो जाते है। हाथ तथा पैर भी स्थूल हो जाते है। इन अवयवो के मृदु अङ्ग भी उपचित हो कर मुख और शाखाओ के परिणाह (परिधि) को बढा देते है। इस विकार का नाम पर्व-स्थौल्य (एक्रोमेगेली ; एक्रो=अन्त, सिरा ; मेगस=स्थूल)। दानवकाय और पर्वस्थौल्य का कारण पोषणिका अथवा उसके समीपवर्ती भाग का अर्बुद होना भी सभव है।

दन्तो को आयुर्वेद में अस्थि का भेद (रुचक नाम से) या अस्थि का उपधातु माना गया है। अस्थिसार पुरुषो के लक्षणो में दन्तो और नखो की स्थूलता की भी लक्षणतया गणना है। प्राचीन दन्तवैद्य इस सत्य को दन्तो के आहरण के प्रसग में स्मरणीय बताते है। अस्थि की न्यून वा अधिक जैसी भी पुष्टि होगी वैसी ही पुष्टि दन्तो की भी होगी। अस्थि दीर्घ होगे तो दन्त भी दीर्घ होगे और उनके मूल भी गभीर (गहरे गए हुए) होगे। अत उनके आहरण में प्रयोज्य बल और कौशल विशेष होगा। अस्थि वामन होगी तो दन्त भी छोटे और उत्तानमूल होने से उनके आहरण में सुकरता रहेगी।

प्रकोप के विपरीत अग्रिम खण्ड के अमुक परमाणु (कोष) प्रणष्ट हो जाएँ या उनका स्राव क्षीण (अल्प) हो जाएँ तो उक्त रोगो के विपरीत पुरुष वामन (ड्वार्फ) रह जाता है। इस विक्रिया को वामनत्व (ड्वार्फिज्म, लोरेन-लेवी इन्फेंटाइलिज्म) कहते है। वामन तीन से चार फुट के होते है। इनमें विरूपता प्राय: नही होती। परन्तु ये प्रजनन की दृष्टि से बाल (रचना एव क्रिया की दृष्टि से पूर्णता को अप्राप्त) रह जाते है। पुष्टिवर्धन अन्त.स्राव देने से इनमें कुछ सिद्धि मिलती है।

वामन द्विविध देखे जाते है। एक प्रकार के वामन स्वरूपवान् बालक-सदृश तथा बुद्धिशाली होते है। द्वितीय प्रकार के वामन मेदस्वी, निद्रालु तथा मेद का सचय स्त्री-तुल्य स्थानो पर होने से अत्यन्त शिथिलाङ्ग कन्या-सदृश प्रतीत होते है।

दानवकाय और पर्वस्थौल्य यो तो विकृति ही है, परन्तु स्वरूप की ही विकृति (वैरूप्य) उनमें होती है। अस्थिसार पुरुषो में अस्थि की सारता होती है। इनका साम्य दानवकाय और पर्वस्थौल्य से स्पष्ट देखा जा सकता है।

वामनो का निर्देश प्राचीनो ने जन्मवल प्रवृत्त रोगो की गणना में किया है। अस्थिसार के विषय में इतना विवरण कर मज्जसार का लक्षण देखते हैं।

मज्जसार (शुद्ध मज्जा धातुवाले) पुरुष मृदु तथा पुष्ट अङ्गो से विभूषित,, उत्तम वल-सपन्न ; स्निग्ध वर्ण और स्निग्ध-गम्भीर वाणीवाले तथा स्थूल, विशाल एव गोल सधि और विपुल नेत्रोवाले होते हैं। मज्जसारता दीर्घ आयु, वल, श्रुत (शास्त्र के अध्ययन या श्रवण से उत्पन्न ज्ञान), सौभाग्य, वित्त, शिल्प, अपत्य और संमान की सूचक होती है।

मज्जा आयुर्वेद-मत से शुक्र धातु की पूर्व धातु है तथा नव्यमत से रक्त के रक्त और क्षत्र कणो का उद्भव-स्थान है यह यहाँ स्मरण किया जा सकता है। मज्जा धातु की पुष्टि और विशुद्धि रहे तो उसके मल की भी पुष्टि समीचीन होती है, जिससे त्वचा, नेत्र और पुरीष स्निग्ध रहते हैं। पुरीष में स्निग्धत्व यथावत् रहे तो तृतीय अवस्थापाक में अग्नि और वायु के द्वारा पुरीष के स्निग्धत्व (स्नेहाश) और क्लेद का पचन (शोषण) होने पर भी ये गुण इतने प्रमाण में शेष रहते ही है कि समान और अपान वायु की प्रेरणा से पुरीष और वायु की अनुलोम गति समभाव से होती रहती है। इस प्रकार मल का, विशेषत. वायु का विवन्ध एवं वायु का सचय, वृद्धि, प्रकोप, प्रसर और स्थान सश्रय न होने से शरीर कैसे स्वस्थ रह सकता है इसकी कल्पना की जा सकती है। तात्पर्य—पक्वाशय-रूप उद्भव-स्थान में वायु का प्रशमन होने से वायु अन्यत्र भी प्रशान्त रहता है। पक्वाशय के अनन्तर त्वचा वायु का प्रमुख स्थान है। वहाँ भी मज्जा के स्नेह द्वारा विपरीत-गुण वायु का शमन होता रहने से वह समावस्था में रहता है। स्मरण रहे, त्वचा में स्निग्धता का उत्पादक मल पृथक् है, जो मज्जा का मल है। इसकी विशेष सज्ञा नहीं है। त्वचा की क्लिन्नता (आर्द्रता) और उसके कारण सौकुमार्य एक अन्य मल का कार्य है, जो स्वेद नाम से प्रख्यात है। यह मेद का मल है। आधुनिक क्रिया-शारीर में भी स्वेद और स्नेह की उत्पादक ग्रन्थियाँ पृथक् वताई हैं। स्नेह को सीवम कहते है तथा इसकी उत्पादक ग्रन्थियो को सीवेशस ग्लैण्ड्स कहा जाता है।

मज्जा की सारता की व्याख्या एक अन्य प्रकार से भी करनी चाहिए। प्राचीनो ने अस्थिमात्र में स्थित स्नेह को मज्जा कहा है। शिर के अन्तर्गत स्थित मस्तिष्क का भी अन्तर्भाव मज्जा में ही प्राचीनो ने किया है। सो, मज्ज-सारता से मस्तिष्क की सारवत्ता भी गृहीत है। ज्ञान, शिल्प आदि का कारण यह सारवत्ता ही है।

शुक्रसार नाम शुद्ध और पुष्कल शुक्रवाले पुरुष सौम्य (सौम्य स्वभाववाले); सौम्य-जानो दुग्धपूर्ण हो ऐसे—नेत्रोवाले ; अति हर्ष (काम की इच्छा) वाले ;

श्वेत, स्निग्ध, घन, पुष्ट, सम, दृढ़, वृत्ताकार तथा सुन्दर अस्थि, नख और दन्तावली-वाले, प्रसन्न और स्निग्धवर्ण एव स्वर से सपन्न; दीप्तिमान्; एवं विशाल स्फिक्-प्रदेश (चूतड) वाले होते हैं। वे स्त्रियो की तृप्ति में समर्थ, उपभोग-प्रिय, वलवान्, तथा सुख, ऐश्वर्य, आरोग्य, वित्त, समान और बहुत सतान से अन्वित होते हैं।

शुद्ध शुक्र की पुष्टि पूर्णतया होने पर उसके उपधातु या मल ओज की भी यथावत् पुष्टि होने के कारण ऊपर कहे अनेक परिणाम होते हैं। इस विषय में प्राचीन और नवीन मत से वहुत वक्तव्य पहले (पृ० २२२-२३) पर आ गया है। उसे यहाँ पुन. देखा जा सकता है।

सत्त्वसार नाम सत्त्व अर्थात् मन की किंवा उसके अङ्गभूत सत्त्वगुण की सारता वाले––मनोवल युक्त––पुरुष स्मृतिमान्, भक्तियुक्त, प्राज्ञ, शुद्ध (पूर्वोक्त बाह्याभ्यन्तर शुद्धि-सपन्न), कृतज्ञ, अति उत्साही, शूर, पराक्रमी, विषाद (मनोभङ्ग)-रहित, शीघ्रकारी (दक्ष), धीर, सुव्यवस्थित गति एव गम्भीर वुद्धि और चेष्टा-वाले तथा कल्याणाभिनिवेशी (कल्याणमय ही कार्यो में अभिरत होनेवाले) होते हैं।

विस्मृति तथा अन्य अवगुण प्रज्ञापराध के अङ्ग कहे गए हैं। इससे स्पष्ट है कि, उनसे रहित सत्त्वसार पुरुष रोगी हो तो उसका रोग साध्य होता है। इसीसे मन की सारता की परीक्षा रोग-परीक्षा में विधेय है। इसी प्रयोजन से तन्त्रकारो ने पृथक् प्रकरण में सत्त्व (मन) की पृथक् परीक्षा का भी विधान किया है। बल-भेद से वहाँ मन के तीन भेद बताए हैं। उनमें प्रवर-सत्त्व (उत्कृष्ट मनोबल-वाले) पुरुष ही यहाँ सत्त्वसार नाम से अभिहित है। तीनो सत्त्व-भदो के रोग-परीक्षोपयुक्त पृथक् लक्षण इसी अध्याय में आगे लिखे जाएँगे। यह कह आए हैं कि रस से रक्त, रक्त से मास, मास से मेद, मेद से अस्थि, अस्थि से मज्जा, मज्जा से शुक्र और शुक्र से सत्त्व का सार अधिक उत्कृष्ट है। अनेक जन्मोपार्जित उत्तम मनोवलवाले महापुरुष इसी कारण अपने दुर्वल और रुग्ण शरीर से भी ऐसे कार्य कराते हैं जो प्राय वलिष्ठ धातुओ वाले पुरुषो से ही संभाव्य माने जाते हैं।

सर्वसार नाम ऐसे पुरुष जिनमें ये सभी सार समुदित हो उनमें अधोलिखित लक्षण पाए जाते हैं।––अत्यन्त वलवत्ता, परम सुख, क्लेशसहिष्णुता, कोई भी कैसा भी कार्य करने में आत्मविश्वास (सर्वारम्भेष्वात्मनि जातप्रत्ययाः), कल्याणाभिनिवेशिता (स्व-पर कल्याण के कर्म करने में ही अभिरति); शरीर स्थिर (दृढ) और शीत-उष्ण आदि द्वन्द्वो के सहन में समर्थ होना, गति तथा चेष्टाओ की स्थिरता; स्वर अनुनाद (प्रतिध्वनि)-युक्त, स्निग्ध, गम्भीर

और विशाल होना, सुख, ऐश्वर्य, धन, भोग और समान, वार्धक्य का प्रसर मन्द होना (वार्धक्य का आविर्भाव शीघ्र न होना, होने के अनन्तर भी उसके दौर्वल्य, कार्श्य आदि लक्षण शीघ्र प्रसृत न होना); रोगो के प्रसार की मन्दता; चिर आयु, सतति भी प्राय. इन गुणो वाली होना।

प्रत्येक धातु के सार के उक्त लक्षण जिसमें न हो (अल्प हो) उसे उस धातु की दृष्टि से असार कहते है। एव जिसमें लक्षणो का प्रमाण मध्य हो—नाम कुछ लक्षण विद्यमान हो, कुछ न हों; किंवा प्रायः सब विद्यमान हो तो भी उनकी इयत्ता न्यून हो—उसे मध्यसार कहा जाता है।

सत्त्व या मन[1]

सत्त्वमुच्यते मनः। तच्छरीरस्य तन्त्रकम्[2], आत्मसंयोगात्॥

च० वि० ८।११९

सत्त्वं तु व्यसनाभ्युदयक्रियादिस्थानेष्वविक्लवकरम्॥[3]

सु० सू० ३५।३७

रोग-परीक्षा में अगला परीक्ष्य सत्त्व है। सत्त्व का अर्थ है मन। आत्मा के सयोग से यह शरीर का धारण (नियमन) और प्रेरण करता है। इस विषय में विशेष ज्ञातव्य आयुर्वेदीय पदार्थ-विज्ञान के प्रकरणो में आ गया है। सत्त्व, रज और तम मनके तीन गुण हैं। इनमें सत्त्वगुण का जैसा प्रमाण होता है उसके अनुसार ही मन का बल होता है। सत्त्वगुण के आधिक्य से पुरुष दुःख, सुख के कारणभूत अभ्युदय एवं शस्त्रकर्म इत्यादि विविध क्रियाओ और तज्जनित पीड़ाओ के प्रसग पर न ग्लानि (हर्षक्षय) को प्राप्त होते हैं, न हर्ष को। यह निर्विकारता (धीरता) और निर्भयता सत्त्वगुण के उद्रेक के कारण होती है।

१—स्थल · च० वि० ८।११९ तथा चक्र, सु० सू० ३५। ३७–३८ तथा चक्र और डल्हन।

२—तन्त्रकमिति प्रेरकं धारकं च॥ चक्रपाणि

३—इस वचन की टीका मे सत्व का अर्थ चक्रपाणि और डल्हन दोनो ने सत्वगुण किया है। तथाहि सत्त्व मनोबलं गुणविशेषो रजस्तमसोर्विपक्षः। सत्त्वे सति पीडादिसहिष्णुत्वलक्षण मनोवल भवति—डल्हन। क्रमागत-सत्त्वपरीक्षाया सत्त्व सत्त्वगुणो मनोगत; तदुत्कर्षान्मनो बलवद्भवति।। अविकल्पोऽविकृतत्वं, सुखदु खहेतौ निर्भयविकारशून्यता अविक्लव —चक्रपाणि

मन में सत्त्वगुण का प्राधान्य हो, तो उक्त प्रकार से उत्तम मनोबल होता है। रजोगुण का प्राधान्य हो, तो मनोबल मध्यम होता है तथा तम का प्राधान्य हो, तो मन दुर्बल (क्षीणबल) होता है।[१]

सत्त्ववान् सहते सर्वं संस्तभ्यात्मानमात्मना।
राजसः स्तभ्यमानोऽन्यैः सहते नैव तामसः॥

सु० सू० ३५।३८

इस प्रकार सत्त्वादि गुणो के आधिक्य से मन तीन प्रकार का होता है—सत्त्वप्रधान उत्तम मनोवलवाला या प्रवर सत्त्व ; रज.प्रधान मध्यम मनोबल-वाला या मध्यसत्त्व तथा तम:प्रधान मनोबलहीन या अवरसत्त्व।

इनमे प्रवरसत्त्व वाले (सत्त्ववान्) पुरुषो का ही वर्णन ऊपर सत्त्वसार नाम से किया गया है। ये पुरुष कृश-शरीर हो, तो भी बडे से बड़े निज किवा आगन्तु रोगो में भी, अथवा अन्य पीडाओ में भी सत्त्व गुण की अधिकता के कारण अविकल हो पीडा को अन्दर ही अन्दर (प्रकट किए बिना) सहन कर लेते है। प्रतीत ऐसा होता है जैसे उन्हें कोई व्यथा हो ही नही। अज्ञ चिकित्सक इन्हें लघुव्याधित मान अल्प उपचार करें तो परिणाम अनिष्ट होता हैं यह पहले कहा जा चुका है।

मध्यसत्त्व पुरुप आरम्भ में वेदना को सहन नहीं कर सकता, परन्तु जब वह औरो को वेदना सहन करते देखता है, तो उसे भी आत्मविश्वास हो आता है। वह अनुभव करता है कि, यदि यह वेदना सहन कर सकता है तो मुझे भी वेदना सहन करनी ही चाहिए। अथवा उसमें इतना मनोबल तो होता ही है कि अन्य जन उसे धीरज बँधाएँ तो वह व्यथा को सहन कर लेता है।

हीनसत्त्व पुरुष न स्वय धैर्य धारण कर सकते है, न दूसरो के धीरज बँधाने पर। वे विशाल शरीर वाले हो तो भी स्वल्पमात्र वेदना को भी सहन नही कर पाते। अल्पमात्र कारण से उनमे भय, शोक, लोभ, मोह, और मान (गर्व) के वेग हो आते हैं। इनमें किसी न किसी का आवेश उसमें प्राय. देखा जाता है। रौद्र, भयकर, बीभत्स, विकृत या अरुचिकर बातचीत के प्रसग मे भी अथवा पशु या पुरुष के मांस या रुधिर को देख कर भी वे विषाद (मनोभङ्ग, कॉलेप्स), वैवर्ण्य (वर्णनाश, मुख फीका पड जाना), मूर्च्छा, उन्माद, भ्रम, प्रपतन (चक्कर खा कर गिर जाना)—इनमें किसी विकार को और कभी तो मृत्यु को प्राप्त होते हैं।

१—सत्त्वे उत्तम मनोबल, रजसि मध्यम मनोबल, तमसि मनोदौर्बल्यमेवेति। त्रयमपि श्लोकेन निर्दिशन्नाह-सत्त्ववानित्यादि॥ —डल्लन

हीनसत्त्व पुरुषो को ऐसे प्रसगो से बचाना चाहिए, जिनसे उल्लिखित परिणाम उत्पन्न होने की सभावना हो। इस प्रकार वे निदान-परिवर्जन रूप चिकित्साङ्ग के उपयुक्त पात्र होते हैं।

बल[1] तथा व्यायाम-शक्ति

वलं व्यायामशक्त्या (विद्यात्)॥ च० वि० ४।८

जो शरीरसाध्य एव मनोऽनुकूल चेष्टा या कर्म शरीरावयवो को स्थिर (दृढ) और वलवान् वनानेके प्रयोजन से किया जाता है उसे व्यायाम कहते हैं[2]। इससे शरीर में आयास या श्रम होता है[3]। कोई पुरुष कितना व्यायाम या भारवहनादि कर्म कर सकता है यह देख कर उसमें कितना वल है इसका अनुमान होता है[4]।

वल की परीक्षा का रोग-परीक्षा में वहुत महत्त्व है। एक सुविदित रोग राजयक्ष्मा के उदाहरण से इसे स्पष्ट करने का प्रयत्न करता हूँ।—

चिकित्सास्थान में राजयक्ष्मा की चिकित्सा के प्रकरण में चरकाचार्य ने कहा है—राजयक्ष्मा के त्रिरूप, षट्रूप या एकादश-रूप किसी भी भेद में सपूर्ण लक्षण उदित हो गए हो और साथ ही मास (भार) और वल का परिक्षय हो गया हो तो रोगी का प्रत्याख्यान (त्याग) कर देना चाहिए। परन्तु सर्व लक्षण विद्यमान होते हुए भी वल और मास का योग हो—ये उपस्थित हो—तो रोगी की चिकित्सा करनी चाहिए। तथाहि—

सर्वैरर्धैस्त्रिभिर्वाऽपि लिङ्गैर्मांस वलक्षये।
युक्तो वर्ज्यश्चिकित्स्यस्तु सर्वरूपोऽप्यतोऽन्यथा[5]॥

च० चि० ८।४७

निदान स्थान में आचार्य ने यह प्रकरण अधिक विस्तार से दिया है। यक्ष्मा के एकादश लक्षणो का निर्देश कर वे कहते हैं—

१—स्थल : सु० सू० ३५।३५–३६ तथा चक्र और डल्लन, च० सू० ११।३६ तथा चक्र, च० वि० ८।१२१, च० शा० ६।१३।

२—देखिये शरीरचेष्टा या चेष्टा स्थैर्यार्था वलवर्धिनी।
देहव्यायामसख्याता मात्रया ता समाचरेत्॥
च० सू० ७।३१

३—देखिये सु० चि० २४।३८।

४—देखिये च० वि० ८।१२१।

५—अन्यथेति वलमासयोगे सति—चक्रपाणि

अपरिक्षीणबलमांसशोणितो बलवानजातारिष्टः[1] सर्वैरपि शोपलिंगैरुपद्रुतः साध्यो ज्ञेयः। बलवानुपचितो हि सहत्वाद्व्याध्यौषधिबलस्य कामं सुबहुलिङ्गोऽप्यल्पलिङ्ग एव[2] मन्तव्यः॥ च० नि० ६।१६

जिसके बल, मास और रक्त का परिक्षय नही हुआ है, जो सहज बल से भी सपन्न है एव जिसमें अरिष्ट अभी उत्पन्न नही हुए हैं वह सब ही लिङ्गों (लक्षणो) से आक्रान्त हो तो भी उसे साध्य ही समझना चाहिए। कारण, बलवान् और उपचित (पुष्ट) पुरुष अपने बल के प्रभाव से रोग तथा औषध दोनो के बल को सहन कर सकता है; अत भले वह अतिबहुसख्यक लक्षणो से आक्रान्त हो तो भी उसे अल्प लक्षणाक्रान्त ही मानना चाहिए--नाम, अल्प लक्षणाक्रान्त रोगी के सदृश उसे सुखसाध्य समझना चाहिए। इसके विपरीत--

दुर्बलं त्वतिक्षीणबलमासशोणितमल्पलिङ्गमजातारिष्टमपि बहुलिंगं जातारिष्टं च विद्यादसहत्वाद्व्याध्यौपधिबलस्य। तं परिवर्जयेत्। क्षणेनैव हि प्रादुर्भवन्त्यरिष्टानि, अनिमित्तश्चारिष्ट प्रादुर्भाव इति॥ च० नि० ६।१७ ४

पुरुप दुर्बल (बलहीन, क्षीण बलवाला) हो तो उसके बल, मास और रक्त अत्यन्त क्षीण हो चुके होने से, उसमें लक्षण अल्प हो, अरिष्ट भी अभी उत्पन्न न हुए हो तो भी बलहीनता के कारण वह रोग और औषध के बल को सहन नही कर सकता, अत. उसे बहुलक्षणवान् तथा अरिष्टयुक्त ही मानना चाहिए। उसका परित्याग कर देना चाहिए--असाध्य होने से उसकी चिकित्सा न करनी चाहिए। कारण, बल, मास और रक्त का क्षय यही असाध्यता का परम लक्षण है और वह उत्पन्न हो चुका है, अतः अरिष्ट नाम से प्रसिद्ध अरिष्ट-लक्षण उत्पन्न होने में कोई शङ्का ही नही रखनी चाहिए। पुरुष अरिष्टोत्पादक कारण का सेवन न करे, तो अरिष्ट न उत्पन्न होगे यह भी न समझना चाहिए। कारण, अरिष्टो का उदय कारण के बिना भी (अकस्मात्) हो जाता है।

यहाँ औषध के बल का अर्थ है औषध का वीर्य। जो औषध जिस प्रमाण में देने से रोग के शान्त होने की श्रद्धा चिकित्सक को है, दुर्बल पुरुष उसे सहन नही कर सकता। उसके उपयोग से तत्-तत् व्यापत्ति (हानि) उसे हो आती है। औषध का बल सह्य न होने से औषध का उपयोग नही हो सकता और रोग की वृद्धि होती जाती है।

१--अपरिक्षीणबलाभिधानेऽपि बलवानिति पद सहजबलयुक्तत्वोपदर्शनार्थम्। सहजबलो ह्यपक्षीणबलोऽप्यक्षीणबलवद्भवतीति भाव॥--चक्रपाणि

२--अल्पलिङ्ग एवेति अल्पलिङ्ग इव सुखसाध्य इत्यर्थ.॥--चक्रपाणि

राजयक्ष्मा के उदाहरण से रोगो के विचार में वल की परीक्षा का सामान्य महत्त्व समझा जा सकता है। अब वल-विषयक अन्य ज्ञातव्यो का निर्देश करते है।

वल आरोग्य का कारण है और रोग हुए हो, तो उनके प्रतीकार का हेतु भी वल ही है। अधोलिखित वचनो से वल का यह कर्म स्पष्ट होगा।--

× × अशनं छ्यान्मासरसेन तु।
वलं ह्यलं निग्रहाय दोषाणा, वलकृच्च तत्॥

च० चि० ३।१६६

कफ-प्रधान ज्वर की चिकित्सा का प्रकरण है। पूर्व पद्य में कहा है कि, कफ-प्रधान ज्वररोगी में लङ्घन के लक्षण उदित न हुए हो तो दस दिन बीत जाने पर भी, सामान्य नियमानुसार घृत-पान न कराना चाहिए। जब तक पूर्णतया लाघव न आ जाए तब तक कषायो से उसकी चिकित्सा करनी चाहिए। भोजन में रोगी को मासरस के साथ अन्न देना चाहिए। यह मासरस कफ-वर्धक होने से अपथ्य है, यह शङ्का हो सकती है। उसका उत्तर स्वय तन्त्रकार इस पद्य में देते है कि--मासरस वलकारक होता है और वल दोषो का निग्रह करने में समर्थ (उपयोगी) होता है। अत उसका सेवन उपयुक्त होता है। इस वचन में शरीर की क्षमता (रोग-प्रतिकारक शक्ति) को वल कहा है।

इसके पूर्व इसी अध्याय में ज्वर में लङ्घन का उपदेश कर कहा है कि लङ्घन इतना होना चाहिए कि जिससे बलहानि न होने पाए।--

प्राणाविरोधिना चैनं लङ्घनेनोपपादयेत्।
वलाधिष्ठानमारोग्यं यदर्थोऽयं क्रियाक्रमः॥[1]

च० चि० ३।१४१

तात्पर्य, लङ्घन ऐसा और इतना कराए कि वह वल का अतिक्षयकारी न सिद्ध हो। वल की रक्षा का यह विचार इस लिये किया जाता है कि आरोग्य एवं रोग-निवृत्ति का मूल वल ही है और आरोग्य तथा रोग-निवृत्ति के लिए तो यह शास्त्र प्रवृत्त हुआ है।

इसी अध्याय में आगे कहा है कि शारीर धातु दुर्बल हो जाते है, इसीसे जीर्ण ज्वर बना रहता है। इस सप्राप्ति को दृष्टि में रख वल्य और बृहण (पुष्टिजनन) आहारो का सेवन कराना चाहिए।--

---

१--प्राणाविरोधिनेति बलाविरोधिना। विरोधश्चातिक्षयकरत्वेनेहोच्यते। आरोग्य बलवत एव भवतीति बलाधिष्ठानमारोग्यमुक्तम्॥ --चक्रपाणि

दौर्बल्याद्देह धातूना ज्वरो जीर्णोऽनु वर्तते।
बल्यैः सबृंहणैस्तस्मादाहारैः समुपाचरेत्॥
च० चि० ३।२९१

बल के प्रकार—

यह बल चाहे शारीर (व्यायाम या कर्म से अनुमेय) हो, चाहे मानस हो (जिसे उत्साह भी कहते हैं) या आरोग्य एव रोग-निवृत्ति का हेतुभूत हो—तीन प्रकार का होता है। १—सहज या प्राकृत नाम वह जो जन्म से ही धातुओ की समीचीन पुष्टि के कारण होता है। वस्तुत. कई जन जन्म से (स्वभाव से) ही बली देखे जाते हैं और कई दुर्बल। २—कालज—नाम वह जो वयोविशेष किंवा ऋतु-विशेष के प्रभाव से होता है। तारुण्य में एव हेमन्तादि ऋतुओ में बल अधिक होता है, यह प्रत्यक्ष है। ३—युक्ति कृत बल वह होता है जो मास, घृत आदि आहार, उचित विश्राम, व्यायामादि विहारो एव रसायन-योगो की योजना मे प्राप्त होता है। (युक्ति=योजना)।

बल का अर्थ क्षमता या रोगप्रतिकारशक्ति लिया जाए तो प्राचीनो के युक्तिकृत बल का कुछ साम्य आधुनिको की कृत्रिम क्षमता (एक्वायर्ड इम्युनिटी) से देखा जा सकता है। यह क्षमता रोग-विशेष का प्रादुर्भाव होने पर शरीर में उस रोग के विरुद्ध स्वय उत्पन्न होती है अथवा रोग-विरोधी द्रव्यो की सूची-वस्ति द्वारा प्रविष्ट की जा सकती है। सहज बल का कुछ साम्य सहज क्षमता (कॉन्जेनिटल इम्युनिटी) से देखा जा सकता है।

क्षमता के कारण—

रोगो की अनुत्पत्ति एव उत्पन्न रोगो के निवर्तन की दृष्टि से क्षमता के कारण-भूत आहार का विचार जानना बहुत उपयोगी है। सात्म्य की परीक्षा के प्रकरण में चरक मुनि ने कहा है—

तत्र ये घृतक्षीरतैलमासरससात्म्याः सवरससात्म्याश्च ते वलवन्तः क्लेशसहाश्चिरजीविनश्च भवन्ति। रूक्षसात्म्याः पुनरेकरससात्म्याश्च ये ते प्रायेणाल्पबला अल्पक्लेशसहा अल्पायुषोऽल्पसाधनाश्च भवन्ति। व्यामिश्रसात्म्यास्तु ये ते मध्यवलाः सात्म्यनिमित्ततो भवन्ति॥ च० वि० ८।११८

सर्वरसाभ्यासो बलकराणाम, एकरसाभ्यासो दौर्बल्यकराणाम; क्षीरघृताभ्यासो रसायनानाम् (श्रेष्ठः)॥ च० सू० २५।४०

जिन पुरुषो को घृत, क्षीर (दूध, विशेषतया गोदुग्ध), तैल और मासरस एवं मधुरादि सर्व रस सात्म्य हो, नाम सेवन नित्य करते रहने के कारण ये द्रव्य

जिन्हें अभ्यास-सात्म्य (ओक-सात्म्य , नित्य सेवन के कारण ही अनपायी तथा हितावह) हो चुके हो वे बलवान्, शारीर-मानस व्यथाओ के सहन करने में समर्थ एव चिरजीवी होते है। इसके विपरीत--

जिन पुरुषो को रूक्ष द्रव्य किंवा और एक ही रस सात्म्य हो , तात्पर्य स्निग्ध, गुरु, बृहण एव षड्रसात्मक आहार नित्य सेवन न करने के कारण ही जिन्हें असात्म्य हो--इनका सेवन किया जाए तो जिन पुरुषो में उनको व्यापत्तियाँ (हानियाँ) उत्पन्न हो जाएँ--वे प्राय अल्पबलवाले, अल्प क्लेश-सहिष्णु, अल्प-आयु एव अल्प औषधो वाले होते हैं। इन्हें अल्प औषधवाला कहने का तात्पर्य यह है कि बल न्यून होने के कारण ही ये अधिकाश औषधो के बल (वीर्य) के सहन करने में असमर्थ होते हैं। परिणामतया, उन्हें सब औषध दी नहीं जा सकती। इसी कारण यहाँ उन्हें 'अल्प भेषज' कहा है।

जिन पुरुषो को कुछ द्रव्य बलकर प्रथम वर्ग के और कुछ पिछले बलक्षयकारी वर्ग के सात्म्य हो वे मध्यबल होते हैं।

इस प्रसग में ऊपर दिए सूत्र स्मरण किए जा सकते है, जिनमे कहा है कि सर्व रसो का अभ्यास (सतत सेवन) बलकर भावो में सर्वोपरि है, एव एक रस का अभ्यास दौर्बल्यकर भावो में। क्षीर तथा घृत का अभ्यास (सतत सेवन) रसायन उपचारोमें श्रेष्ठ है। आचार-रसायन के प्रकरण में भी एक विशेषण इसी आशयका दिया गया है--नित्यं क्षीरघृताशिनम्--(च० चि० १ , पाद ४।३०-३५)।

क्षीर, घृत और मासरस को आयुर्वेद में ओज का वर्धक कहा है, तथा इस ओज को बल का कारण किंवा स्वय बल कहा गया है। नव्यमत मे ये द्रव्य विटामिन 'ए' के आश्रय कहे जा सकते है। विटामिन 'ए' शरीर का उपचय तथा क्षमता की पुष्टि करता है। ये द्रव्य प्रोटीन की भी पूर्ति करते है और प्रोटीन क्षमता में उपयोगी द्रव्यो (एण्टी-बॉडीज) का निर्माण करती हैं।

सर्वरसाभ्यास का नव्य-मत से विचार करें तो प्रोटीन, खनिज द्रव्य, विटामिन आदि समस्त द्रव्यो का सम प्रमाण सर्वरसाभ्यास का फलितार्थ होता है। आयुर्वेद में समस्त रसो के साम्य का विचार आहार-प्रकरण में किया गया है। अरोग-काल एव रोग-काल दोनो में रसो की दृष्टि से आहार का विचार अत्यन्त व्यवहार्य और सर्वग्राही है। आयुर्वेद की यह दोष-परक शुद्ध दृष्टि छोड कर आप्त लेखक भी आहार के प्रकरण मे प्रोटीन आदि का ही विचार करते है : यत्सत्य, रस-गुण आदि की दृष्टि से आहार का विचार किया जाए तो विचार अधिक पूर्ण तो होता ही है, साथ ही सर्वरसो का सम प्रमाण मे ग्रहण करने से प्रोटीन आदि नव्योक्त द्रव्यो के साम्य की रक्षा भी स्वयमेव हो जाती है, यह स्मरण रखना चाहिए।

रसो में भी मधुर रस सर्वोपरि बलावह है तथा कषाय सबसे न्यून। रसो का सामान्य निर्देश करते वाग्भट कहता है--

रसाः स्वाद्वम्ललवण तिक्तोषण कषायकाः।
षड् द्रव्यमाश्रितास्ते च यथापूर्व बलावहाः॥

अ० स० सू० १, अ० हृ० सू० १।१४

+ × तस्मात् सर्वेभ्यो रसेभ्यो मधुरो रसः प्रकर्षेण देहिना बलकरः, कषायस्तु सर्वेभ्यो जघन्य बलावहः॥ अरुणदत्त

मधुर, अम्ल, लवण, तिक्त, कटु और कषाय ये छ रस द्रव्यो में स्थित होते हैं। इनमें उत्तर-उत्तर रस की अपेक्षया पूर्व-पूर्व रस अधिक बलदायक होता है।

मधुर रस तथा तत्सहचारी गुण शरीर के बल के प्रधान हेतु ओज एव श्लेष्मा को परिपुष्ट करने मे सर्वोत्तम होते हैं। इसीसे वाग्भट ने ऊपर मधुर रस को सर्वोपरि बलावह कहा है। ओज की वृद्धि करनेवाले द्रव्यो को लक्ष्य कर काश्यप-संहिता में कहा है--

मधुरस्निग्धशीतानि लघूनि च हितानि च।
ओजसो वर्धनान्याहुस्तस्माद् बालास्तथाऽऽशयेत्॥

का० सू० २७।१६

अर्थात्--मधुर, स्निग्ध, शीत, लघु और प्रकृति आदि की दृष्टि से हितकर द्रव्य ओज के वर्धक होते हैं। बालको को उनका सेवन सविशेष कराना चाहिए।

ओज और श्लेष्मा बल के परम हेतु होने से उन्हें बल यही नाम तन्त्रकारो ने दिया है। उदाहरणतया एक-दो प्रसिद्ध वचन प्रस्तुत करता हूँ।--

रसादीनां शुक्रान्ताना धातूना यत्परं तेजस्तदेव बलमित्युच्यते॥

सु० सू० १५।१९

प्राकृतस्तु बलं श्लेष्मा विकृतो मल उच्यते।
स चैवौजः स्मृतः काये × × ॥

च० सू० १७।११७

बल और दौर्बल्य के हेतु--

भिषक् कर्म की दृष्टि से ज्ञातव्य बल और दौर्बल्य के प्रमुख कारण ऊपर आ ही गए हैं। तथापि प्रकरण-पूर्ति के लिए तन्त्रकारो ने जो कारण गिनाए हैं उनका उल्लेख भी आवश्यक होने से किया जाता है--

बलवृद्धिकरास्त्विमे भावा भवन्ति। तद्यथा--बलवत्पुरुपे देशे जन्म बलवत्पुरुषे काले च, सुखश्च कालयोगः बीजक्षेत्रगुणसंपच्च,

आहारसंपच्च, शरीरसंपच्च, सात्म्यसंपच्च, सत्त्वसंपच्च, स्वभाव-संसिद्धिश्च, यौवनं च, कर्म च, संहर्षश्चेति ॥　　च० शा० ६।१३

बल की वृद्धि के कारण अधोलिखित है--सिन्धु देश (सिन्धु नदी के उस ओर का प्रदेश) आदि ऐसे देशो में जन्म जिनमें देश के प्रभाव से ही पुरुष बलवान् होते है ; (इन देशो मे निवास भी बलकारक होता है) ; हेमन्त, शिशिर आदि ऐसे काल (ऋतु) मे जन्म होना, जिसके विसर्ग-काल होने से स्वभावत शरीर बल-संपन्न रहता है ; ऐसा काल, जिसमें ऋतुओ के अयोग, अतियोग या हीनयोग के लक्षण न हो , बीज और क्षेत्र नाम क्रमश. पुंबीज और स्त्रीबीज तथा गर्भाशय की सपत्ति--उनमे प्रशस्त गुणो की विद्यमानता ; आहार-संपत्ति--आहार का प्रकृति आदि की दृष्टि से सपूर्ण-गुणान्वित होना , सत्त्वसपत्ति--मनोबल , स्वभाव नाम पूर्वजन्मोपार्जित कर्म की सिद्धि अर्थात् उसका बल-हेतु होना ; यौवन ; व्यायाम तथा भार-वहनादि शारीरिक कर्म (श्रम) ; सहर्ष (मन प्रसन्न रहना) ।

दौर्बल्यं[1] तु स्वभावदोषजरादिभिरवेक्षितव्यम् । यस्माद् बलवतः सर्वक्रियाप्रवृत्तिस्तस्माद् बलमेव प्रधानमधिकरणानाम् ।

केचित् कृशाः प्राणवन्तः स्थूलाश्चाल्पबला नराः ।
तस्मात् स्थिरत्व व्यायामैर्बलं वैद्यः प्रतर्कयेत् ॥

सु० सू० ३५।३५-३६

इसके विपरीत दौर्बल्य या बलक्षय स्वभाव नाम माता, पिता, शुक्र (पुबीज) या शोणित (स्त्रीबीज) के दौर्बल्यकारक स्वभाव से, वातादि दोषो से धातुओ का क्षय होने से, एव वार्धक्य, काल आदि कारणो से होता है ।

जैसा कि पहले कह आए है कई पुरुष कृश (पतले) होते हुए भी बलवान् होते है और अन्य स्थूल (मोटे) होने पर भी अल्पबल । अतः केवल शरीर का परिणाह (वैपुल्य) देख कर बलाबल की परीक्षा न करनी चाहिए । किंबहुना, यह बल हो तो ही पुरुष सर्व क्रियाओं का सपादन कर सकता है, अतः बल ही पुरुष के सर्व करणो (साधनो) में प्रधान है ।

बलानुसार औषध-योजना--

प्रकृत्यादीनां विकृतिवर्ज्याना भावानां प्रवरमध्यावरविभागेन बलविशेषं विभजेत् । विकृतिबलत्रैविध्येन तु दोषबलं त्रिविधमनु-

---

१--दौर्बल्य बलमेव क्षीणमुच्यते ॥　　--चक्रपाणि

मीयते। ततो भैषज्यस्य तीक्ष्णमृदुमध्यविभागेन त्रैविध्यं विभज्य यथादोषं भैषज्यमवचारयेदिति ॥ च० वि० ८।१२३

रोगी की परीक्षा करते हुए चरक ने जिन दश भावो की परीक्षा का विधान किया है उनमें विकृति या रोग को छोड शेष नव नाम प्रकृति, सार, सहनन, प्रमाण, सात्म्य, सत्त्व, आहार-शक्ति, व्यायाम-शक्ति और वय इनसे रोगी पुरुष के वल का प्रमाण या तारतम्य जाना जा सकता है। इनका मिलित वल जैसा होगा उसके अनुसार ही रोगी का वल (शारीर-मानस श्रम करने एव अनुत्पन्न तथा उत्पन्न रोगो का प्रतीकार करने का सामर्थ्य) होता है। विकृति या रोग के वल के प्रवरादि भेदानुसार रोगारम्भ के दोष का प्रमाण--नाम, उनका वल प्रवर, मध्य या अवर किस प्रकार का है यह--जाना जाता है। पुरुष तथा दोष दोनो के वल का तारतम्य जान कर तदनुसार तीक्ष्ण, मृदु या मध्य जिस प्रकार का औषध देना योग्य हो उसका निर्णय कर अवचारणा (योजना) करे।

सात्म्य या उपशय[1]

सात्म्य या उपशय तथा असात्म्य या अनुपशय का कुछ विचार ऊपर वल की परीक्षा के प्रकरण में किया है, विशेष विचार निदान-पञ्चक के अधिकार में किया जाएगा। शेष किंचित् विचार यहाँ करते हैं।--

सात्म्यं नाम तद् यदात्मन्युपशेते। सात्म्यार्थो हि उपशयार्थः। तत्त्रिविधं प्रवरावरमध्यविभागेन। सप्तविधं तु रसैकैकत्वेन सर्वरसोपयोगाच्च। तत्र सर्वरसं प्रवरम्, अवरमेकरसं, मध्यं तु प्रवरावरमध्यस्थम्॥ च० वि० १।२३

सात्म्यं नामेति ओकसात्म्यमित्यथः × × ॥ चक्रपाणि

सात्म्यं नाम तद्यत् सातत्येनोपसेव्यमानमुपशेते॥ च० वि० ८।११८

सात्म्यानि तु देशकालजात्यृतुरोगव्यायामोदकदिवास्वप्नरसप्रभृतीनि प्रकृतिविरुद्धान्यपि यान्यवाधकराणि भवन्ति॥

यो रसः कल्पते यस्य सुखायैव निषेवितः।
व्यायामजातमन्यद्वा तत् सात्म्यमिति निर्दिशेत्॥
सु० सू० ३५।३९।४०[2]

१--स्थल च० वि० १।२२-२३--च० वि० ८।११८, च० सू० ६।४९-५० सु० सू० ३५।३९-४० तथा इनपर डल्लन--चक्रपाणि

२--अर्थ की स्पष्टता के लिए इन वचनो पर डल्हन और चक्रदत्त की टीकाएँ द्रष्टव्य है।

जिस द्रव्य, औषध, देश, व्यायाम इत्यादि के सेवन से पुरुष को अनुबन्ध में सुख की प्राप्ति हो उसे उसके लिए सात्म्य या उपशय कहा जाता है। इसके विपरीत जिसके सेवन से अनुबन्ध में दुःख का अनुभव हो वह उस पुरुष के लिए असात्म्य या अनुपशय होता है।

सुख-दुःख शब्दो से यहाँ आयुर्वेद-प्रसिद्ध अर्थ आरोग्य-अनारोग्य गृहीत है। तात्पर्य, जिस आहार-विहारादि के सेवन से पुरुष स्वस्थ हो तो अनुत्पन्न रोग उत्पन्न न हो, उसका आरोग्य तथा बल स्थिर रहे और यदि वह रुग्ण हो तो जिसके सेवन से उसका रोग निवृत्त हो जाए उसे सात्म्य कहते है।

लक्षण में दिये अनुबन्ध शब्द का अर्थ अनन्तर काल है। कई द्रव्यादि, यथा ज्वर में शीत जल का सेवन, तत्काल तो सुख देते है पर अन्त में उनका फल अनारोग्य ही होता है।

स्वरूप-भेद से यह सात्म्य अनेक प्रकार का होता है। उसका उदाहरण पीछे-से देंगे। पुरुष की प्रकृति के भेद से सात्म्य के दो प्रकार होते है। कई आहार द्रव्य, औषध-द्रव्य आदि प्रकृति से ही पुरुष को सुखकर या अनुकूल होते है। इनका सेवन यथावत् करने से पुरुष को कोई अपाय नहीं होता, प्रत्युत स्वास्थ्य तथा बल की स्थिरता ही रहती है। परन्तु कई द्रव्य आदि ऐसे होते है जो किसी के लिए प्रकृति से (जन्म आदि से) विरुद्ध होते है---उनके सेवन से हानि होने की निश्चिति होती है। परन्तु उनका निरन्तर सेवन किया जाए तो वे पुरुष को कोई बाधा नहीं पहुँचाते। देखा जाता है कि चाय, अफीम, गाँजा, सोमल आदि की बडी मात्रा से भी कइयो को कुछ हानि नहीं होती। अवश्य ही उन्होने जब इनका आरम्भ किया होगा तो इनकी स्वल्प मात्रा से भी उन्हें हानि हुई होगी अथवा उसकी सभावना रही होगी। परन्तु ये द्रव्य अभ्यास या सतत-सेवन से इन्हें सात्म्य हो जाते है। सात्म्य के इस प्रकार को ओकसात्म्य कहा जाता है। इसमें ओक का अर्थ है अभ्यास।

ओकसात्म्य जानने की आवश्यकता अनेक कारणो से होती है। इनमें एक औषध का निर्धारण है। एक उदाहरण से इसे स्पष्ट करता हूँ। किसी को अहिफेन सात्म्य हो, उसे अतिसार, प्रवाहिका या ग्रहणी हो जाएँ तो औषध रूप में अहिफेन देने से कुछ परिणाम न होगा। उसके लिए अन्य ही योजना करनी पड़ेगी। इसी प्रकार मद्यप को हुए स्रोतोरोध में आसव, अरिष्ट वैसे गुणकारी न सिद्ध होगे।

अभ्यास से अमुक वस्तु किसी को सात्म्य हो गई है, इसीसे वह उसके लिए अब भी सेवनीय है यह नही मानना चाहिए। उसका परित्याग करना ही चाहिए। परन्तु यह परित्याग भी क्रमशः होना चाहिए। सात्म्य वस्तु का सहसा त्याग

अनर्थकारी होता है। सात्म्य अहित वस्तु के समान, हित वस्तु का पुरुष सेवन न करता हो और उसका उसे सेवन कराना हो, तो वह भी क्रमश. होना चाहिए। इस विषय का कुछ अधिक विचार आगे करेंगे।

ओकसात्म्य का विचार करते हुए यह ध्यान में रखना चाहिए कि वर्तमान वैद्य रोग-परीक्षा करते हुए जिस व्यसन का विचार करते है वह यह नही है। ओकसात्म्य, जैसा कि नाम से सूचित है, पुरुष-विशेष को अभ्यासवश अनुकूल हो चुका होता है। व्यसन इस प्रकार सात्म्य या सुखावह नहीं होता। इसीसे निदान-परिवर्जन को दृष्टि मे रख कर प्रश्न-परीक्षा द्वारा व्यसन का जानना आवश्यक समझा जाता है। व्यसन का विचार प्राचीनो ने किस नाम से किया है, यह अन्वेषणीय है। आज तो हमने यह नवीनो के 'हेबिट' के भाषान्तर के रूप मे ग्रहण कर लिया है।

स्वरूप-भेद से सात्म्य और ओकसात्म्य के अनेक प्रकार होते है। उदाहरण-सहित उनका निर्देश किया जाता है।--

१--देशसात्म्य--देश शब्द आयुर्वेद में दो अर्थो में प्रसिद्ध है--जङ्गल आदि किंवा भारत, गुजरात, बंगाल आदि भूमि तथा आतुर-शरीर। दोनो की दृष्टि से सात्म्य के उदाहरण ये है। आतुर-शरीर के लिए सात्म्य द्विविध होते है--एक समुदाय या सर्वाङ्ग के लिए सात्म्य तथा द्वितीय अवयव या अङ्गविशेष के लिए सात्म्य। मधुर रस सर्वधातुओ की--सर्वशरीर की--वृद्धि करता है। यह सर्वाङ्ग के सात्म्य का उदाहरण है। चक्षुष्य, केश्य, कण्ठ्य आदि द्रव्य अवयव-सात्म्य के उदाहरण है। भूमि-सात्म्य भी इसी रीति से समुदाय-भेद तथा एक देश-भेद से दो प्रकार का होता है। समुदाय-रूप भूमि में सात्म्य का उदाहरण यह है--जाङ्गल देश में जो आहार और आचार प्रचलित होते है वे आनूप देश में सात्म्य नही होते। (आनूप में प्रकृति आदि की दृष्टि से उष्ण-रूक्ष द्रव्यादि ही सात्म्य होते है)। देश के अवयव का उदाहरण यह है--बाह्लीक, पल्लव, चीन आदि में माष, गोधूम, माध्वीक (मध्वरिष्ट) आदि सात्म्य होते है।

२--कालसात्म्य। ३--जातिसात्म्य--मनुष्य-जाति को शालिधान्य आदि सात्म्य होते है। पशु-पक्षियो को तृण (घास), पतङ्ग (कृमि-कीट) आदि सात्म्य होते है। (अग्निपक्व अन्नपान अनेक सहस्र वर्षो से मनुष्यो को सात्म्य हो चुका है। विरूढ (अकुरित) धान्य, फल आदि उतने सात्म्य नही। जिन्हें इनका सेवन आरम्भ करने की आकाक्षा हो उन्हें इसी कारण पक्व अन्न का क्रमश. वर्जन तथा अपक्व अन्न का क्रमश· सेवन करना योग्य होता है, सहसा नही।)

४—ऋतु-सात्म्य—ऋतुचर्योक्त अन्नपान, विहार आदि ऋतु-सात्म्य कहाते हैं।

५—रोग-सात्म्य—जिस रोग में जो वस्तु हितावह होती है वह उस रोग से पीड़ित रोगी के लिए सात्म्य होती है , यथा—गुल्मी को क्षीर (दूध), उदावर्ती को घृत, प्रमेही को क्षौद्र (मधु) इत्यादि।

६—व्यायाम सात्म्य—व्यायाम कर्म एव श्रम कायिक, वाचिक, मानसिक भेद से त्रिविध होता है।

७—आहार-सात्म्य। ८—दिवास्वप्न, ९—जागरण इत्यादिका सात्म्य।

चक्रपाणि ने सुश्रुत-वचन की टीका में सात्म्य के प्रकृति-सात्म्य और ओक-सात्म्य ये दो शास्त्रानुसारी भेद दर्शा कर सक्षेप में उनके पांच भेद ये बताए हैं—देशसात्म्य, जातिसात्म्य, ऋतुसात्म्य, रोगसात्म्य तथा ओकसात्म्य। सुश्रुतोक्त सात्म्य-विभाग को इन पांच चरकोक्त विभागो में ही उसने समावेश किया है। ऋतुचर्या के निर्देशानन्तर महर्षि कहते हैं।—

इत्युक्तमृतुसात्म्यं यच्चेष्टाहारव्यपाश्रयम्।
उपशेते यदौचित्यादोक:सात्म्यं तदुच्यते॥

च० सू० ६।४९

चेष्टा (विहार) और आहार के रूप में ऋतुसात्म्य का उल्लेख किया गया। उसके प्रसग से ओक सात्म्य का भी लक्षण बता दिया। निरन्तर अभ्यास से जैसे आशीविष सर्प का विष उपघातक नही होता वैसे ही अपथ्य भी कालान्तर में पुरुष को सात्म्य हो जाता है। प्राचीन वाङ्मय मे आई विषकन्या को भी यहाँ उदाहरणतया प्रस्तुत किया जा सकता है। आधुनिको ने इस विषय का विचार अर्जित सहिष्णुता (एक्वायर्ड टॉलरेन्स) के नाम से किया है। जो द्रव्य आरम्भ में स्वल्प मात्रा में भी स्पष्ट हानि पहुँचाने में शक्तिमान् थे वे क्रमश वृद्धिगत मात्रा मे भी क्यो विशेष क्षति नही करते इसके कतिपय कारणो की संभावना की जाती है। १—द्रव्य का त्वरित निर्हरण ; २—न्यून शोषण (यथा मल्लका) ३—विष का नाशन (यथा, अहिफेन-सत्त्व का) ; ४—किसी प्रतिविष (एंटी-टॉक्सीन) का प्रादुर्भाव ; ५—विष को किसी अहानिकर रूप में परिणत करने की शरीर में उत्पन्न हुई शक्ति।

ऋतु सात्म्य तथा ओक'सात्म्य का निर्देश कर आगे महर्षि चरक कहते हैं—

देशानामामयाना च विपरीतगुणं गुणैः।
सात्म्यमिच्छन्ति सात्म्यज्ञाश्चेष्टितं चाद्यमेव च॥

च० सू० ६।५०

अनूपादि देशो एव रोगों के जो स्नेह, गौरव आदि गुण होते हैं, उनसे विपरीत रौक्ष्य, लाघव आदि धर्म (गुण, वीर्य, विपाक, प्रभावादि) से युक्त जाङ्गल मास, मधु आदि आहार एव औषध द्रव्य तथा व्यायाम, निद्रा, अभ्यङ्ग प्रभृति विहार होते है। उन्हें भी सात्म्य (देशसात्म्य तथा रोगसात्म्य) कहा जाता है। टीका में चक्रपाणिदत्त कहते है कि—आमय (रोग) शब्द से आमय-हेतु का भी यहाँ ग्रहण है। एव प्रभाव से विपरीत तदर्थकारी आहार, विहार और औषधो का भी ग्रहण है। इस प्रकार सप्राप्ति के अन्तर्गत उपशयानुपशय के प्रकरण में जो विचार किया है उसका यहाँ सात्म्य नाम से सक्षेप में उल्लेख किया गया है।

पूर्वोद्‌धृत सु० सू० ३५।३९-४० की टीका मे चक्रपाणि कहता है कि—सात्म्य के लक्षण में कहे देशसात्म्य आदि सात्म्य चरकोक्त देशसात्म्य, जातिसात्म्य (?) ऋतुसात्म्य तथा रोगसात्म्य के ही अन्तर्गत हैं। ओकःसात्म्य का निर्देश 'जन्मतः विरुद्ध होते हुए भी जो कष्ट न पहुँचाएँ' इन शब्दो में सुश्रुत ने किया है।

ओकसात्म्य के त्याग का नियम[1]—

उचितादहिताद्धीमान् क्रमशो विरमेन्नरः।
हितं क्रमेण सेवेत ॥

च० सू० ७।३६

अहित आहार, विहार आदि अभ्यास से सात्म्य हो गया हो तो भी वह है तो अहित ही। उसका त्याग करना ही चाहिए। इसी प्रकार हित आहार-विहार आदि का अभ्यास न हो तो उन्हें अभ्यास से सात्म्य बना कर शरीर और मन को उनके गुणो का लाभ प्राप्त कराना चाहिए। अहित अभ्यस्त (उचित) का त्याग और अनभ्यस्त हित का सेवन सहसा न करके क्रमश. करना चाहिए। अन्यथा, सहसा परिवर्तन से रोग अथवा मृत्यु भी हो सकती है। तन्त्रकारो ने कहा है कि अहित सात्म्य का चतुर्थांश या षोडशाश प्रति दिन छोडना चाहिए और उतना ही भाग हित अनभ्यस्त द्रव्य का आहार में बढाना चाहिए। बीच-बीच में एक-दो दिन नये परिवर्तन के बिना अन्नपान लेना चाहिए। इस विषय का विवरण उक्त स्थलो की टीकाओ में तथा स्वस्थवृत्त के ग्रन्थो मे जिज्ञासुओ को देखना चाहिए। रोगावस्था में आहार में द्रव्य-विशेष के समावेश और परित्याग के क्रम का महत्त्व च० चि० १४।७१-८८ में अर्श की चिकित्सा मे तक्र की सेवन-विधि के अधिकार में देखा जा सकता है।

१—स्थल च० वि० १।२३, च० सू० ७।३६-३८ तथा चक्र० सु० चि० २४।९७ तथा डल्हन।

गुणवत्ता की दृष्टि से सात्म्य के भेद—

गुणवत्ता की दृष्टि से सात्म्य के तीन भेद किए जाते हैं—प्रवर, अवर और मध्य। सर्वरस सात्म्य प्रवर कहाता है, एकरस अवर (निकृष्ट) तथा दो से पाँच रस पर्यन्त आहार का सात्म्य मध्य कहा जाता है। सर्वरस-सात्म्य आहार के सेवन में भी स्वस्थवृत्ताधिकारोक्त प्रकृति आदि आठ का विचार करना ही चाहिए।

वय की परीक्षा[1]

कालकृत शरीर की अवस्था को वय कहते हैं। अवस्था या उम्र या आयु (अंग्रेजी में एइज) नाम से यह प्रसिद्ध है। परन्तु आयु शब्द का शुद्धार्थ जीवन-काल है, जिसे अंग्रेजी में लाइफ कहते हैं। आयु शब्द का इस शुद्धार्थ में व्यवहार आयुर्वेद का विषय है। इसका विचार इसी प्रकरण में आगे किया भी जाएगा। उस अर्थ के लिए आयु शब्द को रक्षित रख कर अवस्था या उम्र के लिए वय शब्द का व्यवहार करना और बढ़ाना चाहिए। गुजराती और मराठी में यही शब्द प्रचलित है।

वर्षशतं खल्वायुषः प्रमाणमस्मिन् काले। सन्ति च पुनरधिकोनवर्षशत-जीविनोऽपि मनुष्याः (च० शा० ६।२९, च० वि० ८।१२२)। —अपने काल को लक्ष्य कर महर्षि चरक कहते हैं—वर्तमान काल में आयु का (सर्वसामान्य) प्रमाण सौ वर्ष है। इससे न्यून वा अधिक वर्ष जीनेवाले भी पुरुष उपलब्ध होते ही हैं। चरक ने तो स्पष्ट ही इस आयु को समक्ष रख कर वय की अवस्थाएँ बताई हैं। अन्यो ने भी इसी प्रमाण का अनुसरण किया है। विस्तार में चरक और सुश्रुत में स्वल्प भेद है।

आयु के स्थूल भेद तीन हैं—बाल्य (बाल), मध्य और वृद्ध (जीर्ण)। सोलह वर्ष के पूर्व तक का वय बाल्य कहा जाता है। चरक ने बाल के दो भेद किए हैं। अन्यो ने जिसे बाल कहा है वह चरक के दो प्रकार के बालो में प्रथम प्रकार है। आगे सुश्रुत ने मध्य वय के तीन भेद कर उसका जो प्रथम भेद बताया है वह चरक का द्वितीय प्रकार का बाल है। इतना शाब्दिक भेद देख कर अब प्रत्येक का लक्षण देखते हैं।

तत्र बालमपरिपक्वधातुमजातव्यञ्जनं सुकुमारमक्लेशसहमसंपूर्णबल श्लेष्मधातुप्रायमाषोडशवर्षम्॥ च० वि० ८।१२२

१—स्थल च० वि० ८।१२२ तथा चक्र०, सु० सू० ३५।२९-३२ तथा डल्हन, अ० स० शा० ८, अ० हृ० शा० ३।१०५ तथा अरुण।

वयस्त्वाषोडशाद् बाल्यं तत्र धात्विन्द्रियौजसाम् ।
वृद्धिः × × ॥

अ० हृ० शा० ३।१०५

(श्लेष्मोद्रेकात्) बालस्य स्नेहमार्दवसौकुमार्याल्पक्रोधत्व-सौभाग्यानि भवन्ति ॥ अ० स० शा० ८

आयु के आरम्भिक पन्द्रह वर्ष, जिनमें श्लेष्मधातु का आधिक्य होता है, बाल्य वय कहे जाते है। इसमें रस-रक्तादि धातुओ ; ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय तथा मन इन त्रिविध इन्द्रियो और सर्वधातुओ का आप्यायन (तर्पण, पोषण) करनेवाले ओज की वृद्धि होती है। इस काल में धातुओ का परिपाक या विकास सपूर्ण नही हो जाता। इसीसे चरक ने इसे अपरिपक्वधातु बाल कहा है। धातुओ के परिपक्व न होने से बाल का बल भी सपूर्ण पुष्ट नही होता। क्लेशो के सहन मे वह अक्षम होता है। श्लेष्मा के आधिक्य से उसमे स्निग्धता, मृदुता, सुकुमारता, सौभाग्य (सौन्दर्य) और क्रोध की अल्पता—ये गुण विशेष होते हैं। व्यञ्जन (लिङ्ग के द्योतक श्मश्रु आदि चिह्न ; सेकण्डरी सेक्स केरेक्टर्स) इसमे उत्पन्न नही होते।

प्रथम वय के तीन भेद किए जाते हैं—क्षीराद (क्षीरप), क्षीरान्नाद तथा अन्नाद। कोई एक वर्ष तक का बाल, जो माता या धात्री के क्षीर (स्तन्य) पर निर्वाह करता है, उसे क्षीराद कहते हैं। कोई दो वर्ष तक क्षीर और अन्न दोनो पर वृत्ति (निर्वाह) करनेवाले बालको क्षीरान्नाद कहते हैं। इसके पश्चात् बाल केवल अन्नवृत्ति होने से अन्नाद कहा जाता है। बाल्य वय के ये तीन भेद करने का प्रयोजन बताते लघु वाग्भट कहते हैं।—

त्रिविधः कथितो बालः क्षीरान्नोभयवर्तनः ।
स्वास्थ्यं ताभ्यामदुष्टाभ्या दुष्टाभ्या रोगसंभवः ॥

अ० हृ० उ० २।१

बाल का स्वास्थ्य तभी स्थिर रह सकता है जब उसके आहारभूत स्तन्य एव अन्न दोषो के प्रकोपक न हो। वे ही दोषो को विषम करनेवाले हो तो रोगो की सभावना होती है। इसी कारण क्षीराद बालक को कोई रोग हो तो उसकी परीक्षा में माता के स्तन्य की दुष्टि की परीक्षा का विधान कौमारभृत्यो ने किया है। निदान की शुद्धि की दृष्टि से स्मरण रखना चाहिए कि माता के शरीर में दोष की दुष्टि का प्रमाण कभी इतना भी हो सकता है कि उससे उसके शरीर में कोई व्यक्त रोग हुआ पाया जाए। परन्तु कभी उसका प्रमाण इतना स्वल्प

भी। हो सकता है कि माता के शरीर में कोई व्यक्त रोग न हो, परन्तु इतनी भी दोष-दुष्टि बाल के लघु और सुकुमार शरीर में रोगोत्पत्ति करने में समर्थ हो। यथा, पित्त का प्रकोप माता के देह में कदाचित् इतना ही हो कि उसे मुखपाक हुआ हो, कदाचित् मुखपाक भी इतना ही हो कि वह कटु या उष्ण स्पर्श वस्तु मुख में रख सके, परन्तु इतना भी वैषम्य बाल में ज्वर, अतिसार आदि व्यक्त रोगो को उत्पन्न करनेवाला सिद्ध होता है। इस प्रकार की सूक्ष्म परीक्षा कर माता की भी चिकित्सा की जाए तो वह मूलोच्छेदिनी होती है। अर्थकरी तो होती ही है।

अब अगला वयोविभाग देखिए।—

सत्रह से सत्तर के मध्य में (उनहत्तर वर्ष पर्यन्त) मध्य वय होता है। उसके भेद चार होते है—वृद्धि, यौवन, संपूर्णता और परिहाणि। इनमें सत्रहवें से बीसवें वर्ष तक वृद्धिकाल होता है, तीस तक यौवन, चालीस वर्ष तक सर्वधातुओं, इन्द्रियो, बल एव वीर्य की सपूर्णता जिसमें होती है वह सपूर्णता-सज्ञक काल होता है। इसके अनन्तर सत्तरवें वर्ष पर्यन्त धातुओं, इन्द्रियो, बल और वीर्य की सर्वतोभाव से कुछ-कुछ हानि (ह्रास) होती है। इसे परिहाणि ही नाम दिया है। वृद्धि-काल में शरीरावयवो का प्रमाण जितना बनना होता है, बन जाता है। सपूर्णता के काल में उनकी पुष्टि (भराव) होती है। डल्हण कहता है—संपूर्णतेति वृद्धानामवयवानाम् आप्यायनं संपूर्णता।

सुश्रुतोक्त वृद्धि और यौवन का उल्लेख बाल के ही द्वितीय भेद विवर्धमान-धातु बाल नाम से करते चरकाचार्य कहते है—

विवर्धमानधातुगुणं पुनः प्रायेणानवस्थितसत्त्वमात्रिंशद्वर्षमुपदिष्टम्॥
च० वि० ८।१२२

अर्थात्—तीस वर्ष पर्यन्त धातुओ के गुण (एव उनके कारण स्वय धातु) उत्तरोत्तर वर्धमान होते है और इसमें पुरुष का सत्त्व (मन) अस्थिर रहता है।

सुश्रुत ने जिन्हें वृद्धि और यौवन का काल कहा है उनकी गणना बाल नाम से करते हुए भी चरक को यह अभिप्रेत नही है कि, इस द्वितीय बाल पर भी औषध की मात्रा आदि सम्बन्धी परिभाषाएँ लागू की जाएँ, जिनका बाल के लिए विधान तन्त्रकर्ताओं ने किया है। चक्रपाणि ने टीका में स्पष्ट कहा है—षोडश-वर्षीयो हि बालोऽल्पमृदुभेषजोपचर्यत्वादिना शास्त्रे वक्तव्य। तदूर्ध्वं बालोऽपि नाल्पभेषजत्वादिना तथोपचर्यते इस प्रकार सज्ञा-भेद होते हुए भी व्यवहार में आचार्यो में कोई मत-भिन्नता नही है।

मध्य वय के शेष दो विभागो का उल्लेख चरक ने मध्य नाम से ही किया है। भेद केवल यह है कि उसने इसकी मर्यादा साठ वर्ष तक बताई है। सुश्रुत का मत

हमने ऊपर दिया है, जिसमें मध्य वय सत्तर वर्ष पर्यन्त बताया गया है। परन्तु टीकाकार डल्हनने कहा है कि यहाँ कोई लेखक साठ वर्ष की मर्यादावाला पाठ भी देते है—'यावत् सप्तति:' इत्यत्र स्थाने 'यावत्पष्टि:' इति केचित् पठन्ति। यह पाठान्तर प्रतीयमान मतभेद को भी नामशेष कर देता है। अब इस मध्य वय का स्वरूप चरक के पदों में देखिये—

मध्यं पुनः समत्वागतबलवीर्यपौरुषपराक्रमग्रहणधारणवचनविज्ञानसर्वधातुगुणं बलस्थितमवस्थितसत्त्वमविशीर्यमाणधातुगुणं पित्तधातुप्रायमाषष्टिवर्षमुपदिष्टम् ॥ च० वि० ८।१२२

तस्मिन् (मध्ये वयसि) पित्तोद्रेकः। तेन दीप्ताग्निता, प्रज्ञापरिपाको व्यवसायश्चेति ॥ अ० स० शा० ८

मध्य वय साठ वर्ष पर्यन्त होता है। इसमें पुरुष के बल, वीर्य, पौरुष, पराक्रम, ग्रहण, धारण (स्मरण), वचन (मनोगत बात को व्यक्त करने की शक्ति; भाषण की पटुता), विज्ञान एवं सर्व इन्द्रियों और धातुओ के गुण (सर्वधातुएँ) समत्व को प्राप्त हो जाते हैं। बल भी स्थिर हो जाता है; मन भी अचपल (समाहित) हो जाता है (अनुभव आदि से बुद्धि का विकास पूर्ण हो जाता है। पुरुष शीघ्र उचित निर्णय पर आने में समर्थ हो जाता है)। धातुएँ भी ह्रास रहित होकर, उनकी जो पुष्टि हो गई थी वह स्थिर रहती है। इस वय में पित्त का उद्रेक (प्राधान्य) रहता है। इसीसे इसमें अग्नि की दीप्ति, प्रज्ञा का परिपाक और व्यवसाय (बुद्धि की स्थिरता) रहती है।

पित्तके स्वभावगत गुणो से अग्निदीप्ति तथा पूर्वोक्त अन्य गुण मध्य वय में होते है, यह अभी कहा है। स्त्रियों का देह आर्तव-विशिष्ट होता है। यह आर्तव भी पित्त के समान आग्नेय होता है। इसी कारण आर्तव-दर्शन काल के अनन्तर कन्याओं की बुद्धि आदि का परिपाक समान वय के पुरुष बालों की अपेक्षया अधिक होता है, यह प्रत्यक्ष देखते है।

सत्तर अथवा साठ वर्ष के अनन्तर सौ वर्ष पर्यन्त के वय को वृद्ध (जीर्ण) कहा जाता है।

अतः परं हीयमानधात्विन्द्रियबलवीर्यपौरुषपराक्रमग्रहणधारणस्मरणवचनविज्ञानं भ्रश्यमानधातुगुणं वायुधातुप्रायं क्रमेण जीर्णमुच्यते आवर्षशतम् ॥ च० वि० ८।१२२

सप्ततेरूर्ध्वं क्षीयमाणधात्विन्द्रियबलवीर्योत्साहमहन्यहनि वली-पलितखालित्यजुष्टं कासश्वासप्रभृतिभिरुपद्रवैरभिभूयमानं सर्वक्रियास्व-समर्थं जीर्णागारमिवाभिवृष्टमवसीदन्तं वृद्धमाचक्षते ॥

सु० शा० ३५।२६

वृद्धं तु श्व श्वः क्षीयमाणधात्विन्द्रियादिगुणं वलीखलितकासश्वासा-ग्निसादादिभिरभिभूयमानं जीर्णं भवनमिवाभिवृष्टमवसीदति । तस्मिन् मारुतोद्रेकः तेन श्लथासारमाससंध्यस्थिता त्वक्पारुष्यमवनामः कायस्य वेपथु कासश्वासश्लेष्मसिघाणकोदीरणं धातुक्षयश्च ॥ अ० स० शा० ८

वृद्ध या जीर्ण वय में दिन-प्रतदिन पुरुष के धातुओ और इन्द्रियों तथा वल वीर्य, उत्साह, पौरुष, पराक्रम, ग्रहण, धारण, स्मरण, वचन एवं विज्ञान का ह्रास होता जाता है। वायु का इस वय में उद्रेक होता है, जिसके कारण त्वचा में परुषता और वलियाँ, खालित्य, पालित्य , मास, सधि एव अस्थियाँ शिथिल और नि.सार हो जाना ; शरीर का विनाम (झुक जाना), कम्प, अग्निमान्द्य, कास, श्वास, कफ-ष्ठीवन, नासा से सिघाणक की प्रवृत्ति ; कोई भी चेष्टा करने की शक्ति न होना—इत्यादि विकारो से पुरुष पीडित होता है। सक्षेप में, पुरुष की स्थिति ऐसी होती हे जैसे कोई जीर्ण घर हो, जो वर्षा के कारण 'अव पडा, अव पडा' ऐसी दशा को प्राप्त हो चुका हो।

वार्धक्य में मुख्य कोप वायु का ही होता है। यह कुपित वायु सम प्रमाण में भी स्थित कफ को स्थान-च्युत कर बहि. प्रवृत्त करता है। अतः उपचार में उसे ही दृष्टि के समक्ष रखना चाहिए। अग्नि की मन्दता के कारण कफ का भी प्रकोप होता ही है, पर अनुबन्ध रूप में ही।

बाल्य वय में मुख्य कोप श्लेष्मा का होता है उसका कारण यह होता है कि, आजन्म सात्म्य होने से बाल मधुर तथा गुरु-स्निग्ध प्रभृति अन्य धातु-पोषक गुणवाले द्रव्यों का सेवन विशेष करता है। प्रायः यह मात्रा आवश्यक से अधिक होती है। परिणामतया, रस (एव अन्य धातुओ) की पुष्टि के अनन्तर अन्नरस से आदि धातु के मलभूत कफ की भी पुष्टि इतर वयो की अपेक्षया अधिक होती है।

कि बहुना, रोग-परीक्षा के प्रसग में वय की परीक्षा का प्रथम प्रयोजन रोग के कारणभूत प्रमुख सभावित दोष का परिज्ञान ही है। तथा हि—

बाले विवर्धते श्लेष्मा मध्यमे पित्तमेव तु ।
भूयिष्ठं वर्धते वायुर्वृद्धे तद्वीक्ष्य योजयेत् ॥

सु० सू० ३५।३१

वयोज्ञान के अन्य प्रयोजन वयोभेद से तीक्ष्ण, मृदु आदि औषधों और उपचारो का विवेक एवं मात्रा इत्यादि का विनिश्चय है। सक्षेप मे, यह विषय भी देख लें।—

ऊपर कह आये है कि, प्रकृति, सार, सहनन आदि की प्रवर, मध्य और अवर कक्षा के अनुसार औषध के बल एव मात्रा के प्रवरादिभेदों का निर्णय करना चाहिए। इनमें यह विशेष विचारणीय होता है। वय की उत्तरोत्तर अवस्थाओं मे औषध की मात्रा उत्तरोत्तर अधिक होती है। केवल परिहाणि नाम सत्तर वर्ष के पश्चात् इस क्रम के विपरीत बाल (षोडशवर्ष) वय के सदृश मात्रा की योजना करनी चाहिए। सुश्रुत के इस सूत्र (सु० सू० ३५। उ०) की टीका में डल्हन ने तन्त्रान्तर का वचन उद्धृत कर मात्रा का प्रमाण दिया है :

उत्पन्न शिशु को प्रथम मास में औषध एक गुञ्जा (एक रत्ती) देना चाहिए। औषध को मधु, स्तन्य, सिता और घृत मे मिश्र कर उसे अवलेह्य बनाना चाहिए। बाल एक वर्ष का हो तब तक प्रतिमास एक-एक गुञ्जा मात्रा बढानी चाहिए। इसके अनन्तर सोलह वर्ष पर्यन्त प्रति वर्ष एक माष की वृद्धि करे। इस प्रकार वृद्धि करते सोलहवें वर्ष जो मात्रा हो वह मात्रा सत्तरवें वर्ष तक चालू रखनी चाहिए। उसके पश्चात् बाल के समान मात्रा रखें।

निश्चित ही इस मात्रा में अपवाद होते है। विशेषतया पारद, सोमल आदि घटित योगों में इस मात्रा में भारी अन्तर देखा जाता है। इसके अतिरिक्त—

आयुर्वेद का सामान्य सिद्धान्त है—मात्राया नास्त्यवस्थानम्—मात्रा की निश्चिति नही है। दोष, वय, बल, काल आदि देखकर मात्रा न्यूनाधिक करनी पड़ती है। इनमें उपयुक्त होने से काल का उदाहरण लें। आज तो वैद्य पाश्चात्य चिकित्सकों की अन्ध अनुकृति से औषध प्राय तीन बार—प्रात ,मध्याह्न, साय-देते है; परन्तु सहिताओं में दोष, रोग आदि के भेद से औषध के दस काल निश्चित किए है। उनका उल्लेख यथास्थान करेंगे। इनमें एक औषधकाल निरन्न (खाली पेट; अभक्त) है। इस काल मे औषध देने की फलश्रुति बताई है—

वीर्याधिकं भवति भेषजमन्नहीनं
हन्यात् तदामयमसंशयमाशु चैव॥

सु० उ० ६४।६७

निरन्न कोष्ठ (गुजराती अन्नभूख-नरने कोठे) औषध दिया जाए तो वह अधिक वीर्यवान् (क्रियाशील) होता है, अतएव रोग को शीघ्र और निश्चित नष्ट करता है। विरेचन का उदाहरण लें, कारण, व्यवसाय मे इसका अधिकतम उपयोग

होता है। कई क्रूरकोष्ठ व्यक्तियों को सामान्य प्रचार के अनुसार विरेचन-द्रव्य रात को देने से गुण नहीं होता। वही औषध स्वल्प मात्रा में प्रातः निरन्न कोष्ठ देने से गुण होता है; कभी-कभी आवश्यक से अधिक विरेचन भी हो जाता है।

इस निरन्न औषध-काल को ही लक्ष्य कर उक्त पद्य के उत्तरार्ध में कहा है—

तद् बालवृद्धवनितामृदवस्तु पीत्वा
ग्लानि परां समुपयान्ति बलक्षयं च ॥

सु० उ० ६४।६७

बाल, वृद्ध, स्त्री और सुकुमारों को निरन्न कोष्ठ औषध दिया जाए तो अति ग्लानि (विवमिषा, नॉशिया) तथा बलक्षय (दौर्बल्य) होता है।

कोष्ठ की क्रूरता आदि व्यवसाय-भेद से भी भिन्न होते हैं। यथा, श्रम-जीवियों में श्रमजन्य धातुक्षय के कारण वात का प्रकोप हो कर, कोष्ठ में तज्जनित क्रौर्य होता है। तात्पर्य, केवल वय के भेद से विरेचनादि औषध की मात्रा का निर्णय शक्य नहीं है। गुरु के समीप रहकर आयुर्विद्या का लाभ करते हुए तत्तत् कारण-भेद से औषध की मात्रा का भेद कैसा होता है यह सुगमता से सीखा जा सकता है।

मात्रा के अतिरिक्त वयोभेद से उपचार-भेद भी होता है। तद्यथा—

अग्निक्षारविरेकैस्तु,[१] बालवृद्धौ विवर्जयेत्।
तत्साध्येषु विकारेषु मृद्वीं कुर्यात् क्रियां पुनः॥

सु० सू० ३५।३२

बाल और वृद्ध को अग्निकर्म, क्षारकर्म और वमन-विरेचन न कराना चाहिए। इन कर्मों से साध्य विकार बाल और वृद्ध को हो तो मृदु उपचार करना चाहिए। तद्यथा—अग्निकर्म (गुजराती-डाम) करना हो तो अजा-शकृत् (बकरी की मीगणी) आदि मृदु द्रव्यों का उपयोग करे। आश्रय द्रव्य के भेद से इस प्रकार अग्नि मृदु या तीक्ष्ण होता है। आश्रय मृदु हो तो अग्निकर्म भी मृदु होने का उदाहरण अजा-शकृत् ऊपर दिया है। आश्रय द्रव्य के भेद से अग्निदग्ध तीक्ष्ण होने का उदाहरण स्नेह-दग्ध प्रस्तुत किया जा सकता है। शास्त्र में कहा है और प्रत्यक्ष भी है कि उष्ण स्नेह (तैलादि) से दग्ध हो तो उसमें रुजा (वेदना)

१—विरेकोऽत्र मलविरेचनतया वमन-विरेचने; यदुक्तं चरके—'उभयं वा शरीरमलविरेचनाद् विरेचनसंज्ञां लभते।'

(च० क० १।४) इति ॥ चक्रपाणि

अधिक होती है। इसी प्रकार छेद्य, भेद्य आदि क्रियाएँ करनी हो तो बाल, वृद्ध, सुकुमार, रोगादि से क्षीण, भीरु पुरुषो तथा स्त्री मात्र को, एव मर्म पर छेदन-भेदनादि साध्य रोग हो तो अन्यो में भी ये क्रियाएँ न कर दारण करना चाहिए—औषध-विशेष का लेप कर शोथ को फाडना चाहिए। कपोत (कबूतर), कङ्क और गृध्र इन पक्षियो का पुरीष दारक होता है। उसका उपयोग इन प्रसगो पर करना चाहिए। क्षार-साध्य रोगो मे बाल और वृद्ध को आवाप-प्रतीवाप (प्रक्षेप)—रहित अतएव मृदु क्षार लगाना चाहिए। विरेचन देना हो तो चतुरगुल (आरग्वध, अमलतास) आदि मृदु द्रव्य देना चाहिए[1]। और ये उपचार भी शनैः और अल्प करने चाहिए।

व्यवहार में कई वैद्य बच्चो को विरेचन में औषध न दे कर गाँठिए (बेसन की पोची, पापडखारयुक्त सेव) देते हैं। अजीर, तण्डुलीयक आदि का सेवन तो वयस्यों को भी प्राय. कराया जाता है। स्वेदन शिशुओं को करना हो तो हस्त-तल स्वेद घी के दीए की अग्नि से किया जाता है। वमन शिशुओ को ककुष्ठ (उसारे रेवन्द) से कराने का प्रचार है। इससे विरेचन भी होता है।

उपचारों में विशिष्टता के अतिरिक्त साध्यासाध्यता भी वयोभेद से होती है। तरुण के रोग साध्य तथा बाल और वृद्ध के प्राय. दु:साध्य होते हैं। इसीसे विशेषतया बालो को विशेषतया कोई विकट रोग हो तो साध्यासाध्यता के विषय में कोई निश्चित मत देने का साहस अनुभवी वैद्य नही करते।

वृद्ध के दुर्बल होने से उसमें रोग-विशेष भी होते है—यथा जराकास, जरा-सभव क्लैब्य इत्यादि। वय के तीन विभाग कर अति वार्धक्य में शुक्र के क्षीण होने का निर्देश करते चरक ने कहा है—

जघन्य-मध्य-प्रवरं वयस्त्रिविधमुच्यते।
अतिप्रवयसा शुक्रं प्रायशः क्षीयते नृणाम्॥

च० चि० ३०।१७७

इसी प्रकार वयो विशेष के कारण अन्य विशिष्टताओ का भी अधिक विचार किया जा सकता है। परन्तु वय का वर्षो के रूप में इस प्रकरण के आरम्भ में दिया विभाग प्रत्येक पुरुष की आयु सौ वर्ष की मान कर दिया गया है। स्वयं चरक ने कहा है कि वर्तमान काल में सौ वर्ष की सामान्य आयु होने पर भी न्यूनाधिक जीनेवाले जन भी प्राप्त होते ही है। सो, केवल वर्ष जान कर यह पुरुष बाल है, तरुण है या वृद्ध है यह नहीं कहा जा सकता। आज तो आयु की मर्यादा में भिन्नता और भी अधिक लक्षित होती है। इस स्थिति को दृष्टिगत रख कर विकृति

१—चतुरगुलो मृदुविरेचनानाम् (श्रेष्ठः)॥ च० सू० २५।४०

(रोग) को छोड़ शेष जो आठ परीक्षणीय भाव (प्रकृति, सार, सहनन, प्रमाण, सात्म्य, सत्त्व, आहार शक्ति तथा व्यायाम-शक्ति) हैं उनका बलाबल और स्वरूप देख कर एवं आयु के आगे कहे जानेवाले लक्षणों का विचार कर निश्चय करना चाहिए कि उपस्थित रोगी की आयु नाम संपूर्ण जीवन-काल कितना (एक्स्पेक्टेशन ऑफ लाइफ) होगा। तदनुसार गणित कर निर्णय करना चाहिए कि रोगी इस समय बाल, तरुण आदि किस अवस्था-विशेष के किस अवान्तर विभाग में वर्तमान है। उसके अनुरूप दोष, उपचार, मात्रा आदि का विनिश्चय करना चाहिए। देखिए —

वर्षशतं खल्वायुषः प्रमाणमस्मिन् काले। सन्ति च पुनरधिकोनवर्षशतजीविनोऽपि मनुष्याः। तेषां विकृतिवर्ज्यैं प्रकृत्यादिविशेषैरायुषो लक्षणतश्च प्रमाणमुपलभ्य वयसस्त्रित्वं विभजेत्॥

च० वि० ८।१२२

वय के विषय में इतना उल्लेख कर अब आगे आयु का विचार किया जाता है।

आयु की सामान्य परीक्षा[1]

आतुरमुपक्रममाणेन भिषजाऽऽयुरादावेव परीक्षितव्यम्। सत्यायुषि व्याध्यृत्वग्निवयोदेहबलसत्त्वसात्म्यप्रकृतिभेषजदेशान् परीक्षेत॥

सु० सू० ३५।३

रोगी की चिकित्सा आरम्भ करने के पूर्व सर्वप्रथम उसकी आयु की परीक्षा करनी चाहिए—वह और कितना जिएगा इस बात की जाँच करनी चाहिए। रोगी की आयु अभी शेष है—वह अभी जिएगा यह निश्चय हो जाए तब ही रोग, ऋतु, अग्नि, वय, देह (सहनन), बल, सत्त्व, सात्म्य, प्रकृति, औषध, देश, काल, आदि की परीक्षा सर्वथा सार्थक होती है।

अथ पुनरायुषो विज्ञानार्थमङ्गप्रत्यङ्गप्रमाणसारानुपदेक्ष्यामः॥

सु० सू० ३५।१२

आयु की परीक्षा अनेक प्रकार से होती है। इनमें प्रथम दीर्घ, मध्यम तथा जघन्य आयु के कुछ सामान्य लक्षण हैं। इनका उल्लेख इस प्रकरण में करेंगे। आयु के ज्ञान का द्वितीय प्रकार शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्गों के प्रमाण एवं सार का ज्ञान है। सारों का निर्देश पहले कर आए हैं। वहाँ उनका आयु के साथ संबन्ध देख ही आए हैं। आयु का बीमा कराते हुए इस व्यवसाय के साथ संबद्ध

१—स्थल सु० सू० ३५।१-११ तथा डल्हन और चक्रदत्त।

पुरुष आयुर्वेदोक्त लक्षणो एव ग्रह-नक्षत्र विद्या का भी उपयोग करें तो बहुत कार्य-सिद्धि हो सकती है। आयु के ज्ञान का तृतीय साधन अरिष्ट लक्षणो की अनुत्पत्ति या उत्पत्ति है। उनका उल्लेख इसी ग्रन्थ मे आगे यथास्थान किया जाएगा। यहाँ आयु के दीर्घ आदि प्रभेदो के लक्षण बताते है।—

दीर्घायु पुरुप के लक्षण—जिसके पाणि, पाद, पार्श्व, पृष्ठ, स्तनाग्र (स्तन का अग्रवर्ती प्रदेश), दन्त, मुख, स्कन्ध, और ललाट महान् हो—आगे कहे जानेवाले प्रमाण-निर्देश में इन अवयवो का जो विस्तार (चौडाई) और दैर्घ्य (लम्बाई) कहा गया है उससे कुछ अधिक प्रमाण इनका हो[1]; जिसकी अगुलियाँ, पर्व (सन्धियाँ, किवा अंगुलि-पर्व—अगुलियों की ग्रन्थियाँ), उच्छ्वास–निर्गतश्वास[2], नेत्र और बाहु ये प्रत्येक दीर्घ हो—लम्बे हो, जिसके दोनो भ्रुवो का अन्तर, दोनो स्तनो का अन्तर एव उर नाम हृदय और कण्ठ के मध्यवर्ती प्रदेश[3] विस्तीर्ण (विपुल, चौड़े) हो; जिसकी अस्थि-सन्धियाँ, सिराएँ और स्नायु (प्रकृष्ट मासादि धातुओ से वेष्टित होने के कारण) गूढ हो—ऊपर से दिखाई न पडती हो; जिसके अन्य अङ्ग भी इसी प्रकार गूढ और घन (सहत) हो, जिसकी इन्द्रियाँ तथा उनके अधिष्ठान स्थिर (अचल एव दृढ) हो; जिसकी जङ्घा (जानु और गुल्फ के मध्यवर्ती अङ्ग—लेग), मेढ्र (शिश्न)[4] और ग्रीवा ह्रस्व हो; जिसके अङ्ग नीचे से आरम्भ कर ऊपर तक उत्तरोत्तर श्रेष्ठ हो, किवा जिसके वश में उत्तरोत्तर दीर्घायु पुरुष उत्पन्न हुए हो[5], जिसका सत्त्व (मन),

---

१—महत्त्वं च स्वैरंगुलैरुक्तप्रमाणात् किंचिदाधिक्यम्। दीर्घत्वमप्युक्त-प्रमाणात् किंचिदाधिक्यं ज्ञेयम्। तत्र महत्त्वं विस्तारेण सह, दैर्घ्यं विस्तार विना—डल्लन॥

२—प्रश्वासोऽन्त· प्रविशद्वायुः, उच्छ्वास ऊर्ध्वमुत्तिष्ठद्वायुः॥

सु० शा० ६।५ पर डल्लन

३—स्तनान्तर स्तनयोर्मध्यम्। उरो हृदयकण्ठान्तरम्॥ डल्लन

४—शिश्न की ह्रस्वता का यह निर्देश व्यवसाय मे स्मरणीय है। शिश्न की ह्रस्वता से आशङ्कित पुरुप प्राय देखे जाते है। शिश्न स्तव्ध होने के अनन्तर उचित महत्त्व धारण करता है या नही यही वात द्रष्टव्य है।

५—मूल मे उत्तरोत्तर सुक्षेत्र शब्द है। टीकाकारो ने इस के अर्थ भिन्न-भिन्न किए है। डल्लन ने केशान्तं च शिरश्चैव दशमं क्षेत्रमुच्यते यह तन्त्रान्तर का वचन दे कर कहा है कि केशो का अन्त भाग (शिर मे जहाँ केश समाप्त होते है वह भाग) तथा शिर यह दशम क्षेत्र है। तात्पर्य, समस्त शरीर दस क्षेत्रो में विभक्त है। इसके पूर्व के पद्य डल्लन ने उद्धृत नही किए, जिससे ज्ञात होता→

स्वर और नाभि तीनों गम्भीर हो[1], जिसके स्तन किंचित् उच्च तथा घन हों; जिसके कर्ण मासल (उपचित, पुष्ट), विस्तीर्ण और लोमश (रोमयुक्त) हों; जिसके ग्रीवा भाग पर एक रोमावर्त हो या ऊर्ध्वभाग में दोनों ओर एक-एक रोमावर्त हो[2]; स्नान और लेप करने के अनन्तर जिसके शरीरावयव उसी क्रम से शुष्क हो जिस क्रम से उन पर जल छोड़ा गया है या लेप लगाया गया है किंवा प्रथम मस्तक और पश्चात् अन्य शरीरावयव शुष्क हों[3], परन्तु दोनों पक्षों में सबसे अन्त में हृदय (छाती) शुष्कता को प्राप्त हो; एवं गर्भ से आरम्भ कर जो पुरुष नीरोग

←कि अन्य क्षेत्र कौन-से हैं। केवल टीका में स्वशब्दों में इतना कहा है कि—पाद (फुट) और गुल्फ प्रथम क्षेत्र है, दोनों जङ्घा और जानु द्वितीय क्षेत्र है .. इत्यादि। चक्रपाणि ने क्षेत्र शब्द का अर्थ प्रभवस्थान या कुल-पुरुष (पूर्वज) बता कर ऊपर धृत द्वितीय अर्थ बताया है।

१—सत्त्व के गाम्भीर्य का अर्थ डल्हन ने प्राचुर्य (औदार्य?) बताया है। चक्रपाणि ने 'गम्भीरत्वं सत्त्वस्य व्यसनेऽभ्युदये चाक्षोभ्यता'—इन शब्दों में विपत्ति या सम्पत्ति दोनों दशाओं में विषाद या हर्ष के रूप में क्षोभ को प्राप्त न होना यह अर्थ मन के गाम्भीर्य का दिया है। स्वर के गाम्भीर्य का अर्थ डल्हन ने सुस्निग्ध और अनुनादी (प्रतिध्वनियुक्त) होना बताया है। चक्रदत्त ने इसका अर्थ स्निग्ध और अनुद्धत दिया है। नाभि के गाम्भीर्य का अर्थ उसके गर्त की निम्नता (गहरा होना) है।

२—मस्तिष्क का अर्थ डल्हन ने रोमावर्त किया है। उसीने 'पश्चान्मस्तिष्क' के स्थान पर 'पार्श्वमस्तिष्कम्' यह पाठान्तर दे कर तदनुसार अर्थ दिया है, जो ऊपर उद्धृत है। टीका में आगे प्रथम पाठ का अन्य मत से अर्थ उसने यह दिया है कि—मस्तिष्क शब्द का अर्थ 'मस्तक का स्नेह, पर्याय-धृतिका' होता है; वह जिस पुरुष का पश्चाद्-भाग में हो। इसका तात्पर्य मुझे कुछ समझ में नहीं आया है। आगे उसीने अपने मूल में धृत दो विशेषण मिला कर एक पद के रूप में अन्य ग्रन्थकारों का पाठान्तर दिया है—उपचितमहारोमश-कर्णपार्श्वमस्तिष्कम्—दिया है। उसका अर्थ भी उन्हीं के मत से यह बताया है कि—कर्ण के दोनों पार्श्व तथा मस्तिष्क (कर्ण के ऊपर स्थित शिर प्रदेश) जिसके मासल, विस्तीर्ण तथा रोमश हों। अन्य पाठान्तर 'कालमस्तकम्' डल्हन ने दिया है।

३—स्नान और अनुलेपन के अनन्तर शुष्कता-सम्बन्धी यह पक्ष-भेद डल्हन और चक्रदत्त के मत से है।

रहे तथा उसके शरीरावयव, ज्ञान एव विज्ञान (शिल्प, कला) आदि[1] शनै -शनै (अल्प वय में ही सहसा नहीं) पुष्ट हों उसे दीर्घायु समझना चाहिए---वह दीर्घ-काल जिएगा ऐसा मानना चाहिए। ऐसे दीर्घायु पुरुष का उपचार नि.शङ्क चित्त से ---इसकी चिकित्सा में सिद्धि-लाभ होगा ही, इस विश्वास के साथ करना चाहिए।

मध्यम आयु के लक्षण---दीर्घायु के लक्षणों में कहे लक्षण जिसमें मिश्र हों---कुछ हो, कुछ न हो या सब किंवा अनेक हो तो उनका प्रमाण कुछ-कुछ न्यून हो---वह पुरुष मध्यमायु होता है। भूमिका में इतना कह कर तन्त्रकार ने आगे कण्ठरव से मध्यमायु के कुछ लक्षणो का निर्देश करते कहा है---

जिसकी दोनो अक्षास्थियों (कोष्ठकास्थियो, अक्षकास्थियो) के नीचे (पाठान्तर में दोनो हस्तो के नीचे) आयत (लम्बी-चौडी) दो, तीन या अधिक स्पष्ट रेखाएँ हो ; पृष्ठ के ऊर्ध्वभाग में भी ऐसी ही रेखाएँ हो ; पाद और कर्ण मांसल हो तथा नासाग्र ऊर्ध्व (उठा हुआ) हो---उसकी आयु सत्तर वर्ष की होती हे। (तात्पर्य---ग्रन्थकार के मत से यह मध्यम आयु का प्रमाण है)।

अल्पायु के लक्षण---दीर्घायु के लक्षणो में कहे लक्षणो से विपरीत लक्षण जिसमें हो वह अल्पायु (जघन्य आयुवाला) होता है, ऐसा तन्त्रकार ने आरम्भ में कहा है। पश्चात् कुछ विशिष्ट लक्षणो का निर्देश करते वह कहता है---जिस पुरुष की संधियाँ ह्रस्व हो, शिश्न सुमहत् हो, वक्ष. स्थल में अवलीढ (प्रतिलोम और अनुलोम आवर्त-भेद---डल्हन) हो ; पृष्ठ आयत न हो, कर्ण ऊर्ध्व तथा नासा उन्नत हो ; हँसते या बात करते हुए जिसके दन्तमास (मसूढे) दिखाई

१---डल्हन की टीका में तन्त्रान्तर से एक पद्य उद्धृत किया है। उसमे कुछ शुभ वस्तुओ का निर्देश कर कहा है कि---जिसके अल्प वय मे ही ये दिखाई दें वह चिरकाल नही जीता। देखिए

व्यञ्जनादि शुभा विद्या मेदो मेधा धनं यशः।
अल्पे वयसि यस्यैतन्न स जीवेच्चिर नरः॥

व्यञ्जन का अर्थ स्त्रीत्व तथा पुरुषत्व के द्योतक श्मश्रु आदि चिह्न (सेकेण्डरी सेक्स केरेक्टर्स) है। सुश्रुत मे शरीर आदि की पुष्टि क्रमश होना दीर्घायु का लक्षण कहा हे। डल्हन कहता है कि वहाँ इस पद्य मे कही व्यञ्जन, विद्या आदि बातो का भी ग्रहण कर लेना चाहिए। प्रस्ताव सगत ही है। पद्य मे निर्दिष्ट वस्तु लोक-प्रसिद्ध भी है। पद्य का अर्थ यह है कि---जिसे अल्प वय मे (छोटी उम्र मे) ही व्यञ्जन आदि, उत्तम विद्या, मेद, मेधा, धन एव यश की प्राप्ति हो जाए वह बहुत नही जीता।

है, जिसकी दर्शन-क्रिया विभ्रान्त (विशेषत मोहयुक्त) हो—वह पुरुष पच्चीस वर्ष जीता है। (तात्पर्य—ग्रन्थकार के मत से अल्प या जघन्य आयु का यह परम प्रमाण है)[१]।

प्रमाण-परीक्षा[२]

विशेषतोऽङ्गप्रत्यङ्ग प्रमाणादथ सारतः।
परीक्ष्यायुः सुनिपुणो भिषक् सिध्यति कर्मसु॥

सु० सू० ३५।१७

अन्य परीक्षणीय भावो की परीक्षा के पूर्व रोगी की आयु की परीक्षा करनी चाहिए। आयु के त्रिविध भेदो के ज्ञान के लिए अङ्ग-प्रत्यङ्ग के प्रमाण तथा सार की परीक्षा की उपयोगिता विशेष है। इनमें सार की परीक्षा पहले आ गयी है, अब प्रमाण का उल्लेख किया जाता है। आयु के ज्ञान के लिए सार और प्रमाण को विशेषत' परीक्षणीय कहा है, एकमात्र नहीं। अत आयु के ज्ञान में विपरीत (अरिष्ट) व्रण, दूत आदि, छाया, शरीर तथा स्वभाव की विप्रतिपत्ति (वैपरीत्य, परिवर्तन), उपद्रव, असाध्यता के लक्षणो का प्रादुर्भाव इत्यादि की भी परीक्षा साम्यन्यतया उपयुक्त होती ही है। उसका यहाँ निषेध नहीं है। इन सब की परीक्षा द्वारा आयु का परिज्ञान करने के अनन्तर निपुण वैद्य द्वारा चिकित्सा की जाए तब ही यश और द्रव्य की उपलब्धि होती है।

शरीरप्रमाणं पुनर्यथास्वेनाङ्गुलिप्रमाणेनोपदेक्ष्यते उत्सेधविस्तारायामैर्यथाक्रमम्॥ च० वि० ८।११७

देह स्वैरङ्गुलैरेष यथावदनुकीर्तितः॥

सु० सू० ३५।१४

स्वैरङ्गुलैरित्यनेन नारीशरीरं नार्यङ्गुलेन पुरुषशरीरं पुरुषागुलेन मेयं, किञ्च बालशरीरं बालागुलेन मेयमित्यपि सूचितम् ज्ञेयम्।

१—च० वि० ८।१२४ मे चरक ने कहा है कि, (अरिष्ट वर्णनात्मक) इन्द्रिय स्थानो मे कहे अरिष्ट तथा तद्विपरीत लक्षणो से तथा जाति-सूत्रीय अध्याय (च० शा० ८ मे सूत्र ५०) मे कहे बालक के दीर्घायु के लक्षणो एव तद्विपरीत लक्षणो से भी आयु के अल्प या दीर्घ होने का ज्ञान होता है। बालक की आयु के लक्षण कौमारभृत्य के ग्रन्थो मे देखे जा सकते है।

२—स्थल सु० सू० ३५।१२-१५ तथा डल्हन और चक्र, च० वि० ८।११७ तथा चक्र।

स्वागुलोऽत्रांगुलिमध्यप्रदेशो माने ज्ञेयः। एतस्मिश्च स्वागुलमाने त्रियव-मानताऽगुलस्योक्ता न सङ्गता भवति॥ चक्रपाणि

अवयवो के उत्सेध (ऊँचाई), विस्तार (चौडाई) तथा आयाम (लम्बाई, दैर्घ्य) का प्रमाण अंगुलिओं द्वारा बताया जाएगा। यहाँ अगुली से जिस पुरुष का माप लेना है उसकी अगुली का मध्यभाग लेना चाहिए। किसी पुरुष का प्रमाण लेना हो तो उसी पुरुष की अगुली से मान लेना चाहिए, किसी स्त्री का लेना हो तो उसी स्त्री की अगुली के मध्य से एव किसी बालक का मान लेना हो तो उसी की अंगुली के मध्यभाग से उसके अङ्ग-प्रत्यङ्गो का मान करना चाहिए।

अङ्ग-प्रत्यङ्गो का प्रमाण-निर्देश करने के पूर्व आयुर्वेद की दृष्टि से एक वस्तु समझ लेनी चाहिए। अस्वास्थ्य के लक्षण मे इन्द्रियों और मन की अप्रसन्नता प्रमुख लक्षण है, भले विशेषज्ञ कहे कि उनके क्षेत्र की परीक्षा करते कोई रचनात्मक या क्रियात्मक विकृति उनमें पाई नही गई। इसी प्रकार आरोग्य की परीक्षा में आजकल वय, भार तथा ऊँचाई का तत्-तत् प्रमाण नवीनो ने बताया है। वैद्य भी उसकी अन्ध अनुकृति करते है। प्राचीनो ने बडा प्रयत्न करके शरीरावयवो के रचनात्मक और तदनुबद्ध क्रियात्मक साम्य की परीक्षा के लिए अगुलिमान का सिद्धान्त आविष्कृत किया है। उसे पुन· प्रकाश में लाना उचित है। अंगुली से माप के लिए किसी फीते पर प्रमेय पुरुष की मध्यमागुली का मध्यभाग रख कर उसका प्रमाण जान लेना चाहिए। उसमें कितने इच या सेंटीमीटर है यह देख कर प्रथम फीते से इंचों में अवयवो का प्रमाण जानना चाहिए, पश्चात् उन्हें अगुलि-प्रमाण मे परिणत कर लेना चाहिए। अथवा डोरे से प्रत्येक अङ्ग-प्रत्यङ्ग को माप कर उसे अगुली पर रख कर माप निकाल लेना चाहिए। इतनी आवश्यक भूमिका के पश्चात् अब अङ्ग-प्रत्यङ्गो का अगुलि-प्रमाण देखिए।

एक अन्तराधि (कोष्ठ, शरीर मध्य, धड), सक्थि (पैर) एवं बाहु (शाखाएँ) ये चार[1] तथा ग्रीवा-समेत शिर—ये छ अङ्ग कहाते है। इनके अवयवो को प्रत्यङ्ग कहते है। छ अङ्गो के कारण शरीर षडङ्ग[2] कहाता है।

१—दो-दो सक्थि और बाहु को शाखा कहते है। अग्रेजी मे इन्हे 'एक्स्ट्रीमिटी' कहा जाता है। सुपीरिअर या अपर तथा इन्फीरिअर या लोअर इन अग्रेजी विशेषणो की अनुकृति मे नवीन लेखक शाखाओ के ऊर्ध्वशाखा और अध शाखा ये दो भेद करते है। ये विशेषण अर्वाचीन है।

२—अपभ्रश—छग यथा—"बहुरि धरै खहि छग" मे।

सक्थि के गुल्फ (घुटने) से नीचे के भाग को पाद (अ०-फुट) कहते हैं। इसका उत्सेध (ऊँचाई) चार अंगुल, विस्तार (चौडाई) छ अंगुल तथा आयाम (लंबाई) चौदह अंगुल होती है। नखवाले भाग को छोड कर पाद के अंगुष्ठ तथा प्रदेशिनी (प्रथम) अंगुली प्रत्येक दो-दो अंगुल आयत (लंबी) होती है। प्रदेशिनी से मध्यमा, मध्यमा से अनामिका तथा अनामिका से कनिष्ठिका अंगुली एक अंगुल का पंचम भाग (अर्ध अंगुल) न्यून होती है। पाद के कल्पित तीन भाग है-- प्रपद या पादाग्र नाम अंगुलियो वाला भाग, पाद मध्य अथवा पादतल तथा पार्ष्णि या एडी। मर्म प्रकरणो में तल के भी मध्य भाग को तल हृदय कहा गया है। पादतल का मध्य पादतल हृदय तथा हस्ततल का मध्य हस्ततल-हृदय। प्रपद और पादतल प्रत्येक चार अंगुल आयत (लम्बा) और पाँच अंगुल विस्तृत (चौडा) है। (यहाँ पाठान्तर में--प्रपद का विस्तार छ अंगुल तथा पादतल का विस्तार पाँच अंगुल कहा है।) पार्ष्णि या एडी पांच अंगुल आयत तथा चार अंगुल विस्तृत होती है। इस प्रकार नख-रहित पादांगुष्ठ तथा प्रदेशिनी के दो अंगुल, प्रपद और पादमध्य के चार-चार अंगुल एवं पार्ष्णि के चार अंगुल मिल कर पाद, जैसा कि ऊपर कहा, कुल चौदह अंगुल लम्बा (आयत) होता है।

पाद, गुल्फ, जङ्घा और जानु इनमें प्रत्येक के मध्य का परिणाह[1] (परिक्षेप, परिधि, घेरा), चौदह-चौदह अंगुल होता है।

जानु और गुल्फ के मध्य का भाग जङ्घा[2] कहा जाता है। इसका आयाम अठारह अंगुल तथा उसके मध्य का परिणाह सोलह अंगुल होता है। जङ्घा मध्य का यह परिणाह चरक के मत से है, ऊपर दिया चौदह अंगुल परिणाह सुश्रुतोक्त है। इसी प्रकरण में आगे सुश्रुत ने भी इन्द्रवस्ति का परिणाह सोलह अंगुल बताया है। वहाँ डल्लन ने इन्द्रवस्ति का अर्थ जङ्घामध्य ही दिया है। यह दो प्रकार का प्रमाण निर्देश चिन्त्य है। डल्लन कहता है कि--चौदह अंगुल प्रमाण गुल्फ के ऊपर का तथा सोलह अंगुल प्रमाण जानु के नीचे समझना चाहिए। अत. कोई विरोध नही है। सुश्रुत के एक डल्लनोक्त पाठान्तर में जङ्घा का

१--इस प्रकरण मे घन द्रव्यो के प्रमाणो (डाइमेन्शन्स) की सज्ञाएँ दी गई है। अन्य विषयो के लेखक भी इन्हे ग्रहण कर सकते है। तथाहि लम्बाई--आयाम, दैर्घ्य, चौडाई--विस्तार, विशालता, ऊँचाई--उत्सेध, घेरा (सर्कमफरेन्स)--परिणाह, परिक्षेप, वर्तुलता, स्थौल्य, मापमात्र--प्रमाण।

२--संस्कृत मे जङ्घा का अर्थ जाँघ नही, लेग है। इसी प्रकार पिण्डिका का अर्थ पिंडली नही, जाँघ के पीछे का मास है।

आयाम चौबीस अगुल दिया है। वही पाठान्तर से जङ्घा का परिणाह तेरह अगुल दिया है। इस पाठान्तर की व्याख्या मे चक्रपाणि ने कहा है कि--गुल्फ के चार अगुल ऊपर जङ्घा का परिणाह तेरह अगुल होता है। (जहाँ प्रमाण में भिन्नता हो वहाँ डल्हन तथा चक्रपाणि की इन व्याख्याओ के अनुसार ही समाधान की दिशा शोधनी चाहिए।) जानु प्रत्येक चार अगुल आयत तथा उसका मध्य सोलह अगुल परिक्षेप का होता है। मध्य का यह प्रमाण चरक मत से है। पूर्वोक्त प्रमाण सुश्रुतानुसारी है।

जानु की अध सन्धि से आरम्भ कर कटिसंधि पर्यन्त सक्थि-भाग बत्तीस अंगुल दीर्घ होता है। इस प्रकार जङ्घा और जानु का ऊर्ध्वभाग मिल कर सक्थि पचास अगुल होती है। इसमें ऊरु (जाँघ, जानु के ऊर्ध्वभाग से वक्षण-सधि पर्यन्त भाग) जङ्घा के समान आयाम का नाम अठारह अगुल आयत तथा मध्य में तीस (सुश्रुत के अनुसार बत्तीस) अगुल परिणाह के होते है।

वृषण (अण्ड) का विस्तार दो अगुल, दैर्घ्य (आयाम, लबाई) छ अगुल तथा परिणाह आठ अगुल होता है। पुरुष शश जाति का हो तो उसका शिश्न (मेहन, शेफ, मेढ्र) स्तब्ध न हो तो चार अगुल दीर्घ और वही स्तब्ध (उच्छ्रित, उच्छ्राययुक्त, फूला हुआ) हो तो छ अगुल दीर्घ और पाँच अगुल परिणाह का होता है। स्त्री हस्तिनी जाति की हो तो उसके भग (योनि) का विस्तार (परिणाह) बारह अगुल होता है।

कटि का विस्तार सोलह अगुल होता है। बस्तिशिर (?)[1] बारह अगुल; तथा उदर दस अगुल विस्तृत और बारह अंगुल आयत होता है। शिश्न तथा नाभि का अन्तर भी बारह अगुल होता है।

दोनो पार्श्व प्रत्येक दस अगुल विस्तीर्ण तथा बारह अगुल आयाम के होते है। पुरुष का उर (हृदय से ऊर्ध्व तथा कण्ठ से अध स्थित अवयव) का उत्सेध बारह अगुल तथा विशालता चौबीस अगुल होती है। स्तनान्तर (दोनो स्तनो का मध्यवर्ती प्रदेश) भी बारह अगुल होता है। स्तन पर्यन्त (स्तन-पार्श्व) दो अगुल होता है। हृदय दो अगुल (पाठान्तर--तीन अगुल) विस्तीर्ण होता है। स्कन्ध आठ अगुल तथा अंस छ अगुल होते है। कक्ष प्रत्येक आठ अंगुल होते है। त्रिक (गुदास्थि से आरम्भ कर कटि कपाल के ऊर्ध्व पर्यन्त प्रत्यङ्ग-विशेष) का उत्सेध (ऊँचाई) बारह अगुल होता है। पृष्ठ की ऊँचाई अठारह अगुल तथा शिरोधरा (ग्रीवा) का उत्सेध (उच्छ्राय) चार अगुल और

१--आचार्य यादवजी भाई ने अपने 'व्याधि विज्ञान' मे वस्तिशिर का अर्थ शिश्नमूल से नाभि पर्यन्त प्रदेश दिया है।

परिणाह वाईस (सुश्रुत-मत से बीस, वही पाठान्तर में—चौवीस) अंगुल होता है। नाभि और हृदय तथा हृदय और ग्रीवा के अन्तर बारह-बारह अगुल होते हैं। पुरुष के उर (वक्षस्) का जो प्रमाण ऊपर कहा है वह, नाम बारह अगुल उत्सेध तथा चौवीस अगुल विस्तार, वही प्रमाण स्त्री की श्रोणि का होता है। श्रोणि का अर्थ है दोनो ऊरुसधियो (वक्षणो) के नीचे तथा स्मर-मन्दिर (भग) के ऊपर का प्रदेश। स्त्री का उर अठारह अगुल विस्तीर्ण होता है। पुरुष की कटि का विस्तार इतना ही होता है। कटि का यह प्रमाण सुश्रुतोक्त है। पहले दिया सोलह अगुल विस्तार चरक वचनानुसारी है।

अब बाहु के प्रत्यङ्गो का प्रमाण-निर्देश किया जाता है।—अंगुष्ठ ढाई अगुल, प्रदेशिनी (तर्जनी) साढे चार अगुल, मध्यमा अगुलि पाँच अगुल, अनामिका प्रदेशिनी के समान साढे चार अगुल तथा कनिष्ठिका ढाई अगुल होती है। अंगुष्ठमूल और प्रदेशिनी अगुलि का अन्तर पाँच अगुल होता है। हस्ततल छ अगुल आयत और चार अगुल विस्तीर्ण होता है। हस्त (मणिबन्ध से नीचे का बाहु-विभाग) बारह अगुल—पाठान्तर में दस अगुल—होता है। प्रपाणि (कफोणि—कोहनी—के नीचे और मणिवन्ध—कलाई— पर्यन्त बाहु, फोरआर्म) पन्द्रह अगुल होता है। सुश्रुत ने इस प्रत्यङ्ग का उल्लेख 'मणिवन्ध-कूर्परान्तर' नाम से करके उसका आयाम सोलह अगुल बताया है। प्रबाहु (अस से नीचे, कफोणि-पर्यन्त प्रदेश ; अपर आर्म) सोलह अगुल होता है। 'अंसपीठ-कूर्परान्तरायाम' नाम से इसका उल्लेख सुश्रुत ने किया है। पाठान्तर में इसका प्रमाण बीस अगुल कहा है। इसमें असपीठ का अर्थ बाहु शिर (बाहु का ऊर्ध्व भाग) है। इस प्रकार असपीठ से कूर्पर तक के प्रदेश के (सुश्रुत वचनानुसार) सोलह अगुल और कूर्पर या कफोणि से मणिवन्ध पर्यन्त प्रदेश के सोलह अगुल मिल कर भुज के बत्तीस अगुल होते हैं। तात्पर्य—असपीठ से अंगुली पर्यन्त प्रत्यङ्ग का नाम बाहु है। मणिवन्ध से नीचे के प्रदेश को हस्त कहते हैं। हस्त-रहित समस्त बाहु को भुज कहा जाता है। मणिवन्ध से कूर्पर पर्यन्त बाहु प्रपाणि तथा कूर्पर से अस पर्यन्त बाहु प्रबाहु कही जाती है। सुश्रुत ने हस्त का प्रमाण चौवीस अगुल लिखा है। यहाँ हस्त का अर्थ कूर्पर से मध्यमा अगुलि पर्यन्त बाहु प्रदेश ग्राह्य है। मणिवन्ध तथा प्रकोष्ठ प्रत्येक का परिणाह (घेरा, स्थौल्य) बारह अगुल होता है। पाणि के मूल का नाम जहाँ आजकल घडी बाँधी जाती है तथा प्राचीन काल मे स्त्रियो द्वारा मणिमय चूडी धारण की जाती होगी उसे मणिवन्ध कहते हैं। उसके चार अगुल ऊपर का प्रदेश प्रकोष्ठ कहा जाता है। प्रकोष्ठ का प्रसिद्ध नाम कलाई है।

शिर का उत्सेध नाम पीछे की ओर ग्रीवा से ऊपर की ओर ऊँचाई सोलह अंगुल तथा परिणाह बत्तीस अंगुल होता है। चरक मत से मुख का विस्तार चार अंगुल और सुश्रुत-मत से (आस्य) पाँच अंगुल होता है। आनन (चेहरे) का परिणाह चौबीस अंगुल तथा आयाम (चिबुक से ललाट पर्यन्त प्रदेश) बारह अंगुल होता है। खोले हुए मुख का अन्तर चार अंगुल होता है। चिबुक (ठोंडी) का उत्सेध दो अंगुल तथा विस्तार चार अंगुल होता है[1]। ओष्ठ का विस्तार चार अंगुल होता है। कर्ण, ललाट, कर्ण और नेत्र का अन्तर एवं नासिका प्रत्येक चार-चार अंगुल विस्तीर्ण होता है। सुश्रुत ने अपाङ्ग (नेत्र का बाह्य कोण) तथा श्रवण का अन्तर पंचांगुल लिखा है। दन्त प्रत्येक दो अंगुल उत्सेध का होता है। इसमें अर्धांश मांस-वेष्टित तथा अन्य अर्ध बाहर रहता है। दोनों नासापुटों (नासाछिद्रों) का बहिर्भाग भी दो अंगुल विस्तार का होता है। सुश्रुत ने लिखा है कि एक नासापुट का प्रमाण १ १।३ अंगुल होता है। पाठान्तर के अनुसार एक नासापुट का प्रमाण २।३ अंगुल होता है। डल्हन ने इसकी व्याख्या में कहा है कि यह प्रमाण तरुणास्थि-हीन नासा-रन्ध्र का समझना चाहिए। दोनों भ्रुओं का अन्तर तथा दोनों नयनों का अन्तर प्रत्येक दो अंगुल होता है। कर्ण-मूल (?) भी दो अंगुल होता है।

केशान्त और मस्तक का अन्तर ग्यारह अंगुल होता है। केशान्त का अर्थ है शङ्खों के ऊपर स्थित वह स्थान जहाँ से केश आरम्भ होते हैं। मस्तक का अर्थ है मस्तक का मध्य विभाग जहाँ रोमावर्त (रोमचक्र) रहता है। इस मस्तक से अवटु-स्थित केशान्त का अन्तर दस अंगुल होता है। अवटु का अर्थ है कृकाटिका—शिर का पृष्ठ भाग। दोनों कर्णों के गर्तों का अन्तर पीछे की ओर से चौदह अंगुल होता है।

दोनों दृष्टियों का अन्तर चार अंगुल होता है। दृष्टि का अर्थ है कृष्ण-तारकाएँ, जो प्रत्येक मसूर के दल (दाल के दाने) के प्रमाण की होती हैं। तारका या नेत्र का कृष्ण भाग नेत्र का एक-तिहाई होता है। दृष्टि का प्रमाण इस तारका के नवम भाग जितना होता है। नेत्र के प्रमाण का अधिक विचार नेत्रशालाक्य में किया गया है।

इस प्रकार प्रत्येक अवयव के प्रमाण का पृथक् निर्देश किया गया। संपूर्ण शरीर का उत्सेध चरक के अनुसार अपने चौरासी अंगुल (अथवा—अपने साढे तीन हाथ) तथा सुश्रुत के अनुसार एक सौ बीस अंगुल होता है। डल्हन लिखता

१—चिबुक का चरकोक्त चार अंगुल प्रमाण उसके विस्तार का तथा सुश्रुतोक्त दो अंगुल प्रमाण उसके उत्सेध का समझना चाहिए।

है कि--पादाग्रस्थितस्योर्ध्वबाहोः पुरुषस्य दैर्ध्यम्--सुश्रुतोक्त दैर्घ्य उस पुरुष का समझना चाहिए जो पादाग्र पर खडा हो तथा अपने बाहु ऊपर किए हो। इस प्रकरण की टीका में चक्रपाणि ने भी एकीय मत मे यही बात लिखी है--- अन्ये विस्तृत बाहु-पुरुषायामं सविंशमंगुलशतं वदन्ति ।

यहाँ जो प्रमाण कहा गया है वह ऐसे पुरुष का है जो पच्चीस वर्ष का हो चुका हो तथा ऐसी स्त्री का जिसका वय सोलह वर्ष का हो। कारण, इस वय में उनके रसादि धातुओ की परिपूर्ति सपूर्ण हो चुकी होती है, जिसके परिणाम रूप में वीर्य (उपचय, पुष्टि) भी सपूर्णता को प्राप्त हो गया होता है।

प्रमाण का मापन पुरुष स्वय अपना अगुल रख कर करे यह सभव ही नहीं है। जैसे वह कैसे अपने सपूर्ण शरीर का उत्सेध या कटि, जङ्घा आदि का परिणाह इस प्रकार जान सकता है? प्राचीन काल में प्रचलित पद्धति कदाचित् यह रही होगी कि एक सूत्र से प्रत्येक अवयव का प्रमाण लेकर उससे अगुली का माप निकाल लिया जाता होगा। सुश्रुत में जहाँ पाद मध्य, गुल्फमध्य, जङ्घामध्य और जानुमध्य का परिणाह चौदह अगुल बताया है वहाँ टीकाकार डल्हन ने लिखा है--चतुर्दशागुलपरिणाहानीति परिणाहो वर्तुलता, चतुर्दशागुलमान-रज्ज्वा वेष्टनमित्यर्थ ।

स्त्री या पुरुष मे अङ्ग-प्रत्यङ्ग तथा शरीर का उक्त प्रमाण हो तो वे दीर्घ आयु तथा प्रभूत, बल, ओज, सुख, ऐश्वर्य, धन तथा अन्य अभीष्ट वस्तुओं को प्राप्त करते हैं। यथोक्त प्रमाण न हो, नाम हीन या अधिक हो तो वैपरीत्य के प्रमाणानुसार आयु आदि मध्यम या अवर होते हैं।

देह : : स्थूल, कृश तथा मध्यम[1]

इह खलु शरीरमधिकृत्याष्टौ पुरुषा निन्दिता भवन्ति, तद्यथा--अतिदीर्घश्चातिह्रस्वश्चातिलोमा चालोमा चातिकृष्णश्चातिगौरश्चातिस्थूलश्चातिकृशश्चेति ॥ च० सू० २१।३

वैरूप्य एव लोक मे अप्रशस्ति को लक्ष्य में रखते हुए शरीर की दृष्टि से नीचे लिखे आठ पुरुष निन्दित होते है। तद्यथा---अति दीर्घ (बहुत लम्बा); अति ह्रस्व (बहुत वामन); अतिलोमा (सर्वाङ्ग तथा कर्ण-प्रभृति तत्-तत

१---स्थल च० सू० २१।३-२० तथा चक्र०; सु० सू० ३५।३३-३४, १५।३२-३५ तथा डल्हन।

अङ्ग-प्रत्यङ्ग पर अति लोमयुक्त)--अलोमा (सर्वथा लोम-रहित), अति कृष्ण--अति गोर; अति स्थूल (अति मेदस्वी)--अति कृश।

तत्रातिस्थूलकृशयोर्भूय एवाऽपरे निन्दितविशेषा भवन्ति ॥
च० सू० २१।४

इन आठ निन्दित पुरुषों में भी रोगोत्पत्ति की दृष्टि से अन्तिम दो, नाम अति स्थूल और अति कृश, विशेष निन्दित होते हैं। कायचिकित्सा में उपयुक्तता के प्रयोजन से इन दो के निदान, लक्षण तथा चिकित्सा जानना आवश्यक है। ये दो तथा तृतीय अनिन्दित सम (मध्य) शरीर ये तीन मिल कर शरीर के तीन भेद होते हैं--इह: स्थूल: कृशो मध्य इति (सु० सू० ३५।३३)। इनमें प्रथम स्थूल पुरुष के लक्षण और निदान का उल्लेख करते हैं। चिकित्सा स्थूल-कृश दोनो की चिकित्साधिकार में कही जाएगी।

स्थौल्य (मेदस्विता) का निदान और लक्षण--

स्थूलता, कृशता तथा मध्यम शरीर तीनो का कारण रसधातु ही है। पुरुष अति संपूरण (सतर्पण, अति भोजन) करता हो; विशेषतया गुरु, मधुर, शीत स्निग्ध (आदि) श्लेष्म प्रकोपक आहार द्रव्यों का अति सेवन करता हो, अध्यशन शील हो (एक बार किया भोजन पचने के पूर्व ही भोजन करने के स्वभाववाला हो, यथा कई पुरुष घर में भोजन कर कार्यालय, उपाहार-गृह आदि में अल्पाहार करते हैं, अथवा बाहर अल्पाहार कर घर लौटने पर भोजन खाते हैं); व्यायाम या श्रम न करता हो, व्यवाय (ग्रामधर्म) से विरत हो, दिवा स्वप्न में रत रहता हो, नित्य हर्ष (आनन्द) में आसक्त रहता हो, किसी प्रकार की चिन्ता न करता हो अथवा बीज-स्वभाव ही स्थौल्यजनक हो--नाम, उसके माता पिता भी स्थूल ही हों तो--उसके धात्वग्नि सम हो तो भी उल्लिखित परिस्थितियो में अन्नपान का पूर्णतया परिपचन उनके लिए (धात्वग्नियों के लिए) अशक्य होता है। परिणामतया, जो अन्नरस उत्पन्न होता है वह आम (अपक्व), अति स्निग्ध और मधुरतर होता है। विशिष्ट आहारवश उत्पन्न हुए उक्त गुणयुक्त इस आम अन्नरस के कारण, पूर्वजन्मोपार्जित मेदोवृद्धिजनक अदृष्ट (दैव)-वश एवं रक्त-मांस पोषक रसवह स्रोतो के मेद से आवृत होने के कारण रस धातु से रक्त और मांस का वैसा पोषण नहीं होता, किंतु उत्तर धातु मेद की ही वृद्धि होती है[1]। इतना ही नहीं, मेदस्वी पुरुष साधारण (सम,--सर्वधातुओं का समभाव

१--मेदो जनयति--विशिष्टाहारवशाददृष्टवशान्मेदसाऽऽवृतमार्गत्वाच्च धातुद्वयमतिक्रम्य मेद एव वर्धयति ॥ सु० सू० १५।३२ पर डल्हन

से पोषक) आहार सेवन करे तो भी उसके मेद मे पूर्व और उत्तर दोनो ही धातुओं की उतनी पुष्टि नही होती, जितनी मेद की होती है। कारण उल्लिखित हेतुओ के अतिरिक्त यह भी होता है कि, मेदस्वी (अति स्थूल) पुरुष में क्योकि समस्त शरीर को मेद ही व्याप्त किए होता है अत उससे अभिभूत हुए रसादि अन्य धातुओ की पुष्टि यथावत् नही होती , मेद की ही प्राय. वृद्धि होती है'। आहार (साधारण भी तत्-तत् कारण से इन पुरुषो में मेद की पुष्टि करने में समर्थ होता है, इसकी पुष्टि में दूध देनेवाले पशुओं को उदाहरणतया प्रस्तुत किया जा सकता है। वे घास जैसा रूक्ष आहार लेते है तो भी उसका स्निग्ध-गुरु गुण विशिष्ट दुग्ध मे परिणमन करने की शक्ति उनके देह में होती है। इस उदाहरण से आधुनिको ने यह फलितार्थ निकाला है कि, मानवो में भी कार्वोहाइड्रेटो तथा नाइट्रोजन-विरहित प्रोटीनो को स्नेह--फैट में परिणत करने का सामर्थ्य होता है। इसके अतिरिक्त जैसे पशुओ में भी गृहीत आहार को स्नेह में परिणत करने का सामर्थ्य परस्पर न्यूनाधिक होता है यथा गौ में यह सामर्थ्य न्यून एव महिषी में अधिक देखा जाता है, तद्वत् मानव-कुल में प्रति पुरुष स्नेह या मेद के उत्पादन के स्वभाव का तारतम्य न्यूनाधिक होता है।) उपचित हुआ यह मेद शरीर को अति स्थूल वना देता है। मेदो धातु की अतिवृद्धि के कारण पुरुष का स्फिक् (चूतड), उदर और स्तन लटकते रहते है। शरीर की विशालता के अनुसार उसमें उत्साह होता नही।

तत्तद्धातुपोषक स्रोतो के मेद से आवृत होने के कारण मेद से भिन्न धातुओ की यथावत् पुष्टि न होने से मेदस्वी पुरुष अल्पायु होता है--उसकी आयु का ह्रास होता है ; इसी धातु-वैषम्य के कारण ही वह अत्यन्त अल्पप्राण (अल्प वल और उत्साह वाला) होता है। स्वल्प भी श्रम से वह शीघ्र ही (क्षिप्रमेव) क्षुद्र श्वास (हाँफ , शॉर्ट ब्रेथ) के वेगो से पीडित हो जाता है। (हृदयधरा कला पर सचित मेद हृदय को वह चेष्टा करने नहीं देता, जो श्रम काल में अधिक प्रमाण में उस पर आ पडती है। परिणाम में, प्राणवायु--कार्वन डाईआक्साइड--श्रमवश अधिक मात्रा में उत्पन्न तो होती है, पर उसकी शुद्धि उतने ही प्रमाण में नही होती। यह सचित प्राण वृद्धि को प्राप्त हो अपना प्राकृत कर्म --श्वसन--अधिक प्रमाण में करता है। इसी का नाम श्वास है। नव्यमत से सचित यह प्राणवायु

१--सप्रति स्थूलस्य साधारणादप्याहाराद्भूरिमेदोजन्माह--तस्य हीत्यादि। मेदस्विन इति हेतुगर्भविशेषणम्। तेन यस्मादतिस्थूले शरीरे मेदो देहव्यापकत्वेन लब्धवृत्ति, अतस्तदेव प्रायो वर्धते, नान्ये रसादय , तदभिभूतत्वादित्यर्थ.॥

च० सू० २१४५ पर चक्रपाणि

श्वसन के उद्दीपक केन्द्र का उद्दीपन करता है, जिससे श्वास की गति बढ जाती है।) मेद के सौकुमार्य के कारण वह यावत् क्रियाओं के करने में असमर्थ होता है। मेद के सौकुमार्य, शैथिल्य और गौरव के कारण वह अकाल वार्धक्य से पीड़ित होता है (पाठान्तर में—वह कोई भी चेष्टा या गमन शीघ्र नही कर सकता)।

मेदस्वी पुरुष के शुक्रवह स्रोत (शुक्र की उत्पादक ग्रन्थियाँ—आयुर्वेदोक्त विसर्गकर स्रोत और प्रादुर्भाव करनेवाले स्रोत) कफ और मेद से आवृत होने के कारण तथा शुक्रधातु की पुष्टि असम्यक् होने से व्यवाय में कृच्छ्रता होती है—अल्प रति (मैथुनेच्छा), मैथुन की अशक्ति, शुक्र का शीघ्र विसर्ग (शीघ्रपतन, प्रीमेच्योर इजेक्युलेशन, अर्ली डिस्चार्ज) किंवा विलम्ब से विसर्ग इत्यादि विकृतियो से वह आक्रान्त होता है। (इसमें स्थिति यह होती है कि, जैसे मूत्र वृद्धि–हाइड्रोसील या वृषण ग्रन्थियो या वृषण कोष के श्लीपद में सचित द्रव किंवा स्थूल हुई त्वचा का शुक्रप्रादुर्भावकर स्रोतो पर पीडन होने के कारण वे क्षीण हो शुक्र की उत्पत्ति सप्रमाण कर नही सकते, परिणामतया शुक्र का क्षय होने से शुक्र संबन्धी तत्तन् विकृति होती है, तद्वत् मेद का पीडन इन अवयवो पर होने से भी तत्तत् उक्त लक्षण होते हैं। कफ की भी गणना इस स्थिति के कारणो में तन्त्रकार ने की है। उसका अर्थ यह है कि एक ओर तो शुक्र प्रादुर्भाव कर स्रोतो में पोषक रस की गति मन्द होती है, साथ ही कफकृत मन्दता के कारण शुक्र के निर्माण की क्रिया भी मन्दीभूत होती है। उसका भी परिणाम शुक्र के प्राकृत कर्मो पर होता है। सचित मेद से हृदयधरा कला और उसके कारण हृदय भी पीडित होने से व्यवायकाल में हृदय भी उतना कार्य कर नही पाता। इतर श्रमों के सदृश व्यवायकालिक श्रम से भी पुरुष क्षुद्र श्वास के वेग से पीडित हो जाया करता है, जो इस क्रिया में अन्तराय उत्पन्न करता है। नव्यमत से पोषणिका ग्रन्थि की क्रिया बीज स्वभाव आदि कारणो से क्षीण होने से जैसे चुल्लिका ग्रन्थि प्रभृति मेद का दहन करनेवाली ग्रन्थियो का प्रवर्तक पित्त चुल्लिका ग्रन्थि में बनता नही, परिणामतया मेद अबाध गति से बढता जाता है, वैसे बीज ग्रन्थियों का प्रवर्तक पित्त क्षीण होने से शुक्रोत्पत्ति आदि कर्मो पर भी प्रभाव होता है और पुरुष व्यवाय-सबन्धी विकृतियो से व्यथित होता है। शुक्र यन्त्र पर मेद के पीडनवश होनेवाली उपरिलिखित सप्राप्ति भी व्यवायकालिक व्यथाओ मे सहायक होती है।)

कफ का संसर्ग, कफ और मेद का विष्यन्दी स्वभाव—द्रवीभूत हो बाहर निकलने की प्रवृत्ति, मेद के समान उसके उपधातु स्वेद की भी अति-पुष्टि, गुरुता एव उक्तरीत्या श्रम को सहन न करने का स्वभाव—इन हेतुओ से मेदस्वी पुरुष में स्वेद की प्रवृत्ति तथा तज्जन्य व्यथाएँ भी बहुत होती हैं। मेद का स्वभावगत

दौर्गन्ध्य अर्थात् मेद प्रकृत्या दुर्गन्धयुक्त होना, मेद वृद्ध होने से उसके इस स्वभाव-सिद्ध दौर्गन्ध्य में वृद्धि होना (मेद के इस दौर्गन्ध्य का उसके मलभूत स्वेद पर भी प्रभाव होना), एवं इस स्वेद की अतिमात्र उत्पत्ति—इन कारणों से दुर्गन्धयुक्त स्वेद की अतिप्रवृत्ति हो कर शरीर में दौर्गन्ध्य होता है। (इन पुरुषों के वस्त्र, उपवस्त्र आदि भी कितने ही स्वच्छ रखे जाएँ तो भी उनमें यत्किञ्चित् भी दुर्गन्ध लक्षित होता ही है।)

मेदस्वी पुरुष के अग्नि में स्वभावसिद्ध तीक्ष्णता होती है। इस तीक्ष्णता की व्याख्या यों की जा सकती है कि, मेद की वृद्धि की उत्तरोत्तर-गतानुगतिवश मेद की ही अतिपुष्टि मेदस्वी पुरुष में होती है। तथापि, इतर धातुओं की पुष्टि की आवश्यकता तो रहती ही है। यह आवश्यकता क्षुधा और पिपासा के अतियोग के रूप में व्यक्त होती है। भूयोदर्शन (आन्तर्दर्शन) के आधार पर आचार्यों ने यह नियम बनाया है कि शरीर में किसी भी दोष, धातु आदि की वृद्धि या क्षय हो तो ऐसे आहार-विहार इत्यादि की स्वभावतः इच्छा (रुचि) होती है जो विपरीत गुणवाले होने से उसे समावस्था में लानेवाले हों—कुर्वते हि रुचिं दोषा विपरीत-समानयोः। इस न्याय (नियम) के आधार पर मेद की अति-वृद्धि के प्रसंग से क्षीण हुए धातु भी अपनी पूर्ति के प्रयोजन से अति क्षुधा पिपासा के रूप में रुचि-विशेष को व्यक्त करते हैं। यह आहार जीर्ण भी हो जाता है। मेदस्वी पुरुष की क्षुधा-पिपासा (अग्नि) तीक्ष्ण होने का एक अन्य भी हेतु तन्त्रकारों ने बताया है। वह यह कि, वायु का मार्ग मेद से आवृत हो जाने से वह (कोष्ठ से शाखाओं में—रस रक्तादि धातुओं में—जा नहीं सकता, किन्तु) कोष्ठ में ही विशेषतया सचरण करता है और अग्नि का सधुक्षण (प्रदीपन)-रूप अपना प्राकृत कर्म करता है तथा आहार का शोषण करता है। कुपित वायु से अग्नि-स्थान अभिभूत हो तो अग्नि का वैषम्य होता है यह सिद्धान्त है, तथापि यहाँ वायु का कोप इतना नहीं होता। वायु अतिवृद्ध हो तो वह अग्नि को विषम करता है, वृद्धि अल्पमात्र हो तो उससे अग्नि की दीप्ति ही होती है[1]। भोजनकाल का व्यतिक्रम (उल्लङ्घन) हो जाए—काल उपस्थित होने पर भी पुरुष को भोजन उपलब्ध न हो—तो कई घोर विकारों से मेदस्वी पीडित होता है।

इन रोगों के अतिरिक्त मेदस्वी पुरुष क्रथन (निद्रावस्था में घुर्घुर ध्वनि, स्नोरिंग), अकस्मात् श्वासावरोध, गद्गद वाणी, अङ्गसाद, निद्रा—इन विकृतियों से शीघ्र ही आविष्ट होता है। किंबहुना—

१—मेदसेत्यादौ वायोरनतिवृद्धत्वेनाऽग्निसंधुक्षकत्वम्, न वैषम्यापादकत्वम्, यतोऽतिवृद्धो हि वैषम्यं वह्नेः करोति वायुः॥ च० सू० २१।५ पर चक्रपाणि

एतावुपद्रवकरौ विशेषादग्निमारुतौ।
एतौ हि दहतः स्थूलं वनदावो वनं यथा॥
मेदस्यतीव संवृद्धे सहसैवानिलादयः।
विकारान् दारुणान् कृत्वा[1] नाशयन्त्याशु जीवितम्॥

च० सू० २१।७-८

मेदस्वी पुरुष में उक्त सप्राप्ति के अनुसार अग्नि और वायु विशेषतया प्रबल हो कर उपद्रव उत्पन्न करते हुए उसी प्रकार उसे भस्म करते है, जैसे वनाग्नि वन को। मेद की अतीव वृद्धि होने पर वातादि दोष अतर्कित ही प्रमेह पिडका, ज्वर, भगन्दर, विद्रधि और वात रोग इनमें किसी एक से आक्रान्त कर शीघ्र ही उसे यमलोक पहुँचा देते है। इन रोगो मे पठित वात-विकार वायु के मार्ग का मेद से आवरण होने के कारण होते हैं। उल्लिखित प्रकार से हुए रोगो के अतिरिक्त अन्य सामान्य कारणो से मेदस्वी पुरुष को जो रोग होते है वे भी स्रोत के आवृत होने से बलवान् होते हैं।

मेदस्विता के इन दोषो को लक्ष्य में रख उसे उत्पन्न न होने देना चाहिए। उत्पन्न होने पर चिकित्साधिकार मे कहे जानेवाले प्रकार से उसे समावस्था मे लाना चाहिए।

स्थूल शरीर के कारण और लक्षणों के अनन्तर अब कृश शरीर (कार्श्य) के कारण और लक्षणों का उल्लेख करते है।

कृश शरीर · शरीर की कृशता का कारण भी रस ही होता है। पुरुष वात प्रकोपक आहार का सेवन करता हो · यथा, उसका अन्नपान रूक्ष और कषाय रस प्रधान हो, वह प्रमित (मात्रा में अल्प किंवा/और असपूर्ण रसों वाला) भोजन करता हो, अथवा लङ्घन करता हो, --क्षुधा-पिपासा के वेगों का जानत· अवरोध करता हो या परिस्थितिवश उसे ऐसा करना पडे; वह अति-शोक, भय, ध्यान (चिन्ता) या क्रोध से अभिभूत रहता हो, अन्य वेगों एवं निद्रा का निग्रह करता हो, रात्रि-जागरण करता हो, अति व्यायाम (या परिश्रम) करता हो, अति व्यवाय, अध्ययन या स्नान मे आसक्त हो, रूक्ष-शरीर होता हुआ भी उद्वर्तन (शरीर पर तत्-तत् चूर्णो का घर्षण, उबटन) करे, वमनादि क्रियाओं का अतियोग करे; किसी रोग के अनुबन्ध (चिरकालावस्थान या पुनरावर्तन) से वह पीडित हो; वह वृद्ध हो, इन सबसे बढ कर उसकी प्रकृति या देहजनक

१—सु० सू० १५।३२ मे कहे प्रमेह पिडका-प्रभृति विकार यहाँ परिगृहीत है, ऐसा शिवदास सेन ने अपनी टीका मे कहा है।

बीज ही कृशता-कारक हो, तो किंवा ऐसे ही अन्य कारणो की विद्यमानता में पुरुष का रसधातु उपशोषित होता है--जो रसधातु बनता है वह रूक्ष नाम स्निग्धत्वादि गुणशून्य तथा स्वल्प बनता है[1]। यह रस शरीर में (सम्यक् प्रकार से) अनुक्रमण--सचरण--नही करता तथा अल्प होता है, इस कारण शरीर को तृप्त-पुष्ट-नही करता। परिणामतया, पुरुष अतिकृश हो जाता है।

कृश पुरुष का स्फिक् (नितम्ब)-प्रदेश, उदर[2] और ग्रीवा शुष्क होते है, धमनी जाल (सिरा समूह) उसकी त्वचा पर व्याप्त दिखाई देता है, उसके देह में त्वचा और अस्थिमात्र शेष रहता है। उसके पर्व (सधियाँ) अति स्थूल होते है।

अति कृश पुरुष क्षुधा-पिपासा के वेग, अति शीत-उष्ण, वात, वृष्टि, रोग का वेग, औषध की शक्ति, व्यायाम, भार-वहन (तथा अन्य श्रम), अति सौहित्य (पेटभर कर खा सकना), अति मैथुन--इनको सहन नहीं कर सकता; वाचिक, मानसिक तथा शारीरिक क्रिया करने की उसकी शक्ति अल्प (अल्प-प्राणता) होती है। वह वातिक रोगो से प्राय पीडित होता है। प्लीहा, कास, क्षय, श्वास, गुल्म, अर्श, उदर तथा ग्रहणी विकार (पचन सस्थान के रोग) उसे विशेषतया होते हैं। ये या अन्य कोई भी रोग उसे हो तो वह (रोग) बलवान् होता है। अन्त मे श्वास, कास, शोष (यक्ष्मा), प्लीहा, उदर, अग्नि-मान्द्य, गुल्म, और रक्तपित्त इनमें किसी रोग से आक्रान्त हो वह मृत्यु के वश होता है। इन परिणामों को देखते हुए कृशता के उत्पन्न होने के पूर्व ही योग्य उपचार करना चाहिए।

सम शरीर स्थौल्य और कार्श्य के हेतुभूत जिन आहार-विहारो का ऊपर उल्लेख किया है उनके विपरीत जो पुरुष दोनो के मध्यवर्ती (उभय-साधारण) आहार-विहार का सेवन करता है, जैसे अन्नपान में न अति स्निग्ध, न अति रूक्ष इत्यादि गुण-विशिष्ट स्वस्थवृत्त में उपयोगी--जिनसे स्वास्थ्य स्थिर रहे ऐसे--षष्टिक, रक्तशालि, लावक (पक्षि-विशेष), दाडिम, तण्डुलीयक (चौलाई) आदि का उपयोग करता है एव अदिवास्वप्न आदि विहार-विशेषो का सेवन करता है उसका अन्नरस (सर्व धातुओ, उपधातुओ, दोषो और मलों का समभाव से पोषण करनेवाले द्रव्यो के सम प्रमाण से घटित होने के कारण) शरीर में अनुक्रमण (सचरण) करता हुआ समधातुओ को (धातु आदि को) समभाव से पुष्ट करता

१--उपशोषितो रसधातुरिति अतिरूक्षीकृतोऽल्पीकृतश्च ॥ डल्हन

२--उदर (उदर की पेशी, मेद आदि) अतिकृश होने से इन व्यक्तियो की उदर-परीक्षा मे नाभि पर पृष्ठवश का कठिन उभार भी स्पर्शगम्य होता है।

है—उनकी पुष्टि इस प्रकार से करता है कि वे क्षीण तो हों ही नहीं, परन्तु उनकी पुष्टि भी इतनी हो कि वृद्धि की कक्षा में वे न पहुँच जाएँ, किन्तु जिस धातु आदि का जितना प्रमाण आरोग्य के लिए अपेक्षित है, उतना स्थिर रहे इस विधि से उनका आप्यायन करता है। परिणामतया, उसके मांसादि धातुओं का उपचय (पुष्टि) सम होता है, उनका संहनन या मेल (उनका संनिवेश, स्थान विशेष पर स्थिति) भी सम (सुडौल) होती है; उसका अग्नि सम होता है, वृद्धावस्था भी सम होती है—वृद्धावस्था नियत काल पर उपस्थित होती है, उसका बल भी क्रमश अपना प्रभाव दिखाता है, उसका शरीर तथा इन्द्रियाँ बलवान् और दृढ होती हैं, दृढेन्द्रियो विकाराणां न बलेनाभिभूयते (च० सू० २१।१८)—इन्द्रियों की दृढता के कारण ही रोगों का बल कभी इतना बढने नहीं पाता कि उसे व्याकुल कर सके; क्षुधा-पिपासा, शीत-उष्ण, आतप-वात-वृष्टि इनको वह सहन कर सकता है, परिश्रम और व्यायाम को भी सहन करने का सामर्थ्य उसमें होता है।

क्षुधा-पिपासा आदि के सहन का तात्पर्य व्यवसायोपयुक्त होने से सक्षेप में समझने योग्य है। कई व्यक्तियों को धूप में निकलने से आतप-दग्ध (लू लगने) का भय होता है, किसी को शीत, वात या वृष्टि से प्रतिश्याय, शरीरावयवों का अवसाद आदि विकृतियाँ सहसा हो जाती हैं; किसी को दो-चार मील भी चलना पडे या ऐसा ही कोई श्रम करना पडे तो ज्वर का वेग हो आता है, क्लम के कारण वे कुछ काल तक कोई अन्य कार्य कर नहीं सकते, हाथ से दो-चार सेर भी भार स्वल्प काल के लिए वहन करना पडे तो श्रम और कम्प हो आता है। सम शरीर में ये भय नहीं होते।—स सततमनुपालयितव्यः (सु०सू० १५।३४), 'स्वस्थवृत्तानुवर्तनेन' इति शेष.—डह्लन। स्वस्थवृत्तोक्त आचार का सूक्ष्मता से पालन कर इस सम शरीर के साम्य को स्थिर रखने का सर्वदा प्रयत्न करना चाहिए।

ऊपर स्थूल तथा कृश पुरुषों को पीडित करनेवाली जिन व्याधियों का उल्लेख किया गया है उन्हें देखने से विदित होगा कि—अति स्थूल और अतिकृश दोनों ही पुरुष सतत व्याधित होने से अत्यन्त गर्हित होते हैं। सदा रोगी होने से कोई भी रोग बढ कर विषम स्थिति उत्पन्न न कर दे इस प्रयोजन से इनका सतत उपचार करते रहना चाहिए—सक्षेप में कृश का संतर्पण (बृंहण) के रूप में तथा स्थूल का कर्शन (अपतर्पण) के रूप में। मध्य शरीर प्रशस्त होता है।

स्थूल और कृश दोनों सदातुर होते हुए भी दोनों की तुलना ही करनी हो तो—कृशः स्थूलात्तु पूजितः (च० सू० २१।१७)। कृश पुरुष स्थूल की अपेक्षया अधिक उत्कृष्ट होता है। कारण, एक तो स्थूल पुरुष के रोगों की संख्या तथा

बल अधिक होता है, अपरच, उसका उपचार भी दुष्कर होता है। रोगमात्र की आयुर्वेदोक्त चिकित्सा-पद्धति अनेकविध होने पर भी सक्षेप में उसको दो वर्गों में विभक्त किया गया है--कर्शन (अपतर्पण) तथा बृहण (सतर्पण)। इनमें सतर्पण तो स्थूल को और भी स्थूल बनानेवाला होने से यों ही उपयुक्त नही है। दूसरे उपक्रम अपतर्पण को स्थूल पुरुष सहन नही कर सकता, क्योंकि उसका अग्नि अति दीप्त होता है। इसके विपरीत दुर्बल (कृश) पुरुष के लिए सतर्पण उचित और शक्य होता है[1]।

कर्शयेद् बृंहयेच्चापि सदा स्थूल कृशौ नरौ।
रक्षणं चैव मध्यस्य कुर्वीत सततं भिषक्॥

सु० सू० ३५।३४

अत्यन्तगर्हितावेतौ सदा स्थूल कृशौ नरौ।
श्रेष्ठो मध्यशरीरस्तु कृशः स्थूलात्तु पूजितः॥

सु० सू० १५।३५

सततं व्याधितावेतावतिस्थूलकृशौ नरौ।
सततं चौपचर्यौ हि कर्शनैर्बृंहणैरपि॥
स्थौल्य कार्श्ये वरं कार्श्यं समोपकरणौ हि तौ।
यद्युभौ व्याधिरागच्छेत् स्थूलमेवातिपीडयेत्॥

च० सू० २१।१६-१७

संहनन की परिक्षा[2]

संहननतश्च (परीक्षेत) इति। संहननं, सहति, ('संघातः' इति पाठान्तरम्) संयोजनमित्येकोऽर्थ.॥ च० वि० ८।११६

संहतिरिति निबिडसंधानतेत्यर्थः॥ चक्रपाणि

रोग परीक्षा मे रोगी के बल आदि का निर्णय करने के लिए संहनन की भी

१—कुत. स्थूलात् कृश पूजित ? उच्यते--स्थूलस्य क्रियाऽक्षमत्वात्, अतिशयेन व्याधिपीडनाच्च (सु० सू० १५।३५ पर डह्लन)। स्थूलस्य दुरुपक्रमत्वात्। यतः स्थूलस्य सतर्पणमतिस्थौल्यकरम्, अपतर्पण चायं प्रवृद्धाग्नित्वान्न सोढुं शक्नोति; दुर्बले तु सतर्पण योग्यमेवेति भावः। च० सू० २१।१६-१७ पर चक्रपाणि

२—स्थल च० वि० ८।११६ तथा चक्र०।

परीक्षा करनी चाहिए। संहनन का अर्थ है— शरीर के मासपेशी आदि दृश्य स्थूल अवयवों एवं सूक्ष्म शरीर-परमाणुओं का सघान नाम परस्पर सयोग निबिड हो—परस्पर अति निकट या घन हो—तो इस शरीर की इस विशिष्टता किवा उसके विपरीत न्यून सधान को शरीर का सहनन कहते है। उसे ही सहति, सघात या संयोजन (प्रसिद्ध नाम—सगठन या रचना) भी कहते हैं।

पुरुष की अस्थियाँ सम हों—उस पुरुष में अस्थियो का जो स्वास्थ्योचित प्रमाण होना चाहिए वैसा ही उनका उपचय हुआ हो—साथ ही वे (अस्थियाँ) सुविभक्त हों—प्रत्येक अस्थि का जेसा सनिवेश होना चाहिए,जहाँ उसकी स्थिति होनी चाहिए वहीं स्थित हो, अस्थि आदि की सधियाँ सुबद्ध—सुदृढ—हों, मास सुनिविष्ट हों—पेशियों में तथा शरीरावयवों में अन्यत्र मासधातु का जो प्रमाण होना चाहिए वह हो तथा वह योग्य स्वरूपवाला एव उसका जिस स्थान पर रहना स्वास्थ्योचित हो उसी स्थान पर स्थित हो; रक्त भी इसी प्रकार सुनिविष्ट हो—नाम, उसका प्रमाण और स्वरूप सम हो, उसका सवहन भी जिस अवयव में जिस प्रमाण और वेग से होना चाहिए वैसा ही हो,तो ऐसे शरीर को सुसंहत (उत्तम सहननवाला) कहते हैं। लोक भाषा में ऐसे शरीर को सुडौल (सुघटित) कहा जाता है। जिन पुरुषो का शरीर सुसहत होता है वे बलवान् होते हैं—व्यायाम, श्रम, शीत-वात-आतप आदि को एव रोग के बल को सहन करने का सामर्थ्य उनमें उत्कृष्ट होता है।

जिनका शरीर उत्तम सहतिवाला नही होता उनका बल अल्प होता है और जिनका संहनन मध्य स्वरूप का होता है उनका बल भी मध्यानुपाती होता है।

देश की परीक्षा[1]

देशस्तु भूमिरातुरश्च ॥ च० वि० ८।९२

देश शब्द के आयुर्वेद में दो अर्थ है—भूमि और आतुर (रोगी)। इनमे द्वितीय आतुर का अभिधान देश नाम से इसलिए किया है कि—आयुर्वेद तथा उसके उपासक के लिए आचार्यो ने जो धातुसाम्य एव उसके द्वारा रोगोपशान्ति-रूप कार्य बताया है उसका देश, आश्रय या अधिष्ठान आतुर ही होता है[2]—

१—च० वि० ८।९३-९४ तथा चक्र, सु० सू० ३५।४२-४५ तथा डल्हन, च० क० १।७-९ तथा चक्र०।

२—कार्य की व्याख्या करते हुए तन्त्रकार ने रोगोपशान्ति के सामान्य लक्षण सक्षेप मे बताए है। उपयुक्त एव सदा स्मरणीय होने से अर्थ-सहित मूल प्रकरण (च० वि० ८।८९) यहाँ दिया जाता है।— →

आतुरस्तु खलु कार्य देश:(च० वि० ८।९४) आतुर-रूप देश की परीक्षा उसकी आयु,बल और दोष के प्रमाण के ज्ञान और तदनुरूप औषध की मात्रा के विनिश्चयार्थ की जाती है। आतुर की इस परीक्षा का प्रपञ्च पहले किया जा चुका है। यहाँ भूमि नाम से प्रसिद्ध देश की परीक्षार्थ उसके लक्षण दिए जाते है।--

भूमि-रूप देश का विचार दो दृष्टियो से किया जाता है--मुख्यतया रोगी-सबन्धी जानकारी प्राप्त करने के लिए तथा विशेषतया औषधो के गुणावगुण के परिज्ञान के लिए। इनमें प्रथम दृष्टि से किए गए विचार में देश शब्द भारत, इगलैण्ड, अफ्रीका आदि, किवा उनके अङ्गभूत गुजरात, बगाल आदि उन्हीं भूमियो के अर्थ में व्यवहृत है जिनमें आज भी देश,प्रदेश या उनके पर्याय रूप प्रान्त राज्य आदि शब्दो का व्यवहार होता है। इस अर्थ में रोगी या स्वस्थ पुरुष, जिसके रोगोपशमन अथवा रोगानुत्पत्ति के उपायो का विचार करना है, उसके देश के सबन्ध मे यह जानना होता है कि--

यह पुरुष किस देश मे उत्पन्न हुआ है, किस देश में बडा हुआ है किवा किस देश में रोग पीडित हुआ है। (कारण, भिन्न-भिन्न देशों में भिन्न-भिन्न रोग हुआ करते है, सो देश के ज्ञान से ही उनकी सभावना हो सकती है, अन्यथा नही)। उस-उस देश मे मनुष्य किस-किस अन्नपान का प्राय सेवन करते है,

---

१--कार्य धातुसाम्य, तस्य लक्षणं विकारोपशम। --आयुर्वेद का प्रयोजन है दोपो की समता। और इस दोप-साम्य का लक्षण है--विकारो नाम रोग के लक्षणो की शान्ति। परीक्षा त्वस्य--रोगोपशान्ति की परीक्षा जिन लक्षणो से होती है वे ये है--रुगुपशमन, स्वरवर्णयोग, शरीरोपचय., बलवृद्धि, अभ्यवहार्याभिलाष, रुचिराहारकाले, अभ्यवहृतस्य चाहारस्य काले सम्यग्जरण, निद्रालाभो यथाकाल, वैकारिकाणा च स्वप्नानामदर्शन, सुखेन च प्रतिबोधन, वातमूत्रपुरीषरेतसा मुक्ति, सर्वाकारैर्मनोबुद्धीन्द्रियाणा व्यापत्तिरिति--शूल, भेद, तोद, दाह प्रभृति वेदनाओ (सब्जेक्टिव लक्षणो) की शान्ति, त्वचा, नख, नयन, मल, मूत्रादि मे प्राकृत वर्ण और कण्ठ मे प्राकृत स्वर का पुन लौट आना, शरीर की पुष्टि, बल की वृद्धि, अन्नपान की आकाक्षा, आहार का काल उपस्थित होने पर उसके प्रति रुचि, सेवित अन्नपान का आगामी आहार-काल आने के पूर्व सम्यक् नाम विदाह, आध्मान आदि अजीर्णो के लक्षण उत्पन्न किए बिना जरण (पचन), यथाकाल निद्रालाभ, निद्रा में तत्तत् दोष या रोग के सूचक स्वप्नो का दर्शन न होना, सुख से नाम तन्द्रा आदि के बिना जागरण, ऊर्ध्ववात तथा अधोवात, मूत्र, पुरीष और शुक्र की प्रवृत्ति, मन और ज्ञानेन्द्रियो की अपनी क्रिया मे कोई क्षति न होना तथा उनमे सर्व शुभ लक्षणो का उदय।

उनकी प्राय: चेष्टा कैसी होती है, उनका आचरण कैसा होता है, उनका बल तथा सत्त्व (क्रमशः शारीरिक बल तथा मनोबल) कैसा होता है; वहाँ कौन वस्तुएँ सात्म्य होती है, किन वस्तुओ के प्रति भक्ति (अभिरति) होती है; कौन से दोष का प्राय प्रकोप उस-उस देश में होता है, कौन रोग उस-उस देश में सविशेष होते है और अन्त में उस देश में कौन आहार-विहार, औषध आदि प्राय हित (गुणकारी) होता है, और कौन अहित।

देश की ऊपर कही परीक्षा में एक प्रयोजन देश-भेद से दोष तथा व्याधि का परिज्ञान है। तत्-तत् देश में तत्-तत् दोष का प्रकोप देश-स्वभाववश हुआ करता है। देशो का इस दृष्टि से विचार करते हुए संहिताकारों ने देश के तीन प्रकार बताए है—देशस्त्वानूपो जाङ्गल साधारण इति (सु० सू० ३५।४२, च० क० १।८)। --आनूप (या अनूप), जाङ्गल (मरु या धन्व) तथा साधारण। प्रत्येक देश के लक्षणादि अधोनिर्दिष्ट है।

आनूप (जलप्राय) देश के लक्षण—इस देश की मूलभूत विशेषता यह है कि यह जलप्राय (विविध कारणो से जल के बाहुल्यवाला) होता है जलप्रायमनूप स्यात् (अमरकोश)[1]। इस देश के जलप्राय होने का कारण यह होता है कि इसमें वृष्टि बहुत होती है, समुद्र अथवा एक या अनेक नद, नदी और नाले इसके समीप होते है, निम्नोन्नत भू-विभाग इसमें बहुत होते है--देश मे सर्वत्र प्रकृत्या खूब गढे, पोखर आदि एव छोटे-बडे पहाड-पहाडियाँ, टेकरा-टेकरी आदि पुष्कल होते है, जिनके कारण जल रुद्ध रहता है, (कही-कही विशेषतया प्राचीन नगर, जिनमें दूषित जल-प्रवाह की व्यवस्था नही है, उनमे मार्ग आदि पर किंवा मल तथा जल को सचित रखने के शौचकूपो---सेसपूल्स---मे जल सचित रहता है; कही जल कूपों एव वर्षाजल को सग्रहीत करने के लिए आवृत टकियाँ बनाई जाती है। इस कारण भी देश जलप्राय होता है; या अन्य पूर्वोक्त कारणों से वह जलप्राय हो तो उसकी इस विशिष्टता मे वृद्धि होती है), वायु भी उक्त हेतुवश बहुश शीत और मृदु चलता है; वृक्ष भी संख्या में बहुत सुपुष्ट तथा विशाल होते है; इस प्रकार इस देश के भू-विभाग तथा उन्नत प्रदेश अनेक गहन और पुष्पित वन-राजियों तथा निकुञ्जो से परिव्याप्त होते है, वृक्ष-वनस्पतियाँ मन्द मृदु पवन से आन्दोलित रहा करती है, वृक्षों में हिन्ताल, तमाल, नारिकेल और कदली (केले) का बाहुल्य होता है (इन वृक्षो की वृद्धि देश जलप्राय होने से उत्कृष्ट होती है। अत द्रव्योपार्जनार्थ कृषक लोग भी

१—अनुगताः आपः यस्मिन् यह अनूप शब्द का विग्रह है। पाणिनि ने इस शब्द की सिद्धि दो विशेष सूत्रो से की है।

इन देशो में कदली और नारिकेल की वाटिकाएँ लगाते हैं। कदली के उपवनों में जल की बहुत आवश्यकता होने से इनके समीपगत प्रदेश की जलप्रायता में अधिक वृद्धि होती है। परिणामतया, इनके निकट रहनेवाले पुरुषो के आगे कहे अनुसार कफ-वात प्रधान रोगो से पीडित होने की सभावना सविशेष रहती है, विशेषतया उस स्थिति में जबकि उनकी प्रकृति आदि कारण भी कफ और वात के प्रकोप के अनुकूल हो), नदी-तीर वञ्जुल (जलवेतस) तथा वानीर (वेतस, बेंत, फारसी में बेदमुश्क) से प्राय उपशोभित रहते हैं—उन पर ये पौधे अधिकतर पाए जाते है, वन-उपवन तथा सरोवर हस, चक्रवाक, वक, मत्त कोकिल, टिट्टिभ, भृङ्ग आदि[1] पक्षियो के मधुर रव से मुखरित रहते है। जल-प्रायता आदि का परिणाम यह होता है कि—

आनूप देशो में कफ और वात का प्रकोप अति सुलभ होता है, परिणामतया कफ और वात के पृथक् या संसृष्ट रोग इस देशमे प्रधानतया दृष्टि-गोचर होते हे (कफवातरोगभूयिष्ठ –च०क०१।८) कफ (तत्सम और तज्जन्य आम) एव वात की सुलभता के कारण देशवासी भी प्राय मृदु (शिथिल) सुकुमार और स्थूल शरीर वाले तथा जैसा कि ऊपर कहा कफ वात रोगभूयिष्ठ हुआ करते है।

कुछ देर रुक कर आनूप देशो की कफ-वात-प्रकोपकता का विचार कर लें। विस्तार स्वस्थवृत्त के ग्रन्थो में देखा जा सकता है। प्रत्येक दोष के गुण अनेक होते हुए भी उनमें प्रधान गुण एक एक होता है। उसी की क्रिया के आश्रित अन्य गुण भी होते है। कफ का प्रधान गुण मन्द होता है। दूष्य-विशेष के साथ समूर्च्छन अथवा अन्य शब्दो में कहना हो तो दूष्यो (धातुओ-उपधातुओ) से बने हुए विभिन्न अवयवो में स्थान सश्रय होते हुए जिस भी दूष्य या स्थान के साथ कफ का ससर्ग होता है उसके भेद से अथवा सप्राप्ति के भेद से रोग एव उसके लक्षणो का भेद होता है। कफ के मन्द गुण का ही इस दृष्टि से विचार करें और देखें कि अवयव-भेद से किस प्रकार रोग भेद हुआ करता है।

मन्द गुण का प्रभाव आमपच्यमानाशय पर हो तो दो स्मरणीय विकृतियाँ होती हैं। प्रथम तो समान वायु की क्रिया से होनेवाला पाचक पित्त (विविध पाचक रसों) का उदीरण मन्द होता है—उसका प्रमाण तथा वेग अल्प (हायपो-सिक्रीशन) होता है। द्वितीय प्राण, समान और अपान वायुओ के प्रभाव से जो अपकर्षणात्मक तथा वाह्य द्रव्यो को अपने-अपने गन्तव्य स्थान पर ले जाने

१—इस स्थल पर नन्दीमुख, पुण्डरीक, कादम्ब, मद्गु और शतपत्र इन पक्षियो के नाम भी चरक ने दिए है।

के लिए चेष्टाएँ होती हैं, उनमें भी मन्दता (हायपो-मोटिलिटी) आ जाती है। वायुः अपकर्षति (च० शा० ६।१४-१५) इन पदों मे चरक ने पचन-क्रिया में वायु का एक कर्म अपकर्षण बताया है। टीकाकार ने इसका अर्थ अन्नपान को पित्त के संसर्ग में लाना बताया है। इसके साथ ही यह विदित है कि तीनों वायु अन्नपान की बहिर्मुख स्रोत (मलद्वार) की ओर गति के भी कारण हैं। अन्नरस बन जाने पर उसकी हृदय की दिशा में गति समान वायु की क्रिया से होती है। पित्त तथा वायु पर मन्द गुण के प्रभाव के कारण अग्निमान्द्य और अजीर्ण होते हैं, यह बात सरलता से समझी जा सकती है। विशेषतया, बहिर्द्वार के प्रति गति की मन्दता का एक अन्य सुस्मरणीय परिणाम होता है।——

तृतीय अवस्थापाक, जिसमें पुरीष का पिण्डीभाव एवं वायु की पुष्टि होती है, उसका निरूपण करते तन्त्रकार ने कहा है——

पक्वाशयं तु प्राप्तस्य शोष्यमाणस्य वह्निना।
परिपिण्डित पक्वस्य वायुः स्यात् कटुभावतः॥
च० चि० १५।११

अन्नपान के स्नेह तथा द्रव का पचन हो कर पुरीष के पिण्डीभाव का कार्य बहुधा वायु का होगा, यही सभावना सामान्यतया होती है। कारण, क्लेद-शोषण का कर्म वायु का ही कहा गया है। पुरीष के पिण्डीभाव में भी वायु का कर्तृत्व अवश्य है, वात-विकारो में इसी कारण बद्धविट्कता की गणना होती भी है, परन्तु, जैसा कि यहाँ कहा है, यह कार्य प्रामुख्येन अग्नि का ही है। अतएव अतिसार, प्रवाहिका और ग्रहणी जिनमें पिण्डीभाव के विपरीत द्रव मूल प्रवृत्ति हुआ करती है, उनमें अग्नि की मन्दता को ही मुख्य कारण बताया है। इन रोगो तथा अर्श को लक्ष्य कर आचार्य ने कहा है——

अर्शोऽतिसारग्रहणीविकाराः
प्रायेण चाऽन्योन्यनिदानभूताः।
सन्नेऽनले सन्ति न सन्ति दीप्ते
रक्षेदतस्तेषु विशेषतोऽग्निम्॥
अ० हृ० चि० ८।१६४

अग्नि की समता से कैसे मल का पिण्डीभाव होता है, एवं तद्विपरीत अग्नि की मन्दता द्रव मलप्रवृत्ति का कारण कैसे है यह विषय अतिसार की सप्राप्ति के प्रकरण में विशद किया जाएगा। यहाँ इतना ही कहना है कि देश और उसके समान प्रकृति, ऋतु आदि कफ के अनुकूल हों——उसके वर्धक हों——तो कफ की——

विशेषतया उसके मन्द गुण की—वृद्धि होने से अन्य अवयवों के समान आमपच्यमान-पक्वाशय पर भी प्रभाव होता है। इन पंक्तियों में जिस प्रभाव का उल्लेख करना है वह यह है कि, मन्द गुण के प्रभाव से पच्यमानाशय और पक्वाशय में समान और अपान से होनेवाली मल की बहिर्मुख प्रवृत्ति (गति) मन्द हो जाती है। परिणामतया, विशेषतया पक्वाशय या पुरीषधरा कला में पुरीषगत स्नेह तथा द्रव अंश के पचन और शोषण का अधिक समय तत्रत्य अग्नि और वायु को प्राप्त होता है। इससे पुरीष उत्तरोत्तर गाढ़ (बद्ध), पिण्डीभूत तथा वर्तुलीभूत (ग्रथित) होता जाता है। इस स्थिति के आनाह, मलावष्टम्भ, विबन्ध (कब्ज), उदावर्त आदि नाम हैं। इससे वायु का भी अवरोध होकर विकृति में वृद्धि होती है। कफ प्रधान आनूप देशों में विबन्ध, वातप्रकोप, अग्निमान्द्य, अजीर्ण आदि की यह सम्प्राप्ति है। दूध, केला आदि द्रव्य कफ के समान गुणवाले होते हुए भी कइयों में वायु का प्रकोप ही करते देखे जाते हैं। ऐसे पुरुषों को कफ-वात प्रकृति समझना चाहिए। उनमें कफ की वृद्धि इन द्रव्यों के सेवन से होकर महास्रोतपर उल्लिखित रीति से मन्द गुण का परिणाम हो कर आनाह आदि विकार होते हैं।

अन्नरस में भी कफ-प्रकोपक गुणों का आधिक्य आनूप देशों में किंवा कफवर्धक द्रव्यों के अतियोगवश होता है। कुपित कफ अन्नरस के साथ हृदय में पहुँचता है। वहाँ इसका प्रभाव व्यान वायु पर होता है। यह व्यान वायु हृदय और उससे निकलनेवाली दश धमनियों के आकुञ्चन-प्रसारण द्वारा सर्वशरीर में रस (–रक्त) के विक्षेपण का कारण है। कफ के वृद्ध हुए मन्द गुण का प्रभाव व्यान वायु की इस क्रिया पर होने से रस (–रक्त) का विक्षेपण भी वेग और प्रमाण की दृष्टि से मन्द तथा शिथिल हो जाता है। इसे ही प्राचीनों ने सिरा-शैथिल्य और नवीनों ने हायपोटेन्शन (लो ब्लडप्रेशर) कहा है। आयुर्वेद की दृष्टि से, उक्त सम्प्राप्ति को लक्ष्य में रखें तो, इस विकृति का एक कारण कफ का प्रकोप और व्यान वायु की तज्जनित मन्दता है।

कफ के मन्द गुण के साथ पिच्छिल गुण का भी कोप हो तो रस-रक्त में तन्तुमत्ता आ जाती है। वह स्त्यान हो कर (जम कर) कहीं अवरोध उत्पन्न करता है। अवरोध या आवरण स्वयं हृदय के रसवह स्रोतों में हो तो उनमें रस-रक्त के विक्षेपण का निमित्तभूत व्यान वायु अपने मार्ग (क्रिया) में आए इस आवरण के कारण कुपित होता है—कोपवश उसकी आकुञ्चन-प्रसारणात्मक चेष्टा की संख्या तथा तीक्ष्णता में वृद्धि हो जाती है। महास्रोत में ग्रथित मल आदि के कारण हुए अवरोध से समान या अपान वायु का कोप होने से जैसे पुरीष-शूल (इंटेस्टाइनल कॉलिक) आदि होते हैं, याकृत पित्तवह स्रोतों में पित्तके अवरोधवश व्यान वायु का कोप हो कर जैसे उन स्रोतों के स्थान पर शूल (बिलिअरी

कॉलिक) होता है, एवं मूत्रयन्त्र में अश्मीभूत-मूत्रजनित अवरोध के कारण जैसे अपान वायु का कोप हो कर अश्मरीशूल (रीनल कॉलिक) होता है वैसे ही हृदय के रस-रक्तवह स्रोतो में स्त्यानीभूत रस-रक्त के कारण हुए अवरोध से भी व्यान वायु कुपित हो कर न्यूनाधिक हृच्छूल (कॉरोनरी थ्रॉम्बोसिस) होता है।

रस-रक्त इन्द्रियों के अधिष्ठान शिर में स्त्यानता को प्राप्त हो तो पक्षाघात आदि रोग होते हैं। इस प्रकार हुए पक्षाघात आदि रोगों मे वात के आवरणवश हुए प्रकोप में कफ का भी अनुबन्ध होता है, अत रोग साध्य होता है—साध्यमन्येन संयुक्तम् (सु० नि० १।६३)। कारण, रस-रक्त के वेग को तीक्ष्ण करनेवाले भल्लातक, मल्ल, आसव-विशेष आदि द्रव्यों से स्त्यान हुआ रस-रक्त स्थानच्युत हो जाता है। रोग का मूल नष्ट होने से रोग भी नष्ट होता है।

इन्द्रियो के अधिष्ठान मे रस-रक्त के स्कन्दन से सभावित यह स्थिति अमुक रोगियो में ही देखी जाती है। अधिकतर स्वस्थप्राय पुरुषों मे जो स्थिति होती है वह यह कि रस-रक्त का प्रमाण तथा वेग इन अधिष्ठानों मे मन्द होने से तन्द्रा, क्लम, श्रम, भ्रम, आलस्य आदि लक्षणों का प्रादुर्भाव होता है। आनूप देशो में प्राय. जन इन विकृतियो से पीडित होते है यह अनुभवसिद्ध है। इस अवस्था को अंग्रेजी में 'स्लगिशनेस' कहते हैं।

शाखाश्रित कामला में पित्त श्लेष्मा से रुद्धमार्ग (श्लेष्मणा रुद्धमार्ग तत् पित्तं कफहरैर्जयेत्—च० चि० १६।१२५) होता है। अल्पतर रोगियों मे कफ अर्बुद के आकार में हुई वृद्धि के रूप मे होता है। मधुर रस के अतियोग से होनेवाली विकृतियों में आचार्यो ने अर्बुदो की भी गणना की है। मधुर रस से कफ को छोड अन्य किसी दोष का प्रकोप होता नही। सो, मधुर रस के अतियोग का ही नामान्तर कफ-प्रकोप है ऐसा कहें तो असत्य न होगा। किंवहुना, शाखाश्रित कामला में कफजनित अवरोध का एक प्रकार अर्बुदजनित अवरोध होता है। परन्तु प्राय रोगियो मे कफ जनित अवरोध का स्वरूप यह देखा जाता है कि, कफ के मन्द गुण की वृद्धि होने से याकृत पित्त का अयन (वहन) ही मन्दता को प्राप्त होता है। परिणामतया, क्लेदशोषणकर्मा वायु इसके द्रवगुण का शोषण करता है और पित्त को घनीभूत और कभी-कभी वर्तुलीभूत और अश्मीभूत भी कर देता है। इस अवस्था को प्राप्त पित्त इसे पच्यमानाशय में पहुँचाने वाले व्यान वायु के मार्ग (क्रिया) में आवरणरूप होता है। इस आवरण से व्यान कुपित हो उसके आकुञ्चन-प्रसारणात्मक व्यापार की वृद्धि के कारण तीव्र शूल (बिलिअरी कॉलिक) होता है। अवरुद्ध पित्त शरीर के इतर अवयवो में जा कर उनमें हारिद्रवर्णता आदि लक्षण उत्पन्न करता है, परन्तु

पच्यमानाशय में 'मल रञ्जक' इस पित्त के न जाने से पुरीष 'तिलपिष्ट सदृश' रहता है।

कफ के मन्द गुण के कोप से स्रोतोरोध होने के एक-दो अन्य परिणाम प्रस्तुत कर दूँ, जिससे आयुर्वेद का यह प्रकरण विद्यार्थी को हस्तामलक हो जाए।

राजयक्ष्मा की सम्प्राप्ति के तीन अङ्गों में स्रोतोरोध एक है।

स्रोतसा संनिरोधाच्च रक्तादीनाँ च संक्षयात्।
धातूष्मणा चापचयाद् राजयक्ष्मा प्रवर्तते॥

च० चि० ८।४०

यहाँ स्रोतोरोध, रक्तादि शुक्रपर्यन्त धातुओ का क्षय एव धात्वग्नियो की मन्दता इन तीन अङ्गों में यक्ष्मा की सपूर्ण संप्राप्ति समाविष्ट कर दी गई है। यहाँ कहा स्रोतोरोध मुख्यतया कफ के कारण होता है। सुश्रुत ने स्पष्ट कहा है—कफप्रधानैर्दोषैस्तु रुद्धेपु रसवर्त्मसु (सु० उ० ४१।६)। यहाँ रस शब्द से रसादि यावत् वहनशील द्रव्यों का ग्रहण है[1]।

यक्ष्मा मे कफ से (कफ के मन्द गुण से) रस-वह स्रोतों का अवरोध अपने स्थान हृदय और धमनियो मे होता है तो मूलभूत इन स्थानो में अवरुद्ध हुआ रस प्राणवह स्रोतो में सचित होता है। यह रस कफ-मिश्रित हो पिच्छिल, श्वेत, पीत, हरित आदि विविध रूपो मे कास के वेग से मुखमार्ग से प्रवृत्त होता है। तथाहि —

रसः स्रोतःसु रुद्धेषु स्वस्थानस्थो विवर्धते।
स ऊर्ध्वं कासवेगेन वहुरूपः प्रवर्तते॥

च० चि० ८।४३

गुर्जर भाषा में तो अतएव कास को उधरस ('ऊर्ध्वरस' का अपभ्रंश) ही कहते हैं।

यक्ष्मा मे रक्तवह स्रोतों का मार्ग अवरुद्ध हो और वह रक्त मासादि धातुओं के आशयों मे उनके पोपणार्थ न जा कर आमाशय में संचित हो तो उत्क्लेशवश उसकी वान्ति (वमन) होती है।

रक्तं विबद्धमार्गत्वान्मासादीन्नानुपद्यते।
आमाशयस्थमुत्क्लिष्टं वहुत्वात्कण्ठमेति च॥

च० चि० ८।५८

१—रसवर्त्मसु इत्यत्र आदिशब्दो लुप्तो ज्ञेय.। तेन रसादिवाहिनीषु धमनीष्वित्यर्थः—डल्लन।

टीकाकार ने इसे केवलरुधिरच्छर्दन (केवल नाम अकेले––कफरहित––रक्त का वमन) कहा है। आर्तव अवरुद्ध होने से कभी-कभी नासा आदि मार्गो से प्रवृत्त होता है। आधुनिकों ने इसे विकारिअस मेस्ट्रुएशन नाम दिया है। ऐसी ही स्थिति स्रोतोरोधज रक्तवमन में होती है। प्राणवह स्रोतों के (उर के) कफ का स्थान होने से इस स्थान से जो रक्त प्रवृत्त होता है, उसका निर्देश इस पद्य से पूर्व के पद्य में तन्त्रकार ने किया है। इसे सकफ रक्त-प्रवृत्ति नाम टीकाकार ने दिया है। नवीन लेखक इसे रक्तष्ठीवन नाम देते है।

कफ के मन्द गुण का प्रभाव श्लेष्मधरा कलाओ पर हो तो श्लेषक कफ उत्पन्न (पुष्ट) हो व्यान वायु द्वारा पुनः गृहीत हो कर सर्वशरीर में प्रसारित किया जाता रहता है। कफ का ग्रहण करनेवाले स्रोत सर्वथा रुद्ध हो या उन पर मन्द गुण का प्रभाव हो तो कफ अधिक या न्यून प्रमाण मे संचित होकर शोथ उत्पन्न करता है। उदरधरा (पेरीटोनियम) में इस प्रकार कफ के सचय से जलोदर, सधियों की श्लेष्मधरा में कफ सचित होने से सधिशोथ, हृदयधरा कला (पैरी-कार्डियम) में कफ की सचिति से कफज हृद्रोग एवं फुफ्फुसधरा (प्लुरा) में कफ-प्रचिति से जलपार्श्व (वेट प्लुरिसी ; प्लुरिसी विथ इफ्युझन) होता है। जलपार्श्व सज्ञा नवीन है तथा जलोदर नाम की अनुकृति मे रची गयी हे। कदाचित् यह प्राचीनो का कफज पार्श्वगुल्म हो। अस्तु। ये सर्व कलाएँ चेष्टाओ के समय चेष्टा को सुगम वनाने का प्रयोजन सिद्ध करती हैं, अत. इन्हें श्लेष्मधरा कला का लक्षण देखते हुए श्लेष्मधरा नाम ही देना चाहिए तथा तदन्तर्गत द्रव द्रव्य को श्लेपक कफ ही कहना चाहिए। सुश्रुत शारीर-स्थान में सधि प्रकरण में अस्थिसधियो का मुख्य नाम सधि दिया है, परन्तु अवयवमात्र की सधि को भी सधि कहा गया है[1]। सु० उ० ३९।५१-५४ में विषमज्वरो तथा प्रलेपक ज्वर (राजयक्ष्मा का लक्षणभूत ज्वर) की संप्राप्ति के प्रकरण में प्रलेपक ज्वर को सधिस्थ दोषो से उत्पन्न होनेवाला कहा है। इन सर्व ज्वरो की सप्राप्ति वताते हुए कहा गया है कि अन्त को दोष जव आमाशय में पहुँचता है, तो ज्वर का वेग होता है। इन में प्रलेपक ज्वर में यह विशिष्टता होती है कि इसका वेग नित्य वर्तमान रहता हे। उसका कारण यह वताया गया है कि दोष आरम्भ में सधियो में विद्यमान होता है। इन सधियो में आमाशय की सधियाँ भी अन्तर्भूत है ही। आमाशय की सधियो से आमाशय में दोष को जाने मे समय

१––देखिये

अस्थ्ना तु सधयो ह्येते केवला· परिकीर्तिताः।
पेशीस्नायुसिराणां तु सधिसख्या न वर्तते॥

सु० शा० ५।२८

की अपेक्षा नही होती। परिणामतया, प्रतेपक में ज्वर सदा वर्तमान रहता है। इस प्रसग में आमाशय की सधियो को भी सधि कह कर संधि शब्द के प्रयोग की व्यापकता तन्त्रकार ने दर्शायी है। किं बहुना, इन दो प्रकरणों को देखते हुए, अस्थि-सधियो के समान हृदय, फुफ्फुस और उदर की सधियो को भी संधि मानना आयुर्वेद-विरुद्ध कल्पना नही है। अथच, इन सधियो में स्थित कलाएँ भी श्लेष्म-धरा कलाएँ ही हैं, एव इनमें स्थित द्रव श्लेषक कफ ही है और उसका कार्य अस्थिसधियो के सदृश इन अवयव-सधियो की आकुञ्चनादि-रूप चेष्टाओं को 'साधु' बनाना ही है। इस विवेचन से निदान-चिकित्सोपयुक्त यह सत्य समझ कर बुद्धिस्थ कर लेना चाहिए कि—सप्राप्ति के साम्य को लक्ष्य में रखते हुए सधिशोथ में श्लेषक कफ के सचय का जो उपचार किया जाता है प्राय वही उपचार जलपार्श्व तथा हृदयधरा कला में कफ-प्रचिति में भी करना चाहिए। सहसा नव्यमताभिभूत हो अपने मार्ग से च्युत होने की कोई आवश्यकता नहीं है। सधिशोथ भी यक्ष्मा, पूयमेह, फिरग आदि किसी भी कारण से हो उसका उपचार आमवात प्रभृति प्रकरणो में निर्दिष्ट उपचार-पद्धति का अवलम्बन करते हुए लङ्घन, रूक्ष स्वेद आदि के रूप में करना चाहिए।

आनूप देश का विचार करते हुए इस प्रकरण में हमने दर्शाया है कि, किस प्रकार इस देश में जलप्रायता के कारण प्रकुपित हुआ कफ विशेषतया अपने मन्द गुण के प्रभाव से तत्-तत् विक्रिया उत्पन्न किया करता है। आनूप देश-सुलभ इतर विकृतियो का भी विचार इसी परिपाटी से किया जा सकता है। आसाम, बगाल आदि प्रदेश आनूप हैं।

आनूप देश के लक्षणो के पश्चात् अब प्रकरण-प्राप्त मरु देश के लक्षणो का निर्देश करते हैं।

मरु (जाङ्गल) देश के लक्षण—जाङ्गल, मरु या धन्वदेश की स्मरणीय विशेषता यह है कि उसमें देशस्वभाववश वात और पित्त का प्रकोप विशेष होता है, अतः इन्ही दो दोषो से होनेवाले रोगो का प्राधान्य उसमे (वात-पित्त-रोग-भूयिष्ठः—सु० सू० ३५।४२) होता है। कारण, इसमें वर्षा न्यून होती है; नदी आदि प्रवाहो, सरोवरो और कूपो में भी जल स्वल्प होता है। वायु उष्ण और दारुण (क्लेशप्रद) होता है (यह वायु 'लू' नाम से भाषा में प्रसिद्ध है)। इसमे पर्वत और टेकरियाँ छोटी-छोटी और दूर-दूर स्थित होती हैं। भूमि में निम्नोन्नत स्थान विशेष नहीं होते—वह सम होती है। वृक्ष भी (जल की अल्पता के कारण) छोटे-छोटे, दूर-दूर स्थित और प्राय कण्टकी होते हैं। भूमि का समतल होना और वृक्षो की बाधा न्यून होना इन कारणो से इस भूमि को आकाश की उपमा दी जाती है।

भूमि (धरती) मे पतली, खर और परुष वालुका (सिकता, रेती) और शर्करा (कंकरी) वहुत होती है। और वह अविरत मृगतृष्णिका (मृग मरीचिका) से परिव्याप्त होती है। वनो मे खदिर, विट्खदिर (अ-इ-रिमेद ; खेर का भेद जिसके मूल मे विट् नाम पुरीष-सदृश दुर्गन्ध होती है), असन (विजयसार) अश्वकर्ण, धव, तिनिश, शल्लकी (कुदरू नामक निर्यास--गोद--जिससे निकलता, है वह वृक्ष), साल, सोमवल्क, वदरी (वेर), तिन्दुक, अश्वत्थ (पीपल), वट, आमलकी वहुत होते हैं। यत्र-तत्र शमी, शीशम और अर्जुन दृष्टिगोचर होते हैं। इनकी नूतन शाखाएँ शुष्क (अनार्द्र) और स्थिर (अविरत) वायु के वेग से कम्पित और नर्तित रहती हैं। पक्षियो में लाव, तित्तिरि (तीतर) तथा चकोर प्राय. देखे जाते हैं।

भूमि और वायु के उल्लिखित स्वभाव-विशेषवश पुरुषो मे (स्निग्ध गुण का ह्रास हो कर रूक्षता की वृद्धि एवं उष्णत्व इन दो गुणो के कारण क्रमश·) वात और पित्त का कोप सविशेष पाया जाता हैं। इसी कारण पुरुष भी प्रायः (अधिकांश) कठिन (दृढ, मजबूत), कृश और स्थिर (श्रम और शीत-उष्ण आदि द्वंद्वो के सहन में समर्थ) शरीरवाले होते है।

उष्ण गुण यद्यपि शीतगुण वायु का शामक होता है, तथापि उष्णता से शरीरगत स्नेह और द्रव भाग का पचन और शोषण होता है, जिससे रूक्ष और शुष्क गुणो की शरीर मे वृद्धि होती है। अतः उष्ण गुण के साथ स्निग्धगुण का योग न हो तो रूक्ष और शुष्क गुणवाले वायु का सचय, वृद्धि और कोप ही उष्ण देश और काल मे स्वभावसिद्ध होने से होता है। कच्छ, राजस्थान आदि प्रदेश जाङ्गल, मरु या धन्वदेश के उदाहरण है।

साधारण देश का लक्षण--जिस देश (भूमि) मे शीत (सर्दी, ठढ), वर्षा ऊष्मा (गरमी) और वायु (हवा) पूर्वोक्त दोनों देशों के मध्यवर्ती हो ; जैसे वर्षा न वहुत अधिक हो न न्यून इत्यादि ; वृक्ष-वनस्पतियाँ एव पशु-पक्षी भी कुछ-कुछ दोनो देशों के हों, इन्ही कारणों से जहाँ दोषों का प्रमाण सम रहे , एव जहाँ के निवासी स्त्री-पुरुषों के शरीर दोनो देशों मे कहे समान गुणों वाले, स्थिर, सुकुमार, वलवान्, वर्णयुक्त तथा सहनन-संपन्न (सुडौल) हों उस देश को साधारण कहते है।

मरुभूरारोग्यदेशानाम्, अनूपोऽहितदेशानाम् (श्रेष्ठः)।
च० सू० २५।४०

सूत्रस्थान के पच्चीसवे अध्याय मे चरक ने तत्-तत् कर्म करनेवाले द्रव्य आदि में श्रेष्ठ एक-एक भाव का निर्देश किया है। इस प्रकरण मे भूमियो के तीन भेदों का स्वरूपोल्लेख करते उसने कहा है--आरोग्य के लिए मरुभूमि

(सूखी जलवायुवाला देश) सर्वोत्तम है। इसके विपरीत आनूप देश आरोग्य के लिए सबसे अधिक अहित (निकृष्ट) है। साधारणतः ऐसा अनुभव होता है। इसी से आनूप देश के निवासी पुरुष को दमा, श्वास आदि रोग हों तो उसे जाङ्गल देश मे भेजा जाता है।

देश-ज्ञान का प्रयोजन—

ऊपर दिए मरु और आनूप देशों के उदाहरण से देशज्ञान का यह प्रयोजन समझा जा सकता है। किसी देश में मरुदेश किंवा आनूप देशों के लक्षण कितना अंश है यह जानकर निर्णय किया जा सकता है कि अमुक प्रकृतिवाले पुरुष के लिए, सामान्यतया बारहों मास, विशेषतया ऋतु-विशेष में यह देश आरोग्य की रक्षा की दृष्टि से कितना उपयुक्त है, आरोग्य के रक्षण के लिए किन गुणवाले किन द्रव्यों का कितने प्रमाण में सेवन आवश्यक है एवं उसका विहार कैसा होना चाहिए, जिससे उसका स्वास्थ्य बना रहे।

अमुक प्रकृतिवाला पुरुष अमुक ऋतु में अमुक देश में किसी रोग से पीड़ित हुआ तो रोग की साध्यासाध्यता के निश्चय में भी देशज्ञान उपयोगी होता है। सुख-साध्य रोगो के लक्षण में एक लक्षण रोगारम्भक दोष से देश का गुण विपरीत होना बताया है, जैसे जाङ्गल देश में कफज रोग की उत्पत्ति। चिकित्सा में भी आहार, औषध और विहार देश-विपरीत रहे यह लक्ष्य में रखना चाहिए।

कभी-कभी जैसा कि ऊपर कहा, देश दोष और रोग का प्रकोपक हो तो देश-त्याग का भी विचार करना पड़ता है। कारण?—

न तथा बलवन्तः स्युर्जलजा वा स्थलाहृताः।
स्वदेशे निचिता दोषा अन्यस्मिन् कोपमागताः॥[1]

सु० सू० ३५।४८

जलज (आनूप देश में हुए) रोग (उनसे पीड़ित रोगी) यदि स्थल (जाङ्गल देश) में लाए जाएँ तो उतने बलवान् नहीं होते, जैसे आनूप देश में होनेवाला श्लीपद रोग जाङ्गल देश में हो या उससे पीड़ित पुरुष जाङ्गल देश में जाए तो उसका (रोग का) बल इतना अधिक नही होता। आनूप देश के विपरीत जाङ्गल देश के गुणों से, तथा उस देश में प्रचलित आनूप-विपरीत आहार-विहार के बल से रोग और रोगारम्भक दोष का बल क्षीण हो जाता है। इसी प्रकार जाङ्गल-देशज रोगो की शक्ति आनूप देशो में जाने पर क्षीण हो जाती है।

१—इस पद्य की व्याख्या के लिए डल्हन तथा चक्रपाणि की व्याख्याएँ देखिए।

रोगों के सदृश ही दोषो का बल भी विपरीत गुणवाले देश मे जाने पर न्यून हो जाता है। यथा, आनूप देश मे कफ का सचय हुआ हो और उसका प्रकोप तथा उससे रोगोत्पत्ति तद्विपरीत जाङ्गल देश में हुई हो तो दोष का बल उतना नही होता।

देश-विदेश मे दोपो के साम्य का नियम—दोष का सचय, प्रकोप और उससे रोगोत्पत्ति समानगुण देश में हो तो देशत्याग ही उसका एकमात्र उपाय है यह नही समझना चाहिए। जैसे, ऋतु-विशेष आने पर उसके गुणो के विपरीत आहार-विहार का सेवन करने से ऋतुस्वभाव-सुलभ दोष का कोप विशेष नही होने पाता, वही स्थिति देश की भी है। तथाहि :

उचिते वर्तमानस्य नास्ति देशकृतं भयम्।
आहारस्वप्नचेष्टादौ तद्देशस्य गुणं सति[1]॥

सु० सू० ३५।४५

पुरुष जिस देश में रहता हो वह जिस दोष का प्रकोपक हो उसके विपरीत गुणवाले आहार, विहार (चेष्टा) निद्रा आदि का सेवन करे तो देश से उसे कोई भय होता नहीं। तथापि, पुरुष देश या दोष के समानगुण आहार, विहारादि का सेवन करे तो देश उसके लिए क्लेशकारक होता ही है। यथा, आनूप देश में कफ का सचय हुआ हो और पुरुष, रूक्ष, उष्ण, तिक्त आदि गुणवाले आहार आदि का सेवन करे तो कफ की वृद्धि विशेष नही होती। इसके विपरीत, पुरुष अनूप देश में संचित कफ से पीडित हो, वह कफ-प्रत्यनीक जाङ्गल देश मे जाकर रहे, और वहाँ दिवास्वप्नादि कफ-प्रकोपक आहार-विहार का उपयोग करे तो उसका कफ कुपित होकर उसे रोग-पीडित करता ही है।

व्यवसाय में सदा ही यह सभव नही होता कि रोगी देश के समान गुण वाले दोष से पीडित हो तो उसे देश-त्याग (जलवायु-परिवर्तन) कराया जा सके। ऐसी स्थिति में व्यथित होने की आवश्यकता नहीं। दोष तथा देश के विपरीत-गुण आहार-विहारादि की कौशलपूर्वक योजना वैद्य को करनी चाहिए। कारण, उचिते वर्तमानस्य नास्ति देशकृतं भयम्।

देश के विचार में यह प्रयोजन तो आ ही गया है कि भिन्न-भिन्न देशो में आहार-विहार भिन्न-भिन्न होता है, जिसके कारण तत्-तत् देश मे तत्-तत् रोग की संभावना रहा करती है। देश का अर्थ जाङ्गल आदि लें या पञ्जाब, गुजरात आदि, देश के भेद से बल-भेद भी रहा करता है। तथाहि—बलवृद्धिकर भावों

१—इस पद्य की व्याख्या के लिए डल्हन तथा चक्रपाणि की व्याख्याएँ देखिए।

(वस्तुओं) की गणना में चरकाचार्य ने प्रथम ही कहा है—बलवत्पुरुषे देशे जन्म (च शा ६।१३) नाम, जिस सैन्धव (पश्चिम पाकिस्तान का पश्चिमोत्तर प्रदेश) आदि देश में पुरुष देश-स्वभाववश बलवान् होते हैं, उसमें पुरुष का जन्म हो तो वह बलवान् होता है। इसके विपरीत कई देशों में बल अल्प और कइयों में मध्यम रहा करता है। सो इस दृष्टि से भी देश का विचार सप्रयोजन होता है।

जल के गुण-अवगुण की दृष्टि से भी देश का विचार उपयुक्त होता है। सामान्यतया कूप-तडागादि का जल वे अनूप-प्रभृति जिस देश में स्थित हों उसके अनुसार होता है[1]। यथा—

अनूपदेशे यद्वारि गुरु तच्छ्लेष्मवर्धनम्।
विपरीतमतो मुख्यं जाङ्गले लघु चोच्यते॥

च० सू० २७।१४ पर चक्रपाणिधृत हारीत-वचन

अनूपदेश के कूपादि का जल गुरु अतएव श्लेष्म-प्रकोपक होता है; इसके विपरीत जाङ्गल देशज कूपादि का जल लघु (और पथ्य) होता है। सुश्रुत ने मरुदेशीय नदियों के जल के गुण बताते स्पष्ट कहा है:

प्रायेण नद्यो मरुषु सतिक्ता लवणान्विताः।
लघ्व्यः सुमधुराश्चैव पौरुषेया बले हिता[2]॥

सु० सू० ४५।२३

मरुदेशज नदियाँ प्राय मधुर-तिक्त-लवणरस, लघु, बल्य और वृष्य होती है। ('ईषत्कषाया मधुरा लघुपाका बले हिताः' इस पाठान्तर में ये नदियाँ मधुररस, कषाय-अनुरस, लघुविपाकी तथा बल्य होती हैं)।

हिमालय की अधित्यका (उपरि-भाग) से उत्पन्न नदियो का जल पत्थरों से हुए क्षोभ के कारण पथ्य होता है। उसकी उपत्यका (अधोभाग, आसन्न भाग या तराई, तलहटी) से उत्पन्न नदियाँ हृद्रोग, श्वयथु, शिरोरोग (शिरोवेदना), श्लीपद, गलगण्ड रोगों को उत्पन्न करती हैं। सुश्रुत में इन्ही को लक्ष्य में रखकर कहा है—हिमवत्प्रभवा हृद्रोगश्वयथुशिरोरोगश्लीपदगलगण्डान् (सु० सू० ४५।२१)। देहरादून आदि में आज भी गलगण्ड बहुत देखा जाता है।

१—देखिए च० सू० २७।२१४। जलो के गुणो का स्थल च० सू० २७।२०९–२१६, सु० सू० ४५।२१–३७ तथा चक्रपाणि-डल्हन।

२—यहाँ मरु शब्द जाङ्गल देश का वाचक नही है, मरु नाम से प्रसिद्ध देशो (रेगिस्तानो) का वाचक है—मरुषु प्रसिद्धेषु मरुदेशेषु, न तु जाङ्गलशब्दाभिहितेषु पौरुषेया वृष्या इत्यर्थः।—डल्हन।

मलय पर्वत से निकली नदियों मे भी जो पत्थर और वालुकायुक्त होती है उनका जल सुपथ्य होता है। परन्तु जिनमें ये नही होते उनका जल कृमिकर होता है।

पारियात्र पर्वत से निर्गत जो नदियाँ तडाग से निकलती है वे पथ्य, बल्य और आरोग्यकर होती है। परन्तु इसी पर्वत से निःसृत जो नदियाँ दरी से उत्पन्न हो वे एव विन्ध्य और सह्य से उत्पन्न होनेवाली नदियाँ शिरोरोग, हृद्रोग, कुष्ठ और श्लीपद उत्पन्न करती है[1]। सुश्रुत ने लिखा है कि—सह्य की नदियो के जल से कुष्ठ (विविध त्वग्रोग) होते है और विन्ध्य की नदियो से कुष्ठ और पाण्डुरोग। महेन्द्र पर्वत की नदियो के जल से श्लीपद और उदर रोग होते है।

उज्जयिनी के पूर्व और पश्चिम दिशा मे स्थित पर्वतों से निकली नदियों से अर्श होते है।

नदियों के प्रभव के उक्त विचार के अतिरिक्त उनके मुहाने की दृष्टिसे भी गुण-अवगुण का विचार प्राचीनों ने किया है। तथाहि. पूर्व समुद्र (बगाल की खाडी) को जानेवाली नदियाँ प्राय. गुरु अतएव अप्रशस्त होती है। प्राय. इसलिए कि हिमालय से निर्गत होने के कारण गङ्गा पथ्य होती है। पश्चिम समुद्र (आज के अरवी समुद्र[2]) को जानेवाली नदियाँ लघु जलवाली

१—तटादागो गतिर्यस्य स तडागः, स पुनरुच्चदेशादागच्छज्जलवन्धनाद् भवति। अन्ये तु पुष्करिणी तड़ागमाहु.—च० सू० २७।२१४ पर चक्रपाणि। तात्पर्य—ऊपर से गिरता हुआ पानी नीचे नैसर्गिक बन्ध के कारण अटक कर जो जलाशय वने उसे उक्त व्युत्पत्ति के अनुसार **तडाग** कहते हैं। कोई कमलयुक्त जलाशय को तडाग कहते है।

च० सू० २७।२१२ की टीका मे चक्रपाणि ने विश्वामित्र-वचन के द्वारा तडागमात्र से उत्पन्न नदीजल को वलारोग्यकर तथा दरीज नदी के जल को दोपल कहा है।

दो पर्वतो के मध्य की निम्न भूमि (दून, वेली) जो पुराकाल मे जल के प्रवाह से भूमिका विदरण (खनन) होने से वनी होती है, उसे इसी कारण **दरी** कहते है। इसी का पर्याय **कन्दरा** है। उसमे भी यही धातु तथा जलवाचक शब्द 'क' है, जो उक्त अर्थ का ही सूचक है। कन्दरा का अर्थ गुफा प्रचलित हो गया है। वह अशुद्ध है।

२—इस प्रकरण मे चरक-सुश्रुत दोनो ने अरवी समुद्र को पश्चिम समुद्र ही नाम दिया है। अन्यत्र भी (यथा सुश्रुत तथा वाग्भट के कुष्ठ चिकित्साधिकार—>

अतएव पथ्य होती हैं। दक्षिण समुद्र (आज के हिन्द महासागर) को जानेवाली नदियाँ साधारण नाम नातिगुरु-नातिलघु होने से बहुत दोषल नहीं होतीं।

किं बहुना, आयुर्वेद में देश का जो विचार रोग-परीक्षाविचार में किया है, उसमें एक मूल अनूपादि भेद से किंवा प्रभवस्थानादि के भेद से नदियों के जल के गुणावगुण तथा पथ्यत्वापथ्यत्व में भिन्नता होना भी है।

देश के विचार का अन्य प्रयोजन, जैसा कि इस प्रकरण के आरम्भ में कहा है, औषध का परिज्ञान है। औषध-ग्रहण के लिए आनूप देश प्रशस्त नहीं है। च० क० १।८-११ में औषधोपयुक्त भूमि इत्यादि का विचार किया है। उसमें आरम्भ में ही कहा है—तत्र देशे साधारणे जाङ्गले वा (च० क० १।९)—नाम, उपचारार्थ औषध इन दो देशों से ही लेनी चाहिए।

साधारण और जाङ्गल देश में भी स्थल-भेद से द्रव्यों के औषधीय गुण में कुछ भेद होता है। तथाहि—हिमालय को लक्ष्य में रखकर कहा गया है—

ओषधीनां परा भूमिर्हिमवाञ्छैलसत्तमः।
तस्मात्फलानि तज्जानि ग्राहयेत्कालजानि तु ॥
च० चि० १।१।३८

अन्यत्र भी इसी आचार्य ने कहा है—हिमवानोषधिभूमीना (श्रेष्ठः)—च० सू० २५।४०।

देश कोई भी हो, उसके स्वरूपादि में परिवर्तन हो जाए तो जनपदोद्ध्वंसक व्याधियों की आशङ्का होती है। देश, वायु, जल और काल में जनपदोद्ध्वंसक विकृति उत्पन्न होने से आहार-औषध द्रव्य यदि भूमि पर लगे हों तो उनके गुणों में भी हानि हो जाती है। अत, इनकी विकृति होनेवाली हो उसके पूर्व ही इन्हें उखाड लेने का उपदेश अग्निवेश ने किया है। (देखिए—जनपदोद्ध्वंसनीय अध्याय—च० वि० ३)।

इस प्रकार रोग-परीक्षा में परीक्षणीय देश का विचार संपूर्ण हुआ। अब आगे परीक्ष्य काल तथा ऋतु का विचार करते हैं।

←—से, तुवरक के उल्लेख में) इसे पश्चिम समुद्र नाम ही दिया गया है। अन्य प्राचीन वाङ्मय में भी इसका यही नाम आया है—यथा आर्यावर्त के लक्षण में मनुस्मृति में। यही नाम प्रचलित करना चाहिए। आज भी समुद्र तटवर्ती देश का समुद्र पर अधिकार तीन-चार मील तक ही माना जाता है। उस दृष्टि से भी अरब का कोई संबंध इस समुद्र के साथ न होने से यह नाम विचारापेक्ष है।

काल और ऋतु की परीक्षा[1]

काल: पुन: संवत्सरश्चातुरावस्था च ॥

च० वि० १।३०, च० वि० ८।१२५

आयुर्वेद में काल के दो अर्थ हैं—संवत्सर (वर्ष) तथा आतुरावस्था (रोगी की भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ)।

वर्ष के भिन्न-भिन्न भागो मे भिन्न-भिन्न दोषो का सचय, प्रकोप और प्रशम ऋतु-स्वभाववश हुआ करता है, उद्भिज्जों मे उनके वीर्य का तथा प्राणियों में वलावल का तारतम्य ऋतु-भेद से भिन्न-भिन्न होता है; तत्-तत् ऋतु मे तत्-तत् अवस्था को लक्ष्य मे रखकर तत्-तत् दोष का सशमन या सशोधन किया जाता है; इसके अतिरिक्त अहोरात्र मे भी तत्-तत् विभाग मे तत्-तत् दोष का सच्य, प्रकोप और प्रशम हुआ करता है; अहोरात्र या सवत्सर मे दोष-विशेष के प्रकोप का समय आने पर उससे होनेवाले रोगों का उदय होता है, किवा वे पहले से विद्यमान हों तो उनके बल में वृद्धि होती है। सक्षेप में संवत्सर-रूप काल के विषय मे ये वातें विचारणीय होती है। इस काल को नित्यग भी कहते है।

रोगी या रोग की वाल्य, यौवन आदि किवा सामता, निरामता आदि विभिन्न अवस्थाएँ होती है। अमुक अवस्था में औषध देना योग्य होता है। उस अवस्था को उस औषध का काल कहते है तथा शेष को अकाल। आतुरावस्था रूप काल का यह सक्षेप में लक्षण दिया है। अब काल के उभय भेदों का यथावश्यक विवेचन किया जाता है।

वर्ष के विभाग—

वर्ष या सवत्सर के अनेक प्रकार से विभाग अवस्था-भेद से किये जाते हैं। इनमे प्रथम विभाग उत्तरायण और दक्षिणायन ये दो अयन है। जिस काल में सूर्य का उत्तर दिशा में गमन होता है उसे उत्तरायण कहते है। इसमें तीन ऋतुएँ होती है—शिशिर, वसन्त और ग्रीष्म[2]। इस काल मे पृथिवी के सौम्य

१—स्थल च० सू० ६।४-७, च० वि० १।३०, च० वि० ८।१२५-१२८, च० चि० ३०।२९६-३१२, च० सि० ६।४-६, सु० सू० ६।३-१४, सु० सू० ६।३८, सु० उ० ६४।६५-८४ इन पर चक्रपाणि और डल्हन।

२—राशियो की दृष्टि से विचार करे तो उत्तरायण मे मकर से मिथुन-पर्यन्त छ राशियाँ होती है तथा दक्षिणायन मे कर्कट से धनु पर्यन्त छ। सूर्य दक्षिण से उत्तर दिशा मे गमनोन्मुख होता है तो दोनो अयनो का सक्रान्ति-काल मकर-सक्रान्ति नाम से प्रसिद्ध है।

अंश (पाठान्तर—सौम्य रस) का तथा प्राणियों के बल का स्वभावत आदान नाम नाश होता है, अत इसे आदान काल भी कहते हैं।—आददाति क्षपयति पृथिव्याः सौम्यांशं (सौम्यं रसं) प्राणिनां च बलमित्यादानम् (च० सू० ६।४पर चक्रपाणि) यह आदान शब्द की व्युत्पत्ति है।

दक्षिणायन में सूर्य की गति दक्षिण दिशा में होती है। इसमें तीन ऋतुओं का समावेश होता है—वर्षा, शरद् और हेमन्त। स्वभाववश इस काल में उद्भिज्जो में आप्य अंश का तथा प्राणियो में बल का विसर्जन नाम उत्पत्ति होती है, अत इसे विसर्ग काल भी कहा जाता है।—विसृजति जनयत्याप्यमंशं प्राणिनां च बलमिति विसर्गः—यह इस पद की व्युत्पत्ति है।

सक्षेप में इन दो अयनो के इतने परिचय के पश्चात् इनके स्वभाव-भेद का कारण देखिए।—

दक्षिणायन काल मे अर्थात् वर्षा, शरद् और हेमन्त ऋतुओ में वायुएँ काल-स्वभाववश विशेष रूक्ष नही होती। दूसरी ओर, काल-स्वभाव, सूर्य के दक्षिण दिशा में जाने का विलक्षण प्रभाव, मेघ, वायु, वर्षा इत्यादि के कारण सूर्य का बल न्यून हो जाता है। परिणामतया, उसके विपक्षभूत चन्द्रमा का बल वृद्धि को प्राप्त होता है। उसकी शीतल किरणो के प्रभाव से स्थावर-जङ्गमात्मक सृष्टि अर्थात् उद्भिज्जो और प्राणियो का उत्तरोत्तर पोषण होता है। वर्षा के जल के प्रभाव से सृष्टि मे उष्णता भी न्यून हो जाती है। इस स्थिति का परिणाम यह होता है कि, उद्भिज्जो में रूक्ष-गुण विरोधी अम्ल, लवण और मधुर रस क्रमश वृद्धि को प्राप्त होते हैं; अर्थात्—वर्षा में अम्ल रस की विशेष पुष्टि होती है, शरद् में लवण की तथा हेमन्त मे मधुर रस की।

उल्लिखित परिस्थिति के कारण ही जङ्गम सृष्टि में—मनुष्यों तथा अन्य प्राणियो मे—तीनो ऋतुओ में बल की क्रमश. वृद्धि होती है। क्रमश का अर्थ यह है कि, वर्षा में पूर्व ऋतु ग्रीष्म की अपेक्षया अमुक प्रमाण में बल की वृद्धि होती है, शरद् में उससे अधिक और हेमन्त में उससे भी अधिक (समग्र ऋतुओ में सबसे अधिक) बल की वृद्धि होती है।

उद्भिज्जो मे स्नेहांश एव रूक्ष-विरोधी रसो तथा प्राणियो में बल के विसर्जन (उत्पादन) का निमित्त होने से, जैसा कि ऊपर कहा, दक्षिणायन को विसर्ग-काल भी कहते हैं।

उत्तरायण में दक्षिणायन से ठीक विपरीत परिस्थिति होती है। वायुएँ इस काल मे अति रूक्ष और तीव्र (अशान्त) होती हैं। ये वायुएँ स्थावर-जङ्गमो के स्नेहांश (सार, सौम्य भाग) का शोषण करती हैं। सूर्य भी अपनी किरणो से जगत् के स्नेहांश का ग्रहण करता है। दोनों की इस क्रिया का परिणाम यह

होता है कि, उद्भिज्जों मे रूक्ष रस—तिक्त, कषाय और कटु क्रमश वृद्धि को प्राप्त होते है तथा प्राणियों मे बल उत्तरोत्तर न्यून होता जाता है। 'क्रमश.' और 'उत्तरोत्तर' का आशय पूर्ववत् यह है कि, शिशिर में अपने से पूर्ववर्ती ऋतु हेमन्त की अपेक्षया रूक्षता, तिक्त रस और दौर्बल्य की वृद्धि अमुक प्रमाण मे होती है। वसन्त में रूक्षता और बलहानि शिशिर की अपेक्षया अधिक होती है तथा रसों मे तिक्त रस की विशेष पुष्टि होती है। अगली ऋतु ग्रीष्म मे रूक्षता और दुर्बलता अत्यधिक (सारे वर्ष में सबसे अधिक) होती है तथा रसों मे कटुरस की पुष्टि अधिक होती है।

उद्भिज्जो और प्राणियो के स्नेहांश और प्राणियो के बल का आदान (ग्रहण) करनेवाला होने से उत्तरायण, नाम शिशिर, वसन्त और ग्रीष्म इन ऋतुओ के समुदाय को आदान काल कहा जाता है। (चिकित्सा-व्यवसाय मे इससे यह बोध ग्रहण करना चाहिए कि इस ऋतु मे जो रोग उत्पन्न हो या वृद्धि को प्राप्त हों उनमे आदान-काल सुलभ धातुक्षय किंवा वात प्रकोप प्राय. कारणभूत होता है। चिरकारी रोग, जिनमे कभी-कभी कारण का निश्चय करना सरल नही होता, उनमें इस संप्राप्ति को स्मरण रखना चाहिए।)

तत्-तत् अयन तथा ऋतु मे उद्भिज्जो मे तत्-तत् रस की पुष्टि (अधिकता) का कारण यह है कि, काल के प्रभाव से उस अयन और उस ऋतु मे तत्-तत् रस के आरम्भक महाभूतों की अधिकता हो जाती है[1]। एव, आदानकाल मे प्राणियो के बलक्षय का तथा विसर्ग-काल मे बलवृद्धि का एक कारण यह भी है कि इन कालो में क्रमश. रूक्ष और अरूक्ष रसो की उत्पत्ति सविशेष होने से उनका सेवन भी स्वभावत. अधिक प्रमाण में होता है।

अयनों के उल्लिखित स्वभाव-विशेष का कारण मुख्यतया सूर्य की गति होती है। स्थावर-जङ्गम सृष्टि पर सूर्य-किरणों की क्रिया प्राच्य-प्रतीच्य उभय विज्ञानो से सिद्ध है। सूर्य की ही सुषुम्ण-नामक एक आरोग्य-प्रद किरण चन्द्रमा में जाती है। यह नवीनों की अल्ट्रा-वायोलेट किरण प्रतीत होती है। प्रकाश की कारणभूत सात, उष्णता की कारणभूत इन्फ्रा-रेड नामक एक तथा बल-पुष्टिकारक रसायनिक क्रियाकारी अल्ट्रा-वायोलेट-सञ्ज्ञक एक—इस प्रकार समस्त नव किरणें सूर्य से चन्द्र मे जाती है। चन्द्रमा इनमे प्रथम दो को प्राय

१—यथा, ग्रीष्म मे अग्नि और वायु के गुणो का बाहुल्य होता है, अत इन महाभूतो के आधिक्य वाले कटु रस की उत्पत्ति ग्रीष्म मे होती है। एव वसन्त मे पृथिवी और वायु महाभूतो के गुणो का आधिक्य होता है, अत उनके आधिक्य से उत्पन्न होनेवाले कषाय रस की पुष्टि वसन्त ऋतु मे होती है।

अपने मे समाविष्ट कर लेता है। केवल एक को भूलोक के प्रति परावर्तित करता है। वर्षा आदि के कारण सूर्य की शेष दो किरणों का बल जिस काल उपहत होता है, उस काल चन्द्र की उक्त परावर्तित किरण को क्रिया करने का प्रसग सविशेष उपलब्ध होता है।

इस प्रकार चन्द्र की क्रिया का मूल सूर्य ही है। वायु की क्रिया भी स्वतन्त्र नही होती। सूर्य और चन्द्र की किरणो को ग्रहण करके ही वह उनका सहायभूत होता हुआ कर्म किया करता है। भवति चात्र—

शीतांशुः क्लेदयत्युर्वी विवस्वान् शोषयत्यपि।
तावुभावपि संश्रित्य वायु पालयति प्रजाः॥

सु० सू० ६।८

तात्पर्य—चन्द्र का आश्रय कर वायु जगत् का आप्यायन (सतर्पण, पोषण आह्लादन) करता है और सूर्य का आश्रय कर उसका सहायभूत होकर—शोषण करता है। सूर्य, चन्द्र के (स) योग से उनके गुण-कर्मो को ग्रहण (वहन) करने की वायु की इस विशिष्टता को योगवाहिता कहते हैं।

स्मरण रहे, शरीर में बाह्य वायु का प्रतिनिधिभूत वायु भी सूर्य और चन्द्र के प्रतिनिधिभूत पित्त और श्लेष्मा के गुण-कर्म को इसी प्रकार ग्रहण कर उनकी क्रिया को प्रसारित करता है। तदुक्तम्—

योगवाहः परं वायुः संयोगादुभयार्थकृत्।
दाहकृत्तेजसा युक्त शीतकृत् सोमसंश्रयात्[1]॥

च० चि० ३।३८

इतना ही नही, शरीर वायु सूर्यताप और चन्द्र के शैत्य-प्रभृति सूर्य-चन्द्र कृत प्रभावों को ग्रहण कर उनकी क्रिया को प्रसारित करता है[1]। जैसे पाषाण का संग शीत वात, जल आदि वस्तु से होता है तो वह शीत हो जाता है, उष्ण

१—पद्य का नीचे दिया अर्थ परम्परानुसार है। नव्यमत से साम्य देखना हो तो कह सकते हैं कि वात द्रव्य अपने स्वभावगत वैपम्य के कारण कभी सौम्य नाडीसस्थान (पैरासिपेथेटिक) को उद्दीप्त कर पोषणात्मक व्यापार कराता है और कभी आग्नेय (सिपेथेपटिक) नाडीसस्थान को उद्दीप्त कर दहन-पचनादि रूप व्यापार कराता है।

देखिये 'पित्तेन' इति वक्तव्ये यत् 'तेजसा' इति करोति, तेन बाह्येनाप्यातपादिना युक्तो वायुर्दाह करोतीति लोक प्रसिद्ध मर्थ दृष्टान्तार्थं सूचयति —चक्रपाणि

वस्तु से होता है तो उष्ण। शारीर वायु में यह विशिष्टता है कि, योगवाह होने के अतिरिक्त इसके स्वाधीन कर्म भी हैं ही[1]।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि सूर्य, चन्द्र और वायु काल, अयन (मार्ग) और स्वभाव (अपने-अपने शोषक-पोषक धर्म) के वश हो जगत् मे काल (निमेष, काष्ठा आदि काल-विभाग), ऋतु, रस, दोष और बल की उत्पत्ति, पुष्टि और ह्रास करते हैं।

सूर्य, चन्द्र तथा वायु की स्थावर-जङ्गमात्मक सृष्टि पर उल्लिखित क्रिया कैसे होती है, इसका प्राच्य-प्रतीच्य उभय मत से विचार 'आयुर्वेदीय पदार्थ विज्ञान' में मैंने किया है। प्रकरण के वैशद्य के लिए उसे यहाॅ देखा जा सकता है। अयनो का विचार दोषो और रोगों के निदान तथा तत्प्रत्यनीक चिकित्सा एव बलाबल के ज्ञान के लिए उपयुक्त होता है।

ऋतुओं का विविध विभाग——

वर्ष का ऋतुओ में विभाग प्रसिद्ध है। शीत, उष्ण (सर्दी-गर्मी) और वर्षा इन तीन प्रधान ऋतुओं के भेद से वर्ष के इन्ही तीन नामों के तीन विभाग होते हैं।

इन्ही तीन ऋतुओ को प्रसिद्ध ६ ऋतुओ मे विभक्त कर वर्ष के छ विभाग किए गए है। ऋतुओ की षड्विधता की बात सुविदित है। परन्तु इस विषय में जो विशेष ज्ञातव्य हे वह यह कि, ऋतुओ का विभाग आयुर्वेद मे दो प्रकार का बताया गया हे। प्रत्येक विभाग का प्रयोजन पृथक् है।

१——जैसे इसी प्रकरण की टीका मे चक्रपाणि लिखता है——शीतकारित्वं तु वायो शीतत्वेनैव यत् सिद्ध तत् सोमरूप कफपानीयादियोगाद्विशेषेण भवतीति ज्ञेयम्।——आयुर्वेद मे वायु का गुण शीत कहा हे, अत उसकी शीतता स्वत सिद्ध है ही। तथापि यहाँ योगवाहिता से जो शीतकर्तृत्व जताया है उसका अर्थ यह है कि शारीर कफ तथा बाह्य शीत जलादि शीत वस्तुओ के सयोग से वह सविशेष शीतकारी होता है।

आयुर्वेद मे वायु के शीत गुण के विषय मे च० सू० १।५९ की टीका मे आया चक्रदत्त का यह वचन द्रष्टव्य है **यद्यपि वैशेषिकेऽनुष्णाशीतो वायुस्तथापीह शीतेन वृद्धिदर्शनादुष्णेन च प्रशमदर्शनात् तथा केवल वातारब्धे रोग शीतदर्शनाच्च शीत एव वायु.। यच्चपित्तयुक्तस्योष्णत्व, तद् योगवाहित्वात्; यथा पाषाणस्य येन द्रव्येण शीतेनोष्णेन वा योगो भवति तद्गुणानुविधान, तथा वायोरपि।**

ऊपर ऋतुओं के निर्देश के प्रसंग से एक ऋतु-विभाग हम कह आए हैं। यही विभाग भारतीय जनता में प्रचलित है। इस विभाग का प्रयोजन तत्-तत् काल में तत्-तत् रस और प्राणियों के बलाबल का निदर्शन है। स्वस्थवृत्त में जो ऋतुचर्या कही गयी है, उसमें भी इसी ऋतु-विभाग का उपयोग किया गया है। तथाहि :

वक्ष्यमाण द्वितीय ऋतु विभाग का प्रतिपादन दृढबल ने जिन (च० सि० ६।४-६) पद्यों में किया है उनमें 'शोधनं प्रति' यह प्रयोजन बताया है। इसकी व्याख्या आगे की जाएगी। इस वचन की टीका में दीपिकाकार कहते हैं—

'शोधनं प्रति' इति शोधने कर्तव्येऽयं यथोक्तः प्रावृडादि ऋतुविभागो भवति। स्वस्थवृत्तौ रसोत्पत्तौ वा तस्याशितीयोक्त (च० सू० ६) एवं वर्षाशरद्धेमन्तशिशिरवसन्तग्रीष्मरूप ऋतुक्रमो भवति। × × ×। तेन रसबलोत्पादचिन्तायां स्वस्थवृत्तानुष्ठानेषु च शिशिरादिक्रमो भवति॥

शिशिरादिरयमृतुविभागो रसबलनिष्पत्त्योक्तः। चरकेऽपि तस्याशितीये रसबलनिष्पत्त्यर्थं शिशिरादि विभागो दर्शितः॥

सु० सू० ६।८ पर डल्हण

इस विभाग में माघ-फाल्गुन में शिशिर ऋतु होती है, चैत्र-वैशाख में वसन्त, ज्येष्ठ-आषाढ में ग्रीष्म, श्रावण-भाद्रपद में वर्षा, आश्विन-कार्तिक में शरद् और मार्गशीर्ष-पौष में हेमन्त।

द्वितीय ऋतु-विभाग—यह विभाग वर्ष के तत्तत् विभाग में काल-स्वभाववश प्रकुपित होनेवाले तत्तत् दोष के संशोधनकाल का निर्देश करने के लिए किया गया है। यह ऋतु-विभाग प्रथम विभाग के समान वास्तविक (पारमार्थिक) नहीं, काल्पनिक है। इसमें अधोनिर्दिष्ट मास और ऋतुएँ होती हैं: आषाढ-श्रावण में प्रावृट्, भाद्रपद-आश्विन में वर्षा, कार्तिक-मार्गशीर्ष में शरद्, पौष-माघ में हेमन्त, फाल्गुन-चैत्र में वसन्त और वैशाख-ज्येष्ठ में ग्रीष्म। एवमेते संशोधनमधिकृत्य षड् विभज्यन्ते ऋतवः—च० वि० ८।१२५। इस ऋतु-क्रम में शिशिर नहीं है, तथा प्रावृट् विशेष है। प्रावृडिति प्रथमः प्रवृष्टः

१—देखिए : सु० सू० ६।१० १२, ३८ च० वि० ८।१२५-१२७; च० सि० ६।४-६ इन स्थलों पर चक्रपाणि तथा डल्हण।

कालः (च० वि० ८।१२५)—वर्षा ऋतु के प्रारम्भिक दो मास, जिनमे वृष्टि विशेष होती है, उन्हें प्रावृट् कहा जाता है।

जिन ऋतुओं मे जिस दोष का प्रकोप होने का उल्लेख शास्त्रकारों ने किया है, उनमे उस दोष का प्रकोप यदि अल्पमात्र हो तो लङ्घन, पिपासानिग्रह आदि मृदु उपचार एवं ऋतुचर्योक्त आहार-विहारादि द्वारा दोष को समावस्था में लाना चाहिए। दोषों का प्रकोप (बल) मध्य हो तो पाचनादि मध्योपाय का अवलम्बन करना चाहिए। परन्तु दोषों का प्रकोप विशेष हो तो वमनादि यथोचित संशोधन द्वारा दोषों को सम करना चाहिए।—बहुदोपाणामेव संशोधनं, मध्यदोपेषु पाचनादि, अल्पदोपेषु पुनर्लङ्घनपिपासानिग्रहादि यथर्तु-विधि समाचारश्च—सु० सू० ६।१२ पर डल्हन। इस प्रकार—

हरेद्वसन्ते श्लेष्माणं पित्तं शरदि निर्हरेत्।
वर्षासु शमयेद् वायुं प्राग्विकारसमुच्छ्रयात्॥

सु० सू० ६।३८

प्रकुपित हुए प्रबल दोष व्यक्त रोग को उत्पन्न करे उसके पूर्व ही वसन्त ऋतु मे (फाल्गुन-चैत्र मे) श्लेष्मा की वमन द्वारा शुद्धि करनी चाहिए; शरद् में (कार्तिक-मार्गशीर्ष में) विरेचन द्वारा पित्त की और वर्षा में (प्रावृट् मे—आषाढ-श्रावण मे[1]) बस्तियों द्वारा वायु की। इनसे पूर्व स्थित जिस ऋतु में जिस दोष के संचय का उल्लेख किया गया है उस ऋतु में उस दोष के विरुद्ध रस, गुण, वीर्यादि वाले आहार-विहार आदि का यथावत् सेवन कर उसे कुपित होने से बचाना चाहिए। अतएव, संचय-काल को लक्ष्य मे रख कर तन्त्रकार ने कहा है—तत्र प्रथम क्रियाकालः—सु० सू० २१।१८।

ऋतु-स्वभाववश महाकोष्ठगत अपने-अपने स्थान मे तत्-तत् दोष का सचय होता है। इसके पश्चात् प्रकोपक कारण के सेवन से, किंवा ऋतु आदि तत्-तत् काल में ऋतु-स्वभाववश दोष का प्रकोप होता है। यह वस्तु ध्यान मे रहे तो इसके आधार पर दो बातें समझी जा सकती है। प्रथम तो, पुरुष कितना भी आहार-विहारादि में सयत रहे, ऋतु-स्वभाववश तत्-तत् ऋतु मे तत्-तत् दोष का यत्किंचित् प्रकोप होता ही है। इस प्रकार तत्-तत् प्रकोपोचित ऋतु में प्रायः प्रत्येक पुरुष को कुछ-न-कुछ शारीर-मानस व्यथा होती ही है।

दूसरी बात इस प्रसग मे यह समझी जा सकती है कि, दोष-विशेष के सचय-काल मे पुरुष उसके प्रकोपक आहार-विहारादि का सेवन करे तो सचय-काल में

१—समग्र अध्याय तथा चरक के इस विषय के प्रकरण देखने से वर्षा का अर्थ यहाँ प्रावट् लेना योग्य है।

ही उस दोष का प्रकोप होना अवश्य संभव है। ऋतुचर्या के निश्चय में आचार्यों ने इस बात को भी लक्ष्य में रखा है।

ऋतु-विशेष में संशोधन का निषेध—हेमन्त ऋतु के पूर्व शरद् में विरेचन द्वारा पित्त के संशोधन का तथा हेमन्त के पश्चात् वसन्त ऋतु में वमन द्वारा कफ के संशोधन का विधान प्राचीनों ने किया है। हेमन्त में दोनों ही संशोधनों का निषेध इसलिए है कि—हेमन्त ऋतु में शरीर अत्यधिक शीत से पीड़ित होने के कारण असुख अनुभव करता है; अपरंच, अतिशीत वायुओं से व्यथित, अति-दारुणीभूत (कठिन, स्तब्ध) एवं दोष जिसमें स्तब्ध अर्थात् स्थिर—बहिर्गमन की प्रवृत्ति से रहित—हो गए हैं ऐसा हुआ होता है। इधर संशोधनार्थ दिया जानेवाला औषध जो स्वभावतः उष्ण वीर्य होता है वह बाह्य और शारीर अतिशीत से अभिभूत होने से मन्दवीर्य (कुण्ठित शक्तिवाला) हो जाता है। परिणामतया, संशोधन का कुछ प्रभाव नहीं होता—शास्त्रीय सत्ता का प्रयोग करें तो अयोग का अयोग होता है; और शरीर वातिक उपद्रवों से आक्रान्त होता है।

वसन्त के अनन्तर ग्रीष्म ऋतु होती है और उसके अनन्तर प्रावृट्। वसन्त में कफ का संशोधन किया जाता है तथा प्रावृट् में बस्तियों द्वारा वायु का। मध्यवर्ती ऋतु ग्रीष्म में दोनों ही संशोधनों का निषेध है। कारण, ग्रीष्म में शरीर तीव्र ऊष्मा से सन्तप्त होने के कारण असुख अनुभव करता है; साथ ही, अत्यन्त उष्ण वायु (लू) और सूर्य के ताप से व्यथित, अति शिथिल तथा दोष जिसमें अत्यधिक विलीन (द्रवीभूत और बहिःप्रवृत्त्युन्मुख) हो गए हैं ऐसा हुआ होता है। संशोधनार्थ प्रयुक्त होनेवाला औषध स्वभावतः उष्ण होता है। बाह्य और शारीर उष्णता से संयुक्त होने से उष्ण औषध उष्णतर हो जाता है। परिणामतया, उसकी क्रिया अभीष्ट से अधिक होती है—उसका अतियोग होता है। शरीर में भी अत्यधिक उष्णतावश उपद्रव रूप में पिपासा होती है।

वर्षा के पूर्व प्रावृट् ऋतु होती है तथा उसके (वर्षा के) अनन्तर शरद्। प्रावृट् में वायु का तथा शरद् में कुपित हुए पित्त का संशोधन किया जाता है। मध्यवर्ती वर्षा ऋतु में दोनों में कोई संशोधन अनुपायभूत होने से विहित नहीं है। कारण, वर्षा काल में आकाश मेघों के जल से व्याप्त (भीना); सूर्य, चन्द्र और तारे जिसमें आच्छन्न हो गए हैं ऐसा एवं धाराओं से पूर्ण होता है तथा भूमि कीचड़ और जल से भरी हुई होती है। परिणामतया, एक ओर तो मानवादि प्राणियों के शरीर भीतर-बाहर जल से अत्यधिक क्लिन्न (आर्द्र, जल की अधिकतावाले)

१—स्थल : च० सि० ८।१७७

होते हैं, दूसरी ओर समस्त ओषधियाँ (अन्न तथा भैषज्य-द्रव्य) जल और जल-मिश्रित वायु के संसर्ग से अभिभूत होने के कारण अपने स्वभाव से च्युत—अपने प्राकृत गुण-कर्मों से शून्य—हो जाते है। परिणाम यह होता है कि एक तो वमनादि कर्म वैसे ही क्लेशकारी हो जाते हैं, जैसे गुरु (मेदस्वी) व्यक्ति के लिए चेष्टामात्र क्लेशदायी होती है; साथ ही इन कर्मों की व्यापत्तियाँ बहुत अधिक होने से इनमे प्रतिविधान (प्रत्युपाय) बहुत करना पडता है। शरीर भी संशोधन से क्लिष्ट (क्षुभित) होने के कारण अति प्रयत्न और चिरकाल के अनन्तर अपनी प्रकृति (पूर्व स्थिति) को प्राप्त करते हैं[1]।

उक्त वस्तुस्थिति को लक्ष्य में रख कर हेमन्त, ग्रीष्म और वर्षा ऋतु में वमनादि कर्मों का निषेध किया गया है। अलबत्ता, आत्ययिक परिस्थिति (तत्काल जिसमें वमनादि कर्म करना ही पडे ऐसी स्थिति) हो तो इस नियम का अपवाद होता है। इन ऋतुओ में वमनादि कोई कर्म करना आपतित हो तो प्रथम तो ऋतु को ही उपाय-विशेष द्वारा अल्पगुण वाली बना दे, जिससे उनमे उल्लिखित अपाय होने की संभावना न रहे। यथा—

शीते शीतप्रतीकारमुष्णे चोष्णनिवारणम्।
कृत्वा कुर्यात् क्रिया प्राप्ता क्रियाकालं न हापयेत्॥

सु सू० ३५।२१

शीतकाल या वर्षाकाल मे शीतादि की शरीर और औषध पर पूर्वोक्त विक्रिया न होने पाए इस हेतु वमनार्ह रोगी और औषध को उष्ण घर में रखे तथा अन्य ऐसे ही शीत-प्रतीकार-कारक ऋतु-विपरीत उष्णोपचार करे। इसी प्रकार ग्रीष्म ऋतु में उष्णता के निवारणार्थ योग्य उपाय करे, जिससे औषध की तीक्ष्णता आदि की हानि न हो। इस प्रकार वमनादि क्रिया करने का काल उपस्थित हो तो संभावित अपायो तथा उनके कारणो का निवारण करके भी क्रिया तो करनी ही चाहिए। क्रिया के काल मे क्रिया न की जाए, यह स्थिति न होनी चाहिए[2]।

१—वर्षासु तु××× गुरुप्रवृत्तीनि वमनादीनि भवन्ति, गुरुसमुत्थानानि च शरीराणि—च वि ८।१२७।—गुरुप्रवृत्तीनीति गुरोर्यथा न सुखकारिणी प्रवृत्तिर्भवति, तथाऽस्यापीत्यर्थ; किंवा बहुप्रतिविधेयप्रवृत्तीनि गुरुप्रवृत्तीनि। गुरुसमुत्थानानीति संशोधन क्लिष्टानि शरीराणि तदा महता प्रयत्नेन चिरेण च कालेन प्रकृतिं प्राप्नुवन्तीत्यर्थ —चक्रपाणि।

२—इस प्रकरण मे नीचे लिखे वचन को भी स्मरण किया जा सकता है, जिसमे कहा है कि, शरद् और ग्रीष्म ऋतु मे सामान्यतया अग्निकर्म (दाह)→

आत्ययिक स्थिति में ऋतु के अतिरिक्त तत्-तत् उपाय से औषध को भी ऋतु के गुणो के विपरीत गुणों वाली बना कर व्यवहार में लाना चाहिए। ये उपाय अधोलिखित हैं—संयोग, संस्कार और प्रमाण-भेद। संयोग से औषध के गुण के परिवर्तन का उदाहरण यह है कि शीतकाल में त्रिवृत् जैसा शीत द्रव्य देना पड़े तो उसे उष्णगुण गोमूत्र में मिला कर उष्ण बना ले। इसी प्रकार संस्कार से (औषध-निर्माण की प्रक्रिया द्वारा) औषध में गुणान्तराधान करे। एवं आवश्यकतानुसार औषध के प्रमाण को न्यूनाधिक कर ऋतु के अनिष्ट प्रभाव का निवारण करे। यथा—सामान्यतया जिस प्रमाण (मात्रा) में त्रिवृत् दी जाती है, उस प्रमाण में देने से हेमन्त में उसके अयोग की संभावना हो तो उसे अधिक प्रमाण में देना चाहिए। यह प्रमाण-वृद्धि इतनी ही करनी चाहिए कि रोगी के प्राणो का भय न उपस्थित हो जाए। एवं, संयोग द्वारा औषध के गुण को परिवर्तित करना हो तो भी यह दृष्टि में रखना चाहिए कि विरुद्ध-वीर्यवाले द्रव्य का संयोग न हो जाए, अन्यथा औषध का कुछ गुण ही न होगा।

दोषों तथा रोगो के उपशम की ऋतु —काल-स्वभाववश तत्-तत् ऋतु में तत्-तत् दोष का संचय होता है तथा काल-स्वभाववश ही अगली ऋतु में किंवा प्रकोपक अहिताहार-विहार के अतियोग से सचय की ऋतु में भी उस दोष का प्रकोप होता है एवं सचय और प्रकोप दोनो के कालो में तत्-तत् दोष से होनेवाले नानात्मज तथा सामान्यज रोग होते हैं। दोषो के संचय और प्रकोप के ये काल विदित हो तो विपरीत रस-गुणादि वाले आहार-विहारादि के सेवन से दोष की वृद्धि न होने दे कर रोग को उत्पन्न होने से बचाया जा सकता है, अथवा कदाचित् उसकी उत्पत्ति हो ही तो उसका बल अधिक न हो इस बात की संभावना की जा सकती है; इसी प्रकार स्वस्थवृत्तोक्त ये उपचार न करने से कदाचित् रोग उत्पन्न हो गया तो ऋतु को दृष्टि में रखने से सामान्यतया इस बात की कल्पना की जा सकती है कि रोग कौन से दोष से उत्पन्न हुआ है। कारण, कभी-कभी एक ही लक्षण अनेक दोषो से उत्पन्न होना संभावित होता है। ऐसी स्थिति में प्रमुख दोष कौन है इसकी कल्पना ऋतु को लक्ष्य में रखने से आ सकती है। पश्चात् उस दोषके अनुसार संप्राप्ति जमती है या नहीं यह विचार कर पूर्ण निश्चिति

←नहीं करना चाहिए। परन्तु आत्ययिक परिस्थिति हो—अग्निकर्म न करने से प्राण नष्ट होने का भय हो—तो शीत गुणवाले भोजन, आच्छादन प्रलेप आदि की योजना कर अग्निकर्म कर दे।—तत्राऽग्निकर्म सर्वर्तुषु कुर्यादन्यत्र शरद्ग्रीष्माभ्याम्। तत्राप्यात्ययिकेऽग्निकर्मस ध्येव शीतप्रत्यनीकं विधिं कृत्वा—सु० सू० १२।५

१—स्वस्थ सु० सू० ६।१३

के लिए उस दोष के विपरीत चिकित्सा आरम्भ कर उसका परिणाम देखा जा सकता है।

ऋतु-विशेष में सचय और प्रकोप के सदृश प्रकोपकालोत्तर ऋतु मे काल-स्वभाववश ही दोष का प्रशमन तथा उससे आरब्ध (उत्पादित) रोग की मन्दता हुआ करती है। यह कैसे होता है इसके लिए स्वस्थवृत्त के प्रकरण देखे जा सकते है। इस प्रकार हेमन्त ऋतु मे (पौष-माघ मे) पैत्तिक रोगो का, निदाघ या ग्रीष्म मे (वैशाख-ज्येष्ठ मे) श्लैष्मिक रोगो का एव शरद् ऋतु मे (कार्तिक-मार्गशीर्ष मे) वातिक रोगो का स्वाभाविक उपशम हुआ करता है। (याप्य रोग इस काल मे सर्वथा शान्त या मन्द हो जाते है।)

अहोरात्र मे दोपो का प्रकोप[1]—शीतकाल, उष्णकाल और वर्षाकाल वर्ष के इन तीन विभागो मे जैसे तत्-तत् दोष का प्रकोप हुआ करता है वैसे काल-स्वभाववश तथा आहार के अवस्थापाको के कारण दिवस और रात्रि के तत्-तत् विभाग में तत्-तत् दोष का उपचय, प्रकोप और प्रशम हुआ करता है। तथाहि

पूर्वाह् नाम दिवस के पूर्वभाग में वसन्त के चिह्न होते है, अर्थात्—वसन्त के सदृश कफ का प्रकोप होता है, जिसका अर्थ यह है कि कफज तथा कफ प्रधान रोगो का आविर्भाव इस काल मे होता है और वे विद्यमान हो तो इस काल मे उनके लक्षणो की तीव्रता मे वृद्धि हो जाती है। काल के सबन्ध से हुए इस परिवर्तन से रोग का कफ से उत्पन्न होना जाना जा सकता है। काल-विशेष से दोषो के सबन्ध के ज्ञान का सर्वत्र यही अर्थ लेना चाहिए।

मध्याह्न मे ग्रीष्म के चिह्न होते है। अर्थात् इस काल मे ग्रीष्म के सदृश सूर्य के तीव्र ताप के कारण समान गुण पित्त का कोप होता है; बाह्योष्मा और उससे लब्धबल पित्त से दोनो द्वारा शरीर गत स्नेह तथा क्लेद का शोषण हो कर ग्रीष्म के समान वायु का सचय एव कफ की शान्ति होती है।

अपराह् में प्रावृट् के सदृश वायु का कोप होता है। मध्याह्न मे उक्त प्रकार से वायु का जो सचय हुआ था, सायकालिक शीत वायु से शारीर स्रोतों का स्तम्भ होने से यह वायु शरीर मे ही सचित और कुपित होता है, यह समझा जा सकता है।

प्रदोप नाम रात्र्यारम्भ में दोषो की स्थिति वर्षा के समान होती है अर्थात् इसमें पित्त का सचय तथा तदुत्थ रोगो का आविर्भाव या बलाधिक्य होता है, ऐसा सुश्रुत का मत प्रतीत होता है। चरकादि ने यह काल कफ के प्रकोप का बताया है। अम्ल, लवण, द्रव आदि गुण पित्त के प्रकोपक होते है। यही

१—स्थल सु० सू० ६।१४ तथा डल्हन।

गुण कफ के भी होते है। प्रदोष-काल में सुश्रुत के क्रम के अनुसार सचित पित्त के कफ-सदृश गुणो का सवन्ध जब कफ प्रकोपक वाह्य वायु से होता है तो दोनो के सयोग से कफ का ही प्रकोप इस काल मे सविशेष होता है, यह अर्थ घटाया जा सकता है।

अर्धरात्र (मध्यरात्र) नाम रात्रि के मध्य भाग म शरद् ऋतु के लक्षण होते है। अर्थात् शरद् ऋतु के सदृश इस काल मे पित्त का प्रकोप और वायु का प्रशम होता है[1]।

प्रत्यूप मे अर्थात् रात्रि के अन्तिम प्रहरो में, सुश्रुत के लेखानुसार, हेमन्त के लक्षण नाम श्लेष्मा का सचय और पित्त का प्रशमन होता है। चरकादि ने इस काल मे वायु का प्रकोप होता है, यह कहा है।

अहोरात्र के उक्त कालो का दोष-प्रकोप तथा दोषज रोगों से संवन्ध दर्शाते चरकाचार्य ने कहा है—

निशान्ते दिवसान्ते च वर्पान्ते वातजा गदा ।
प्रातः क्षपादौ कफजास्तयोर्मध्ये तु पित्तजाः ॥
च० चि० ३०।३१०

भोजन-कालिक दोप-प्रकोप—भोजन काल से दोषो का सवन्ध प्रसिद्ध है। भोजन आमाशय मे होता है तो कोष्ठ मे हृदय से ऊर्ध्व भाग मे स्थित मधुर रस के सबन्ध से सपूर्ण अन्न का मधुरीभाव हो कर समानगुण कफ का प्रकोप होता है तथा तन्द्रा-प्रभृति कफ-प्रकोप-सुलभ लक्षण स्वस्थावस्था मे भी शरीर मे दृश्यमान होते है। आमाशय मे ही कुछ काल के अनन्तर उसके अधोभाग मे स्वभावत· स्थित अम्ल रस (नवीनो का लवणाम्ल) के सवन्ध से सपूर्ण

१—अर्धरात्र मे पित्त के प्रकोप को लक्ष्य मे रख डल्ह्नाचार्य ने कहा है कि, ग्रहगणित और ज्योतिपशास्त्र के अनुसार इस काल मे भी सूर्य उसी प्रकार पृथ्वी के मध्यभाग के सामने होता है, जैसे मध्याह्न मे। यह सत्य है कि उस काल सूर्य भूगोल के अधोभाग मे होता है, जिससे आतप (धूप) नही होता। इस वचन से डल्ह्न का स्वमत यह प्रतीत होता है कि अर्धरात्र मे भी सूर्य का सानिध्य मध्याह्न के सदृश ही होने से पित्त का कोप सभाव्य ही है। तथापि आगे आचार्य ने कहा है कि —वैद्य तो इस काल मे पित्त के कोप का कारण काल-स्वभाव तथा द्वितीय अवस्थापाक को ही बताते है। डल्ह्न का प्रस्तुत वचन यह है—**शारद-मर्धरात्र इति भूगोलाध·स्थितसूर्यत्वादर्धरात्रे शारदं लिङ्गमातपाभावेऽपि गोलक-गणितविदो ज्योतिर्विदो मन्यन्ते; भिषजस्तु काल-स्वभावादाहारवशाच्चेति ॥**

अन्न का अम्लीभाव हो कर उसके सपर्कवश समान गुण पित्त का पच्यमानाशय मे उदीरण होता है। इस उदीरित पित्त के ससर्ग से अन्नपान का परिपाक होकर उसका अन्नरस बनता है। अन्न का सारभूत यह अन्नरस गृहीत होकर रस धातु का अङ्ग बन जाता है। शेष नि सार नाग स्निग्ध-गुरु प्रभृति गुणो से शून्य मल भाग (किट्टांश) पक्वाशय मे पहुँचता है। वहाँ इस पर प्रादेशिक वह्नि (पित्त) की क्रिया से स्नेह तथा क्लेद का और भी पचन एव शोषण हो कर मल भाग अधिक रूक्ष, नि.सार और पिण्डीभूत होता है। ये गुण जैसे शरीर के किसी भी भाग में वायु की पुष्टि किया करते है वैसे पक्वाशय मे भी वायु की पुष्टि तथा प्रकोप करते हैं। इस अवस्थापाक को तृतीय अवस्थापाक कहते है। इसमे उक्तरीत्या वायु का कोप यह विशिष्ट लक्षण होता है। इस विषय का सविस्तर वर्णन "आयुर्वेदीय क्रियाशारीर" के अठारहवे अध्याय मे किया है। इस प्रकरण में वाचक उसे भी देख सकते हैं।

भोजनकालिक दोष-प्रकोप के इस ज्ञान का भी परिणाम यह होता है कि—

जीर्णान्ते वातजा रोगा जीर्णमाणे तु पित्तजाः।
श्लेष्मजा भुक्तमात्रे तु लभन्ते प्रायशो बलम्॥

च० चि० ३०।३१२

यह बलाधिक्य पहले से विद्यमान रोगों का होता है। रोग का प्रथमाविर्भाव किस काल में है यह देख कर भी रोग का आरम्भक दोष कौन है तथा तदनुरूप कौन मार्ग ग्रहण करना चाहिए यह निश्चित किया जा सकता है। जैसे—ज्वर का प्रथमाविर्भाव या बलाधिक्य (ज्वर की तीव्रता, या पुनराविर्भाव) भोजनोत्तर हो तो कारणभूत दोष कफ है यह मान कर दोष-बलानुसार वमन, लङ्घन, दीपन-पाचनादि की योजना की जा सकती है। उदरशूल या गुल्म भोजन के विचार से किस काल मे होता है यह जान कर उसके मूलभूत दोष तथा आमाशयादि स्थान की निश्चिति की जा सकती है। इससे किस दोष के विपरीत चिकित्सा करनी चाहिए यह भी निर्णय किया जा सकता है।

उदरशूल के विषय मे व्यवसायोपयुक्त एक सत्य समझ लेने योग्य है। आमाशय-पच्यमानाशय शून्य हो तो प्रवृद्ध वायु इन आशयो को पूर्ण कर लेता है। परिणामतया, मुख से गुदद्वार पर्यन्त वायु व्याप्त हो जाने से प्रत्येक आशय मे इस वायु का प्रमाण इतना नही होता कि सामान्य और सह्य असुख से अधिक कोई विकार उत्पन्न कर सके। भोजन द्वारा आमाशय-पच्यमानाशय पूर्ण हो जाने से वायु इन आशयो को छोड कर पक्वाशय मे एकत्र हो जाता है। इस प्रकार उस आशय मे उसका प्रमाण बढ कर अब इतना हो जाता है कि जिसे प्रकोप कहा

जा सके। यह कुपित वायु रोगोत्पत्तिक्षम होने से शूल, आध्मान, सौहित्यासहिष्णुता (तृप्ति हो इतना खा न सकना), भोजनोत्तर मल-प्रवृत्ति प्रभृति विकारो को उत्पन्न करता है। विकृति भोजनोत्तर हुई होने से उसका कारण कफ ही होगा यह सामान्य बुद्धि होती है। आमाशय और पक्वाशय का कुछ अश उदर से एक ही प्रदेश मे (आमाशय-प्रदेश में, एपीगेस्ट्रिक रीजन मे) अवस्थित होने से भी रोग का स्थान आमाशय ही समझने की प्रवृत्ति होती है। आमाशय अधोभ्रष्ट हो तो इस शङ्का की उत्पत्ति अधिक सहज होती है। ऐसे प्रसगो में उक्त सप्राप्ति को दृष्टि में रख वायु के कोप को भी लक्ष्य मे रखना ठीक होता है ज्वरादि सर्वाङ्ग रोगो मे भी भोजनोत्तर काल में वायु की इस प्रकार कारणता होना सभाव्य है। अन्य लक्षणो तथा उपशयानुपशय को दृष्टि में रख दोष का विनिश्चय किया जा सकता है।

कोई रोग पुरुष को पीडित न कर रहा हो, उसका मन तथा इन्द्रियाँ भी प्रसन्न हो तो उस पर अस्वस्थ का लक्षण घटित न होने से दिवस और रात्रि के भिन्न-भिन्न कालो मे एव भोजन से सबद्ध तत्-तत् उक्त काल मे दोष का जो यत्किचित् उदीरण होता है वह नहिवत् होने से उसे अस्वस्थता का लक्षण न मान कर दोषसाम्य ही समझने का व्यवहार वैद्यो मे है। यह कोप भी विशेष अपाय न करे इस निमित्त स्वस्थवृत्त के प्रकरणो मे तत्-तत् चर्या का विधान है—यथा भोजनोत्तर वृद्धिगत कफ को समावस्था मे लाने के लिए धूमवर्ति से संशोधन किवा हृद्य (हृदयस्थ कफ को शुद्ध कर तन्द्रा आदि के निवर्तक) कषाय, कटु और तिक्त रस वाले एवं सुगन्धित पूगीफल (सुपारी), लवङ्ग इत्यादि का विधान और प्रचार है[1]। शेष ऋतुस्वभावजन्य प्रकोप का प्रमाण ही रोगोत्पादनक्षम होने से उसे तन्त्रो मे प्रकोप कहा है तथा उसकी उपशान्ति के लिए कारणानुरूप ही सशोधनादि विशिष्ट उपचारों का भी उपदेश किया गया है। (देखिए : सु० सू० ६।१४ पर डल्हन)।

वयोभेद से दोष-प्रकोप—इस विषय मे पुष्कल वक्तव्य पहले आ ही गया है। संक्षेप से—

वयोऽन्तमध्यप्रथमे वातपित्तकफामयाः।
बलवन्तो भवन्त्येव स्वभावाद् वयसो नृणाम्॥

च० चि० ३०।३११

ऋतु आदि कालो के भेद से जो रोगों में वैशिष्टय होता है उसे कालापेक्ष भेद कहा जाता है।—

१—देखिए सु० सू० ४६।४८४—४८६

व्याधीनामृत्वहोरात्रवयसां भोजनस्य च।
विशेषो विद्यते यस्तु कालापेक्षः स उच्यते॥
च० चि० ३०।३०८

काल के दो भेदो में प्रथम संवत्सर-रूप काल का जो विचार अब तक किया वह दोषो एवं तद्‌तुल्य रोगो को लक्ष्य में रख कर किया गया है। इस काल का विचार औषधो के ग्रहण के लिए भी किया जाता है। ऋतुएँ अव्यापन्न हो, अर्थात् उनके जो गुण तथा स्वरूप शास्त्र में निर्दिष्ट तथा लोक-प्रसिद्ध है वे सम-प्रमाण में विद्यमान हो, उनका अयोग, हीनयोग, या मिथ्यायोग न हो (उनके लक्षणो की अविद्यमानता या न्यून विद्यमानता, यथा वर्षा काल मे वर्षा न होना या न्यून होना; तथा विपरीत लक्षण यथा शीत काल मे वृष्टि होना—यह वैषम्य न हो) तो जो अन्नपान तथा वनौषधियाँ उत्पन्न होती है वे देश (भूमि), जल, वायु तथा काल के रसयुक्त और सद्‌गुण सपन्न होने से अपने-अपने रस, गुण वीर्य, विपाक और प्रभाव से संयुक्त होती है। अत उनका सेवन प्राण, आयु, वल (उत्साह और उपचय), वीर्य और ओज की पुष्टि करनेवाला होता है। जल भी अव्यापन्न होने से इन्हीं गुणो वाला होता है। इसके विपरीत ऋतुओ की व्यापत्ति से विभिन्न रोगो या मरको (जनपदोद्‌ध्वसक रोगो) का प्रादुर्भाव होता है[1]। यह स्थिति उत्पन्न होने पर अव्यापन्न (पूर्व-सचित या व्यापत्ति के लक्षण आरम्भ होने के पूर्व ही उद्‌धृत) वनौषधियो तथा आहार द्रव्यों का सेवन इत्यादि उपाय करने चाहिए।

आवस्थिक काल—

काल का द्वितीय भेद आवस्थिक काल कहा जाता है। इसका अर्थ है रोगी के रोग की तरुण, आम, जीर्ण, पच्यमान प्रभृति भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ। भिन्न-भिन्न अवस्थाओ में वमन-प्रभृति भिन्न-भिन्न उपचार विधेय होते है। उन अवस्थाओ मे उन उपचारो का काल है, ऐसा कहा जाता है। इनमे तथा अन्य कई अवस्थाओं मे तत्-तत् उपचार निषिद्ध होते है। ये अवस्थाएं इन उपचारो के लिए अ-काल होती है। इसके अतिरिक्त रोगो को लक्ष्य मे रख कर भी तत्-तत् काल मे तत्-तत् उपचार विहित है। यथा, नवज्वर मे लङ्घन का काल होता है, कषाय का अ-काल होता है। छ दिन के पश्चात् कषाय का काल होता है। इसी प्रकार ज्वर मे पेया, क्षीर, घृत और विरेचन के कालों का निर्देश किया

१—देखिए च० वि० ३।३-२२, सु० सू० ६।१५-१८ तथा चक्रपाणि तथा डल्हन।

गया है। अन्य रोगो की अवस्थाओ में विभिन्न उपचारों का काल तथा अ-काल बताया गया है। चिकित्सा की शुद्धि और सिद्धि अपेक्षित हो तो बार-बार रोगी की अवस्थाओ का अवेक्षण (अवलोकन, आवेक्षण) करते रहना चाहिए। काल बीत जाने पर (अतिपतितकालम्) या काल आने के पूर्व (अप्राप्तकालम्) औषध का उपयोग किया जाए तो वह कार्य-साधक नहीं होता। रोगी की अवस्था से सबद्ध काल के विचार को अवेक्षणापेक्ष तथा रोग-विषय औषध-काल को औषधापेक्ष कहा जाता है।

इसी प्रकार दिन के विभिन्न कालो में तत्-तत् उपचार का विधान है; यथा, पूर्वाह्न में वमन कराना चाहिए। इस विचार को दिनापेक्ष कहते हैं। औषध-सेवन का काल कभी रोग्यपेक्ष होता है, जैसे रोगी बलवान् हो तो उसे निरन्न (खाली पेट) औषध-सेवन कराना चाहिए। रोगी दुर्बल हो तो इस प्रकार औषध न दे कर, लघु तथा पथ्य अन्नपान का सेवन करा तदनन्तर औषध देना चाहिए। इस विषय का अधिक विचार अनुपद करेंगे।

काल के विचार में कभी-कभी आहार जीर्ण हो गया है या नही इसका भी विचार किया जाता है। बुभुक्षा का उदय होना, पुरीषादि के वेगो की प्रवृत्ति, शरीर और मन में लघुता उत्पन्न होना एवं हृदय और उद्गार की शुद्धि—ये आहार के जीर्ण होने के लक्षण हैं। इनका प्रादुर्भाव होने पर अन्य औषध देनी चाहिए। इस औषध-काल को जीर्णापेक्ष कहते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि प्रात. जो औषध निरन्न कोष्ठ देने का विधान है वह तो पूर्व दिन भुक्त अन्न की जीर्णता के लक्षण उत्पन्न होने पर देना ही चाहिए, भोजनोत्तर जो औषध देना है वह भी उस दिन किया भोजन जीर्ण होने पर ही देना चाहिए।

ऋतुओ को लक्ष्य में रख कर निर्णीत औषध-काल को ऋत्वपेक्ष कहते हैं। इसका विचार पहले किया जा चुका है[1]।

औषधापेक्ष काल[2]—

औषध-प्रयोग सबन्धी काल के इस प्रकरण में विशेषतया औषध को लक्ष्य में रख कर दस कालो की गणना पूर्वाचार्यों ने की है। इसे औषधापेक्ष काल कहा गया है। इसके दस भेद हैं।—अनन्न (अभक्त), प्राग्भक्त (अन्नादौ, भुक्तादौ),

---

१—दिनापेक्षादि काल-भेदो के लिए देखिए च० चि० ३०।२९६-३१२, च० वि० ८।१२८ तथा चक्रपाणि।

२—स्थल च० चि० ३०।२९९-३०१, सु० उ० ६४।६५-८३, अ० स० सू० २३, अ०, ० सू० १३।३८-४१ तथा चक्रपाणि, डल्हन हेमाद्रि, अरुण।

मध्येभक्त, अधोभक्त, सभक्त, सामुद्ग, अन्तराभक्त, ग्रास, ग्रासान्तर मुहुर्मुहुः। सग्रहकार ने ग्यारहवाँ नैश काल भी माना है।

अनन्न या अभक्त औषध काल--प्रात.काल भोजन के पूर्व खाली पेट यदि औषध लिया जाए तथा उसके पश्चात् औषध जीर्ण होने पर अन्न का सेवन किया जाए उसे अनन्न औषध-काल कहते हैं। अनन्न सेवन किए गए औषध का वीर्य (कार्य-शक्ति) अधिक होता है। आगे कहे जानेवाले औषध-कालों मे औषध का सबन्ध अन्न के साथ हो जाने से उसकी क्रिया अन्न से दब-सी जाती है। वीर्याधिक्य के कारण इस प्रकार औषध का उपयोग उस स्थिति मे किया जाता है जब रोग बलवान् हो, एव रोगी भी बलवान् हो। दोष की दृष्टि से विचार करे तो रोग कफ-प्रधान हो तब अनन्न औषध दिया जाता है। कारण, आमाशय शून्य होने से उस काल आमाशय जिसका प्रधान स्थान है उस कफ पर औषध की क्रिया अधिक उत्तम प्रकार से होती है। वीर्य की अधिकता के कारण अनन्न औषध रोग को नि सशय और शीघ्र नष्ट करने मे समर्थ होता है। एक सामान्य उदाहरण से इस वस्तु को स्पष्ट कर ले। कई पुरुषो को विरेचन रात को दिया जाए तो उसका परिणाम नही होता या स्वल्प होता है। वही विरेचन प्रात निरन्न कोष्ठ दिया जाए तो न्यून मात्रा मे भी अधिक गुण करता है। रोगी के कोष्ठ का अनुभव न हो तो उसे सामान्यतया विरेचन रात को ही देना चाहिए। औषध की क्रिया का यत्किंचित् परिचय भी रोगी को दे देना चाहिए। पश्चात्, परिणाम न होने पर प्रात. योग्य मात्रा मे औषध देना चाहिए (अथवा, आवश्यक हो तो तीव्र औषध देना चाहिए या वही औषध अधिक मात्रा मे देना चाहिए)। जिनके कोष्ठ की मृदुता का तथा कार्यकारी औषध का वैद्य को परिचय हो उन्हे भी विरेचन औषध शीत काल मे रात को दिया जाए तो कोष्ठ की पूर्व-निर्दिष्ट स्तब्धता के कारण औषध का गुण लक्षित नही होता। व्यवसाय मे विरेचन नित्य और सविशेष उपयोग में आता होने से उसका उदाहरण यहाँ दिया है। अन्य औषधो का भी इसी प्रकार विचार किया जा सकता है।

अनन्न सेवित औषध जीर्ण हो जाने पर भोजन करना चाहिए।

अनन्न औषध का वीर्य अधिक होने से बालक, वृद्ध, स्त्री, भीरु तथा सुकुमारो को उसका सेवन नही कराया जा सकता। अन्यथा, उन्हें अत्यन्त ग्लानि (वमन की आशङ्का) तथा बलक्षय हो आता है। इस औषध-काल[1] के विषय मे अधो-निर्दिष्ट पद्य स्मरणीय हैं।--

---

१--गुजराती मे इस औषध-काल के लिए 'निरन्न कोष्ठ' का अपभ्रश 'नरने कोठे' प्रचलित है।

वीर्याधिकं भवति भेषजमन्नहीनं
हन्यात् तदामयमसंशयमाशु चव।
तद् बालवृद्धवनितामृदवस्तु पीत्वा
ग्लानि परा समुपयान्ति बलक्षयं च ॥

सु० उ० ६४।६७

कफोद्रेके गदेऽनन्नं बलिनो रोगरोगिणोः ॥

अ० हृ० सू० १३।३८

अभक्त औषध के उपयोग के विषय में शार्ङ्गधर कहते हैं¹—पित्त और कफ के प्रकोप से हुए रोगो में , विरेचन, वमन और लेखन (शरीर कृश करना)—इन प्रयोजनो से औषध देना हो तब अभक्त औषध ग्रहण करना चाहिए। प्राय. सब औषध विशेषतया कषाय, प्रात काल लेने चाहिए।

प्राग्भक्त औषध-काल—

अपाने विगुणे पूर्वम। च० चि० ३०।२९८

निरन्न कोष्ठ ही औषध लिया जाए परन्तु भोजन के ठीक पूर्व तो इसे प्राग्भक्त कहा जाता है। अपान वायु विगुण (विलोम) हो , रोग अधःकायगत (नाभि से नीचे स्थित) हो , अधःकाय में स्थित अवयवों को बल प्रदान करना अभीष्ट हो एव शरीर को कृश करना हो तो प्राग्भक्त औषध दिया जाता है। जैसे भोजनोत्तर आध्मान, सौहित्यासहिष्णुता, शूल प्रभृति विकृतियो में हिंग्वष्टक का प्राग्भक्त उपयोग होता है। रोगी चावल खाता हो तो प्रथम कवल में हिंग्वष्टक योग्य प्रमाण में तथा घृत मिला उसका सेवन किया जाता है। रोगी चावल न खाता हो तो रोटी या टिक्कड़ के एक अंश पर घृत मिश्रित हिंग्वष्टक चुपड कर उसका सेवन कराया जाता है। इसके अनन्तर तत्काल शेष आहार लिया जाता है। इस प्रकार औषध-सेवन का परिणाम यह होता है कि, वह अन्न-पचन के अङ्ग रूप में हुए पित्त के उदीरण के कारण शीघ्र और सरलता से पच जाता है। बलक्षय नहीं करता। वह अन्न से आवृत (पीडित) होने के कारण उत्क्लिष्ट हो बार-बार मुख से बाहर निकल नहीं आता। इसका उपयोग शिशु, वृद्ध, भीरु, दुर्बल और स्त्रियो में करना चाहिए।

मध्येभक्त औषध-काल—आधा भोजन करने के पश्चात् औषध लिया जाए और पश्चात् शेष अर्ध भोजन लिया जाए तो इसे मध्येभक्त कहा जाता है। समान

१—देखिए प्रथमखण्ड, अ० २।

वायु की विकृति होने पर औषध मध्येभक्त दिया जाता है। यह औषध अन्न से आवृत होने के कारण बहुत प्रसरणशील नही होता। अत मध्यदेह (कोष्ठ, धड) मे हुए रोगो का तथा पैत्तिक रोगो को शान्त करता है।

अधोभक्त औषध-काल—उदान वायु की विकृति से हुए रोगो में—ऊर्ध्व-कायगत विविध रोगो में—भोजन के तत्काल पश्चात् औषध दिया जाता है। इसे अधोभक्त कहते है। यह ऊर्ध्वकायगत रोगो को शान्त करता है, शरीर को स्थूल करता है तथा ऊर्ध्वकाय को बल देता है। व्यान वायु की विकृति से रोग हुआ हो तो औषध पूर्वाह्न के भोजन के अनन्तर देना चाहिए, तथा रोग उदान वायु की विकृति से हुआ हो तो विशेषतया सायकालिक भोजन के अनन्तर।

सभक्त औषध-काल—रोगी स्त्री हो, दुर्बल, शिशु या वृद्ध हो, औषध-द्वेषी (औषध के प्रति अरुचि रखनेवाला) हो और उसे पृथक् औषध दी जाए तो उसके वीर्य को सहन न कर सके किंवा अरुचि के कारण औषध लेना शक्य न हो या कथचित् औषध ले तो ग्लानि, वमन आदि हो जाए, एव रोग सर्वाङ्गगत हो तो औषध को अन्न के साथ सयुक्त कर दिया जाता है। इसे सभक्त औषध-काल कहा जाता है। मण्ड, पेया आदि आहार-द्रव्य केवल धान्यो मे सिद्ध किए जाते है और औषध-समेत शूकधान्यो या शिम्बीधान्यो मे भी उन्हें सिद्ध किया जाता है। औषध-सिद्ध मण्ड, पेया आदि बनाने के लिए औषध-द्रव्यो का क्वाथ बना कर मण्ड आदि बनाने के लिए जल के स्थान पर इस क्वाथ का उपयोग किया जाता है[1]। औषध-साधित अन्नपान को तत्-तत् प्रकार से रोचक बना कर देना चाहिए। साधन के समय औषध-द्रव्य को अन्नपान में मिलाया न जाए, परन्तु अन्नपान के साथ औषध लिया जाए तो उसे भी सभक्त (या 'सभोज्य') कहा जाता है। घृतादि स्नेह द्रव्यो के सेवन के दो प्रकार है—स्नेहो का केवल उपयोग तथा मण्ड, पेया आदि में मिला कर उपयोग। स्नेहो का अकेले उपयोग किया जाए तो तो इसे अच्छपेय कहा जाता है। अन्य द्रव्यो के साथ मिला कर उपयोग किया जाए तो इस उपयोग को विचारणा कहते है[2]। अन्न-सहित लिए गए स्नेह-द्रव्य सभक्त औषध के ही प्रकार कहे जा सकते है।

सामुद्ग औषध-काल—भोजन के पूर्व और पश्चात् (तत्काल या कुछ आगे-पीछे) दोनो समय औषध लिया जाए तो इसे सामुद्ग कहते है। सामुद्ग का अर्थ होता है सपुट (अञ्जलि, पेटी आदि के दो परस्पर सयुक्त अग)। पूर्व

१—च० सू० २।१७-३४ मे चरक ने विविध रोगो मे विविध औषधो से यवागू-सिद्ध करने के लिए पाठ दिए है।

२—देखिए—च० सू० १३।२३-२८।

और पश्चात् सेवित औषध अन्न को सपुटित-सा करते है अत. इसे सामुद्ग कहा जाता है। कम्प, आक्षेप और हिक्का में एवं दोष ऊर्ध्व और अध. दोनो दिशाओ मे प्रसृत हो तो सामुद्ग औषध दिया जाता है। इसमें भोजन लघु और अल्प लेना चाहिए। औषध अवलेह, चूर्णादि रूप में पाचन लिया जाता है।

अन्तराभक्त औषध-काल--प्रात कालिक तथा सायंकालिक भोजन के मध्य में औषध लिया जाए तो इस काल को अन्तराभक्त औषध-काल कहते है। पूर्वाह्न मे (दिन के पूर्व भाग मे) किया भोजन पच जाने पर अन्तराभक्त औषध दिया जाता है और औषध जीर्ण हो जाने पर अपराह्न में (दिन के पिछले भाग में) भोजन किया जाता है। भक्त शब्द काल-वाचक इन शब्दो में भुक्त या भोजन के अर्थ में व्यवहृत हुआ है। भक्त (भोजनद्वय) के अन्तरा (मध्य) में लिया गया (अन्तराभक्त) औषध हृद्य (हृदय के लिए हित तथा प्रिय[1]), मनोबलकर, दीपन और सदा पथ्य होता है। पुरुष का अग्नि दीप्त हो तथा रोग व्यान वायु के कोप से हुआ हो तो अन्तराभक्त औषध देना चाहिए।

ग्रास या सग्रास औषध-काल--अन्न के एक या अधिक ग्रासो (कवलों) के साथ संयुक्त कर औषध दिया जाय तो इसे ग्रास या सग्रास कहते है। सभक्त मे औषध संपूर्ण भोजन के साथ पका कर दिया जाता है, या सभी ग्रासो के साथ दिया जाता है। ग्रास में कुछ ही ग्रासो के साथ औषध लिया जाता है। यह दोनो मे भेद समझना चाहिए। जिनका अग्नि दुर्बल हो उन्हे दीपनीय औषध इस रीति मे दिया जाता है। वाजीकर द्रव्यो के लिए भी यह विधान है। प्राण वायु की विकृति में ग्रास का उपयोग होता है।

ग्रासान्तर औषध-काल--दो-दो ग्रासो के मध्य में औषध दिया जाए तो इसे ग्रासान्तर कहते है। यह योजना भी प्राण वायु की दुष्टि में की जाती है। यथा, श्वासादि रोगो मे वमनीय धूम, तथा अनुभव-सिद्ध अवलेह ग्रासान्तर दिए जाते है[2]।

मुहुर्मुहुः औषध-काल--मुहुर्मुहु का अर्थ है--पुन.-पुन, बार-बार। अन्न के साथ या उसके बिना मुहुर्मुहु औषध का उपयोग अति प्रसृत (जिसका वेग दीर्घ हो ऐसे ; अंग्रेजी में जिसे स्टेटस एस्थमेटिकस कहते है ऐसे) श्वास मे, अति

१—हृद्या हृदयहिता हृदयप्रियाश्च—सु० उ० ४७।४३ पर डल्हन।

२—अन्तराभक्त, ग्रास और ग्रासान्तर के ये अर्थ सुश्रुत तथा वाग्भट के अनुसार दिए है। चक्रपाणि ने चरक की टीका मे ग्रास और ग्रासान्तर एक काल मान कर उसका वही अर्थ दिया है जो हमने ऊपर ग्रासान्तर का दिया है। अन्तराभक्त का अर्थ चक्रपाणि ने 'ग्रास' के उक्त अर्थ जैसा बताया है। आगे मतान्तर भी उसने दिए है।

प्रसृत नाम प्रसक्त, दीर्घ काल तक जिसके वेग आते रहें ऐसे कास में, एव हिक्का, वमन, पिपासा और विषज-विकारो में होता है।

सग्रह में ग्यारहवाँ नैश या रात्रि काल भी गिना है। ऊर्ध्वजत्रुगत रोगों में इस काल में औषध का विधान किया है।

शार्ङ्गधर ने औषध-ग्रहण काल सरल करके पाँच बताए हैं--सूर्योदय के कुछ पश्चात्, दिन में भोजन के समय, रात्रि के भोजन के समय, मुहु तथा रात को सोते समय।

ये दस या ग्यारह औषध-काल हैं। आज वैद्य नवीनो की अनुकृति में प्रात -मध्याह्न-साय औषध-योजना करते देखे जाते हैं। दोष और रोग देख कर काल के विचार को लक्ष्य में रखना चाहिए।

भोजन-काल--औषध-कालो के प्रकरण में ही तन्त्रकार ने भोजन-काल का भी निर्देश किया है। वह भी द्रष्टव्य है--

विसृष्टे विण्मूत्रे विशदकरणे देहे च सुलघौ
विशुद्धे चोद्गारे हृदि सुविमले वाते च सरति।
तथाऽन्न श्रद्धाया क्लमपरिगते कुक्षौ च शिथिले
प्रदेयस्त्वाहारो भवति भिषजा कालः स तु मतः[1] ॥

सु० उ० ६४।८४

मल और मूत्र की प्रवृत्ति हो जाए, हृदय सुविमल हो जाए---रसशेषकृत गौरवादि से रहित एव अनाकुल हो जाए, एकादश इन्द्रियाँ विशद (निर्मल, पटु, स्वकार्य में प्रवृत्तिशील) हो जाएँ, शरीर अति लघु (गुरुत्व रहित) हो जाए, उद्गार विशुद्ध हो जाए---दोष-भेद से होनेवाले अजीर्णों के मधुर, अम्ल रस या धूमगन्ध से शून्य हो जाए, इतर स्रोतो के मुख भी विशुद्ध हो जाएँ; दोष अपने-अपने आशय और बहिर्मुख स्रोत के प्रति गतिमान् होने लगे, यथा, वायु अनुलोम हो कर सरने लगे---अधोमार्ग से प्रवृत्त होने लगे; अग्नि उद्रिक्त (पाकक्षम) हो जाए, परिणामतया, क्षुधा का उदय और अन्न के प्रति श्रद्धा का प्रादुर्भाव हो जाए, क्लम (अनायास श्रम) निवृत्त हो जाए; एव बुभुक्षा का आविर्भाव होने से कुक्षि (उदर) भी शिथिल---स्तब्धता-रहित---हो जाए उस काल में---उस स्थिति में ही विधिवत् बनाए आहार का शास्त्रोक्त नियम-पूर्वक सेवन करे। भोजन का यही समय है[2]। अन्यथा---

---

१---कुछ भेद से यह पद्य अ० हृ० ८।५५ में आया है। उसके पठान्तर का भी अर्थ यहाँ ले लिया है।

२---पद्य में धीरललिता छन्द है।

पुरुष अप्राप्तकाल नाम उक्त लक्षणों के उदय के पूर्व भोजन करे तो शिरोरुजा-प्रभृति सामान्य विकृति से आरम्भ कर मरण पर्यन्त घोर परिणामो का ग्रास होता है। अतीतकाल भोजन करे तो अग्नि वायु से उपहत हो जाने के कारण अन्न का सकृच्छ्र पचन होता है और अगले काल पर आहार की इच्छा पुरुष को होती नही[1]।

वायु से अग्नि के उपहत होने का तात्पर्य यह है कि पाचक पित्त का वहन करने-वाले स्रोतो के मुख वात के प्रकोप से सर्वथा रुद्ध या सकुचित हो जाते हैं; साथ ही स्रोत स्तब्ध हो जाने से नाम पित्त का वहन करने में कारणभूत आकुञ्चन-प्रसारणात्मक कर्म क्षीण हो जाने से पित्त का वहन भी सम्यक् नही होता। वायु के कोपवश पित्त का क्षय भी होता है, जिसका अर्थ यह होता है कि पित्त का स्वरूप प्राकृत नही रहता--तीक्ष्णत्वादि गुण उसमे यथोचित प्रमाण मे रहते नही।

पित्तवह स्रोत शब्द से नव्योक्त पाचक पित्तोत्पादक ग्रन्थियाँ तथा उनके वहन करनेवाली नाडियाँ (डक्ट) दोनों गृहीत हैं। आर्तववह, स्वेदवह आदि स्रोतो से भी ग्रन्थियाँ नाडियाँ दोनों गृहीत होती हैं। वायु से पित्तवह स्रोतों की उपहति (दुष्टि, अवरोध) का जो स्वरूप ऊपर बताया है, प्राय वही स्वरूप अन्य स्रोतो की दुष्टि या वैगुण्य का भी होता है। स्रोत के प्राकृत कर्म के भेद से परिणाम-भेद होता है, इतना ही भेद है।

इस प्रकार रोग-परीक्षा के प्रसग से परीक्ष्य काल के सवत्सर और आतुरावस्था रूप दो भेदों का विचार सपूर्ण हुआ। अब अग्नि तथा कोष्ठ का निरूपण आयुर्वेदमतानुसार किया जाता है।

आहारशक्ति तथा अग्नि की परीक्षा

रोग-परीक्षा मे आहार-शक्ति की परीक्षा भी एक अङ्ग है। बलायुषी ह्याहारायत्ते (च० वि० ८।१२०)--बल और आयु का आधार आहार ही है। आहार-शक्ति का अर्थ है--अभ्यवहरण-शक्ति तथा जरण-शक्ति। रोगी का सर्वग्रह कितना है[2] इसे देख कर उसकी अभ्यवहरण-शक्ति--वह आहार कुल

१--देखिए सु० |सू० ४६।४७२-७३

२--आहार-विधि मे आहार की राशि (प्रमाण) भी बतायी जाती है। राशि के दो भेद है--सर्वग्रह तथा परिग्रह। रोटी, दाल, शाक आदि सर्व आहार्य द्रव्यो का मिलित (एक पिण्डरूप) प्रमाण सर्वग्रह कहाता है। प्रत्येक के पृथक् प्रमाण को परिग्रह कहते है। नित्य के भोजन का सर्वग्रह निश्चित रखना चाहिए। कोई नवीन वस्तु थाली मे आई हो तो नित्य के भोजन मे से अन्य द्रव्य का उतना-->

मिला कर कितनी मात्रा में ले सकता है यह बात--जानी जाती है। परन्तु आहार का सर्वग्रह तो प्रकृत्यारम्भक तथा विकृतिजनक वात के कारण अधिक भी हो सकता है। वातप्रकृति पुरुष दन्दशूक (पेटू) होते हैं, यह वात प्रकृति के लक्षणों में कह आए हैं। इस विशेषण का अर्थ यह होता है कि--उन्हें भूख हो या न हो, उन्होंने खाना खाया हो या नहीं, खाया भोजन पचा हो या नहीं--उनके सामने कोई आहार्य वस्तु आई नहीं कि वे उस पर गृध्र आदि के सदृश टूट पडते हैं। यह भी देखते नहीं कि वह वस्तु उनके लिए हितकर नहीं है, और उसके अहित होने का अनुभव कुछ ही काल पूर्व, कदाचित् गत दिन, उन्हें हो चुका है। यही समझते हैं--जानो कल खाना मिलनेवाला नहीं। उन्हे गृध्र, काक आदि के समान अनूक (स्वभाव) वाला कहा है, उसका एक कारण यह दन्दशूकता है। वातकृत विकृतियों में भी विकार-भूत क्षुधा, लौल्य आदि लक्षणतया देखे जाते हैं, यथा, वातिक ग्रहणी, मधुमेह तथा स्थौल्य (मेदस्विता) में। वातिक ग्रहणी में तो 'गृद्धिः सर्वरसानाम्' इन शब्दों से निर्दिष्ट यह जिह्वा-लौल्य तथा मनोदैन्य रोग को असाध्य बनाने में हेतु होते हैं।

राजयक्ष्मा को भी इस प्रकरण में स्मरण किया जा सकता है। इस रोग में रस धातु के मार्ग (स्रोत) कफ जिनमें मुख्य है उन वातादि दोषों से अवरुद्ध होते हैं--कफप्रधानैर्दोषैस्तु रुद्धेषु रसवर्त्मसु (सु० उ० ४१।६)। कफ से रसवह स्रोतों की दुष्टि का अर्थ है रस का वहन मन्द होना, स्रोतों की कला कफ-युक्त रस से पूर्ण (कजेस्टेड) होने के कारण उनका अवकाश स्वल्प हो जाने से रस का योग्य प्रमाण में वहन न होना, किंवा अर्बुद, धमनीप्रतिचय, स्वयं कफ आदि द्वारा उनका अवरुद्ध होना। राजयक्ष्मा में मन्दता प्रधानतया स्रोतोरोध का कारण होती है। रसवह स्रोत कफादि दोषों द्वारा विगुण होने का परिणाम यह होता है : पुरुष के धातु क्षीण होने से उनकी पुष्टि के लिए क्षुधा अधिक लगती है। यक्ष्मा में मांस धातु का ही क्षय विशेष होता है, अतः उसकी पूर्ति के लिए मांस की ही इच्छा उसे विशेष होती है, ऐसा तन्त्रकारों ने कहा है। (देखिए : यक्ष्मा के पूर्वरूपों में--शुक्लेक्षणो भवति मांसपरो रिरंसुः--सु० उ० ४१।२६)। परन्तु पूर्वोक्त संप्राप्ति के अनुसार प्रथम तो पित्तवह स्रोत भी कफदुष्ट होने से पाचक पित्त का स्रवण मन्द और अल्प होता है। पश्चात्, जो अन्नरस बनता भी है उसका पच्यमानाशय से हृदय के प्रति और हृदय से सर्वधात्वाशयों के प्रति वहन भी मन्द तथा प्रमाण में अल्प ही होता है। परिणाम में, रोगी बुभुक्षा-

←--हीं प्रमाण निकाल देना चाहिए। इस प्रकार राशि की रक्षा स्वास्थ्य के लिए आवश्यक है। राशि के प्रकरण के लिए देखिए च० वि० १।२८।

नुरूप पुष्कल खाता है, भुक्त द्रव्य भी बृंहण होते हैं, तथापि उसके धातुओं तथा शरीर का पोषण और बलाधान नहीं होता। अश्नतश्चापि बलमांसपरिक्षय — (च० चि० ८।३४) इस सुस्मरणीय पूर्वरूप द्वारा चरकाचार्य ने यही स्थिति दर्शाई है। यह लक्षण चालू रहे तो रोगी प्रत्याख्येय कोटि में पहुँच जाता है। प्रत्याख्येय यक्ष्मा के लक्षणों में एक लक्षण सुश्रुत ने महाशनं क्षीयमाणम् (सु०उ० ४१।३१) बताया है। वह रसवहस्रोतोरोध की पराकाष्ठा का निदर्शक है।

किंबहुना, प्रकृत्यारम्भक या विकृतिजनक दोष के कारण कभी पुरुष का आहार प्रमाण में बहुत होता है। परन्तु उससे——उसकी अभ्यवहरण-शक्ति से——उसके अग्निबल का अनुमान नहीं होता। अग्नि की परीक्षा तो अग्निं जरणशक्त्या (च० वि० ४।६) इसी बात से होती है कि पुरुष कितने प्रमाण में, तथा तत्-तत् दोष के अभिभव के लक्षणों की उत्पत्ति के बिना, अन्नपान का जरण (पचन) कर सकता है। इस प्रकार, जरण-शक्ति से अग्नि के बल का परिज्ञान होता है। परन्तु, अग्नि की परीक्षा में उसका किसी दोष-विशेष से संसर्ग होने के कारण किसी प्रकार की विकृति तो नहीं है, यह देखा जाता है।

दोष-भेद से पाचकाग्नि के भेद[1]——

दोष-भेद से पाचकाग्नि के चार भेद होते हैं। इनमें दोषों का साक्षात् संसर्ग यद्यपि पाचकाग्नि के साथ होता है यही कहा है तथापि आयुर्वेद का मन्तव्य है कि धात्वग्नियों का बलाबल पाचकाग्नि के अधीन होता है। परिणामतया, पाचकाग्नि के बलाबल का प्रभाव धात्वग्नियों पर भी पड़ता है। उदाहरणतया, पित्त द्वारा पाचकाग्नि अभिभूत (प्रभावित) हो तो वह तीक्ष्ण हो जाता है। उसके तैक्ष्ण्य का प्रभाव धात्वग्नियों पर भी पड़ता है। इसीसे कहा है——तीक्ष्णो मन्देन्धनो धातून् विशोषयति पावकः——च० चि० १५।५०। फलितार्थ यह है कि—— दोष-भेद से पाचकाग्नि के जो भेद कहे हैं वे धात्वग्नियों के भी समझने चाहिए[2]।

१——स्थल च० चि० १५।२१५-२२१, च० वि० ६।१२, च० चि० १५।५०-५१, सु० सू० ३५।२४-२६ तथा चक्रपाणि-डल्हन, अ० हृ० सू० १।८ तथा अरुण-हेमाद्रि।

२——देखिए शारीरेषु (अग्निषु) इति सामान्यवचनेन सर्वशरीरगतानग्नीन् ग्राहयति। विवरणे तु जठराग्नेरेव 'तीक्ष्णोऽग्निः सर्वापचारसहः' इत्यादिना यच्चातुर्विध्यमुक्तं तज्जठराग्नितीक्ष्णत्वादिमूलकमेव त्वगग्न्यादितीक्ष्णत्वादिकमिति ज्ञापयति। वचनं हि——तन्मूलास्ते हि तद्वृद्धिक्षयवृद्धिक्षयात्मकाः (च० चि० १५।३९) इति।——च० चि० ६।१२ पर चक्रपाणि।

प्रकृति-भेद से पुरुषों का अग्निस्थान तत्-तत् दोष से अभिभूत होने से अग्नि के तीन भेद होते हैं तथा दोष समावस्था में हो और उनका कोई विकृत प्रभाव अग्निस्थान और अग्नि पर न हो तो अग्नि का चौथा भेद होता है। इस प्रकार अग्नियों के चार भेद होते हैं--तीक्ष्ण, मन्द, विषम और सम।

समाग्नि--पुरुष दोष, देश, प्रकृति आदि की दृष्टि से सम (युक्त) अन्नपान का सेवन करता हो तो उसके वात, पित्त, कफ ये शारीर दोष सम और प्रकृतिस्थ रहते हैं[1]। उनके कारण अग्नि भी सम रहता है। वह यथाकाल सेवित अन्न का सम्यक् पचन करता है--आगे तीक्ष्णादि भेदों में जिन विकृतियों का उल्लेख किया है उनमें से किसी को उत्पन्न नहीं करता, जिससे सभी दोष, धातु, उपधातु और मल समावस्था में रहते हैं। परिणामतया, शरीर के आरोग्य, पुष्टि, बल और आयु की वृद्धि होती है। पुरुष अहिताहार-विहार न करे तो इस अग्नि का साम्य स्थिर रहता है। अहिताहार-विहार से उसमें तदनुरूप मन्दता आदि विकृतियाँ आ जाती हैं। स्वस्थवृत्तोक्त चर्या के अनुष्ठान द्वारा इसकी समता की रक्षा करनी चाहिए।

दोषाभिभूत अग्नि के तीन भेद होते हैं। पुरुष वात-प्रकृति हो और उसका अग्न्यधिष्ठान[2] वात से अभिभूत हो तो अग्नि विषम होता है। इसी प्रकार पुरुष पित्त-प्रकृति हो और उसका अग्निस्थान पित्त से अभिभूत (आवृत) हो तो उसका अग्नि तीक्ष्ण होता है। एवं, पुरुष कफ-प्रकृति हो और उसका अग्निस्थान कफ से अभिभूत हो तो उसका अग्नि मन्द होता है। तात्पर्य, प्रकृतियों के निरूपण में कहा गया है कि, पुरुष की प्रकृति का आरम्भक दोष अल्पमात्र अपचार (अहिताहार-विहार) से कुपित हो जाता है। सो, किसी अपचार से प्रकृत्यारम्भक दोष का कोप हुआ हो और उसका स्थानसंश्रय अग्न्यधिष्ठान में हुआ हो तभी अग्नि में तीक्ष्णत्वादि विकृतियाँ आती हैं। यह बात सत्य है कि, उक्त कारण-वशात् तत्-तत् प्रकृति में तत्-तत् दोष का प्रकोप प्राय होता रहने से तत्-तत् प्रकृतिवाले पुरुष की अग्नि में तत्तद्दोषारब्ध विकृतियाँ प्राय विद्यमान रहती ही हैं।

१--प्रकृतिस्थ शब्द का उपयोग इसलिए किया है कि तीन या दो दोष कुपित या क्षीण होने पर भी उनका कोप या क्षय सम हो सकता है। केवल सम शब्द से ऐसे दोषों का भी ग्रहण होता। देखिए च० वि० ६।१२ पर चक्रपाणि।

२--देखिए वाताभिभूतेऽग्न्यधिष्ठान इतिवचनेन वातलानामपि यदैवाग्न्यधिष्ठानोपघातो वातेन क्रियते, तदैव वैषम्यं भवति। एव पित्ताभिभूत इत्यादावपि व्याख्येयम्। च० वि० ६।१२ पर चक्रपाणि।

तीक्ष्णाग्नि--पुरुष पित्त प्रकृति हो तथा उसका अग्न्यधिष्ठान अपने प्रकोपक कारणो के सेवन से सुलभ प्रकोप को प्राप्त पित्त से अभिभूत हो तो पुरुष का अग्नि तीक्ष्ण होता है। जैसा कि नाम से सूचित है इसमे पित्त का पाक-क्षम तीक्ष्ण गुण वृद्धि को प्राप्त हुआ होता है, अत. उसका, एवं तदाश्रित धात्वग्नियो का पचनात्मक व्यापार बढ जाता है। विषम हुए रोगारम्भक दोष का जो भी गुण क्षीण या वृद्ध होता है तदनुसार तत्-तत् रोग का प्रादुर्भाव होता है। इसका एक उदाहरण पित्त के तीक्ष्ण गुण के प्रकोप से तीक्ष्णाग्नि के प्रादुर्भाव का है। पैत्तिक ग्रहणी मे पित्त का द्रव गुण वढ़ा होता है। वृद्धि को प्राप्त द्रव गुण अग्नि की तीक्ष्णता को उसी प्रकार नष्ट कर देता है जैसे उष्ण भी जल अपने द्रवत्व से अग्नि को बुझा देता है[1]। पाण्डु रोग मे पित्त के तैक्ष्ण्य से रस धातु क्षीण हो जाता है, जिससे स्वय रक्त की भी पुष्टि नही होती। परिणामतया, उसके मल पित्त का भी क्षय होता है। परन्तु, द्रव, पीत आदि गुणो की वृद्धि हो कर शैथिल्य, पीतता, शोथ आदि लक्षण उत्पन्न होते है।

अस्तु। पित्त का तीक्ष्ण गुण कुपित होने मे एक कारण तो मदिरा, सोमल, गाँजा, भॉग इत्यादि अपने प्रकोपक कारणो से पित्त के तीक्ष्ण गुण की साक्षात् वृद्धि है। अन्य कारण यह है कि, अपने विरोधी गुणो से पित्त को समावस्था में रखनेवाला कफ[2] अपने क्षयकारक कारणो से क्षीण हो जाता है। तथाहि

नरे क्षीणकफे पित्तं कुपितं मारुतानुगम्।
स्वोष्मणा पावकस्थाने वलमग्ने प्रयच्छति॥
च० चि० १५।२१७

इसी कारण इसके उपाय भी ऐसे होने चाहिए जो कफ की वृद्धि तथा पित्त का शमन करे। साथ ही वायु को भी समावस्था में लाएँ। तीक्ष्णाग्नि की चिकित्सा का उपसहार करते चरकाचार्य कहते है--

कफे वृद्धे जिते पित्ते मारुते चानल समः।
समधातोः पचत्यन्नं पुष्ट्यायुर्बलवृद्धये॥
च० चि० १५।२१४

१--देखिए पैत्तिक ग्रहणी के निदान मे-- × × × पित्तमुल्वणम्। अग्निमाप्लावयद्धन्ति जले तप्तमिवानलम्।--च० चि० १५।६५, पैतिकग्रहण्या पित्तस्याग्निसमानतया वर्धनमेव युक्तमित्याशङ्क्य पित्तस्य द्रवत्वेनाग्निहननं क्रियते इति दर्शयन्नाह--आप्लावयद्धन्त्यनलमिति। आप्लावन द्रवेणार्द्रीकरणम्। उष्णस्यापि द्रवतया अग्निनिर्वापणे दृष्टान्तमाह--जल तप्तमित्यादि--चक्रपाणि। २--देखिए सु० सू० २१।१२

इस प्रकार उत्पन्न हुआ तीक्ष्णाग्नि सर्वापचारसह होता है—कोई अपचार नाम अशपान-विधित्याग किया जाए, तो उसे वह सहन कर लेता है। उससे उसके बल में कोई अन्तर नही आता। यथा, प्रभूत मात्रा मे भी अन्न लिया जाए तो वह उसे शीघ्र पचा देता है।

तीक्ष्णाग्नि तैक्ष्ण्य के भेद से तीन प्रकार का होता है—तीक्ष्ण, तीक्ष्णतर जिसे अत्यग्नि या भस्मक कहते है; तथा तीक्ष्णतम। ऊपर दिया तीक्ष्णाग्नि का लक्षण उसके प्रथम भेद का है। कफ का क्षय एव पित्त का प्रकोप होने से शरीर धातुओ के गुरु-स्निग्धादि गुणो का (नवीन सज्ञा में—प्रोटीन, स्नेह,—फैट—आदि का) पचन और शोषण एव रूक्षता की उत्पत्ति हो कर, अथवा अन्य शब्दो में धातुओ का क्षय हो कर परिणाम रूप में वायु का प्रकोप होता है। कफ का क्षय, वायु का कोप तथा अग्नि की तीक्ष्णता जितनी बढती जाती है उतनी-उतनी लक्षणो में वृद्धि होती जाती है। प्रारम्भ में—भुक्तेऽन्ने लभते शान्ति जीर्णमात्रे प्रताम्यति—च० चि० १५।२२०—प्रमुख लक्षण इतना ही होता है कि अन्नपान जीर्ण हो चुकने पर, खाने के दो-ढाई घण्टे बाद रोगी को ग्लानि होती है—वह विलक्षण अरति और असुख का अनुभव करता है। लक्षणों की शान्ति तभी होती है जब रोगी कुछ भी खा लेता है। कई बार तो रोगी को खा लेने से लक्षणो की शान्ति का परिज्ञान हुआ नहीं होता। वह केवल अरति का उल्लेख करता है। पूछने पर उसका भोजन-काल से सबन्ध विदित होता है। कदाचित् रोगी को एकाध बार भोजन से रोगोपशान्ति का अनुभव हुआ हो तो उसकी स्मृति भी हो आने की सभावना होती है। अन्यथा, उपशयानुपशय-परीक्षा का आश्रय ले उसे अरति के समय लघु अशन (बिस्कुट इत्यादि) खिला कर रोग-विनिश्चय किया जा सकता है।

स्थिति उक्तरीत्या बढती जाए तो—विशेषकर रोगी अज्ञान, साधनाभाव आदि कारणो से गुरु, स्निग्ध, पिच्छिलादि गुणयुक्त अन्नपान का उचित प्रमाण में सेवन न करे तो—परिणाम यह होता है—तीक्ष्णो मन्देन्धनो धातून् विशोषयति पावकः[1] (च० चि० १५-५०)—तीक्ष्ण अग्नि का यह वैशिष्ट्य होता है कि, वह नियत काल पर लिए गए प्रभूत अन्नपान को शीघ्र पचा देता है। इस तीक्ष्णतर या अत्यग्नि सज्ञक अग्नि में यह विशेषता होती है कि—स मुहुर्मुहुः प्रभूतमप्युपयुक्तमन्नमाशुतरं पचति—(सु० सू० ३५।२४)—अन्न बार-बार और प्रभूत मात्रा में लिया जाए तो भी वह उसे शीघ्रतर पचा देता है। इसे अन्न के भस्मी-

१—अत्र मन्देन्धन इत्यनेन तीक्ष्णोऽपि यदि शुचीन्धनो भवति तदा धातु-पोषण भवतीति दर्शयति—चक्रपाणि।

करण के सामर्थ्य के कारण भस्मक भी कहते हैं। पचन के अनन्तर यह गल, तालु और ओष्ठ मे शोष (शुष्कता का भास), दाह और सताप उत्पन्न करता है।

विकृत धातुपाक की क्रिया बढती जाए तो धातुओ का पचन और तज्जनित क्षीणता में वृद्धि हो कर--तृट्श्वासदाहमूर्च्छाद्या व्याधयोऽत्यग्नि संभवाः'--(च० चि० १५।२२१)--उदकक्षय (डीहाइड्रेशन) के कारण तृषा, श्वास, दाह, मूर्च्छा आदि उपद्रवो का प्रादुर्भाव होता है। धातुपाकवश हुए धातुक्षय के कारण शरीर शुष्क और कृश हो कर भार में सहसा ह्रास तीक्ष्णाग्नि की आरम्भिक अवस्था में ही देखी जाता है। क्रमश धातुक्षय से दौर्बल्य की वृद्धि हो कर अन्त में रोगी ज्वर-प्रकरण में निर्दिष्ट धातुपाक के प्रसिद्ध लक्षणो के सदृश ही मृत्यु को प्राप्त होता है।

तीक्ष्णाग्नि नव्यमत से लवणाम्ल के प्रकोप से हुआ हाइपरक्लोर-हाईड्रिया प्रतीत होता है। इसके साथ थायरॉक्सीन, इन्सुलीन आदि आग्नेय द्रव्यो का भी कोप (अति स्रवण) होता है या नही, यह जानना चाहिए।

मन्द अग्नि--तीक्ष्णविपरीतलक्षणस्तु मन्दः (च० वि० ६।१२)--पुरुष कफ प्रकृति हो तथा अपने प्रकोप के कारणो के सेवन से जिसका प्रकोप अन्य दोषो की तुलना में विशेष सुलभ होता है उस कुपित हुए कफ दोष से पुरुष का अग्निस्थान अभिभूत हो--आम-पच्यमानाशय में कफ ने स्थानसश्रय किया हो तो उसका अग्नि मन्द (दुर्बल) होता है। अग्नि मन्द हो तो पुरुष अल्पमात्र भी आहार ले तथापि उसका पचन चिरकाल से होता है; इतना ही नही, साथ उदरगौरव (पेट में भारीपन की प्रतीति), शिरोगौरव, कास, श्वास, प्रसेक (लालास्राव), वमन तथा अङ्गसाद (शरीर शैथिल्य) इन कफ प्रकोपज लक्षणों को भी उत्पन्न करता है।

आगे देखेंगे कि, मन्द अग्नि शरीर में कफ के प्रकोप का कारण होता है। जठराग्नि मन्द हो तो उसीसे बल प्राप्त करनेवाले धात्वग्नि भी दुर्बल होते हैं। हैं। परिणामतया जो द्रव्य रसधातु के अङ्गभूत रह कर अन्य धातुओ एव शरीरावयवो के पोषण, धारण, तर्पण, जीवन, यापन के कार्य में प्रयुक्त होने चाहिए तथा जिनके शेषाश से श्लेष्मधरा आदि कफ स्थानो में स्थित कफ की सम प्रमाण मे पुष्टि होनी चाहिए वे गुरु-स्निग्धादि गुणयुक्त द्रव्य अग्नियो की मन्दता के कारण धातुओं और अवयवो के पोषणादि कार्यों में समग्रतया प्रयुक्त हो नही पाते, किंतु उनका बडा अंश इस प्रकार अनुपयुक्त अतएव मलभूत रहने से उससे पुष्टि प्राप्त करनेवाले कफ का ही सम प्रमाण से अधिक पोषण स्वभावत होता है। यह कफ तत्-तत् स्थान मे सचित हो तत्-तत् लक्षण उत्पन्न करता है। तद्यथा--उदरावयवों की सधि में स्थित श्लेष्मधरा-कला मे (नवीनो की पेरीटोनिअल

केविटी में) इसका विशेष सचय होता है तो उदर में गौरव की प्रतीति होती है। शिरोगत तर्पकधरा (नवीनों की मेनीजिज) में इसकी सचिति होती है तो शिर मे गुरुता का अनुभव होता है। प्राणवह स्रोतो मे यह सचय होने पर कास, श्वास होते हैं। आमाशय में कफ का सञ्चय हो तो कफज छर्दि होती है। सचित कफ का प्रमाण न्यून हो तब, किंवा वमन की पूर्वरूपावस्था में ग्लानि और प्रसेक होते हैं। सर्वशरीर में आम रस के सञ्चय से शरीर में गौरव और शैथिल्य होता है।

उदर और शिर का गौरव, कास, श्वास, प्रवाहिका प्रभृति कफोत्थ रोगो में कफ कभी रसधातु से पृथक् होता है तथा ष्ठीवन आदि में दृष्टिगोचर होता है। परन्तु कभी, जब कि यह परिपक्व हो कर रसधातु से पृथक् न हुआ हो, उस स्थिति में उल्लिखित आशयो में---उनकी कला में---शोफ के रूप में सचित रह कर भी तत्-तत् रोग-लक्षण उत्पन्न करता है। अग्रेजी मे इस स्थिति को 'कजेश्चन' कहते हैं। इसमें कफ का प्राधान्य होता है। कफ के मन्द गुण के कारण गुरु और शोफजनक रसधातु गति के मन्द होने से सञ्चित हो जाता है। पित्त के कारण जो स्थिति होती है उसे पाक (इन्फ्लेमेशन) कहते है। दोनो में से कोई अति वेदनाग्रस्त हो तो उसमें वात का अनुबन्ध समझना चाहिए। इस प्रकार दोष-भेद देख कर पश्चात् औषधानुपान तथा आहारादि की योजना में भेद करना चाहिए।

पुरुष कफप्रकृति हो या अन्य-दोष-प्रधान प्रकृति वाला, उसका अग्निस्थाल कफ से अभिभूत हो, परिणामतया उसका अग्नि मन्द और दुर्बल रहे, रोगी के सतत अहिताहार-विहार के कारण (मन्दाग्नेरहिताशिनः—सु० उ० ४०।१६७, ग्रहणी-अधिकार) यह स्थिति चालू रहे तो अग्नि सुतरा मन्द हो जाता है। अग्नि मन्द होने से अन्नपान को पाकावधि धारण करने का कर्म जिस पच्यमानाशय, पित्तधरा कला या ग्रहणी, या क्षुद्रान्त्र-सज्ञक अवयव का है वह भी हीनबल हो जाता है। कारण, ग्रहणी की ग्रहणशक्ति का आधार अग्निबल ही है। अग्नि बलवान् होगा तो जब तक वह अन्नपान का परिपचन पूर्णतया न कर ले तब तक ग्रहणी उसे धारण किए रखती है। अग्नि मन्द एव दुर्बल हो तो वह (ग्रहणी) भी उतने अश मे दुर्बल हो जाती है। परिणामतया, अन्न पूर्णतया पक्वावस्था को प्राप्त हो उसके पूर्व ही पक्वापक्व अन्नपान को वह पक्वाशय की दिशा मे छोड देती है। स्थिति यह होती है कि, अग्नि की मन्दता-प्रभृति कारणों से अन्न रस रूप में परिणत न हो शुक्त (सिरके) के रूप में परिवर्तित हो विष-तुल्य हो जाता है।

दुष्यत्यग्नि स दुष्टोऽन्नं न तत् पचति लघ्वपि।
अपच्यमानं शुक्तत्वं यात्यन्नं विषरूपताम्॥

च० चि० १५।४४

तथाऽन्नमपि तेनैव (अग्निना) पक्वममृतत्वं यात्यपक्वं च विषताम् ॥ अ० ग० शा० ६

नवीनो ने भी कहा है अपक्व अन्न का विदाह या अम्ल-पाक (फर्मेंटेशन) हो कर शुक्ताम्ल प्रभृति सेन्द्रिय और विषवत् विकार-जनक द्रव्य उत्पन्न होते है। प्राचीन दर्शन के अनुसार चराचर-मात्र के सदृश ग्रहणी में भी बुद्धि होती है, जिसके द्वारा वह अपने तथा शरीर के हिताहित की परीक्षा और निर्णय करने में शक्तिमान् होती है, तथा निर्णय कर हित की इच्छा तथा ग्रहण और अहित के प्रति द्वेष तथा उसके परित्याग का प्रयत्न करती है। उसके व्यापार इच्छा-द्वेषाधीन इस प्रयत्न के ही आश्रित होते है। समयोगयुक्त अग्नि आदि के समवाय से सम्यक् परिणत होते हुए अन्न और अन्न रस को पचन और ग्रहण के लिए ग्रहणी धारण किए रहती है। इस के विपरीत, अग्नि के दौर्बल्य के कारण उक्तरीत्या विषभूत द्रव्य उत्पन्न हो तो अपने लिए तथा शरीर के लिए अहित होने से ग्रहणी उन्हे छोड देने की ही चेष्टा करती है। नवीनो ने जिसे क्षोभ या इरिटेबिलिटी कहा है, उसकी यह कथा है। विष रूप द्रव्यो का स्पर्शमात्र ग्रहणी या पित्तधरा कला में क्षोभ उत्पन्न करता है, जिससे वह उन्हें छोड देती है। इस प्रकार ग्रहणी (प्रचलित नाम--सग्रहणी) रोग उत्पन्न होता है।

चरक सहिता में ग्रहणी अधिकार में (च० चि० १५) त्रिविध अग्नियो का निर्देश करते हुए मन्द अग्नि से ही ग्रहणी की उत्पत्ति बताई है। (देखिए— च० चि० १५।५१-५४ तथा उस पर चक्रपाणि की टीका)। इससे यह भी समझ लेना चाहिए कि 'अतीसारे निवृत्तेऽपि (सु० उ० ४०।१६७) इत्यादि ग्रहणी की सप्राप्ति दर्शानेवाले प्रसिद्ध पद्य में आए अतिसार शब्द से प्रवाहिका का ही ग्रहण सविशेष किया जाना चाहिए। चरक-सुश्रुत दोनो ने प्रवाहिका को अतिसार ही माना है। इस विषय का विशेष ऊहापोह इन रोगो के प्रकरण में करेंगे। प्रवाहिका में सचित कफ का ही प्राधान्य होता है—वायु प्रवृद्धो निचित बलास यह उसकी सप्राप्ति में कहा है। यह प्रवृद्ध कफ अग्नि-स्थान को भी अभिभूत कर अग्नि को मन्द और दुर्बल बनाता है। रोगी अहिताहार-विहार करता रहे तो अग्नि अधिक दुर्बल होती है, एव तदाश्रित ग्रहणी भी दुर्बलतर हो कर ग्रहणी रोग की सप्राप्ति का कारण बनती है। प्रत्यक्ष में भी ग्रहणी (सग्रहणी) प्रवाहिका के अनन्तर ही होती हुई विशेषतया देखी जाती है।

कफाधिष्ठित अग्नि के विषय में प्रसगवश इतना विचार कर अब वाताधिष्ठित विषमाग्नि का लक्षण प्रस्तुत करते है।

विषमाग्नि--पुरुष वात प्रकृति हो तो स्वल्पमात्र वात-प्रकोपक अहिताहार-विहार से उसमें वात का प्रकोप सुलभ होता है। इस कुपित वायु से अग्न्यधिष्ठान

अभिभूत हो तो अग्नि विषम होता है। उसके वैषम्य का स्वरूप यह होता है कि, कभी तो उसके द्वारा अन्न पचन मे कोई क्लेश नही होता—अन्नपान का सम्यक् जरण तो हो ही जाता है, उसके साथ या अनन्तर कोई विकार-विशेष भी उत्पन्न नहीं होता ; परन्तु कभी आध्मान, शूल, उदावर्त, अतिसार, उदरगौरव, अन्त्र-कूजन और प्रवाहण (प्रवाहिका के सदृश मलोत्सर्गका वन्ध्य वेग होना , निकुन्थन) के साथ अन्न का पचन करता है। होता यह है कि वायु अपने चल स्वभाव के कारण जब तक अग्निस्थान से अग्नि को बाहर नही निकाल फेंकता तब तक स्थान-स्थित होने से अग्नि अन्नपान का प्रथम स्थिति में कहा सम्यक् पचन करता है। परन्तु, कुपित वायु जब अग्नि को बहि प्रक्षिप्त कर देता है तो अन्नपान का पचन सम्यक् होता नही और समकाल द्वितीय स्थिति मे निर्दिष्ट लक्षण प्रकट होते हैं।—

विषमाग्नेर्वायुर्यदा न विक्षिपति तदाऽग्निः सम्यक् पचति, यदा पुनरितश्चेतश्च भागशो विक्षिप्तः स्यात्तदा सम्यङ्न पचति।

सु० सू० ३५।२४ पर डल्हन।

वाताभिभूत अग्नि के विषम होने की आयुर्वेद परक अन्य व्याख्या भी की जा सकती है। वायु, चाहे वह शारीर हो या बाह्य, उसे योगवाह कहा गया है। बाह्य वायु कभी सूर्य के साथ और कभी चन्द्र के साथ सयुक्त हो उनके गुणो का ग्रहण कर उनके यथासख्य शोषण-प्रधान तथा पोषण-प्रधान कर्मो को जगत् मे प्रसारित करता है। तद्वत्, बाह्य वायु का प्रतिनिधि शारीर वायु भी शरीर मे सूर्य और चन्द्र के प्रतिनिधिभूत पित्त और कफ के साथ सयुक्त हो कभी पित्त के दाह, औष्ण्य, पाक प्रभृति कर्म करता है तो कभी कफ के शैत्य, अग्निमान्द्य आदि कार्य किया करता है। वायु की इस क्रिया को योगवाहिता कहते हैं।—

योगवाहः परं वायु संयोगादुभयार्थकृत्।
दाहकृत् तेजसा युक्त शीतकृत् सोमसंश्रयात्॥

च० चि० ३।३८

वायु का कभी कफ के साथ और कभी पित्त के साथ (स) योग और उसके कारण उनके गुणो का वहन (धारण) वायु के वैषम्य या चलत्व (अनियमितता) के प्रभाव से होता है। इसकी कुछ व्याख्या नव्य-मत से यह की जा सकती है—वायु कभी सौम्य (पैरासिंपेथेटिक) नाडी सस्थान को उद्दीप्त करता है और कभी आग्नेय (सिंपेथेटिक) को। जब जिसके साथ वायु का योग होता है तब उसके गुण-कर्मो को प्रकट करता है।

वात और वाताभिभूत अग्नि के इस वैषम्यके कारण ही वात प्रकृति पुरुष की क्षुधा भी विषम होती है। परिणामतया, कभी उसकी क्षुधा और रुचि खूब प्रदीप्त होती है—वह आश्चर्यजनक राशि में आहार का ग्रहण करता है तो कभी उसकी रुचि और क्षुधा मन्द हो जाती है; पुष्कल प्रमाण में लिए आहार की आधी-पौनी मात्रा में ही अन्नपान वह लेता है। इससे रसोई घर की व्यवस्था में तो यत्किंचित् कठिनाई उपस्थित होती ही है, लक्ष्य प्रभाव तो पुरुष के शरीर पर पड़ता है। कभी क्षुधा उत्तम हो तो अन्नपान के प्रमाणानुसार रसधातु की भी सम्यक् पुष्टि होती है और तदाश्रित अन्य धातुओं का भी यथावत् पोषण हो कर उसका बल, प्रभा, मुख आदि का भराव उत्तम दिखाई देता है। कभी क्षुधा मन्द हो, अन्न का ग्रहण स्वल्प प्रमाण में होने के कारण रस और तदाश्रित धातुओं की पुष्टि भी सम्यक् नहीं होती। पुरुष इतने दिनों रूक्ष, शुष्क, दुर्बल और कान्तिहीन दिखाई देता है। वात प्रकृति पुरुषों के मुख की त्वचा (वदन) आदि में ये परिवर्तन पक्ष और सप्ताह में भी देखे जा सकते है तथा पुरुष की प्रकृति और अग्नि में वात के प्राधान्य को सूचित करते है।

इस प्रकार वातप्रकृति पुरुषों में वात के कारण अग्नि का वैषम्य होने से शरीर धातुओं के प्रमाण में भी वैषम्य देखा जाता है—विषमो धातुवैषम्यं करोति विषमं पचन्—च० चि० १५।५०।

विषमाग्नि के लक्षणों में आए उदावर्त शब्द की थोड़ी व्याख्या आवश्यक है। उदावर्त शब्द से सामान्यतया पुरीषादि के वेग का अवरोध करने से हुई वायु की विलोम गति तथा तदुक्त लक्षण-समुदाय का ग्रहण होता है। परंतु उदावर्त-प्रतिषेधाध्याय (सु० उ० ५५) में सुश्रुत ने तथा च० चि० २६।५-३१ में चरक ने उदावर्त का द्वितीय प्रकार भी बताया है—अपथ्यज। इसके लक्षण सुश्रुत में ३५ से ४१ पद्यों में कहे है। इनका तात्पर्य यह है कि रूक्ष, कषाय (चाय, सुपारी आदि), कटु, तिक्त द्रव्यों के अतियोग से यह उदावर्त होता है, इसमें पुरीष का अतिवर्तन (वर्तुलीभाव) आदि लक्षण होते है। इनका पूर्ण वर्णन आगे रोगाधिकार में करेंगे। यहाँ इतना ही कह दें कि, ये लक्षण आधुनिक युग में सुप्रचलित मलावष्टम्भ (कब्ज, कॉन्स्टिपेशन) के एक प्रकार-विशेष के है। मलावष्टम्भ आयुर्वेद-मत से अनेक कारणों से होता है। उसका भी विचार आगे प्रकरणानुसार किया जाएगा। विषमाग्नि के परिणामभूत लक्षणों में आए उदावर्त का अर्थ पुरीष का यह वर्तुलीभाव (गाँठ बन जाना) ही है। इसके साथ, विषमाग्नि के लक्षणों में अतिसार का भी पाठ है। इसका अर्थ यह है कि अग्नि विषम हो तो कभी पुरुष को अतिसार होता है तो कभी उदावर्त (ग्रथित मल प्रवृत्ति)। प्रकोपक निदान के अनुसार वायु के रूक्षादि गुणों का प्रकोप

होने से उसका प्रभाव पुरीष पर हुआ हो तो उदावर्त होता है, परन्तु सेवित निदानानुसार वायु के चल गुण का प्रकोप हो कर उसके आकुञ्चन प्रसारणात्मक व्यापार की अतिवृद्धि हो जाए और उसका स्थान सश्रय आम-पच्यमान-पक्वाशय में हो तो वाह्य द्रव्य को मलद्वार की दिशा में ले जाने की प्राण, समान और अपान की क्रिया में वृद्धि होती है, परिणामतया पुरीषधरा कला मे पुरीष के स्नेह और द्रव भाग के पचन और शोषण के लिए पर्याप्त काल अग्नि और वायु को सुलभ नही होता। मल द्रवप्राय रह जाता है। इस प्रकार द्रव मल की अति प्रवृत्ति होती है। इसी को अतिसार कहा जाता है।

ग्रहणी रोग मे भी अमुक कारण से मल कभी द्रव होता है और कभी बद्ध। यह उसका भेदक लक्षण भी होता है—मुहुर्बद्धं मुहुर्द्रवम्। उससे विषमाग्निजन्य कभी उदावर्त और कभी अतिसार इस लक्षण का भेद अन्य लक्षणो को दृष्टि मे रख कर करना चाहिए। व्यवसाय की दृष्टि से यह भी स्मरण मे रखना योग्य है कि, रोगियो को कई वार उदावर्त ही होता है। वे उसकी निवृत्ति के लिए जब-जब विरेचन लेते है तब-तब उन्हें द्रव मल की प्रवृत्ति होती है। कभी द्रव और कभी बद्ध मल प्रवृत्ति होने से ऐसी कोई स्थिति तो नही है यह प्रश्न-परीक्षा द्वारा विनिश्चित कर लेना चाहिए।

दोषाभिभूत अग्नियो का प्रकरण समाप्त करने के पूर्व एक-दो बाते जान लेनी चाहिए। ग्रहणी शब्द से रोगाधिकार में रोग-विशेष का ग्रहण प्रसिद्ध है। परन्तु तन्त्रकारो ने अग्नि के दोषाक्रान्त तीन भेदो को भी ग्रहणी रोग ही कहा है—

यश्चाग्निः पूर्वमुद्दिष्टो रोगानीके चतुर्विधः।
तं चापि ग्रहणीरोगं समवर्ज प्रचक्ष्महे॥

च० चि० १५।७१

दूसरी बात। अजीर्णो के विषय मे देखते है कि तत्-तत् अजीर्ण तत्-तत् दोष के कोप से उत्पन्न होता है और परिणाम मे स्वयं उसी दोष को कुपित भी करता है, जैसे विदग्धाजीर्ण पित्त के कोप से उत्पन्न होता है और स्वय पित्त को कुपित भी करता है। इसी प्रकार दोषाभिपन्न अग्नियो के विषय में भी उनके उपरिनिर्दिष्ट लक्षणो पर दृष्टिपात करने से जाना जा सकता है —प्रत्येक अग्नि जिस दोष से उत्पन्न होता है, उसीसे होनेवाले रोगो को उस दोष को प्रकुपित कर जन्म भी देता है। तथाहि

विषमो वातजान् रोगास्तीक्ष्णः पित्तसमुद्भवान्।
करोत्यग्निस्तथा मन्दो विकारान् कफ संभवान्॥

सु० सू० ३५।२५

ये अग्नियाँ ग्रहणीरोगान्तर्गत ही होने से उनके उपचार का उल्लेख ग्रहणी-रोगाधिकार में करेंगे।

त्रिविध अग्नियों के तत्तत् दोष से उत्पन्न होने में यह विशेष जानना चाहिए कि, जैसे शरीर की रचना वातादि तीनों दोष समुदित (मिलित) होकर करते हैं वैसे अग्नि की उत्पत्ति में भी तीनों कारणभूत है। तथापि अग्नि में वात का उत्कर्ष हो तो वह विषम होता है, पित्त का उत्कर्ष हो तो तीक्ष्ण, कफ का उत्कर्ष हो तो मन्द, और वे उत्कर्ष (आधिक्य, वृद्धि) तथा हानि (ह्रास, क्षय) रहित एवं सम हो कर अग्नि की रचना करते हों तो अग्नि सम होता है। संक्षेप में इनका लक्षण यह है—अनियतपाको विषमः आशुपाकस्तीक्ष्णः, चिरपाको मन्दः, शेषः समः (अ० हृ० सू० १।८ पर अरुण)। संग्रहकार पचन की काल-मर्यादा को दृष्टि में रख कर किए गए इस विभाग को विशद करते कहते हैं कि—आहार तथा औषध युक्त (समयोगयुक्त) हो तो अग्नि सम होने पर आहार का पाक चार प्रहर में तथा औषध का पाक दो प्रहर में होता है। अग्नि तीक्ष्ण हो तो पचन शीघ्र होता है, मन्द हो तो इस मर्यादा की अपेक्षया अधिक काल में पचन होता है। तथाहि :

यामैश्चतुर्भिर्द्वाभ्यां च भोज्य भैषज्ययोः समे।
पाकोऽग्नौ युक्तयोर्द्राक् तु तीक्ष्णे, मन्दे पुनश्चिरात्॥

अ० सं० सू० ११

जहाँ दो-दो या तीनों दोषों का उत्कर्ष—संसर्ग या सन्निपात—हो वहाँ दोष-भेद से अग्नि का स्वरूप भिन्न होता है। यथा, वात-पित्त का या वात-कफ का उत्कर्ष हो तो वायु के योगवाही होने से अग्नि इतर दोषानुसारी होता है, जैसे वात-पित्तज ज्वर में पित्तकृत् दाह तथा वात-कफज ज्वर में कफकृत् शैत्य देखा जाता है, एवं पित्त-कफज ज्वर में तथा सन्निपाताख्य ज्वर में कभी दाह होता है और कभी शीत, वही स्थिति अग्नि के स्वरूप में भी दोषों के संसर्ग और सन्निपात में देखी जाती है। अर्थात्—वातपित्त के उत्कर्ष से अग्नि तीक्ष्ण होता है, वात-कफ के उत्कर्ष से मन्द एवं पित्त-कफ किंवा तीनों दोषों के उत्कर्ष से पर्याय से (बारी-बारी) अग्नि मन्द या तीक्ष्ण होता है। पिछले प्रकार में अग्नि के इस वैषम्य का कारण यह होता है कि पुरुष कफ प्रकोपक आहार का सेवन करे तो उससे कफ प्रकुपित हो कर अग्नि को मन्द कर देता है तथा पित्त प्रकोपक आहार करे तो अग्नि पित्त प्रकोपक आहार वश तीक्ष्ण हो जाता है। यह अव्यवस्थित अग्नि विषमाग्नि का ही एक भेद है। अतः अग्नियों के समग्र भेद तीन ही रहते हैं।

जैसे सृष्टि की उत्पत्ति में विरुद्ध गुणवान् भी सत्त्व-रज-तम परस्पर मिल कर कार्य करते है वैसे रोग रूप कार्य की उत्पत्ति मे भी तीनों दोष विरुद्ध गुण-कर्म वाले होते हुए भी परस्पर सहकार से रोग को उत्पन्न करते है। ससृष्ट या सनिपतित दोषो से आरब्ध (उत्पादित) पूर्वोक्त अग्नियो मे भी दोष इसी प्रकार सहकार पूर्वक कार्य करते हुए इन अग्नियो को उत्पन्न करते है।

कोष्ठ की परीक्षा[1]

अग्नि की परीक्षा के साथ कोष्ठ की भी परीक्षा की जाती है। वमन, विरेचन तथा वस्ति इन तीन सशोधनो का परिणाम किस रोगी पर कैसा होता है, इनमे जो सशोधन रोगी को देना है वह किस द्रव्य से देने से कितनी सख्या तथा कितने प्रमाण में और किस अवधि का सशोधन होता है यह जाने बिना सशोधन दिया जाएगा तो उसका अतियोग, हीनयोग या अयोग होने की सभावना होगी। कोष्ठ के विचार मे सशोधनो मे प्रधान, जिसका व्यवसाय में सविशेष उपयोग होता है उस विरेचन का परिणाम किस पुरुष पर कैसा होता है यह देखा जाता है। प्रश्न-परीक्षा में देख आए है कि वमन का कैसा परिणाम रोगी पर होता है—उसे वमन सुगमता से होता है या कठिनाई (कृच्छ्र) से—वह सुच्छर्द है या दुश्च्छर्द—यह भी प्रश्न द्वारा विदित होता है। सो, कोष्ठ-परीक्षा मे वमनीयता का भी विचार किया जा सकता है, परन्तु मुख्यतया इसके द्वारा विरेचनीयता की कक्षा का ही परिज्ञान होता है।

कोष्ठ के भेद का कारण भी दोष ही है। कोष्ठ तीन प्रकार का होता है—क्रूर (कडा), मृदु और मध्य (म) (साधारण)। आरम्भ में ही विद्यार्थी को स्मरण करा देना योग्य है कि कोष्ठ की यह क्रूरता या मृदुता स्पर्शगम्य नही है। अर्थात् दवाने से उदर कठिन प्रतीत हो तो कोष्ठ क्रूर और उदर मृदु प्रतीत हो तो कोष्ठ मृदु होता है यह भ्रम न रखना चाहिए। विरेचनीयता को लक्ष्य मे रख कर ही आगे कहे जानेवाले प्रकार से ये भेद किए गए है।

मृदूकोष्ठ का लक्षण—

उदीर्णपित्ताऽल्पकफा ग्रहणी मन्दमारुता।
मृदुकोष्ठस्य, तस्मात् स सुविरेच्यो नरः स्मृतः॥
च० सू० १३।६६

१—स्थल सु० चि० ३३।२१, च० सू० १३।६५-६६, च० क० १२।६७-७६, अ० स० सू० २७, अ० हृ० सू० १।६, अ० हृ० सू० १८।३४, इन पर डल्हन, चक्रपाणि, अरुण-हेमाद्रि।

अग्नि की अधिष्ठानभूत ग्रहणी या पित्तधरा-कला में (पच्यमानाशय में) पित्त की प्रबलता हो, कफ अल्प तथा वायु निर्बल हो तो पुरुष का कोष्ठ मृदु होता है। वह सुविरेच्य होता है। अर्थात्—इसे उष्ण जल, घृत, दूध, पायस (खीर), कृशरा (तिल, तण्डुल और माष के संयोग से बनाई यवागू—खिचडी), द्राक्षारस, गम्भारी या त्रिफला का क्वाथ, इक्षुरस, गुड, मस्तु (दही के ऊपर का पानी), दही का सर (पानी डाले बिना मथा हुआ दही), पीलु का स्वरस या क्वाथ, तरुण (नया बना) मद्य, अम्ल तक्र, पूगीफल (चिकनी सुपारी), आरग्वध (अमलतास) इत्यादि मृदु द्रव्य मृदु (अल्प) मात्रा मे दिए जाएँ तो भी उन्हें सुख विरेचन हो जाता हे।

मृदु कोष्ठ पुरुष की ग्रहणी के मार्दव का कारण यह होता हे कि उसमें ऐसे पित्त का प्रकर्ष होता है जिसका सर (मलवातानुलोमनन) गुण सविशेष उदीरित हो। पित्त के सर गुण का विरोधक वायु तथा स्तम्भक कफ ग्रहणी मे मन्द होने से पित्त का ही कार्य विशेष दृग्गत होता हे। उसे मृदु मात्रा मे मृदु विरेचन द्रव्यो का साहाय्य दिया जाए तो सुख विरेचन होता है।

वायु की विरोधक क्रिया का स्वरूप ग्रहणी में यह समझा जा सकता है कि ग्रहणी में वायु का प्रकोप हो तो मल के अनुलोमन के लिए जिस समगति से आकुञ्चन-प्रसारणात्मक व्यापार होने चाहिए वैसे नही होते। समय-समय पर कुछ काल के लिए वात प्रकोपवश गति का स्तम्भ हो जाता है। इसका स्मरणीय परिणाम यह होता है कि अग्नि और वायु को पुरीष के स्नेह और क्लेद के पचन और शोषण का समय अधिक मिलता है, जिससे उसमें वायु की वृद्धि के तारतम्य के अनुसार न्यूनाधिक सान्द्रता आदि विकृतियाँ आती है। मृदुकोष्ठ पुरुष में वायु क्षीण होने से यह स्थिति होती नही।

कफ के स्तम्भक गुण का अर्थ यह प्रतीत होता है कि उसके प्रधान गुण मन्द का प्रकर्ष ग्रहणी मे होने से उसके आकुञ्चन-प्रसारणात्मक व्यापार सख्या और शक्ति की दृष्टि से मन्द होते हैं। इस विकृति का परिणाम भी पूर्वोक्त ही होता है और पुरुष का कोष्ठ क्रूर हो कर उसे उदावर्त (कब्ज) होता है।

क्रूर कोष्ठ का लक्षण—

भवति क्रूरकोष्ठस्य ग्रहण्यत्युल्वणानिला ॥

च० सू० १३।६८

मृदु-विपरीत क्रूर कोष्ठ-पुरुष की ग्रहणी नाडी अति वाताभिभूत होती है। वायु के कारण ग्रहणी पर क्या क्रिया होती है यह ऊपर कहा है। आगे भी उदावर्त, सहज अर्श आदि के प्रकरणो में इसकी व्याख्या की जाएगी। क्रूर कोष्ठ की

विशिष्टता यह होती है कि वह दुर्विरेच्य होता है। प्रायः विद्यार्थी दुर्विरेच्य का अर्थ राजयक्ष्मा आदि रोगो से पीड़ित पुरुष, जिन्हें विरेचन देना अप्रशस्त होता होता है, यह करते हैं। परन्तु यहाँ दुर्विरेच्य का अर्थ है ऐसा कोष्ठ जिस पर विरेचनो का प्रभाव न हो या अभीष्ट मात्रा मे न हो। बडी मात्रा मे दिए जाने पर भी उल्लिखित दूध आदि द्रव्यो का इन पर परिणाम नही होता—विरेचयन्ति नैतानि क्रूरकोष्ठं कदाचन—च० सू० १३।६८ सुधा (थूहर), नीलिनी (काला दाना), जयपाल आदि द्रव्यो का तीक्ष्ण मात्रा में उपयोग किया जाए तो कथचित् इन्हें विरेचन होता है अथवा नही भी होता।

मध्यकोष्ठ का लक्षण—कोष्ठ कफ प्रधान हो तो मध्य (म) या साधारण होता है। किंवा कोष्ठ मे तीनो दोष सम प्रमाण मे हो तो भी वह मध्यम होता है। इसमें वातकृत क्रूरता तथा पित्तकृत मृदुता दोनो परस्पर-विरोधवश शान्त होती हैं। शेष समावस्था मे स्थित कफ की ही क्रिया कोष्ठ पर हो कर वह मध्यम स्वरूप का रहता है। मध्य के इन उभय भेदो मे भिन्नता बताता अरुण कहता है कि प्रथम प्रकार के कोष्ठ मे कफ प्रमाणाधिक होता है, जब कि द्वितीय भेद में वह सम रहता हुआ ही कोष्ठ को मध्यवृत्ति बनाता है।

दोषो का संसर्ग हो तो कफ योगवाही कर्म करता है—योगवाही तयोः कफः (अ० हृ० सू० १।९ की हेमाद्रि टीका मे उद्धृत खारणादि-वचन)—परिणामतया, कफ-वात से कोष्ठ क्रूर होता है; कफपित्त, वातपित्त और संनिपात से मृदु होता है।

व्यवसाय में ज्ञात कोष्ठ वाला रोगी आए तो क्रूरकोष्ठ पुरुष को तीक्ष्ण विरेचन तीक्ष्ण मात्रा मे देना चाहिए। मृदुकोष्ठ पुरुष को मृदु द्रव्य मृदु (अल्प) मात्रा में देना चाहिए तथा साधारण कोष्ठ वाले पुरुष को साधारण द्रव्य साधारण मात्रा में देना चाहिए। जो पुरुष प्रथम बार ही अपने पास आया हो तथा जिसका कोष्ठ विदित न हो उसे (अपरिज्ञात-कोष्ठ को) प्रथम मृदु औषध दे उसका परिणाम देख कर कोष्ठ का निर्णय करना चाहिए। रोगी के समक्ष विरेचन के परिणाम-विषयक अनिश्चिति और उसके कारण की स्पष्टता भी औषधदान के समय कर देनी चाहिए। मृदु औषध किसे-किसे देना चाहिए ऐसे पुरुषो की गणना करते तन्त्रकारो ने कहा है—

दुर्बलं शोधितं पूर्वमल्पदोषं च मानवम्।
अपरिज्ञातकोष्ठं च पाययेदौषधं मृदु॥

च० क० १२।६७

प्रागपीतं नरं शोध्यं पाययेदौषधं मृदु।
ततो विज्ञातकोष्ठस्य कार्यं संशोधनं पुनः॥

सु० चि० ३४।४४

अपरिज्ञात-कोष्ठ पुरुष को मृदु या मध्यम औषध से विरेचन का हीनयोग हो तो उसका कोष्ठ क्रूर मानना चाहिए, अतियोग हो तो मृदु तथा सम्यग्योग हो तो मध्य (अरुण)।

कई व्यवसायों, आहारो आदि के कारण कोष्ठ मे वायु का प्रकोप हो कर वह क्रूर हो जाता है। तथाहि--

रूक्षबह्वनिलक्रूरकोष्ठव्यायामशालिनाम्।
दीप्ताग्नीनां च भैषज्यमविरिच्यैव जीर्यति॥

च० क० १२।७९

प्रकृत्या अथवा रोगादि कारणवश जिनका शरीर रूक्ष हो, जिनके शरीर और कोष्ठ मे वात का आधिक्य हो, जिनका कोष्ठ क्रूर हो, जो व्यायाम या श्रम-प्रधान व्यवसाय करते हो एवं जिनका अग्नि प्रदीप्त हो उनको विरेचनार्थ दिया गया औषध विरेचन कराए विना ही जीर्ण हो जाता है। उन्हे यथावश्यक निरूह या अनुवासन बस्ति, फलवर्ति (गुदवर्ति); (अभावे ग्लिसरीन सपोजीटरी या साबुन को वर्त्याकार काट कर उसे एरण्ड तैल मे डुबा कर बनाई वर्ति) या मुख से स्नेहन द्रव्य दे कर तदनन्तर विरेचन द्रव्य देना चाहिए। देखिए--

तेभ्यो बस्तिं पुरा दत्त्वा पश्चाद्दद्याद्विरेचनम्।
बस्तिप्रवर्तितं दोषं हरेच्छीघ्रं विरेचनम्॥

च० क० १२।८०

विरेचन आदि के पूर्व स्नेहन करना अभीष्ट हो तो मृदुकोष्ठ पुरुष केवल तीन दिन अच्छपान (औषध द्रव्यो से साधित न किये, या आहार-द्रव्य से मिश्रित न किए स्नेह द्रव्य का सेवन) करने से स्निग्ध कोष्ठ तथा स्निग्ध-शरीर हो जाता है। कारण, कोष्ठ की मृदुता का कारणभूत पित्त भी कफ के समान, परन्तु उससे न्यून स्निग्धतावाला होता है--कफपित्ते द्रवे धातू सहेते लङ्घनं महत्-- अतएव, जैसा कि इस प्रसिद्ध पद्य मे कहा है, कफज ज्वरादि रोगो मे तथा पित्तज रोगो मे लङ्घन किया जाए तो उसके समयोग के लक्षण उत्पन्न होने मे अधिक काल लगता है। पित्त के गुणो मे प्रारम्भ मे ही सस्नेहम् (च० सू० १।६०) कहा है। उसका अर्थ ईषत् स्निग्धम् ही टीकाकारो ने किया है। पित्त की

इस स्निग्धता के कारण मृदु कोष्ठ पुरुष तीन दिन में ही स्निग्ध हो जाता है। परन्तु क्रूर कोष्ठ पुरुष के वात का साम्य हो कर स्निग्धता के लक्षण उत्पन्न होने मे सात दिन लगते हैं। यथोक्तम्—

मृदुकोष्ठस्त्रिरात्रेण स्निह्यत्यच्छोपसेवया।
स्निह्यति क्रूरकोष्ठस्तु सप्तरात्रेण मानवः॥

च० सू० १३।६५

कई रोगो में वायु का आधिक्य, पुरीष को स्निग्ध और द्रव रखनेवाले अब्धातु का अन्यत्र अपकर्षण प्रभृति कारणो से कोष्ठ स्वभावतः क्रूर रहता है। इनमें नित्य और तीक्ष्ण विरेचन अपेक्षित होता है। ऐसे रोगों में मधुमेहादि प्रमेह, गुल्म तथा जलोदर आदि उदर स्मरणीय है।

चरक-सहिता मे दृढबल ने वेगावरोध, अकाल-भोजन, अकाल वेगोत्सर्ग, अकाल निद्रा-जागरणादि चेष्टा आदि के शीलवाले जिन स्त्रीमात्र, सेवकों (कर्मचारियो), वैश्यो तथा ऐसे ही अन्य व्यक्तियों को सदातुर (नित्य रोगी) कहा है[1] वे भी दुर्विरेच्य होते है—

ह्रीभयलोभैश्च वेगाभिघातशीलाः प्रायशः स्त्रियो राजसमीपस्था वणिजश्च भवन्ति। तस्मादेते वेगधारणप्रवृद्धवातत्वात् सदातुरा दुर्विरेच्याश्च। तान् सुस्निग्धान् शोधयेत्। अन्यानपि चाकालनिर्हारविहाराहारान्। अतश्चैषा सदातुरत्वादल्पोऽप्यामयो दुःसाध्यो भवति॥ अ० स० सू० २७

इन्हें हुआ अल्पमात्र भी रोग दुःसाध्य होता है।

कोष्ठ के विषय मे प्रास्ताविक इतना विवेचन किया। अधिक विचार पञ्चकर्म के प्रकरण मे किया जाएगा।

१—देखिए च० सि० ११।२७-३६।

नौवां अध्याय

रोग-परीक्षा में परीक्षणीय विषय

अथातो रोगपरीक्षाविषयविज्ञानीयं द्वितीयमध्यायं व्याख्यास्यामः ।
इति ह स्माहुरात्रेयादयो महर्षयः ॥

गत अध्याय में रोग-परीक्षा में ज्ञातव्य कतिपय वस्तुओं का निर्देश किया गया । इस अध्याय में शेष कतिपय वस्तुओं का विचार करेंगे । प्रथम आयुर्वेद के स्तम्भ-भूत दोषों का विचार किया जाता है । क्रियाशारीर के प्रकरणों में गृहीत ज्ञान को विद्यार्थी इस प्रकरण में पुनः देख जाएंगे तो यहां कही बातें सुबोध हो जाएंगी ।

दोष

अबतक दोषों के विषय में प्रसंगोपात्त अनेक बातें कही जा चुकी हैं । आगे निदान-पञ्चक के प्रकरण में भी कुछ बातें कही जाएंगी । इन्हें तथा क्रिया-शारीर आदि के ग्रन्थों में कही समस्त बातों को एक साथ सामने रखा जाएगा तो विषय का पूर्ण स्वरूप विशद हो सकेगा ।

पहले कह आए हैं कि (देखिए, पृ०-३६) रोग का चिकित्सोपयुक्त लक्षण यह है कि, वातादि शारीर दोष, रज और तम ये मानस दोष, रस-रक्तादि धातु तथा पुरीषादि मल स्वमानावस्थित (सम) हों तो शरीर और मन स्वस्थ रहते हैं । ये ही विषम नाम क्षीण या कुपित हों तो ये अधिष्ठान रुग्ण (विकारापन्न, रोगी) हो जाते हैं । इन की रुग्णता का प्रधान लक्षण भी वहीं बताया है—दुःख नाम आत्मा, इन्द्रिय और मन की अप्रसन्नता । शरीर और मन के स्वस्थ होने का प्रधान लक्षण भी वहीं कहा है—सुख नाम प्रसन्नात्मेन्द्रियमनस्कता ।

किसी दोष के कोप या क्षय का अर्थ है—शास्त्र में उसके जो गुण बताए हैं, उनमें किसी एक या अनेक का जो स्वाभाविक प्रमाण होना चाहिए, उसमें न्यूनाधिक वृद्धि या क्षीणता होना । दोष सम या स्वमानावस्थित तब होते हैं, जब उनके शास्त्रोक्त सर्व गुण सम प्रमाण में विद्यमान हों । दोषों की तीनों अवस्थाओं की परीक्षा शरीर और मन में स्थित उनके गुणों तथा तदाश्रित कर्मों का प्रमाण और स्वरूप देखकर की जा सकती है । तथाहि :

दोषाः प्रवृद्धाः स्वं लिंगं दर्शयन्ति यथाबलम् ।
क्षीणा जहति लिंगं स्वं, समाः स्वं कर्म कुर्वते ॥
च० सू० १७।६२

वाते पित्ते कफे चैव क्षीणे लक्षणमुच्यते।
कर्मणः प्राकृताद्धानिर्वृद्धिर्वाऽपि विरोधिनाम् ॥
दोषप्रकृतिवैशेष्यं नियतं वृद्धिलक्षणम्।
दोषाणां प्रकृतिर्हानिर्वृद्धिश्चैवं परीक्ष्यते ॥

च० सू० १८।५२-५३[1]

दोष वृद्धि को प्राप्त हों तो उनकी वृद्धि की मात्रा के अनुरूप वैकारिक लक्षणों के रूप में उनके प्राकृत गुणों और कर्मों की वृद्धि होती है। यथा, श्लेष्मा की वृद्धि हो तो उसके जो स्नेह, शैत्य, माधुर्य आदि प्राकृत गुण हैं उनकी अधिकता हो जाती है। प्रकोपक कारण का सेवन जितने प्रमाण में हुआ हो उसके सदृश ही दोषों की अतिवृद्धि, मध्यवृद्धि या अल्पवृद्धि होकर उसी प्रमाण में लक्षणों का प्रादुर्भाव होता है।

दोषों का क्षय हुआ हो तो क्षीणता के प्रमाण में ही उनके गुण-कर्मों का ह्रास होता है; किंवा जिन गुण-कर्मों का ह्रास हुआ है इतर दोषों में विद्यमान उनके विरोधी गुण-कर्मों की उसी प्रमाण में वृद्धि हो जाती है। यथा, वायु के प्राकृत कर्मों में एक उत्साह है। वायु के प्राकृत कर्म बताते चरक ने कहा है—

उत्साहोच्छ्वासनिःश्वासचेष्टा धातुगतिः समा।
समो मोक्षो गतिमतां वायोः कर्माऽविकारजम् ॥

च० सू० १८।४९

उत्साह (प्रयत्न), उच्छ्वास-निःश्वास, चेष्टा, रसादि का पोष्य धातुओं के प्रति गमन, एवं पुरीषादिबहिर्गमनशील द्रव्यों (मलों) का उत्सर्ग-ये सब क्रियाएँ सम भाव से होना वायु का प्राकृत कर्म है। वायु क्षीण होता है तो उसके इन कर्मों का ह्रास-

---

१—स्वं लिङ्गमिति वैकारिकम्। यथा बलमिति अतिवृद्धैरतिवृद्धं मध्यवृद्धैर्मध्यवृद्धमित्यादि। स्वं कर्मेति प्राकृतं कर्म। कर्मणः प्राकृतादिति वातादिप्रकृतिकर्मत्वेनोक्तादुत्साहादेः। हानिरपचयः। वृद्धिर्वाऽपि विरोधिनामिति उक्तप्राकृतलक्षणविरोधिना कर्मणा वृद्धिः; यथा वातक्षये उत्साहविरोधिनो विषादस्य वृद्धिः, पित्तक्षयेऽदर्शनापक्त्यादीनां, श्लेष्मक्षये रौक्ष्यादीनां वृद्धिः।
दोषेत्यादि—प्रकृतिः स्वभावः, तस्य वैशेष्यमाधिक्यं, श्लेष्मणः स्नेहशैत्यमाधुर्यादि या प्रकृतिस्तस्या अतिस्निग्धातिशैत्यातिमाधुर्यादि वैशेष्यं वृद्धिलक्षणम् ॥
—चक्रपाणि

क्षय के प्रमाण के अनुसार होता है। यथा, वात का क्षय होने पर उत्साह के विरोधी विषाद (मनोभङ्ग) का उदय और उत्कर्ष होता है। उत्साह और विषाद का जो उदाहरण टीकाकार ने यहाँ दिया है वह स्मरणीय है। प्राय. चिकित्सक इन कर्मों में वायु के साम्य या क्षय का विचार करते देखे नही जाते। इसी प्रकार, पित्त का क्षय होने पर दर्शन, पक्ति (पाक, पचन) आदि पित्त के प्राकृत कर्मों का ह्रास हो जाता है। पित्त के प्राकृत कर्मों की सामान्यत. गणना करते अत्रिपुत्र ने लिखा है :--

दर्शनं पक्तिरूष्मा च क्षुत्तृष्णा देहमार्दवम्।
प्रभा प्रसादो मेधा च पित्तकर्माविकारजम्॥

च० सू० १८।५०

वस्तुओं का दर्शन (देखना), अन्नपान तथा रसधातु का पचन, ऊष्मा, क्षुधा, शरीर की मृदुता, प्रभा (कान्ति), प्रसाद (मनकी प्रसन्नता) और मेधा (विषय के ग्रहण की शक्ति) ये प्राकृत अवस्था मे स्थित पित्त के कर्म है।

कफ का क्षय होने पर उसके स्निग्धत्वादि प्राकृत कर्मों का क्षय होकर रौक्ष्य आदि विरोधी गुणों की वृद्धि होकर त्वचा, नख, नेत्र, मुख, मल, मूत्र, स्वभाव प्रभृति में रूक्षता आ जाती है। कफ के सामान्य कर्मों की गणना करते चरकाचार्य ने कहा है--

स्नेहो बन्धः स्थिरत्वं च गौरवं वृषता बलम्।
क्षमा धृतिरलोभश्च कफकर्माविकारजम्॥

च० सू० १८।५१

शरीरावयवों तथा मानस में स्निग्धत्व, बन्ध (शरीर के सूक्ष्म-स्थूल अवयवो का परस्पर संश्लेष, जिसके अभाव में पेशी, स्नायु, अन्त्र आदि का स्रस--किंचित् स्थानच्युति--हो जाती है) ; स्थिरता--हाथ, पैर आदि अवयवो, निश्चय, कदम, हाथ की पकड़ आदि की दृढता ; गौरव (शरीर का भार, पुष्टि), वृषता, बल, क्षमा, धृति (सयम) एव लोभ का अभाव--ये प्राकृत कफ के सामान्य कर्म है। कफ की क्षीणता होने पर इन के विपरीत रूक्षता, शिथिलता (स्रस), चलत्व, लघुत्व आदि गुणो का प्रादुर्भाव होता है।

क्षय और वृद्धि के विपरीत दोष समावस्था में हो तो शरीर और मन में दु.ख (व्याधि) उत्पन्न किए विना अपने शास्त्रनिर्दिष्ट कर्मो से इन्हे उपकृत करते रहते है।

क्षय से रोगो की उत्पत्ति—

मूल ग्रन्थो मे दोषों के वैषम्य से रोगोत्पत्ति होती है यह कह कर वैषम्य के दो भेद बताए हैं—क्षय और वृद्धि (प्रकोप)। दोनो अवस्थाओं मे कर्तव्य का निर्देश भी किया गया है। यथा—दोषो की त्रिविध गतियों मे एक गति बताते चरक ने कहा है—

क्षयः स्थानं च वृद्धिश्च दोषाणा त्रिविधा गतिः[1]।

च० सू० १७।११२

अन्यत्र इसकी व्याख्या करते तन्त्रकार ने स्वय कहा है—

यदा ह्यस्मिन् शरीरे धातवो वैषम्यमापद्यन्ते तदा क्लेशं विनाशं वा प्राप्नोति। वैषम्यगमनं हि पुनर्धातूना वृद्धिह्रासगमनमकार्त्स्न्येन प्रकृत्या च[2]॥ च० शा० ६।४

तात्पर्य, शरीर मे जब दोष, धातु और मल वैषम्य को प्राप्त होते है तब वैषम्य की मात्रा (प्रमाण) के अनुसार दो परिणाम होते हैं—क्लेश (रोगजनित पीडा) या मृत्यु। दोषादि का यह वैषम्य दो प्रकार का होता है—वृद्धि या ह्रास (क्षय)। वृद्धि और क्षय के भी दो भेद होते है—उनके एकदेश का वृद्धि-क्षय, जिसमे उनके अमुक ही गुण-कर्मो का वृद्धि-क्षय होता है, तथा समग्रतया वृद्धि-क्षय, जिसमे विषम हुए दोष आदि के सपूर्ण गुणो और तदाश्रित कर्मो का वृद्धि-क्षय हुआ होता है।

वृद्धि-क्षय के पुनरपि दो भेद होते है—सभी दोषो के वृद्धि-क्षय वि वा एक दोष का वृद्धि-क्षय[3]।

वायु की आवरण-रूप विशिष्ट अवस्था-सहित क्षयादि चार अवस्थाओ के ज्ञान की फलश्रुति (आत्मविश्वास युक्त चिकित्सा-व्यवसाय) बताते हुए भी क्षय की गणना तन्त्रकर्ता ने की है। तथाहि—

क्षयं वृद्धिं समत्वं च तथ्रावरणं भिषक्।
विज्ञाय पवनादीना न प्रमुह्यति कर्मसु॥

च० चि० २८।२४८

चिकित्सा मे भी क्षीण हुए दोषों की वृद्धि का उपदेश किया है। तद्यथा—
दोषाः क्षीणा बृंहयितव्याः, कुपिताः प्रशमयितव्याः, वृद्धा निर्हर्तव्याः,

---

१—स्थान स्वमानावस्थानम्—चक्रपाणि।

२—अकार्त्स्न्येनेति एकदेशेन, प्रकृत्येति सकलेन स्वभावेन —चक्रपाणि।

३—वृद्धिह्रासगमन चेह व्यस्तं समस्तं च वैषम्य ज्ञेयम्—चक्रपाणि।

समाः परिपाल्या इति सिद्धान्तः (सु चि. ३३।३[1]) ।—दोष (धातु, उपधातु और मल भी) क्षीण हो तो स्वयोनिवर्धन द्रव्यो के सेवन इत्यादि उपचारो से उनका बृहण करना चाहिए। उनका अल्प कोप हुआ हो तो उनके विरुद्ध गुण-कर्मादि वाले द्रव्यो के सेवन प्रभृति उपचारों से उन का सशमन करना चाहिए। वे वृद्ध हो, नाम वे परिपक्व एव विलीन (अपने सश्रय के स्थान से चलित हो वहिर्गमनोन्मुख, उत्क्लिष्ट) हों तो वमनादि सशोधनों द्वारा उनका निर्हरण करना चाहिए। वृद्धि के दो भेद है—अपने स्थान पर सहति (प्रमाणवृद्धि), जिसे चय कहा जाता है; एव प्रकोप, जिसमे दोष अत्यधिक वृद्धि प्राप्त होने के कारण ही विलीन होने लगते हे[2]। इन दो अवस्थाओ मे वृद्धि की दशा में दोपो का सशोधन नही करना चाहिए, विलयनरूप अवस्था मे ही सशोधनोपचारों द्वारा उनका निर्हरण करना चाहिए। एव—कोप के पुन' दो भेद हैं—चयपूर्वक तथा अचयपूर्वक। इनमे जो प्रकोप (स) चयपूर्वक हुआ हो उसी मे संशोधन करना चाहिए। अचयप्रकोप मे शमन उपचार ही करने चाहिए।

दोष सम हो तो ऋतुचर्या आदि स्वस्थवृत्त के प्रकरणो में उन्हें सम रखने की जो चर्या बताई गई है उसके अनुष्ठान द्वारा उन्हें समावस्था में रखना चाहिए।

अधोलिखित पद्य में भी निदानपरिवर्जन-सशोधन-सशमन रूप उपचारों से दोषों, धातुओं और मलों को, वे वृद्धि को प्राप्त हो तो तबतक क्षीण करने का एवं उनका क्षय हुआ हो तो योग्य उपचारों से तवतक वृहित करने का विधान है जवतक उनकी समावस्था हो कर रोगी अरोग न हो जाए।

स्वस्थस्य रक्षणं कुर्यादस्वस्थस्य तु बुद्धिमान्।
क्षपयेद् बृंहयेच्चापि दोपधातुमलान् पृथक्॥

१—क्षीणा' क्षयलक्षणैर्जाता। कुपिता अल्पतया कोपमापन्ना. संशमन-विधानेनैव प्रशमयितव्या.; प्रकर्षेण वृद्धा स्वस्थानाच्चलिता. सशोधनविधिना निर्हर्तव्या.। वृद्धिर्हि द्विविधा—चयलक्षणा प्रकोपलक्षणा च। तत्र सहतिरूपा वृद्धिः चय, विलयन रूपा वृद्धि प्रकोप। तयोर्विलयनरूपवृद्ध्या वृद्धा दोषाः संशोधनेन निर्हर्तव्या। कुपिता इति कोपोऽत्र द्विविध—चयपूर्वकोऽचय-पूर्वकश्च। तत्र चयपूर्वकं कोपमागता संशोधन विधानेनैव शमयितव्या—डल्हन।

२—च सू २८।३१-२३ मे शाखा से चलित होकर दोप जिनकारणो से कोष्ठ मे आते है उन कारणो मे प्रथम ही वृद्धि की गणना की है—वृद्ध्या विष्यन्दनात्। कोष्ठ से शाखा मे प्रसरावस्था भी उनकी वृद्धि से ही होती वताई है—देखिए सु सू. २१।२८ मे दोपो की प्रसरावस्था का वर्णन।

तावद्यावदरोगः स्यादेतत् साम्यस्य लक्षणम्॥
सु० सू० १५।४०

सु० सू० १५।७ में दोषो के क्षय के लक्षण बताकर अगले सूत्र मे उनका सक्षेप उपचार भी वताया है—तत्र स्वयोनिवर्धनान्येव प्रतीकारः(सु० सू० ।८)। इसकी टीका में डल्लन ने तन्त्रान्तर के पद्य दिए है, जिनमे सूचना गयी है कि प्रतीकार रूप में ऐसे ही द्रव्यो का सेवन कराना चाहिए जो युक्त हो—प्रत्येक स्वयोनिवर्धन (आरम्भक महाभूत की वृद्धि करनेवाले) द्रव्य उपयोग इष्टफलावह नही होता। कई द्रव्य इतर दोष का प्रकोप करनेवाले द्ध होते हैं। तथाहि :—

स्वयोनिवर्धनान्येवेति—शीतरूक्षादीनि। प्रतीकारश्चिकित्सितम्। पुनः स्वयोनिवर्धनान्यपि कटुकादीनि। भूयस्त्वेनान्यदोषप्रकोपण-ात्। तथा चोक्तम्—

वातक्षये शीतरूक्षै र्न त्वन्यैः कटुकादिभिः।
पित्तक्षयेऽपि कटुकैरुष्णै र्न लवणादिभिः॥
क्षीरादिभिः स्निग्धशीतैः प्रतिकुर्यात् कफक्षये॥
सु० सू १५।८ पर डल्लन

वात का क्षय हुआ हो तो शीत-रूक्षगुणयुक्त वातवर्धक द्रव्यों का उपयोग करे, टु आदि का नही (कटु गुण पित्त का प्रकोप करनेवाला सिद्ध होता है)। पित्त का य होने पर कटु-उष्ण पित्तवृद्धिकर द्रव्यो का मात्रावत् सेवन करे, लवणादि का हीं (लवण द्रव्यो से कफ की वृद्धि जो होती है)। कफ का क्षय होने पर दुग्ध-भृति स्निग्ध-शीत द्रव्यो का यथावत् सेवन करे।

आगे हम देखेंगे कि दोष-विशेष का क्षय होने पर विरोधी दोष के वर्धक द्रव्य का उपयोग करना चाहिए, क्षीण हुए दोष की विशेष चिकित्सा नही है, यह कई लेखको का मत है। डल्लन द्वारा उद्धृत उक्त वचनों मे स्पष्ट कहा है कि तत्-तत् दोष की क्षीणता होने पर जिन द्रव्यों का सेवन कर उसे समावस्था मे लाना है वे द्रव्य विरोधी दोष की वृद्धि करनेवाले है यह सत्य है तथापि इन पद्यों मे यह सिद्धान्त भी स्पष्ट देखा जा सकता है कि, क्षीण हुए दोष की वृद्धि के लिए विरोधी दोष की वृद्धि करनेवाले किसी भी गुणवाले द्रव्य का सेवन विधेय नही है। किंतु उन्ही द्रव्यो का सेवन कौशलपूर्वक करना चाहिए जो क्षीण दोष की वृद्धि तो करे परन्तु विरोधी दोष को कुपित भी न कर दें। तात्पर्य—इन पद्यो मे क्षीण हुए दोष की विशिष्ट चिकित्सा का विधान है। केवल विरोधी दोष की वृद्धि ऐसे

स्थलो में विधेय होती है, इस प्रकार के मत के प्रति यहाँ कारण दर्शन-पूर्वक विमति दर्शाई है।

कि बहुना--दोषो के क्षय की पृथक् लक्षण-चिकित्सा निर्दिष्ट होने पर भी यह एकीय मत इन दिनो प्रवृत्त हुआ है कि--शास्त्रो में सचय-प्रकोप आदि अवस्थाओं के रूप मे दोषो की वृद्धि का ही प्रपञ्च विशेषतया देखा जाता है एव प्राय. समस्त रोगो के निदान-चिकित्सात्मक प्रकरणों मे भी प्रकोप को ही लक्ष्य में रखा होने से यह मत-सा प्रवृत्त हो गया है कि क्षीण दोष के कोई विशिष्ट लक्षण नहीं होते; 'वृद्धिर्वापि विरोधिनाम्' में जो विरोधी दोषो की वृद्धि होती बताई है वही दोषविशेष के क्षय का प्रधान लक्षण होता है एव चिकित्सा में भी विरोधी दोष की वृद्धि को ही लक्ष्य में रखना चाहिए। विरोधी दोष की वृद्धि जिन द्रव्यों से होती है उन पर दृष्टिपात करें तो वे क्षीण हुए दोष की वृद्धि करनेवाले भी होते ही है। यथा-- तीक्ष्णाग्नि में कफ की क्षीणता होती है, उससे या स्वातन्त्र्येण अग्नि या पित्त का कोप होता है। इसके उपचार में पित्तके कोप को प्रयोजनतया लक्ष्य में रखकर जिन महिषी दुग्ध, कदलीफल प्रभृति द्रव्यों का विशिष्ट सेवन कराया जाता है वे गुरु-मधुर-स्निग्ध-पिच्छिल आदि गुणो द्वारा क्षीण हुए कफ की वृद्धि कर उसे समावस्था में लाते ही है, भले चिकित्सक के चित्त में क्षीण कफ को समावस्था में लाने का विचार न भी रहा हो। इस स्थिति से समझना चाहिए कि दोषों के क्षय से रोग होते नही, दोषो के क्षय का अर्थ विरोधी दोष का कोप ही समझना चाहिए। एव क्षीण हुए दोष की पृथक् चिकित्सा भी होती नहीं; कुपित हुए दोष को समावस्था में लाने से क्षीण हुए दोष की वृद्धि स्वयमेव (अनायास) हो जाती है। रोग दोषो के कोप से ही होते है, एवं चिकित्सा भी कुपित दोषो की ही होती है।

ऊपर जो विचार किया है, उससे विदित होगा कि तन्त्रकारो का यह सिद्धान्त नही था। मध्यकाल में आयुर्वेद के पण्डितो ने इस सिद्धान्त को भुला दिया। चक्रपाणि की टीका मे स्थान-स्थान पर इस बात के द्योतक वचन मिलते है कि क्षीण हुए दोषों का परिणाम केवल यह होता है कि उनके प्राकृत कर्म नहीं होते। कारण, जो स्वयं क्षीण हो वह कर ही क्या सकता है? देखिए :--

स्वमानक्षीणा दोषा किंचिद्विकारं न जनयन्ति, क्षीणलक्षणं वैषम्यमेव परं यान्ति। वचनं हि--क्षीणा जहति लिंगं स्वं समाः स्वं कर्म कुर्वते॥ (च० सू० १७।६२) इति। च० सू० ६।४ पर

लिंगं स्वं जहतीत्यनेन क्षीणानां प्रकृतिलिङ्गक्षयव्यतिरिक्तं विकारकर्तृत्वं नास्तीति दर्शयति। यतो वृद्धा उन्मार्गगामिनो दोषा दूष्यं

दूषयन्तो ज्वरादीन् कुर्वन्ति न क्षीणा, स्वयमेव दुःस्थितत्वात्—
च० सू० १७।६२ पर

क्षीणाश्च दोषा नान्यदुष्टिं कुर्वन्ति, किन्तु स्वयमेव क्षीणस्वलिङ्गा भवन्तीत्यादि वेदितव्यम्— च० वि० ५।२३ पर

दुष्टा इति स्वहेतूपचिताः। क्षीणास्तु नान्यदुष्टिं दोषाः कुर्वन्तीति प्रतिपादितमेव— च० शा० ६।१६ पर

कोई दोष क्षीण होने के परिणामों को इतनी सरलता से उडाया नही जा सकता। एक सुगम उदाहरण से इस बात को समझने का प्रयत्न करे। पित्त क्षीण हो तो अग्नि मन्द होता है। मन्द हुआ अग्नि या क्षीण हुआ पित्त शरीर में कोई विकृति उत्पन्न नही करता यह कहना साहस-मात्र होगा। रोगमात्र दोषो के कोप से होता है और उसका कोप जाठर तथा धातुगत अग्नियों के क्षीण होने से ही होता है, कारण अग्नियाँ क्षीण हों तो अन्नरस तथा पक्व धातु उचित प्रमाण में बनते नही, परिणामतया मलो की ही पुष्टि विशेष प्रमाण में होती है और इन मलो मे एक बात भी है। इसी प्रकार इतर दोषों तथा उनके भेदो की क्षीणता के परिणामों की भी कल्पना की जा सकती है।

चिकित्सा में भी इतना कहने मात्र से कार्य-सिद्धि नही होती कि क्षीण दोष का पृथक् उपचार नही होता, केवल विरोधी दोष के वर्धक उपचार करने चाहिए। केवल विरोधी दोष को लक्ष्य में रखने से यह परिणाम आना सभव है कि क्षीण दोष के साम्य के साथ विरोधी दोष का कोप भी हो जाए, यह ऊपर कह आए हैं।

चरक तथा सुश्रुत के समय क्षीण दोषों का विचार करने की प्रवृत्ति भी वैद्य-समाज में प्रचलित होने से उन्हें इस विषय पर सविशेष निर्देश करना आवश्यक न प्रतीत हुआ। अपने काल मे क्षीण-दोष विषयक अनार्ष और प्रत्यक्षादि विपरीत विचार-प्रवाह प्रवृत्त हो जाने से वाग्भट को बलवान् शब्दों में उसका विरोध करना पडा। तथाहि —

मलोचितत्वाद्देहस्य क्षयो वृद्धेस्तु पीडनः।

अ० हृ० सू० ११।२५

द्वावपि मलाना वृद्धिक्षयौ पीडाकरौ देहस्य। तत्रापि य एषा क्षयः स वृद्धितोऽप्यतिशयेन पीडाकरः, अनौचित्यात्। देहिना हि प्रायेण मलक्षयोऽनुचितोऽनभ्यस्तः। वृद्धिस्तूचितैवेति न तथा पीडा करोति॥ —अरुणदत्त

क्षयवृद्ध्योः पीडाकरत्वे तारतम्यमाह—मलोचितत्वादिति। दोषादीनां वृद्धिर्देहपीडनी। क्षयस्तु ततोऽपि देहपीडनः। कुतः? मलोचितत्वात्। देहो हि मलसात्म्यः। सात्म्यं च बह्वपि नातिबाधकं। वक्ष्यति—"सात्म्यं त्वाशु बलं धत्ते नातिदोष च बह्वपि" इति। मलशब्देन दोषधातुमलानां ग्रहणम्। वक्ष्यति हि—'विट्श्लेष्मपित्तादिमलाशयानां विक्षेपसंहारकरः स यस्मात् (अ० हृ० सू० १६।८६) इति॥ —हेमाद्रि

दोष, धातु, (उपधातु) तथा मल तीनों में किसी की भी वृद्धि या क्षय दोनों ही शरीर में पीड़ा (रोग) उत्पन्न करने के स्वभाव वाले हैं। परन्तु क्षय और वृद्धि दोनों में क्षय वृद्धि की अपेक्षया अधिक पीड़ाकर होता है। कारण, दोषादि की वृद्धि शरीर में प्रायः होती रहने से सात्म्य (उचित, अभ्यस्त) होती है। जो वस्तु सात्म्य होती है उसकी वृद्धि हो जाए तो भी अभ्यासवशात् ही वह बहुत दुष्टिकारक नहीं होती, यह सिद्धान्त है।

इसी अध्याय के अन्त में वाग्भटाचार्य ने स्पष्टतया में कहा है कि जैसे शरीर के आरोग्यादि के लिए दोषों की वृद्धि से उसकी रक्षा करनी चाहिए वैसे क्षय से भी। तथाहि—

य एव देहस्य समा विवृद्ध्यै
त एव दोषा विषमा वधाय।
यस्मादतस्ते हितचर्ययैव
क्षयाद्विवृद्धेरिव रक्षणीया॥

अ० हृ० सू० ११।४५

पद्य की उत्थानिका में अरुणदत्त ने स्पष्ट ही कह दिया है कि अल्पमति वैद्य यह समझ कर कि क्षीण दोष अकिंचित्कर होने से शरीर में कोई पीड़ा (व्याधिरूप दुःख-सयोग) उत्पन्न करते ही नहीं, अतः उनके क्षय का उपचार करने के प्रति कदाचित् लक्ष्य न दें। उन्हें चेतावनी देने के लिए तन्त्रकार कहता है—य एव देहस्य इत्यादि। देखिए

क्षीणा दोषाः क्षीणत्वादेवाकिंचित्करत्वात् कदाचित् पीडां नोत्पादयन्त्येव, इति विचिन्त्याल्पमतयो वैद्याः क्षीणदोषवर्धनार्थं कदाचिदनादरं कुर्युरित्याह—य एव देहस्येत्यादि।

उक्त वाक्य में आया 'अल्पमति' शब्द केवल टीकाकार का नहीं है। इसी के पूर्व दोषों के एक स्वभाव का उल्लेख कर उन वैद्यों के लिए 'अबुध' शब्द का

प्रयोग स्वयं वाग्भट जी ने किया है। पद्य मे यह सिद्धान्त दर्शाया है कि दोष वृद्धि को प्राप्त हो तो 'प्राय.' क्षयोत्पादक विपरीत रस-गुण आदि वाले आहार-विहार इत्यादि के प्रति रुचि उत्पन्न करते है। वे ही दोष क्षीण हो जाएँ तो वृद्ध्युत्पादक समान आहारादि की आकांक्षा उत्पन्न करते है। उपशयानुपशय के सदृश निदान और चिकित्सा के मार्ग को प्रशस्त करने वाली इस रुचिके प्रति अज्ञ वैद्यो का ध्यान जाता नही। मूल पद्य यह है—

कुर्वते हि रुचि दोषा विपरीतसमानयोः।
वृद्धाः क्षीणाश्च भूयिष्ठं लक्षयन्त्यबुधास्तु न॥

अ० हृ० सू० ११।४३

शरीरके धारक वात-पित-कफ[1]

क्रियाशारीर मे सविस्तर यह कहा जा चुका है कि वात-पित्त-कफ विषमावस्था में शरीर को तत्तद्रोगाक्रान्त करते है, परन्तु ये ही सम स्थिति में हों तो तत्तत् प्रकार से शरीर के उपकारक (धारक) होते हैं। समावस्था में इनकी उपकारकता नाम देहधारकता को उपमान से स्पष्ट करते तन्त्रकारों ने कहा है. जैसे अपने क्लेदनात्मक स्वभाव से चन्द्रमा स्थावर-जङ्गम सृष्टि में विसर्ग या बलोत्पादन करता है—उनमे गुरु-स्निग्ध-स्थिर प्रभृति गुणो की उत्पत्ति कर उनके शरीर की पुष्टि द्वारा बल उत्पन्न करता है; एव जेसे सूर्य अपने शोषणात्मक स्वभाव से उनमें आदान नाम बल का ह्रास करता है—उनके देह मे पचनात्मक व्यापार की वृद्धि कर उसके अङ्गभूत गुरु-स्निग्ध-स्थिर प्रभृति गुणों का पचन द्वारा ह्रास करता हुआ उन्हें क्षीण अत एव अल्पबल करता है (आदान); एव जैसे वायु अपनी योगवाहिता से अर्थात् सूर्य-चन्द्र दोनो के गुणो को गहण कर इतस्तत विक्षेपण करने के आत्म-स्वभाव से उनकी सहायता करता है, इस प्रकार सूर्य, चन्द्र और वायु अपनी-अपनी उल्लिखित प्राकृत क्रियाओं द्वारा स्थावर-जङ्गम सृष्टि का धारण करते है उसी प्रकार वात-पित्त-कफ प्राकृत स्वरूप से रहते हुए इस शरीर का धारण करते है। इन में कफ चन्द्रस्थानीय है, पित्त सूर्यस्थानीय तथा वायु वात-स्थानीय। यही सूर्यादि जब कुपित या क्षीण होते है तो जगत् को पीडित करते है उसी प्रकार वातादि दोष भी विषमहोकर शरीर और मनको रोगाभितप्त करते है।

क्रियाशारीर में ही नही, आयुर्वेद के अन्य अङ्गोपाङ्गो मे भी सर्वत्र, धारणात्मक व्यापार के कारण दोष, धातु, मल तीनों को धातु कहा है। धातु नाम से

१—प्रमाणो के लिए देखिये आयुर्वेदीय क्रियाशारीर पृ १९-२१।

प्रसिद्ध रसादि सात की धारण क्रिया मुख्य होने से उन्हें मुख्यतया धातु कहते है। शेष दो मे धारण क्रिया गौण और स्वरूप से कुछ भिन्न होने से उन्हें गौण रूप से धातु कहते हे। इन सब को धातु कहने का, अथवा ये धारण क्रिया करते है इस बात का अर्थ क्या है, यह इस प्रकरण में समझ लेना उपयोगी हो सकता हे।

च० शा० ४।१२ में शरीरान्तर्गत पृथिव्यात्मक भावो की गणना करते कहा है--पृथिव्यात्मकं गन्धो घ्राणं गौरवं स्थैर्य मूर्तिश्चेति (मूर्तिः काठिन्यम्--चक्रपाणि)। सु० शा० १।१९ में भी कहा है--पार्थिवास्तु गन्धो गन्धेन्द्रियं सर्वमूर्तसमूहो गुरुता चेति। (सर्वमूर्तसमूहो दोपधातुमलेपु यः कश्चित् काठिन्य निवह'--डल्हन)। यहाँ कहे शरीरान्तर्गत पार्थिव पदार्थो में एक हे जिसे मूर्ति या मूर्त कहा है। टीकाकारो का वचन सामने रखते हुए समझ सकते है कि शरीर मे शरीरावयवभूत दोषो, धातुओं और मलो में--जो और जितना भी कठिन भाग है उसे मूर्त या मूर्ति कहते है और वह पृथिवी महाभूत के अश से बना है।

पाणिनि ने घन शब्द का अर्थ मूर्ति दिया है--मूर्तौ घनः (३-३-३७)। भट्टोजि दीक्षित ने 'मूर्तिः काठिन्यम्' कह कर मूर्ति का अर्थ चक्रपाणि और डल्हन के सदृश कठिन ही बताया हे, पर घन शब्द का अर्थ लोक-प्रसिद्ध (ठोस, सॉलिड) होने से मूर्ति या मूर्त शब्द की कुछ अधिक व्यक्तता इस शब्द से होती है। तात्पर्य--शरीर में जो भी घन, ठोस, सॉलिड है उसका कारण पृथिवी महाभूत है। हम देखते है, इस शरीर में कितना भाग घन-संघातमय है। अत एव इसे पार्थिव कहने की प्रथा हे। 'धातु' और 'धारण' शब्दो की व्याख्या का प्रकरण अब आगे देखिए।

गर्भोपनिषद् में थोडे अन्तर से दो स्थानो पर पञ्च महाभूतो के कर्म पृथक्-पृथक् बताए हैं। इनमे प्रथम वचन मे पृथिवी का कर्म कहा है· (शरीरे) यत्कठिनं सा पृथिवी। अर्थ स्पष्ट है। अगले वचन में कहा है तत्र पृथिवी धारणे। इस का अर्थ है कि पृथ्वी शरीर का धारण करती है। गर्भोपनिषद् में एक ही पृथ्वी महाभूत के कर्मो का निर्देश करने के प्रसग से आए इन दो वचनो का समन्वय करते कह सकते है शरीर के कठिन, मूर्त या घन भागो का--अन्य शब्दो मे समस्त पार्थिव शरीर का--निर्माण ही 'धारण' कहाता है। शरीर का समवायी कारण होना ही इस प्रकरण में धारण शब्द से अभिहित है।

पृथिवी महाभूत शरीर का धारण करता है इसी को अन्य शब्दो में कहना हो तो कह सकते है यह शरीर का निर्माण करता है। रसादि सात धातुओ के लिए भी जब हम कहते है कि वे शरीर का धारण करते है तो उसका तात्पर्य यही है कि वे शरीर का निर्माण करते है। अवयव-रूप में उनके मिलने

मे ही यह शरीर बना है। इस शरीर में रस-रक्तादि धातु कही स्व-रूप से प्रत्यक्ष हैं। परन्तु, हृदय, यकृत्,[१] प्लीहा, अन्त्र, मस्तिष्क आदि अवयव भी पृथक्-पृथक् धातुओं से ही बनते हैं। शारीर अध्यायो में बताया गया है कि इन अवयवों में कौन किस-किस धातु से बना है। कि बहुना, इस व्याख्या से यह स्पष्ट हो गया कि--अवयव-घटित भी यह शरीर अन्त को उपधातु-सहित धातुओं से ही बना है। इन धातुओ से निर्मित होने के कारण ही रसादि सात को आयुर्वेद मे धातु यह मुख्य संज्ञा दी गयी है। धारण शब्द का यह सत्यार्थ दृष्टि में रखे तभी यह स्पष्ट हो सकेगा कि क्यो रसादि के लिए धातु यह मुख्य नाम है।

वातादि दोष तथा पुरीषादि मल भी शरीर के निर्माण में भाग लेते हैं, परन्तु रसादि की अपेक्षया न्यून। इस कारण कभी उन्हें भी धातु कहा जाता है। महाभूतों मे भी देह-धारण क्रिया मुख्यतया पृथिवी महाभूत की है, अतः उसी की धारण क्रिया उपनिषद् ने बताई है। परन्तु शेष महाभूत भी शरीर के निर्माण मे अंशतः भाग लेते ही हैं। इसी से आयुर्वेद-तन्त्र मे आत्मा-सहित पाँचो महाभूतो को धातु कह कर उन से बने इस जीवच्छरीर को षड्धातुक पुरुष कहा है। इसी प्रकार प्रकृति आदि चौबीस को भी धातु कह कर इसे चतुर्विंशति धातुक पुरुष कहते हैं।

स्मरण रखना चाहिए कि, वातादि के लिए धारण शब्द का अन्य भी अर्थ होना चाहिए और वह अपने-अपने प्राकृत कर्मो द्वारा शरीर को अनुगृहीत करता है। इन सब कारणो से शरीर धृत (जीवित) रहता है--अत इसे 'धारि' नाम दिया गया है।

विसर्गादानविक्षेपैः सोमसूर्यानिला यथा।
धारयन्ति जगद्देहं कफपित्तानिलास्तथा॥

सु० सू० २१।८

अध्यात्मलोको वाताद्यै लोको वातरवीन्दुभिः।
पीड्यते धार्यते चैव विकृताविकृतैस्तथा॥

चरक

प्राकृतावस्था में वातादि दोष जैसे शरीर का धारण करते हैं वैसे विषमावस्था में रोगाक्रान्त करते हैं, उसी प्रकार जैसे बलोत्पत्ति आदि करनेवाले भी सूर्यादि विषम होने पर नाना उत्पातो से सृष्टि को उपतप्त करते हैं। विषम हुआ बाह्य वायु कैसे-कैसे उत्पात करता है इसका उत्तम निर्देश वात कलाकलीय अध्याय (च० सू० १२) में वाचक देख सकते हैं।

वात, पित्त, कफ अपनी-अपनी क्रियाओं द्वारा देह के संभव के हेतु हैं--वातपित्तश्लेष्माण एव देहसंभव हेतवः सु० सू० २१।३।--इस वचन का अर्थ कोई यह कहते है कि भुक्त अन्नपान से जिस अन्नरस की उत्पत्ति होती है वह वात, पित्त और कफ इन तीन के समवाय से बना होता है। अन्य शब्दों में इन तीन के -- केवल इन तीन के--समुदाय को ही अन्नरस कहते हैं। पश्चात् इन्ही के रसादि धातुओं के आशय मे जाने से धातुओं की पुष्टि होती है। कफ उन धातुओं के देह का निर्माण करता है, पित्त से उनके अग्नियों की पुष्टि होती है तथा वायु से उनके ज्ञान, चेष्टा आदि के हेतुभूत वायु की पुष्टि होती हे। यह अर्थ चिन्त्य हे। 'सभव' शब्द से दोष शरीर के समवायि कारण हैं यह अर्थ आयुर्वेदाभिमत नही प्रतीत होता। दोष शरीर के सभव के हेतु किस प्रकार हैं इसका कुछ निर्देश सुश्रुत के निम्न वचन मे गर्भोत्पत्ति के प्रकरण मे किया है।

द्वितीये (मासि) शीतोष्मानिलैरभिप्रपच्यमानाना महाभूताना सघातो घनः संजायते॥ सु० शा० ३।१८

द्वितीय मास मे कफ, पित्त और वायु से गर्भाशयगत महाभूतों का परिपाक होता है तो गर्भ कललावस्था से घन रूप में परिणत होता है। यहाँ महाभूत जैसे माता के गर्भाशय मे आए रस-रक्त द्वारा गर्भ को प्राप्त होते हैं और उन पर कफ, पित्त और वायु की क्रिया होकर गर्भ की पुष्टि होती है यह कहा है वैसे शरीर मे भी अन्न-रस सर्वधातुपोषक सामग्री ले कर धात्वाशयों में पहुँचता है और प्रत्येक आशय मे उस पर कफ, पित्त और वायु की तत्तत् क्रिया होकर क्रमश सर्व धातुओं की पुष्टि द्वारा सर्व शरीर का पोषण होता है। इस के पूर्व स्वय गृहीत अन्न-पान पर भी कफ, पित्त और वायु की क्रिया अन्नरस बनाने के लिए होती है। तात्पर्य-वात, पित्त, कफ को जो देहसभव हेतु कहा है वह उनके असमवायिकारण होने के अर्थ मे ही समझना चाहिए। वातपित्तश्लेष्माण एव देह संभव हेतवः (सु० सू०२१।३)---इस सूत्र में जो वातादि को शरीर की उत्पत्ति का हेतु कहा है उस पर प्रश्न उठाकर डल्लन ने जो उत्तर दिया है उसमे वातादि को शरीर की उत्पत्ति में सहकारि-कारण कहते हुए यही बात कही है। तथाहि :---

देहसंभवहेतवो देहोत्पत्तिहेतवः। ननु शुक्रशोणिते देहोत्पत्तिहेतू, तत्कथं वातादयो देहसंभवहेतवः कथ्यन्ते? उच्यते—अविकृता वातादयः शुक्रार्तवादिसहकारितया देहजनका अभिप्रेता इत्यर्थः॥

स्वस्थावस्था मे शरीर का धारण और अस्वस्थावस्था में स्वय विषम होकर शरीर को अस्वस्थ करना वातादि दोषों का स्वभाव है। दूष्यों--धातुओं,

उपधातुओं तथा मलो--की उत्पत्ति, पुष्टि, साम्य तथा वैषम्य इन दोषों के ही अधीन है। अत स्वास्थ्य और अस्वास्थ्य में--प्रकृति और विकृति में--दोषों का ही महत्त्व है। तथापि शरीर की उभय अवस्थाओ में दूष्य-विशेष रक्त का भी विशिष्ट स्थान है। अत कभी दोषो के साथ उसका भी स्मरण किया जाता है। सुश्रुत कहता है--

तदेभिरेव (वातपित्तश्लेष्मभि·) शोणितचतुर्थैः संभवस्थितिप्रलयेष्वप्यविरहितं शरीरं भवति। भवति चात्र—

नर्ते देहः कफादस्ति न पित्तान्न च मारुतात्।
शोणितादपि वा नित्यं देह एतैस्तु धार्यते॥

सु० सू० २१।३-४

उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय (रोग या मृत्यु) सभी अवस्थाओं में वात, पित्त, कफ ये तीन और चौथा रक्त यही कारणतया रहते हैं। तीनों दशाओ मे शरीर वात, पित्त, कफ और रक्त इन चार में किसी एक के विना रह नही सकता। शरीर का ये चारो धारण करते हैं।

रक्त शरीर का मूल है, शरीर का धारण करता है तथा रुग्णावस्था में भी इतर दूष्यों की अपेक्षया उसका पृथक् महत्त्व है।

आर्तव रक्त शरीर की उत्पत्ति का कारण है। इस हेतु रक्त को शरीर का मूल (आदि कारण) कहा है। जीवित अवस्था में यह प्रत्यक्ष या परोक्ष रीत्या शरीर का धारण करता है।--

तद्विशुद्धं हि रुधिरं बलवर्णसुखायुषा।
युनक्ति प्राणिनं प्राणः शोणितं ह्यनुवर्तते॥

च० सू० २४।४

शुद्ध रक्त पुरुष को बल, वर्ण और सुखकर आयु देता है। कि बहुना, प्राण रक्त के ही आश्रित है। शरीर के बल का कारण रक्त इस प्रकार है कि वह इतर धातुओं को पुष्ट करता है। धातुओ की सम्यक् पुष्टि हो तो शरीर भी बलवान् होता है। रक्त क्षीण हो जाय तो धातु-उपधातु भी क्षीण होते हैं--उनके कर्मो का ह्रास होता है तथा शरीर भी कृश और दुर्बल होता है।--तेषां (धातूनां) क्षयवृद्धी शोणितनिमित्ते--सु० सू० १४।२१। बल सम प्रमाण में रहने से धातु-

---

१--अविरहित कारणतया अविरहितम्। शोणितस्य देहकारणत्वमार्तवकारणतया व्यक्तमेव। शोणितस्य देहधारकत्वादि चोक्त शास्त्रे--'देहस्य रुधिरं मूल रुधिरेणैव धार्यते' इति--चक्रपाणि--

उपधातु एव उन से बने शरीरावयव अपना प्राकृत कर्म तथा आकुञ्चन-प्रसारणादि चेष्टाएँ योग्य प्रकार से कर सकते हैं। कर्मेन्द्रियों के कर्मों के अतिरिक्त ज्ञानेन्द्रियों से होनेवाले ज्ञान (स्पर्शज्ञान)[1] की समीचीनता का कारण भी रक्त ही है। सुप्तिवात (रक्तगत या रसगत वात) आदि रोगों में रक्त की दुष्टि के कारण ही त्वचा से स्पर्शज्ञान नही होता। चक्षु, कर्ण आदि इन्द्रियों के विषय का ज्ञान भी रक्त के द्वारा ही यथावत् होता है। त्वचा आदि का वर्ण और कान्ति भी रक्त के ही अधीन है। रक्त का दोषों के कोपवश या स्राव के कारण क्षय हो जाए तो इतर धातुओं का भी क्षय एवं वात का अतिप्रकोप हो जाता है। रक्त प्राकृत प्रमाण में हो तो उसके मल पित्त का भी पोषण समीचीन होता है। रक्त सम प्रमाण मे हो तो उस के आशयों मे उस की पुष्टि के लिए जो आहारभूत रस उपलब्ध होता है उससे रक्त की पुष्टि यथावत् हो जाने से पित्त की पुष्टि के लिए भी रसधातु का पर्याप्त प्रमाण शेष रहता है। परिणामतया, रक्त के साम्य से पित्त (जठराग्नि और धात्वग्नियों) की भी समता बनी रहती है। इस प्रकार परोक्षरीत्या रक्त पित्त को भी समावस्था में रखता हुआ उसके द्वारा शरीर के अनुग्रह का भी हेतु है।

पाण्डुरोग मे प्रधानतया कुपित दोष पित्त के कारण प्रथम रसधातु का अति पचन हो कर क्षय होता है। परिणामतया मुख्यतया रक्त का और अनन्तर इतर धातुओ का भी क्षय उनका आहारभूत रस धातु सुलभ न होने से होता है। धातवो हि धात्वाहाराः प्रकृतिमनुवर्तन्ते--च सू २८।३। यहाँ कहा है कि रस-धातुरूप आहार धातु-उपधातुओ को यथेष्ट प्रमाण में मिलता रहे तभी उनकी आकृति (रचना) तथा प्रकृति (प्राकृत कर्म) समावस्था मे रहते हैं। पाण्डुरोग मे रसधातु का क्षय होने के कारण रक्तधातु भी क्षीण होने से सर्व लक्षण उत्पन्न होते हैं। पाण्डुरोगाधिकार में निदान, पूर्वरूप और रूप का निर्देश करने के पूर्व प्रस्तावना के रूप मे रक्तधातु के क्षय का यथास्थित और हृदयगम चित्रण चरकाचार्य ने निम्न पदों मे किया है।--

---

१--अपनी सिराओ मे सचार करते रक्त के कर्मो मे स्पर्शज्ञान की भी गणना तन्त्रकर्ता ने की है। अन्यत्र आचार्य ने सर्व ज्ञानेन्द्रिय और मन दोनो स्पर्श से ही ज्ञान ग्रहण करते होने से उन्हे स्पर्शेन्द्रिय रूप ही कहा है। गीता मे विषयमात्र को स्पर्श कहा है। रक्त के कर्मो के प्रकरण मे स्पर्श-ज्ञान का व्यापक अर्थ ही ग्राह्य हे। अतएव पैर पर पैर आदि के पीडन से रक्तवहन सम्यक् न होने से त्वचा मे सुप्ति होती हे। वार्धक्य मे रक्त के क्षय के कारण दृष्टिमान्द्य, बाधिर्य आदि होते हैं।

दोषाः पित्तप्रधानास्तु यस्य कुप्यन्ति धातुषु ।
शैथिल्यं तस्य धातूना गौरवं चोपजायते ॥
ततो वर्णवलस्नेहा ये चान्येऽप्योजसो गुणाः ।
व्रजन्ति क्षयमत्यर्थं दोषदूष्यप्रदूषणात् ॥
सोऽल्परक्तोऽल्पमेदस्को निःसारः शिथिलेन्द्रियः ।
वैवर्ण्यं भजते × × ॥

च० चि० १६।४-६

दीपिकाकार ने यहाँ 'ओज' का अर्थ रक्त ही बताया है। अधिक व्याख्या पाण्डुरोग के अधिकार में करेंगे। रक्त के इन कर्मों के कारण ही ऊपर प्राणों को रक्त के आश्रित कहा हे, अन्यत्र रक्त को प्राण ही कहा है--रक्तं जीव इति स्थिति--सु सू १४।४४ तथा चरक ने भी दश प्राणायतनों में (प्राण के स्थानों में) रक्त की गणना इन शब्दों में की है--

दशैवायतनान्याहुः प्राणा येषु प्रतिष्ठिताः ।
शङ्खौ मर्मत्रयं[1] कण्ठो रक्तं शुक्रौजसी गुदम् ॥

च० सू० २६।३

प्राण का अर्थ आयुर्वेद-संमत प्राण के अनेक अर्थों में कोई भी यहाँ लिया जा सकता है। यथा--१ अग्निः सोमो वायुः सत्त्वं रजस्तमः पञ्चेन्द्रियाणि भूतात्मेति प्राणाः--सु० शा० ४।३--पित्त, कफ, वात, सत्त्व, रज, तम, पञ्च ज्ञानेन्द्रिय और आत्मा--ये ग्यारह प्राण। २--बाह्य वायु जो शरीर में प्राण नाम से रहता है। ३--उसी के प्राणापानादि पाँच भेद। ४--इन पाँचमें मुख्य प्राण नाम से प्रसिद्ध वायु। इसके लिए कहा है कि यह शरीर को तथा इतर वायुओं को शरीर में स्थिर किए रहता है। स प्राणो नाम देहधृक्, प्राणाश्चाप्यवलम्बते --सु नि. १।१३। इसी की इतर वायुओं को शरीर में स्थिर कर रखने की क्रिया को लक्ष्य में रख कर उक्त वचनों पर दोनों टीकाकारों द्वारा उद्धृत अधोलिखित उपनिषद्वाक्य है--यथा हि सैन्धवोऽश्वः शङ्कुमुत्पाट्य धावति, तद्वत् प्राणो रुद्धः सर्वान् वायूनुत्पाट्य प्रयाणकाले धावति--जैसे सिन्धुदेशज हयोत्तम अपने बन्धनशङ्कु को बलवत् वेग से उखाडकर उसे भी साथ लेकर भाग जाता है वैसे देह को त्याग कर प्रयाण करता हुआ प्राणवायु शेष

१--मर्मत्रय=तीन प्रधान मर्म--हृदय, बस्ति और शिर। देखिए--च सि ६।१-१० (त्रिमर्मीय अध्याय), सु० शा० ६।६ (सद्य प्राणहर मर्म)।

वायुओं को भी साथ ले जाता है। ५--श्वासक्रिया में नासाभ्यन्तरचारी प्राण और अपान इन दो वायुओं मे एक। श्वासक्रिया में निकलनेवाले वायुके लिए अपान और प्रविष्ट होनेवाले वायु के लिए प्राण शब्द भारतीय भाषाओं में प्रचलित है। आयुर्वेदीय क्रियाशारीर मे सप्रमाण मैंने दर्शाया है कि प्राचीन वाङ्मय मे इन शब्दो का विपरीत अर्थ में व्यवहार होता था। निकलनेवाले को प्राण तथा प्रविष्ट होने वाले को अपान कहा जाता था। प्राण का नासाभ्यन्तर सचारी वायुओ मे से कोई भी अर्थ लें रक्त उसे धारण कर शरीर को जीवित रखता है। आधुनिक प्रत्यक्ष से विचार करे तो ब्लड नाम से प्रसिद्ध द्रव्य के रक्त-कण आयुर्वेद के रक्तधातु हैं, तथा शेष द्रव अश आयुर्वेद का रसधातु है। रक्तकण नासाभ्यन्तरसचारी वायुओं को ग्रहण कर उनमें एक (गृहीत बाह्य वायु) को शारीर धातुओं मे उनके उपयोगार्थ पहुचाते है तथा द्वितीय (निर्गमनोन्मुख) वायु को धातुओं से आकृष्ट कर नासाविवर द्वारा बाहर निकाल देते है। इन वायुओं का धारण रक्तधातु ही करता है। इसी से शरीर के यावत् व्यापार होते है। अत. रक्त को प्राण ही कहा है।

नासाभ्यन्तरसचारी वायुओं मे निर्गमनशील वायु (प्राचीन-मत से प्राण) का महत्त्व विशेष है। यह समावस्था मे रहता हुआ मस्तिष्कगत श्वसनक्रिया के केन्द्र को सतत उद्दीप्त करता रहता है, जिससे श्वसन का वेग (सख्या), बल और स्वरूप समावस्था मे रहते है। यही वायु रक्तवहसंस्थान के केन्द्र को भी उद्दीप्त करता रहता है। अत प्रविष्ट होनेवाले वायु की अपेक्षया इसका महत्त्व सविशेषहै। जिस रोगी को नव्य चिकित्सक ओषजन देते हैं उसे उक्त महत्त्व के कारण कार्बन डाई ऑक्साइड भी साथ ही देते हैं। इस वायु का अवरोधवश सचय होकर प्रकोप होता है तो उसका श्वसनरूप प्राकृत कर्म बढ जाता है या विकृत हो जाता है। इस विकृति का प्राणवह स्रोतों की दुष्टि या श्वास नाम से वर्णन सहिताओ में किया गया है। इससे भी प्राण शब्द का प्राचीनाभिमत अर्थ कौन सा है--अन्त' प्रविष्ट होनेवाला वायु या बहिर्गमनशील वायु ?--यह विशद हो सकता है। नव्य-मत से सचित हुआ वहिर्गमनशील वायु (कार्बन डाई ऑक्साइड) श्वास के केन्द्र को समावस्था की अपेक्षया अधिक उद्दीप्त (स्टिम्युलेट) करता है, जिससे उसकी क्रिया प्राकृत की अपेक्षया सख्या आदि की दृष्टि से अधिक हो जाती है। इसी को श्वास (एस्थमा) कहा जाता है। इस प्रकार नव्य मत से समन्वय की सहायता से भी प्राण का अर्थ जानने का मार्ग प्रशस्त हो सकता है।

देहजनकता और देहधारकता के अतिरिक्त रोगोत्पादन तथा उसकी चिकित्सा मे भी रक्त का महत्त्व है। शल्यतन्त्र मे व्रण की उत्पत्ति का अधिष्ठान होने से दूष्य होते हुए भी रक्त को सुश्रुत ने दोषों के साथ स्थान दिया है ऐसा

डल्हन ने मत दिया है--शल्यशास्त्रे व्रणारम्भाधिष्ठानभूतत्वात् कस्यचिद् दूष्यस्य प्राधान्यं दर्शयन्नाह–तदित्यादि। परन्तु कायचिकित्सकों ने भी निदान और चिकित्सा मे रक्त में कुछ वैशिष्ट्य देखकर उसके रोगों का दोष-नानात्मज रोगों के सदृश पृथक् वर्णन किया है। १४० पृ० पर तथा आगे इस विषय पर अधिक विचार कर आए हैं। इस प्रकरण मे वाचक उसकी भी स्मृति कर लें।

कि बहुना, दोष (और रक्त) ही रोगोत्पत्ति मे प्रधान और उपचार में द्रष्टव्य है। ये वृद्ध हों या क्षीण, वैषम्य को प्राप्त हुए इनका जब धातुओं, उपधातुओं, मलों किंवा इनसे बने स्रोतों और आभ्यन्तर तथा बाह्य शरीरावयवों से समूर्च्छन होता है तो उनकी दुष्टि द्वारा किंवा कभी दोषो के स्वतन्त्र लक्षणों के रूपमे भी शरीर में रोगो का प्रादुर्भाव होता है। इनके विषय मे अधिक वक्तव्य आगे निदानपञ्चक के प्रकरण मे आएगा। अब रोग-परीक्षा मे परीक्षणीय अन्य पदार्थों का निर्देश किया जाता है।

दूष्य–धातु, उपधातु तथा मल

हिताहार आरोग्य का और अहिताहार रोग का कारण है यह आयुर्वेद का सिद्धान्त है।--हिताहारोपयोग एक एव पुरुषवृद्धिकरो भवति, अहिताहारोपयोगः पुनर्व्याधिनिमित्तमिति--च०सू० २५।३१। जैसा कि दीपिकाकार ने लिखा है 'एक' और 'एव' शब्दों का प्रयोग होते हुए भी इस वचन का यह अर्थ नही है कि एकमात्र आहार ही पुरुष की प्रकृति-विकृति का कारण है; अन्य कारण नही। आरोग्य-अनारोग्य में आहार प्रधान कारण है यही यहाँ अभिप्रेत है। हित आहार का मुख्य लक्षण है, पुरुष की प्रकृति, देश, काल (ऋतु) आदि को दृष्टि मे रख कर अनुरूप रसवाले आहार द्रव्यों का सेवन। सामान्यतया सभी रसों का बारहो मास सेवन करना चाहिए, परन्तु ऋतु आदि देख कर जिस दोष के कोप की सभावना हो उसके शामक रसों का अनुरूप प्रमाण में सविशेष सेवन करना चाहिए।--नित्यं सर्वरसाभ्यासः स्वस्वाधिक्यमृतावृतौ--अ० हृ० ३।५७। यहाँ रस शब्द उपलक्षण है। गुण, वीर्य का भी विचार आहार के विचार मे करना ही चाहिए।

मधुरादि रसों का समयोग (सम प्रमाण में सेवन) न हो, किन्तु हीनयोग या अतियोग हो तो रसभेद से तत्तत् रस का क्षय या वृद्धि (कोप) होता है। कुपित हुए दोष रसादि धातुओ को दूषित करते है। कुपित दोष तथा दूषित हुए रसादि धातु पुरीषादि मलो को दूषित (क्षीण या वृद्ध) करते हैं।--

दोषा दुष्टा रसै र्धातून् दूषयन्त्युभये मलान्।

अ० हृ० सू० ११।३५

दोषों से धातुओं की दुष्टि में क्रम यह होता है कि दुष्ट दोष प्रथम स्रोतों को दुष्ट करते हैं। दुष्ट हुए स्रोतो से धातुओ की भी दुष्टि होती है। शरीर के अवकाशयुक्त अवयवों के स्रोत, सिरा आदि पर्यायों का निर्देश कर चरकाचार्य कहते हैं--

तेषा (शरीरधात्ववकाशाना स्रोतआदीनाम्) प्रकोपात् स्थानस्थाश्चैव मार्गगाश्च शरीरधातवः प्रकोपमापद्यन्ते॥ च० वि० ५।६

स्रोतों से आसन्न (निकटवर्ती) स्रोतो की दुष्टि होती है (जैसे प्रतिश्याय जनक दोषों से प्रथम नासा-स्रोत की दुष्टि होती है और वह क्रमश गल, कण्ठ और प्राणवह स्रोतों में सक्रान्त हो कर तत्तत् व्यथा उत्पन्न करती है, किंवा तिर्यक् तथा ऊर्ध्व दिशा में अस्थिगत वाताशयो में जा कर शूल, गौरव आदि लक्षण उत्पन्न करती है।) एव धातु अपने आगे या पीछे के --पूर्व या पर--धातु को दुष्ट करता है--स्रोतासि स्रोतास्येव, धातवश्च धातूनेव प्रदूषयन्ति प्रदुष्टा --च०वि० ५।६। स्रोतों और धातुओ की यह दुष्टि भी अन्त को तो दोषकृत ही होती है। दूषणात्मक स्वभाव दोषो का ही है। दोषों द्वारा सर्वप्रथम स्रोतो की दुष्टि होती है, यह विषय हृदयकार ने निम्न स्पष्ट और प्रसिद्ध पदो में दिया है--

प्रतिरोगमिति क्रुद्धा रोगाधिष्ठानगामिनीः।
रसायनीः प्रपद्याशु दोषा देहे विकुर्वते॥
अ० हृ० नि० १।२३

यहाँ रसायनी शब्द अवकाशमय अवयवमात्र के लिए आया है। दोषो के प्रभाव से जो वैगुण्य या अवरोधजनक स्वभाव इन अवकाशो (ख) में उत्पन्न होता है उसके कारण रस तथा अन्य अन्दर या बाहर सचरणशील द्रव्यों का अवरोध होता है। अवरोधवश उस स्थान पर इनकी प्रमाण-वृद्धि या कोप होता है। इस प्रकार दोषो के द्वारा एकाङ्ग में रोगोत्पत्ति होती है। उनका इस प्रकार अवरोध-विशेष न हो तो वे सर्व शरीर में ही रोगोत्पत्ति कर देते हैं। देखिए--

क्षिप्यमाणः खवैगुण्याद् रसः सज्जति यत्र सः।
करोति विकृति तत्र खे वर्षमिव तोयदः॥
दोषाणामपि चैव स्यादेकदेश प्रकोपणम्॥
च० चि० १५।३६

सुश्रुत ने भी कहा है --

कुपिताना हि दोषाणा शरीरे परिधावताम्।
यत्र संगः खवैगुण्याद् व्याधिस्तत्रोपजायते॥
सु० सू० २४।१०

अन्तर्मुख या योगवह स्रोतों मे दोषकृत विकृति या वैगुण्य के परिणाम प्रायः अनुमानगम्य होते है। परन्तु वहिर्मुख स्रोतों या मलद्वार नाम से प्रसिद्ध छिद्रों पर कुपित या क्षीण हुए मलों का परिणाम प्रत्यक्ष होता है। हृदयकार आगे कहते है--

मला मलायनानि, स्युर्यथास्वं तेष्वतो गदाः ॥

अ० हृ० सू० ११।३६

चरकाचार्य ने भी कहा है--

मलायनानि वाध्यन्ते दुष्टैर्मात्राधिकैर्मलैः ॥

च० सू० ७।४२

तात्पर्य--मधुरादि रसों के वैषम्य से दोषों की दुष्टि, उनसे धातुओं की, दोनों से मलों की और मलों से मलद्वारों की दुष्टि होती है। ये मलद्वार नौ है--गुदमार्ग, लिङ्ग (शिश्न, मूत्रद्वार, अपत्यपथ), दो श्रोत्र, दो नासापुट, दो चक्षु और एक मुख तथा संख्यातीत स्वेदवह स्रोतों के मुख। इनमें दुष्टि होने पर दो परिणाम-भेद होते देखे जाते है--जिस मल की वृद्धि या कोप हो उसके द्वार पर गौरव की प्रतीति एव उस मल का अति उत्सर्ग; तथा जिस मल का क्षय हो उसके द्वार-प्रदेश पर लघुता एव उस मल का सग--अप्रवृत्ति। इस प्रकार जिस प्रदेश पर जिस दोष से विकृति हो उसके अनुसार विविध रोग-त्वग्रोग, विसर्प, क्रोधशीलता इत्यादि--होते है।

मलो की अपने-अपने छिद्रों पर यत्किंचित् वृद्धि हो तो इसे इन्द्रियोपलेप नाम दिया है। इससे किंचित् कण्डू आदि लक्षण होते हैं। दोष-प्रकोप की जो सप्राप्ति ऊपर दी है, उससे विदित होगा कि अन्तिम सुप्रत्यक्ष विकृति मलों तथा मलद्वारों की होती है। इसी कारण अनुभवी चिकित्सक इन्ही को लक्ष्य में रख कर जिह्वा, नेत्र आदि की परीक्षा करके किवा पुरीष के स्वरूप के विषय मे पृच्छा कर दोषो के साम्य-वैषम्य का निर्धारण करते हैं। जिह्वा, पुरीष एक प्रकार से दोषो की विषमता या समता के सकेत-चिह्न (सिगनल) है। दोष-भेद से इनके स्वरूप मे भेद देखा जाता है।

दोषों के द्वारा दूष्यों--धातुओं, उपधातुओं तथा मलों--की दुष्टि से होने वाले रोग पहले दे आए हैं (देखिए पृ० १५० तथा आगे)। यहाँ दोषो के समूर्च्छनवश दूष्यों के क्षय और वृद्धि के लक्षण ही दिए जाते है[1]।

१--च० सू० १७।६३-७७ तथा चक्र, सु० सू० १५।९-३१ तथा डल्हन, चक्र, अ० हृ० सू० ११।८-२५ तथा इन्दु, हेमाद्रि।

दोषादि की वृद्धि के सामान्य कारण—

वृद्धिः पुनरेषां स्वयोनिवर्धनात्युपसेवनाद् भवति ॥

सु० सू० १५।१३

किसी भी दोष, धातु, उपधातु या मल की वृद्धि प्रथम तो उन द्रव्यो से होती है जिनमें उन्ही महाभूतो का आधिक्य हो जिनका आधिक्य उस दोष, धातु आदि मे है। यथा, पित्त और रक्त मे अग्नि महाभूत का आधिक्य है, सो, जिन द्रव्यों में अग्नितत्त्व की अधिकता होगी वे द्रव्य सेवन किए जाने पर पित्त और रक्त की वृद्धि करेंगे। 'आयुर्वेदीय पदार्थविज्ञान' में मैंने बताया है कि द्रव्यों की शरीर पर क्रिया को समझने के लिए आचार्यो ने उनके पाञ्च भौतिक सघटन को एक ओर रख कर द्रव्यों के गुण-कर्मो को ही दृष्टि में रखा है। (यह सत्य है कि द्रव्यों के तत्तत् गुण-कर्म भी अन्त को तो अपने विशिष्ट पाञ्च भौतिक सघटन के कारण ही होते हैं)। इस दृष्टि से कहना हो तो जो द्रव्य उष्ण, तीक्ष्ण आदि गुण-वीर्य-विपाक वाले हों, एव जिनमें दीपन, पाचन आदि कर्म हों वे सेवन किए जाने पर पित्त और रक्त की वृद्धि करते हैं ··· इत्यादि।

आहारौषध द्रव्यों के अतिरिक्त विहार, देश और काल भी जो अपने स्वभाव-विशेष से किसी दोष आदि को वृद्धि करनेवाले हों उनके योग (सेवन) से उस दोषादि की वृद्धि होती है। यथा, निद्रा, दिवास्वप्न, आनूप देश तथा शिशिर ऋतु कफ की वृद्धि करते हैं। इनसे कफ के समान प्रथम रस की तथा परिणामतया शेष धातुओं की भी वृद्धि होती है। इसके विपरीत चेष्टा (श्रम, व्यायाम), जाङ्गल देश आदि से वात की वृद्धि होती है। वात की वृद्धि का ही अन्य अर्थ है धातुओ की क्षीणता। पित्त और रक्त का विचार करना हो तो आतप (धूप) जिस देशमे अधिक हो वहाँ इनकी वृद्धि होती है। एवं—शरत्कालस्वभावाच्च शोणितं संप्रदुष्यति—च० सू० २४।१०। शरदृतु मे पित्त के सदृश रक्त की भी दुष्टि और वृद्धि होती है। रोग-परीक्षा में ये वृद्धि-कारण ज्ञात हो तो इस रूप में सहायक होते हैं कि इनसे प्रधान दोष का ज्ञान हो जाता है। साथ ही चिकित्सा का प्रथम सोपान निदान-परिवर्जन होने से चिकित्सा भी स्वच्छ होती है। श्वास, राजयक्ष्मा, अम्लपित्त आदि रोग-पीडित पुरुषो को रोग अच्छा न हो रहा हो ऐसी स्थिति मे यदि वे आनूप देश में हों तो देशत्याग कराया जाता है[1]। जनपदोद्ध्वसक रोगो मे प्रत्येक पुरुष को देश-त्याग की सलाह दी जाती है।

---

१ देखिए आनूपदेशे प्रायेण सभवत्येष देहिनाम्—कहकर अम्लपित्त रोगी को सलाह दी गयी है कि—अप्रशाम्यति चैतस्मिन्नपि देशान्तर व्रजेत्—काश्यपसहिता, पृ० ३०८। चरक-सुश्रुत-वाग्भट आनूप भिन्न देश के वासी—>

एक धातु की वृद्धि हो तो वह पर धातु की भी वृद्धि करता है। कारण, उसकी पुष्टि के लिए रस धातु की वैसी अपेक्षा नही रहती। अधिक रस धातु पर धातु के ही पोषण के उपयोग में आ जाता है। अत पूर्व धातु की वृद्धि पर धातु की वृद्धि का कारण बनती है।--पूर्वः पूर्वोऽतिवृद्धत्वाद् वर्धयेद्धि परं परम्--सु० सू० १५।१८।

दोपादि की क्षीणता के कारण

प्रत्येक दोष, धातु आदि के क्षय के कारणो का सामान्य उल्लेख करते चरकाचार्य कहते हैं--

> व्यायामोऽनशनं चिन्ता रूक्षाल्प प्रमिताशनम्।
> वातातपौ भयं शोको रूक्षपानं प्रजागरः॥
> कफशोणितशुक्राणा मलाना चातिवर्तनम्।
> कालो भूतोपघातश्च ज्ञातव्याः क्षयहेतवः॥
>
> च० सू० १७।७६-७७

व्यायाम (विशिष्ट कायिक, वाचिक, मानसिक श्रम), अनशन, चिन्ता, रूक्ष-भोजन (घी, दूध, आदि जिसमें न हों ऐसा भोजन), अल्प भोजन, प्रमित भोजन (केवल एक रस का सेवन), वात (वायु के प्रवाह का शरीर पर लगना), आतप (धूप), भय, शोक, रूक्ष पेय द्रव्यों का सेवन, जागरण, कफ, रक्त, शुक्र और तत्तत् मल की अति प्रवृत्ति (बहिर्गमन, स्राव) ; काल (वृद्धावस्था तथा आदान काल--शिशिर, वसन्त और ग्रीष्म ऋतु) एव पिशाचादि योनियों का आवेश--ये दोषादि के क्षय के सामान्य कारण हैं। इनमें कोई किसी को क्षीण करता है कोई किसी को। यथा, कफ आदि मे जिसका अति स्राव हो उसी की क्षीणता होगी। उदाहरणतया, स्वेद की अति प्रवृत्ति होगी तो स्वेद का क्षय हो जाएगा। स्वेद के साथ तदाश्रित पित्त की भी अति प्रवृत्ति हो जाने से शरीर मे उसका योग्य प्रमाण नही रह जाता--उसका भी क्षय होता है। स्वेदो रसो लसीका रुधिरमामाशयश्च पित्तस्थानानि--च० सू० २०।८। पित्त के कर्मो में जो ऊष्मा की मात्रा का नियत्रण (मात्रामात्रत्वमूष्मण.--च० सू० १२।११) बताया है, उसे चक्रपाणि ने त्वग्गत भ्राजक पित्त का ही कार्य कहा है। नव्य-मत

रहे होगे। उन्होने अम्लपित्त का उतना दर्शन न किया होगा। अत उन्होने इसका पृथक् उल्लेख नही किया है। यथा--चरक ने ग्रहणी चिकित्सिताध्याय मे पैत्तिक ग्रहणी मे ही अम्लपित्त को समाविष्ट कर दिया है।

की सहायता से कह सकते हैं कि इस भ्राजक पित्त का ही स्थान स्वेद है। स्वेद की अति प्रवृत्ति से ऊष्मा का नियमन करनेवाले इस पित्त का भी अति प्रवृत्तिवश क्षय हो जाता है। अतएव, स्वेदयुक्त भाग शीत होता है। कई व्यक्तियों को हस्तपादतल में ही इस प्रकार अति स्वेदवश शीतलता देखी जाती है। ज्वरादि रोगों मे सर्वाङ्ग में स्वेद हो कर सर्वाङ्ग शीतल हो जाता है। उस काल पित्त की वृद्धि करनेवाले ही चन्द्रोदय आदि द्रव्य आर्द्रक स्वरसादि उष्ण अनुपानों से दिये जाते हैं। यों ये द्रव्य उष्ण-तीक्ष्ण होने से अधिक स्वेदकारक अतएव, विरुद्ध प्रतीत होते हैं। परन्तु उक्त सप्राप्ति एव प्रत्यक्ष से इनकी उपयोगिता सिद्ध है। इस प्रकार इसे भी तदर्थकारी चिकित्सा का उत्तम उदाहरण समझ सकते है।

व्यायाम आदि से वायु की भी वृद्धि होती है, पर कफ, पित्तादि स्निग्ध द्रव्यो का क्षय होता है।

इन कारणों के अतिरिक्त कुपित हुए दोष भी अपनी-अपनी रीति से धातुओं को क्षीण करते है--

दोषः प्रकुपितो धातून् क्षपयत्यात्मतेजसा।
इद्धः स्वतेजसा वह्निरुखागत मिवोदकम्॥

सु० सू० १५।३८

कुपित हुए दोष अपनी शक्ति से धातुओं (उपधातुओं) और मलों को क्षीण करते है, जैसे प्रदीप्त अग्नि अपने तेज से पतीली मे रखे जल को क्षीण करता है। प्रत्येक दोष की अपनी-अपनी धातुशोषक शक्ति को विशद करते डल्हनाचार्य कहते हैं--तत्र पित्तं कटुकोष्णत्वाद् धातून् क्षपयति, वायुश्च शोषणहेतुत्वात्,कफो मार्गावरोधकत्वात्--पित्त अपने कटु तथा उष्ण गुण से धातुओ तथा मलों का ह्रास करता है। उसके ये गुण वृद्धि को प्राप्त हुए हों तो धातुओं, उपधातुओं तथा मलों के अग्नियों की दीप्ति होने से पचनात्मक क्रिया में वृद्धि होती है, जिससे आहारभूत रसधातु का तो पचन हो कर क्षय होता ही है, स्वय धातुओं का भी पाकवश क्षय होता है। वायु अपने शोषण स्वभाव से धातुओं को शुष्क कर क्षीण करता है। कफ अपने मार्गावरोध के स्वभाव से धातुपोषक स्रोतो द्वारा धात्वाशयों मे जानेवाले रस धातु के अयन (प्रवाह) को ही मन्द कर देता है या कफ का कोप अर्बुद किंवा धमनी प्रतिचय के रूप में हुआ हो तो अर्बुद और धमनी प्रतिचय के प्रमाण के अनुरूप रस धातु के अयन मे न्यून, अधिक या सपूर्ण अवरोध उत्पन्न करता है। रस धातु की उपलब्धि मे हुए इस अन्तराय के कारण धातुओं-उपधातुओ की पुष्टि यथावत् न होने से उनका क्षय होता है। राजयक्ष्मा के

एक प्रकार में विशेषतया कफ द्वारा रसादि का वहन करनेवाले स्रोतों का मार्गावरोध होता है--कफप्रधानैर्दोषैस्तु रुद्धेषु रसवर्त्मसु--सु० उ० ४१।९--यह पहले कह ही आए हैं। इस प्रकार दोषादि के क्षय के श्लोकोक्त कारणों के अतिरिक्त प्रकुपित हुए किसी दोष से भी धातुओं का क्षय होता है।

किसी भी कारण से धातु आदि वृद्ध या क्षीण होने से जो लक्षण होते हैं, उनका उल्लेख किया जाता है।

रस के वृद्धि-क्षय के लक्षण--रस धातु की वृद्धि होने पर श्लेष्मा की वृद्धि के समान लक्षण होते हैं ; यथा--अग्निमान्द्य, हृदयोत्क्लेद (हृल्लास, जी मिचलाना), प्रसेक (लालास्राव) और क्वचित् वमन।

घट्टते, सहते शब्दं, नोच्चैर्द्रवति शूल्यते।
हृदयं ताम्यति स्वल्पचेष्टस्यापि रसक्षये॥

च० सू० १७।६४

रसे रौक्ष्यं श्रमः शोषो ग्लानिः शब्दासहिष्णुता॥

अ० हृ० सू० ११।१७

रसक्षये हृत्पीडाकम्पशून्यतास्तृष्णा च॥[1]

सु० सू० १५।९

रस धातु का क्षय होने पर सर्व शरीर पर उसकी क्षीणता के परिणाम होते हैं। व्यान वायु की क्रिया से रस-विक्षेपण का कार्य करते हुए हृदय को सर्वप्रथम रस धातु की उपलब्धि होती है। रस की क्षीणता के विपरिणाम भी विशेषतया उस पर देखे जाते हैं। तथाहि : रस धातु क्षीण होने पर हृदय का घट्टन[2] होता है--हृदय को कोई पकड़ कर हिलाता हो ऐसी प्रतीति होती है ; उसकी गति (कम्प) अत्यधिक बढ जाती है (अंग्रेजी--टेकीकार्डिआ) अथवा और हृदय की धड़कन इस प्रकार होती है कि रोगी को उसकी प्रतीति होती है (हृद्द्रव ; अंग्रेजी--पेलिपटेशन) ; हृदय मे पीडा (पीडन की प्रतीति) तथा शूल होते हैं ; शरीर का शोष होता है ; आमाशय और मन की शून्यता का अनुभव होता है ; स्वल्पमात्र चेष्टा करने पर भी हृदय में श्रम (और तज्जन्य श्वास आदि) हो आता है। हृदय के अतिरिक्त सर्वाङ्ग में भी रसक्षयजन्य लक्षण होते हैं। तथाहि : शरीर में (त्वचा, नख, नयन, वदन, मल आदि मे) रौक्ष्य नाम स्नेहाभाव,

---

१--पाठान्तर मे यहाँ 'शोष' भी पठित है। हृच्छब्द. पीडाकम्पशोष--शून्यताभिर्योज्यः ; एते च रसक्षये वृद्धवाताद्धि भवन्ति। --चक्रपाणि

२--भ्वादि तथा चुरादि गणो मे चलनार्थक 'घट्ट' धातु पठित है।

गु ता (कृशता), ग्लानि अर्थात् क्लम, श्रम, तृष्णा और शब्दासहिष्णुता (शब्द श्रवण द्वेष स्वल्प भी शब्द सहन न होना) ये सार्वदैहिक लक्षण रस का क्षय होने पर होते हैं। ये सब लक्षण रस की क्षीणता के कारण वायु की वृद्धि होने से होते हैं।

इन लक्षणों के अतिरिक्त प्रत्यक्ष में देखते हैं कि रस धातु का क्षय होने पर उसके उपधातु आर्तव और स्तन्य की भी पुष्टि नही होती--आर्तव का क्षय (अल्पता) और स्तन्य की भी क्षीणता होती है। आर्तव का क्षय होने पर उचित काल पर उसका अदर्शन, किंवा अल्प प्रमाण में दर्शन तथा योनि (गर्भयन्त्र) में वेदना--ये लक्षण होते हैं। नवीनो के मत से आर्तव और स्तन्य की उत्पत्ति के प्रेरक जो अन्त स्राव पोषणिका-ग्रन्थि (पिट्युइटरी) में उत्पन्न होते हैं, उनकी उत्पत्ति ही ग्रन्थि को रस-रक्त स्वल्प प्रमाण मे प्राप्त होने के कारण उपयुक्त स्वरूप और मात्रा में नही होती। प्रेरणा के अभाव में आर्तव और स्तन्य भी स्वल्प बनते हैं। यह 'एनीमिआ' में होता है[1]।

पाण्डुरोग में पित्तादि दोषो से रसधातु का क्षय हो कर जो पूर्वरूप होते हैं उनमें यही लक्षण प्राय कहे हैं। देखिए तस्य लिङ्ग भविष्यत.। हृदय-स्पन्दन रौक्ष्य स्वेदाभाव श्रमस्तथा--च० चि० १६।१२। इनकी व्याख्या उक्त प्रकार से ही करनी चहिए।

हृदय में पीडा नव्य-मत से हृदय के रस-रक्तवह स्रोतो के स्तम्भ (आकुञ्चन) के कारण हृदय की पेशी को रस दुर्लभ होने से होती हे। यह भी प्रादेशिक रसक्षय का एक उदाहरण है। वातिक हृद्रोग के अन्य लक्षण भी इसी प्रकार होते हैं। हृदय में पीडा (हृदय-प्रदेश में कॉम्प्रेशन, कन्स्ट्रिक्शन या ऑप्रेशन का नियत अनुभव, इसके साथ शूल हो या न हो) 'एन्जाइना पेक्टोरिस' में होती है। आयुर्वेद-मत से यह वातज विकार हे।

हृच्छूल नव्य-मत से हृदय के रस-रक्तवह स्रोतों में रस-रक्त स्त्यान हो जाने से (जम जाने से) स्रोतों में जो अवरोध होता है उसके कारण होता है। इसके साथ पीडा हो भी सकती है, अथवा नही भी होती। परन्तु शूल नियत लक्षण है। यह स्थिति आयुर्वेद-मत से व्यान वायु का कर्म कफ के मन्द गुण से आवृत होने से होती है। इसे 'लो ब्लड प्रेशर' या 'हायपोटेन्शन' कहते हैं।

१--इस प्रकरण मे हृदयकार ने रसक्षय के लक्षण श्लेष्मक्षय के सदृश बताए है। हेमाद्रि कहता है कि--इसी प्रकार रक्तक्षय के लक्षण पित्तक्षय के सदृश तथा मासमेद क्षय के लक्षण श्लेष्मक्षय के सदृश होते हैं--अपिशब्दो-ऽन्यानप्यतिदेशान् सूचयति। तेन रक्त पित्तवत्, मासमेदसी श्लेष्मवत्।

आयुर्वेद में इसे सिराशैथिल्य नाम दिया गया है। कफ के मन्द गुण के साथ उसका पैच्छिल्य गुण भी वृद्धि को प्राप्त हुआ होता है, जो रक्त के स्कन्दन (कोएग्युलेशन) का कारण होता है। रोग की यह सम्प्राप्ति लक्ष्य मे रखते हुए सुचिकित्सक इसमें बृहद्-वातचिन्तामणि, चन्द्रोदय, ब्राह्मी बटी इत्यादि कफ-प्रत्यनीक द्रव्य द्राक्षासव, दशमलासव आदि स्रोतोविवृतिकारक (रसायन) कल्पों के अनुपान से देते हैं।

रसक्षय के कारण जो तृष्णा होती है उसे सुश्रुत ने क्षयज तृष्णा कहा है—रसक्षयाद् या क्षयजा मता सा—सु० उ० ४८।१३। इसकी अति हृदयगम संप्राप्ति चरकाचार्य ने निम्न पदों मे दी है—

देहो रसजोऽम्बुभवो रसश्च तस्य क्षयाच्च तृष्येद्धि।
दीनस्वरः प्रताम्यन् संशुष्कहृदयगलतालु॥
च० चि० २२।१६

शरीर रसज है—रस धातु से उत्पन्न और पुष्ट होता है, और यह रस धातु जल से उत्पन्न होता है। इस जल का तत्तत् कारण से क्षय (उदकक्षय, अंग्रेजी-डीहाइड्रेशन) होने पर जल की इच्छा के रूप मे तृष्णा होती है। रसक्षयात् अम्बुक्षयो भवति, तेन चाम्बुक्षयेण पुरुषः पानीयप्रार्थनारूपतृष्णया युक्तो भवति—चक्रपाणि। इस विषय मे सिद्धान्त भी है कि पुरुष मे जिस भी दोष, धातु या मल का क्षय होता है, उसकी पूर्ति के लिए ऐसे ही द्रव्यो की इच्छा होती है, जिनमे क्षीण दोषादि की वृद्धि करनेवाले भूत विद्यमान हो—

दोषधातुमलक्षीणो बलक्षीणोऽपि वा नरः।
स्वयोनिवर्धनं यत्तदन्नपानं प्रकाङ्क्षति॥
यद्यदाहार जातं तु क्षीणः प्रार्थयते नरः।
तस्य तस्य स लाभे तु तं तं क्षयमपोहति॥
सु० सू० १५।२९-३०

पुरुष के जिस दोष, धातु, उपधातु, मल या बल (ओज) का क्षय हुआ हो उसके योनि (उत्पादक महाभूत) की वृद्धि करने वाले अन्नपान की उसे आकाक्षा होती है। वह जिस-जिस आहार-विशेष की इच्छा करता है उसका सेवन करने से उस-उस दोषादि की क्षीणता दूर होती है—साम्य होता है।

रसक्षय के कारण जो शब्दासहिष्णुता होती है उसका एक प्रकार यह भी होता है कि रोगी अन्य पुरुषो के साथ बैठ कर खाना-पीना पसन्द नही करता। कारण, खान-पान की क्रिया में अन्य पुरुषो के मुख आदि से होनेवाले शब्द उसे सह्य नही होते—उद्वेजक होते हैं।

रक्त के वृद्धि-क्षय के लक्षण—रक्त धातु की वृद्धि होने पर अङ्गों (त्वचा) तथा नेत्र में रक्तिमा (ललाई), सिरापूर्णता, विसर्प, प्लीहा, विद्रधि (फोड़े; आभ्यन्तर या बाह्य), कुष्ठ, वातरक्त, रक्तपित्त, रक्तगुल्म, उपकुश (दन्तमांसज रोग विशेष), कामला, व्यङ्ग, अग्निमान्द्य, सम्मोह (मूर्च्छा) तथा रक्तमूत्र (मूत्र में रक्त की प्रवृत्ति रक्तमेह, रक्तपित्त, कालमेह)—ये तथा पैत्तिक विकार होते हैं।

आधुनिक-मतसे रक्तकणो की वृद्धि होने से शरीरावयवो में रक्तता दिखाई देते हैं। रक्तधातु की वृद्धि से जैसे प्लीहा, गुल्म, कुष्ठ प्रभृति उत्सेध-प्रधान रोग होते हैं वैसे अपने आशय-विशेष सिरा में रक्त की वृद्धि होने से सिराएँ भी पूर्ण (भरी हुई) होती है। यह नवीनो का हायपरटेन्शन या हाई ब्लड प्रेशर है। रक्त का प्रमाण अधिक होने से उसका विक्षेपण करनेवाला व्यानवायु उससे आवृत होने से कोप को प्राप्त होता है। परिणामतया, रक्त का दबाव बढ जाता है। उससे शिरोगौरव, मद आदि रोग होते है।

लक्षणों की दृष्टि से विचित्र होते हुए भी इन रोगो में यह साधर्म्य है कि अमुक ही प्रकोपक कारणो के अतियोग से रक्त की वृद्धि हो कर ये रोग होते हैं। (कारणो के लिए देखिए: च० सू० २४।५-७—विधिशोणितीयाध्याय)। साथ ही सब में चिकित्सा का भी कुछ साम्य है। तथाहि:

कुर्याच्छोणितरोगेषु रक्तपित्तहरीं क्रियाम्।
विरेकमुपवासं च स्रावणं शोणितस्य च॥

च० सू० २४।१८

रक्तज रोगो मे रक्त और पित्त का शमन, विरेचन, उपवास तथा बल, दोष आदि को देखते हुए जो विधि उपयुक्त प्रतीत हो उसके अनुसार रक्तमोक्षण करना चाहिए। इन रोगों के प्रकरणों में रक्तमोक्षण आदि उपचारों का विधान पृथक् भी किया ही गया है।

रक्त का क्षय होने पर शिराओ के पूरक रक्त की अल्पता होने से शिरा-शैथिल्य; त्वचा, नेत्रादि की रूक्षता, परुषता, म्लानता और स्फुटन (फटना), एवं अम्ल और शीत द्रव्यो के सेवन की आकाक्षा; अग्निमान्द्य, वातवृद्धि इत्यादि लक्षण होते हैं।

शिरापूर्णता जैसे नवीनो का रक्तदाब का आधिक्य है, जो रक्त की प्रमाण-वृद्धि से होता है, वैसे शिराशैथिल्य नवीनों का न्यून रक्तदाब (हायपोटेन्शन; लो ब्लड प्रेशर) है, जो रक्त की न्यूनता अथवा-और मास धातु के क्षय से होता है। रक्तधरा-कला का परिचय देते हुए तन्त्रकार ने कहा है कि वह मास के अन्दर रहती है—द्वितीया रक्तधरा मांसस्याभ्यन्तरतः—सु० शा० ४।१०।

आगे कहा है कि उसमें, विशेषतया सिराओं (रस-रक्तवाहिनियों), यकृत् तथा प्लीहा में रक्त रहता है। नव्य-मत से भी रक्तधरा-कला (अन्दर का मण्डल) के चारों ओर मांसमय मण्डल होता है। मांस धातु क्षीण हो तो रक्तधरा-सिरा शिथिल रहती है। चिकित्सा मे सिराशैथिल्य का कारण-भेद (रक्तक्षय या मांसक्षय) स्मरण रखना चाहिए।

शिराशैथिल्य का कारण चक्रपाणि ने शिरापूरक रक्त की अल्पता बताया है--सिराशैथिल्य पूरक रक्ताल्पतया। रक्त अग्नि-सोमात्मक होने से उसका क्षय होने पर उसके पूरक अम्ल और शीत द्रव्यों की आकांक्षा होती है। किंवा रक्त का क्षय होने से वात की वृद्धि होती है, जिसके विपरीत अम्ल रस की आकांक्षा होती है। उधर, रक्त द्रव होता है। द्रवत्व का ह्रास होने से उष्णता की वृद्धि होती है, जिसके शमनार्थ शीत द्रव्यों की इच्छा होती है।

मांस धातु की वृद्धि-क्षय के लक्षण--मांस धातु की वृद्धि होने पर स्फिक् (चूतड़), गण्ड (कपोल, गाल), ओष्ठ, उपस्थ (शिश्न तथा भग), ऊरु तथा बाहु की वृद्धि (विशेष पुष्टि) ; उसके कारण गुरुगात्रता (शरीर के भार में वृद्धि किंवा शरीर भारी प्रतीत होना) ; गण्डमाला, गलगण्ड, अर्बुद, ग्रन्थि ; एवं कण्ठ, तालु, जिह्वा आदि में मांस वृद्धि (इनमे उत्सेध किंवा गिलायु, गल-शुण्डिका आदि के रूप मे वृद्धि)--ये विकार होते हैं।

धातुओं की वृद्धि तथा क्षय के विषय मे वाग्भट ने यह निदान बताया है--

स्वस्थानस्थस्य कायाग्नेरंशा धातुषु संस्थिताः।
तेषां सादातिदीप्तिभ्यां धातुवृद्धिक्षयोद्भवः॥
पूर्वो धातुः परं कुर्याद् वृद्धः क्षीणश्च तद्विधम्॥

अ० हृ० सू० १५।३४

अपने स्थान पक्वामाशयमध्य (पच्यमानाशय) मे पाचक पित्त नाम से जो जठराग्नि रहती है उसके ही अंश (क्षुद्र रूपान्तर--हेमाद्रि) धातुओं मे धात्वग्नि नाम से रहते हैं। ये धात्वग्नियाँ मन्द हों तो धातुओं की वृद्धि होती है। यही अग्नियाँ दीप्त हों तो धातुओं का क्षय होता है। धातुओं के वृद्धि-क्षय का यह एक कारण है, जिसमें उस-उस धातु की अग्नि की मन्दता या दीप्ति मूल होती है। धातुओं के वृद्धि-क्षय का अन्य भी कारण है कि--पूर्व धातु की वृद्धि होगी तो पर (उत्तर) धातु की भी वृद्धि होती है ; इसी प्रकार पूर्व धातु क्षीण होगा तो उत्तर धातु भी क्षीण होता है।

धातुओं के वृद्धि-क्षय का यह द्वितीय कारण सरलता से समझ में आ सकता है। कोई धातु वृद्धि को प्राप्त होगी तो उसके पोषण के लिए उसके आशय में

रसधातु का उतने प्रमाण में आयात आवश्यक नही होगा। परिणामतया, रसधातु अधिक प्रमाण में उत्तर धातु को सुलभ हो सकेगा, जिससे उसकी भी सविशेष पुष्टि होगी। इसके विपरीत धातु-विशेष क्षीण होगा तो रसधातु का विपुल प्रमाण उसकी पुष्टि के लिए अपेक्षित होगा। परिणाम में, उत्तर धातुओं के पोषणार्थ रसधातु उचित प्रमाण मे सुलभ न हो सकेगा। अतएव, उसका भी क्षय होगा। अत अनुलोमक्रम से जठराग्नि और धात्वग्नियों की दीप्ति के लिए प्रयत्न करना चाहिए तथा जिस धातु का क्षय हुआ है उसके पोषण के लिए समान, समान गुण या समान गुण भूयिष्ठ[1] जो भी द्रव्य अनुरूप हो उसका सम प्रमाण में सेवन कराना चाहिए।

धातुओं के वृद्धि-क्षय के प्रथम नियम मे एक अश यह है कि कोई धात्वग्नि दीप्त (तीक्ष्ण) हो तो उसके धातु का क्षय होता है। यह भी वस्तु सुबोध है। अग्नि बलवान् हो तो आहार रूप मे प्राप्त रसधातु का पूर्णतया परिपचन कर धातु का भी पचन कर डालता है, जिससे धातुपाक हो कर वह धातु क्षीण होता है। यह स्थिति तीक्ष्णाग्नि या भस्मक में देखी जाती है। नवीनों के चुल्लिका ग्रन्थि के अन्त स्राव के प्रकोप (हायपर थायरॉयडिज्म) में किंवा उसके भी उद्दीपक पोषणिका-ग्रन्थि के अन्त स्राव-विशेष का मूल प्रकोप हो कर चुल्लिका-ग्रन्थि का प्रकोप होने पर देखी जाती है।

धात्वग्नि-विशेष यदि मन्द हो तो उसके धातु की वृद्धि होती है। चिन्तको का मन्तव्य है कि धातु की यह वृद्धि शुद्ध धातु की नही कही जा सकती। जैसे अग्नि उत्तम न हो तो मेद की वृद्धि होती है वैसे ही अन्य धातुओ के अग्नि मन्द होने पर उनकी भी विकृत वृद्धि होती है। जो भी हो—अग्नि के प्रमाण पर आश्रित इस वृद्धि-क्षय का सप्राप्त्यनुरूप उपचार बताते इन पद्यो पर हेमाद्रि कहते हैं—धातुवृद्धौ मान्द्योपक्रम', धातुक्षये तैक्ष्ण्योपक्रमः कार्य इत्यर्थः—तात्पर्य, किसी धातु की वृद्धि हो जाए तो उसके धात्वग्नि को प्रदीप्त करने का उपाय करना चाहिए, जिससे वृद्धिगत धातु का पचन हो कर वह समावस्था मे आ जाए। उधर, धातु-विशेष क्षीण हो गया हो तो उसके कारणभूत धात्वग्नि की तीक्ष्णता

---

१ जिस धातु का क्षय हुआ हो वही धातु अन्य प्राणी के शरीर मे से लिया जाए तो **समान** कहाता है। यथा—मास की वृद्धि के लिए मास समान कहा जाता है। द्रव्य समान तो न हो परन्तु उसके गुण क्षीण धातु से मिलते हो तो उसे **समानगुण** कहते हैं। यथा—मास की वृद्धि के लिए चना, मुद्ग इत्यादि। जिस द्रव्य के सब गुण क्षीण धातु के सदृश न हो, परन्तु अधिकाश (भूयिष्ठ) गुण सदृश हो उसे **समानगुण भूयिष्ठ** कहते है। यथा—मास के लिए दूध।

को मन्द करना चिकित्सक का लक्ष्य होना चाहिए। इससे आवश्यक से अधिक धातुपचन न होगा और धातु पुन. सम हो जाएगा। चिकित्साक्रम तीक्ष्णाग्नि या भस्मक में तन्त्रकार ने जो बताया है वही होना चाहिए (देखिए : च० चि० १५।२१७-२३५)। क्षीण अग्नि को दीप्त करने के उपचार अग्निमान्द्य, अजीर्ण, ग्रहणी विकार आदि में निर्दिष्ट परिपाटी से करने चाहिए।

धातुओं के वृद्धि-क्षय के ये मूलभूत नियम यहाँ उद्धृत करने का प्रयोजन यह है कि, मास की वृद्धि से होनेवाले जिन विकारो का यहाँ उल्लेख किया गया है उनकी संप्राप्तिमूलक चिकित्सा का मार्ग आयुर्वेद की दृष्टि से समझ लिया जाए। हेमाद्रि के जिस वचन को ऊपर उद्धृत किया है उस का तात्पर्य है कि, मास और मेद की वृद्धि के कारण, लक्षण और चिकित्सा श्लेष्मवृद्धि के सदृश ही समझनी चाहिए। इसका अर्थ यह है कि--शरीर के मुख्य घटक मासधातु के पोषक द्रव्य सतर्पणवश मासपेशियों की वृद्धि करने के अनन्तर गलगण्ड, गण्डमाला, अर्बुद (ट्यूमर), गिलायु (टॉन्सिल) आदि के रूप में अनावश्यक उपचय (वृद्धि) भी करते है। अतएव इनका उपचार करने में अपतर्पण, अग्निदीप्ति आदि मुद्दों को लक्ष्य में रखना चाहिए। विशेषतया तिक्त रस का और उससे उतर कर कटु रस का सेवन इनके प्रतिबन्धक और शामक उपचार के रूप मे सुतरा आश्रयणीय हे। तिक्त रस के अयोग और चा आदि के रूप में मधुर रस के अतियोग से ही वर्तमान युग में कैंसर आदि अर्बुद, धमनीप्रतिचय आदि हृदय तथा रसरक्तवह स्रोतों के क्लेशदायी एव अकाल-मृत्युजनक रोग, मधुमेह, यक्ष्मा, कृमि, फायलेरिया, ईयोसिनोफीलिआ आदि दिन-दिन बढ रहे है, यह आयुर्वेद का सिद्धान्त प्रतीत होता है। इसे समझ कर उचित चर्या और उपचारों का अवलम्बन कर इन रोगों के उच्छेदन का प्रयास करना चाहिए।

मासधातु का क्षय होने पर विशेषतया स्फिक्, गण्ड (कपोल, गाल), ओष्ठ, उपस्थ (शिश्न और योनि), ऊरु, वक्षस्, कक्षा (बगल), पिण्डिका, उदर और ग्रीवा की शुष्कता ; शरीरावयवों में रौक्ष्य और तोद, अङ्गसाद, इन्द्रियदौर्बल्य; सन्धियों मे वेदना (स्फुटन)--एव धमनी शैथिल्य (शिराशैथिल्य)--ये लक्षण होते है।

मासक्षय से धमनीशैथिल्य का स्वरूप ऊपर रक्तक्षय के लक्षणों के प्रसग में बताया है। चक्रपाणि ने सुश्रुत की टीका में कहा है--धमनीशैथिल्यं मासक्षये शुपिराधारतया : तात्पर्य, रक्तधरा कला का आधारभूत मासधातु क्षीण होने से शुषिर (छिद्रमय, शिथिल सघात--कम डेन्सिटी--वाला) हो जाता है। परिणामतया, तदाश्रित धमनियाँ भी शिथिल हो जाती है।

किसी भी धातु का क्षय होता है तो इस क्षय के कारण वायु का प्रकोप होता है। वायु के प्रकोप के दो कारणों में एक धातुक्षय है। इस धातुक्षय का अर्थ

हाँ यह है कि शरीरावयवों में जो प्राकृत गुरुत्व (पुष्टि), स्निग्धत्व, घनत्व इत्यादि गुण होते है वे क्षीण (न्यून) हो जाते है तथा उनके विपरीत लघुत्व, रूक्षत्व, शुषिरत्व आदि गुण उनका स्थान ले लेते है (देखिए : च० सू० १२।७ में वात के प्रकोपक तथा शामक द्रव्यों की क्रिया का स्वरूप एव च० चि० २८।१८)। नव्य मत से अवयवों की क्षीणता मे उनके घटक प्रोटीन (गुरु), फैट (स्निग्ध) आदि द्रव्यों का ह्रास होता है। प्राचीनों ने इसी वस्तु का वर्णन गुरु, स्निग्ध इत्यादि गुणों के क्षय के नाम से किया है। किंबहुना, रक्तधरा कला के आधार के रूप मे चारों ओर स्थित मांसमय मण्डल का घटक मास धातु क्षीण होता है तो वायु को स्थान सश्रय के लिए अनुकूल परिस्थिति मिल जाती हे। वह कभी सिराओं को फुला देता है, कभी क्षीण कर देता हे। दोनों अवस्थाओं में सिराओं में प्राकृत शक्ति (दबाव) नही रहता, यह साम्य है।

मास के वृद्धि-क्षय के विषय मे इतना विचार कर अब अगले धातु मेद की वृद्धि-क्षय के लक्षणों का निरूपण किया जाता है।

मेद की वृद्धि-क्षय के लक्षण—

शरीर की परीक्षा मे स्थौल्य-कार्श्य के प्रकरण में मेद की वृद्धि-क्षय के लक्षण सविस्तर आ ही गए है। प्रस्तुत प्रकरण में भी आचार्यो ने सक्षेप में ये लक्षण दिए है। तथाहि :

मेद की अति वृद्धि होने पर अङ्गों की स्निग्धता; स्फिक् (चूतड), स्तन-द्वय, पार्श्व तथा उदर में मेद के सचय की वृद्धि हो कर इन अवयवों का लटक आना (लम्बनम्), दौर्गन्ध्य; एवं अल्प भी चेष्टा करने पर श्रम (थकावट) तथा श्वास (हाँफ चढ जाना) एवं कास इत्यादि लक्षण होते है। इनके अतिरिक्त मासवृद्धि से होनेवाले गलगण्ड, गण्डमाला, अर्बुद, ग्रन्थि एव कण्ठादि मे मासवृद्धि ये लक्षण भी मेदोवृद्धि मे होते हैं।

मेदस्विता से जो श्वास होता है वह क्षुद्र श्वास का एक प्रकार है। यहाँ अल्पेऽपि चेष्टिते श्वासम्—तथा श्रमम् (वाग्भट) कहा है। क्षुद्र श्वास के लक्षण में भी यही कहा गया है। देखिए :

> किंचिदारभमाणस्य यस्य श्वासः प्रवर्तते।
> निषण्णस्यैति शान्ति च स क्षुद्र इति संज्ञितः॥
>
> सु० उ० ५१।७

—पुरुष कोई कर्म करने को उद्यत हो कि श्वास का वेग हो आए, और पुरुष बैठ जाए कि श्वास का वेग भी शान्त हो जाए तो इस श्वास को क्षुद्र श्वास कहते है। क्षुद्र श्वास के अन्य कारण यक्ष्मा, उदावर्त (कब्ज), वातिक

कास इत्यादि होते हैं। किंबहुना, रोगों के लक्षण रूप में जहाँ श्वास का निर्देश होता है वहाँ इसी श्वास का निर्देश हुआ समझना चाहिए।

मेदस्विता के प्रकरण में कह आए हैं कि प्रत्यक्षानुसार मेदोवृद्धि मे जायमान क्षुद्र श्वास का कारण यह हे कि, मेद की अतिवृद्धि होने पर हृदय की श्लेष्मधरा-कला (पेरीकार्डीअम) पर भी मेद का सचय हो जाता है। चेष्टारम्भ काल में चेष्टायुक्त अवयव में अधिक प्रमाण में रस-विक्षेपण हो इस प्रयोजन से हृदय का प्रसारण अधिक होता है। श्लेष्मधरा कला में स्थित मेद इस कार्य मे विक्षेप डालता है। परिणामतया, हृदय का आकुञ्चन भी उचित मात्रा मे नही हो पाता। आकुञ्चन यथावत् न होने से रस-रक्तगत अधिक निर्मित प्राण वायु (कार्बन डाइ ऑक्साइड) का शोधन पूर्णतया नही होता। सचयवश प्रकुपित इस प्राण वायु का श्वसनात्मक प्राकृत कर्म वृद्धि को प्राप्त करता है। इसी को श्वास कहते हैं।

मेद का क्षय होने पर संधियों मे स्फुटन (चेष्टा-काल में कडकड शब्द तथा शून्यता, किंवा अस्थियाँ टूटने की-सी व्यथा), नेत्रों में ग्लानि (आँख मुर्झायी--हतप्रभ--होना); आयास (श्रम); शरीर की कृशता, विशेषतया उदर का तनुत्व (पतलापन); कटि मे सुप्ति (स्पर्शनाश); त्वचा की रूक्षता; प्लीहा वृद्धि तथा मेदुर (मेदयुक्त) मांस की आकाक्षा--ये लक्षण होते हैं।

प्लीहा की वृद्धि दो प्रकार की कही गयी है--स्थानभ्रष्ट हो कर प्लीहा की वृद्धि तथा उसके विना। चक्रपाणिदत्त कहता है कि, मेद का क्षय होने पर उदर में वायु की वृद्धि होती है (किसी भी धातु का क्षय होने का परिणाम उस धातु से बने अवयव-विशेष में वायु का स्थान संश्रय हो कर उस अवयव की वृद्धि ही होता है)। वायु की वृद्धि और उदर की शून्यता के कारण--कोई प्रतिबन्ध न रहने से--प्लीहा स्थानभ्रष्ट (वॉण्डरिंग) हो कर वृद्धि प्राप्त करती है। नवीनों ने प्रजाताओं में प्लीहा का स्थानभ्रंश होने का उल्लेख किया है।

अस्थि के वृद्धि-क्षय के लक्षण--अस्थि धातु की अतिवृद्धि होने पर अध्यस्थि (अधिकास्थि) और अधिदन्त (अधिक दन्त) तथा केश और नख की अतिवृद्धि--ये लक्षण होते हैं।

अध्यस्थि और अधिदन्त का अर्थ टीकाकारों ने अधिक अस्थि तथा अधिक दन्त दिया है। इससे दन्त या अस्थि की संख्या अधिक होने का भास होता है। अधिक उत्तम अर्थ अस्थि तथा दन्त की अति पुष्टि है। इसका विवरण अस्थि-सारता के लक्षणों मे दिया गया है।

अस्थि का क्षय होने पर सधियों की शिथिलता, अस्थियों मे तोद (व्यथा, वेदना, शूल) अस्थियों में शूल; दन्त, नख, केश, श्मश्रु और लोम--इनका झड़ जाना; शरीर एव दन्तों तथा नखों की रूक्षता--ये लक्षण होते हैं।

तोद का अर्थ चुभने की-सी व्यथा शास्त्र में प्रसिद्ध है। परन्तु अष्टाङ्ग हृदय के टीकाकार हेमाद्रि ने इसका अर्थ यहाँ केवल व्यथा दिया है। यह अर्थ प्रत्यक्षानुसारी भी है। अत वही लिया है।

दन्त को अस्थि-भेद अथवा अस्थि का उपधातु कहा गया है। अत॰ अस्थि के वृद्धि-क्षय का परिणाम उन पर भी होता है। केशादि को अस्थि का मल कहा है। अतः उन पर भी परिणाम होना प्राचीनो ने बताया है।

केशपात (बाल झडना) प्रायः देखा जाता है। इसमें अस्थि-क्षय-संबन्धी उपचार कर देखना चाहिए। अस्थि-क्षय का अर्थ नवीनों का 'बोन टी० बी०' इतना ही नही लेना चाहिए। अस्थियो के संघात में घनत्व का प्रमाण न्यून होना अस्थिक्षय शब्द से अभिप्रेत है। घनत्व की न्यूनता किंचित् होती है तो इसे 'पोरोसिटी' या 'रेअरीफेक्शन' कहते हैं। अधिक क्षीणता 'नेक्रोसिस' कहाती है। अन्त में अस्थि में कोटर बन जाते है। इन्हें 'केविटी' कहते हैं। अस्थि धातु की क्षीणता में वसन्तकुसुमाकर आदि सुवर्ण के योग उत्तम कार्य करते हैं।

मज्जा के वृद्धि-क्षय के लक्षण--मज्जा की (अति) वृद्धि होने पर सर्वाङ्ग में विशेषतया नेत्रो मे गौरव एवं अगुली आदि की संधियों में (पर्वो में) ऐसे व्रणों तथा पिटकाओं की उत्पत्ति जो मूल भाग में स्थूल हों तथा जो कष्टसाध्य हो--ये लक्षण होते हैं।

मज्जा का क्षय होने पर--

शीर्यन्त इव चास्थीनि दुर्बलानि लघूनि च।
प्रततं वातरोगीणि क्षीणे मज्जनि देहिनाम्॥

च० सू० १७।६८

अस्थ्ना मज्जनि सौ (शौ) षिर्यं भ्रमस्तिमिरदर्शनम्॥

अ० हृ० सू० ११।१९

मज्जक्षयेऽल्पशुक्रता पर्वभेदोऽस्थिनिस्तोदोऽस्थिशून्यता च॥

सु० सू० १५।९

अस्थियों में सौषिर्य (सुषिरता, सरन्ध्रता, घनत्व का ह्रास), (इस सौषिर्य के कारण) अस्थियाँ लघु (हलकी) और दुर्बल हो जाना (अतएव स्वल्पमात्र कारण से उनका भङ्ग; बार-बार अस्थि-भग्न का इतिहास); अस्थियों में तोद-समान व्यथा; पूरक मज्जा तथा अस्थि धातु के क्षय के कारण अस्थियो में शून्यता (रिक्तता; उनमें कोटर--केविटी--बन जाना); वे बिखर रही हों ऐसी प्रतीति; अस्थियो में सतत वातिक वेदनाएँ होना; वेदना के कारण निद्रानाश; पर्वो में (अस्थि संधियों में) भेद-सदृश पीडा, शुक्र की

अल्पता ; भ्रम और तिमिर दर्शन (सर्व वस्तुएँ तमोरूप दृष्टिगोचर होना)--ये लक्षण होते है।

यहाँ कहे लक्षणों में वेदनाओं के कारण निद्रानाश शास्त्र में पठित नहीं है। तथापि अस्थि मज्जागत वात के लक्षणों में जो 'अस्वप्नः संतता रुक् च' (च० चि० २८।३३) कहा है, उसके अनुसार यहाँ निद्रानाश की भी गणना कर ली गयी है।

अस्थि-दौर्बल्य, अस्थिभङ्ग, भग्न अस्थि का शीघ्र रोहण न होना--ये लक्षण व्यवसाय में प्राय. दृग्गत होते हैं। इनमें मज्जाक्षय की कारणता की भी कल्पना करनी चाहिए। कारण, पूर्व धातु के क्षय से तो उत्तर धातु का क्षय होता ही है और इसका ऊपर विचार भी किया है, परन्तु कभी परधातु का भी क्षय होने पर पूर्व धातु का क्षय होता है तथा उसकी वृद्धि होने पर पूर्व धातु की वृद्धि होती है। राजयक्ष्मा के चार कारणों में क्षय एक कारण है। इसके दो भेद होते हैं--अनुलोमक्षय तथा प्रतिलोमक्षय। विषमाशन, चिन्ता आदि कारणों से रस धातु का क्षय हो कर उत्तरोत्तर धातु की जो क्षीणता होती है उसे अनुलोम क्षय कहते हैं। अति विसर्ग (व्यवाय, मैथुन) से शुक्र का क्षय हो कर जो पूर्व-पूर्व धातु का क्षय हो कर सर्वधातुओ की क्षीणता उपस्थित होती है उसे प्रतिलोमक्षय कहते है। कोई परधातु क्षीण हो जाए तो रसधातु अधिक मात्रा में उसीके पूरण में लग जाता है। शेष धातुओ के पूरण के लिए उसका अभीष्ट प्रमाण शेष नही रह जाता। परिणामतया, उनका क्षय होता है। जैसे एक ही कुल्या (नाली) से सिक्त होनेवाले सात केदारों (क्षेत्रों) मे किसी परवर्ती केदार में वडा गर्त हो तो जल का वडा प्रमाण उस गर्त को भरने में लग जाएगा ; शेष केदारों को उतने प्रमाण में जल-प्राप्ति न होगी। इसी प्रकार क्षीण हुए परधातु का पोषण रसधातु को विशेष करना पड़े तो पूर्व धातुओं का उपचय स्वभावत हो नही पाता--वे क्षीण होते हैं। इस प्रकार क्षीण हुए पर धातु से पूर्वधातु का क्षय होता है। इसके विपरीत वृद्ध हुए पर धातु से पूर्वधातु की वृद्धि होती है। पूर्व तथा परधातुओ के इस परस्पर वृद्धि-क्षय का निदर्शन इस प्रकार केदारी कुल्या न्याय से होता है।

सुश्रुत के पूर्वः पूर्वोऽतिवृद्धत्वाद् वर्धयेद्धि परं परम् (सु० सू० १५।१८)--पूर्व-पूर्व धातु अति वृद्धि हो कर पर-परधातु की वृद्धि करता है--इस वचन की टीका में डल्लनाचार्य ने स्पष्ट कहा है ' पूर्वः पूर्व इत्याद्युपलक्षणम्। तेन परोऽपि वृद्धः प्रतिस्रोतःसरिद्रुन्धः स्थलाप्लावनन्यायेन पूर्वं वर्धयति। तथा परोऽपि क्षीणः पूर्वं क्षपयति तथा पूर्वः क्षीणः परं क्षपयति--अर्थात् पूर्वधातु की वृद्धि से परधातु की वृद्धि का वचन उपलक्षणभूत है। इससे अन्य भी सिद्धान्त गृहीत

है। तथाहि : परधातु भी वृद्धि को प्राप्त हो कर परधातु की वृद्धि करता है। जैसे, नदी के प्रवाह पर लगाया बन्ध जल की उस स्थल पर वृद्धि करता हुआ पूर्व स्थल पर भी जल के प्रमाण में वृद्धि करता है। एवं, परधातु क्षीण हो कर पूर्व को क्षीण करता है, तथा पूर्व धातु क्षीण हो पर को क्षीण करता है।

मज्जा धातु का क्षय होने से पूर्व धातु अस्थि पर उल्लिखित परिणाम होते हैं, तद्वत् परधातु शुक्र की भी क्षीणता तथा तज्जन्य भ्रम, तम प्रभृति लक्षण होते हैं।

मज्जा का अस्थि के साथ उक्त प्रकार का संबन्ध होने से ही चरकाचार्य ने मज्जा के सेवन को अस्थियों के लिए विशेषतया बलकारक बताया है। चार प्रकार के स्नेहों के गुण-कर्म बताते हुए मज्जा के गुण-कर्म चरक ने ये कहे हैं--

बलशुक्ररसश्लेष्म - मेदोमज्जविवर्धनः।
मज्जा विशेषतोऽस्थ्ना च बलकृत् स्नेहने हितः॥

च० सू० १३।१७

मज्जा रस, मेद, मज्जा, शुक्र, श्लेष्मा और बल की वृद्धि करनेवाली, विशेषतया अस्थियों के लिए बलकारक तथा शरीर का स्नेहन करनेवाली है।

स्मरण रहे, अस्थि के अन्तर्गत स्थित प्रसिद्ध मज्जा को तो प्राचीनो ने मज्जा कहा ही है शिर. कपाल के अन्तर्गत मस्तिष्क (तथा पृष्ठवंश के अन्तर्गत सुषुम्णा रज्जु) भी प्राचीनों के मज्जा धातु ही है।

शुक्र के वृद्धि-क्षय के लक्षण--शुक्र की (अति) वृद्धि होने पर पुन.-पुन. स्त्रीसंग की इच्छा, शुक्र की अति प्रवृत्ति, शुक्राश्मरी, शरीर में बल, स्निग्धता आदि लक्षण होते हैं।

शुक्र के क्षय के लक्षण विस्तार से राजयक्ष्मा के प्रतिलोम क्षय से होनेवाले राजयक्ष्मा के निदान मे कहे जाएँगे। यहाँ सक्षेप मे कहते हैं। शुक्र क्षीण होने पर मैथुन-क्रिया मे असमर्थता, किंवा चिरकाल के अनन्तर स्वल्प मात्रा मे शुक्र का क्षरण (प्रसेक), किंवा शुक्र के स्थान पर रक्त की प्रवृत्ति, अथवा स-शुक्र रक्त की प्रवृत्ति, किंवा शुक्र के स्थान पर मज्जा-मिश्रित रक्त की प्रवृत्ति; शिश्न और वृषण मे वेदना ; शिश्न मे धूमायन (धुँआ निकलता हो ऐसा भास), वृषण मे तोद ; क्लैब्य (मैथुन तथा प्रजोत्पादन का असामर्थ्य) ; दुर्बलता, पाण्डुरोग, अङ्गसाद, श्रम तथा मुखशोष--ये लक्षण होते है।

मैथुन में रक्तदर्शन का कारण टीकाकारों ने यह कहा है कि--शुक्र का क्षय हो कर प्रतिलोम क्षय से इतर धातुओ का भी क्षय होने से कुपित एवं हर्षवश उदीरित हुआ वायु शिश्न में रक्त को लाता है। यह रक्त मूत्र प्रसेक से प्रवृत्त होता है। शुक्र का स्थान सर्व शरीर होने के कारण उसके क्षय के सर्व शरीर मे

दृश्यमान लक्षण तो होते ही है, तथापि वृषण और शिश्न उसके विशेष आधार होने से उनमें वेदना विशेष होती है।

धातुओ के क्षय-वृद्धि के लक्षणो के अनन्तर उपधातुओं और मलों के वृद्धि-क्षय के लक्षण देखते है।

आर्तव के वृद्धि-क्षय के लक्षण—आर्तव की अति वृद्धि होने पर अङ्गमर्द (शरीर टूटना), आर्तव की अति प्रवृत्ति, आर्तव में दौर्गन्ध्य होना, दौर्बल्य, रक्त गुल्म इत्यादि लक्षण होते हैं।

आर्तव की वृद्धि होने से वायु का अवरोध (आवरण) होता है। आवरण से वायु का कोप होता है और कोप के कारण अङ्गमर्द होता है। दौर्गन्ध्य का कारण यह है कि आर्तव पित्तके समान धर्मवाला होता है। पित्त का जैसे विस्रगन्ध (दुर्गन्ध) होता है और पित्त प्रकोप होने पर शरीर, प्रस्वेद, कक्षा, वस्त्र आदि में दौर्गन्ध्य व्यक्त होता है वैसे आर्तव की अति वृद्धि होने पर भी उसमें दुर्गन्ध होता है।

आर्तव की अतिवृद्धि होने पर अतिप्रवृत्ति यह लक्षण व्यवसाय में निदान और चिकित्सा की शुद्धि की दृष्टि से अत्यन्त स्मरणीय है। अति प्रवृत्ति पित्त के कोप से प्राय होती है, उसी की स्मृति सविशेष होना सभव है। परन्तु जैसा कि यहाँ कहा है, आर्तव की अतिप्रवृत्ति उसकी अतिवृद्धि के कारण भी होती है। यह कारण हो तो उसका मूल आर्तव के धातु रसधातु की अतिवृद्धि होता है। रसधातु की भी अतिवृद्धि का कारण सतर्पण और वृहण होता है। असृग्दर (रक्तप्रदर) की सामान्य रक्तपित्त विरोधिनी चिकित्सा नागकेसर, लोध्र, अशोक, चन्द्रकला रस इत्यादि के रूप में देने पर भी गुण न हो, या रोग का पुनरावर्तन होता रहे तो आर्तव की अतिवृद्धि को भी स्मरण करना चाहिए। कदाचित् ऐसे रोगियो में सतर्पण का इतिहास हो, कदाचित् किसी कारण लङ्घन करना पडे तो उससे शरीर में लाघव, रक्त प्रवृत्ति की शान्ति इत्यादि लक्षणों के आविर्भाव का इतिहास हो। यह इतिहास उपलब्ध न हो तो उपशयानुपशय परीक्षा का आश्रय ले कर रोगी को लङ्घन या रूक्ष और प्रमित भोजन, जागरण, शारीर श्रम इत्यादि अपतर्पण उपचार पर रख कर देखना चाहिए। यह उपचार आर्तव-प्रवृत्ति के दिनो में हो तो अधिक अच्छी परीक्षा होती है। निदान होने पर चिकित्सा का मार्ग अनायास स्वच्छ हो जाता है[1]।

आर्तव की अतिप्रवृत्ति की कारणभूत रस-वृद्धि के विपरीत रसक्षय होने पर आर्तव क्षय होता है, यह ऊपर रसक्षय के प्रकरण में कह चुके है।

१—'अत्यार्तव' सज्ञा इस आर्तववृद्धि के लिए ही उपयुक्त हो सकती है। साप्रत वैद्य रक्तप्रदर के लिए इसका व्यवहार करते है, वह शास्त्र-समत नही है।

आर्तव का क्षय होने पर यथोचित काल में अदर्शन, अल्प प्रमाण में दर्शन (प्रवृत्ति) किंवा योनि (गर्भ-यन्त्र) में वेदना ये लक्षण होते हैं। यथोचित काल का अर्थ है प्रति मास क्षरण तथा तीन दिन क्षरण। प्रति मास का तात्पर्य प्रत्येक स्त्री के लिए पच्चीस, अठाईस, तीस, बत्तीस इत्यादि जितने भी दिनों का अन्तर प्राकृत होता है उससे है। तीन दिन भी प्रायिक है। जिसका जितना काल प्राकृत हो उसमे न्यूनता होना आर्तव-क्षय के कारण होता है। योनि मे वेदना उदावर्ता योनि (प्रसिद्ध सज्ञा--कष्टार्तव)[१] के सदृश क्षीण आर्तव की सम्यक् प्रवृत्ति न होने से होती है।

स्तन्य की वृद्धि-क्षय के लक्षण--स्तन्य की अतिवृद्धि होने पर स्तनों की पीवरता (विशालता), बार-बार (और पुष्कल प्रमाण में) स्तन्य प्रवृत्ति तथा तोद--ये लक्षण होते हैं।

स्तन्य का क्षय होने पर स्तनों की म्लानता (अनुन्नति ; उनका पिचक जाना), स्तन्य का प्रादुर्भाव न होना किंवा उसका प्रमाण अल्प होना--ये लक्षण होते है। स्तन्य रस धातु का ही उपधातु होने से एव रस का स्वरूप श्लेष्मा के तुल्य होने से स्तन्य-क्षय में श्लेष्मवर्धक ही द्रव्यो का उपयोग करने का विधान तन्त्रकार ने किया है। जीवन्तीमूल अनुभवसिद्ध उत्तम स्तन्यजनन है।

गर्भ की वृद्धि-क्षय के लक्षण--गर्भ की वृद्धि होने पर जठर (कुक्षि) की (क्रमिक) वृद्धि और स्वेद होता है। गर्भ का क्षय होने पर गर्भ का स्पन्दन न होना तथा कुक्षि (उदर) उन्नत न होना--ये लक्षण होते हैं।

पुरीष की वृद्धि-क्षय के लक्षण--पुरीष की अतिवृद्धि होने पर आध्मान, आटोप, गौरव (दुर्वहत्व, भारीपन) तथा कुक्षि मे वेदना (शूल)--ये लक्षण होते है।

हेमाद्रि ने टीका मे आध्मान का अर्थ वायु से उदर-पूरण दिया है। उदर का अर्थ यहाँ भी पक्वाशय ही लेना चाहिए। आध्मान के लक्षण मे भी सुश्रुत ने 'उदर' शब्द का ही प्रयोग किया है। गयदास ने वहाँ उदर का अर्थ पक्वाशय ही लेने का निर्देश किया है--उदरमत्र पक्वाशय एव। कारण, उदर में आध्मान का एक अन्य भेद प्रत्याध्मान आमाशय मे होता है, यह अगले ही श्लोक में कहा है--प्रत्याध्मानस्यामाशय समुत्थितत्वात्। डल्लन ने भी उस मत का समर्थन किया है। आध्मान के लक्षण सुश्रुत ने आटोप, अतिउग्र रुजा (वेदना), उदर

१--कष्टार्तव शब्द भी अत्यार्तव शब्द के समान अशास्त्रीय है। यथार्थ सज्ञा 'उदावर्ता योनि' है। उससे सप्राप्ति का बोध भी होता है। उसे ही प्रचार मे लाना चाहिए।

का अत्यन्त उत्सेध (फूल जाना) एवं रोगी को अति कष्ट (घबराहट, श्वास-निरोध)—ये लक्षण बताए है। तथा उदावर्त (मल ग्रथित होना, विबन्ध) आदि कारणों से वायु का पक्वाशय में सचय होने से उसकी उत्पत्ति बताई है। देखिए :

साटोपमत्युग्ररुजमाध्मातमुदरं भृशम्।
आध्मानमिति जानीयाद् घोरं वातनिरोधजम्॥

सु० नि० १।८८

प्रत्याध्मान कुपित हुए कफ से वायु के सचरण के मार्ग अवरुद्ध होने से आमाशय में वायु का सचय होने से होता है। तथाहि :

विमुक्तपार्श्वहृदयं तदेवामाशयोत्थितम्।
प्रत्याध्मानं विजानीयात कफव्याकुलितानिलम्॥

सु० नि० १।८९

पद्य का पूर्ण अर्थ वातरोगों के प्रकरण में देखेंगे। यहाँ उपयुक्त होने से दो-एक वस्तुओ का निर्देश करना योग्य प्रतीत होता है। प्रथम वस्तु आमाशय शब्द का अर्थ है। आमाशय शब्द सामान्यतया अग्रजी में जिसे 'स्टमक' कहते है उसके लिए रूढ है। परन्तु अनेक स्थानों पर इस शब्द से पच्यमानाशय-सहित प्रसिद्ध आमाशय का ग्रहण होता है। महास्रोत या मुख से गुद पर्यन्त अवकाश के लिए आमपक्वाशय यह सज्ञा आयुर्वेद में प्रथित है। इसका अर्थ यह हुआ कि, महास्रोत को दो भागों में विभक्त कर सकते है—आमाशय तथा पक्वाशय। पक्वाशय शब्द उण्डुक और उससे आगे के स्थूलान्त्र के अवकाश के लिए सिद्ध है। सो शेष भाग आमाशय होना चाहिए। इसमें उक्त दोनो अवयवो का समावेश होता है। सू० २०।८ में चरकाचार्य ने कफ और पित्त दोनो का स्थान आमाशय बताया है। उसकी स्पष्टता करते दीपिकाकार (चक्रपाणिदत्त) ने कहा है कि—पित्तस्थानेष्वामाशय इति आमाशयाधोभागः, श्लेष्मस्थानेष्वामाशय आमाशयोर्ध्वभागः। चक्रपाणि ने जिसे आमाशयाधोभाग कहा है उसीको डल्हन ने आयुर्वेद-जगत् में प्रसिद्ध पच्यमानाशय नाम दिया है। यों आशयो की गणना में किसी प्राचीन तन्त्रकार ने पच्यमानाशय का उल्लख नही किया है। इस आमाशयाधोभाग के ही पित्तधरा कला, ग्रहणी, क्षुद्रान्त्र आदि नाम है। आमाशयोर्ध्वभाग से प्रसिद्ध आमाशय का ग्रहण है। कफ-स्थान के रूप में यही वैद्यो में प्रसिद्ध भी है। आम या अपक्व अन्न का आधार होने से यह आमाशय तथा पच्यमानाशय दोनों ही कभी आमाशय शब्द से गृहीत होते है।

कोई लेखक कहते है कि मुख से आमाशय के ऊर्ध्वद्वार पर्यन्त भाग में भी आमावस्था में कुछ क्षण के लिए अन्नपान रहता ही है। अत. गौण रीति से

उत्र भी कभी आमाशय में अन्तर्भूत करना चाहिए। इसके लिए प्रमाणतया वे चक्रपाणि द्वारा उद्धृत तन्त्रान्तर का वचन देते हैं, जिसमें मधुर अवस्थापाक का कारणभूत मधुर रस हृदय से ऊपर स्थित रहनेवाला बताया है। वह वचन यह है--मधुरो हृदयादूर्ध्वं रसः कोष्ठे व्यवस्थितः ततः संवर्धते श्लेष्मा शरीर बलवर्धनः॥ (च० चि० १५।६-११ पर)। सुश्रुत ने आमाशय में श्लेष्मा की उत्पत्ति लगभग इन्ही शब्दों मे बताई है (देखिए : सु० सू० २१। १२-१४)। उस आमाशय की व्याप्ति चक्रपाणि द्वारा उद्धृत उक्त तन्त्रान्तर-वचन को दृष्टि मे रख कर मुख पर्यन्त होना सगत-सा प्रतीत होता है।

आमाशय के स्थान-विषयक इतने स्पष्टीकरण के पश्चात् आध्मान-प्रत्याध्मान का विचार करें। आध्मान पक्वाशय का रोग है तथा प्रत्याध्मान आमाशय का। आध्मान वायु के निरोध से होता है यह कहा है। इसका तात्पर्य संक्षेप मे यह है कि उदावर्त (कब्ज) इत्यादि कारणों से वायु का अवरोध हो कर उसके सचय-वश उदर का उत्सेध आध्मान में होता है। संप्राप्ति यह होने से इसकी चिकित्सा का प्रकार भी यह होता है कि इसमें मुख-मार्ग से मलवातानुलोमन औषध दिए जाते है या फलवर्ति, वस्ति इत्यादि का उपयोग किया जाता है। यहाँ भी आध्मान को पुरीष वृद्धि से होनेवाला कहा है। अतः उसका स्थान पक्वाशय सिद्ध है। प्रत्याध्मान आमाशय में हुए वायु के संचय और तज्जनित उत्सेध का नाम है। स्थान को ध्यान में रखे तो समझा जा सकता है कि इसमें विकृति अग्निमान्द्य, अजीर्ण आदि के रूप मे होने से उसके कारण वायु की अधिक प्रमाण मे उत्पत्ति और आमाशय मे सचय होता है। परिणामतया, इसमें अग्नि-दीपन, पाचन, लङ्घन इत्यादि उपचार-पद्धति का अवलम्बन करना योग्य होता है।

आटोप में न्यूनाधिक आध्मान-प्रत्याध्मान के साथ अन्त्र-कूजन (पेट मे गुडगुडी) भी होता है।

पुरीष का क्षय होने पर वायु शब्द-सहित (अन्त्र-कूजन-सहित) कुक्षि मे तिर्यक् (न ऊपर, न नीचे, किन्तु अन्दर ही अन्दर) सचार करता है तथा ऊर्ध्व दिशा में गति करता है--अत्युद्गार, जिसे ऊर्ध्ववात कहते है, उस विक्रिया को उत्पन्न करता है; अन्त्रों मे ऐसी पीड़ा करता है जैसे उनका वेष्टन (मरोड, ऐंठन, जैसी प्रवाहिका में होती है) करता हो; ऊर्ध्व गति करता हुआ यह वायु हृदय और पार्श्वों को अत्यधिक पीडित करता है (उनके पीड़न के कारण श्वास-कृच्छ्र इत्यादि लक्षणों को उत्पन्न करता है); कुक्षि (पेट) में उन्नति (आध्मान) करता है। इससे पीडित पुरुष रूक्ष होता है।

पुरीष का क्षय होने पर उसकी प्राकृत क्रिया का ह्रास होता है। इसके प्राकृत कार्यो में एक--अवष्टम्भः शरीरस्य--शरीर को दृढ़ता या स्थिरता

प्रदान करना है। इसीसे अतिसार में इसका क्षय होने पर पुरुष को विनाम होता है--वह दौर्बल्यवश झुक जाता है। इसके अतिरिक्त पुरीष का एक प्राकृत कर्म वायु का धारण भी होता है। प्राय. कोष्ठवात (गैस) के रोगियों मे पुरीषोत्सर्ग के अनन्तर रोग का वेग हो आता है। इससे स्पष्ट है कि स्वमानावस्थित पुरीष वायु को अपने स्थान में स्थित रखता है--उसे प्रसृत होने नही देता। सो, पुरीष का क्षय होने पर वायुधारक क्रिया दुर्बल होने से वायु के कारण उल्लिखित विविध विकृतियाँ होती हैं।

पुरीष के कर्मों में एक अग्नि का धारण भी है। अपने अग्नि (पुरीषाग्नि) के द्वारा पुरीष अपने अङ्गभूत स्नेह, क्लेद, गुरु आदि गुणों का (तद्युक्त द्रव्यों का) पचन कर अन्नरस की उत्पत्ति मे सहायता करता है। इसी को उसके द्वारा अग्नि का धारण कहा है। नव्यमत से यह क्रिया पुरीषगत जीवाणुओं द्वारा होती कही है। ये जीवाणु पुरीषगत प्रोटीन आदि का पचन करते हैं। कई सूक्ष्म जीवाणु विटामिन 'के' इत्यादि द्रव्यों का निर्माण भी करते हैं। पुरीष का क्षय होने पर उसका यह अग्निधारण कर्म भी क्षीण होता है।

कब्ज नाम से प्रसिद्ध रोग में पुरीषक्षय भी एक कारण होता है। अतिसार, प्रवाहिका, ग्रहणी आदि रोगो में भी पुरीष का क्षय होने से उक्त लक्षण प्रकट होते हैं।

मूत्र की वृद्धि-क्षय के लक्षण--मूत्र की अतिवृद्धि होने पर मूत्र वृद्धि (प्रचुर मूत्र प्रवृत्ति), वार-वार मूत्र प्रवृत्ति, वस्ति में तोद आदि व्यथा तथा वस्ति में (वस्ति-प्रदेश में, हायपोगेस्ट्रिक रीजन में) आध्मान (फुलावा) एव मूत्र प्रवृत्ति करने पर भी अभी मूत्र की प्रवृत्ति होगी ऐसी आशङ्का (कृतेऽप्यकृत संज्ञता--अ० हृ० सू० ११।१३)--ये लक्षण होते हैं।

मूत्र वृद्धि एक प्रसिद्ध रोग का नाम है, जिसमें वृषण-कोष मे द्रव-प्रचिति होती है। यहाँ वह रोग अभिप्रेत नही है। सुश्रुत की टीका में चक्रपाणि ने स्पष्ट अर्थ दिया है--मूत्रवृद्धिं प्रचुरमूत्रनिर्गमम्।

'कृतेऽप्यकृतसज्ञता' यह लक्षण वाग्भट ने दिया है और अनुभवगम्य है। टीकाकारों ने इसका अर्थ यह दिया है--कृतेऽपि मूत्रेऽकृतसंज्ञताम् अकृताभासत्वमिव कुर्यात् (अरुणदत्त); कृतमपि मूत्रोत्सर्गमकृतमिव मन्यते (हेमाद्रि)। ठीक ये शब्द कफज अतिसार या प्रवाहिका के लक्षण रूप में भी तन्त्रों मे निर्दिष्ट हुए हैं। पक्वाशय मे सचित कफ पुरीषधरा कला से मुक्त हुआ हो या कला में आए रस-रक्त का अङ्ग रूप रह कर कला को स्थूल बनाए हो (कजेश्चन), उभय दशाओं में उससे वही संज्ञा होती है जैसी उत्तर तथा अधर गुद में आए पुरीष के संपर्क से संज्ञा हुआ करती है। नव्यमत का आश्रय लें तो पुरीष के सदृश ही प्रादेशिक

सञ्ज्ञावह स्रोतों का पीडन संचित कफ से भी होता है। परिणामतया, उसके प्रवर्तन के लिए मलोत्सर्ग होने पर भी वेग रहता ही है। मूत्रवृद्धि में यही संज्ञा होना इस बात का द्योतक है कि यह भी कफज विकार ही है।

कफज प्रमेहों मे एक उदकमेह मे भी आरम्भक दोष कफ होता है तथा मूत्र की वृद्धि यह विशिष्ट लक्षण होता है। दोनों में भेदक लक्षण यह है कि प्रमेहों मे पूर्वरूप रहते हैं। ये देखे गए हों तो रोगी प्रमेह के किसी भेद से पीड़ित है यह मानना चाहिए, अन्यथा रोगान्तर का विचार करना चाहिए। मूत्र हारिद्र तथा रक्तवर्ण हो तो रोग प्रमेह-विशेष (हारिद्रमेह, रक्तमेह या कालमेह) है या अधोग रक्त-पित्त, इसका परीक्षा-सूत्र बताते हुए चरकाचार्य ने कहा है कि—मूत्र में हारिद्र या रक्तवर्ण की विद्यमानता हो परन्तु प्रमेह के पूर्वरूप विद्यमान न हों तो प्रमेह-विशेष निदान न कर रक्तपित्त का ही विनिश्चय करना चाहिए। तथाहि :

हारिद्रवर्णं रुधिरं च मूत्रं
विना प्रमेहस्य हि पूर्वरूपैः।
यो मूत्रयेत्तं न वदेत् प्रमेहं
रक्तस्य पित्तस्य हि स प्रकोपः॥

च० चि० ६।५४

सुश्रुत ने भी अधोलिखित दो पद्यों में पूर्वरूपों की विद्यमानता से प्रमेह के विनिश्चय का प्रकार निर्दिष्ट करते हुए कहा है कि : किसी पुरुष मे प्रमेह के समस्त पूर्वरूप हो और मूत्र की मात्रा किंचित् ही अधिक हो तो उसे प्रमेही (प्रमेह पीडित) मानना चाहिए। यद्वा, पूर्वरूप कदाचित् सपूर्ण या आधे हों परन्तु मूत्र का प्रमाण अत्यधिक हो तो भी उसे प्रमेही मानना चाहिए। तथाहि :

प्रमेहपूर्वरूपाणामाकृतिर्यत्र दृश्यते।
किंचिच्चाप्यधिकं मूत्रं तं प्रमेहिणमादिशेत्॥
कृत्स्नान्यर्धानि वा यस्मिन् पूर्वरूपाणि मानवे।
प्रवृत्तमूत्रमत्यर्थं तं प्रमेहिणमादिशेत्[1]॥

सु० नि० ६।२२-२३

(१—तस्मिन् मेहो भविष्यति—पाठान्तर)।

प्रमेह उत्तरोत्तरावस्था में दुःसाध्य होता जानेवाला रोग है। अतः पूर्व-रूप से ही इसकी चिकित्सा का विशेष विधान किया गया है। उत्तरोत्तर अवस्थाएँ, उनका नाम तथा उनका चिकित्सा-सूत्र सक्षेप में जानने के लिए देखिए : सु० चि० १२।४।

मूत्र वृद्धि का एक लक्षण बस्ति-प्रदेश का उत्सेध (उन्नति, आध्मातता) है। मूत्राघात के मूत्रजठर आदि भेदों में भी बस्ति-प्रदेश मूत्र के संचयवश इसी प्रकार आध्मात होता है। परन्तु उन सब में कारण वेगावरोधवश मूत्र का बस्ति मे संचय होता है। मूत्र वृद्धि मे मूत्र की वृद्धि करनेवाले आहार, शीत देश या काल इत्यादि निदान की उपलब्धि होती है।

मूत्र का क्षय होने पर बस्ति में तोद, मूत्र के प्रमाण की अल्पता, मूत्रकृच्छ्र (मूत्र को प्रवृत्त करने में बल---प्रवाहण ---की आवश्यकता होना), मूत्र विवर्ण होना---उसमें रक्त मिश्रित हो ऐसा वर्ण होना, अथवा मूत्र रक्त मिश्र ही होना एवं पिपासा तथा मुखशोष---ये लक्षण होते हैं।

मूत्र-क्षय नाम से एक रोग मूत्राघातों के भेद के रूप में भी शास्त्र में वर्णित है। दोनों मूत्र-क्षयो में भेद यह हे कि मूत्राघात-विशेप में पुरुष वात के प्रकोपवश क्षीण (रूक्ष) और कान्तिहीन होता हे। मूत्र के पोषक द्रव्यों का सेवन करने पर भी वात तथा पित्त---विशेपतया वात---उसके मूत्र को शुष्क अर्थात् गाढ बना देते हैं---उसका घनत्व (कॉन्सेन्ट्रेशन) बढा देते हैं। मूत्र घनीभूत होने से मूत्रान्तर्गत पित्त (अम्लता) का अधिक प्रमाण मूत्र-प्रसेक के सपर्क में आता है। इसके कारण दाह यह विशेप लक्षण मूत्राघात के भेद रूप मूत्र-क्षय में होता है। इसमें वात के अन्य लक्षण भी होते हैं। प्रस्तुत मूत्र-क्षय में केवल मूत्र के पोषक (मूत्र जनन) द्रव्यो का अयोग या हीनयोग निदानभूत होता हे। अतएव, उपचार में केवल ऐसे द्रव्यो का सेवन पर्याप्त होता है। प्रथम मूत्र-क्षय के उल्लिखित लक्षण जानने के लिए देखिए :

रूक्षस्य क्लान्तदेहस्य बस्तिस्थौ पित्तमारुतौ।
सदाहवेदनं कृच्छ्रं कुर्याता मूत्रसंक्षयम्॥

सु० उ० ५८।१७

वाताकृतिर्भवेद्वातान्मूत्रे शुष्यति संक्षयः॥

सु० उ० ५८।१७

जल अब्धातु-प्रधान होने से सर्वोपरि मूत्र-जनन है। उसकी शरीर में क्षीणता (उदकक्षय) होने से मूत्र की इस प्रकरण में कही क्षीणता सविशेष होती है। अत. उदकक्षय का विशिष्ट लक्षण पिपासा और मुखशोप भी इसमें देखे जाते हैं।

स्वेद की वृद्धि-क्षय के लक्षण---स्वेद की अति वृद्धि होने पर स्वेद की अति प्रवृत्ति, त्वचा में दौर्गन्ध्य और कण्डू---ये लक्षण होते हैं।

स्वेद पित्त का स्थान है। स्वेद जिस पित्त का स्थान है वह भ्राजक पित्त ही है। अतएव स्वेद की अति प्रवृत्ति से पित्त की भी प्रवृत्ति हो कर शरीर की ऊष्मा की मात्रामात्रता के नियमन का कर्म विगुण हो जाता है। शरीर शीत

हो जाता है। ऐसी स्थिति में पित्तवर्धक औषध ही दिए जाते है, यह ऊपर कह आए है। स्वेद और तद्गत पित्त दोनो प्रकृत्या विस्रगन्धि (दुष्ट गन्धवाले) होते है। इसी से स्वेद की अति प्रवृत्ति से त्वचा और वस्त्रो में भी दौर्गन्ध्य होता है। त्वचा या अन्य किसी भी इन्द्रिय पर मलो का लेप होना इन्द्रियोपलेप कहाता है। लिप्त हुए इस मल से त्वग्गत सज्ञावाहक वायु आवृत हो कर कुपित होता है। वह कण्डू के रूप मे सज्ञा-विशेष को व्यक्त करता है। कण्डूयन (खुजलाने) के द्वारा मल की शुद्धि हो जाती है। परन्तु पुरुष पित्त-प्रकृति होने से सुकुमार त्वचावाला हो तो उसमें स्वल्पमात्र कण्डूयन से पाक, शोथ, वेदना आदि लक्षणो का प्रादुर्भाव होता है। कर्णशूल में अनुभवी चिकित्सक इस कारण को सदा लक्ष्य मे रखते है। यह इन्द्रियोपलेप कफ प्रकोप के कारण भी होता है। दोष-विशेष की मात्रा को देख कर योग्य उपचार किया जाता है।

स्वेद का क्षय होने पर स्वेद की अप्रवृत्ति, रोमकूपो तथा (उनके कारण) रोमो की स्तब्धता--अवस्था भेद से रोमाञ्च किवा प्राकृत स्थिति में परिवर्तन होना न, रोमच्युति (रोम झड़ना); त्वचा की शुष्कता, त्वचा का स्फुटन (त्वचा फटना); वायु की वृद्धि होने से स्पर्श वैगुण्य--स्पर्श संज्ञा की विकृति--ये लक्षण होते है। किसी भी दोषादि का क्षय होने पर वायु की वृद्धि होती है। इस नियम के अनुसार स्वेद का नाश होने से स्पर्श-विकृति होती हे।

स्पर्श के वैगुण्य का अर्थ है--स्पर्श सज्ञा न होना या स्पर्शनाश (एनेस्थीशिआ), या अधिक होना--स्वल्प भी स्पर्श दु सह होना (हायपर ऐस्थीशिआ) या तोद, भेद, स्फुरण, आयाम आदि के रूप में विकृत सज्ञाएँ होना (पैरेस्थीशिआ)। ये सर्व विकृतियाँ वायु के विषम गुण के कारण होती है।

अन्य मलों की वृद्धि-क्षय के सामान्य लक्षण--अब तक जिन मलों के वृद्धि- क्षय के लक्षण कहे, उनके अनुसार ही शेष मलो की वृद्धि और क्षीणता के चिह्न भी जाने जा सकते है। यथा--दूषिका (अक्षिमल), कर्णमल, नासामल (सिंघाणक), घ्राणमल इत्यादि की वृद्धि हुई हो तो इनके विवरों मे इन मलो की अधिक प्रमाण मे उपस्थिति तथा प्रवृत्ति (बाहुल्य), इनके विवरो (आशयों) तथा द्वारों पर गुरुता, क्लेद, कण्डू, व्यथा (वेदना) इत्यादि लक्षण होते है[१]। इत्यादि शब्द से ऐसे लक्षण भी ग्रहण किए जा सकते है, जैसे नासा मे अति मल-सचिति हो कर कण्डू हो और अंगुली से कण्डूयन किया जाए तो उससे क्षत हो कर रक्त प्रवृत्ति हो सकती है। इसे रक्तपित्त न मान लेना चाहिए। नासा से रक्त स्रुति की परीक्षा मे ऐसे भी कारण होना सभव है।

१--देखिए अ० हृ० सू० ११।१४ तथा उस पर अरुण--हेमाद्रि।

अपने आशय में वृद्धिगत मल के अपने आशय के भेद से पृथक् नाम भी शास्त्र में अभिहित है। यथा—सचित कफ या मल से कर्ण में कण्डू हो तो कर्ण कण्डू, यही कफ या मल पित्त की उष्णता से सूख जाए तो कर्णगूथ इत्यादि (देखिए : सु० उ० २१।११ इत्यादि)।

अक्षिमल आदि मल क्षीण हों तो इन मलों का प्राकृत प्रमाण अत्यल्प होने से इनका क्षय जानना सुकर नही होता। वृद्धि के विपरीत मल का आशय तथा द्वार विशुष्क, शून्य, लघु और तोद युक्त होता है। इन लक्षणो से उसके क्षय का अनुमान करना चाहिए। इस प्रकार पाँच ज्ञानेन्द्रियों के अधिष्ठानभूत मुख, चक्षु, कर्ण, रोमकूप तथा प्रजनन के मलो के वृद्धि-क्षय के लक्षण जानने चाहिए।

शरीरान्तर्गत अन्य द्रव्यों के क्षय के लक्षण भी अपनी-अपनी प्राकृत क्रिया के क्षय को देख कर जाने जा सकते है। यथा—उदक क्षय के पूर्व कथित लक्षणो से उदक क्षय का निदान किया जा सकता है।

ओज के वृद्धि-क्षय के लक्षण—ओज सर्वशारीर धातुओं का सारभूत है। इसके दो भेद है : पर या प्रधान तथा अपर या अप्रधान। दोनों की वृद्धि होने से शरीर और मन की पुष्टि, तुष्टि और बल का उदय होता है। ओज का क्षय होने पर कुछ लक्षण दोनो में समान होते है और कुछ भिन्न। ओज शब्द के गौण अर्थ अनेक होने पर भी शास्त्र के वचनों से ही यह समर्थित है कि प्रधान ओज वह है जिसका नव्य प्रत्यक्षानुसार वृषण-ग्रन्थियों से अन्त स्राव होता है; एवं अप्रधान ओज नवीनों का द्राक्षाशर्करा है, जिसकी सतत उपलब्धि तथा दहन (ऑक्सिडेशन) के विना कोई अवयव अपना प्राकृत कर्म कर नही सकता। अपर ओज के क्षय के अनिष्ट परिणामों का आधुनिकों ने भी उत्तम प्रत्यक्ष किया है। इन्सुलीन का अतियोग होने पर द्राक्षाशर्करा का क्षय होने के कारण होने-वाली मूर्च्छा एवं मृत्यु-सदृश परिणामों तथा अन्य कारणों से हुई तत्तत् शारीर-मानस विकृति में ग्लूकोज की सूचिवस्ति और उसका त्वरित परिणाम दृष्टि मे रखा जाए तो अपर ओज का नव्यमत से अर्थ समझने में सुगमता तो होगी ही, साथ ही इसकी क्षीणता के आयुर्वेदोक्त लक्षण भी असगत न प्रतीत होंगे।

प्रधान ओज की मात्रा अष्ट विन्दु तथा अप्रधान की अर्ध अञ्जलि कही गयी है। चरक-सुश्रुत ने ओज की क्षीगता के लक्षण कुछ भिन्न पद्धति से कहे हैं। दोनों का पृथक् उल्लेख करना समीचीन प्रतीत होता है। ओज के क्षय के लक्षण चरक ने ये कहे है—

विभेति दुर्बलोऽभीक्ष्णं ध्यायति व्यथितेन्द्रियः।
दुश्छायो दुर्मना रूक्षः क्षामश्चैवौजसः क्षये॥
च० सू० १७।७३

जिस पुरुष का ओज क्षीण होता है उसका शरीर क्षीण तथा दुर्बल होता है ; मन भी दुर्बल होता है। वह सदैव ध्यान-परायण रहता है—निश्चेष्ट, भाव-रहित, गुप-चुप रहता है। मन के दौर्बल्य के कारण वह भीरु स्वभाव का होता है। अनेक प्रकार के कल्पित भयों से वह पीड़ित रहता है ; औरों से प्रत्यक्ष डर जाता है किंवा उसका मन अन्दर-ही-अन्दर दबा रहता है (जिसे 'इन्फीरि-ऑरिटी कॉम्प्लेक्स' कहते हैं उसका वह ग्रास होता है)। उसकी ज्ञानेन्द्रियाँ भी व्यथित रहती हैं—उनमें पीड़ा या कुछ कर्म-विकृति होती है। वह रूक्ष तथा कान्ति हीन होता है।

कल्पित भयों का आधुनिक मानस-शास्त्रियों ने अच्छा अनुशीलन किया है। इन भयों को 'फोबिया' (सत्रास[1]) कहते हैं। इन्फीरिऑरिटी का कुछ विचार इसी ग्रन्थ में पहले कर चुके हैं।

इस पद्य की टीका में चक्रपाणि कहते हैं—क्षय का यह लक्षण अर्धाञ्जलि-परिमित ओज का समझना चाहिए, अष्टबिन्दुक का नहीं। अष्टबिन्दुक ओज का अंशमात्र भी नष्ट हो जाए तो मृत्यु हो जाती है। प्रमेह (मधुमेह) में ओज प्रभूत प्रमाण में नष्ट होने पर भी मृत्यु नहीं होती। अगले पद्य में अष्टबिन्दुक ओज के क्षय का परिणाम बताते तन्त्रकार कहते हैं—जिस ओज का स्थान हृदय है, जो मुख्यतया शुक्ल वर्ण परन्तु किंचित् रक्त-पीतवर्ण होता है—उसका स्वल्प-मात्र नाश (क्षय) होने से भी पुरुष की मृत्यु हो जाती है।—तन्नाशान्ना विनश्यति (च० सू० १७।७४)।

सुश्रुत ने ओज या बल के प्राकृत कर्म, स्वरूपादि का निर्देश कर प्रस्तावना-रूप में उसके क्षय का सामान्य लक्षण चरक के उक्त वचन के सदृश ही यह कहा है कि—तद्भावाच्च शीर्यन्ते शरीराणि शरीरिणाम्।—सु० सू० १५।२२। (शीर्यन्ते विनश्यन्ति—डल्हन)। आगे क्षय के अतिरिक्त ओज की अन्य भी दो विषमताएँ (दोष) बता कर सुश्रुत ने उनके निदान, लक्षण तथा चिकित्सा बताए हैं। तथाहि :

ओज (बल) के तीन दोष या विकृतियाँ है—व्यापत् (त्ति), विस्रस (विस्रंसन) तथा क्षय। दोषों एव दोष-दूषित धातुओं तथा मलों के संसर्ग से ओज के गुणों में हीनता (न्यूनता, या अन्यथाभाव) आ जाने को व्यापत् या व्यापत्ति कहते हैं। इसमें शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्ग मे गुरुता तथा स्तब्धता (जानु, कटि आदि की सधियों में नमन-आकुञ्चन-प्रसारण आदि का सामर्थ्य न रहना),

---

१—जल-सत्रास के लिए 'हायड्रोफोबिया' शब्द अंग्रेजी मे है। उससे फोबिया तथा सत्रास को परस्पर पर्याय समझा जा सकता है।

वर्ण-भेद ––मूल वर्ण से भिन्न वर्ण का आविर्भाव, ग्लानि (हर्षनाश, म्लानता), तन्द्रा, निद्रा और वातिक शोफ तथा अपने प्राकृत कर्मों की हानि (नष्टता)–– ये लक्षण होते हैं।

अपने मूल स्थान हृदय किंवा धातुवाहक स्रोतों से ओज का च्युत हो जाना–– बाहर निकल जाना––विस्रंस कहाता है। ओज का अपने प्राकृत प्रमाण से हीन (न्यून) होना उसका क्षय कहलाता है। इसमें अन्य दोष आदि के सदृश अपने प्राकृत कर्मों की हीनता यह सामान्य लक्षण होता है। विशेष लक्षण आगे कहेंगे ही।

ओज के विस्रंस तथा क्षय के कारण समान होते हैं। अभिघात (शारीरिक, मानसिक आघात), धातु-विशेष का क्षय, क्रोध, शोक, ध्यान (चिन्ताशीलता), श्रम और क्षुधा (क्षुधा के वेग का अवरोध, भूख लगने पर भी न खाना)––इन कारणों से ओज अपने स्थान हृदय किंवा धातुवह स्रोतों से च्युत होता है। वात द्वारा प्रेरित पित्त ओज को अपने स्थान से च्युत करता है। अभिघातादि कारणों से रसादि धातुओं के सदृश ओज का स्वतन्त्र क्षय होता है किंवा उसकी च्युति अत्यधिक हो जाए तो भी उसके क्षीण होने के लक्षण प्रकट होते हैं।

रस धातु का विक्षेपण हृदय से होता है, सर्व शरीर में भ्रमण कर पुनः वह अपनी यात्रा आरम्भ करने के लिए हृदय में ही आता है, एवं उसकी क्षीणता आदि के परिणाम सर्वप्रथम तथा मुख्यतया हृदय पर ही होते हैं (स्पन्दन, भीरुता आदि) इस लिए तथा अन्य कारणों से भी सर्वशरीरगत भी रस धातु का हृदय से सविशेष सबन्ध होने से हृदय को रस धातु का स्थान कहा है। सर्वधातुओं का सारभूत होने से ओज का भी स्थान इसी शैली से हृदय ही है। यहाँ से इसका च्युत होना विस्रंस कहाता है। इसी प्रकार धातुवह स्रोतों से इसका पृथग्भूत होना भी विस्रंस कहा जाता है। मूल में आए 'धातुग्रहण-निःसृतम्' के धातु ग्रहण शब्द के हृदय तथा धातुवह स्रोत दोनों अर्थ टीकाकारों ने किए हैं।

सिराओं के प्रकरण में कहा गया है कि सिराएँ सर्ववह होते हुए भी वे जिस दोष के स्थान में जाती हैं उसके स्थान को उसकी स्वाभाविक आवश्यकतानुसार उसकी पोषक सामग्री पहुँचाती हैं। अतः गौण रीति से जिस दोष के स्थान पर जो सिरा जाती है उसे उस दोष के नाम पर ही वातवह आदि नाम दिए जाते हैं। (देखिए : सु० शा० ७।६)। इस पद्धति से समझ सकते हैं कि हृदय द्वारा विक्षिप्त रसधातु प्रत्येक धातु की पोषक सामग्री को अपने अन्दर लिए होता है तथापि जिस स्रोत द्वारा जिस धातु की पुष्टि होती है उसके द्वारा उस धातु को अपने पोषण में उपयुक्त सामग्री की उपलब्धि होने से उसे उस धातु के नाम पर ही रक्तवह, मांसवह, अस्थिवह आदि नाम दिए जाते हैं। इन स्रोतों में धातु-पोषक सामग्री के साथ ओज भी सम्मिलित होता है। उल्लिखित

यदि ध्यानादि कारणों से कुपित हुए पित्त तथा वायु द्वारा ओज इन स्रोतों से बाहर च्युत कर दिया जाता है। इनके स्पष्टीकरण के पश्चात् अब ओज के विस्रंस और क्षय के लक्षण देखते हैं।

ओज का विस्रंस होने पर सन्धियों का विश्लेष (सन्धियाँ मुक्त हो गई हों ऐसी प्रतीति; अथवा सन्धि मुक्त होने की प्रवृत्ति?), अवयवों का सादः (शैथिल्य); वातादि दोषों तथा मलों की अपने आशयों से च्युति (भ्रंश), कायिक, वाचिक, मानसिक क्रियाओं का न्यून या सम्पूर्ण सन्निरोध (असामर्थ्य, पूर्णतया हो न पाना, विघात) श्रम तथा ओज के प्राकृत कर्मों की हानि (ह्रास)—ये लक्षण होते हैं। ओज का क्षय होने पर मांसक्षय (धातुक्षय), मोह (वैचित्त्य, अर्ध मूर्च्छा की दशा), अज्ञान (मिथ्या तथा विपरीत ज्ञान, इल्यूजन, हेल्यूसिनेशन, डिल्यूजन), प्रलाप; ओज के प्राकृत कर्मों का ह्रास; ग्लानि तथा विस्रंस के सदृश लक्षण और मृत्यु—ये लक्षण होते हैं।

स्रोतों की परीक्षा

दूष्य धातुओं के नाम-ग्रहण से प्रायः स्थूल मांसपेशी, अस्थि आदि की ही स्मृति होती है। परन्तु यकृत्, प्लीहा, सिरा, धमनी इत्यादि शरीरावयव भी विभिन्न धातुओं से ही बने हुए हैं। रचना-शारीर में प्रत्येक अवयव के प्रकरण में विद्यार्थी को बताया जाता है कि किस अवयव की रचना किस धातु के विशेष योग से हुई है। अतः धातुओं के सम तथा विषम (क्षीण-वृद्ध) प्रमाण एवं कर्मों का विचार करते हुए इन अवयवों को भी चित्त में लेना चाहिए। इसी प्रकार दोष-दूष्य सम्मूर्च्छन से रोगोत्पत्ति होती है इस वचन द्वारा जिस सिद्धान्त की स्थापना की जाती है उसी सिद्धान्त का निर्देश स्थानसंश्रय नाम से भी किया जाता है। स्थानसंश्रय का विचार अगले अध्याय में करेंगे। अवयवों की पृथक् प्रकृति-विकृति का निर्देश नवीनों ने बहुत विस्तार से किया है। प्राचीन तन्त्रों में यत्र-तत्र बिखरे अवयवगत लक्षणों को एकत्र कर आयुर्वेदीय दृष्टि से अवयव-परीक्षा के शास्त्र का भी ऐसा ही सकलन किया जा सकता है। परन्तु, हृदय, यकृत्, प्लीहा आदि के विषय में प्राचीनों ने जो कुछ कहा है उसमें उन्होंने दोषों को लक्ष्य में रख कर लक्षणों का निरूपण किया है, अर्वाचीन-मत से अभिभूत हो कर उसे भुला न देना चाहिए। अन्यथा, हम अवयव-परीक्षा की आयुर्वेदीय दृष्टि से विमुख हो कर स्वयं आयुर्वेद के मूल को ही विस्मृत कर रहे होंगे।

अन्य दृष्टि से देखें तो दोष-दूष्य घटित सर्वशरीर प्रधानतः स्रोतों से ही घटित है। एकीय मत से तो यह स्रोतोमय ही है—केवल स्रोतों से बना हुआ है।

इस कारण रोग-परीक्षा के इस प्रकरण में दूष्यों का विचार करने के अनन्तर स्रोतों के दुष्ट होने की परीक्षा का निर्देश करना उचित है।

यह ग्रन्थ कायचिकित्सा का होने से इसमे स्रोतों का विचार इस शास्त्र की दृष्टि से ही किया जाएगा। जैसा कि चक्रपाणि ने लिखा है कायचिकित्सकों ने धमनी, सिरा तथा स्रोत सब के लिए सब सज्ञाओं का व्यवहार किया है। शल्य-तान्त्रिकों के समान इनमें भेद नही माना है--न च चरके सुश्रुत इव धमनी-सिरास्रोतसां भेदो विवक्षितः (च० वि० ५।३ पर)।

मूल ग्रन्थों में स्रोतों के विषय में शल्य चिकित्सकों तथा कायचिकित्सकों का यह दृष्टि-भेद स्पष्ट निर्दिष्ट है। स्रोत का लक्षण बताते हुए सुश्रुत ने जो श्लोक दिया है वह इस भेद का निदर्शक तो है ही उससे स्रोतों के मूल के सबन्ध में काय-चिकित्सकों की दृष्टि पर भी प्रकाश पडता है। जैसा कि आगे देखेंगे स्रोतों का मूल कायचिकित्सकों के मत से समझ लेने से रोगो की सप्राप्ति के विषय मे उनकी दृष्टि भी विशद होगी। सुश्रुत ने स्रोत का यह लक्षण दिया है।--

मूलात् खादन्तरं देहे प्रसृतं त्वभिवाहि यत्।
स्रोतस्तदिति विज्ञेयं सिराधमनिवर्जितम्॥ सु० शा० ९।१३

मूलात् खादिति हृदयादिच्छिद्रात्। प्रसृतम् अभिवहनशील यदन्तरम् अवकाश', तत् स्रोतो विज्ञेयम्॥ डल्हन

अर्थात्---शरीरान्तर्गत अवकाशमय अवयव जो किसी दोष, धातु आदि का वहन करता है---उसे एक स्थान से अन्य स्थान पर पहुँचाता है, एव हृदय आदि जिस छिद्रमय (अवकाशमय) अवयव को उसका मूल बताया गया है वहाँ से शरीर में प्रसृत हुआ हो उसे स्रोत कहते हैं। धमनी और सिरा पर भी यह लक्षण घटित होता है, परन्तु उन्हें स्रोत नही समझना चाहिए। सिरा और धमनी से भिन्न उक्त लक्षणान्वित अवकाशो के लिए ही (शल्य-शालाक्य तन्त्र में) स्रोत संज्ञा का व्यवहार होता है। इसी अध्याय (सु० शा० ९) के आरम्भ मे एक चर्चा के रूप में सिरा, धमनी और स्रोत की भिन्नता भी सुश्रुत ने समझाई है।

पद्योक्त 'मूलात् प्रसृतम्' शब्द से ध्वनित है कि मूल और स्रोत दोनों एक-दूसरे से लगे हुए होने चाहिए---दूर-दूर स्थित नही। अतएव मूल का वेध होने का साक्षात् परिणाम स्रोत पर होता है। परन्तु कायचिकित्सा में किसी स्रोत का जो मूल बताया गया है वह तथा स्रोत परस्पर सलग्न ही हों यह निश्चित नही। प्रत्युत, शरीरान्तर्गत जो अवयव रोगरहित होने से कोई स्रोत स्वस्थ रहे तथा जिस ही अवयव के रुग्ण होने से जो स्रोत रुग्ण होता है उस अवयव को उस स्रोत का मूल कायचिकित्सा में माना जाता है। जैसे शरीर का मूल दोष, धातु (-उपधातु)

का मल है, इस सिद्धान्त को विशद करते हुए टीकाकारो ने मूल का अर्थ समवायि कारण भी बताया है तथा इनके विकृताविकृत रहने से ही शरीर विकृताविकृत रहता है इस कारण भी दोषादि को शरीर का मूल कहा गया है[1] वैसे दूरस्थ भी किसी अवयव की विकृति-अविकृति का प्रभाव किसी स्रोत पर पडता हो तो उस अवयव को उस स्रोत का मूल कायचिकित्सा मे माना गया है। यह सिद्धान्त दृष्टि मे रहे तो उपचार मूलगामी होने से अपुनर्भव (पुनरुत्पत्तिरहित) होना सभव है। किवा, रोग असाध्य ही हो तो चिकित्सा मूलगामी होने से वह उतना क्लेशदायी नही होता तथा उसमें मृत्यु भी उतनी शीघ्र नही होती। एक उदाहरण से इस बात को स्पष्ट करता हूँ।

सुश्रुताचार्य ने प्राणवह स्रोतों का मूल हृदय तथा रसवाही धमनियाँ बताया है। देखिए प्राणवहे द्वे, तयोर्मूलं हृदयं रसवाहिन्यश्च धमन्यः---सु० शा० ९।१२। हृदय से प्राणवह स्रोतों (फुफ्फुसों) तक रस को ले जानेवाली धमनियों का प्राणवह स्रोतों के साथ तथा धमनियों का हृदय के साथ साक्षात् सम्बन्ध होता है। कायचिकित्सकों ने प्राणवह स्रोतो का मूल कुछ विशिष्ट बताया है। चरक कहता है' प्राणवहाना स्रोतसां हृदयं मलं महास्रोतश्च---च० वि० ५।८ महास्रोत का प्राणवह स्रोतो के साथ साक्षात् सम्बन्ध नही होता। परन्तु प्राणवह स्रोतों की दुष्टि होने पर श्वसन क्रिया सम्बन्धी विकृतियाँ होती है उनमें महास्रोत भी कभी-कभी कारणभूत होता है। जैसे हृदय का रोग (हृद्रोग) या विद्रधि होने पर कास, श्वास आदि प्राणवह स्रोतों की विकृतियाँ होती है वैसे महास्रोतो की दुष्टि से भी ये रोग होते है। यथा, श्वास तथा हिक्का के लिए कहा है कि ये पित्त स्थान से उत्पन्न होनेवाले एवं कफवातप्रधान रोग है---कफवातात्मकावेतौ पित्तस्थानसमुद्भवौ---च० चि० १७।८। पित्तस्थान का अर्थ दीपिकाकार ने आमाशय दिया है और आमाशय का अर्थ आमपच्यमानाशय है। इन आशयों की कफवातात्मक विकृति के परिणामस्वरूप श्वासकासादि प्राणवह स्रोतो के विकार होते है यह चरकवचन का तात्पर्य है। अतएव वमन-विरेचनादि द्वारा महास्रोत के अङ्गभूत इन आशयों की शुद्धि हो जाए तो श्वास-कासादि रोगों पर प्रत्यक्ष सुपरिणाम भी होता है। इसीसे रचना की दृष्टि से ससर्ग न होने पर भी कायचिकित्सकों ने हृदय के साथ महास्रोत को भी प्राणवह स्रोतो का मूल कहा है। इस उदाहरण से स्रोतों का मूल बताने मे कायचिकित्सको तथा शल्य-चिकित्सकों के मध्य रहा दृष्टि का अन्तर समझा जा सकता है। इसीसे इस बात का समाधान भी स्वयं हो जाता है कि एक ही स्रोत का मूल चरक और सुश्रुत ने भिन्न-भिन्न क्यों बताया है?

१---देखिए आयुर्वेदीय क्रियाशारीर, पृ० १७।

इतने प्रासंगिक विवेचन के पश्चात् अब मूल विषय पर आएँ। शल्यविदों के सदृश कायचिकित्सकों ने सिरा, धमनी और स्रोतों का भेद माना नहीं है। अतएव इन तथा अन्य संज्ञाओं का व्यवहार एक-दूसरे के लिए उन्होंने किया भी है। अभिवहनशील अवकाश-मात्र के लिए स्रोत आदि शब्दो का व्यवहार करने में--इनकी भिन्नता पर लक्ष्य न देने मे--उनका कोई विशेष प्रयोजन न रहा होगा। दोष, धातु आदि द्वारा मार्गों की दुष्टि होने से, उनका अवरोध होकर रोग होता है यही प्रतिपादन करना उनका लक्ष्य था। मार्ग कोई भी हो, दुष्टि उसके वाह्य द्रव्य के अवरोध के अनुसार होती है। हम केवल कायचिकित्सकों की दृष्टि का निरूपण कर रहे हैं। विद्वज्जनों का अब यह मत हुआ है कि वर्तमान काल में युगानुरूप सिरा, धमनी, स्रोत, आशय इत्यादि का अर्थ निश्चित कर उसी अर्थ मे इनका प्रयोग रूढ कर देना चाहिए। तथापि, प्राचीन किस वचन मे किस सज्ञा का किस अर्थ मे व्यवहार हुआ है यह भी व्याख्याकारों को बताते जाना चाहिए। अस्तु।

अवकाश-युक्त वहनशील मार्गों का पर्यायों द्वारा अभिधान करते चरकाचार्य कहते हैं--स्रोतासि सिरा धमन्यो रसायन्यो रसवाहिन्यो नाड्यः पन्थानो मार्गाः शरीरच्छिद्राणि संवृता संवृतानि स्थानान्याशया निकेताश्चेति शरीरधात्ववकाशानालक्ष्यालक्ष्याणा नामानि भवन्ति--च० वि० ५।९।--शरीर में धातुओं का वहन करने के लिए स्थित दृश्य या अदृश्य अवकाशों के स्रोत आदि नाम हैं। लक्ष्य मार्ग कर्ण, नासिका आदि है तथा अलक्ष्य रक्तवह आदि हैं। इनमें अपने-अपने वाह्य द्रव्य के वहन के लिए आकुञ्चन-प्रसारणात्मक व्यापार हुआ करते हैं, इस कारण वे सकुचित और विस्तृत होते रहते है अतः इन्हें सवृता-सवृत नाम दिया है। हृदय, आमाशय, सिरा आदि स्रोत अपने-अपने कपाट (वाल्व) आदि के कारण लयवद्ध वन्द होते तथा खुलते है इस निमित्त से भी इन्हें सवृतासंवृत कहते है। चक्रपाणि ने 'अग्रे सवृतानि मूलेऽसवृतानि' यह व्याख्या 'सवृतासंवृतानि' की दी है। वह हृदय से निकलनेवाली धमनियो पर ही सविशेष घटित होती है। इनके इस स्वरूप को लक्ष्य में रखकर ही लघु वाग्भट ने कहा है--स्थूलमूलाः सुसूक्ष्माग्राः पत्ररेखाप्रतानवत्। भिद्यन्ते ताः (अ० हृ० शा० ३।१९)। ये मूल मे नाम हृदय एव मूल धमनी से निर्गमन के स्थान में स्थूल (असवृत) तथा आगे सूक्ष्म (संकुचित, सवृत) होती है, यह चक्रपाणि का अभिप्राय है। हृदयाभिमुख सिराओं में उनका मूल विपरीत होने से क्रम भी विपरीत होता है--मूल सवृत तथा अग्र असंवृत। मेरी दी व्याख्या मार्गमात्र पर घटित होती है तथा प्रत्यक्षानुसारी है। वातवाही सिराओं में जो 'पूर्णरिक्ताः क्षणात्। (अ० हृ० शा० ३।२६)--

क्षणात् पूर्णाः क्षणाद् रिक्ताः (अरुण) यह विशेष बताया है वह मदुक्त प्रकार से सवरणासवरण के कारण ही होता हे। अतएव आगे कहा है कि वे 'प्रस्पन्दिन्यः' होती है। अरुण कहता हे स्पन्दन तो सब में होता हे पर वातवाहिनी सिराओ में सविशेष होता है, यह बात 'प्र' इस विशेषण से जतलाई है।

सु० शा० ९।३ में सिरा-धमनी आदि में सादृश्य होने के कारण उनमें भेद नही है यह पूर्वपक्ष उपस्थित किया है। इसकी व्याख्या में डल्हन ने तन्त्रान्तर का निम्न वचन उद्धृत किया है, उससे विभिन्न सज्ञाओं का परस्पर पर्याय रूप में व्यवहार होने का समर्थन होता हे :

आकाशीयावकाशाना देहे नामानि देहिनाम्।
सिराः स्रोतासि मार्गाः खं धमन्यो नाड्य आशयाः ॥

कायचिकित्सकों के मत से वहनशील अवकाश मात्र का स्रोत आदि नाम होने से स्रोत का लक्षण चरक ने व्यापक ही दिया है। देखिएः स्रोतासि खलु परिणाममापद्यमानाना धोतूनामभिवाहीनि भवन्त्ययनार्थेन--च० वि० ५।३। इस वचन को समझने के पूर्व जान लेना चाहिए कि धातु शब्द यहाँ रस-रक्तादि सात इस विशेष अर्थ में व्यवहृत नही हुआ हे, किन्तु शरीरान्तर्गत जो भी भाव (पदार्थ) शरीर का धारण--उपकार-करने वाले हों उनका यहाँ धातु शब्द से निर्देश हुआ है। आगे स्रोतों की दुष्टि के प्रकरण में उदाहरण रूप से कतिपय स्रोतों का उल्लेख आचार्य ने किया है। उसमें प्राण, उदक, अन्न, पुरीष, मूत्र इत्यादि के निर्देश से यह बात विदित होगी। उक्त वचन की टीका में चक्रपाणि ने वाह्य द्रव्यो में दोषों तथा मन की भी चर्चा की है। उससे इस प्रकरण में धातु शब्द के अर्थ की व्यापकता का बोध होगा। इतने स्पष्टीकरण के पश्चात् अब मूल वचन का अर्थ देखें--

अन्न का अन्नरस के रूप में तथा अन्नरस का रसादि धातुओं के रूप में परिणमन होते हुए इन पदार्थो का वहन (प्रयन) जिन मार्गो से होता है उन्हें स्रोत कहा जाता है। आयुर्वेदीय क्रिया शारीर का सिद्धान्त है कि इन द्रव्यों की पुष्टि (उत्पत्ति) होते हुए अन्न के तीन विभाग होते है--स्थूल, मध्य तथा सूक्ष्म। जो मध्य भाग होता है, उससे मासादि धातुओं-उपधातुओ की, अन्य शब्दों में इनसे बने शरीर की पुष्टि होती है। अन्न के सूक्ष्म भाग से मन तथा सूक्ष्म इन्द्रियों की (इन के आरम्भक द्रव्यों की) पुष्टि होती है--स्थूल भाग से पुरीष तथा अन्य मलो की पुष्टि होती है। इस विषय का अधिक स्पष्ट निर्देश छान्दोग्योपनिषत् के निम्न वचन मे है : अन्नमशितं त्रेधा विधीयते। तस्य यः स्थविष्ठो धातुस्तत् पुरीपं भवति, यो मध्यस्तन्मासं, योऽणिष्ठस्तन्मनः--छान्दोग्य०

५।१।--इस वचन में आए मास शब्द से सभी धातुओं-उपधातुओं तथा उनसे बने अवयवों का ग्रहण करना चाहिए ; एव पुरीष शब्द से सभी मलों का तथा मन शब्द से सूक्ष्म ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों का किंवा उनके आरम्भक द्रव्यों का भी ग्रहण करना चाहिए। आयुर्वेद के ग्रन्थों में अन्न के तीन तो नही परन्तु दो ही विभाग बताए गए है--प्रसाद और किट्ट। इन्द्रियों की पुष्टि प्रसाद भाग से ही होती कही गयी है। तथाहि, विविधाशित पीतीय अध्याय मे धातु पोषण की क्रिया समझाते चरकाचार्य ने कहा है--

तत्राहारप्रसादाख्यो रसः किट्टं च मलाख्यमभिनिर्वर्तते। किट्टात् स्वेदमूत्रपुरीषवातपित्तश्लेष्माणः कर्णाक्षिनासिकास्यलोमकूपप्रजनन-मलाः केशश्मश्रुलोमनखादयश्चावयवाः पुष्यन्ति। पुष्यन्ति त्वाहार-रसाद् रसरुधिरमांसमेदोऽस्थिमज्जशुक्रौजांसि पञ्चेन्द्रियद्रव्याणि[1] धातुप्रसादसंज्ञकानि शरीरसन्धिबन्धपिच्छादयश्चावयवाः॥

च० सू० २८।४

तात्पर्य--पक्व हुए आहार का पचन होकर विभजन होते हुए दो द्रव्य बन जाते हैं--आहार का प्रसाद या सारभूत रस तथा किट्ट या मल (नि· सार अश)। किट्टाश से पुरीष, मूत्र, स्वेद, वात, पित्त, कफ ; कर्ण, नेत्र, नासा, लोमकूप तथा उपस्थेन्द्रिय के मल एव केश, श्मश्रु, लोभ, नख[2] इनकी एव आहार के प्रसाद भाग से रस, रक्त, मास, भेद, अस्थि, मज्जा, शुक्र, ओज, इन्द्रियों के पोपक महाभूत-रूप द्रव्य जो अत्यधिक सारभूत होते है ; शरीर की सन्धियों का बन्धन करनेवाले स्नायु, सिरा आदि, पिच्छारूप अवयव तथा आर्तव, स्तन्य इत्यादि की पुष्टि हुआ करती है।

किं बहुना, अन्न अथवा अन्नरस का अपने-अपने अग्नियों द्वारा परिणमन (परिवर्तन) होकर क्रम-विशेष से तत्-तत् धातु-उपधातु, मल आदि की पुष्टि या उत्पत्ति होती है। परिणाम को प्राप्त होते हुए इन द्रव्यो का वहन जिन अवकाशमय मार्गो से होता है उन्हें स्रोत कहते हैं। उपनिषद् के मत से आहार की परिणति

१--पञ्चेन्द्रियद्रव्याणीति पृथिव्यादीनि घ्राणादीन्द्रियकारणानि। धातु-प्रसादसञ्ज्ञकानीति अत्यर्थशुद्धेनैव धातुप्रसादेनेन्द्रियाण्यारभ्यन्त इति दर्शयति। शरीर बध्नातीति शरीरबन्ध स्नायु सिरादि॥' --चक्रपाणि

२--नख शब्द से पशुओ के शृङ्ग, कच्छपादि प्राणियो की पृष्ठ आदि का भी ग्रहण करना चाहिए। ये भी अस्थि के मल होने से अस्थि सम है। अतएव, अस्थि की क्षीणता मे इनका उपयोग किया जाता है।

... त्पन्न स्थूलतम, मध्य और सूक्ष्म त्रिविध तथा आयुर्वेद की संज्ञा में प्रसाद और मल दो प्रकार के द्रव्यो का वहन (अयन) स्रोतो द्वारा होता है।--तेषा तु मल-प्रसादाख्याना धातूना स्रोतास्ययनमुखानि। तानि यथा विभागेन यथास्वं धातूनापूरयन्ति--च० सू० २८।५। 'यथास्व' का अर्थ है जिस धातु आदि का जो पोषक द्रव्य है वह। 'विभाग' शब्द का यहा प्रमाण अर्थ है। सो प्रत्येक स्रोत, जिस धातु आदि की जो पोषक सामग्री होती है, उसे योग्य प्रमाण में पहुँचाता है। इस प्रकार--स्रोतसा च यथास्वेन धातुः पुष्यति धातुत --च० चि० ८।३९--(रस) धातु से अपने-अपने स्रोत द्वारा इतर धातु (आदि) की पुष्टि होती है। यही स्रोत अहिताहार-विहारादि कारणो से कुपित हुए किसी दोष द्वारा अवरुद्ध हो जाएँ तो पोषक सामग्री का अयन समीचीनतया न होने से धातु आदि का पोषण यथावत् न होने से उनका क्षय होता है।--सर्वे हि भावाः पुरुषे नान्तरेण स्रोतास्यभिनिर्वर्तन्ते, क्षयं वाऽप्यभिगच्छन्ति--च० वि० ५।३--स्रोतो के बिना धातु आदि की पुष्टि या क्षय नही हो सकता।

स्रोतो का अवरोध होने से धातुओ या तज्जनित अवयवो की क्षीणता ही केवल नही होती, शरीर में रोगो के प्रादुर्भाव का कारण भी यह स्रोतोरोध ही है। विषमाशन जन्य राजयक्ष्मा की सप्राप्ति बताते हुए चरकाचार्य ने जो बात राज-यक्ष्मा के लिए कही है वह सामान्य रूप से रोगमात्र पर घटित होती है। आचार्य कहते है--

विविधान्यन्नपानानि वैषम्येण समश्नतः।
जनयन्त्यामयान् घोरान् विषमान् मारुतादयः॥

च० चि० ८।२८

पुरुष स्वस्थवृत्तोक्त नियमो का उल्लङ्घन कर (वैषम्येण) अन्नपान का सेवन करता है तो इस विषमाशन के कारण वातादि दोष कुपित होकर विविध घोर रोगो को उत्पन्न करते है।

विषम हुए दोष किस प्रकार राजयक्ष्मा के पूर्वरूप, रूप, उपद्रव या अरिष्ट-लक्षण रूप विविध घोर रोगों को उत्पन्न करते है इस बात को विशद करते आचार्य आगे कहते है--

स्रोतासि रुधिरादीना वैषम्यात् विषमं गताः।
रुद्ध्वा रोगाय कल्पन्ते पुष्यन्ति च न धातवः॥

च० चि० ८।२९

विषमाशनवश कुपित हुए वातादि दोष अपने-अपने सचरण के प्राकृत मार्ग का परित्याग कर विमार्ग से गमन करते है--सचरण करते हुए अन्त को प्रकृति-

निर्दिष्ट जिस मार्ग से बाहर निकल जाना चाहिए उस मार्ग से यथावत् न निकलते हुए इतर मार्गों (स्रोतों) में प्रविष्ट हो उन्हें अवरुद्ध करते हैं। स्रोतो के अवरोध-वश वे विविध रोगों को उत्पन्न करते हैं तथा धातुओ की पुष्टि में भी बाधा उपस्थित करते हैं। हृदयकार ने निदान-स्थान के आरम्भ मे ही दुष्ट हुए स्रोतो द्वारा ही रोग मात्र की उत्पत्ति का यह सिद्धान्त निम्न पदों के रूप मे और भी स्पष्ट रूप से कह दिया है--

प्रतिरोगमिति क्रुद्धा रोगाधिष्ठानगामिनीः।
रसायनीः प्रपद्याशु दोषा देहे विकुर्वते ॥

अ० हृ० नि० १।२३

पद्य का अर्थ इसी अध्याय मे पहले दे आए हैं। अन्यत्र भी हृदयकार ने इतने ही स्पष्ट पदो में शरीर के आरोग्य-अनारोग्य में स्रोतो का महत्त्व दर्शाया है।

× × × अहितसेवनात्।
तानि दुष्टानि रोगाय, विशुद्धानि सुखाय च ॥

अ० हृ० शा० ३।४२

इस प्रकार अहिताहार-विहार, देश, कालादि के सेवन से दोषों का वैषम्य, उससे स्रोतो दुष्टि, उससे दोषों और मलों का शरीर मे अवरोध, परिणामतया सुतरां प्रकोप तथा उससे रोगो की उत्पत्ति यह रोगमात्र की उत्पत्ति का आयुर्वेद-मत से क्रम है। पूर्व लिखित वचन में स्रोतो के पर्याय देकर चरकाचार्य ने यही कहा है--तेषां (स्रोतसां) प्रकोपात् स्थानस्थाश्चैव मार्गगाश्च शरीर-धातवः प्रकोपमापद्यन्ते--च० वि० ५।९। स्रोतो के प्रकोप से--स्रोतों की दुष्टि से--अपने आशय में स्थित, किंवा मार्गस्थ (बहते हुए) धातु अर्थात् शरीरान्तर्गत वहनशील द्रव्य प्रकोप को प्राप्त होते हैं--दुष्ट होते हैं।

वृद्ध या क्षीण हुए धातु अपने निकटवर्ती (प्रत्यासन्न, पूर्व या पर), धातु को वृद्ध या क्षीण करते हैं, इस विषय की चर्चा पहले कर आए हैं। धातुओ के सदृश ही दुष्ट हुए स्रोत भी अपने प्रत्यासन्न स्रोत को दूषित कर स्रोत के भेद से विविध रोगो को उत्पन्न करते हैं। उक्त वचन की टीका में चक्रपाणि यही कहते हैं--

स्रोतांसि धातवश्च दुष्टाः प्रत्यासन्नानि स्रोतांसि धात्वन्तराणि च स्वदोषसंक्रान्त्या दूषयन्तीत्यर्थः ॥

दूषित हुए स्रोत प्रत्यासन्न स्रोत में दोष का संक्रमण कर रोग की उत्पत्ति करते है, इस विषय को सुप्रत्यक्ष एक उदाहरण से समझ लें। प्रतिश्यायजनक दोष का स्थानसंश्रय नासाविवर में होकर प्रतिश्याय हुआ हो पुर कपाल के वाताशयों

दोष का सङ्क्रमण होकर ऊर्ध्व या सपूर्ण ललाट में वेदना, हन्वस्थि के वाताशयो में दोप की सक्रान्ति से नासा के एक या दोनों ओर वेदना ; श्रोत्र पथ (यूस्टेकिअन ट्यूब) में दोष की सक्रान्ति से कर्ण वेदना, बाधिर्य या कर्णनाद ; गल और कण्ठ में दोष की गति हो तो कास, स्वरभेद आदि विक्रियाएँ होती है। दोप प्राणवह स्रोतों में सक्रान्त होने से यक्ष्मा एवं यक्ष्मा का आरम्भक दोष महास्रोत में गति करे तो अतिसार होता है। इसी प्रकार अन्य उदाहरणों की कल्पना की जा सकती है।[1]

दुष्टि प्रथम या पश्चात् स्रोत की हो या धातु की, दुष्टि का मूल कारण तो दोष ही होते है। कारण, दुष्टि-कर्तृत्व-रूप स्वभाव दोषो का ही है। अतएव तो उन्हें 'दोष' यह मुख्य सज्ञा दी गयी है।—

तेषा सर्वेषामेव (स्रोतसां धातूना च) वातपित्तश्लेष्माण' प्रदुष्टा दूपयितारो भवन्ति। च० वि० ५।६

'स्रोत' शब्द की व्युत्पत्ति—चरक ने धमनी, स्रोत और सिरा संज्ञाओ की व्युत्पत्ति दी है। आयुर्वेद के स्वाध्याय-प्रवचन में वह प्रसिद्ध है। प्रायः इस व्युत्पत्ति से धमनी, सिरा और स्रोत का क्रिया-भेद दर्शाकर तीनो में पार्थक्य समझाया जाता है। परन्तु, जिस चरक-सहिता का यह वचन है उसके प्रवक्ता ने तो इन तीन तथा अन्य अनेक संज्ञाओ का अवकाशमय अवयवमात्र के लिए समान रूप से उपयोग किया है। एतद्विषयक वचन भी हम ऊपर उद्धृत कर आए हैं। इससे स्पष्ट है कि, धमनी आदि सज्ञाओ की व्युत्पत्ति दर्शाने वाले वचन को भी उनका पार्थक्य दर्शानेवाला नही समझना चाहिए। किन्तु, अवकाशमय वहनशील प्रत्येक अवयव धमनी है, प्रत्येक अवयव सिरा है, प्रत्येक अवयव स्रोत है। इन अवयवो में क्या विशिष्टता है जिससे इन्हें धमनी आदि नाम दिए गए है, यह दर्शाने के लिए उनकी व्युत्पत्ति चरकाचार्य ने दी है: ध्मानाद् धमन्यः, स्रवणात्

१—चक्रपाणि ने टीका मे जो स्रोतो और धातुओ दोनो से प्रत्यासन्न (निकटवर्ती) स्रोतो और धातुओ दोनो की दुष्टि का निर्देश किया है वह चरक-सहिता के मूल वचन मे वैसा स्पष्ट नही है। वहाँ यह वचन है—स्रोतासि स्रोतास्येव धातवश्च धातूनेव प्रदूषयन्ति प्रदुष्टा —इसका अर्थ है ' स्रोत स्रोतो को ही दूषित करते है तथा धातुएँ धातुओ को ही दूषित करती है। सग्रहकार के निम्न वचन मे चक्रपाणि-निर्दिष्ट मत ही प्रतिपादित हुआ है ते चावकाशा प्रकुपिता स्थानस्थान् मार्गस्थाश्च धातून् प्रकोपयन्ति। तेऽपि (धातव) तान् (धातून्) स्रोतासि च। स्रोतासि धातवश्च धातून् अ० स० शा० ६। प्रतीत होता है, चरक-वचन मे कुछ लिपि-दोष हो गया है। विज्ञ वाचक विचार करे।

स्रोतांसि, सरणात् सिराः—च० सू० ३०।१२। अवकाशमय आकाश धातु-प्रधान वहनशील शारीर अवयवों को धमनी इसलिए कहते हैं कि वे अपने-अपने वाह्य रस धातु आदि का ध्मान करती हैं—अपने अवकाश नाम अन्तर्गत विवर को उनसे पूर्ण करती हैं। इन्हें स्रोत इसलिए कहा जाता है कि ये रसादि पोष्य धातुओं का स्रवण करते हैं। इन अवयवों का नाम सिरा इस लिए है कि इनके द्वारा वाह्य द्रव्य का सरण नाम देशान्तरगमन होता है।

टीकाकार ने 'पोष्यस्य रसादेः स्रवणात्' यह व्याख्या की है, जो दुर्बोध है। 'पोषक' शब्द कदाचित् ठीक होता। पित्त और कफ अपने-अपने मार्गों से स्रुत ही होते हैं—यथा पित्त अपने स्रोत (ग्रन्थि-सहित मार्ग) से स्रुत हुआ करता है, श्लेषकादि कफ अपने मार्ग से स्रुत हो आशय में सचित होते हैं। वायु का स्रवण कुछ भिन्न स्वरूप का होता है। वह पक्वाशय में उत्पन्न होकर महास्रोत से अन्य स्रोतों में गृहीत होता है। यह उसका स्रवण है। रस अपने स्रोतों से स्रुत होता है। उससे शरीर-परमाणु अपने जीवन धारण, तर्पण, यापन के लिए उपयुक्त सामग्री प्राप्त करते हैं। उसके मार्ग में कभी अवरोध उपस्थित हो तो स्रवण अधिक होता है; जलोदर में अन्त्रों की श्लेष्मधरा (उदरधरा) कला में; जलपार्श्व या कफज हृद्रोग में फुप्फुस तथा हृदय की श्लेष्मधरा कलाओं में रस का स्रवण होकर संचय की उपलब्धि होती है।

स्रोत का व्यापक अर्थ : शरीर परमाणु या कोष—स्रोत शब्द की उक्त व्युत्पत्ति अवकाशमय अवयवमात्र की हो या धमनी तथा सिरा से भिन्न वहनशील अवयवों के लिए आए स्रोत शब्द की यह व्युत्पत्ति हो, स्रोतोविमान (च० वि० ५) अध्याय में स्रोतो का जो परिचय दिया है उससे विदित होगा कि इनका प्रमुख कर्म वहन करना तथा वाह्य द्रव्य को यथास्थान पहुँचा कर पोषणादि कर्म करना है। स्रवण शब्द का यही अर्थ लेना योग्य होगा। वहनात्मक यह व्यापार प्राचीनो ने जिन्हें शरीरपरमाणु कहा है उन 'सेल'-सज्ञक शरीर के चरमावयवों पर भी घटित होता है। इनमें रस धातु का स्रवण किवा स्थानानन्तर गमन वैसे ही होता है जैसे महास्रोत में अन्न और मल का, मूत्रवह स्रोतों में मूत्र का तथा रस-रक्तवह स्रोतों में रस-रक्त का। आयुर्वेदीय सहिताओं मे शरीर-परमाणु मे स्रुत (प्रविष्ट) हो उसके जीवनादि कर्म करने वाले रस का विशेष नामाभिधान नही दिया है, परन्तु वैदिक ग्रन्थों मे इसे अङ्ग रस नाम दिया गया है। एवं इससे पुष्टि आदि प्राप्त करता होने से पुरुष को अङ्गिरा नाम दिया गया है। स्रोत शब्द से यह अर्थ ग्रहण करने में स्रोतोविमान स्थान में आया एक वाद उपयोगी मार्गदर्शक सिद्ध हो सकता है। इसमें पूर्वपक्ष यह है : कई आचार्य मानते हैं कि यह संपूर्ण ही शरीर (पुरुष) स्रोतोमय है, स्रोतों से भिन्न कोई अवयव इसमें है

हैं नहीं। कारण, शरीरका सूक्ष्मातिसूक्ष्म कोई प्रदेश ऐसा नही है जिसमें रोग न होता हो। रोग के कारणभूत दोष को प्रकुपित करने वाले अपथ्य पदार्थ का इन परम सूक्ष्म अवयवो तक पहुँचाने वाला स्रोत कोई होना ही चाहिए। इसी प्रकार रोग-मुक्ति होती देखकर यह अनुमान किया जा सकता है कि रोगाक्रान्त सूक्ष्मातिसूक्ष्म भागतक पथ्यभूत रोग-प्रशमन औषध द्रव्यको पहुँचानेवाला कोई स्रोत भी होना ही चाहिए। इस प्रकार दोषों का प्रकोप या प्रशमन करने वाले द्रव्य सर्वगामी तथा सर्वसर होने से स्रोत भी शरीर मे सर्वत्र स्थित होने चाहिए। पूर्वपक्ष की स्थापना करने वाले मूल शब्द ये है : अपि चैके स्रोतसामेव समुदयं पुरुषमिच्छन्ति सर्वगतत्वात् सर्वसरत्वाच्च दोषप्रकोपण-प्रशमनानाम्---च० वि० ५।४।

आगे पूर्वपक्ष का निराकरण करते आचार्य उत्तरपक्ष की स्थापना करते कहते हैं : यह सत्य नही है---न त्वेतदेवम्। स्रोतरूप वे अवकाश जिस घटक से बने है, वे स्रोत जिस रसादि का वहन करते है तथा जिस मास धातु आदि का पोषण करते है एव वे स्रोत जिस शरीर-भाग पर स्थित है वह सव स्रोतों से भिन्न है, उनकी गणना स्रोतो में नहीं कर सकते। परिणामतया शरीर मे स्रोत से भिन्न ये चार भी होने से शरीर केवल स्रोतों से वना है, यह कहना साहस की वात है। तथाहि यस्य हि स्रोतासि, यच्च वहन्ति, यच्चावहन्ति, यत्र चावस्थितानि सर्व तदन्यत्तेभ्यः[1]। इतना अवश्य है कि स्रोतों की संख्या वहुत वडी है, अतएव कोई इन्हें अपरिसंख्येय (अगणित) मानते है, कोई इन्हे परिसख्येय ही मानते है---अतिवहुत्वात् खलु केचिदपरिसंख्येयान्याचक्षते स्रोतासि। परिसंख्येयानि पुनरन्ये।

किं वहुना, उत्तरपक्ष (सिद्धान्तपक्ष) यद्यपि यह स्थापित किया गया है कि पुरुष (जीवच्छरीर) स्रोतोमय नही है, तथापि पूर्वपक्ष पर दृष्टिपात करें जिसमें कहा है कि यह शरीर स्रोतोमय ही है, एव यह देखें कि इस पूर्वपक्ष के मानने वालों की सख्या अच्छी वड़ी होगी एव इस वात को ध्यान में लाएँ कि यह मत सत्य के निकट प्राय है इन कारणो से ही आचार्य ने इसे अपने तन्त्र मे स्थान दिया है, साथ ही उत्तरपक्ष देने के पश्चात् भी यह जो एकीय मत उद्धृत किया है कि स्रोत अपरिख्येय है---इन सव वातों पर एक साथ विचार करें तो यह मानना पडता है कि प्राचीनों ने शरीर के जिन चरमावयवों को शरीर-परमाणु कहा

१---यस्य हि स्रोतासि यद्घटितानीत्यर्थ, यच्च वहन्तीति यद्रसादि वहन्तीत्यर्थ, यच्चावहन्तीति यच्च पुष्यन्तीत्यर्थ, यत्र चावस्थितानीति यत्र मासादौ सवद्धानीत्यर्थ, तत् सर्व धमनीभ्यो (स्रोतोभ्यो) ऽन्यत्। तस्मान्न स्रोतोरूप एव पुरुष इत्यर्थ ---चक्रपाणि।

है तथा आधुनिकों ने जिन्हें 'सेल' कहा है वे भी स्रोत ही हैं। शरीर परमाणुओं का अतिवहुत्व तथा अपरिसख्येयत्व एव शरीर प्रायः इन्ही से बना होना, जिसके कारण यह शरीर एतन्मय ही (केवल इनसे बना) है ऐसी प्रतीति होना सुप्रसिद्ध है। इसके अतिरिक्त स्रोतो में होनेवाला स्रवण अर्थात् वाह्य द्रव्य की एक स्थान से स्थानान्तर पर गति जैसे महास्रोत, रसवह, पुरीषवह, मूत्रवह आदि स्रोतो में होती है वैसी ही गति रस धातु की (वैदिक शब्दो में अङ्ग रस की) इन शरीर परमाणुओं मे होती है। अङ्ग रस इनमे प्रविष्ट होकर इनके जीवन-धारण-तर्पण-यापन की क्रिया कर इनमें से वाहर जाता रहता है। इस कारण भी शरीर-परमाणु भी स्रोत·पदवाच्य है यह मानना आपतित है।

इस सम्बन्ध मे सुश्रुत ने जो एकीय मत दिया है वह भी द्रष्टव्य है। स्रोतों की गणना कर उसने कहा है कि एकेपा वहूनि—सु० शा० ९।१२। कइयों के मत मे स्रोत वहुत है। टीकाकार कहते हैं; वे स्रोत इस शास्त्र के विपय नही हैं। अत. उनका यहाँ निर्देश नही किया है. 'तान्यत्रानधिकृतानि' इति शेष। वास्तव में शरीर परमाणु रूप सूक्ष्म स्रोतों को ही लक्ष्य में रखकर आचार्य ने यह एकीय मत दिया है। पश्चात् उत्तरपक्ष दिया है कि शल्यतन्त्र मे सूक्ष्म स्रोतो का विचार नही होता। स्थूल दृश्य स्रोत ही उसके प्रतिपाद्य है।

सर्व शरीर परमाणुओ को स्रोत मानना अभिमत न हो तो भी सहितोक्त कतिपय स्रोतों का एकाश शरीर-परमाणु-विशेष है यह स्वीकारना ही पडेगा। अवकाशमय प्रणाली (डक्ट) ही केवल स्रोत है यह मन्तव्य उन पर पूर्णतया घटित न होगा। यथा, स्वेदवह स्रोत से आधुनिकोक्त स्वेद-ग्रन्थियों द्वारा उत्पादित स्वेद का वहन करनेवाली—उसे ग्रन्थियो से त्वक्पर्यन्त पहुँचानेवाली—प्रणाली का ही केवल बोध नही होता। कारण, स्वेदन या स्तम्भन द्रव्यों से जिस अवयव का विकास या संकोच हो कर स्वेदाधिक्य या स्वेदनाश होता है वह केवल यह प्रणाली नही है। स्वेद की इस क्रिया को लक्ष्य मे रखते हुए स्वेदवह स्रोत का अर्थ स्वेदजनक ग्रन्थि-सहित स्वेद-प्रणाली ही लेना उपयुक्त है। इसी दृष्टि से विचार करते हुए मूत्रवह स्रोत से वृक्क से मूत्रप्रसेक पर्यन्त सपूर्ण मूत्रयन्त्र का ग्रहण करना चाहिए। शुक्रवह स्रोत से शुक्रोत्पादक ग्रन्थियो से ले कर शिश्न पर्यन्त समग्र शुक्रयन्त्र का अर्थ-वोध करना चाहिए। आर्तववह स्रोत सज्ञा से इसी प्रकार अन्त फल (ओवरी)—सहित गर्भयन्त्र का ग्रहण होगा। पित्तवह तथा कफवह स्रोतों से भी उत्पादक ग्रन्थि-सहित वाहक प्रणाली ली जाएगी।

अस्तु। इस प्रकार कतिपय या सपूर्ण शरीर परमाणु प्राचीनोक्त स्रोत शब्द से गृहीत हुए प्रतीत होते है। स्थूल स्रोत भी जितने वर्णित है उतने ही नही है। स्वय चरकाचार्य ने स्रोतो की सज्ञा, उनके मूल तथा उनकी दुष्टि के

निदानादि का जो विवेचन किया है उसकी प्रस्तावना में यही कहा कि—हम केवल कुछ स्थूल स्रोतो के मूलादि का निर्देश कर रहे है। बुद्धिमान् पुरुष इन्हें दृष्टि में रख कर अनुक्त भी स्रोतो का ज्ञान प्राप्त कर लेंगे तथा अबुद्धिमानो के व्यवहार (चिकित्सा-व्यवसाय, प्रेक्टिस) के लिए जितने स्रोत बताए हैं उतने ही पर्याप्त हैं। देखिए .

तेषां तु खलु स्रोतसां यथास्थूलं कतिचित् प्रकारान्मूलतश्च प्रकोपविज्ञानतश्चानुव्याख्यास्यामः; ये भविष्यन्त्यलमनुक्तार्थज्ञानाय विज्ञानवता, विज्ञानाय चाज्ञानवताम् ॥ च० वि० ५।५।

अन्यत्र इनसे भिन्न भी स्रोतो का नाम तन्त्रकारो ने दिया ही है। यथा, स्वरवह स्रोत (सु० उ० ५३।३); शब्दवह स्रोत (सु० नि० १।८३) इत्यादि।

कायचिकित्सक तथा शल्यहर्ता दोनो ने अपने-अपने तन्त्र में उपयुक्तता को दृष्टि में रख कर भिन्न-भिन्न स्रोतो का निर्देश किया है। कोई स्रोत समान हो, तो उनके मूल का निर्देश कही कुछ भिन्न हुआ है। मूल के निर्देश में किस तन्त्रकार का क्या आशय है इसका उल्लेख ऊपर किया गया है। शेष, प्रत्येक तन्त्रकार ने अपने शास्त्र मे उपयुक्त स्रोतो का ही विचार किया है, इसका द्योतक प्रमाण यह है कि . स्रोतो के ग्यारह युग्मो का नामत निर्देश करने के अनन्तर सुश्रुत जी ने लिखा है येष्वधिकारः (सु० शा० ९।१२)—नाम ये स्रोत जिनका उल्लेख हमने किया है वे है, जिन पर हमारा अधिकार है, जो इस तन्त्र में हमारे प्रतिपाद्य हैं। अन्य स्रोत होने पर भी वे हमारे विषय नही है, इस बात की विशदता डल्हन ने उदाहरण दे कर टीका में की है।

स्थूल स्रोतो के प्राथमिक भेद दो है (१) वहिर्मुखः दो नासा स्रोत, दो नेत्र, दो कर्ण, एक मुख, एक मूत्र-प्रसेक, एक गुद पुरुषों में ये नव तथा स्त्रियो में दो स्तन तथा एक अपत्यपथ (योनि)-सहित बारह मार्गो को वहिर्मुख स्रोत कहते है। इन्हें दृश्य स्रोत भी कहते हैं। अध्यात्म ग्रन्थो में इन्हें नवद्वार भी कहा है। (२) योगवह स्रोत : प्राणवह स्रोत आदि को योगवह, अन्तःस्रोत, जीवितायतन या अदृश्य स्रोत कहा जाता है। वहिर्मुख की अनुकृति में इन्हें अन्तर्मुख स्रोत भी कह सकते है। चरक ने वहनशील मार्गो के जो पर्याय दिए है उनमें इन उभयविध स्रोतो को लक्ष्य में रख कर ही स्रोतों का एक पर्याय लक्ष्यालक्ष्य दिया है। इस नाम के अनुसार उक्त स्रोतोभेदो को लक्ष्य और अलक्ष्य नाम भी दे सकते है।

१—स्थल सु० शा० ५।९, १०, अ० स० शा० ६, अ० हृ० शा० ३।४०-४१ इन पर डल्हन, अरुण।

सरलता के लिए अर्श के भेदो के अनुसार बाह्य और आभ्यन्तर सज्ञा भी इन्हें दी जा सकती है।

स्रोतों के विषय में इतनी परिचयात्मक प्रस्तावना के अनन्तर अब इनकी दुष्टि, उसके कारण तथा उनके उपचार का विचार किया जाता है।

स्रोतो दुष्टि का सामान्य लक्षण

प्रत्येक स्रोत की दुष्टि का पृथक् लक्षण आगे देगे। सर्व स्रोतों की दुष्टि का सामान्य स्वरूप यह होता है :

अति प्रवृत्तिः सङ्गो वा सिराणा ग्रन्थयोऽपि वा।
विमार्गगमनं चापि स्रोतसा दुष्टिलक्षणम्॥
च० वि० ५।२४, अ० हृ० शा० ३।४५

अतिप्रवृत्तिरित्यादिना सामान्येन स्रोतोदुष्टिलक्षणमाह। अतिप्रवृत्तिरिह स्रोतोवाह्यस्य रसादेर्वोद्धव्या। एवं सङ्गोऽपि रसादेरेव। विमार्गगमनं च यथा—मलस्य मूत्रमार्गगमनमित्यादि॥ चक्रपाणि

अतिशयेन प्रवृत्तिः, यथा मूत्रवाहिस्रोतसा प्रमेहवद्बहुमूत्रता। सङ्गः अप्रवृत्ति., किंचिद्वा प्रवृत्तिर्मूत्रकृच्छ्रवत्। शकृद्वाहिना स्रोतसामतीसारवत्पुरीपातिसरणम् अतिप्रवृत्तिः। सङ्ग· स्तोकं स्तोकं कृत्वा पुरीपस्य प्रवृत्तिः, अथवा सर्वसर्विकया ('सर्वथा' इति पाठान्तरम्) उदावर्तवत् पुरीपस्याप्रवृत्तिः। एवं मूत्रवाहिस्रोतसा मूत्रातिप्रवृत्त्यप्रवृत्ती तत्स्रोतोदुष्टेर्लक्षणम्। तथैव पुरीपवाहिना पुरीपातिप्रवृत्त्यप्रवृत्ती पुरीपवाहिस्रोतो दुष्टेर्लक्षणम्। एवमन्येषामपि स्रोतसा यथायथं वस्तुवाहिना यथा स्वं वस्त्वतिप्रवृत्त्यप्रवृत्ती तेपा दुष्टेर्लक्षणम्। अथवा, सिराणा स्रोतसा ग्रन्थयः कुटिलभावत्वं दुष्टेर्लक्षणम्। विमार्गतो वेति—स्वं मार्गमुज्झित्वा मार्गान्तरासादनं स्रोतसा दुष्टेर्लक्षणम्॥ अरुणदत्त[1]

बहिर्मुख तथा योगवह दोनो ही प्रकार के स्रोतो की दुष्टि का सामान्य लक्षण यहाँ कहा गया है। स्रोतो की दुष्टि का सामान्य लक्षण यह है : बाह्य द्रव्य की

१—हृदयकार ने स्रोतो की दुष्टि का एव उनके मूल के वेध का सामान्य ही लक्षण दिया है। पृथक् लक्षण नही दिए है। इससे अनुमान होता है कि उनके काल मे स्रोतो की दुष्टि तथा मूल वेध का विचार कुछ शिथिल हो चुका था। आज तो वह सर्वथा नही रहा है।

अतिप्रवृत्ति या संग, अथवा स्रोतो की ग्रंथि, अथवा बाह्य द्रव्य का विमार्गगमन। इन पदो की क्रमश: व्याख्या की जाती है। स्रोतो की दुष्टि होने पर लिखित विक्रियाओ मे कोई भी एक या अधिक विक्रियाएँ हो सकती है।

दुष्टि का प्रथम लक्षण है बाह्य--द्रव्य की अतिप्रवृत्ति या संग। अति प्रवृत्ति का अर्थ है अधिक प्रमाण से निर्गमन। यथा, मूत्रवह स्रोतो की दुष्टि हुई हो तो मूत्र का अधिक प्रमाण में निर्गमन होता है, यथा प्रमेहों मे। मधुमेह-प्रभृति प्रमेह मात्र मे मूत्र की आविलता तथा प्रभूतता ये दो समान लक्षण होते है। आविलता का अर्थ है जो शरीरोपयुक्त धातुपोषक द्रव्य सामान्यतया मूत्रमार्ग से प्रवृत्त नही होते उनकी प्रवृत्ति। इनके कारण मूत्र में आविलता (मालिन्य, एब्नॉर्मेलिटी) आ जाती है। साथ ही मूत्र की प्रभूतता--संख्या और प्रमाण की दृष्टि से बाहुल्य--यह द्वितीय लक्षण प्रमेह मात्र में होता है। अतएव, प्रमेहो के सामान्य लक्षण बताते तन्त्रकार ने कहा है 'तत्राविल प्रभूतमूत्रलक्षणाः सर्व एव प्रमेहा भवन्ति (सु० नि० ६।६)। नवीनो ने कहा है कि मधुर प्रमेहो मे (इक्षुमेह या इक्षुवालिकामेह, शीतमेह तथा मधुमेह या क्षौद्रमेह में) ओज अर्थात् सर्व धातुओ के सारभूत मधुर द्रव्य का निर्गमन मूत्रमार्ग से इस प्रकार नही हो सकता जैसे हम किसी कूडा-कर्कट को शुष्क अवस्था मे ही उठाकर हाथ से बाहर फेक देते है। प्रकृति (नेचर) या आयुर्वेद के शब्दो में भगवान् वायु इसे जलमिश्रित करके ही बाहर फेंक सकती है और फैंकती है। अतएव इस रोग में प्रव्धातु क्षीण होने से पिपासा यह विशिष्ट लक्षण होता है। आयुर्वेद ने यह स्थिति प्रमेहमात्र के विषय मे बताई है। प्रमेह मात्र में मूत्र मार्ग से नि सृत होते धातु का शारीर द्रव द्रव्यों से एकीभाव (मिश्रण) अवश्य होता है। उक्त सूत्र की टीका मे गयदासने कहा है--दूष्याणा द्रवैरेकीभूतत्वान्मूत्र प्रभूतत्वम्।--मेद, रक्त, मास, वसा, मज्जा, शुक्र, उदक, वसा, लसीका और ओज इन दूष्यो का इस रोग मे (शरीर गत आकृष्ट हुए) द्रवो से एकीभाव होता है, अतएव मूत्र का प्राचुर्य होता है। चरक ने स्पष्ट ही कहा है कि--प्रमेह मे प्रधान दोष कफ होता है (प्रमेहहेतुः कफकृच्च सर्वम्--च० चि० ६।४)। और वह कफ बहुद्रव होता है, अल्पद्रव नही।--बहुद्रवः श्लेष्मा दोषविशेषः--च० नि० ४।६। चक्रपाणि ने विशदता करते लिखा है--बहुद्रव एव कफो मेहजनको नाल्पद्रव इति।

किं बहुना, प्रमेहो मे मूत्र की जो अतिप्रवृत्ति होती है वैसी अतिप्रवृत्ति बाह्य द्रव्य की होना यह स्रोतो की दुष्टि का अन्यतम लक्षण है। किंवा दुष्टि के कारण संग भी स्रोतो मे हो सकता है। सग का अर्थ है अप्रवृत्ति; यथा मूत्रकृच्छ्र मे मूत्र की सर्वथा या न्यूनाधिक अप्रवृत्ति होती है। पुरीषवह स्रोतो के उदाहरण से इन लक्षणो को विशद करना हो तो कह सकते है कि, अतिसार मे जैसे पुरीष का

अतिसरण (अति प्रवृत्ति) होती है वैसी ही अपने-अपने वाह्य द्रव्य की अतिप्रवृत्ति अन्य स्रोतों की दुष्टि होने पर होती है। इसी प्रकार कभी पुरीष की अल्पाल्पशः प्रवृत्ति होती है, किंवा उदावर्त (पुरीषवह स्रोत का ग्रथित मल से अवरोध) संपूर्ण हो तो प्रवृत्ति सर्वथा नही होती। पुरीषवह स्रोतो की दुष्टि होने पर जैसे यह दो प्रकार का संग उनके वाह्य द्रव्य पुरीष का होता है वैसा ही सग अन्य स्रोतों की दुष्टि होने पर उनके वाह्य द्रव्य का हुआ करता है।

मूत्रवह और पुरीषवह स्रोतों की दुष्टि वहिर्मुख स्रोतो की दुष्टि का स्वरूप समझाने में उपयुक्त है। स्वेदवह स्रोतो की दुष्टि होने पर इसी प्रकार स्वेद की अति प्रवृत्ति (स्वेदाधिक्य) अथवा स्वेद का सग (स्वेद-नाश) होते है। प्राणवह स्रोतों की दुष्टि होने पर इसी प्रकार प्राणवायु की अतिप्रवृत्ति--श्वसन द्रुत तथा दीर्घ होना--किंवा संग--श्वसन मन्द या क्षीण होना--ये परस्पर-विपरीत लक्षण होते हैं।

योगवह स्रोतों की दुष्टि होने पर भी इसी प्रकार अतिप्रवृत्ति या संग ये लक्षण होते हैं[1]। यथा, रसादि धातुओं की इस प्रकार अतिप्रवृत्ति या संग अपने-अपने स्रोतो के दुष्ट होने पर होते है। अतिप्रवृत्ति होने का अर्थ वाह्य द्रव्य की अधिक प्रमाण में या अधिक वेग से गति समझना चाहिए। इसके कारण स्रोतों की पूर्णता होती है। 'सिरापूर्णता' का उल्लेख प्राचीनों ने किया है। संग का अर्थ है वाह्य द्रव्य का सर्वथा अवरोध या न्यूनाधिक अवरोध। रस धातु का इस प्रकार संग होने से शोथ, श्लीपद आदि रोग होते हैं। जलोदर में उदर की श्लेष्मधरा कला (उदरधरा) में या तो रस धातु की अतिप्रवृत्ति (अति स्राव) होता है, या उसकी हृदय के प्रति गति मे संग होता है। दोनो में कौन-सी स्थिति रोग में हेतु-भूत है यह निर्णय कर चिकित्सा का मार्ग निश्चित करना चाहिए। जलपार्श्व (प्राचीनों का कफज पार्श्व-गुल्म) में भी रस धातु की अतिप्रवृत्ति या सग दोनों में एक स्थिति हो सकती है। गुल्म मे वायु का इसी प्रकार संग होता है। कामला शाखाश्रित हो तो उसमें कफ द्वारा पित्तवह स्रोतों की दुष्टि होकर पित्त का संग (पच्यमानाशय मे अप्रवृत्ति) होती है। इस प्रकार अन्तर्मुख स्रोतों के वाह्य द्रव्यों की अतिप्रवृत्ति या अप्रवृत्ति के उदाहरण देखे जा सकते हैं।

स्रोतोदुष्टि का द्वितीय लक्षण **विमार्गगमन** है। इसका उदारण चक्रपाणि ने दिया है--पुरीष का मूत्रमार्ग मे गमन। दुष्टि के इस उदाहरण से

१--अति प्रवृत्ति या सग को विशद करने के लिए अरुणदत्त ने मूत्रवह तथा पुरीषवह स्रोतो को उदाहरणतया प्रस्तुत किया है, जब कि चक्रपाणि ने अन्तर्मुख स्रोतो मे स्रवण करनेवाले रसादि धातुओ को स्मरण किया है।

ऐसी नाडी (नाडीव्रण) की कल्पना होती है जिसके द्वारा पक्वाशय और मूत्राशय का परस्पर सम्बन्ध हो गया हो, जिससे पुरीष यत्किंचित् मूत्राशय में आए। यह स्थिति नव्य प्रत्यक्षानुसार सद्य प्राणहर है। कायचिकित्सा के ग्रन्थ में इस स्थिति का उदाहरणतया निर्देश नही किया जा सकता। इसका अर्थ यह हो सकता है कि, मलमार्ग में अवरोध उपस्थित होने पर पुरीष के अङ्गभूत द्रव्य प्रसृत हो, सर्वशरीर मे संचार करते हुए मूत्रयन्त्र में भी पहुँचें और उसमें अपने गन्ध, वर्ण को संक्रान्त कर दें। विमार्गगमन का सत्यार्थ प्रमेहों या रक्तपित्त से विशद होता है। प्रमेह मे वसा, रक्त, मेद, ओज आदि द्रव्य अपने-अपने स्रोत का परित्याग कर मूत्रमार्ग में आ जाते है। यह उनका विमार्गगमन या उन्मार्गगमन है। रक्तपित्त में इसी प्रकार रक्त अपने स्रोत को छोड पुरीपमार्ग, मूत्रमार्ग, प्राणवह स्रोत आदि जिस मार्ग से वह प्रवृत्त होता है उसमें उसकी गति होती है। राजयक्ष्मा में रस धातु का स्रोत कफ से अवरुद्ध होता है। अत. उसकी विपरीत दिशा में गति होती है। इसे 'वि-वर्धते' शब्द द्वारा चरकाचार्य ने प्रदर्शित किया है। यह रस कफ के रूप मे वहि प्रवृत्त होता है। इस स्थिति को रस धातु का प्राणवह स्रोतों के मार्ग में गमन कहा जाता है। आर्तववह स्रोतो की दुष्टि (अवरोध, उदावर्त) हो तो आर्तव की प्रवृत्ति न होकर वह नासा आदि मार्गो से प्रवृत्त होता है। (इसे अंग्रेजी में 'विकारिअस मेन्स्ट्रुएशन') कहा जाता है। इसी पद्धति से विमार्गगमन के अन्य उदाहरण देखे जा सकते है। सत्य तो यह है कि रोगमात्र में दोष अपना स्थान छोड़ कर, प्रसृत हो जो अन्यत्र स्थानसंश्रय करते हैं वह उनका विमार्गगमन या उन्मार्गगमन ही होता है।

स्रोतोदुष्टि का तृतीय लक्षण स्रोतों की ग्रन्थियाँ हो जाना है। इसका अर्थ अरुणदत्तने 'कुटिलभाव' दिया है। स्रोतों के प्रकारोंमें एक सिराओ का कौटिल्य प्रसिद्ध है। सुश्रुत-शारीरस्थान के सिरावर्ण-विभक्ति अध्याय तथा धमनी व्याकरण अध्याय का आमूलाग्र विचार करें तो यह सत्य आपतित होता है कि सिरा शब्द सामान्यवाचक भी है और विशेषवाचक भी। जैसे निदान, कषाय, वीर्य, प्रभाव, गुण, स्पर्शज्ञान, स्पर्शेन्द्रिय, मधुमेह, यवागू, यक्ष्मा, ज्वर आदि शब्द आयुर्वेद में सामान्य और विशेष दोनो के वाचक प्रसिद्ध हैं वही स्थिति सिरा शब्द की भी है। सामान्यतया इससे शल्यतन्त्र में नवीनो के आर्टरी, आर्टीरिओल, केपीलरी, वेन्यूल, लिम्फेटिक्स और वेइन्स सवका ग्रहण होता है। कायचिकित्सा मे तो जैसा पहले कह आए हैं वहन कार्य करनेवाले अवकाशमय अवयवमात्र का इससे ग्रहण होता है। विशेष अर्थमे यह सिरा शब्द केवल वेइन्स का वाचक है। सिरा शब्द सामान्यतया सभी रस-रक्तवाहिनियो का वाचक है यह इस बात से सिद्ध है कि सिराएँ नाभि या हृदय से निकल कर शाखा-प्रशाखाओ के

रूपमें शरीर में फैलकर उसके पोषणादि कर्म करनेवाली कही गयी है। भेल में सिराओं को शरीर के पोषणादि कर्म करके पुनः हृदय मे आनेवाली कहा गया है। विशेष अर्थ में सिरा शब्द वेइन्स के लिए प्रयुक्त होता है यह इस बात से सिद्ध है कि रक्तमोक्षण का एक प्रकार सिराव्यध है। सिराव्यध में सभी रस-रक्तवाहिनियो का वेध ग्राह्य नही हो सकता। आर्टरी के वेधका परिमाण सुप्रत्यक्ष है। अतः सिराव्यध आदि प्रकरण में सिरा शब्द विशेषार्थ में ही व्यवहृत हुआ समझना चाहिए। इस दृष्टि से विचार करें तो यह भी निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि जो सिराएँ वेध्य कही गयी हैं वे अमुक-अमुक वेइन्स की वाचक हैं। शेष अवेध्य सिराएँ तत्तत् आर्टरी की (अथवा अमुक स्थूल वेइन्स की) वाचक होना सभव हे। यह कल्पना सत्य हो तो, नवीन रचनाशरीर के विद्वान् विवेचन कर इस बात का विनिश्चय कर सकते हैं कि कौन-कौन सिरा किस-किस आर्टरी या वेइन की वाचक हे।

सिरा और धमनी शब्दो के अर्थ-विनिश्चयार्थ दो-एक अन्य बातें भी प्रस्तुत की जा सकती हैं। धमनी व्याकरण अध्याय (सु. शा. ९) के आरम्भ में सुश्रुत ने यह विचार किया है सिरा, धमनी और स्रोत भिन्न हैं या अभिन्न? वहाँ पूर्वपक्ष यह है कि सिरा विकारा एव धमन्यः स्रोतासिच : नाम, धमनी और स्रोत सिराओं के ही भेद हैं। यह पूर्वपक्ष रखकर आगे ये तीनों भिन्न हैं यह उत्तरपक्ष प्रस्तुत करते हुए आरम्भ में कहा है : तत्तु न सम्यक् : यह समीचीन नही है। मेरा नम्र मत है कि जहाँ आचार्य इन शब्दोंको प्रयोग करते हैं वहाँ यह अर्थ नहीं समझना चाहिए कि पूर्वपक्ष सर्वात्मना असत्य है और उत्तरपक्ष सर्वात्मना सत्य है। किन्तु 'तत्तु न सम्यक्' के ऊपर स्थापित पूर्वपक्ष और उसके नीचे स्थापित तथाकथित उत्तरपक्ष दोनों मिलकर संपूर्ण सत्य सिद्धान्त बनता है। एवं 'तत्तु न सम्यक्' का अर्थ यह होगा कि—यह बात सपूर्णतया सत्य नहीं है, अशतः सत्य है। 'तत्तु न सम्यक्' शब्द से आचार्य का यही अर्थ अभिप्रेत होता है, इस बात को एक-दो उदाहरणो से विशद करता हूँ।—

विशिखानुप्रवेशनीय अध्याय (सु. सू. १०) के आरम्भ में रोगविज्ञान के उपायों का निर्देश करते हुए प्रथम कहा है कि आतुरमभिपश्येत्, स्पृशेत् पृच्छेच्च। त्रिभिरेतैर्विज्ञानोपायै रोगाः प्रायशो वेदितव्या इत्येके (सु. सू. १०।४)। रोगी का दर्शन करे, स्पर्शन करे और प्रश्न करे। इन तीन रोगविज्ञानोपायो से ही प्राय रोगो की जानकारी प्राप्त करनी चाहिए, ऐसा कुछ एक कहते हैं। आगे आचार्य कहते हैं —तत्तु न सम्यक्। यह कह कर आचार्य ने कहा है—षड्विधो हि रोगाणां विज्ञानोपायः—पञ्चभिः श्रोत्रादिभि· प्रश्नेन च।—रोगज्ञान के छ उपाय हैं : श्रवण, स्पर्शन, दर्शन, रसन, घ्राणन और प्रश्न। यह सुविदित है कि

दर्शन आदि तीन परीक्षाएँ आयुर्वेद-शास्त्र में सर्वसंमत हैं। उनका खण्डन आचार्य ने 'तत्तु न सम्यक्' इत्यादि पदों से किया है यह नहीं कह सकते। उनका आशय यही है कि, 'तत्तु न सम्यक्' इस सेपूर्व और पर स्थित वचनो से सपूर्ण सिद्धान्त का निर्देश होता है। रोग परीक्षा के तीन उपाय हैं सो तो हैं ही, उन्ही का विस्तार छ परीक्षाओं के रूप में होता है। इसी दृष्टि से सिरावर्ण विभक्ति अध्याय में आए 'तत्तु न सम्यक्' वचन का भी अर्थ कर सिद्धान्त को समझना चाहिए।

चरक-सहिता में आए ऐसे वचनो का भी इसी प्रकार अर्थ होता है यह वात इसी अध्याय में आए एक प्रकरण से समझी जा सकती है। 'स्रोत' शब्द का कितना विस्तृत अर्थ होता है यह विषय इस अध्याय में चर्चा जा चुका है। उसमें तथाकथित पूर्वपक्ष यह था कि—कई विद्वान् जीवच्छरीर को केवल स्रोतोमय कहते हैं। आगे तथाकथित उत्तरपक्ष की स्थापना के पूर्व कहा है—न त्वेतदेवम्। इसका सीधा अर्थ तो यह है कि यह वात ऐसी नहीं है। आगे कहा है कि—तत्तत् कारण से स्रोतों से ही शरीर वनता है यह वात नही है। यह पक्ष रखकर भी स्रोतो को अपरिसख्येय कह कर पूर्वनिर्दिष्ट मत का भी स्वीकार किया ही है। वहाँ भी यही तात्पर्य निकलता है कि 'न त्वेतदेवम्' शब्द के ऊपर और नीचे दोनो स्थलों पर आए वचनो से प्रतिपादित अर्थ मिलकर यह संपूर्ण सिद्धान्त वनता है कि स्रोत इतने अधिक हैं कि शरीर स्रोतोमय ही है यह कहा जा सकता है। 'स्रोत' का अर्थ शरीर-परमाणु (कोष, सेल) लें तो यही अर्थ निष्कृष्ट भी होता है। एवं, 'न त्वेतदेवम्' का आशय भी यही लेना योग्य है कि यह वात सर्वात्मना सत्य नहीं है। किं वहुना, सिरावर्ण विभक्ति अध्याय की प्रस्तावना का तात्पर्य यही होगा कि, सिरा शब्द सामान्यतया रस-रक्तवह स्रोतमात्र का वाचक है और इस दृष्टि से धमनी और स्रोत को भी सिरा का भेद (विकार) ही कहना चाहिए। परन्तु विशेष अर्थ में भी सिरा शब्द का व्यवहार होता है और तव तीनो को भिन्नार्थक मानना चाहिए। धमनी शब्द सिरा-विशेष या आर्टरीज का वाचक है यह वात एक अन्य प्रकरण से भी सिद्ध की जा सकती है।—

धमनीव्याकरण अध्याय के आरम्भ में ही कहा है—चतुर्विंशतिर्धमन्यो नाभिप्रभवा अभिहिताः (सु. शा. ९।३)।—पहले कह आए हैं कि नाभि से चौवीस धमनियाँ उत्पन्न होती हैं। कहाँ कहा है? इसकी स्पष्टता स्वयं डल्हन ने की है : अभिहिताः उक्ताः। 'शोणित वर्णनीये' इति शेषः। अर्थात् यह बात पहले शोणितवर्णनीय अध्याय (सु. सू. १४।३) में कही गयी है। उक्त अध्याय में जो वचन आया है वह यह है : स (रसः) हृदयाच्चतुर्विंशतिर्धमनीरनुप्रविश्य...अर्थात् रस हृदय से चौवीस धमनियों द्वारा सर्वशरीर मे अनुप्रविष्ट होता है। दोनों वचनो से एक ही अर्थ का प्रतिपादन किया गया है यह

तन्त्रकार तथा टीकाकार कहते हैं। जो वस्तु देखने की है वह यह है कि धमनियों का उद्भवस्थान एक वचन में हृदय को बताया है और दूसरे वचन में नाभि को। इस से यह अर्थ अनायास आपतित होता है कि नाभि और हृदय शब्द ऐसे प्रकरणों में एकार्थवाचक हैं। इसकी स्पष्टता थोड़े शब्दो में कर लें।

हृदय को चक्र की उपमा वैदिक वाङ्मय में दी गयी है। चक्र (पहिए) में मध्य में 'नाभि' होती है और उसके चतुर्दिक् अरे होते हैं। हृदय में अर-स्थानीय वे स्रोत हैं जो रस-रक्त को इससे बाहर ले जाते हैं तथा इसमें लाते हैं। शेष नाभि इन स्रोतो के मध्य में स्थित कमल-सदृश अवयव है। अर्थात् वेद तथा आयुर्वेद में हृदय शब्द का अर्थ केवल 'हार्ट' नही है, किन्तु 'हार्ट विथ वेसल्स'—अन्तर्मुख एवं वहिर्मुख सर्व स्रोतो समेत हार्ट—वेद तथा आयुर्वेद का हृदय है। हृद्रोग शब्द से स्रोतो-सहित हृदय के रोगों का ग्रहण करना चाहिए। सिरा, धमनी और हृदय के विषय में इस दृष्टि से शास्त्रो को समक्ष रख कर विचार किया जाए तो बहुत-सी उलझन मिट सकती है।

किं बहुना, इतना प्रासंगिक विवेचन कर अव पुनः प्रकरण का विचार किया जाता है। मूल प्रकरण यह है कि, स्रोतों की दुष्टि का तृतीय लक्षण है उनकी ग्रन्थि हो जाना। इसका अर्थ अरुण ने दिया है उनका कुटिलभाव। इसी को 'सिराकुञ्चन' भी कहते हैं। सिरागत वात का लक्षण सुश्रुत ने दिया है—कुर्यात् सिरागतः शूलं सिराकुञ्चन पूरणम्—सु. नि. १।२७। यहाँ सिरा-कुञ्चन का अर्थ डह्लन ने दिया है—सिरा कुञ्चनं 'कुटिला सिरा' इति लोके। इस अवस्था में सिराएँ फूल जाती हैं तथा टेढ़ी-मेढी हो जाती हैं। अंग्रेजी में इसे 'वेरीकोज्ड वेइन्स' या 'वेरीकोसिस' कहते हैं। नवीनो के मत से गुदगत अर्श सिराकौटिल्य ही है। प्राचीनो ने इन्हें मांसाकुर कहा है। मास (या अन्य किसी धातु, उपधातु मल या दोष) का क्षय हो तो वायु का प्रकोप होता है। वायु के प्रकोप के दो कारणो में एक धातुक्षय है। रक्तधरा कला को मासधातु के अन्तर्गत स्थित कहा गया है (देखिए : रक्तधरा मांसस्याभ्यन्तरतः। तस्यां शोणितं विशेषतश्च सिरासु यकृत्प्लीह्नोश्च भवति—सु. नि. ४।१०)। यह रक्तधरा कला केशिकाओ के रूपमें हो या सिराओं के रूपमें (आर्टरीज आदि के रूपमें) या यकृत्प्लीहा में स्थित रक्ताशयो के रूप में—सर्वत्र यह रक्तधातु से आवेष्टित होती है। केशिकाओं में इसके चतुर्दिक् पेशीरूप मांस होता है तथा सिराओ में उनके मांसमय मण्डल (मस्क्युलर कोट) के रूप में मांसधातु होता है। अर्श में गुदगत सिराओ को वेष्टित करनेवाला मास (मासमय मण्डल) सहज कारणों से या जन्मोत्तरकालज कारणो से क्षीण और दुर्बल होता है एवं यत्किंचित् भी दवाव से पराजित हो जाता है। सिरागत मांस धातु की इस क्षीणता को ही

अ॰ शब्दों में उनमें वायुका कोप कह सकते है। इसके कारण यत्किञ्चित्—कि वहुना प्राकृत भी—दवाव से सिराएँ फूल जाती है। इस प्रकार सिराओ का बलाबल मासमय मण्डल के ही अधीन होने से उसका दौर्वल्य ही अर्शो की उत्पत्ति मे कारणभूत है। अतएव मासधातु को लक्ष्य में रखकर ही इन्हें मासाकुर कहा है। उपचार में भी रोगी को मास के सेवन का उपदेश किया है।

यह शङ्का की ही नही जा सकती कि प्राचीनों ने अर्श सिराओ की विकृति है इस बात को प्रत्यक्ष नही किया होगा। प्राचीनों ने रोगजन्तुओ जैसे सूक्ष्माति-सूक्ष्म पदार्थो का भी प्रत्यक्ष किया था, जिसके प्रत्यक्षीकरण के अनेक प्रमाणों में महाभारतकार का यह वचन प्रस्तुत किया जा सकता है—सकृत्पक्ष्मनिपातेन येषां स्यात्स्कन्धपर्ययः—ये रोगजन्तु इतने सूक्ष्म होते है कि एक वार पलक झपकें तो सहस्रो जीवाणुओं के कन्धे उतर जाते है। इससे सिद्ध है कि प्राचीनों ने रोग-जन्तुओ के सूक्ष्म प्रत्यङ्गो का भी—उनकी प्रकृति-विकृति का भी—प्रत्यक्ष किया था। तभी तो उन्होंने कन्धों के उतरने का—अससन्धि की विच्युति का—उल्लेख किया है। रोगों का अनेक बाहु, पाद, शिर आदि अवयवों वाले राक्षसो के रूप में वर्णन उपलब्ध होता है। संभव है, आज के अणुवीक्षण यन्त्रों द्वारा जिन जन्तुओ का स्वरूप दण्ड, कौमा, विन्दु आदि के रूपमें होता है, प्राचीनों ने किसी साधन द्वारा उनकी सूक्ष्मता का इस से भी अधिक प्रत्यक्ष किया होगा और उनके हस्तपादादि अवयव उनके देखने में आए होंगे, जिनका यथास्थित वर्णन रोगो के राक्षसाकृति स्वरूप के नाम से प्राचीनो ने किया है।

रक्तधरा कला मास के अन्तर्गत होती है, इस बात की स्मरणीयता आयुर्वेद मे एक अन्य प्रकार से भी है। जीवन-सग्राम की विकटता के कारण हुई चिन्ता, क्षोभ, विषाद आदि का प्रभाव मांसपेशियो पर होता है। वे स्तब्ध हो जाती है। उनका पीडन तदन्तर्गत रक्तधराकला-रूप केशिकाओं पर होता है। इस पीडनवश पीडित हो कर तदन्तर्गत रक्त धमनियों तथा हृदय में ही सचित रह कर प्रमाण के आधिक्य के कारण उनमें रक्त के दबाव को भी वढा देता है। जीवन-सग्राम के घर्षण की निरन्तरता के कारण यह तनाव प्राय. रहे तो शनै -शनै धमनियो में स्थायी रचनात्मक विकृति हो जाती है। यह आज-कल के घर्षणात्मक जीवन में होनेवाली अकाल-मृत्यु का कारण है। प्राचीनकाल में दो या तीन वार सध्या, आसन, प्राणायाम आदि किये जाते थे। इसके अतिरिक्त कोई पचास वर्ष की वय होने पर पुरुष ससार से निवृत्ति ले लेते थे। संध्या के अन्तर्गत हुई मानसिक क्षोभ-रहितता से पेशियाँ शिथिल होती हैं, शवासन आदि आसनों के प्रभाव से भी पेशियो में शिथिलता आती है। पेशियाँ शिथिल होने से केशिकाओ में और उनके

कारण धमनियों में भी रस-रक्त का दबाव न्यून होकर उनमे उल्लिखित अकाल-मृत्यु जनक स्थिति उत्पन्न होने नही पाती। इसी भूयोदर्शन के आधार पर महाभारतकार ने कहा है : ऋषयो नित्यसंध्यत्वाद् दीर्घमायुरवाप्नुवन्—ऋषि अपने नित्य संध्या के शील के कारण दीर्घ आयु प्राप्त किया करते थे। आयु का प्रतिपादन करनेवाले आयुर्वेद की ओर से विश्व को जीवन को सुखी बनानेवाला यह परम सदेश है।

स्रोतो की दुष्टि के कारण—

स्रोतो की दुष्टि के कारण जिस पद्य में चरक तथा वाग्भट ने उद्धृत किए हैं, उसमें 'धातु' शब्द का उपयोग हुआ है। वहाँ आए 'धातु' शब्द के अर्थ का प्रकरणानुसार अर्थ प्रथम निश्चित कर सकें तो उस पद्य का अर्थ सुबोध हो जाएगा।

स्रोत का जो परिचय चरक ने दिया है, उसमें कहा है कि, तत्-तत् रूप में परिणत (परिवर्तित) होते हुए 'धातुओं' का अभिवहन इन स्रोतों द्वारा हुआ करता है—स्रोतांसि खलु परिणाममापद्यमानाना धातूनाम् अभिवाहीनि भवन्ति च. वि. ५।३। पहले कह आए है कि यहाँ धातु शब्द केवल रस-रक्तादि सात के अर्थ में मर्यादित नही है। इसी वचन के पूर्व चरकाचार्य ने कहा है—पुरुष में (जीवच्छरीर में) जितने भी मूर्तिमान् पदार्थ है उतने ही इसमे स्रोत हैं। कारण, स्रोतो द्वारा ही इन पदार्थो की उत्पत्ति हो सकती है—विना स्रोत नही—यावन्तः पुरुषे मूर्तिमन्तो भावविशेषास्तावन्त एवास्मिन् स्रोतसां प्रकार विशेषाः। सर्वे हि भावाः पुरुषे नान्तरेण स्रोतांस्यभिनिर्वर्तन्ते।

आगे यह कह कर कि स्रोत असख्य है, स्रोतोदुष्टि की चिकित्सा का मार्ग समझाने के लिए चरक ने कुछ प्रधान स्रोत पसन्द कर उनका नाम, उन की दुष्टि के कारण, लक्षण तथा चिकित्सा का उपदेश किया है। इन स्रोतों में सात धातुवह स्रोतो के साथ प्राण, जल, अन्न, मूत्र, पुरीष और स्वेद का भी परिगणन चरक ने किया है। उससे प्रतीत है कि स्रोतों द्वारा वाह्य धातु केवल रसादि सप्त नही है। धारणकर्ता होने से प्राणादि सभी द्रव्य इस प्रकरण में धातुपदवाच्य हैं।

इसी अध्याय के अन्तमें स्रोतों का परिचय देते चरक ने प्रथम विशेषण दिया है—स्वधातुसमवर्णानि (च. वि. ५।२५)। दीपिकाकार ने इस का अर्थ दिया है—वाह्य धातुतुल्यवर्णानि—नाम, जो स्रोत जिस धातुका वहन करता है, उसके सदृश ही उसके वाहक स्रोत का वर्ण होता है। यही पद्य वाग्भटने भी उद्धृत किया है (अ. हृ. शा. ३।४३)। वहाँ उक्त विशेषण की स्पष्टता करते आयुर्वेद-

रस...नकार कहते हैं—स्वो धातुः स्वधातुः। यो यो यस्य यस्य स्रोतस आधारस्याधेयत्वेन स्थितो धातुः तेन तेन स्वधातुना समः समानो वर्णो येषा स्रोतसां तानि स्वधातुसमवर्णानि रसवहस्रोतांसि, यावच्छु क्रधातु-सदृशवर्णानि शुक्रवाहिस्रोतांसि।। अरुणदत्त ने यहाँ कहा है कि आधारभूत स्रोत जिस आधेय या वाह्य द्रव्य का धारण या वहन करता है, उसके सदृश ही उस का वर्ण होता है। यथा, रसवाही स्रोत का वर्ण रसधातु के सदृश होता है, शुक्रवाही स्रोतो का वर्ण शुक्र के सदृश होता है...इत्यादि।

इतनी स्पष्टता के पश्चात् अब स्रोतों की दुष्टि के कारणों पर दृष्टिपात करें। प्रत्येक स्रोत की दुष्टि के पृथक् कारण भी होते हैं, जिनका उल्लेख उनके पृथक् वर्णन में देंगे। स्रोतों की दुष्टि के सामान्य कारण अधोनिर्दिष्ट हैं—

आहारश्च विहारश्च यः स्याद् दोषगुणैः समः।
धातुभिर्विगुणश्चैव स्रोतसा स प्रदूषकः॥
च० वि० ५।२३, अ० हृ० शा० ३।४४

आहारश्चेत्यादिना सामान्येन सर्वस्रोतोदुष्टिमाह। दोषगुणैः सम इत्यनेन दोषातिवर्धकत्वं दर्शयति। × × धातुभिर्विगुण इति धातुविरोधकस्वभाव इत्यर्थः, न तु धातुविपरीतगुणो विगुणः। दिवास्वप्नमेद्यादयो हि मेदसा समानगुणा एव मेदोदूषका उक्ताः॥ चक्रपाणि × × × यश्चाहारस्तथा विहारो धातुभिः इत्यादिभिः, विगुणो विरुद्धगुणो रससमानगुणैर्विपरीतगुणः × × ॥ अरुणदत्त।

जो आहार तथा जो विहार दोषो के गुणो के समान हो—उसमें वही गुण हो जो तत्-तत् दोष में होते हैं, अत एव जो दोषों के गुणों की अतिवृद्धि करे—दोषो को प्रकुपित करे, एवं जो आहार-विहार धातुओ के —अर्थात् स्रोतो द्वारा वाह्य द्रव्यों के—स्वभाव के विरुद्ध हो—उनमें दुष्टि करनेवाला हो वह स्रोतो को दुष्ट करता है।

इस प्रकार स्रोतो की दुष्टि के कारणो के प्रथम दो भेद होते हैं—दुष्टिजनक आहार तथा दुष्टिजनक विहार। इनमे भी प्रत्येक के दो भेद होते है—दोष-प्रकोपक आहार-विहार तथा स्रोतोवाह्य द्रव्यो को दूषित करनेवाला आहार-विहार।

प्रकुपित हुए दोष स्रोतों में तत्-तत् विकृति उत्पन्न कर उनमें अवरोध उत्पन्न करते हैं। इस दुष्टि का विचार अनेकश. किया जा चुका है। वाह्य द्रव्य की दुष्टि करनेवाला आहार-विहार उनकी वृद्धि, क्षय या रूपान्तर तीनो में कोई भी स्थिति उत्पन्न करे तो उसे धातु-विरुद्ध कहा जाता है। उदाहरणतया, रसवाही

स्रोतो की दुष्टि करनेवाले गुरु-स्निग्ध आदि अन्नपान रसधातु की वृद्धि करते हैं ; परन्तु अति चिन्ता रसधातु का क्षय करती है। वृद्धि को प्राप्त हुआ रस अपने गौरव द्वारा रसवह स्रोतो में भी गुरुता तथा मन्दता उत्पन्न करता है। यह रसवाही स्रोतो की दुष्टि का एक स्वरूप है। अन्य गुणों के अन्य परिणामो की इसी पद्धति से कल्पना कर लेनी चाहिए। अति चिन्ता से रस धातु क्षीण होने से होते सिराशैथिल्य के सदृश रसवाही स्रोतो का शैथिल्य भी पूरक रस धातु की अल्पता के कारण होता है। इन दोनो दुष्टियो के कारण दूरगामी परिणाम होते हैं। यथा, रसवह स्रोतो की दुष्टि के कारण इतर धातुओ की पुष्टि न्यून होना--उनका क्षय तथा दौर्बल्य, एवं उनके कारण तत्-तत् रोग की उत्पत्ति इत्यादि।

स्रोतों की दुष्टि के ये सामान्य लक्षण तथा कारण हैं। अब कायचिकित्सकोक्त स्रोतो के पृथक् मूल, उनकी दुष्टि के कारण लक्षण तथा उपचार देखिए।

यह स्रोतोदुष्टि इतर रोगो से भिन्न है--

स्रोतोदुष्टि के इस प्रकरण में स्मरण रखने योग्य वस्तु यह है कि, यद्यपि प्रत्येक रोग में स्रोतो की दुष्टि हुआ करती है, यह शास्त्र का सिद्धान्त है तथापि विभिन्न रोगों में विभिन्न स्रोतो की जो दुष्टि हुआ करती है वह यह स्रोतोदुष्टि नही है। यह स्रोतोदुष्टि स्वतन्त्र पृथक् विकृति ही समझी जानी चाहिए। इस का एक प्रमाण यह है कि, अध्याय के अन्तमें चिकित्सा का निर्देश करते हुए आचार्य ने कहा है कि--प्राणवह स्रोतो की दुष्टि की चिकित्सा श्वास रोग के समान, उदकवह की तृषा रोग के समान तथा अन्नवह स्रोत की आमदोष के समान करनी चाहिए। मूत्रवह स्रोतो की दुष्टि की चिकित्सा मूत्रकृच्छ्र के अनुसार, पुरीषवह की अतिसार के समान तथा स्वेदवह की ज्वर के समान करनी चाहिए। रसादि धातुओ की दुष्टि की जो चिकित्सा कही है वही रसवह आदि स्रोतों की दुष्टि की भी चिकित्सा है। इस विधान से स्पष्ट है कि यह स्रोतोदुष्टि तत्-तत् रोग किंवा उनमें होनेवाली स्रोतोदुष्टि से भिन्न है। इन पद्यों के ऊपर पृथक्-पृथक् स्रोतो की दुष्टि के कारण भी दर्शाए हैं, जो इन्हें स्वतन्त्र विकृति मानने के प्रति संकेत करते हैं।

इस विषय मे चक्रपाणि का निम्न वचन और भी पोषक है। अस्वेदन आदि स्वेदवह स्रोतो की दुष्टि के प्रकरण में वह कहता है--ये लक्षण यद्यपि कुष्ठ के पूर्वरूपो में भी होते हैं तथापि अन्य भी पूर्वरूप हो तो निदान कुष्ठ-पूर्वरूप करना चाहिए, अन्यथा स्वेदवह स्रोत की दुष्टि।--अस्वेदनादिकं स्वेदवहदुष्टिलक्षणं कुष्ठपूर्वरूपेऽप्यस्ति ; तेन यत्रान्यत् कुष्ठपूर्वरूपदर्शनं भवति तत्र कुष्ठपूर्वरूपता निश्चेतव्या; एतावन्मात्रलक्षणोदये तु स्वेदवह धमनी दुष्टिरिति।

वस्तुतः स्रोतोदुष्टि के इस प्रकरण को ज्वरादि रोगो के समान निदान-चिकित्सा के सामान्य प्रकरण में ही स्थान देना उपयुक्त है।

स्रोतो के मूल दुष्टि तथा उसके निदान-लक्षण-चिकित्सा—

प्राणवहस्रोतो के मूल, दुष्टि इत्यादि . प्राण-नामक विशिष्ट वायु का ग्रहण करनेवाले स्रोतो को प्राणवह स्रोत कहा जाता है। हृदय तथा महास्रोत प्राणवह स्रोतो के मूल है। (सुश्रुत में प्राणवह स्रोतों का मूल हृदय तथा रसवाही धमनियाँ-—पाठान्तर में प्राणवाही धमनियाँ—बताया है। पाठभेद से अर्थभेद कुछ नहीं। कारण,रसवाहिनी धमनियाँ प्राण का भी वहन करती है–धमन्यो रसवाहिन्यो धमन्ति पवनं तनौ–शार्ङ्गधर) धातुक्षय[1], रूक्षता,(रूक्ष अन्न, पान, वात आदि का सेवन) ; क्षुधा, पिपासा (इनके वेग का अवरोध ; भूख-प्यास होने पर भी खान-पान न करना) ; क्षुधा का वेग होने पर व्यायाम(या अन्य कठिन श्रम का कार्य) करना, वेगावरोध तथा अन्य दारुण कर्मो के योग से प्राणवह स्रोतो की दुष्टि होती है। प्राणवह स्रोत दुष्ट हों तो पुरुष का उच्छ्वास (प्राणवायु की बहिः प्रवृत्ति अथवा-गमनागमन दोनों[2]) शब्द और शूल-सहित होते है। साथ ही, उच्छ्वास अतिदीर्घ होता है अथवा अतिह्रस्व; वह कुपित होता है (उसमें अन्य अस्वाभाविकताएँ होती है, जिनका विशेष निर्देश श्वासके भेद के लक्षणों में किया गया है) तथा दुर्बल होता है अथवा वार-वार होता है।

श्वासका वेग कितना बढ जाए तो उसे अतिसृष्टि कहना चाहिए यह प्रश्न है। नव्य-मत में प्रति मिनट पच्चीस से अधिक श्वासगति हो तो उसके लिए अतिसृष्ट का पर्यायभूत 'एक्सेलेरेटेड रेस्पीरेशन'[3] शब्द प्रयुक्त होता है। शब्द का कारण प्राणवह स्रोतों के मार्ग में अवरोध कहा जाता है। श्वास-सदृश रोगो मे यह कफाधिक्य रोग मे कफ के अवरोध के कारण एव वाताधिक्य में वात के कारण स्रोत का स्तम्भ या संकोच होने से होता है। कभी पित्त के कारण स्रोतों का पाक होने से भी स्रोतों का मुख (विवर) संकुचित हो जाता है। यह स्थिति कास-श्वास प्रधान त्रिदोषारब्ध ज्वरों में होती है। सौषिर्य (केविटी) बन जाए तो जैसे किसी संकीर्ण मुख परन्तु नीचे विपुल विस्तारवाले पात्रपर फूँक मारने से शब्द होता है ऐसा शब्द श्वास क्रिया में सुनाई पड़ता है। ये शब्द श्रावणी नाडी से ही

१—सग्रह मे 'क्षय' का पाठान्तर धातुक्षय है। देखिये अ०हृ० शा० ३।४१ (निर्णयसागर)

२—प्रश्वासोऽन्तः प्रविशद्वायुः उच्छ्वास ऊर्ध्वमुत्तिष्ठद्वायु —सु शा ९। ६ पर डल्हन।

३—Accelerated Respiration

सुने जाते हैं। प्राणवह स्रोत अर्बुद से पीडित हों तो भी शब्द होता है। अवरोध के कारण को हठात् हटा कर प्राणवायु को गमनागमन करने में जो बल-प्रयोग होता है वह शब्द का कारण होता है।

अभीक्ष्ण का अर्थ वार-वार होता है। नव्य-मत में एक प्रकार की श्वास-क्रिया होती है जिसमें प्रश्वास और उच्छ्वास दोनो पृथक्-पृथक् एक सख्यावाले न होकर इन में प्रत्येक दो या अधिक खण्डो में विभक्त होता है। इसे 'इन्टरेप्टेड या कॉगह्वील रेस्पीरेशन'[1] कहते हैं। कॉग ह्वील उन परस्पर संयुक्त चक्रों को कहते हैं जिनमें दन्त होते हैं, जो एक दूसरे में ग्रथित होते हैं, जैसे कोल्हू मे। ये एक-दूसरे की गति में अन्तराय उपस्थित करते हैं।

प्राणवह स्रोतो की दुष्टि धातुक्षय, वेगावधारण, रूक्षता (रूक्ष—स्नेहरहित अन्नपान का सेवन ; किंवा रौक्ष्य जनक देश, काल, श्रम आदि का अतियोग), क्षुधा का वेग उपस्थित हो उस काल व्यायाम या श्रम एव अन्य दारुण (विकट) कर्म करने से होती है। प्राणवह स्रोतों की दुष्टि होने पर उपचार श्वास रोग के सदृश करना चाहिए।

उदकवह स्रोतों के मूल इत्यादि : उदकवह स्रोतो का मूल तालु तथा क्लोम है। सुश्रुत ने भी इनका मूल यही बताया है। इनकी दुष्टि होने पर विशेष लक्षण ये होते हैं : जिह्वा, तालु, ओष्ठ, कण्ठ तथा क्लोम का शोष—इन अवयवो में सूखेपन की अनुभव-सिद्ध प्रतीति तथा अतिप्रवृद्ध पिपासा। ये लक्षण देखकर उदकवह स्रोतो की दुष्टि हुई है यह निदान करना चाहिए। उष्णता (सूर्य-ताप आदि के रूप में, किंवा शुण्ठी आदि उष्ण द्रव्यो के रूप में), आम, भय, मद्यपान, अतिशुष्क अन्न का सेवन एव तृष्णा के वेगका अतिनिरोध इन कारणो से उदकवह स्रोतो की दुष्टि होती है। (तृष्णा रोग के प्रकरण में गुरुभोजनादि जन्य आम से हुई तृष्णा आमज तृष्णा नाम से पृथक् अभिहित है तथा सर्व प्रत्यक्ष है। भारी भोजन खाने के पश्चात् अतिजलपानेच्छा के रूप में तृषा का अनुभव सब को होता है)। उदकवह स्रोत दुष्ट होने पर तृष्णा रोगाधिकार में निर्दिष्ट चिकित्सा करे।

इस प्रकरण में आए क्लोम शब्द का अर्थ चक्रपाणि ने हृदयस्थ पिपासास्थान दिया है। हृदय शब्द का व्यापक अर्थ ; हृदयोपलक्षित प्रदेश (छाती का मध्यभाग) लेना उचित प्रतीत होता है। यहाँ, तृष्णा के प्रकरण मे (×× जिह्वामूल-गलतालुक्लोम्नः संशोष्य—च. चि २२।६) तथा अन्यत्र भी ओष्ठ, जिह्वा, जिह्वामूल, तालु, मुख, गल तथा कण्ठ इन अवयवो के साथ क्लोम में भी सूखेपन की रोगी को प्रतीति होना इस लक्षण का निर्देश हुआ है। इससे कम से कम इन

१—Interrupted or Cog wheel respiration

प्रकरणो मे तो क्लोम इन अवयवो के समीपवर्त्ती ऐसा कोई अवयव होना चाहिए जिसमें शुष्कता का अनुभव हमें हो सके। इस दिशा में 'क्लोम स्याद् गलनाडिका' इस वचन से क्लोम का निर्णय करने में और सौकर्य होता है। इन आधारों से क्लोम का अर्थ कदाचित्, कम से कम इन प्रकरणों में, ईसोफेगस मानने की वृत्ति कई विद्वानो की है।

अन्नवह स्रोतो के मूल इत्यादि :—अन्नवह स्रोतो के मूल आमाशय तथा वामपार्श्व है। सुश्रुतजीने इनका मूल आमाशय तथा अन्नवाही धमनियाँ बताया है। इन की प्रदुष्टि होने पर अधोनिर्दिष्ट लक्षण होते हैं: अनन्नाभिलाष, अरोचक (अरुचि), अविपाक (अजीर्ण) तथा छर्दि। इन का उदय होने पर अन्नवह स्रोत दुष्ट होने का निदान करें। अन्नवह स्रोतो की दुष्टि के कारण ये हैं: अत्यशन; अध्यशन, क्षुधा का वेग न होने पर भोजन, क्षुधा का वेग नष्ट हो जाने पर भोजन आदि के रूप में अकाल-भोजन; अहिताशन (स्वस्थवृत्तोक्त नियमो का अति-क्रमण कर अन्नपान का सेवन—विषमाशन) तथा अग्नि की विगुणता—मन्दता, तीक्ष्णता या विषमता। अन्नवह स्रोत दुष्ट होने पर वही उपचार करना चाहिए जो आमदोष (विविध अजीर्ण, विषूचिका, विलम्बिका और अलसक) के अधिकार में उपदिष्ट है (देखिए: च. वि. २, सु. ३. ५६)।

अनन्नाभिलाष तथा अरुचि में यह भेद (च. सू. २८।९की टीकामें) चक्रपाणि ने बताया है—अश्रद्धायां मुखप्रविष्टस्याहारस्याभ्यवहरणं भवत्येव परन्तु अनिच्छा; अरुचौ तु मुखप्रविष्टं नाभ्यवहरतीति भेद—अश्रद्धा में अन्न की इच्छा ही नही होती, परन्तु आग्रह आदि कारणोंसे भोजन किया जाए तो वह भाता है, मुख से नीचे उतर भी जाता है। अरुचि में क्षुधा और अन्न की इच्छा (माँग के रूप में) होती है, परन्तु मुख में रखने पर उसके प्रति भाव नहीं होता—अतश्च वह गले से नीचे उतारा नही जाता। अरसज्ञता इनसे मिलता-जुलता तीसरा विकार है। इसमें अन्नपान के मधुरादि रसों की ही प्रतिपत्ति (ज्ञान) नही होती—उनका अनुभव नहीं होता।

चरक ने प्राणवह आदि सर्व स्रोतो का पृथक्-पृथक् निर्देश करते हुए उनके लिए 'प्राणवहानां स्रोतसाम्' इत्यादि रूपों मे बहुवचन का ही प्रयोग किया है। सुश्रुत ने अधोनिर्दिष्ट एकादश स्रोत अपने प्रतिपाद्य विषय (अधिकार) में उपयुक्त होने से गिनाए हैं; प्राणवह, अन्नवह, उदकवह, रसवह, रक्तवह, मांसवह, मेदोवह, मूत्रवह, पुरीषवह, शुक्रवह, आर्तववह। 'प्राणवहे द्वे' इत्यादि पदो द्वारा सुश्रुत ने प्रत्येक स्रोतकी सख्या दो-दो बताई है। यह निश्चित है कि, शल्यहर्ता को अवयवो के (यहाँ स्रोत के) आयाम-विस्तार-सख्या आदि का निश्चित ज्ञान होना चाहिए। तभी वह विद्धलक्षण आदि को यथावत् समझ सकता है तथा उनका

उपचार कर सकता है। इस दृष्टि से विचार करे तो सुश्रुत ने जो प्रत्येक स्रोत की संख्या दो-दो दी है वह प्रत्यक्षसिद्ध और यथार्थ है। उसी को आदर्श मान कर स्रोतों के विनिश्चय का प्रयास करना उचित है। शेष, चरक ने स्रोतो के लिए जो बहुवचनान्त प्रयोग किया है वह उनकी शैली मात्र हो सकता है, किंवा इसी अध्याय में ऊपर उन्होंने स्रोतो की असख्येयता के संबन्ध में विवेचन किया है और उसकी जो व्याख्या इसी अध्याय में हमने की है उसे ध्यान मे रखे तो, सभव है, चरक ने प्रत्येक स्रोतोयुग्म के घटकभूत शरीर-परमाणुओं की असंख्येयता को लक्ष्य में रख कर स्रोतों के लिए बहुवचन का प्रयोग किया होगा। प्रासंगिक इतना विवरण कर अब पुन प्रकृत विषय का विचार करते है।

विदाह के प्रकरण में निम्न पद्य में सुश्रुत ने अन्नवह शब्द का प्रयोग किया है—

स्रोतस्यन्नवहे पित्तं पक्तौ वा यस्य तिष्ठति।
विदाहि भुक्तमन्यद् वा तस्याप्यन्नं विदह्यते॥

सु. सू. ४६।४९७

विदाह (अम्लपाक, एसिड डिस्पेप्सिआ) या विदग्धाजीर्ण के कारणो में एक का निरूपण करते आचार्य कहते है कि जिस पुरुष के अन्नवह स्रोत में किंवा पक्ति-स्थान में पित्त कुपित हो कर स्थानसश्रय कर रहता है वह विदाही (स्वरूपसे अम्ल, यथा—अचार आदि) किंवा अन्य कुछ भी द्रव्य (स्वरूप से अविदाही, परन्तु पाकानन्तर विदग्ध—अम्लरस—हो जाने के स्वभाववाला, यथा भात, टमाटर आदि) खाता है वह विदाह को प्राप्त होता है। यहाँ 'अन्नवहे स्रोतसि' का अर्थ डल्हन ने, 'आमाशये' दिया है। पक्तिस्थान का अर्थ अग्निस्थान दिया है। परन्तु, मूलविद्धप्रकरण में (सु. शा ९।१२ में) 'अन्नवहे द्वे, तयोर्मूलमामाशयोऽन्न-वाहिन्यश्च धमन्य' ' वचन में अन्नवह स्रोतो की सख्या दो बताकर उन का मूल आमाशय तथा अन्नवाही धमनियाँ कहा है।

रसवह स्रोतो के मूल इत्यादि : रसवह स्रोतो का मूल हृदय तथा दश धमनियाँहै। (सुश्रुत ने भी यही मूल बताए है—हृदय तथा रसवाही धमनियाँ)। इनकी इसी प्रकार इतर धातुओ का वहन करनेवाले स्रोतों की दुष्टि के लक्षण वही है जो विविधाशितपीतीय अध्याय (च. सू. २८) में तत्-तत् धातु की दुष्टि से हुए रसज, रक्तज आदि रोगो के लक्षण है। इस प्रकार रसज रोगों के लक्षण और रसवह स्रोतो की दुष्टि के लक्षण समान ही है। इन के तथा अन्य धातुज रोगो के लक्षण इस ग्रन्थ में पहले आ चुके है।

गुरु, शीत, अतिस्निग्ध और अतिमात्र भोजन एवं चिन्त्य वस्तुओं की अति-चिन्ता इन कारणों से रसवह स्रोत दुष्ट होते है। विविधाशितपतीय अध्याय में

रसज आदि रोगों की जो चिकित्सा दी है वह रसवह आदि स्रोतो की दुष्टि की भी समझनी चाहिए। इत्थ रसज रोगो की लङ्घनादि चिकित्सा रसवह स्रोतों की दुष्टि होने पर भी विधेय हे।

रक्तवह स्रोतो के मूल इत्यादि : जैसा कि सुश्रुत ने कहा हे इनकी सख्या दो है। इनका मूल यकृत् और प्लीहा है। (सुश्रुत में इनका मूल यकृत्, प्लीहा तथा रक्तवाही धमनियाँ बताया है। निर्णयसागरी सुश्रुत में इस वचन की टिप्पणी मे लिखा है कि ताडपत्र में केवल यकृत्प्लीहा का मूल होना लिखित हे)। रक्तवह स्रोतों की दुष्टि प्रकृतितः किंवा विपाकवश विदाही अन्नपान तथा स्निग्ध, उष्ण और द्रव अन्नपान के तथा आतप ओर अग्नि के सेवन से होती है। इनकी दुष्टि से वही रोग होते हे जिनका निर्देश रक्तज नाम से कर आए हे। इनका उपचार भी वही है जो रक्तज रोगो का हे।

यकृत् और प्लीहा रक्ताग्नि तथा रञ्जक पित्त के अधिष्ठान हे। इन दोनो द्रव्यों का पार्थक्य समझ लेना चाहिए। रक्ताग्नि रसधातु का रक्त धातु में परिणमन करती है। रञ्जक पित्त का कार्य रक्त का रञ्जन करना है। क्रिया-शारीर मे तथा इस ग्रन्थ मे हम देख चुके हे कि रक्त शुद्ध होता है तो उसका अमुक वर्ण होता है। वही वातादिदोष-दूषित हो तो दोष भेद से उसमें तत्-तत् विवर्णता (वर्णभेद) आती है।--वात से श्यावारुणता, पित्त से पाण्डुहारिद्रहरितादिवर्णता तथा कफ से शुक्लता आदि। यकृत् और प्लीहा में जब रक्त आता है तो रञ्जक पित्त की क्रिया से तद्गत दोषो का परिपाक (रासायनिक क्रिया द्वारा रूपान्तर) होकर रक्त की शुद्धि होती है। परिणामतया रक्त में अपना प्राकृत राग या वर्ण आता है। रस धातु से रक्त का निर्माण होते हुए भी रञ्जक पित्त ही उसे वर्ण प्रदान करता है। इस प्रकार रागोत्पत्ति और विशुद्ध रागोत्पत्ति का मूल होने से यकृत्प्लीहास्थित इस कर्म के करनेवाले पित्त को रञ्जक पित्त कहते हे। 'राग' और 'रञ्जक' शब्द राग या वर्ण अर्थ की 'रञ्ज' धातु से व्युत्पन्न हुए हे।

रञ्जक पित्त की यह क्रिया समझने में व्याकरण भी सहायक हो सकता है। रञ्जन शब्द भाषाओ में प्रायः अकेला नही आता। मन इस पूर्वपद के साथ संयुक्त हो 'मनोरञ्जन' शब्द बनता है। यह भाषाओं मे प्रसिद्ध है। इस का जो अर्थ है वही अर्थ संस्कृत मे केवल रञ्जन शब्द का है। इस का प्रसिद्ध पर्याय प्रसादन है। इन दोनों पदों का अर्थ है--प्रसन्न करना। परन्तु प्रसादन शब्द का अन्य भी अर्थ है--निर्मल या स्वच्छ करना। 'प्रसन्न', 'प्रसीदति' आदि शब्द इस अर्थ मे सस्कृत वाङ्मय तथा आयुर्वेद में प्रसिद्ध हे। इन मे जो उपसर्ग तथा धातु हे वही 'प्रसादन' शब्द मे भी हे। सो, प्रसादन का दूसरा अर्थ हुआ--निर्मल, निर्दोष या स्वच्छ करना। इसके पर्यायभूत रञ्जन शब्द का भी इसके समान ही

अन्य अर्थ हो सकता है—निर्मलीकरण। सस्कृत भाषा की यह अपूर्व शैली है। इसे समझे विना इसका अवगाहन सुगम नही होता। अस्तु। रञ्जन का प्रसिद्ध अर्थ दृष्टि में रखते हुए रञ्जक पित्त का कार्य विदित होता है : रक्त धातु को उसका प्राकृत वर्ण प्रदान करना। यह वर्ण वह कैसे करता है इस की विशदता व्याकरणानुसारी इस विवेचन से होती है कि रञ्जक पित्त कुपित हुए वात, पित्त, कफ के कारण रक्त में आई दुष्टि को दूर कर—उसे निर्मल, निर्दोष एवं स्वच्छ कर—उसमे उसके प्राकृत वर्ण को स्थापित करता है। अत' उसे रञ्जक पित्त नाम दिया गया है। नव्यों ने यकृत् का एक कर्म 'डीटॉक्सिकेशन' (अर्थ-निर्विषीकरण) बताया है। उसका कुछ साम्य रञ्जक पित्त के इस कर्म से देखा जा सकता है। प्लीहा मे विषमज्वर आदि रोगों के कारण किवा काल उपस्थित होने से मृत हुए रक्त (रक्त कणों) का विघटन होकर उससे प्राप्त सामग्री का उपयोग पुन.रक्त के निर्माण में होता है। प्लीहा में यकृत् के समान निर्विषीकरण नही होता। आयुर्वेद में तो इन दोनों अवयवों को सर्वथा एक ही कोटि मे रखा गया है।

कि वहुना, रक्त की शुद्धि के स्थान आयुर्वेद-मत से यकृत्-प्लीहा ही है। अच्छे वैद्य भी क्रियाशारीर के प्रकरण मे इस सत्य की विस्मृति कर रक्त की शुद्धि फुप्फुस में होती वताते है। क्या यह संभव नही कि, वात (प्राण या कार्वनडाइ ऑक्साइड की वहुलता) से दुष्ट रक्त यकृत् में आता है तो यकृत् ही उसमे कुछ ऐसे परिवर्तन कर देता है कि फुप्फुस में यान्त्रिक (मिकेनिकल) क्रिया से उसका प्राणवायु निकलना और अन्तरिक्षगत अपान वायु (ऑक्सीजन) का उस से सयोग होना सुगम हो जाता हो। संभव है, इसी प्रयोजन से रक्त का महदश प्रथम यकृत में होकर पश्चात् फुप्फुसों में जाने की व्यवस्था प्रकृति ने की हो।

व्यवसाय में उपयोगिता की दृष्टि से चरक ने अपनी सहिता के आरम्भ में ही (सु. सू ४ में) एक-एक कार्य करनेवाले दश-दश द्रव्य (दशेमानि) दिए है। इनमें एक वर्ग शोणितास्थापन है। इस संज्ञा की व्याख्या करते चक्रपाणि कहते हैं—शोणितस्य दुष्टस्य दुष्टिमपहृत्य प्रकृतौ शोणितं स्थापयतीति शोणितास्थापनम्—(च. सू. ४।८पर)।—अर्थात् रक्त वातादिदोष दूपित हो तो उसकी दुष्टि को दूर कर जो द्रव्य रक्त को पुन. प्रकृति में (स्वरूप में) ले आएँ उन्हे शोणितास्थापन कहा जाता है। आगे चरक ने ये दश द्रव्य शोणितास्थापन वताएं है।—मधुमधुकरुधिरमोचरसमृत्कपाललोध्रगैरिकप्रियंगुशर्करालोजा इति दशेमानि शोणितास्थापनानि भवन्ति—च सू ४।१७। (रुधिरं कुकुमम्)। अन्वेषकों को इन द्रव्यो पर अन्वेषण कर निर्णय करना चाहिए कि ये द्रव्य रञ्जक पित्त की क्रिया में सहायभूत होते है या नही—नवीनों ने जिसे 'हीमोग्लोबीन-परसेंटेज' कहा है उस पर इनका कुछ प्रभाव होता या नही। आयुर्वेद की दृष्टि से

विचार करने से ये सर्व द्रव्य पित्त के शामक हैं। पित्तके सम होने से उस की पचनात्मक (विनाशक) क्रिया के अतियोग से रक्त धातु की रक्षा होती है। इससे संभव है, रक्त का साम्य स्थापित करने में ये द्रव्य उपयोगी सिद्ध हों। अन्तिम निर्णय अन्वेषकों के हाथ मे है।

रक्तवह स्रोतो के अतिरिक्त रक्तवह सिराओ का मूल भी यकृत्-प्लीहा कहे गए हैं--रक्तवाहिन्यश्च (सिराः) यकृत्प्लीह्नोः (सु. शा ७।६)। रक्त को लाने और ले जानेवाली अनेक नालियाँ इन अवयवों से सबद्ध प्रत्यक्षगोचर होती हैं। इनमें स्रोत कौन हैं तथा सिरा कौन इस का विनिश्चय करना चाहिए। रक्तपित्त की सप्राप्ति में पित्त तथा रक्त की वृद्धि और दुष्टि के अतिरिक्त यकृत्-प्लीहागत रक्तवह स्रोतों का अवरोध भी होता है। चरक ने इस रोग की संप्राप्ति बताते हुए पित्त और रक्त के प्रकोपक कारणो का निर्देश करने के पश्चात् कहा है--

तस्यैवमाचरतः पित्तं प्रकोपमापद्यते, लोहितं च स्वप्रमाणमतिवर्तते। तस्मिन् (लोहिते), स्वप्रमाणातिवृत्ते पित्तं प्रकुपितं यदेव यकृत्प्लीहप्रभवाणां लोहितवहाना च स्रोतसा लोहिताभिष्यन्दगुरूणि मुखान्यासाद्य प्रतिरुन्ध्यात्[1] तदेव लोहितं दूषयति[2]॥ च० नि० २।४

राजयक्ष्मा में रक्त की प्रवृत्ति कण्ठ (प्राणवह स्रोत) या आमाशय दो स्थानो से होती है। आमाशय से होनेवाली रक्तप्रवृत्ति (केवल रुधिरच्छर्दन) में रक्त का मार्ग रुद्ध होता है। यक्ष्मा में स्रोतोरोध संप्राप्ति का एक अङ्ग है। अन्य स्रोतों के सदृश रक्तवह स्रोतो का भी यक्ष्मा में रोध होता है। इस रोध के कारण रुद्ध हुआ रक्त मासादि धातुओ मे तो जाता नही--यकृत्प्लीहा की दिशा में भी उसकी प्रवृत्ति नही होती--परिणामतया आमाशय में सचित और उत्क्लिष्ट होकर वह कण्ठमार्ग से बाहर आता है।--

रक्तं विबद्धमार्गत्वान्मांसादीन्नानुपद्यते।
आमाशयस्थमुत्क्लिष्टं बहुत्वात्कण्ठमेति च॥ च. चि. ८।५८

यक्ष्मा में कण्ठ से रक्तप्रवृत्ति (सरक्त कफ-प्रवृत्ति) का कारण भी यह होता है कि शरीर दुर्बल होने से कण्ठ (प्राणवह स्रोत) में स्थित रक्त का प्रक्षेपण अपने

१--'प्रतिपद्यते' इति पाठान्तरम्।

२--स्वप्रमाणमतिवर्तते प्रवर्धत इत्यर्थः। × × × लोहितवहानामिति चकारोऽवधारणे। वक्ष्यति च रक्तपित्तचिकित्सिते--प्लीहान च यकृच्चैव तदधिष्ठाय वर्तते। स्रोतासि रक्तवाहीनि तन्मूलानि हि देहिनाम् (च. चि. ४।१०) इति--चक्रपाणि।

मूल यकृत्प्लीहा की दिशा मे समीचीनतया होता नही। परिणामतया पूर्ववत् सचय और उत्क्लेश होकर वह बहिः प्रवृत्त होता है। उर कफ का स्थान होने से इस रक्त के साथ कफ की भी प्रवृत्ति होती है यह विशिष्टिता इस रक्त-प्रवृत्ति में होती है।--

अभिसन्ने शरीरे तु यक्ष्मिणो विपमाशनात्।
कण्ठात् प्रवर्तते रक्तं श्लेष्मा चोत्क्लिष्ट संचितः॥

च. चि ८। ५७

इसी शैली से अन्य रोगों में होनेवाली रक्तवह स्रोतों की दुष्टि का भी अनुशीलन किया जा सकता है। स्रोतो विमान के इस प्रकरण मे कही रक्तवह-स्रोतोदुष्टि स्वयं एक स्वतन्त्र विकृति है, यह पुनः स्मरण करा देता हूं। रक्तवह स्रोतों की दुष्टि से सामान्यतया सभी रक्तज रोग उत्पन्न होते है। विधिशोणितीय अध्याय में रक्तज रोगों का जो उपाय कहा है वह रक्तवह स्रोतों की दुष्टि का भी उपाय है।--

कुर्याच्छोणितरोगेषु रक्तपित्तहरीं क्रियाम्।
विरेकमुपवासं च स्रावणं शोणितस्य च॥

च. सू. २४।१८

मासवह स्रोतोंके मूल इत्यादि : मासवह स्रोतों के मूल स्नायु तथा त्वचा (सुश्रुन में--स्नायु, त्वचा तथा रक्तवह धमनियाँ) है। मासपेशियों को अस्थियों के साथ संयुक्त करनेवाले अवयव स्नायु (टेंडन) कहाते है। वातवह आदि सिराओं की व्याख्या करते कहा गया है कि सिराएँ यद्यपि सभी सर्वअवयवों, दोषों, धातुओं, उपधातुओ, मलों, आशयों और स्रोतों के पोषक द्रव्यों का वहन करती है, परन्तु जिस दोष के प्राधान्य वाले अवयव में वे जाती है वहाँ विशेषतया उसी दोष के पोषक द्रव्य छोड जाती है अतः उन्हें उस अवयव के नाम पर वातवह, पित्तवह आदि नाम दिये जाते है। देखिए–तासा तु वातवाहिनीनांवातस्थानगताना पञ्चसप्ततिशतं भवति--सु.शा.७।६। इसी प्रकार मासवह आदि स्रोतों की भी यह व्याख्या की जाती सकती है कि, मास , मेद, अस्थि, मज्जा, शुक्र, मूत्र, पुरीष तथा स्वेद इन धातुओं तथा मलों के पोषक द्रव्य जिन नालियों द्वारा मासपेशी आदि को प्राप्त होते है वे नालियाँ ही मासवह स्रोत, मेदोवह स्रोत आदि पदों से वाच्य है। मास की दुष्टि से जो रोग होते है वही मासवह स्रोतो की दुष्टि से भी होते है--यथा अधिमास, अर्बुद, कील (अर्श), गलशालूक, गलशुण्डिका, पूतिमास, अलजी, गलगण्ड, गण्डमाला, उपजिह्विका।

अभिष्यन्दी (स्रोतों मे घटक द्रव्यो का लेप या वृद्धि करनेवाले एव) स्थूल तथा गुरु भोज्य द्रव्यों के अतियोग और दिन में भोजन कर सोनेसे मासवह स्रोतों की दुष्टि होती है। इन की दुष्टि का उपचार वही है जो मासदुष्टि से हुए रोगों का होता है। अर्थात्--मासजाना तु संशुद्धिः शस्त्रक्षाराग्निकर्म च--च. सू. २८।२६। नाम--वमनादि शोधन, शस्त्रकर्म, क्षारकर्म एवं अग्निकर्म।

मेदोवह स्रोतो के मूल इत्यादि--मेदोवह स्रोतो का मूल वृक्कद्वय (पाठान्तर मे--दो बुक्क) तथा वपावहन है। (सुश्रुत मे मेदोवह स्रोतो के मूल दोनो वृक्क तथा कटि बताए है)। वपावहन का अर्थ उदरावयवो की आवरणी कला, जिसे अग्रेजी में पेरीटोनियम कहते है. वह निश्चित की गयी है। वृक्कौ पुष्टिकरौ ज्ञेयौ जठरस्थस्य मेदसः--जठर मे जो मेद रहता है उसकी पुष्टि करनेवाले अवयव वृक्क है--इन पदो मे वृक्कद्वय का परिचय देकर शार्ङ्गधर ने भी वृक्क, वपावहन तथा मेद का परस्तर संवन्ध वताया है। सभव हे, वृक्को की मूत्र स्राविणी क्रिया सुस्थित हो तो शरीर में मेद का प्रमाण समावस्था में रहता है। इस दृष्टि से विचार करने में शिलाजतु का उपयोग उदाहरणतया प्रस्तुत किया जा सकता है। यह वृक्कों की कार्यक्षमता वढानेवाला है तथा साथ ही मेद का ह्रास करनेवाला (लेखन) भी है। कदाचित् इससे मेदके प्रमाण में कमी न हो तो भी मेदस्विता के कारण जो शारीर-मानस गौरव प्रभृति लक्षण होते है उनमें तो कमी आती ही है। संभव है, धमनीप्रतिचय के कारणों में एक जो धमनी की आभ्यन्तर कला मे स्नेह का सचय (एथीरोमा) है, उसपर शिलाजतु के सेवन का कुछ परिणाम होता हो। इसी प्रकार नवीनो का प्रत्यक्ष है कि शरीर मे उत्पन्न एक द्रव्य ब्लडप्रेशर को उन्नत करने में प्रेरक होता है। यह द्रव्य जैसे-जैसे बनता जाता है वैसे-वैसे वृक्कमार्ग से क्षरित होकर वाहर निकलता जाता है। इस रीति से शरीर मे उसका प्रमाण सम रहने से ब्लडप्रेशर भी समावस्था मे रहता है। कथचित् वृक्कों में पाक (नेफ्राइटिस) आदि के रूप में स्वरूप-च्युति (विकृति) हुई हो तो वृक्क भी उक्त द्रव्य-विशेष का क्षरण यथावत् कर नही पाते। परिणामतया, शरीर मे इस द्रव्य की प्रमाणवृद्धि होने से ब्लडप्रेशर मे भी वृद्धि होती है। यथा, गर्भावस्था मे होनेवाले एक्लेम्पशीआ या प्रेग्नेन्सी टॉक्सीमिआ नाम से अग्रेजी मे प्रख्यात रोग में वृक्कों की विकृति होने से ब्लडप्रेशर में भी वृद्धि होती है। आयुर्वेद-मत से तो यह कफज शोथ का ही परिणाम होने से कफ के साम्य को लक्ष्य मे रखकर ही उपचार इस मे करना चाहिए। भोज्य द्रव्यो का तो अनशन कराना ही चाहिए, अब्धातु की वृद्धि इस रोग में हुई होने से आवश्यक हो तो पेय द्रव्यों का भी--कदाचित जल का भी--परित्याग इस रोग में

कराना योग्य होता है। इस रोग में उक्तदृष्ट्या औषधतया शिलाजतु का प्रयोग कराने से गुण होना सभव है।

सुश्रुत ने (सु सू. १५।३२ में) मेद की चिकित्सा मे शिलाजतु आदि के साथ गोमूत्र का भी विधान किया है। यह भी मूत्रल है। इससे मूत्रके प्रभवस्थान वृक्क तथा मेद का कुछ सवन्ध होने की कल्पना को आश्रय मिलता है।

गोक्षुर मूत्रल रूप में प्रसिद्ध है। यह रसायन भी है। रस तथा अन्य वहनशील द्रव्यो का अयन जिन द्रव्यादि से सुधरे उन्हें रसायन कहा जाता है। सभव है, गोक्षुर मूत्रल होने से वृक्क के क्षरण स्वभाव को प्रकृतिस्थ कर रसवह स्रोतो (धमनियों) की आभ्यन्तर कला में होने वाले मेदसम द्रव्यो के सचय (धमनीप्रलेप, धमनी-प्रतिचय) को भी दूर करता हो।

मेदोवह स्रोतो की दुष्टि से वही लक्षण होते हैं जिनका मेदोज रोग नाम से उल्लेख कर आए हैं। अव्यायाम (श्रमाभाव), दिवास्वप्न, मेद्य (मेद की वृद्धि करनेवाले) आहार-विहारादि का अतियोग एव वारुणी (ताडी) का अति-सेवन---इन कारणों से मेदोवह स्रोतों की दुष्टि होती है। इसमे मेदोवृद्धि के जो उपाय कहे हैं उन्ही का अवलम्बन करना चाहिए।

अस्थिवह स्रोतो के मूल इत्यादि---अस्थिवह नाम अस्थि को पोषक रस पहुँचानेवाले स्रोतो का मूल मेद तथा जघन है। सुश्रुत में अस्थि, मज्जा तथा शुक्र के स्रोत नहीं दिए हैं। अस्थि वह स्रोतो की दुष्टि से पूर्वोक्त अस्थिज रोग होते है। अति व्यायाम (शक्ति से अधिक श्रम), अति सक्षोभ (अस्थियों को झटके लगना), अस्थियोंका अति विघट्टन (अति हलन-चलन) एव वातकारक आहारादि का सेवन इन कारणों से अस्थिवह स्रोतों की दुष्टि होती है। इन की चिकित्सा अस्थिज रोगों के सदृश ही करनी चाहिए।

मज्जवह स्रोतों के मूल इत्यादि---मज्जवह स्रोतों के मूल अस्थि तथा संधियाँहैं। इनकी दुष्टि से मज्जज रोग होते हैं। उत्पेष---अवयव पिस जाना, अति अभिष्यन्द (पानी में अत्यधिक काम करना), आघात, प्रपीडन---कोई अवयव दब जाना एवं विरुद्ध आहार का सेवन इन कारणों से मज्जवह स्रोतोकी दुष्टि होती है। इन की चिकित्सा मज्जज रोगो के सदृश ही करनी चाहिए।

शुक्रवह स्रोतो के मूल इत्यादि---शुक्रवह स्रोतोंके मूल वृषण तथा शिश्न हैं। इनकी दुष्टिसे शुक्रज रोग होते हैं। अकालगमन---हर्ष न हुआ हो तब भी समागम का प्रयास करना, अयोनिगमन---योनिभिन्न मुष्टि, कृत्रिम योनि, गुद आदि में गमन, हर्ष (कामोद्रेक) का निग्रह, अति मैथुन एवं शस्त्रकर्म, क्षारकर्म तथा अग्निकर्म से शुक्रवह स्रोतो की दुष्टि होती है। एक्सरे आदि का अति ससर्ग होने से क्लैब्य (पुंबीजनाश) आदि शुक्र विकार देखे जाते हैं। सहितोक्त

अग्निकर्म शब्द से उन का भी ग्रहण किया जा सकता है। शुक्रवह स्रोतों की दुष्टि का उपचार शुक्रज रोगो के सदृश ही करें।

मूत्रवह स्रोतो के मूल इत्यादि—मूत्रवह स्रोतो के मूल वस्ति तथा वक्षण-द्वय (सुश्रुत में—वस्ति और शिश्न इन की दुष्टि होने पर अधोनिर्दिष्ट लक्षण होते हैं· मूत्र की प्रवृत्ति अति सृष्ट (बहुत पतली) या अति बद्ध (बहुत गाढा) होना, मूत्रस्राव प्रकुपित होना—उसमें विकृत वर्ण आदि तत्-तत् दोष के तत्-तत् लक्षण होना, मूत्रप्रवृत्ति थोडी-थोडी बार-बार होना या प्रचुर प्रमाण में होना, मूत्रप्रवृत्ति के समकाल शूल। इन लक्षणों को देख कर मूत्रवह स्रोत दुष्ट हुए हैं, यह जाना जा सकता है।

आयुर्वेद-निर्दिष्ट मूत्रयन्त्र अब तक विवादग्रस्त है। जब तक उसका निर्णय न हो जाए तब तक यहाँ कहे मूल पर विशेष विचार करना शक्य नही है। आयुर्वेद के वचनो की प्राय ध्वनि यह है कि मूत्रका निर्माण अन्नपानगत क्लेद (द्रव अंश) से पक्वाशय में होता है। मूत्रवह स्रोतो से यह मूत्र पक्वाशय से वस्ति में पहुचा दिया जाता है। यहाँ सरल प्रश्न किया जा सकता है कि शरीर में क्लेद तो रस, रक्त, स्वेद आदि अन्य द्रव्यों के अङ्ग के रूप में भी रहता ही है। उस क्लेद के प्रमाण में वृद्धि हो तो उसका भी तो निर्हरण मूत्ररूप में ही होना चाहिए। यह सत्य है कि मूत्रमार्ग से निकलनेवाले क्लेद का अधिकाश आहार का ही क्लेद है। यह भी सत्य है कि जैसे शारीर वायु की पुष्टि में समवायी कारण श्वास में गृहीत वायु आदि भी है, तथापि रोगों की उत्पत्ति और उपचार मे जिस वायु को लक्ष्य में रखा जाता है वह पक्वाशय में अन्नपान के किट्टाश से उत्थित वायु ही है, इसी प्रकार शरीर में द्रवधातु अन्य रूप में विद्यमान होने पर भी अतिसार आदि रोगो में विगुण अर्थात् मूत्रादि के मार्ग से प्रवृत्त न होकर पक्वाशय में आए हुए (विमार्गगामी हुए) जिस शारीर क्लेद को लक्ष्य मे रखा जाता है वह मूत्रगत क्लेद ही है तथापि इससे अन्य अवयवों और द्रव्यों में स्थित क्लेद (आर्द्रत्व) का निषेध तो नही होता। कम से कम यह प्रश्न तो रहता ही है कि अन्नपान से भिन्न द्रव्यो में स्थित इस क्लेद के निर्हरण का मार्ग कौन सा है? विशेष करके, नव्य प्रत्यक्ष के रहते तो वृक्को द्वारा मूत्र के क्षरण की प्रक्रिया की उपेक्षा नही की जा सकती। इस विषय में विचारार्ह दो वचन हैं। एक तो रचनाशारीर के ग्रन्थो में उद्धृत अथर्ववेद का वह वचन है, जिसमें मूत्राशय में मूत्र को पहुचानेवाली दो प्रणालियाँ बताई गई हैं, जिन्हें गवीनी नाम दिया गया है। इस वचन में तथा इससे अगले मन्त्र में (अथर्ववेद प्रथम काण्ड ३।६।७) मूत्र यन्त्र के अङ्गभूत अवयवो का क्रमिक निर्देश है। द्वितीय मन्त्र में 'मेहन में रुद्ध मूत्र के प्रवर्तन का उल्लेख है। मेहन शब्द निश्चित ही शिश्न का वाचक है। प्रथम मन्त्र में सबसे अन्तमें वस्ति में रुद्ध हुए

मूत्र की प्रवृत्ति का निदश है। बस्ति निर्विवाद मूत्राशय है। इसके पूर्व गवीनी-द्वय निर्दिष्ट है। सायण ने इनका अर्थ मूत्राशय में मूत्र लानेवाली दो प्रणालिकाएँ बताया है। प्रत्यक्ष से ये नवीनोक्त 'यूरेटर' होना सिद्ध है। अब एक ही अवयव शेष रह जाता है--आन्त्र। कविराज गणनाथ सेन जी कहते है कि अन्त्रवत् कुण्डलित होने से वृक्क की अङ्गभूत सुसूक्ष्म मूत्रोत्सर्जन कारिणी प्रणालियो को ही यहाँ आन्त्र कहा है। यहाँ अन्त्र शब्द में सादृश्य मे अण् प्रत्यय लगकर आन्त्र पद बनता है। इसमें अधिक विवाद को स्थान नही है। तथापि इस विषय मे एक स्पष्ट प्रमाण भी सुलभ है। शार्ङ्गधर की आढमल्लकी टीकामे वृक्क का परिचय देते लिखा है--आहारजलवाहिसिरा धारौ तिलवृक्कौ--यहाँ कहा है कि वृक्क वे दो अवयव है जो आहारान्तर्गत जल का वहन करनेवाली सिराओ के (स्रोतोके) मूल है। आढमल्ल ने यह वचन जिस आधार पर लिखा होगा वह आज उपलब्ध नही है। पर यह वचन नवीन एनेटॉमी भारत में आने के पूर्व का है। इससे वृक्क का अर्थ विनिश्चय करने में सौकर्य हो सकता है। विज्ञ वाचक विचार करे।

मूत्र के उत्पत्तिस्थान का विनिश्चय करने मे अन्य एक प्रकरण को भी स्मरण किया जा सकता है। यह प्रकरण है शाखाश्रित कामला का। इस रोग मे मलरञ्जक पित्त पच्यमानाश्रय मे न जा सकने के कारण पुरीष का वर्ण श्वेत रहता है। अब यदि प्राचीनो को मूत्र का पक्वाशय से सीधे मूत्राशय मे गमन अभिप्रेत होता तो शाखाश्रित कामला मे मूत्र के भी श्वेतवर्ण होने की आशङ्का खड़ी होती। उसका समाधान भी देना तन्त्रकारों का कर्तव्य हो जाता। परन्तु तन्त्रकारों ने ऐसी कोई आशङ्का ही उपस्थित नही की है। इससे प्रमाणित होता है कि पूर्वाचार्यो के मत से मूत्र का सीधा पक्वाशय से मूत्राशय में आना अभिमत न होगा।

मूत्रवह स्रोत की दुष्टि के लक्षणो का निर्देश करते आचार्य ने उन्ही शब्दों का प्रयोग किया है जिनका प्रयोग प्राणवह स्रोतों की दुष्टि दर्शाते किया है। परन्तु मूत्रवह स्रोतो की दुष्टि के प्रकरण में इन शब्दो का अर्थ वैसा क्लिष्ट नही है। पहला लक्षण है--अतसृष्ट या अतिबद्ध। बद्ध शब्द शास्त्र तथा लोक दोनों में गाढपुरीष के लिए विशेष प्रसिद्ध है। मूत्र में द्रवत्व की अपेक्षया घनत्व अधिक हो तो उसके लिए भी 'गाढा' आदि शब्द-प्रयोग होता है। वही अर्थ बद्ध मूत्र का भी किया जा सकता है। इसके विपरीत सृष्ट का अर्थ द्रवाधिक्य जिसमें हो ऐसा मूत्र लेना चाहिए। विपाको का कर्म बताते (च सू २६।६१-६२ तथा सु. सू ४१।११ में) 'सृष्टविण्मूत्र' तथा 'बद्धविण्मूत्र' शब्दों का प्रयोग किया है। चरक मे इन पद्यों के पूर्वपद्यो में विपाकों का ही कर्म अन्य शब्दों में बताते हुए

वातमूत्रपुरीष की ससुख प्रवृत्ति तथा इन्ही की सदु.ख प्रवृत्ति--इन पदो का प्रयोग किया है। उससे वद्ध तथा सृष्ट शब्दों से क्रमश. सकृच्छ् प्रवृत्ति तथा ससुख (अनायास, वल प्रयोग किए विना) प्रवृत्ति ये अर्थ निष्पन्न होते है।

प्रकोप शब्द दोषों की वृद्धि के लिए प्रसिद्ध और सुविदित है। तदनुसार प्रकुपित का अर्थ दोषो की वृद्धि के लक्षण जिस के स्वरूप तथा प्रवृत्ति में लक्षित हों ऐसा मूत्र यह सरलता से लिया जा सकता हे। मूत्र तथा उसकी प्रवृत्ति में तत्तद्दोषकृत विकृति का विस्तार प्रमेह, मूत्रकृच्छ, मूत्राघात के प्रकरणो में देखा जा सकता है। शेष विशेषण सुगम हैं। सुश्रुत में मूत्रवह स्रोत दो वताए हैं। उस में एक-एक वृक्क से आरम्भ होनेवाला एक-एक स्रोत मिल कर दो स्रोत निर्दिष्ट किए प्रतीत होते हैं।

पुरुष मूत्र के वेग (हाजत) से युक्त हो तथापि मूत्र विसर्जन न करके जलपान करे, भोजन करे, स्त्रीसग करे किंवा यह कुछ न करता हुआ मूत्र के उपस्थित वेग का निरोध करे तो एवं वह अति कृश या क्षीण हो अथवा उसे क्षत हो तो मूत्रवह स्रोतो की दुष्टि होती है।

मूत्रवह स्रोतो की दुष्टि होने पर मूत्रकृच्छ्राधिकारोक्त उपचार करना चाहिए।

पुरीषवह स्रोतो के मुल इत्यादि—पुरीषवह स्रोतो के मूल पक्वाशय तथा स्थूलगुद (पाठान्तर में--स्थूलान्त्र तथा गुद) (सुश्रुत में--पक्वाशय और गुद) हैं। इन के दुष्ट होने पर विशेष लक्षण ये होते हैं।--पीडित पुरुष सकृच्छ् मलोत्सर्ग करता है (मल विसर्जन करते हुए उसे वल करना पडता है)। प्रवृत्ति अल्प-अल्प होती है। प्रवृत्ति के समकाल या आगे-पीछे शूल और शब्द होते हैं। मल अति द्रव या अति ग्रथित होतति प्रचुर हे। मल अर होता है। इन लक्षणो को देखकर पुरीषवह स्रोत दुष्ट हुए हैं यह निदान करना चाहिए।

पक्वाशय, गुद, स्थूलान्त्र इन अवयवो को पुरीषवह स्रोत का मूल कहा है। पुरीषधरा कला का पृथक् निर्देश तन्त्रकारो ने अन्यत्र किया है। इन अवयवो से भिन्न किस अवयव को (सुश्रुत के निर्देशानुसार किन दो अवयवो को) पुरीषवह स्रोत कहा जाए यह शेष प्रश्न है। पुरीष में शरीर के इतर भागो से भी मल द्रव्य पक्वाशय में आते हैं। अतएव नवीनों ने व्रणो के उपचार के प्रकरण में विरेचन की योजना की है। प्राचीनों ने तो व्रण के षष्टि उपक्रमों में अन्य संशोधनो के साथ विरेचन की भी गणना की ही है। व्रण के रोगी को विरेचन देने में नवीनो का आधार यह है कि, व्रण में जो विष द्रव्य (टॉक्सीन) बनते हैं वे शरीर में प्रसृत होते हुए शुद्ध्यर्थ पक्वाशय मे आते हैं। विरेचन द्वारा इनकी शुद्धि न करते रहें तो ये गृहीत हो शरीर में ज्वर-प्रभृति विक्रिया उत्पन्न करते हैं। तो पुरीष की वृद्धि करनेवाले ये द्रव्य तथा अतिसार आदि रोगो में शारीर क्लेद एवं

अन्य रोगों में तत्-तत् दोष (वातादि तथा रक्त) जिन मार्गों से पक्वाशय और गुद इन दो मूलो (सिरो, अन्त्रों) के मध्य में स्थित अवकाश मे प्रविष्ट होते हैं उन मार्गों का नाम मेरे ख्याल मे पुरीषवह स्रोत हो सकता है। इस अवकाश में स्थित अन्नपान का अशभूत क्लेद जिन मार्गों से गृहीत होकर मूत्र की वृद्धि करता है वे मार्ग मूत्रवह स्रोत हैं, यह निर्विवाद मत है। इसी प्रकार पुरीष का अङ्ग बनने-वाले द्रव्य जिन सूक्ष्म स्रोतों से पक्वाशय में आते है वे पुरीषवह स्रोत कहे जा सकते हैं। ये शुद्ध हो तो मल न बहुत द्रव होता है न बहुत ग्रथित इत्यादि।

पुरीषवह स्रोतो की दुष्टि के लक्षण में पुरीष की अल्प-अल्प प्रवृत्ति यह एक लक्षण निर्दिष्ट है। इससे यह अभिप्रेत है कि पुरीष द्रव हो, सान्द्र हो या ग्रथित, वायु के कोप से इसका भेदन हो जाता है। पुरीष के पृथक्-पृथक् खण्ड हो जाते हैं। परिणाम यह होता है कि रोगी का मलोत्सर्ग नित्य के क्रमानु-सार एक-दो-तीन जितनी भी वार होता था उतनी ही वार अब भी होता है। परन्तु वह एक वेग के समय एक ही साथ सपूर्ण निकल नही जाता। किन्तु थोडा-थोडा करके प्रवृत्त होता हे। इस प्रकार रोगी को मलोत्सर्ग में सामान्य की अपेक्षया बहुत अधिक काल लगता हे। यह विकृति कई वार आजन्म रहती है। ऐसे ही रोगी होते हैं जो घण्टों-घण्टो भी वर्च स्थान (सडास) में बैठते हैं और कालक्षेपे के लिए वर्तमान पत्र इत्यादि साधनों का उपयोग करते देखे-सुने जाते हैं। कई रोगियों में मल खण्डित हो कर अति दूर-दूर स्थान पर स्थित होता है। परिणामतया प्रत्येक मल अशकी प्रवृत्ति के वेग पर्याप्त समय के अन्तर से होते है। इन रोगियों को सामान्यतया अहोरात्र में जितनी वार मलोत्सर्ग के वेग होते थे, उसकी अपेक्षया अधिक संख्या में वेग होते हैं। जैसा कि ऊपर कहा, मल द्रव, सान्द्र या ग्रन्थित (गाठ दार) किंवा रक्त, शूल, कफ ,वात आदि के सहित या इन से रहित किसी भी प्रकार का हो सकता है। वातकृत इस विकृति को विड्भेद कहते हैं। यह स्वतन्त्र भी होती है और तत्-तत् रोग का अङ्गभूत भी होती है।

इन पुरीषवह स्रोतों की दुष्टि वेगधारण से, अत्यशन से, आमाजीर्ण आदि अजीर्ण के किसी भी भेद से किंवा अध्यशन से होती है। पुरुष जन्म से या व्याधि-विशेषवश मन्दाग्नि या कृश हो तो भी उसके पुरीषवह स्रोतों की उक्त लक्षणाक्रान्त दुष्टि होती है।

आमाजीर्ण आदि अजीर्णो से कच्चे-पक्के दस्त होने का प्रत्यय प्रत्येक व्यक्ति को होता ही है। इस विक्रिया का शास्त्रीय नाम आमातिसार है। इसके अतिरिक्त वातज आदि दोषज अतिसारों मे भी दोष आम हों तो भी अतिसार आम कहाता है। परन्तु तब उसके नाम में दोष-भेद से आम 'वातातिसार' आदि विशेषणों का प्रयोग किया जाता है। आमाजीर्ण मे आम अत्यधिक हो तो

उसके कफस्वभावी होने से उस के मन्द गुण के कारण आमपक्वाशय में अन्नपान, पुरीष आदि का वहन करने में प्रेरक रूप प्राण, समान तथा अपान वायु आवृत होने से उनका यह प्राकृत कर्म क्षीण हो जाता है। पक्वाशय में वहन क्षीण (मन्द) होने का परिणाम यह होता है कि तदन्तर्गत स्नेह तथा क्लेद का पचन और शोषण करनेवाले पुरीषाग्नि और वायु सम प्रमाण में हो तोभी उन्हें अपना प्राकृत कर्म करने के लिए काल अधिक मिलता है। परिणामतया पुरीष में शुष्कता अधिकाधिक आती जाती है, जिससे अन्त में वह ग्रथित हो जाता है। यह ग्रथित मल वायु को अवरुद्ध कर विगुण होता हुआ शूलादि लक्षणों को भी उत्पन्न करता है।

पुरीषवह स्रोतो की दुष्टि के लक्षण देखकर वही चिकित्सा करनी चाहिए जो दोषभेद से अतिसार के विभिन्न भेदो की की जाती है।

स्वेदवह स्रोतो के मूल इत्यादि—स्वेदवह स्रोतो के मूल मेद तथा रोमकूप है। इनकी दुष्टि हो तो स्वेदनाश या अति स्वेद, अङ्गो की (त्वचा, जिह्वा आदि की) परुषता या अतिश्लक्ष्णता, अङ्गों में सर्वत दाह तथा रोमाञ्च। इन लक्षणो को देखकर पुरुष के स्वेदवह स्रोत दुष्ट हुए है, यह अनुमान करना चाहिए।

व्यायाम, अति सताप (धूप, अग्नि आदि की उष्णता), अति शारीरिक-मानसिक क्षोभ, शीत और उष्ण का क्रमहीन सेवन, क्रोध, शोक तथा भय—इन कारणो से स्वेदवह स्रोतो पर क्रिया होकर उनकी दुष्टि होती है। इस स्थिति में वही उपचार करना चाहिए जो ज्वर होने पर किया जाता है।

इस विषय मे कुछ सकेत पहले कर आए है कि स्वेदवह स्रोत से केवल उत्पन्न स्वेद को वाहर लानेवाली नालियाँ अभिप्रेत नही है। किन्तु स्वेद को उत्पन्न करनेवाले कोष किवा उनकी पुञ्जभूत ग्रन्थियों का भी ग्रहण स्वेदवह स्रोत शब्द से करना चाहिए। व्यायाम, क्रोध, ज्वरारम्भक निदान तथा उनके उपचार इत्यादि की क्रिया से जो स्वेद की उत्पत्ति या नाश होता है उसमें क्रिया केवल नालियो पर होना प्रत्यक्षसिद्ध नही है। इसी प्रकार आर्तव, शुक्र आदि का वहन करनेवाले स्रोत भी केवल नालीरूप नही समझे जा सकते। इनका भी व्यापक अर्थ उत्पादक ग्रन्थि-समेत वाहक नाली (नाडी) लेना समीचीन होगा। किं वहुना, ऊपर हम यह भी कह आए है कि स्वय स्रोत शब्द शरीर के चरम इकाई रूप शरीरपरमाणुओ या कोषों (सेलों) का वाचक होना आयुर्वेद के पूर्वाचार्यो को अभिमत प्रतीत होता है। इस दृष्टि से स्रोतो का विचार किया जाए तो इनका स्वरूप विशदतर हो सकता है।

रोग-परीक्षा के प्रकरण में स्रोतो की परीक्षाका उल्लेख कर अव हम अन्य परीक्ष्य वस्तुओं का निर्देश करते है।

बाह्य स्रावों की परीक्षा

रोगो की सामान्य सप्राप्ति के प्रकरण में वाग्भट ने कहा है : दोषा दुष्टा रसैर्धातून्[1] दूषयन्त्युभये मलान् (अ हृ सू ११।३५) : अर्थात्—मधुरादि रसो एव गुरु-लघु आदि गुण आदि के मिथ्यायोग, अतियोग या हीनयोग से प्रथम दोषो का वैषम्य होता है। विषम हुए दोष रस-रक्तादि धातुओ को दूषित करते हैं। दूषित दोष तथा धातु दोनों सयुक्त होकर मलों को दूषित करते हैं।

इस प्रकरण में वाग्भट ने तथा इसी के सदृश प्रकरण मे (च सू. ७। ४२ में) चरक ने आगे कहा है कि मल अपनी वृद्धि या क्षय का प्रभाव अपने-अपने मलद्वार पर डालते हैं। परिणामतया, अलक्ष्य दोषों की विषमता का स्वरूप ,तथा उसका तारतम्य मलो तथा मल द्वारों को देखकर सम्यक् जाना जा सकता है। त्वचा, गुद, शिश्न आदि मलद्वार हैं तथा पुरीष, मूत्र आदि मल है, जिन की परीक्षा आयुर्वेद-मत से रोग-परीक्षा में सदैव की जाती है। नीचे दिए प्रसिद्ध पद्य में इस दृष्टि से परीक्षणीय भावो का परिगणन किया गया है।

रोगाक्रान्तशरीरस्य स्थानान्यष्टौ परीक्षयेत्।
नाडीं, मूत्रं, मलं, जिह्वां, शब्दस्पर्शदृगाकृतीः॥

अर्थात् रोगी के शरीर के निम्न आठ स्थानो की परीक्षा करनी चाहिए : नाडी, मूत्र, मल, जिह्वा, शब्द, स्पर्श (त्वचा), नेत्र तथा आकृति।

नाड़ी से किसी बाह्य स्राव या मलकी परीक्षा नही की जाती। तथापि दोषो का प्रभाव हृदय पर और उसके द्वारा उससे निकलनेवाली धमनी-सज्ञक शिराओं पर पडता है, अत. दोषो के बलाबल का ज्ञान धमनियो की परीक्षा से होता है। परीक्ष्य धमनियो को आयुर्वेद में नाडी नाम दिया गया है। नाडी-परीक्षा के सबन्ध में अधिक विचार इसी ग्रन्थ में आगे आएगा। यहाँ इतना ही कहना है कि दोषो का प्रभाव रस-रक्त पर पडता है और निज या आगन्तु किसी कारण से शरीर के किसी मार्ग से रक्तस्रुति हो तो उसकी परीक्षा से जाना जा सकता है कि वह किस दोष से आक्रान्त है। पुरीष, मूत्र, रक्त आदि स्रावो एव त्वचा आदि इन्द्रियाधिष्ठानो की दोष भेद आदि की दृष्टि से परीक्षाएँ शास्त्र में निर्दिष्ट है। उनका क्रमश. उल्लेख किया जाता है।

शुद्ध तथा अशुद्ध रस के लक्षण

रक्तसार पुरुषों के लक्षण में शुद्ध रक्त के ऐसे लक्षणो का निर्देश किया जा चुका है जिन्हें देखकर निज या आगन्तु किसी कारण से रक्त का स्राव हुए विना

१—रसग्रहण वीर्यादीनामुपलक्षणम्—अरुणदत्त।

भी जाना जा सकता है कि यह पुरुष शुद्धरक्तवान् है। यहाँ उन लक्षणों का निर्देश किया जाता है जिन को स्रुत रक्त मे देखकर कह सकते है कि यह रक्त शुद्ध है या वातादि दोषों मे किसी दोष से दूषित (अशुद्ध)।

क्रियाशारीर या दोषधातुमलविज्ञान मे शुद्ध रक्त के अधोलिखित लक्षण[१] बताए गए है. शुद्ध रक्त रक्तवर्ण होता है। मानवों की वातिक, पैत्तिक, श्लैष्मिक और सम प्रकृति के अनुसार रक्त की रक्तिमा में न्यूनाधिक भिन्नता होती है। समप्रकृति पुरुष के रक्त की रक्तिमा इन्द्रगोप (बीरबहूटी) के वर्ण के सदृश होती है। शेष वातादि प्रकृतिवाले पुरुषो के रक्त का वर्ण तप्त सुवर्ण, रक्तकमल, लाक्षारस या गुञ्जाफल के सदृश[२] होता है।

एव शुद्ध रक्त न अति घन न अति अच्छ (पतला), तथा असक्न्दनशील (न जमनेवाला) होता है।

वातादिदोषदूषित अशुद्ध रक्त के पृथक् लक्षण ये है।

वात-दूषित रक्त कृष्णारुण (काले-गुलाबी) वर्ण वाला; तनु (पतला) रूक्ष (चक्षुरिन्द्रिय तथा स्पर्शनेन्द्रिय को स्निग्धता रहित प्रतीत होनेवाला), परुष, शीघ्रगति––क्षत से अधिक वेग से निकलनेवाला, विशद (पिच्छिलता-रहित) एव अस्कन्दनशील (न जमने के स्वभाववाला) होता है।

पित्त-दूषित रक्त नील-हरित-पीत-श्याववर्ण, आमगन्धि (कच्ची मछलियो के गन्धवाला), (पित्त के तिक्त रस, तीक्ष्णत्वादि गुणों के कारण) मक्खियों और पिपीलिकाओं को अप्रिय––ये प्राणी खाने के लिए जिस पर न बैठे ऐसा उष्णस्पर्श तथा अपनी उष्णता के कारण देर से जमनेवाला या न जमनेवाला होता है। वर्ण-भेद की व्याख्या करते डल्हन ने लिखा है कि श्याव (हरित-कृष्ण) वर्ण साम पित्त से दूषित रक्त का होता है; निराम पित्त दूषित रक्त पीत वर्ण होता है।

१––स्थल च सू २४।२२, सु सू १४।२२ तथा चक्रपाणि––डल्हन।

२––सुश्रुत के मूल वचन मे 'अविवर्णम्' विशेषण है। डल्हन ने इसकी टीका मे लिखा है––अविवर्णमिति इन्द्रगोपकवर्णमपि ईषद विविधवर्णम्। एतेन पद्मालक्तकगुञ्जाफल वर्णमित्युक्तम्। अथवा वस्त्रादिलग्न सत् प्रक्षाल्यमानं न विवर्णता यातीत्यविवर्णम्। प्रथम अर्थ ऊपर दिया है। द्वितीय अर्थ यह है कि––वस्त्रादि पर लगने पर इसे धोएँ तो जो विवर्ण (भिन्नवर्ण का) न हो जाए वह अविवर्ण। 'असहतम्' का अस्कन्दनशील अर्थ भी एकीय मत से है।

३––स्थल च सू २४।२०-२१, सु सू १४।२१, तथा डल्हन।

कफ-दूषित रक्त गैरिक (गेरू) के द्रव (घोल) के समान पाण्डु-रक्त वर्ण का (किञ्चित् पाण्डु), पिच्छिल (चिपचिपा), तन्तुमान्, बहल (अधिक प्रमाण वाला), घन (गाढ़ा), स्निग्ध, शीतल, चिरस्रावी (क्षत से धीमे-धीमे स्रुत होने वाला), एवं अपने शीघ्र जमने के स्वभाव (तन्तुमत्ता) के कारण जमकर मांसपेशी (मांस खण्ड) के सदृश प्रतीत होनेवाला होता है।

प्रकुपित रक्त दूषित रक्त मे पित्तदुष्टि के ही लक्षण होते है; परन्तु उसमें कृष्ण-वर्णता विशेष होती है।

संसर्ग (दोष द्वय)—दूषित रक्त में संसृष्ट दोषों के लक्षण दृग्गोचर होते हैं।

संनिपात-दूषित रक्त तीनों दोषो के उक्त सर्वलक्षणयुक्त, काञ्जी के समान तथा विशेष दुर्गन्धयुक्त होता है।

जीवरक्त तथा पित्तरक्त मे भेद[1]

वमन का अतियोग होने पर मुख या आमाशय से तथा विरेचन का अतियोग होने पर गुदमार्ग से रक्त प्रवृत्ति एक लक्षण होता है। यह रक्त पित्तदूषित या शुद्ध दोनों में कोई हो सकता है। रक्तपित्त, रक्तप्रदर आदि रोगों में भी रक्त पित्तदूषित या शुद्ध दोनों में कोई हो सकबा है। रक्तपित्त-रक्तप्रदर आदि रोगो में भी रक्त पित्त इन भेदो दूषित या शुद्ध में कोई होना संभव है[2]। शरीर से किसी भी कारण शुद्ध रक्त की प्रवृत्ति हो तो उसे जीवादान कहते हैं। क्रियाशारीर में रक्त के प्राकृत गुण-कर्म बताकर रक्त को जीवन का परम आधार होने से जीव ही कहा जाता है यह सिद्धान्त बताया गया है। रक्तं जीव इति स्थितिः। रक्त पित्तदूषित हो तो सामान्यतया उसकी उपेक्षा करनी चाहिए, उसके स्तम्भन का उपाय न करना चाहिए। कारण, रक्त के साथ उसकी दुष्टि करनेवाला पित्त भी निकल जाने से रक्त और सर्वाङ्ग निर्दोष हो जाता है। परन्तु जीवरक्त (शुद्ध रक्त) का एक भी बिन्दु शरीर से निकलने न देना चाहिए। स्थिति यह होने से किसी भी कारणवश निःस्रुत रक्त पित्तदुष्ट (रक्तपित्त) है या जीवरक्त इस की परीक्षा आवश्यक है।

यहाँ दुष्टि के कारणभूत अन्य दोषो को स्मरण न कर केवल पित्त को

१—स्थल च सि ६।७८-८०, सु चि ३४।१४

२—इस बात का प्रमाण यह है कि चरकाचार्य ने जो बीस पित्तनानात्मज रोग गिनाए है, उनमे जीवादान भी एक है। शिवदास सेन ने इसका अर्थ 'जीवनहेतु-भूत धातुरूपशोणितनिर्गम.' कह कर वही अर्थ बताया है जो वमन-विरेचनातियोग की जीवादान-रूप व्यापत्ति का बताया गया है।

लक्ष्य मे रखना सकारण है। रक्त आग्नेय (अग्नि महाभूत की अधिकतावाला) और उष्ण-तीक्ष्णादि गुणयुक्त होता है। कफ तथा वायु में इसके विपरीत शीत-स्निग्धादि गुण होते हैं। विरोधी गुणो के द्वारा रक्त अपने आश्रय में कफ और वायु की वृद्धि उतनी नही होने देता। पित्त रक्त का समानधर्मा होने से रक्त को शान्त नही करता। दोनों समान होने से एक-दूसरे के बल की वृद्धि करते हुए रक्तज रोगो को उत्पन्न करते हैं। परिणामतया रक्तज रोग प्राय पित्तज होते है। अतएव जीवादान के इस प्रकरण मे दूषित रक्त को रक्तपित्त नाम से ही स्मरण किया है।

जीवरक्त तथा शुद्धरक्त की परीक्षा यह है। निर्गत रक्त में श्वेत शुष्क वस्त्र अथवा पिचु (रूई का टुकडा) भिगोए। इसे उष्ण जल से धोने पर वस्त्र वा पिचु शुद्ध निकल आए उसपर किसी प्रकार का कलङ्क (डाग) न रहे, तो इसे जीवरक्त जाने, अन्यथा पित्तदूषित रक्त जाने। अन्य परीक्षा यह है कि इस रक्त में चावल या सत्तू मिला कुत्ते या कौए के आगे रखें। वह यदि खाए तो जीवरक्त जाने, अन्यथा दुष्ट रक्त (रक्तपित्त) है ऐसा समझे।

शुद्ध और दुष्ट आर्तव की परीक्षा

शुद्ध आर्तव मास में एक वार अपत्यपथ (योनि) से प्रवृत्त होता है। यह अग्नि-महाभूत की प्रधानता वाला रक्त धातु ही होता है। इस की पुष्टि रस धातु से एक सप्ताह में होती है। इसकी पुष्टि और आविर्भाव को एक मास लगता है। केश के सदृश सूक्ष्म सिराएँ (केशिकाएँ) इस रक्त (बीजरक्त) से परिपूर्ण होकर गर्भाशय को पूर्ण करती हैं। इन केशिकाओ का पूरण दो धमनियो द्वारा आए रक्त से होता है। गर्भाशय मे आकर यही सार्वदैहिक रक्तधातु आर्तव इस सज्ञा को प्राप्त होता है। वायु के प्रभाव से यह कुछ कृष्णवर्ण और विकृत गन्धवाला रक्त योनि के द्वार पर आकर निकल जाता है। इस अवसर पर गर्भस्थिति न हो तो गर्भाशय पुन. सकुचित हो जाता है और (पु) बीज को ग्रहण नही कर सकता।

आर्तव शुद्ध हो तो उसमें ये लक्षण होने चाहिए : उसकी प्रवृत्ति मास में एक वार हो। उसकी प्रवृत्ति पॉच दिन हो। उसका प्रमाण न अति बहु हो, न अति अल्प। उसका वर्ण इन्द्रगोप, गुञ्जाफल, रक्त कमल, शशक के रक्त या लाक्षारस के सदृश हो। उसमें पिच्छा (कफ के छिछडे) न हो। उसकी प्रवृत्ति के आगे-पीछे या उसके समकाल दाह या वेदना न हो। वह स्निग्ध और मधु के गन्धवाला हो, पिच्छिल तथा शीत न हो। एव वस्त्र पर लगा वह (आर्तव)

शुष्क हो जाने पर उसे धोया जाय तो उस का कलङ्क (डाग) न रहे। ऐसा आर्तव प्रशस्त--गर्भजननोपयुक्त--होता है[1]।

आर्तव की प्रवृत्ति मास में एक वार होनी चाहिए इसका अर्थ यह नही कि प्रवृत्ति तीस-तीस दिन के अन्तर से हो। प्रत्येक स्त्री में तीस दिन से कुछ न्यूनाधिक दिनो के अन्तर से आर्तव-प्रवृत्ति होती है। इस प्रकार अन्तर के दिनो की प्राकृत सख्या प्रत्येक स्त्री में पृथक् होती है। इस सख्या मे वृद्धि -ह्रास होना दुष्टि का लक्षण होता है।

'पञ्चरात्रानुवन्धि' की विशदता करते चक्रपाणि ने लिखा है : पञ्चरात्रानुवन्धीति उद्भूततया पञ्चरात्रमनुबध्नाति इति पञ्चरात्रानुवन्धि द्वादशरात्रानुबन्धित्वादार्तवकालस्य। किंवा द्वादशरात्रपर्यन्तं गर्भारम्भकत्वमार्तवस्य न तु प्रवृत्तिरिति ज्ञेयम्--अर्थात् स्राव के पश्चात् बारह और सब मिलकर सोलह रात्रियाँ (दिवस) आर्तवकाल कहा ता है। इस काल में स्त्री को ऋतुमती कहते है। शुद्ध आर्तव के लक्षणों मे जो पाँच रात्रियो तक अनुबन्ध (सवन्ध-आर्तवकाल) की बात कही है उसका अर्थ यह है कि इतने दिनो की अवधि में आर्तव उद्भूत (प्रकट, प्रत्यक्षगोचर) होता है। (परन्तु उसमे गर्भोत्पादनक्षमता नहीं होती)। इसी को अन्य शब्दों में यो भी कह सकते है कि बारह दिनो मे आर्तव में (जो कि लीन अवस्था में गर्भाशय में ही रहता है) गर्भ के उत्पादन का सामर्थ्य रहता है, प्रवृत्ति नही होती। इस पद्य की टीका में मधुकोषकार ने भी ऐसी ही व्याख्या की है।

शुद्ध आर्तव के वर्ण में जो इन्द्रगोप, गुञ्जाफल इत्यादि उपमान बताए है उसका अर्थ भी शुद्ध रक्त के वर्ण के सदृश यही है कि सम-प्रकृति स्त्री में इन्द्रगोप या गुञ्जाफल के समान वर्ण होता है। शेष वर्ण तत्-तत् प्रकृति मे होते है। परन्तु, प्रकृति निरूपण के प्रकरण में चरक ने कहा है कि मानवों का स्वभाव ही विषम आहार-विहार करने का होता है, जिसमे दोषो का समत्व उन में रहना संभाव्य ही नही है। अतएव वातल आदि को प्रकृति न कह कर विकृति ही कहना योग्य है। (देखिए : च. वि. ६। १३)। इस चर्चा से प्रस्तुत प्रकरण में यह बोध ग्रहण कर सकते है कि स्त्री-पुरुषमात्र में दोषो का साम्य दुर्लभवत् होने से इन्द्रगोप या गुञ्जाफल के सदृश रक्त किंवा आर्तव प्रायः होता नही। स्वयं

१--स्थल· सु सू १४।७ ; सु सू १४।१४, इसपर डल्लन--चक्रपाणि-टीका, सु शा, ३।९-१० ; सु शा ६।७, सु शा ६।१२, सु शा २।१७ ; च चि ३०।२२५-२२६ ; पिछले दो स्थलो पर चक्रपाणि तथा मधुकोष टीका।

सुश्रु[illegible] ने नीचे के पद्य मे आर्तव का सामान्य स्वरूप बताते हुए उसे ईषत् कृष्ण और विकृतगन्धवाला कहा है। देखिए :—

मासेनोपचितं काले धमनीभ्या तदार्तवम्।
ईषत् कृष्णं विगन्धं च वायुर्योनिमुखं नयेत्॥

सु० शा० ३।१०

इस प्रकरण में लाक्षा वदरी, पिप्पली आदि पर लगी ग्राह्य है, न कि उसे शुद्ध कर बनाई हुई शलाका, जो मुद्रा (सील) के लिए बाजार में मिलती है। (वृक्ष-लग्न लाक्षा भी मुद्रा का काम देती ही है)।

पिच्छा आदि लक्षण तत्-तत् दोष-कृत दुष्टि के हैं। पिच्छा प्रतिश्याय, कास, आदि मे निकलनेवाले कफ के समान आर्तव में कफ की वृद्धि और स्थान संश्रय के सूचक हैं। दाह तथा उष्णता पित्त-वृद्धि के सूचक हैं। वेदना वातप्रकोप के कारण होती है। इन-इन दोषो का स्थान-सश्रय गर्भाशय और आर्तव में होने से तत्-तत् विकृतियाँ होती हैं। योनिव्यापत् नाम से शास्त्र में इनका उल्लेख किया है। ये व्यापत्तियाँ वात, पित्त तथा श्लेष्मा के कोप के भेद से संक्षेप में तीन प्रकार की होती है। आर्तव की अति प्रवृत्ति अर्थात् नियत अन्तर के पश्चात् प्रवृत्त होने पर भी अधिक दिन प्रवृत्ति, किंवा प्रवृत्ति उतने ही दिन हो तो भी आर्तव का प्रमाण अधिक होना अथवा आर्तव अल्प दिनो के अन्तर से आना असृग्दर या रक्तप्रदर कहाता है। अपत्यपथ से रक्तस्राव कई दिन, सप्ताह या महीने रहे यह विकृति रक्तयोनि या असृक्क्षरायोनि कहाती है। यह पैत्तिक योनि व्यापदो मे एक है।

वर्ण, प्रमाण आदि की इन विकृतियो के अतिरिक्त दोष का स्थान सश्रय स्वय आर्तव रक्त मे होने से उसके स्वरूप मे भिन्नता होती है। सुश्रुत तथा सग्रहकार ने इन दुष्टियों के निर्देश के क्रम में प्रथम शुक्र की दुष्टि का सविस्तर निर्देश किया है। पश्चात् आर्तव की दुष्टि के प्रति सकेतमात्र किया है। उसके अनुकरण मे हम भी आर्तव की दुष्टियो का केवल नामत. निर्देश कर विस्तार शुक्रदुष्टि के विवरण में देगे। दूषित आर्तव के वातदूषित, पित्तदूषित, श्लेष्म दूषित, कुणपगन्धि, ग्रन्थिसदृश, पूतिपूयसदृश, क्षीण और मूत्रपुरीषगन्धि आर्तव ये आठ भेद होते है। ये आर्तव बीज के धारण में अशक्त होते हैं। इनमें कुणप गन्धि (शवसदृश गन्धवाला), ग्रन्थिसदृश, पूतिपूयसदृश, क्षीण और मूत्रपुरीष-सदृश आर्तव असाध्य होता है, शेष साध्य होते हैं। (नवीनों का रक्तार्बुद-केन्सर आदि-से प्रवृत्त होनेवाला दुर्गन्धि रक्त इन विकृतियों मे ही कही समाविष्ट किया जा सकता है। लघु वाग्भट ने अ. हृ उ. ३३।२४-२६ मे शिश्न के रक्तार्बुद और मासार्बुद का निर्देश किया है। मासार्बुद को प्रत्याख्येय भी कहा

है। इसके पश्चात् इसी अध्याय में योनिव्यापत्तियो का वर्णन किया है। परन्तु उनमें अर्बुद का उल्लेख नही किया है)।

शुद्धाशुद्ध शुक्र की परीक्षा[1]

शुद्ध शुक्र के लक्षण शुक्रसार पुरुषों के लक्षण के रूप मे आ ही गए है। उनके अतिरिक्त रक्त के सदृश प्रवृत्त शुक्र के स्वरूप एव प्रवृत्ति-समकालिक लक्षणों द्वारा भी शुद्ध तथा अशुद्ध शुक्र के लक्षण जाने जा सकते है। इनमें —

शुद्ध शुक्र स्फटिकवत् निर्मल (स्वच्छ, पारदर्शक), किन्ही के मत मे तैल या मधु के सदृश ; स्निग्ध, गुरु, घन, किंचित् द्रव, पिच्छिल, बहु (पुष्कल प्रमाण-वाला) मधुर, अविदाहि, शुक्लवर्ण, मधुतुल्य गन्धवाला तथा आमगन्धरहित होता है। यही प्रजोत्पत्तिक्षम होता है।

प्रकुपित हुए दोषो का स्थानसश्रय शुक्र मे हो तो उसके स्वरूप मे दोषभेद से तत्-तत् विकृति होती है। एव उसकी प्रवृत्ति के समकाल भी तत्-तत् लक्षण होते है। चरक, सुश्रुत दोनो ने दुष्ट शुक्र के आठ-आठ प्रकार बताए है। इनमे वात, पित्त, कफ तीनो दोषो से पृथक्-पृथक् दुष्ट हुए शुक्र के लक्षण दोनो तन्त्रों का समन्वय कर आरम्भ में देता हूँ। सग्रहकार ने इन के लक्षण 'समन्वयपूर्वक ही दिए भी है।

वात दूषित शुक्र फेनयुक्त, पतला तथा रूक्ष होता है। उसका वर्ण अरुण-कृष्ण आदि कुपित वायु के सदृश होता है। वह देर से, कठिनाई से तथा अल्प प्रमाण में एव रुक-रुक कर (विच्छिन्न) प्रवृत्त होता है। उसकी प्रवृत्ति के समय (शिश्न आदि अवयवों में) तोद-भेदादि वेदनाएँ होती है। यह प्रजोत्पत्तिक्षम नही होता।

वातिक कास में कफ, वातिक स्तन्य, वातिक छर्दि मे वान्त द्रव्य, वातिक शुक्र इत्यादि में द्रव्य का फेनयुक्त होना विशिष्ट लक्षण होता है। होता यह है कि द्रव्य का घनत्व अल्प होने से प्रवृत्ति के समय बाह्य वायु उसमे प्रविष्ट हो जाता है। परिणामतया, साबुन के पानी के फेन आदि के सदृश इन द्रव्यो मे भी फेनिलता (फेनयुक्तता) आती है।

वातदुष्ट शुक्र पतला (तनु) होने का कारण यह होता है कि शुक्र के घटक (पुबीज आदि) की पुष्टि उतनी नही होती। धातु विशेष का क्षय होने से ही वायु को उसमें स्थान सश्रय का अवकाश सुलभ होता है। शुक्र का पतलापन लोकव्यवहार में सुप्रसिद्ध है।

१—स्थल सु शा २।११, च चि ३०।१४५, च चि २।पा-४-५०, च चि ३०। १३९-१४४, सु शा २।३-४, च चि २८।३४, च. चि. २८।६८, सु नि १।२९ (तथा डल्हन), अ स शा १।

शुक्र की कठिनाई से प्रवृत्ति का अर्थ यह है कि उसकी मात्रा अल्प होने से उसकी प्रवृत्ति होती नहीं। आवेग की पूर्ति के लिए पुरुष बलप्रयोग (प्रवाहण) करता है। जैसे प्रवाहिका में मल की प्रवृत्ति के लिए तथा शर्करामेह में मूत्र की प्रवृत्ति में रोग-स्वभाववश रोगी को बलप्रयोग करना पड़ता है वही स्थिति शुक्र क्षीण होने पर किए गए व्यवाय में शुक्र की प्रवृत्तिके सम्बन्ध में होती है।

पित्तदूषित शुक्र किंचित् नील-पीत आदि पित्त के वर्ण वाला, अति उष्ण, दुर्गन्धियुक्त एव पिच्छिलता रहित होता है। उसके निकलते हुए ओष, चोष, दाह आदि पैत्तिक वेदनाएँ होती है।

प्रवृत्त हुए शुक्र के कृष्ण-अरुण, पीत आदि वर्ण व्यवाय में तो कदाचित् प्रत्यक्ष गोचर होने सभव नही, परन्तु स्वप्नमेह आदि में कपडे आदि पर पड़े उसके लाञ्छन (डाग) से ये वर्ण देखे जा सकते है।

कफ-दूषित शुक्र शुक्लवर्ण, प्रभूत (अधिक प्रमाणवाला) अति पिच्छिल तथा कण्डू आदि श्लैष्मिक वेदनाओ का जनक होता है। यह आमगन्धि (विस्रगन्धि) होता है। पानी में छोडने पर यह कुछ-कुछ नीचे बैठ जाता है। सग्रहकार ने इसे मज्जायुक्त भी कहा है।

शुक्रगत वात के लक्षण प्रकारान्तर से वातदूषित शुक्र के स्वरूप का ही निर्देश करते प्रतीत होते है। दोनो में भिन्नता यह समझनी चाहिए कि शुक्र वातदूषित हो तो शुक्रके स्वरूप में ही विकृति आ जाती है। उसका प्रभाव परम्परया शुक्र की प्रवृत्ति पर भी पडता है। शुक्रगत वात का अर्थ है . शुक्र स्वयं विकृत न हो परन्तु उसका स्थान तथा उसका प्रादुर्भाव और विसर्ग करने वाली धमनियाँ और स्रोत वाताभिभूत हो तो अमुक विकृति होती है। शुक्रगत वात के लक्षण ये है : शुक्र की अप्रवृत्ति (स्राव न होना), किंवा अति शीघ्र[१] या अति मन्द प्रवृत्ति ; किंवा शुक्रमें विवर्णता, ग्रथितता आदि विकृति होना, गर्भ का स्राव या पात ; अथवा गर्भ चिरकालतक (प्रसव का सामान्य काल उपस्थित होने के पश्चात्‌भी) गर्भाशय में रहना ; अथवा गर्भ के आकार में नाना विकृतियाँ होना।

वायु स्वयं शुक्रसे आवृत हो तो शुक्र का पात न होना या वेग से पतन अथवा गर्भोत्पत्ति की अयोग्यता (निष्फलत्व)—ये लक्षण होते है।

शुक्रविसर्गकर स्रोत वायु के कोप के कारण स्तब्ध (आकुञ्चन-प्रसारण रहित) हो तो शुक्र की प्रवृत्ति शक्य नहीं होती। अतिशीघ्र प्रवृत्ति के अनेक प्रकार हो सकते है। इसका एक प्रकार दिन में अल्पमात्र मानसिक या शारीरिक

१—Premature ejaculation—प्रीमेच्योर इजेक्युलेशन ; Early discharge—अर्ली डिस्चार्ज। प्रसिद्ध नाम—शीघ्रपतन।

कारण के योग से शुक्र की प्रवृत्ति हो जाती है। इस विकृति मे शारीरिक कारण का उदाहरण कण्डूयन (खुजलाना), हस्तदोष आदि है। इसका अन्य प्रकार रात्रि में न्यूनाधिक कारणवश स्वप्न में शुक्र की प्रवृत्ति (स्वप्नदोष) है। इसका तृतीय प्रकार व्यवाय-काल में दम्पती--विशेषतया स्त्री--तृप्तिलाभ करे उसके पूर्व ही शुक्रप्रवृत्ति होना है। इन स्थितियो मे प्रायः वैद्य शुक्र के तनुत्व (पतलापन) को ही ध्यान में रखकर वङ्गभस्म आदि शुक्रवृद्धिकर या शुक्रवह स्रोतो के बल्य उपचारों की योजना करते हैं। इन स्थितियों में वात की कारणता प्राय. लक्ष्य मे आती नहीं। वायु की वृद्धि न करें ऐसे आहार-विहार तथा औषधो एवं उत्पन्न वायु का शोधन-शमन करनेवाले उपचारो की योजना इन विकृतियों में की जाए तो यह मूलगामी उपचार उतना ही आशुफलप्रद भी होता है। इन से वायु का चल स्वभाव शान्त होकर उसके कारण शुक्र में आया चाञ्चल्य दूर होता हे।

गर्भ का स्राव या पात भी शुक्र में आये चलत्व के कारण होता है। क्षयादिवश शुक्र की अप्रवृत्ति, शुक्र का शीघ्र स्खलन एव उसके कारण स्त्री को सौमनस्य-लाभ न होने से गर्भधारण न होना किंवा गर्भ का स्राव या पात हो जाना--इन विकृतियो के कारण शुक्र में गर्भोत्पत्ति की अयोग्यता वातकृत शुक्र-विकृति का विशिष्ट लक्षण हे। कदाचित् यह भी स्थिति हो सकती है कि गर्भ का पोषण करनेवाले रस-रक्त वाही स्रोत वायु के कारण स्तब्ध हों--उनमें आवश्यक प्रमाण मे आकुञ्चन-प्रसारण न होता हो तो गर्भ की पुष्टि यथावत् न होने से वह जानो पुष्टि की प्रतीक्षा में प्रसवकाल के पश्चात् भी गर्भाशय में रहता हे। इस विकृति को शुष्क या नागोदर कहा जाता है। कदाचित् प्रसव के समय गर्भ के निष्क्रमण के मार्ग वायु के प्रकोप के कारण सकुचित हो जाएँ तो गर्भ पीडित होने से उसकी मृत्यु हो जाती है। इस स्थिति मे गर्भ को लीन कहते है। मृत्यु की इस दशा में विद्यमान परन्तु अभी मृत्यु को प्राप्त न हुए गर्भ को लीयमान गर्भ कहा जाता है। गर्भ की प्रतिबन्धक इन स्थितियो की सूचक एक सज्ञा गर्भनाश है। गर्भनाश वायु के अस्सी नानात्मज रोगो में एक है। निष्फलत्व शब्द से भी यही अर्थ गृहीत होता है।

अनपत्यता (प्रजा न होना) की स्थिति में केवल स्त्री दोष-पात्र नही होती। पुरुष का भी दोषी होना सर्वथा सभव है। यह इस वर्णन से स्पष्ट है। प्राचीन वैद्य तो अतएव अनपत्यता की अवस्था में स्त्री के साथ पुरुष को भी औषध-सेवन कराते थे। नव्य प्रत्यक्ष भी इस मत का समर्थन करता है। अनपत्यता के लगभग आधे प्रसगों में पुरुष कारण होता है। पुरुष में पुंबीजो की सख्या पर्याप्त न होना, किंवा उन में वेग पर्याप्त न होना किंवा गति सीधी दिशा में न होकर तिर्यक्

८. वृत्ताकार होना ये पुरुष के प्रजोत्पत्ति-विघातक शुक्रदोष नव्य-मत से माने जाते हैं।

इस प्रकरण में यह वस्तु भी समझ लेनी चाहिए कि व्यवाय की शक्ति या अशक्ति तथा प्रजोत्पादन का सामर्थ्य या असामर्थ्य भिन्न-भिन्न वस्तुएँ हैं। व्यवाय की शक्ति होते हुए भी पुरुष मे प्रजोत्पादन का सामर्थ्य न हो किंवा व्यवाय की शक्ति न होते हुए भी उसमें प्रजोत्पादन का सामर्थ्य हो यह सभव है। प्रजोत्पादन की शक्ति के अभाव को आयुर्वेद मे निष्फलत्व नाम दिया गया है। इसमें फल शब्द संतान का वाचक है। गर्भस्थिरताकारक प्रसिद्ध योग फलघृत में फल शब्द सतति के अर्थ में ही व्यवहृत हुआ है। आर्तव या स्त्री बीज को पुष्प कहा जाता है, तो प्रजा उसका फल है।[1]

शुक्र की दुष्टियाँ सुश्रुत के शब्दों में:[2] सुश्रुत ने दूषित या अशुद्ध शुक्र के आठ भेद कहे हैं—वातदूषित, पित्तदूषित, श्लेष्मदूषित, रक्तदूषित या कुणपगन्धि (शवगन्धि), वातश्लेष्मदूषित या ग्रन्थि भूत, पित्तश्लेष्मदूषित या पूतिपूयसदृश, पित्तवातदूषित या क्षीण तथा संनिपातदूषित या मूत्र पुरीषगन्धि। इनमें वातपित्त-कफ दूषित शुक्र के लक्षण ऊपर दिए जा चुके हैं। शेष का लक्षण क्रमश. देते हैं।

रक्तदूषित नाम वातादि दोषों से दूषित हुए रक्त के द्वारा दूषित शुक्र शवगन्धि तथा बहुल (अधिक प्रमाण में प्रवृत्त) होता है।

आगे आर्तव की दुष्टि के भी आचार्य ने यही नाम - रूप दिए हैं। इनमें कुणपगन्धि आर्तव के विषय में कुछ स्पष्टता आवश्यक है। नव्य प्रत्यक्षानुसार अपत्य-पथ से प्राय. अति प्रमाण में एवं दुर्गन्ध सहित रक्त की प्रवृत्ति दुष्टार्बुदो में होती किंच, पित्तला योनि मे जो गर्भाशय का पाक होता है वह कुपित पित्त का प्रमाण अति अधिक हो और भेदावस्था तक पहुँच चुका हो—श्लेष्मकला विदीर्ण होकर पाक व्रणभाव को प्राप्त हो गया हो, और उसके साथ प्रादेशिक रक्तधरा कला में भी क्षत हो चुका हो तो भी अपत्यपथ से रक्त की प्रवृत्ति होती है। इस रक्त में

१—अग्रेजी मे व्यवाय-शक्ति को Potency—पोटेन्सी, व्यवायाशक्ति को Impotency—इम्पोटेन्सी, प्रजोत्पादन-शक्ति को Fertility—फर्टिलिटी या Fecundity—फिकण्डिटी तथा प्रजोत्पादन की अशक्ति को Sterility—स्टरिलिटी कहते है। पुरुष मे प्रजोत्पादन शक्ति हो, परन्तु व्यवायशक्ति न हो, तो उसका शुक्र स्खलित कर नाडी द्वारा गर्भाशय मे प्रविष्ट कराने से गर्भधारण कराया जा सकता है।

२—सु० शा० २।३-४ तथा डल्हन।

भी कभी-कभी न्यूनाधिक दुर्गन्ध होती है। सभवतः इसका कारण यह हो कि रुग्णा ने जिन पित्तवर्धक द्रव्यो का अतियोग किया हो उनको निर्माण के पूर्व पाक-शास्त्र के नियमानुसार गलाया गया हो जिससे उनमें विशिष्ट गन्ध उत्पन्न हो गयी हो अथवा पकने के अनन्तर वासी होने से उनमे दुर्गन्ध उत्पन्न हो गयी हो। अंग्रेजी में पित्तला योनि को 'इरोज्ञन' तथा उसके दुर्गन्धयुक्त भेद को बैड इरोज्ञन कहते हैं। कुणपगन्धि आर्तव तथा अपत्यपथ से रक्त की दुर्गन्धयुक्त प्रवृत्ति के इन दो भेदो में प्राथमिक भेद यही है कि कुणप गन्धि आर्तव आर्तव की ही दुष्टि होने से इसका आविर्भाव ऋतुकाल मे ही होता है। शेष दो मे रक्तप्रवृत्ति 'प्रायः' सतत होती है। इन रोगो के अन्य भेदक लक्षण स्त्रीरोगविज्ञान में देखने चाहिए।

ग्रन्थिभूत शुक्र कफ तथा वात से दूषित होता है। इसमे शुक्र ग्रन्थियाँ (छोटी-छोटी गाँठो) के रूप मे प्रवृत्त होता है।

पूतिपूयसदृश शुक्र सडी हुई पूय के समान गन्ध-वर्ण वाला होता है। यह पित्त और कफ से दूषित होता है। ग्रन्थिभूत तथा पूतिपूयसदृश शुक्र मे दुष्टिजनक दोषों के पृथक् निर्दिष्ट वर्ण और वेदनाएँ मिश्र रूप से पाई जाती है।

क्षीण शुक्र[1] (शुक्रक्षय) पित्त और वायु से दूषित होता है। इसके लक्षण धातुओ के पृथक् क्षयो के लक्षणों के प्रकरण में कहे जा चुके है। कफ शुक्र का पोषक तथा वात और पित्त उसके क्षय कारक दोष हैं।

संनिपातदूपित (त्रिदोष दूषित) शुक्र में मूत्र और पुरीष का गन्ध होता है।

इन आठ में किसी भी प्रकार का शुक्र प्रजोत्पादन मे असमर्थ होता है। इनमे वातदूषित, पित्तदूषित तथा कफदूषित शुक्र सुख-साध्य होते है। कुणपगन्धि, ग्रन्थि-भूत, पूतिपूय सदृश तथा क्षीण शुक्र कष्टसाध्य होते है। मूत्रपुरीषगन्धि असाध्य होता है।

शुक्र की दुष्टियाँ चरक के पदों में :[2] चरक ने शुक्र के आठ दोष ये वताए हैं—फेनिल (फेनयुक्त), तनु (पतला, सान्द्र-विपरीत), रूक्ष (स्निग्ध-विपरीत), विवर्ण (विकृत वर्णवाला,) पूति (दुर्गन्धयुक्त) पिच्छिल, अन्यधातूपसंसृष्ट (अन्यधातु रक्त से संयुक्त) तथा अवसादि। इनमें—

फेनिल, तनु तथा रूक्ष एवं अल्प, अल्प होने के कारण जिसकी प्रवृत्ति वलात् करनी पडे ऐसा (कृच्छ्र) तथा प्रजोत्पादनासमर्थ शुक्र चरक ने वातदुष्ट बताया है। यह सुश्रुत का वातदुष्ट शुक्र ही है।

१—स्थल सु० सू० १५।९ तथा चक्र-डल्हन इत्यादि।

२—स्थल च० चि० ३०।१३९-१४४।

विवर्ण तथा पूति की व्याख्या करते हुए नील तथा पीत वर्ण वाला, दुर्गन्धयुक्त अति उष्ण एवं प्रवृत्ति के समकाल शिश्न में दाह करने वाला इन लक्षणो से विवर्ण का अर्थ पित्तदुष्ट शुक्र किया है। तात्पर्य, विवर्ण तथा पूति सुश्रुत के पित्तदूषित शुक्र ही हैं। कथंचित् पूति शब्द से सुश्रुत के कुणपगन्धि तथा मूत्रपुरीष-गन्धि का भी ग्रहण किया जा सकता है।

अति पिच्छिल शुक्र को श्लेष्मा से बद्ध मार्गवाला कह कर चरक ने उसे श्लेष्मदूषित कहा है। यह सुश्रुत का श्लेष्मदूषित शुक्र है।

रुधिरान्वय (रक्त मिश्रित) या अन्यधातूपसंसृष्ट शुक्र की व्याख्या करते हुए चरकाचार्य कहते हैं कि--अति व्यवाय, अभिघात या क्षत के कारण शुक्र रक्त मिश्रित प्रवृत्त होता है। इन में प्रथम कारण का निर्देश चरक ने प्रतिलोम क्षय (शुक्र क्षय) से होनेवाले राजयक्ष्मा की सम्प्राप्ति के प्रकरण में अधिक विशद-तया किया है। (देखिए . च. नि. ६।६)। यद्यपि चरकोक्त इस विकृति में तथा सुश्रुत के रक्तदुष्ट शुक्र में रक्त शब्द समान है तथापि दोनो के स्वरूप में अन्तर है। चरकीय विकृति में शुक्र क्षीण होने से या प्रादेशिक रक्तधरा कला में क्षत होने से रक्त की प्रवृत्ति होती है, परन्तु सुश्रुतीय विकृति में दोषो की दुष्टि से प्रथम रक्त दूषित होता है, दुष्ट हुए इस रक्त से शुक्र की दुष्टि होती है।

अवसादि का लक्षण बताते चरक कहते हैं: (मल, मूत्र, वायु तथा शुक्र का) वेग रोकने से वायु कुपित होकर शुक्र को मार्ग में---शुक्रविसर्गकर स्रोतो में---रुद्ध कर देता है। रोधवश यह शुक्र व्यवाय काल में बलात् प्रवृत्त (कृच्छ्र) करने से ही प्रवृत्त होता है। यह ग्रन्थिसदृश (ग्रथित, गुटिकाकृति) होता है। स्वरूप-साम्य को देखते यह विकृति कथंचित् सुश्रुत की ग्रन्थिभूत शुक्र हो सकती है, परन्तु दोनो के निदान मे स्पष्ट भेद है। वायु को दोनो तन्त्रकारो ने कारण माना है। चरक ने उसके कोप का विशेष कारण--वेगावरोध--भी बताया है।

उक्त आठो विकृतियो से युक्त शुक्र प्रजोत्पादनासमर्थ (अबीज) होता है। इस असमर्थता की संप्राप्ति बताते चरकाचार्य कहते हैं--

बीजं यस्माद् व्यवाये तु हर्षयोनिसमुत्थितम्।
शुक्रं पौरुषमित्युक्तं तस्माद्वक्ष्यामि तच्छृणु॥
यथा बीजमकालाम्बुकृमिकीटाग्निदूषितम्।
न विरोहति संदुष्टं तथा शुक्रं शरीरिणाम्॥
अतिव्यवायाद् व्यायामादसात्म्याना च सेवनात्।
अकाले वाऽप्ययोनौ वा मैथुनं न च गच्छतः॥

रूक्षतिक्तकषायातिलवणाम्लोष्ण सेवनात्।
नारीणामरसज्ञाना[१] गमनाज्जरया तथा॥
चिन्ताशोकादविस्रम्भाच्छस्त्रक्षाराग्नि विभ्रमात्।
भयात्क्रोधादभीचाराद्[२] व्याधिभिः कर्षितस्य च॥
वेगाघातात् क्षताच्चापि धातूनां संप्रदूषणात्।
दोषाः पृथक् समस्ता वा प्राप्य रेतोवहाः सिराः॥
शुक्रं संदूषयन्त्याशु तद्वक्ष्यामि विभागशः[३]॥

च० चि० ३०।१३३-१३६

मैथुन-क्रिया में हर्ष नाम कामोद्रेकवश बीजभूत शुक्रका आविर्भाव और उत्सर्ग होता है। यह शुक्र ही पुरुष का चिह्नरूप होने से पौरुष कहाता है।

जैसे गेहूँ, चना आदि का वीज अकाल मे वपन (वोया जाना), जल से फूल कर विगड जाना, कृमि-कीट द्वारा भक्षण, अग्नि से दहन इत्यादि कारणो से दूषित होकर अंकुरित नही हो पाता वैसे अपने-अपने प्रकोपक कारणो से कुपित हुए वातादि दोषो से दूषित हुआ शुक्र भी प्रजाजनन मे समर्थ नही होता।

अतिव्यवाय (अतिमैथुन), अति श्रम, असात्म्य (अहित आहार आदि) का सेवन, अकाल में नाम हर्ष और उत्थान न हुआ हो ऐसे समयो में किवा ऋतुकाल आदि निषिद्ध समयो में समागम, अयोनि-गमन (पाषाण-प्रतिमा, हस्त, मुख, गुद आदि में मैथुन), हर्ष होने पर भी समागम न करना या निकलने को प्रवृत्त शुक्र का निग्रह करना; रूक्ष, तिक्त, कषाय, अति लवण, अति अम्ल या अति उष्ण (अतएव शुक्र को क्षीण करनेवाले) द्रव्यों का सेवन; अरसज्ञ अर्थात् जिनकी कामवासना पुरुष की समान कोटि की न हो और जो इसी कारण किवा श्रम, चिन्ता आदि कारणो से रति के रस का सपूर्ण आनन्द अनुभव करने की स्थिति में न हो ऐसी स्त्रियो का समागम; उनकी रसानुभूति अल्प होने से पुरुष का मैथुन विना भी शुक्र-स्खलन; जरावस्था (वार्धक्य), चिन्ता, शोक,

---

१—अरसज्ञत्वात् स्रवणात् (सरणात्) इति पाठान्तरम्।

२—अतीसारात् इति पाठान्तरम्।

३—× × यस्माद्बीजभूतं गर्भस्य शुक्र तस्माद् वक्ष्यामि। व्यवाये हर्ष एव योनिः कारणं तस्माद्रुत्थितम्। पौरुषमिति पुरुषचिह्नम्; शुक्रेणैव हि पुरुषो व्यज्यते। मैथुन न च गच्छत इति उचितमैथुनकाले मैथुनागमनं शुक्रवेगप्रतीघातादेव दर्शयति। अविस्रम्भादिति अविश्वासात् × ×॥

—चक्रपाणि

(स्त्री पर) विश्वास का अभाव ; शस्त्रकर्म, क्षारकर्म तथा अग्निकर्म की कोई व्यापत्ति , भय, क्रोध, अभिचार (मारण आदि कर्म) ; अतिसार तथा अन्य व्याधियों के कारण शरीर कृश और दुर्बल होना ; वेगावरोध, क्षत एव धातुओं की दुष्टि—इन कारणों से कुपित हुए दोष पृथक्, ससृष्ट या समस्त शुक्रवह स्रोतों (वृषण से शिश्नाग्रपर्यन्त शुक्रयन्त्र) को प्राप्त हो शुक्र में वैगुण्य उत्पन्न कर देते हैं, जिसके कारण उसमें फेनिलता आदि उल्लिखित विकृतियाँ आ जाती हैं।

इन प्रकरणो को विशद समझने के लिए अन्य प्रकरणो का भी अनुशीलन करना चाहिए। यथा, यहाँ शुक्र की दुष्टि का एक कारण जरा (वृद्धावस्था) बताया है। उसका विस्तार चरक के इसी अध्याय में कुछ ही आगे जरासभव क्लैब्य के प्रकरण में देखा जा सकता है। अयोनि-गमन आदि की विशदता के लिए उपदश, स्वस्थ-वृत्त आदि के प्रकरण देखना उचित होगा।

शुद्धाशुद्ध शुक्र के लक्षण देखकर अब शुद्धा-शुद्ध स्तन्य के लक्षण तथा परीक्षा देखते हैं।

शुद्धाशुद्ध स्तन्य के लक्षण[1]

स्तन्य (माता या धात्री का दुग्ध) शुद्ध हो तब ही उसके सेवन से बालक का आरोग्य स्थिर रहता है, शरीर की पुष्टि (बृहण, उपचय),स्नेहन तथा बल की अभिवृद्धि होती है। परम सात्म्य (पथ्य) होने से नारीस्तन्य जीवन (आयुको स्थिर रखनेवाला) अग्नि का दीपन तथा लघु होता है।

शुद्ध स्तन्य के जो प्राकृत वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श अनुभव से ज्ञात हुए हो उनकी विद्यमानता हो तो स्तन्य को शुद्ध समझना चाहिए। दोषभेद से वर्ण आदि की विकृति के लक्षण आगे देंगे। वे न हो तो प्रथम अनुभव से भी स्तन्य की शुद्धि की परीक्षा की जा सकती है। यह शुद्ध स्तन्य मधुर, कषायानुरस, शीतल, निर्मल (दोषो के कोप के सूचक लक्षणों से रहित), पतला तथा वर्ण में शङ्ख के सदृश श्वेत होता है। इसकी तथा अशुद्ध स्तन्य की भी विशेष परीक्षा जल में डालने से होती है। स्तन्य को जल में डालने पर वह फैल कर जल के साथ एक-रूप हो जाए, उसमें फेन या तन्तु न दिखाई दें, वह न तो जल के ऊपर तैरे और न नीचे बैठ जाए तो इसे शुद्ध समझना चाहिए। इन लक्षणो की विशदता आगे दोष-दूषित स्तन्य के लक्षण देखने से होगी।

माता या धात्री दोष प्रकोपक आहार-विहार का सेवन करे तो उसका अन्नरस दुष्ट होता है और उसके कारण उसका उपधातु स्तन्य भी दूषित होकर रोगजनक

१—च० सू० २७।२२४ , सु० सू० ४५।५७ , च० शा० ८।५४ तथा चक्र० , सु० शा० १०।३१ , अ० हृ० उ० २।१-५ ।

होता है। अतः क्षीराद बालक की परीक्षा में स्तन्य की भी परीक्षा अवश्य करनी चाहिए। कुपित दोष के भेद से दुष्ट स्तन्य का स्वरूप भिन्न-भिन्न होता है।

वातदूपित स्तन्य श्याव-अरुण वर्ण वाला, (कुछ अधिक) कषाय अनुरस वाला[1], विशद (पिच्छिलता रहित), जिसमें किसी गन्ध की प्रतीति न हो ऐसा, रूक्ष, द्रव (जितना सान्द्र या गाढा होना चाहिए वैसा न हो कर पतला), फेनिल, लघु, तृप्ति न करने वाला, वालक के शरीर को कृश करने वाला तथा मल-मूत्र का विवन्ध एव वातरोगो का उत्पादक होता है। इसे जल मे छोड़ा जाए तो (लघु होने से—घनत्व न्यून होने के कारण) यह जल पर तैरता है।

'तृप्ति न करनेवाला' का अर्थ यह है कि बालक सामान्य से अधिक काल पर्यन्त स्तनपान करता रहता है और उसके पश्चात् भी स्तनपान के लिए ही पुन. रोदन आदि द्वारा इच्छा व्यक्त करता है। फेनिल का अर्थ भी पूर्ववत् यही है कि बाह्य वायुके प्रवेश से उसमें स्वल्प बुद्बुद-तुल्यता आ जाती है। विशेष यह होता है कि दूध पीते समय बालक तृप्तिलाभ की विशेष इच्छा से सूत्कार करता है, जिससे स्तन्य के साथ बाह्य वायु भी आमाशय में जाता है और आमाशय मे सञ्चित हो प्रत्याध्मान उत्पन्न करता है। स्तन्य का प्रमाण अल्प (स्तन्यक्षय) हो तो यह स्थिति प्रायः होती है।

पित्तदूपित स्तन्य कृष्ण, नील, पीत, ताम्र—इनमें किसी वर्ण के आभास अर्थात् झलक वाला (अर्थात् कुछ कालिमा लिए श्वेत इत्यादि); तिक्त, अम्ल और कटु अनुरसवाला, शव या रक्त के सदृश गन्धवाला, अति उष्ण और दाह (मुखपाक, ज्वर आदि) पित्तविकारो को शिशु के शरीर में उत्पन्न करने वाला होता है। इसे जल में छोडने पर पीतवर्ण रेखाएँ दिखाई देती है।

प्रायः देखा जाता है कि कई वार माता के शरीर में पित्त का कोप केवल इतने प्रमाण में होता है कि कुपित पित्त का स्थानसश्रय मुख में हो तो वह उष्णस्पर्श या गुण वाली वस्तुओ को मुख मे नही रख सकती। परन्तु कुपित पित्त का इतना भी प्रमाण बालक के छोटे शरीर के लिए इतना होता है कि उस मे व्यक्ति की अवस्था उत्पन्न कर दे—अर्थात् ज्वर, अतिसार आदि व्यक्त लक्षण वाले रोगों को उत्पन्न कर दे। वालको की परीक्षा मे यह वस्तु सदैव स्मृतिगत रखनी चाहिए।

१—'अनुरस' का अर्थ यह है कि स्तन्य का प्रधान रस मधुर होता हे—नार्यास्तु मधुर स्तन्यम्—सु० सू० ४५।५७। दोष-भेद से अनुरस कषाय आदि होते है।

कफदूषित स्तन्य अत्यधिक श्वेत, अत्यधिक मधुर, लवण अनुरसवाला; घृत, तैल, वसा और मज्जा के गन्ध वाला, सान्द्र (गाढा) पिच्छिल, तन्तुमान्, जलपात्र में छोडने पर नीचे बैठ जाने वाला तथा उपयोग करने पर (प्रतिश्याय, कास, श्वास आदि) कफज रोगों को उत्पन्न करने वाला होता है।

कफदुष्ट स्तन्य में लवण अनुरस होने का कारण यह है कि कफ स्वत्व और विकृत हो कर लवण रस हो जाता है श्लेष्मा ही विदग्धो लवणतामुपैति-- (सू. सु. ४०।१०) यह सिद्धान्त है।

संसर्ग दूषित स्तन्य में संसृष्ट दोषो के तथा सन्निपात दूषित में तीनों दोषो के कोप के लक्षण होते हैं।

वातादि दोषदूषित स्तन्य के अतिरिक्त माता या धात्री क्षुधार्त, शोकमग्न, श्रान्त (थकी हुई), दुष्ट धातुवाली, गर्भिणी, ज्वरित, अतिकृश, अतिस्थूल (अति मेदस्वी), विदग्धाजीर्ण पीडित किंवा विरुद्ध आहार किए हुए हो तो उसका स्तनपान न कराना चाहिए। कारण, इन परिस्थितियो में क्षीर असंदिग्ध दोष दूषित होता है। अथच, बालक को कोई औषध दिया गया हो तो वह जीर्ण-(हजम) न हो तब तक स्तनपान न कराना चाहिए। अन्यथा, दोषों, मलो तथा औषध का कोप तीव्र होता है।

दुष्ट स्तन्य की अंशांश कल्पना (आठ क्षीरदोष)

रोगो की संप्राप्ति के प्रकरण में आचार्यो ने उपदेश किया है कि रोगारम्भक कुपित या क्षीण दोष कौन-सा है इतना ही ज्ञान पर्याप्त नहीं, किन्तु कुपित या क्षीण दोष के जो-जो गुण शारीर में कहे गए हैं उनमें किस एक या अनेक गुणो का कोप या क्षय हुआ है और वह कितने प्रमाण में हुआ है यह जानना चाहिए। दोषो का यह तारतम्य देखने का मूल यह है कि दोष-विशेष को कुपित या क्षीण करने वाले द्रव्य किसी दोष के सभी गुणो को कुपित किंवा क्षीण करते हो सो बात नहीं। द्रव्य अपने पाञ्चभौतिक संघटन के कारण किसी दोष के किसी ही गुण को अथवा किन्ही अनेक किंवा सभी गुणो को अमुकामुक प्रमाण में कुपित या क्षीण करने का सामर्थ्य रखते हैं। यह विषय विस्तार से आगे निदान-पञ्चक के प्रकरण में देखेंगे। गुणो के तरतम भाव की इस परीक्षा को अंशांश कल्पना या विकल्प कहा जाता है। इस परीक्षा के अनन्तर कुपित या क्षीण गुण और उसके प्रमाण को दृष्टि में रख कर ही निदान-परिवर्जन, शमन या शोधन चिकित्सा के विशिष्ट स्वरूप का निर्धारण श्रेयस्कर होता है।

इस प्रकार अंशांश कल्पना की परीक्षा का विधान करके भी मूल प्रकरण में आचार्यो ने इसे दृष्टान्त देकर विशद नहीं किया है। तथापि, चरक ने स्तन्य की

परीक्षा पूर्वनिर्दिष्ट प्रकरणमें देकर भी इस का पुनः विस्तार अन्यत्र किया है।[1] इसमें क्षीर के आठ दोषों के कारण, नाम, लक्षण तथा प्रत्येक की चिकित्सा का पृथक् निर्देश किया है। यहाँ केवल प्रकरणागत दुष्टि-लक्षण उद्धृत करते है। इस प्रकरण को दृग्गत रख कर प्रत्येक रोग की अशाश कल्पना का विचार चिकित्सक को करना चाहिए।

दोष-प्रकोपक तत्तत् आहार-विहार के अतियोग के कारण दोष कुपित हो, स्तन्यवह (स्तन्योत्पादक) स्रोतो मे प्रवेश कर स्तन्य में आठ प्रकार की दुष्टि उत्पन्न करते है। इन अष्टविध दुष्टियों के नाम ये है : वैरस्य, फेनसंघात, रौक्ष्य, वैवर्ण्य, दौर्गन्ध्य, स्नेह (स्निग्धत्व), पैच्छिल्य तथा गौरव। इन में वैरस्य, फेनसघात तथा रौक्ष्य वायु के कोप से, वैवर्ण्य और दौर्गन्ध्य पित्तके कोप से तथा स्निग्धत्व, पैच्छिल्य तथा गौरव कफ के कोप से होते है।

वैरस्य–रूक्षाहार आदि प्रकोपक कारणो के योग से वायु कुपित एव क्षीराशयों (स्तनों) में प्रविष्ट हो सान्यके रस को दूषित एव (नष्ट, या विकृत) कर देता है। यह वात दुष्ट विरस स्तन्य वालक को स्वादु नही प्रतीत होता। इस के पीने से वालक कृश हो जाता है, अथवा उसकी वृद्धि का वेग अति मन्द होता है–– कृच्छ्रेण च विवर्धते।[2]

फेनसंघात–एवं अपने प्रकोपक कारणो से कुपित हुआ वायु स्तन्य को अन्दर ही मथित (विलोडित) कर उसमे फेन-समूह उत्पन्न करता है। स्तन्य, रक्त आदि में फेनिलता उत्पन्न होने का स्वरूप दृष्टान्त देकर ऊपर बता आए है। वायु द्वारा मन्थन का वहाँ कहा अर्थ लेना चाहिए। फेनिल स्तन्य की प्रवृत्ति सकृच्छ्र (अल्पाल्प तथा कथचित् दवाने आदि से) होती है। इसके पान से वालक क्षीण स्वर वाला तथा वद्ध (अप्रवृत्त) पुरीष, अधो वायु और मूत्रवाला होता है। वह प्रतिश्याय या वातिक शिरोरोग से पीडित होता है।

रूक्ष––कुपित हुआ वायु स्तन्य के स्नेहाश (स्निग्धगुण) को शुष्क कर उसे रूक्ष बना देता है। इसके पान से शरीर में रौक्ष्य की वृद्धि होकर वालक बलहीन होता है।

वैवर्ण्य––पित्त अपने प्रकोपक कारणों से कुपित हो स्तन्यजनक स्रोतों में स्थान संश्रय कर स्तन्य में वैवर्ण्य (वर्ण-विकृति) कर देता है––उसे नील, पीत, श्याव आदि किसी वर्ण का बना देता है। इस विवर्ण स्तन्य के सेवन से बालक के

१––स्थलः च० चि० ३०।२२९–२३१, सु० शा० १०।३२–३३ (स्तन्यदुष्टि के कारण)

२––वैरस्य तथा अन्य स्तन्यदोषो की सामान्य तथा विशेष चिकित्सा च० चि० ३०।२५१–२८१ मे निर्दिष्ट हुई है।

शरीर में विवर्णता आती है। उसका शरीर सदैव उष्णस्पर्श तथा स्वेदयुक्त (स्विन्न) होता है। उसे सतत पिपासा लगती है। उसका पुरीष भिन्न हो जाता है--पुरीष नित्य के समय पर रुक-रुक कर थोडा-थोडा आता है, या थोड़ा-थोडा और बार-बार आता है, अथवा उसे अतिसार होता है। (विड्भेद के ये दोनों अर्थ शास्त्रसम्मत हैं)। स्तनपान की उसकी प्रवृत्ति नहीं होती--नाऽभिनन्दति तं स्तनम्।

दौर्गन्ध्य--कुपित पित्त स्तन्य को दुर्गन्धयुक्त कर दे तो उसके सेवन से शिशु पाण्डुरोग या (कोष्ठशाखाश्रित) कामला से पीडित होता है।

स्निग्ध--गुरु भोजन आदि अपने प्रकोपक कारणों से कुपित हुआ कफ स्तनों में स्थान संश्रय कर अपने स्नेहाधिक्य के कारण स्तन्य को भी अति स्निग्ध बना देता है। उसके सेवन से शिशु (लालालु-लालास्रावी) होता है--सोते समय या जागते हुए भी उसके मुख से लाला टपकती है। उसे छर्दि (वमन) के वेग होते हैं। वह कुन्थन करता है--प्रवाहिका के सदृश मलप्रवृत्ति के लिए बल प्रयोग (जोर) करता है। प्रवाहिका के समान ही यह विकृति पक्वाशय में कफ सचिति के कारण होती है। उसके मुख, नासिका, प्राणवह स्रोत, महास्रोत, मूत्रवह स्रोत आदि स्रोत कफ से उपलिप्त होते हैं। (प्राणवह स्रोतों का लेप उसकी छाती में 'सण-सण' इस शब्द-विशेष से ज्ञात होता है। पच्यमानाशय में लेप होने से अग्निमान्द्य तथा कृशता एवं पक्वाशय में लिप्तता के कारण प्रवाहिका होती है। मूत्रयन्त्र में लेप के कारण लालामेह, शनैर्मेह प्रभृति कफज मेह होते हैं। प्राणवह स्रोतो के अवरोध के कारण) उसे क्षुद्र या तमक श्वास और कास होता है। प्राणवह तथा महास्रोत के वैगुण्य (अवरोध) के कारण उसे प्रसेक (वमन की प्रतीति, उपस्थित-वमनत्वम् इव) तथा तमोदर्शन (तमक, आँखो के आगे अन्धकार छाना) ये विकृतियाँ पीडित करती हैं।

पैच्छिल्य--प्रकुपित कफ ही को स्तन्य पिच्छिल बना दे तो उसके पान से बालक का मुख तथा अक्षिकूट शून (शोथयुक्त) हो जाते हैं। वह लाला-स्रावी तथा जड (मन्द शारीर, वाचिक, मानस चेष्टाओवाला) होता है।

गौरव--प्रकुपित कफ में प्रकोपक कारणवश गुरुता हो तो उसका स्थानसश्रय स्तन्य में होने से उसमें भी गौरव आ जाता है। गुरु इस स्तन्य के पान से बालक को हृदयरोग तथा इतर कफ प्रकोपज रोग होते हैं।

पुरीष की परीक्षा

रोग-परीक्षा में किसी एक परीक्षा को सर्वोपरि महत्त्व देना हो तो वह पुरीष की परीक्षा है। कुपित हुए शारीर या मानस दोष किंवा अग्नि की दुर्बलता

प्रभृति रोग के सभी कारणो का प्रभाव पुरीष पर पडता ही है। चरक ने मधुरादि रसों के गुण-कर्म तथा उनके अतियोग के लक्षणो का सविस्तार उल्लेख कर अन्तमें अधोवायु, पुरीष, मूत्र तथा शुक्र की प्रवृत्ति पर उनका क्या प्रभाव होता है यही दो पद्यो में दर्शाया है। (देखिए : च. सू. २६।५९-६०)। आगे चरक ने तथा सुश्रुत ने विपाक के कर्म भी पुरीषादिकी प्रवृत्ति के प्रकार को लक्ष्य में रख कर ही दर्शाए हैं। (देखिए : च सू. २६।६१-६२ ; सु. सू. ४१।११)। इससे पुरीष की परीक्षा का महत्त्व स्पष्ट समझा जा सकता है।

पुरीष की परीक्षा का महत्त्व अन्य प्रकार से भी है। इस प्रकरण के आरम्भ मे हमने देखा है कि कुपित या क्षीण दोषो का प्रभाव अन्तको प्रत्यक्ष दृश्यमान पुरीपादि मलों एव उनके द्वारों पर अभिव्यक्त होता हैं। इन मलो में पुरीष प्रधान है। अतः प्रकृति या विकृति की परीक्षा में भी इस मल का महत्त्व स्पष्ट ही है।

जठराग्नि की परीक्षा भी पुरीष की परीक्षा से होती है। यह दुर्बल हो तो पुरीष आमयुक्त होता है, अन्यथा पक्व। पुरीष की आम-पक्वता के लक्षण आगे दिए जाएँगे। जठराग्नि के बलाबल पर ही धात्वग्नियो और भूताग्नियो का बलाबल भी आश्रित है। कारण, ये अग्नियाँ पित्तरूप हैं। जैसे, आहार समयोग-युक्त हो—उसमें शरीर के सर्व धातुओ, उपधातुओ, मलो, दोषो एवं इन से घटित शरीरावयवो, स्रोतो और आशयो के पोषक गुण सम प्रमाण में विद्यमान हो, साथ ही जठराग्नि भी सम हो तो शारीर धातु आदि के सदृश धात्वग्नियो के पोषक द्रव्य भी पक्व होकर अन्नरस द्वारा प्राप्त होते हैं। जठराग्नि दुर्बल हो तो अन्नपान में धात्वग्निपोषक द्रव्य विद्यमान होते हुए भी पचन न होने से वे किट्ट रूप में ही अधोद्वार से बाहर फेंक दिए जाते हैं। (नव्य मत से भी धात्वग्नि सदृश रस थायरॉक्सिन, एड्रीनलीन आदि की पुष्टि प्रोटीनो के सम्यक् पाकवश उद्भूत एमाइनो एसिड आदि के योग से होती है)। किं बहुना, जठराग्नि और धात्वग्नि दुर्बल हो तो दोषो का भी प्रकोप होता है। कारण, जठराग्नि के दौर्बल्य से अन्नपान का किट्ट ही अधिक बनता है और इस किट्ट में वायु भी एक होता है। इसी प्रकार रसाग्नि के दौर्बल्य से कफ और रक्ताग्नि के दौर्बल्य से पित्त अधिक प्रमाण में बनता है। अग्नियो की यह दुर्बलता पुरीष के दर्शन से जानी जा सकती है। कारण, जठराग्नि दुर्बल हो तो पुरीष भी आम रहता है, अन्यथा वह पक्व होता है। पुरीष को पक्व देखकर अग्नियो तथा दोषों के साम्य की कल्पना की जा सकती है।

पुरीष की सामता तथा पक्वता के लक्षण—

मज्जत्यामा गुरुत्वाद् विट् पक्का तूत्प्लवते जले।
विनाऽतिद्रवसंघात शैत्यश्लेष्म प्रदूपणात् ॥

परीक्ष्यैवं पुरा सामं निरामं चामदोषिणाम् ।
विधिनोपाचरेत् सम्यक् पाचनेनेतरेण वा ॥[1]

च० चि० १५।९३-९४

संसृष्टमेभिर्दोषैस्तु न्यस्तमप्स्ववसीदति ।
पुरीषं भृशदुर्गन्धि विच्छिन्नं चामसंज्ञकम् ॥
एतान्येव तु लिङ्गानि विपरीतानि यस्य तु ।
लाघवं च मनुष्यस्य तस्य पक्वं विनिर्दिशेत् ॥[2]

सु० उ० ४०।१७-१८

× × तत्राद्ये गौरवादप्सु मज्जति ।[3]
शकृद्दुर्गन्धमाटोपविष्टम्भार्तिप्रसेकिनः ॥
विपरीतो निरामस्तु कफात्पक्वोऽपि मज्जति ॥

अ० हृ० नि० ८।१७

आम कफस्वभावी होता है। कफ के अन्य गुणो के सदृश आम में गुरुत्व भी होता है। आमजनित इस गुरुत्व के कारण आम पुरीष को जल में छोडा जाए तो वह नीचे बैठ जाता है। आमता जितनी ही होगी उतना ही वह नीचे जाएगा, यह समझा जा सकता है। इस के अतिरिक्त आम पुरीष अति दुर्गन्धयुक्त होता है। यह दुर्गन्ध भी आमता के अनुरूप प्रमाण में होती है। व्यवसाय में डूबने की परीक्षा शक्य न होने से प्रश्न-परीक्षा द्वारा दुर्गन्ध के ज्ञान से ही पुरीष की सामता का निश्चय किया जाता है। आम पुरीष अल्पाल्पशः (थोडा-थोड़ा करके) प्रवृत्त (विच्छिन्न) होता है। रुग्ण पुरुष आटोप, विष्टम्भ (उदर में

१—गुरुत्वादिति आमाहित गुरुत्वात्। × × द्वयोरपि आमपक्वलक्षणयोरपवादमाह—विनातिद्रवेत्यादि। अतिद्रवत्वादामापि प्लवते, अतिसहता तु पक्वाऽपि अतिसघातादेव मज्जति; शैत्यश्लेष्मप्रदूषणाच्च कफयोगाहितगौरवा पक्वाऽपि मज्जति, गुरुत्वादेव न प्लवते × × ॥ —चक्रपाणि

२—× × अवसीदति ब्रुडति। विच्छिन्नम् अल्पाल्पप्रवर्तकम्। विच्छिन्नमित्यत्र पिच्छिलमिति केचित् पठन्ति × × × । ननु कफसंसृष्टः पक्वोऽपि मलो निमज्जति तत् कथं पक्वातीसारज्ञानम्?—उच्यते, तदितरलक्षणैरेव ॥

३—पद्य के पूर्वांश मे अतिसार के दो प्राथमिक भेद किए है—साम-निराम, सरक्त -अरक्त। —डल्हन

मकडाहट), शूल और हृल्लास से पीडित होता है। अपरच, मल पक्व हो तो शरीर में लाघव होता है, यह आगे निराम या पक्व मल के लक्षण में कहा जाएगा। साम मलयुक्त पुरुष के शरीर और मन में, इसके विपरीत, गौरव, तन्द्रा तथा आलस्य का आवेश रहता है।

पक्व पुरीष में आम-विपरीत लक्षण रहते हैं। यथा, वह जल में छोडा जाने पर तैरता है। पुरुष के तन और मन में लघुता होती है।

आम और पक्व पुरीष के इन लक्षणो में कुछ अपवाद भी होता है। यथा, पुरीष आम हो परन्तु अति द्रव हो तो वह जल पर तैरता है। वह पक्व हो तथापि अति संघट्ट हो तो इस सघात (घनत्व) के कारण पुरीष नीचे डूब जाता है। पुरीष कफ दूषित हो तो वह कफ जनित गुरुता तथा शीतता के कारण निराम होता हुआ भी नीचे बैठ जाता है। अपवादभूत इन परिस्थितियों में दौर्गन्ध्य, शरीर-गौरव, क्षुधानाश प्रभृति इतर लक्षण देखकर सामता-निरामता का निश्चय करना चाहिए।

ये पद्य अतिसार-प्रवाहिका-ग्रहणी अधिकार में निर्दिष्ट हैं। इन रोगो में पुरीष के स्वरूप से सामता-निरामता का ज्ञान कर सामावस्था में लङ्घन-पाचनादि उपचार करने चाहिए तथा निरामावस्था में स्तम्भनादि। कामला, ज्वर, कास आदि अन्य रोगो में भी पुरीष के स्वरूप में इसी प्रकार भेद होता है, जिसे देख कर उपचार के मार्ग का निर्धारण करना चाहिए।

शास्त्रो में तत्तत् रोग में दोषभेद से पुरीष का क्या स्वरूप होता है यह लिखा गया है। उसे एकत्र संगृहीत करना विद्यार्थियो के बोधन के लिए आवश्यक है। वह भेद दोष तथा व्याधि दोनो के भेद से होता है। योगरत्नाकरकार ने निम्न पद्यो में दोष-भेद से सक्षेप में मल का स्वरूप-भेद दर्शाया है——

वातान्मले तु दृढता शुष्कता चापि जायते।
पीतता जायते पित्तात् शुक्लता श्लेष्मतो भवेत्॥
संनिपाते च सर्वाणि लक्षणानि भवन्ति हि।
त्रुटितं फेनिलं रूक्षं धूमलं वा प्रकोपतः॥
वातश्लेष्मविकारे च जायते कपिशं मलम्।
बद्धं सुत्रुटितं पीतश्यामं पित्तानिलाद् भवेत्॥
पीत श्वेतं श्लेष्मपित्तात् ईषत्सान्द्रं च पिच्छिलम्।
श्यामं त्रुटित पीताभं बद्धं श्वेतं त्रिदोषतः॥

योगरत्नाकर

शरीर में वायु का प्रकोप हो और उसका स्थानसंश्रय पुरीष में हो तो वह त्रुटित (विच्छिन्न, थोडा-थोडा कर के प्रवृत्त होनेवाला—विड्भेद), कठिन, रूक्ष, शुष्क, फेनयुक्त एव धूमवर्ण होता है। इसी प्रकार पित्तदुष्ट पुरीष पीतवर्ण तथा कफ के कोप से श्वेतवर्ण होता है। वात श्लेष्म दुष्ट पुरीष कपिल (श्वेत-श्याव, राख जैसा) होता है। पित्तवात दुष्ट पुरीष बद्ध (बँधा हुआ, ढीला या द्रव नही), अति त्रुटित एव पीत-श्यामवर्ण होता है। श्लेष्म-पित्त दुष्ट पुरीष किञ्चित् सान्द्र (गाढ), पिच्छिल तथा श्वेतपीत वर्ण होता है। सन्निपात-दुष्ट मल में तीनो दोषो के लक्षण होते है। तथाहि, वह श्यामवर्ण, त्रुटित, श्वेत तथा पीताभ होता है।

पुरीष की विशेष परीक्षा तो उदावर्त की परीक्षा के लिए करनी चाहिए। उदावर्त शब्द का प्रयोग चरक ने एक स्वतन्त्र रोग के लिए किया है। सुश्रुत ने उदावर्त के दो भेद बताए है। इन में एक वही है जो सर्वत्र आयुर्वेद में वेगावरोध के नाम से प्रसिद्ध है। द्वितीय प्रकार को सुश्रुत ने अपथ्य-भोजनजन्य कहा है। इसके लक्षण वही है जो चरकोक्त उदावर्त के है[1]। सभव है, उदावर्त का प्रमुख कारण वेगावरोध होने से कार्य-कारण में अभेद मान कर दोनो को सुश्रुत ने एक ही उदावर्त नाम दिया हो। जो भी हो, डल्हन के काल में भी उदावर्त का लोक प्रसिद्ध अर्थ वही था, जो आज कब्ज या 'कॉन्स्टीपेशन' नाम से प्रख्यात है। उदावर्त प्रतिषेध अध्याय (सु० उ० ५५) के आरम्भ में उदावर्त शब्द की व्युत्पत्ति डल्हन ने दी है—वात, पुरीष, मूत्र प्रभृति मलो की जिस रोग में उत् नाम ऊर्ध्व दिशा में आवर्त नाम भ्रमण (गति) होती है उसे उदावर्त कहते है। टीकाकार के मूल शब्द ये है—उत् ऊर्ध्वं वातविण्मूत्रादीनाम् आवर्तो भ्रमणं यस्मिन् रोगे स उदावर्तः। आगे डल्हन कहते है—अन्य टीकाकारो का मन्तव्य है कि, (रूक्ष, कषायादि सेवनवश कुपित) वायु पुरीष को वर्तुल बना देता है तो रोग को उदावर्त कहा जाता है। लोक में उदावर्त शब्द इसी अर्थ में प्रसिद्ध भी है।—अन्ये पुरीषं वायुना वर्तुली-कृतम् उदावर्तं मन्यन्ते, लोकप्रसिद्धत्वात्। कुपित वायु के कर्मो में एक 'वर्त' है, यह इसी ग्रन्थ में हम आगे विस्तार से देख चुके है।

यह उदावर्त समस्त रोगों का कारण है यह बात चरक-सुश्रुत के इन प्रकरणो में दिए हुए उदावर्त के उपद्रवो पर दृष्टिपात से विदित होगी। अवरोधवश वायु अपने स्थान पर वृद्धि को प्राप्त हो सर्वशरीर-प्रसृत हो वातिक विकारो को उत्पन्न करता है, साथ ही कफ और पित्त को भी कुपित करता है। सुश्रुत ने

---

१ स्थल च० चि० २६।५-३१, सु० उ० ५५, (इसमे अपथ्य भोजन-जन्य उदावर्त—सु० उ० ५५।६, ३७–५३।

अधो वायु के वेग के अवरोध से होनेवाले लक्षणों में कफ और पित्त के घोर प्रसर की भी गणना की है--बलासपित्तप्रसरं च घोरम्--सु० उ० ५५।७। इस विषय का उत्तम विवेचन तो सहज अर्शो से तीनो दोषो का कोप कैसे होता है इस वस्तु का चरक ने जिन शब्दो में उल्लेख किया है उनमें प्राप्त होता है। वह कहता है--जन्म प्रभृति अस्य गुदजैः आवृतो मार्गोपरोधाद् वायुः अपानः प्रत्यारोहन् समानव्यानप्राणोदानान् पित्तश्लेष्माणौ च प्रकोपयति--च० चि० १४।८। (प्रत्यारोहन्--ऊपर चढता हुआ, विलोम गति को प्राप्त हुआ)। इस प्रकरण में सहज अर्शो रोगी को तीनो दोषो के प्रकोपवश होने वाले रोगो की जो दीर्घ सूची दी है उसे देखने से अनायास विदित होगा कि उदावर्त भी एतादृश सप्राप्ति द्वारा नानाविध असंख्य रोगों को उत्पन्न कर सकता है। अतः रोग-परीक्षा और चिकित्सा दोनो में उदावर्त पर ध्यान एकाग्र करना परमावश्यक है। वस्तुतः जो चिकित्सक अपने व्यवसाय में इस रोग को सर्वोपरि लक्ष्य में रखते हैं उनको सिद्धि ध्रुव होती भी है। इस रोग के उपायो में आयुर्वेदीय चिकित्सक श्रेष्ठ उपचार वस्ति पर नहिवत् ध्यान देते है, यह शोचनीय है।

उदावर्त के विषय में अधिक वक्तव्य और विशदता उक्त रोगो के प्रकरणो में इसी ग्रन्थ में की जाएगी। यहाँ इतना ही कहना है कि रोग-परीक्षा में पुरीष के स्वरूप को लक्ष्य में रखना चाहिए।

पुरीष-संबन्धी अन्य सामान्य रोग इसके क्षय और वृद्धि हैं। इनके लक्षण पहले (पृ० ८४-८७) में दे आए हैं।

मूत्र-परीक्षा

पुरीष के सदृश मूत्र भी प्राकृत अवस्था में तथा नाना रोगो में स्वरूप, प्रमाण एव तोद-भेद-दाह आदि लक्षणो की दृष्टि से भिन्न होता है। किस रोग में मूत्र का वर्ण कैसा होता है यह आप्तोपदेश तथा अनुभव से पूर्व-विदित हो तो रोग-परीक्षा में बडी सुकरता होती है। यथा, मूत्र हारिद्र वर्ण हो तो तत्क्षण शाखाश्रित कामला का विचार उपस्थित होता है। नेत्र-परीक्षा आदि से उसकी निश्चिति होती है। किस रोग में मूत्र का स्वरूपादि कैसा होता है संहिताओं के अनुशीलन से इसका संग्रह कोई विद्वान् करें तो विद्यार्थियो के लिए उत्तम मार्गदर्शन हो।

मूत्र-परीक्षा के प्रकरण में विशेष वेदितव्य परीक्षा मूत्र की तैल बिन्दु-परीक्षा है। प्राचीन तन्त्रो में इसका उल्लेख नही है। परन्तु कोई वैद्य केवल मूत्र से रोग की परीक्षा में समर्थ होते हैं। अत इसे भी क्रिया में लाना अनुचित नही। योगरत्नाकर से मूत्र की तैल बिन्दु-परीक्षा का प्रकार यहाँ दिया जाता है।--

निशान्त्ययामे घटिका चतुष्टये
उत्थाप्य वैद्यः किल रोगिणं च।
मूत्रं धृतं काचमये च पात्रे
सूर्योदये तत् सततं परीक्षेत्॥

रात्रि के अन्तिम प्रहर में, चार घटी बीतने पर वैद्य रोगी को सोते से उठाए और उसे काचमय पात्र में मूत्र-विसर्जन कराए। पात्र को ढक दे और सूर्योदय होने पर मूत्र की परीक्षा करे। मूत्र का संग्रह करने में कुछ नियम हैं और वह यह है कि—

तस्याद्यधारां परिहृत्य मध्य-
धारोद्भवं तत् परिधारयित्वा॥

मूत्र प्रवृत्ति की आरम्भ की धारा (आरम्भ का भाग) तथा अन्तिम धारा छोड दे। परीक्षार्थ केवल मध्य धारा ले। अर्थात्—रोगी को थोडा मूत्र वाहर प्रवृत्त करने को कहें, बीच का थोडा मूत्र काच-पात्र में लें और शेष मूत्र पुन. पूर्ववत् वाहर ही प्रवृत्त कराएँ। परीक्षा के समय इस मूत्र को किसी शलाका से अच्छी प्रकार एकरस कर दें। पश्चात्—

तृणेन दापयेत् तैलविन्दुं तत्राति लाघवात्॥

वहुत हलके हाथ से तृण-शलाका से (यथा, दियासलाई से) तैल का एक विन्दु मूत्र में छोडें।—

विकासितं तैलमथाशु मूत्रे
साध्यः स रोगी, न विकासितं चेत्।
स्यात् कष्टसाध्यस्तलगे त्वसाध्यो
नागार्जुनेनैव कृता परीक्षा॥

तैल विन्दु यदि मूत्र में चारो ओर प्रसृत हो जाए तो रोग को साध्य समझें। तैल विन्दु एक स्थान पर स्थिर रहे तो कष्टसाध्य तथा विन्दु पात्र के तल पर जाकर वैठ जाए तो रोग को असाध्य मानें।

मूत्र में छोडा विन्दु किस दिशा या उपदिशा में जाता है इससे भी रोग-परीक्षा होती है।—

पूर्वाशां वर्धते विन्दुर्यदा शीघ्रं सुखी भवेत्।
दक्षिणाशां ज्वरो ज्ञेयस्तथाऽऽरोग्यं क्रमाद्भवेत्॥
उत्तरस्यां यदा विन्दोः प्रसरः संप्रजायते।
अरोगिता तदा नूनं पुरुषस्य न संशयः॥

तैल विन्दु यदि पूर्व दिशा की ओर प्रसृत हो तो रोगी शीघ्र ही रोगमुक्त होगा। दक्षिण दिशा की ओर विन्दु की वृद्धि हो और रोगी ज्वर पीडित है तो उसे स्वास्थ्य-लाभ शनैः-शनैः होगा ऐसा निदान करना चाहिए। (कदाचित् यह लक्षण साध्य सतत-सनिपात-संसृष्ट या विषम ज्वरो का है)। तैल विन्दु उत्तर दिशा में प्रगति करे तो रोग निश्चित साध्य है यह निदान करना चाहिए। तैल बिन्दु की गति प्रथम पश्चिम दिशा में हो तो भी रोगी को आरोग्य और सुख-लाभ होगा ऐसा समझा जा सकता है।

ऐशान्या वर्धते विन्दुः ध्रुवं मासेन नश्यति।
आग्नेय्या तु तथा ज्ञेयं नैऋत्या प्रसरेद्यदि॥
छिद्रितश्च भवेत् पश्चाद् ध्रुवं मरणमेव च।
वायव्या प्रसरेद्विन्दुः सुधयाऽपि विनश्यति॥

तैल विन्दु मुख्य दिशाओ में प्रसृत हो तो रोग सुखसाध्य होता है यह उक्त पद्यो का सार है। अव उप दिशाओ में इसके प्रसर के लक्षण देखिए।---तैल विन्दु ईशान दिशा (पूर्वोत्तर) में बढे तो रोगी निश्चित एक मास मे मृत्यु को प्राप्त होगा। तैल विन्दु अग्निकोण (पूर्व-दक्षिण) की ओर प्रसृत हो तो भी यही परिणाम होता है। नैऋत्य (दक्षिण-पश्चिम) दिशा में तैल विन्दु प्रसृत हो और प्रसृत हुए तैल विन्दु में छिद्र देखने में आएँ तो रोगी निश्चय ही मृत्युवश होता है। तैल बिन्दु प्रथम वायव्य दिशा (पश्चिम-उत्तर कोण) में फैले तो अमृत पिलाने पर भी रोगी वच नहीं सकता।

इतने आत्मविश्वासयुक्त शब्दों के पीछे लेखक का प्रत्यक्षानुभव होना ही चाहिए। वर्तमान वैद्यो को इन्हें आचरण मे लाकर देखना चाहिए।

इन परीक्षाओ के अतिरिक्त पुरीष के सदृश मूत्र में भी दोष-भेद से जो लक्षण होते है उन्हें देख कर रोग की प्रकृति (आरम्भक दोष) प्रधानतया क्या है इसका निर्णय करना चाहिए। वात का प्रकोप हो तो मूत्र श्याव या अरुण वर्ण, रूक्ष (स्निग्धतारहित) और प्रमाण में अल्प होता है। पित्त के प्रकोप मे मूत्र हरित, पीत या रक्त वर्ण का, उष्ण और दुर्गन्धयुक्त होता है। कफ का प्रकोप होने पर मूत्र श्वेत (जल-सदृश), स्वच्छ (पारदर्शक), प्रमाण मे अधिक, पिच्छिल और स्निग्ध होता है। कामला, विविध प्रमेह, मूत्रकृच्छ्र, अतिसार आदि रोगो में मूत्र का स्वरूप भिन्न-भिन्न प्रकार का होता है, यह ऊपर कहा जा चुका है।

नेत्र-परीक्षा

प्रकृति एव विकृति दोनो में आरम्भक दोष के अनुसार नेत्रो के स्वरूप में भेद होता है। इसे देखकर देह-प्रकृति या रोग-प्रकृति (दोनो का आरम्भक मुख्य

दोष का अनुमान किया जा सकता है। विभिन्न रोगों मे नेत्र का स्वरूप कैसा होता है यह तत्-तत् रोग के लक्षणो में बताया जाता है। सक्षेप में रोगों में दोष-भेद से नेत्रो के स्वरूप में अधोनिर्दिष्ट प्रकार से भेद होता है—

नेत्रं स्यात् पवनाद्रूक्षं धूम्रवर्णं तथैव च।
कोटरान्तः प्रविष्टं च तथा स्तब्धविलोकनम् ॥

वात के प्रकोप से हुए रोगो में नेत्र रूक्ष (अश्रुयुक्त हो या न हों तथापि नेत्रो में मज्जा के मल-विशेष के कारण जो स्निग्धता दृष्टिगोचर होती है उससे रहित), धूम्र-वर्ण, कोटर (अक्षिगुहा) के अन्दर प्रविष्ट (धँसे हुए), तथा स्तब्ध (स्थिर) दृष्टिवाले होते हैं।

हरिद्राखण्डवर्णं च रक्तं वा हरितं तथा।
दीपद्वेषि सदाहं च नेत्रं स्यात् पित्तकोपतः ॥

पित्तज रोगो मे नेत्र हरिद्रा के खण्ड (ताजे तोडे टुकडे) के सदृश वर्ण के (जैसे कामला में होते हैं), किंवा रक्त वर्ण या हरितवर्ण, दीप (या अन्य प्रकाश) को सहन न कर सकने वाले (प्रकाशासहिष्णु; प्रकाशयुक्त स्थान में मिचे रहने-वाले) और दाहयुक्त होते हैं।

चक्षुर्बलासबाहुल्यात् स्निग्धं स्यात् सलिलप्लुतम्।
तथा धवलवर्णं च ज्योतिर्हीनं मलान्वितम् ॥

कफ के प्रकोप से हुए रोगो मे नेत्र स्निग्ध, अश्रुपूर्ण, श्वेतवर्ण, कान्तिहीन तथा मलयुक्त (किनारी पर दूषिका से व्याप्त) होते हैं।

श्यामवर्णं च निर्भुग्नं तन्द्रामोहसमन्वितम्।
रौद्रं तथा रक्तवर्णं भवेच्चक्षुस्त्रिदोषतः ॥ —योगरत्नाकर

सन्निपातात्थ रोगो मे नेत्र श्यामवर्ण, वक्र (कुटिल), तन्द्रा और मोह (अर्ध-मूर्च्छा)-युक्त, भयावह एवं रक्तवर्ण होते हैं।

जिह्वा की परीक्षा

जिह्वा भी रोगों में दोष-विशेष के प्रकोप की परिचायक होती है। तत्तत् दोष के कोप मे जिह्वा का स्वरूप निम्न प्रकार का होता है—

शाकपत्र प्रभा रूक्षा स्फुटिता रसनाऽनिलात्। —भावप्रकाश
जिह्वा रूक्षा खरस्पर्शा स्फुटिता मारुतेऽधिके ॥ —योगरत्नाकर

वात के प्रकोप से हुए रोगो में जिह्वा शाक (सागौन) के पत्र के सदृश खर स्पर्शवाली, रूक्ष (स्नेह-रहित) और स्फुटित (फटी हुई, जिसमे चीर पड़े हो ऐसी) होती है।

रक्ता श्यावा भवेत् पित्तात्लिप्ताऽऽर्द्रा धवला कफात् ॥

—भावप्रकाश

रक्ता श्यामा भवेत् पित्ते, कफे शुभ्राऽतिपिच्छिला ॥

—योगरत्नाकर

पित्त प्रकोपजन्य रोगो में जिह्वा रक्त, श्याव या श्याम वर्ण की होती है। कफ प्रकोपज रोगो मे जिह्वा श्वेतवर्ण, आर्द्र, मल से उपलिप्त और अति पिच्छिल होती हे।

परिदग्धा खरस्पर्शा कृष्णा दोपत्रयेऽधिके ॥

—भावप्रकाश

कृष्णा सकण्टका शुष्का संनिपाताधिके तु सा ॥

—योगरत्नाकर

त्रिदोपोत्थ रोगो में जिह्वा परिदग्धा (जली हुई-सी), कृष्ण-वर्ण, शुष्क, खरस्पर्श और सकण्टक (जिस पर कॉटे-कॉटे उभरे हुए स्पर्श से प्रतीत हों ऐसी) होती हे।

स्पर्श-परीक्षा

त्वचा आदि का स्पर्श भी दोष-भेद से भिन्न होता हे। केवल उसे देखने से भी दोष के प्रकोप को जान कर वैद्य उपचार की दिशा का निश्चय कर सकता है।

पित्तरोगी भवेदुष्णो वातरोगी च शीतलः ।
श्लेष्मलस्तु भवेदार्द्रः स्पर्शतश्चैव लक्षयेत् ॥

—योगरत्नाकर

वात का प्रकोप होने पर शरीर शीत (और रूक्ष), पित्त के प्रकोप में उष्ण तथा कफ के कोप में आर्द्र (गीला-स्तिमित) होता है।

मुख के रस से परीक्षा

प्रकुपित मरुतः स्यात् कषायो रसश्च। × × × कट्वम्ल-तिक्ता रसाः × × × कर्माणि पित्तस्य वै। रसौ पटुस्वादू × × × कर्माणि कफस्य जानीयात् ॥ —सुदान्तसेन

मुख के रस से भी कुपित हुए दोष का निदान होता है। तथाहि वात का प्रकोप होने पर मुख-रस कषाय, पित्त के कोप मे कटु, अम्ल और तिक्त एव कफ का कोप हो तो मधुर और लवण रस मुख में होता है।

॥ समाप्त ॥

निदान चिकित्सा हस्तामलक

वर्णानुक्रमणी

विषय	पृष्ठ
अ	
अकाल—औषध-दान के लिए	५०६
अकाल पलित रसज रोग	१६५
अकाल मृत्यु उसकी अनुत्पत्ति का प्रकार	३४
अकाल वलि रसज रोग	१६५
अक्षत	१७६
अक्षिपाक—पित्तनानात्मज रोग-विशेष	६१
अक्षिपाक—रक्तज रोग-विशेष	१४४
अक्षिभेद वातविकार-विशेष	१२४
अक्षिराग रक्तज रोग-विशेष	१४४
अक्षिव्युदास	११५, १२७
अगद तन्त्र	२५६
अग्नि उसकी मन्दता का प्रभाव ग्रहणी पर	५३७
अग्नि उसके दौर्बल्य से दोषो का कोप	६५१
अग्नि की परीक्षा	३७२, ५३०
अग्नि की परीक्षा—पुरीष द्वारा	६५१
अग्नि—दोषज विकृति से रोग	५४१
अग्नि—दोषाभिभूत ग्रहणी-रोग ही	५४१
अग्नि—दोषविशेष मे अभिभव होने पर ही विकृत	५३३
अग्नि तथा पित्त परस्पर भिन्न	३६
अग्निमान्द्य—अर्श आदि का कारण कैसे ?	४६७
अग्निमान्द्य—कफ का कर्म	६६
अग्निमान्द्य—दोषो के प्रकोप तथा रोगमात्र की उत्पत्ति मे कारण	३
अग्निमान्द्य—रसज रोग	१६३
अग्नियाँ—सम आदि का पचन-काल के भेद से लक्षण	५४२
अग्नि—वायु उसका उद्दीपन	१८
अग्निसाद—रक्तज रोग-विशेष	१४६
अङ्गगन्ध—पित्तनानात्मज रोग	८६
अङ्गभेद	१३४
अङ्गमर्द—रक्तज रोग	१५४
अङ्गरस—रसधातु का वैदिक नाम	६०३
अङ्गवध—उसके उत्पादक वात-प्रकोप का स्वरूप	२८
अङ्गवध—उसमे वात की कारणता	११०
अङ्ग विभ्रंश	१३४
अङ्ग शीरण पित्तनानात्मज रोग	६२
अङ्गशोष	१३४
अङ्गसाद कुपित पित्त का कर्म तथा पित्त-नानात्मज रोग	८७, ८६
अङ्गसाद—प्रमेह-पूर्वरूप	१७२
अङ्गसाद—रसज रोग	१६४
अङ्गावदरण—पित्त नानात्मज-रोग	८६
अङ्गावदरण—वायु मे भी	६२

विषय	पृष्ठ
अङ्गिरा	६०३
अङ्गुलीवेष्टक	१७६
अचैतन्य—कफनानात्मज रोग	७५
अच्छपेय—स्नेहपान	५२७
अजीर्ण—चार भेद	३२३
अजीर्ण—मन्दाग्नि मे भेद	१६३
अजीर्ण—रसज रोग	१६३
अञ्जलि प्रमाण (दोषो का) अनुमान गम्य	३६
अतिक्षुधा मेदस्विता का एक परिणाम	१७५
अति चर्वण अग्निमान्द्यकर	१४७-४८
अति तमोदर्शन—रक्तज विकार	१५०
अतितृषा—मेदस्विता का एक परिणाम	१७५
अतिपतित काल	५२४
अतिसार-प्रवाहिका उनसे ग्रहणी की उत्पत्ति	२४५
अतिसार-प्रवाहिका-ग्रहणी उनके साम-निराम भेद से चिकित्सा भेद	६५३
अतिसार—प्राथमिक भेद	६५२
अतिसार—शब्द से प्रवाहिका भी ग्राह्य	५३८
अति स्थौल्य—कफ नानात्मज रोग	७३
अति स्थौल्य—मेदोज रोग	१७०
अति स्वेद—पित्तनानात्मज रोग, उसकी व्याख्या तथा परिणाम	८८
अति स्वेद . प्रमेह पूर्वरूप	१७३
अति स्वेद—मेदोज रोग	१७०
अति स्वेद सर्वाङ्ग शैत्य का एक कारण	१५०
अतृप्ति—पित्तनानात्मज रोग	९१
अत्यग्नि	५३५
अत्यार्तव सज्ञा का शुद्धार्थ	५८३
अत्युद्गार	१३५
अदृश्यता—वायु का लक्षण	१०२
अदुष्टशोणित गर्भव्यापत्ति	११३
अधर्म उसमे जनपदोद्ध्वंसक रोग	२६१
अधर्म प्राचीन मत मे उसका सत्य स्वरूप	२६३
अधिजिह्वा—मासज रोग	१६७
अधिजिह्वा—सब लिग्वल ग्लैण्ड का उचित पर्याय	१५३
अधिदन्त	१७५
अधिमास—अनेक अर्थ	१६६
अधोभक्त औषधकाल	५२७
अध्यशन	४८५
अध्यस्थि	१७५
अनन्न औषधकाल	५२५
अनन्नाभिलाप उसकी परिभाषा	१६२, ६२०
अनपत्यता उसमे स्त्री-पुरुष दोनो की कारणता	६४१
अनवस्थितचित्तता	११६, १२६
अनवस्थितत्व—वायु का लक्षण, उसका अर्थ	१०२
अनाप्त	३३६
अनुकम्पा—'सिम्पेथी' का शुद्ध पर्याय	४४१
अनुपक्रम रोग	२८७, २९८
अनुपशय	४६२
अनुबन्ध दोष उसके प्रकोप का का कारण	२२

विषय	पृष्ठ
अनुवन्ध्य-अनुवन्ध	३०८, ३१२
अनुमान द्वारा रोग-परीक्षा	३७१-३८२
अनुमान प्रमाण लक्षण	३४४
अनुमान—शल्य तन्त्र मे	३७५
अनड्मिमेडेड टेस्टीज	१२२
अन्त परिमार्जन चिकित्सा	३३५
अन्त स्राव तीन भेद धात्वग्नि विशेष	९६
अन्त स्रावी ग्रन्थियाँ आयुर्वेद मे उनका स्थान	४४३
अन्तरग्नि	३६१
अन्तराभक्त औषध काल	५२८
अन्तरायाम	१३१
अन्तर्दाह उसकी सप्राप्ति	९४
अन्तर्दाह—पित्तनानात्मज रोग	८८
अन्त्रकूजन	१३५
अन्धत्व—पित्तनानात्मज रोग	९३
अन्न पक्व उसके दो भाग	५९९
अन्न पक्व उसके तीन भाग	५९८
अन्नपान का विदाह	१४८—४९
अन्न रस—अपक्व उसका शुक्तपाक	५३७
अन्नरसज रोग	२८१
अन्नवह स्रोत उसके मूल आदि	६२०
अन्नाद	४६७
अन्नाश्रद्धा	१६१
अन्य लक्षण रोग	३१३, ३१८
अपतन्त्रक	१३४
अपतन्त्रक उसकी आदि वल प्रवृत्ति	२२६
अपतर्पणज रोग	२८१
अपतानक	१३४
अपत्यपथ से रक्त की अति प्रवृत्ति निदान मे सावधानी	५८३
अपथ्यज उदावर्त	५४०, ६५४
अपस्मार . उसकी आदि वल-प्रवृत्ति	२२९
अपस्मार उसके भेद	२२७
अपुनर्भवकर चिकित्सा	५६
अप्रधान रोग	६३, ३१२-१३
अप्राप्तकाल	५२४
अभक्त औषध काल	५२५
अभिचार	५८, २६२
अभिषङ्ग	५८
अभ्यवहरण शक्ति	५३०
अमूर्तता—वायु का लक्षण	१०२
अम्लक—पित्तनानात्मज रोग	८७
अम्लपाक · क्रिया शारीर का तथा काय चिकित्सा का	९६
अम्लपाक . प्राकृत-वैकृत	१४८-४९
अम्लपित्त	१४९
अम्लपित्त उसमे कफ का अनु-वन्ध (कोप)	१४९, १६२
अम्लपित्त उसमे देश का विचार	५६८
अम्लपित्त ग्रहणी मे उसका अन्तर्भाव	५६९
अम्लपित्त नव्य मत से उसकी व्याख्या	९४-९६
अम्लपित्त व्यवसाय मे स्मरणी-यता	९६
अम्लोद्गार उसकी सप्राप्ति	९४
अम्लोद्गार पित्तनानात्मज रोग	८७
अम्लोद्गार—रक्तज रोग	१४९
अरति—पित्तनानात्मज रोग . उसकी विशेषता	९३
अरबी समुद्र मूल नाम पश्चिम समुद्र	५०७

विषय	पृष्ठ
अरसज्ञता—रसज रोग	१६२
अरसज्ञता—वात विकार-विशेष	१२५
अरुचि उसकी परिभाषा	६२०
अरुचि—रसज रोग उसकी विशदता	२६१
अरुष्—रक्तज रोग	१५०
अरोचक—रसज रोग	१६१
अर्जित सहिष्णुता	४६४
अर्थशौच	४३३
अर्दित	१२८, १३२
अर्दित उसकी साध्यासाध्यता	२६४
अर्धरात्र मे पित्त के प्रकोप की सप्राप्ति	५२०
अर्धावभेदक	१२८
अर्श-अतिसार-ग्रहणी उनमे परस्पर सबध	२४२
अर्श उसकी आदिबल-प्रवृत्ति	२०९-२११
अर्श—कुलज उसकी सप्राप्ति	२१८
अर्श प्रश्न परीक्षा मे प्राय ज्ञातव्य	२४७
अर्श प्राथमिक भेद	२१०
अर्श—मासज रोग उनमे मास-दुष्टि कैसे ?	१६७
अर्श मासकुर क्यो कहे गए ?	१०५, १३६
अर्श—रक्तस्रावी पित्तार्श तथा रक्तार्श मे भेद	१५२
अर्श—सहज उनमे सर्व दोपो का प्रकोप	६५५
अलजी—मासज रोग	१६८
अलसक	३८०
अलास—रेन्युला का उचित पर्याय	१५३
अल्पशुक्रता—पित्तनानात्मज रोग	९२
अल्पायु के लक्षण	४७७
अवबाहुक	१३३
अवर सत्त्व	४५३
अविनाभाव	३४४
अविपाक—कफनानात्मज रोग	७२
अविपाक—रसज रोग	१६३
अशब्दश्रवण—वातविकार विशेष	१२६
अश्मरी	२३४
अश्मरी उसकी सप्राप्ति	२५
अश्मरी—कफज	६८
अश्मरी—तरुण औषध-साध्य	३३५
अश्मरी-शूल	११०
अष्टौ निन्दिता	१६९
अष्ठीला	१३४
असत्त्वसार	५०
असरक्षणज रोग	२८१
असात्म्य	४६२
असाधारण स्वस्थवृत्त	२६८
असाध्य व्याधियो की कालक्रम से साध्यता	३०८
असार	४५२
असृक्क्षरा योनि	६३८
असृग्दर	६३८
अस्थिक्षय आयुर्वेद मत से शुद्ध चिकित्सा	४८
अस्थिक्षय नव्य मत से स्वरूप	५८०
अस्थिक्षय—बोन टी० बी० नही	५८०
अस्थिगत वात	१७५
अस्थिज (अस्थि दोषज) रोग	१७५-७६
अस्थिवह स्रोतो के मूल आदि	६२७
अस्थितोद	१७५
अस्थि—दन्तो का उनसे सबन्ध	४४९

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
अस्थि भेद	१७६	आतुर-वचन की आप्तोपदेशता	३३६
अस्थि वृद्धि-क्षय के लक्षण	५७६	आतुरावस्था काल-विशेष	५०६
अस्थिशूल	१७६	आत्मा आयुर्वेद मे स्वीकार का कारण	१०
अस्थिसार	४४८	आत्मा उसकी प्रकृति का प्रभाव देह-प्रकृति पर	४३१
अस्थिसार—नव्य-मत से तुलना	४४८	आत्मा शरीर का पर्याय	१६८
अस्थि सौषिर्य	१७५	आदान काल	५०६-१०
अस्वप्न	१२६	आदिवल प्रवृत्त आदि सात वर्ग	१६८-२७८
अहिपूतन	६१	आदिवल प्रवृत्त रोग	१६६-२३२
अहोरात्र मे दोष-प्रकोप	५१६	आदिवल प्रवृत्त रोग उनकी असाध्यता	१६६
अशाशकल्पना	४४, ७७-८४, २७६-८०,	आदिवल प्रवृत्त रोग दुष्टि का प्रकार	२०३
अशाश कल्पना उसकी चिकित्सा मे उपयोगिता	८२	आदि वल प्रवृत्त रोग निदान मे सहायक	२००
अशाश कल्पना एक उदाहरण	१४७	आदिवल प्रवृत्त रोग नव्य मत से	२३२
अशाशकल्पना दूषित स्तन्य की	६४८-५०	आदिवल प्रवृत्ति	१२१
अशाश कल्पना—व्याख्या	६४८	आदि वल प्रवृत्ति पीडित कुटुम्बो मे विवाह का निषेध	२०१
असदाह-पित्तनानात्मज रोग	८८	आदिबल प्रवृत्ति प्रष्टव्य स्वजन	२०१
आ		आदिवल प्रवृत्ति रोग नही रोग रोग जनक दुष्टि ही सक्रान्त	२०१-२०२, २११
आकस्मिक रोग	२६४, २६५	आधिदैविक रोग	१६६
आकाशीय प्रकृति	४२७	आधिभौतिक रोग	१६६
आक्षेप कम्प की अवस्था	१०७	आध्मान	१३६
आक्षेपक	१२८	आध्मान लक्षण तथा चिकित्सा	५८४-८६
आगन्तु आदि चार व्याधि-भेद	२७६	आध्यात्मिक रोग	१६८
आगन्तु तथा निज रोग उनमे परस्पर सवन्ध और भेद	६०	आनाह वातविकार-विशेष	११७
आगन्तु दैववल प्रवृत्त का पर्याय	५८	आनूप देश	३५३
आगन्तु रोग	२७६		
आगन्तु रोग उनके दो भेद	५३		
आगन्तु रोग लक्षण	५४		
आगम प्रमाण	३३८		
आठ महारोग	३०६		
आतङ्क समुत्पत्ति	३६१		

विषय	पृष्ठ
आनूप देश उसमे कफ-वातज रोग उनकी व्याख्या	४९६
आनूप देश के लक्षण	४९५
आन्त्र अथर्ववेदोक्त वृक्क	६२६
आप्त लक्षण	३३८
आप्तोपदेश	३३८
आप्तोपदेश का प्राथम्य	३४२
आप्तोपदेश ज्ञातव्य विषय	३४०
आभ्यन्तर रोगमार्ग	१८२
आम	६
आम अन्य लक्षण	३२६
आम उसका स्वरूप	३२९
आम उसकी विपरूप मे परिणति	३२२
आम उसके दो भेद	३२०-२१
आम और कफ	७४
आम कफनानात्मज रोग	७२
आम कफ मे उसका सवन्ध और सादृश्य	१८
आम कफ स्वभावी उसका पुरीप पर प्रभाव	६५२
आम कफ स्वभावी, मन्द, उसका महास्रोत पर प्रभाव	६३२
आमगन्ध कुपित पित्त का कर्म	८७
आमगन्ध प्रमेह-पूर्वरूप	१७२
आम जठराग्नि दौर्वल्य जनित	३२१
आम तथा जीवाणु महत्व की तुलना	१
आम दो भेद टीकाकारो को अभिमत	३२६
आम दोप उनका विशिष्ट स्वभाव	१८६
आम धात्वग्नि दौर्वल्य जनित	३२३

विषय	पृष्ठ
आम नव्य मत से उसकी व्याख्या	३२७
आमय—निरुक्ति	७
आमय—रोग का पर्याय	७
आमाजीर्ण उसमे मल का विवन्ध	६३१-३२
आमातिसार उसका अर्थ	२४८
आमातिसार उसकी शुद्ध चिकित्सा	२४७-४८
आमातिसार शब्दार्थ की स्पष्टता	६३१
आमाशय उसकी मर्यादा (व्याप्ति)	२५०, ३२१
आमाशयगत रोग उनमे कफ का अवश्यभावी कोप	१६२
आमाशय मुख तथा अन्नवह स्रोत का भी उसमे अन्तर्भाव	५८५-८६
आमाशय व्यापक अर्थ	५८५
आमाशय-समुत्थ रोग	२४९, २८५
आमाशयोत्थ रोग उनमे लङ्घन मूलगामी उपचार	२५१
आयाम—वायु का लक्षण	१०२
आयु	४६६
आयु उसके ज्ञान का उपाय	४७४
आयु के तीन भेद	४६६
आयुर्वेद उसकी स्वत प्रमाणता	१००
आयुर्वेद और जीवाणुवाद	५४
आयुर्वेद जीवन का वेद	४०२
आयुर्ह्रास मेदस्विता का परिणाम	१७३
आरोग्य की परीक्षा—आयुर्वेद-मत से	४७९
आरोग्य लक्षण	३९
आरोग्यशाला	२७२
आर्टीरिओस्क्लेरोसिस	११९, २१७

विषय	पृष्ठ
आर्तव क्षय-वृद्धि के लक्षण	५८३
आर्तव क्षय रस क्षय का परिणाम	५७२
आर्तव दुष्टि के भेद	६३८
आर्तव-नाश—वात विकार विशेष	११४
आर्तव-प्रवृत्ति उसमे कष्ट मे काल का सबन्ध	३५६
आर्तववह स्रोत—उत्पादक ग्रन्थि-सहित वहन मार्ग	६०५
आर्तव-वृद्धि—एक कारण रस धातु की वृद्धि	५८३
आर्तव शुद्ध तथा अशुद्ध उसकी परीक्षा	६३६
आर्तव—शुद्ध प्राय दुर्लभ, इस विषय मे सुश्रुत	६३७
आर्ष काय	४३५
आलस्य—कफनानात्मज	७१
आल्व्यूमिनयूरीआ	६८
आवरण—अवरोध का पर्याय	१५६
आवरण—उसका स्वरूप, उससे वात का प्रकोप	१६
आवरण—वात-प्रकोप का कारण	११६
आवरण—व्याकरणदृष्ट्या अवरोध ही	११६
आवस्थिक काल	३५८, ५२३
आविलता (मूत्र की) प्रमेह मे	६०२
आविष्कृततम (रोगादि) शब्द का अर्थ	७४
आशय-भेद से रोगो के वर्गीकरण का प्रयोजन	२५०
आसुर काय	४३६
आस्य वैरस्य—रसज रोग	१६२
आहार—उससे प्रकृतियो की परीक्षा	४३२
आहार—नवीन विचार आयुर्वेदोपदिष्ट विचारान्तर्गत	४५८
आहार-राशि	५३०
आहार-शक्ति की परीक्षा	५३०
आहार समयोग सर्वोपरि दोष तथा अग्नि का साम्यकर	७६
आहार—स्वास्थ्य तथा अस्वास्थ्य का प्रधान मूल	५६५
आगल पेडा	१७६
इ—ई	
इक्षुमेह	७८
इच्छा	५६
इण्टरप्टेड रेस्पिरेशन	६१६
इण्टेस्टाइनल कॉलिक	२५, १३१
इन्द्रलुप्त	१५१
इन्द्रियाश्रित रोग	१७८
इन्द्रियोपलेप	५६०
इन्द्रियोपलेप—कफ का कर्म	७०
इन्फेक्शस रोग	२६५
इन्फीरिओरिटी कॉम्प्लेक्स	५६२
इन्फेण्टाइल पेरेलिसिस	११०
इन्फ्लेमेशन सस्कृत पर्याय पाक	१५१
इन्सुलीन—कोप के लक्षण	६७
इम्युनिटी—'बल' नाम से अभिहित	४५६
ईडियोसिन्क्रेसी (औषधो की)	२६४
उ—ऊ	
उच्च रक्तदाव	११
उच्चै श्रुति · वातविकार-विशेष	१२६
उच्छ्वास	४७५
उत्तरायण	५०६-१०
उत्साह	१५

विषय	पृष्ठ
उत्साह वातविकार-विशेष	१०७
उदकक्षय	५७३
उदकमेह—मूत्रवृद्धि से भेद	५८८
उदकवह स्रोतो के मूल आदि	६१६
उदर उसकी विरेचन साध्यता	१६०
उदरधरा कला—श्लेष्मधरा का एक भेद	८१
उदरशूल—उसकी परीक्षा मे काल का महत्त्व	३५६
उदरशूल (भोजनोत्तर)—वात—प्रकोप से भी सभाव्य	५२१
उदरशूल—वातविकार-विशेष	११०
उदर्क	३२०, ३४१
उदर्द कफनानात्मज रोग	७३
उदरावेष्ट	१२३
उदावर्त	२६
उदावर्त अगणित रोगो का कारण	६५४-५५
उदावर्त कफ तथा पित्त का भी उससे कोप	६५५
उदावर्त—अपथ्यज	५४०
उदावर्त—अपथ्य भोजन जन्य, वही आज के कब्ज का मुख्य प्रकार	६५४
उदावर्त—दो भेद	५४०
उदावर्त—वातविकार-विशेष	१२२
उदावर्त—शब्द की व्युत्पत्ति	६५४
उदावर्ता योनि	३८४
उदावर्ता योनि वातविकार-विशेष	१२२
उदीरण—दोषो का	२४१
उन्माद—सप्राप्ति	२२१-२२
उपकुश मासज रोग	१६७
उपकुश रक्तज रोग-विशेष	१४४

विषय	पृष्ठ
उपजिह्वा (जिह्विका)	१५२
उपजिह्विका—मासज रोग	१६७
उपदश · शुद्ध अर्थ	१७७
उपद्रव	३०८, ३१६
उपद्रव—उत्पत्ति का काल-भेद	३१६
उपद्रव—कॉम्प्लीकेशन का पर्याय नही	३०८, ३१६
उपद्रव चिकित्सा सूत्र	३१७
उपद्रव निरुक्ति	३१४
उपनख	१७६
उपमान प्रमाण	३४५
उपविष्टक	११३
उपशय	४६१
उपशयानुपशय प्रश्न परीक्षा मे ज्ञेय	३७०, ३७४
उपसर्ग	२६३, २६४
उपसर्गज रोग	२६५
उपसर्ग निरुक्ति	३१४
उर शूल—वातविकार-विशेष	११६
उष्णकाल उसमे आचरणीय चर्या	४०६
उष्णता कुपित पित्त का कर्म	८५
उष्ण (दोष या द्रव्य) का स्वरूप	२३
उष्णप्रीति—वातविकार-विशेष	११७
उष्णाङ्गता—पित्त नानात्मज रोग	६२
उष्णेच्छा—कफनानात्मज रोग	७४
ऊरुसाद—वातविकार-विशेष	१२१
ऊरुस्तम्भ—वातविकार-विशेष	१२१
ऊँदरी	१५१
ऊष्माधिक्य—पित्तनानात्मज रोग	८८

ऋ

विषय	पृष्ठ
ऋतु अव्यापन्न उनमे जनपदो-द्ध्वसक रोग	२६१

विषय	पृष्ठ
ऋतु अव्यापन्न उनसे रोगोत्पत्ति का स्वरूप	२५८
ऋतु उनकी व्यापत्ति तथा अव्यापत्ति	२५७
ऋतुओ के विविध विभाग	५१३
ऋतु किस दोष का प्रकोप किसमे ?	२५८
ऋतु की परीक्षा	५०६
ऋतु-विभाग रसोत्पत्ति तथा वलभेद की दृष्टि से	५१४
ऋतु-विभाग सशोधन की दृष्टि से	५१४
ऋतु-व्यापत्ति उसका कारण सामुदायिक अधर्म	२६०
ऋतु-व्यापत्ति उसमे औषध-ग्रहण का निषेध	५२३
ऋतु-व्यापत्ति का अर्थ	२५६
ऋतुसात्म्य	४६४
ए	
एकाङ्ग रोग	१२८
एकाङ्गवीर रस—अक्षिव्युदास मे	११५
एक्रोमेगेली	४४६
एक्लेम्प्शिआ	१३४
एक्लेम्प्शिआ उसमे आयुर्वेदीय उपचार की दिशा	६२६
एक्लेम्प्शिआ उसमे वृक्क-विकृति	६२६
एक्वायर्ड इम्युनिटी	४६४
एक्स रे उससे शुक्रनाश	६२७
एक्सेलेरेटेड रेस्पिरेशन	६१८
एड्रीनलीन उसके कर्म	६८
एड्रीनलीन उसके कोप से क्रोध प्राचुर्य	१५०
एण्डेमिक रोग	२६५

विषय	पृष्ठ
एथीरोमा	२१७
एपीग्लोटिस उचित पर्याय उपजिह्वा	१५३
एपीडेमिक रोग	२६५
एपीफोरा	१२६
एफेजिआ	१२५
एफोनिआ	१२५
एरिसिपिलास—क्षत विसर्प	१४५
एलर्जी (औषधो की)	२६४
एलेक्सिस केरल	२७२
एसिड डिस्पेप्सिआ	१४८
एस्पर्मिआ	११२
एजाइना पेक्टोरिस	५७२
एजाइना पेक्टोरिस—प्राचीनो का हृद्ग्रह ?	२१६
एजीओन्यूरॉटिक इडीमा	२२०
एटीरिअर पॉलिओ मायलाइटिस	११०
ओ–औ	
ओकसात्म्य—उसके त्याग का नियम	४६५
ओकसात्म्य—ज्ञान की आवश्यकता	४६२
ओकसात्म्य—लक्षण	४६१-६२
ओज उसके दो भेद तथा नव्य-मत से तुलना	५६१
ओज उसके वर्धक पदार्थ	४५६
ओज तीन व्यापत्तियाँ	५६२
ओज दो भेदो के क्षय मे भेद	५६२
ओज वल का पर्याय	४५६
ओज वृद्धि-क्षय के लक्षण	५६१
ओजोनाश—शुक्रनाश सज्ञा से ग्राह्य	१११
ओलिगस्पर्मिआ	११२
ओष—पित्तनानात्मज रोग	८७

विषय	पृष्ठ
ओषधि—व्युत्पत्ति	१, २
ओष्ठप्रकोप	१६९
ओष्ठ-भेद—वातविकर विशेष	११६-१२४
औपसर्गिक रोग	२६४
औपसर्गिक रोग (उपद्रव)	३१३
औपसर्गिक रोग नव्य-मत से भेद	२६४
औषधकाल-जीर्णापेक्ष	५२४
औषधकाल—दिनापेक्ष	५२४
औषधकाल—रोग्यपेक्ष	५२४
औषधकाल—शार्ङ्गधरोक्त	५२९
औषधग्रहणकाल	५२४-२९
औषध-योजना-बलानुसारिणी	४६०
ऑस्टिओमायलाइटिस	१७७

क

विषय	पृष्ठ
कक्षा—पित्तनानात्मज रोग	९०
कटिग्रह	१३१
कटिभेद—वातविकार-विशेष	११६
कटुरोहिणी—विशेष पित्त विरेचक	१९१
कण्ठशालूक	१६८
कण्ठोद्ध्वंस	१२४
कण्ठोपलेप—कफनानात्मज रोग	७२
कण्डू—कफ का कर्म	६८
कण्डू कुपित पित्त का कर्म—कामला के लक्षणों मे अन्तर्भाव्य	८६
कण्डू—रक्तज रोग	१५०
कण्डू—वातविकार-विशेष	१४०
कन्दरा गुह्यार्थ	५०७
कन्या उसमें वृद्धि की परिपक्वता शीघ्र	४६९
कफ आम मे उसका सबन्ध तथा सादृश्य	१८
कफ उसका स्वरूप	४०१
कफ उसकी परिभाषा	२१५
कफ उसके अंशांश विकल्प के उदाहरण	७८—८४
कफ उसके कोप से मलबन्ध	४९७
कफ उसके पिच्छिल गुण से हृच्छूल तथा पक्षवध	४९८
कफ उसके प्रधान गुण मन्द का अर्थ	४९६
कफ उसके प्राकृत कर्म	५५०
कफ उसके मन्द गुण का प्रभाव आमपच्यमानाशय पर	४९६
कफ उससे धातुक्षय का स्वरूप	५७०
कफ और आम	७४
कफ कफज तथा अन्य रोगो मे उसका स्वरूप-भेद	३९०
कफ किंचित् परिचय	८१
कफज ग्रन्थि विसर्प	१७०
कफज रोग उनकी लङ्घन साध्यता	२५१
कफज विकार उन पर एक दृष्टि	७५
कफज शोथ लक्षण तथा नेफ्राइटिस से साम्य	४०५
कफज स्रोतोरोध की व्याख्या	६९, ५३१
कफ तथा रस धातु उनमे परस्पर भेद	८१
कफनानात्मज रोग	६७-८४
कफनानात्मज रोग (शार्ङ्गधरोक्त)	७४
कफ प्रकृति अधिक सतानवान् क्यो ?	४०३
कफ प्रकृति उनमे शीत सहिष्णुता की अल्पता	३९९
कफ प्रकृति उसकी शान्तिप्रियता	४०२-३
कफ प्रकृति उसके स्थिर गुण की व्याख्या	४०५

विषय	पृष्ठ
कफ प्रकृति पुरुष — उसकी पुष्टि की व्याख्या	४०१
कफ प्रकृति पुरुष — कफवर्धक द्रव्यों से उसमें वायु की वृद्धि	३९९, ४००, ४१८
कफ प्रकृति पुरुष के लक्षण	३९६
कफ प्रकृति बालक — उसकी निरोगता	३९६
कफ प्रकृति श्रेष्ठ क्यों ?	३८९
कफ — मन्दता का प्रभाव हृदय तथा रक्तवह स्रोतों पर	४९८
कफ — मुख से निर्गत द्रव्य की इस नाम से प्रसिद्धि का तात्पर्य	८३
कफ — रस से उसका सम्बन्ध	४०१
कफ — सामान्य गुण	६८, ७७
कफ — स्थान के प्रभाव से अनुबन्ध रूप में उसका प्रकोप	३८९-९०
कफष्ठीवन — गुरुगुण के अतियोग का परिणाम	८१
कफोद्गिरण — कफ नानात्मज रोग	७२
कफोन्माद	४६
कब्ज	११७
कब्ज—एक भेद अपथ्यज उदावर्त	५४०
कम्प—रक्तज रोग	१५०
कम्प—वातविकार-विशेष	१०६
कर्णनाद—वातविकार-विशेष	१२६
कर्णभेद—वात रोग-विशेष	११६
कर्णशूल—वातविकार-विशेष	१२६
कर्म — आयुर्वेद-मत से गुणों के आश्रित	२४
कर्मज रोग	१०, २३९, २८२-८३
कर्मज रोगों का उपचार	२८३-८४
कर्मपुरुष	१०
कर्म में अनुत्साह — वातविकारविशेष	११७
[illegible]	[illegible]
कलायखञ्ज	११०
कषाय रस	१०८
कषाय रस—[illegible]	४५९
कषायास्यता	१२५, १३६
[illegible]	५८४
[illegible]	५८७
[illegible] रोग	२९४
[illegible]	७९
काठिन्य	१३९
काठिन्य—[illegible]	६१
कामला—उसमें पित्त का रंग	६०६
कामला — उसमें [illegible] विरेचन	६६१
कामला — कारण-भेद से उसके भेद	५०
कामला (कोष्ठ शाखाश्रित)— पाण्डुरोग से उसकी उत्पत्ति	२४४
कामला—पित्तनानात्मज रोग	९०
कामला—रक्तज रोग	१५४
कामला (शाखाश्रित) उसकी सम्प्राप्ति में मूत्रयन्त्र-विकार [illegible]	६२९
कामला (शाखाश्रित) उसमें कारणभूत कफप्रकोप की व्याख्या	४९९
कामला (शाखाश्रित) कफवर्धक द्रव्यों से उत्पत्ति का स्वरूप	४००
काय चिकित्सा	२, ३
काय चिकित्सा अङ्ग के दो विभाग	२
काय चिकित्सा आठों अङ्गों में प्रधान	१

विषय — **पृष्ठ**

काय चिकित्सा . ग्रन्थ का प्रतिपाद्य विषय १
कायचिकित्सा लक्षण २
कायफोसिस १११
काय विशिष्ट अर्थ २
कार्श्य वातविकार-विशेष १३७
काल उसके अतियोगादि २५९
काल औषध का ५०९
कालज वल ४५७
कालज रोग २५७, २८१
काल की परीक्षा ५०९
काल दो भेद ५०९
काल-परीक्षा से रोग-परीक्षा ५११
कालवल प्रवृत्त रोग २५६-२६४
काल रोग-परीक्षा मे ज्ञेय ३५८
काल-सात्म्य ४६३
कास पित्त प्रकृति मे उपचार ३८९
कास वातज उसका स्वरूप तथा लक्षण २६
किक्किस १०९
किट्ट (अन्न का) . उससे पोष्य अवयवादि ५९९
कील—अर्श १६७
कुञ्चन १२७
कुनख १७६
कुणपगन्धि आर्तव—पित्तला योनि से भेद ६४३
कुब्जता १११, १२३
कुमार उपयोगी प्राश २४१
कुलज रोग १२१, १९९
कुलज रोग दुष्टि की सक्रान्ति का स्वरूप २०३

विषय — **पृष्ठ**

कुलज रोग नव्य-मत से २११-२३२
कुलज रोग पीडित कुटुम्बो मे विवाह-निषेध २०१
कुष्ठ माता-पिता से सतति मे २०६
कुष्ठ रक्तज रोग १५१
कृच्छ्रसाध्यता के लक्षण २९६
कृच्छ्रसाध्य रोग २८७
कृतेऽपि अकृतसज्ञता ५८७
कृत्या २६२
कृश उसका उपचार ४९१-९२
कृशता—रसज रोग १६५
कृशता वातविकार-विशेष ११७
कृश शरीर उसका निदान तथा लक्षण ४८९
कृष्णता—वातविकार-विशेष ११७
केदारीकुल्या न्याय ५८१
केल्शीयम आयुर्वेद-मत से भेद—शीत-उष्ण ४८
केशभूमिस्फुटन १२८
केशातिवृद्धि प्रमेह-पूर्वरूप १७१
केशो की जटिलता प्रमेहपूर्वरूप १७१
कोट्स (स्रोत आदि के) उचित पर्याय मण्डल १५६, २१५
कोठ १५१
कोठ कुपित पित्त का कर्म ८७
कोठे रतवा ११४
कोथ कुपित पित्त का कर्म ८६
कोप पित्तनानात्मज रोग ९३
कोलन न्यूरोसिस ५०, ३०४
कोष्ठ—आभ्यन्तर रोगमार्ग १८२
कोष्ठ का विचार—प्रथमागत रोगी मे ५४५

विषय	पृष्ठ
कोष्ठ की परीक्षा	५४३-५४७
कोष्ठ क्रूरता के कारण	५४६
कोष्ठ (विरेच्यता) रोग-परीक्षा मे ज्ञेय	३६३
कोष्ठ से दोष शाखानुसारी होने मे हेतु	१८७
कोष्ठानुसारी रोग	१८३
कोबेर काय	४३५
कोमारभृत्य—वर-वधू की पसदगी उसका एक कर्तव्य	४१४
कॉग-व्हील रेस्पिरेशन	६१६
कॉम्प्लीकेशन	३०८
कॉन्स्टीपेशन—एक भेद अपथ्यज उदावर्त	५४०
कॉरोनरी थ्रॉम्बोसिस—प्राचीनो का हृच्छूल ?	२१६
कॉलिक	२५
क्रथन	२३४
क्रीटिन आयुर्वेद-मत से उपचार	२४१
क्रीटिन प्राचीनो के जन्मजड ?	२४०
क्रूर कोष्ठ उसका उपचार	५४६
क्रूरकोष्ठ का लक्षण	५४४
क्रैम्प	१०७
क्रोध प्रचुरता—रक्तज रोग विशेष	१५०
क्रोमोसोम	२१०
क्रोष्टुशीर्ष	१३२, १४६
क्रोष्टुशीर्ष उपशयानुपशय से उसकी परीक्षा	३७४
क्रॉस आई	११५
क्लम—रक्तज रोग-विशेष	१४६
क्लाइमेक्टरिस	११४
क्लेद—कफ का कर्म	६६
क्लेद—कुपित पित्त का कर्म . उसकी व्याख्या	८६
क्लेद (त्वग्गत) त्वग्गत स्नेह मे भिन्न	८६
क्लैव्य	१७७
क्लैव्य—रसज रोग	१६५
क्लोम उसके अर्थ की विचारणा	६१६
क्षमता के कारण	४५७
क्षयज तृष्णा	५७३
क्षय—दोषो का उसमे रोगोत्पत्ति	५५१
क्षय (राजयक्ष्मा) उसमे मासक्षय	१०८
क्षार—अतियोग मे हानि	३५४
क्षिप्रमूत्रता वातविकार-विशेष उसकी सप्राप्ति	१३७
क्षीराद	४६७
क्षीरान्नाद	४६७
क्षुद्ररोग	१७६
क्षुद्र विकार	१३४
क्षुद्र श्वास लक्षण	५७८
क्षुधा उसका उदय रोग शान्ति का सूचक	७
क्षुधानाश—अरुचि आदि से भेद	१६४
क्षेत्रिय रोग	२००

ख

विषय	पृष्ठ
खञ्जता—वातविकार—विशेष	११०, १२२
खरता—वातविकार	१०७
खरत्व उसके कारण अङ्गवध	२८
खल्ली	१३१
खुडवातता	१२०

विषय	पृष्ठ
ग–घ	
गण्ड	१६८
गण्डमाला मासज रोग	१६८
गति—दोषो की	१८०
गति · वायु का लक्षण, विकृत उसके प्रकार	१०२
गन्धाज्ञता	१४०
गर्भ उसकी वातिक व्यापत्तियाँ	६४१
गर्भ उसके स्राव या पात मे एक कारण शुक्र की वातकृत दुष्टि	६४१
गर्भ उसमे मातृज-पितृज अवयव	२०४
गर्भ उसमे वृद्धिगत दोषो के दो परिणाम—प्रकृति तथा विकृति	३९१
गर्भज रोग	२८१
गर्भनाश उसके अनेक रूप	११२-१४
गर्भनाश वात की कारणता, अनेक प्रकार	६४१
गर्भविकृति—उसके कारण	२३८
गर्भविकृति शुक्रदोषज रोग	१७७
गर्भ—वृद्धि-क्षय के लक्षण	५८४
गर्भ-व्यापत्ति	११३
गर्भशोष	११३
गर्भस्थिति—उसका यक्ष्मा पर प्रभाव	२१३
गलगण्ड	७३, १७०
गलपाक—दोष-भेद से पृथक् लक्षण	१५८
गलशालूक	१६८
गलशुण्डी मासज रोग	१६७
गलशुण्डी उसकी वृद्धि से कास	१६८
गवीनी	६२९
गाढविट्कता	११७
गान्धर्व काय	४३५
गाम्भीर्य	४०५, ४७६
गिडीनेस	११८
गुण—आयुर्वेद-मत से कर्मो के आश्रय	२४
गुण . इनके वाचक शब्द भाव प्रधान	६८
गुण—शारीर तथा वाह्य द्रव्यो के कर्मानुमेय	३९६
गुदद्वार	१८२
गुदपाक	९१, १५१
गुदभ्रंश—वातरोग-विशेष	१२१
गुदार्ति—वातरोग-विशेष	१२२
गुरुगात्रता—कफनानात्मज रोग	७१
गुरुगात्रता—रक्तज रोग	१४८
गुरु गुण—अतियोग से प्रमेह, उसकी सप्राप्ति	७९-८०
गुरुव्याधित	३५७
गुल्फग्रह—वातरोग-विशेष	१२०
गुल्फवात	१२०
गुल्म—रक्तज रोग	१४४
गुल्म—वायु की उसमे क्रिया	१०५
गृध्रसी—वातरोग-विशेष	१२१
गोक्षुर उसका मूत्रल तथा रसायन कर्म	६२७
गोबलीवर्दन्याय	५
गोमूत्र वृक्क तथा मेद पर प्रभाव	६२७
गौरव—कफ का कर्म	६८
गौरव—कफनानात्मज रोग	७१
ग्रन्थ का प्रतिपाद्य विषय	१
ग्रह-गणित . रोग-परीक्षा मे उसका विचार	२८४

विषय	पृष्ठ
ग्रहणी अतिसार-प्रवाहिका से उसकी प्राय उत्पत्ति	२४५
ग्रहणी उसके द्वारा पक्व अन्न के ग्रहण तथा अपक्व के त्याग मे कारण—वुद्धि	५३८
ग्रहणी-कला अग्नि के वल का उस पर प्रभाव	५३७
ग्रहणी प्राय प्रवाहिका का परिणाम	५३८
ग्रहणी-रोग उसकी सप्राप्ति	५३८
ग्रहणी (वातज) सप्राप्ति तथा असाव्यत्व	४६
ग्रहणी सामावस्था मे उपचार	३३०
ग्रह वातविकार-विशेष	१११
ग्रास औषधकाल	५२८
ग्रासान्तर औपध काल	५२८
ग्रीवास्तम्भ	११६, १२४
ग्रीष्म ऋतु उसमे सशोधन की अनुपयुक्तता	५१६
ग्रीष्म काल उसमे पित्त का अनुवन्ध	३११
ग्लानि	१२६
ग्लोवस हिस्टेरिकस	११६
घ्राणनाग वात की कारणता	११५
घ्राणनाग वातविकार-विशेष	१२६

च–छ

विषय	पृष्ठ
चन्द्रमा उसका कर्म प्रकृति मे	५१२, ५५७-५६
चर्मदल	१५१
चर्मदल (न) पित्तनानात्मज रोग	८६
चिकित्सा तीन प्राथमिक भेद	२५०
चिकित्सा शुद्ध (सम्यक्) उसकी परिभाषा	५७, १३३, २४८
चिकित्सा सामान्य सूत्र	४२
चिक्कणता प्रमेह-पूर्वरूप	१७२
चिप्प	१७६
चिरकारिता कफ का कर्म	६६
चेप्टा—वातविकार	१०७
छर्दि उसका चिकित्सा-सूत्र	२५२
छर्दि उसमे लङ्घन की उपयोगिता	२५१
छाती मे अवरोधप्रतीति	११६
छोड	११३

ज

विषय	पृष्ठ
जनपदोद्ध्वसक रोग अधर्म से उनकी उत्पत्ति का स्वरूप	२६१
जन्मवल प्रवृत्त रोग	२३२-४२
जरणशक्ति	५३०
जरण शक्ति रोग परीक्षा मे उसकी महत्ता	३७२
जरा—अकालिक मेदस्विता का परिणाम	१७३
जल की परीक्षा देश की परीक्षा से	५०६
जव-हानि मेदस्विता का परिणाम	१७४
जलपार्श्व उसमे स्रोतो की दुष्टि के दो भेद	६०६
जलपार्श्व कफ की कारणता	५०१
जलोदर उसमे स्रोतोदुष्टि के दो कारण	६०६
जलोदर कफ की कारणता	५०१
जाङ्गल देश	३५३
जाङ्गल देश के लक्षण	५०२
जाठराग्नि	३६३
जाठराग्नि अग्नियो मे प्रधान	५

विषय	पृष्ठ
जाठराग्नि . अन्य अग्नियो की आधारभूत	६५१
जाठराग्नि अन्य अग्नियो की बलदाता (नव्य मत से व्याख्या)	६५१
जाठराग्नि अन्य अग्नियो मे सबध	६
जाठराग्नि उसका कोप——उभय मत मे	८५
जाठराग्नि उसके दौर्बल्य मे दोप-प्रकोप	६५१
जातज रोग	२८१
जाति परीक्षा मे ज्ञेय	३५९
जाति सात्म्य	४६३
जानुभेद वातविकार-विशेप	१२१
जानु विश्लेप वातविकार-विशेप	१२१
जायगेटिज्म	४४८
जिह्वा की परीक्षा	६५८
जिह्वा स्तम्भ	१३२
जीवनयोनि नाडी मस्थान	६५
जीवरक्त पित्तरक्त मे भेद	६३५
जीवाणु तथा आम महत्त्व की तुलना	१
जीवाणु प्राचीनो को उनका ज्ञान	६१४
जीवाणुवाद तथा आयुर्वेद	५४
जीवादान	६३५
जीवादान रक्तपित्त से भेद	६१
जृम्भा कफनानात्मज रोग	७१, १२९
जेन	२१०
ज्वर उपचार-सूत्र	३३३
ज्वर उसकी जीर्णता का एक हेतु	४५६
ज्वर उसकी परीक्षा मे काल की ज्ञेयता	३५९
ज्वर उसकी लङ्घन-साध्यता	२५२
ज्वर उसके निदान-चिकित्सा मे पित्त का प्राधान्य	९२
ज्वर उसमे लङ्घन की मर्यादा	४५६
ज्वर उससे रक्तपित्त की उत्पत्ति	२४३
ज्वर कफ प्रधानावस्था मे वमन	३३१
ज्वर रसज रोग	१६५

ट—ड

विषय	पृष्ठ
टमाटर किन रोगो मे और क्यो अपथ्य ?	९४
टर्मिनल इन्फेक्शन	३०९
टायफॉयड——उसकी कफ-प्रधानता	४०५
टिनीटस	१२६
टोसिस	१२६, १३५
डायाबिटिक कॉमा	३२८
डिजीनेस	११८
डिफ्यूज हाईपरप्लास्टिक एक्लेरोसिस	२१५
डी टॉक्सिकेशन	६२३
डी हाईड्रेशन	५७३
ड्वार्फ——प्राचीनो के जन्म-वामन ?	२४०
ड्वार्फिज्म	१२३, ४४९

त

विषय	पृष्ठ
तक्र शुष्क अर्शो पर उसकी क्रिया	३१
तक्राम्ल उसका प्राकृत कर्म नव्य-मत से	९५
तक्राम्ल——पित्तवर्गीय द्रव्य	९५
तन्द्रा कफनानात्मज रोग	७०
तन्द्रा निद्राति योग रक्तज	१५०
तन्द्रा निद्रा से भेद	७१

विषय	पृष्ठ
तमक श्वास—याप्य रोगों का उदाहरण	२९८
तम रसज रोग	१६५
तम वातविकार-विशेष	१२६; १२८
तम प्रवेश—पित्तनानात्मज रोग	९१
तमोदर्शन—मज्जज रोग	१७६
तमोदर्शन—रक्तज रोग	१५०
तर्पक कफ उसका प्राकृत कर्म	३६८
तर्ष—वातविकार-विशेष	१०६
तामस पुरुषों के भेद तथा लक्षण	४३७
तामस मन तथा प्रकृति	४३२
तारुण्य व्रणों तथा रोगों की सुख साध्यता में हेतु	२९४-९५
तिक्ताम्लोद्गार—रक्तज रोग	१४९
तिक्तास्यता—पित्तनानात्मज रोग	९०
तिक्तेच्छा—कफनानात्मजरोग	७५
तिमिर	१२७
तिमिर—पित्तनानात्मज रोग	९१
तिलकालक	१५१
तीक्ष्ण गुण-वाचक इस शब्द के दो अर्थ	८४
तीक्ष्णाग्नि	५३४
तीक्ष्णाग्नि—तरतम भाव से भेद	५३५
तूनी	१३२
तृणपुत्रिक	२०६
तृतीय अवस्था पाक : उसमें वात का प्रकोप	५२१
तृप्ति कफनानात्मज रोग—उसका स्वरूप तथा परिणाम	७०
तृप्ति—रसज रोग	१६४
तृषा—वातविकार	१०६
तृष्णाधिक्य—पित्तनानात्मज रोग	९०
तेजोद्वेष—पित्तनानात्मज रोग	९३
तोद—वातविकार	१०७
त्रिक-ग्रह	१२३
त्वक्सार	४४६
त्वगवदरण—पित्तनानात्मज रोग	८९
त्वग्दाह—पित्तनानात्मज रोग	८९
त्वग्दोष	१७८
त्वचा—उसकी मस्तिष्क में स्थिति?	३६८
त्वचा . उसके उपलेप से कण्डू	५९०
त्वचा . उस पर दो मल स्नेह तथा स्वेद	४११, ४५०
त्वचा की रूक्षता—वातविकार-विशेष	११७

द

विषय	पृष्ठ
दक्षिणायन	५०९-१०
दण्डक	१२८
दण्डापतानक	१३१
दद्रू . रक्तज रोग	१५१
दन्त अस्थि-परीक्षा से परीक्षा	४४९
दन्त . आहरण-विषयक निर्देश	४४९
दन्तभेद—वातविकार-विशेष	११६; १२४
दन्तशूल—वातविकार-विशेष	१२४
दन्तोद्भेद	३५८
दन्तोद्भेद उसमें काल-वैषम्य	४२१
दवथु—पित्तनानात्मज रोग	८७
दानव काय	४४८
दारुण रोग	२८५
दाह कुपित पित्त का कर्म	८५
दाह पित्तनानात्मज रोग	८७
दाह प्रमेह-पूर्वरूप	१७२
दीर्घायु पुरुष के लक्षण	४७५

विषय	पृष्ठ
दुर्बलत्व	१३८
दुर्बल पुरुष उनमे पुरीष की रक्षणीयता	३०१
दुरुछर्दत्व	३६४
दूध . जलोदर मे उपयोगिता	१८६-६०
दूषीविष	५७
दूष्य—धातु, उपधातु तथा मल	५६५
दृष्टशोणित शुष्क गर्भ	११३
दृष्टादृष्ट कर्मज रोग	२८३
दृष्टापचारज रोग	२८३
दृष्टि की मन्दता एक कारण रक्तादि धातुक्षय	३६६
दृष्टिक्षय	१४०
देश उसके प्रकार	३५३, ३५६
देश की परीक्षा	४६३
देश की परीक्षा से जल की परीक्षा	५०६
देश उसके भेद से प्रकृति भेद	३६३
देश-ज्ञान का प्रयोजन	५०४
देश-त्याग	५०४, ५६८
देश—दो अर्थ	४६३, ४६३
देश (भूमि) उनकी तुलना	५०३
देश (भूमि) उसके तीन भेद	४६५
देश रोग-परीक्षा मे ज्ञातव्य	३३४, ३५३
देश (रोगी अर्थ मे) उसमे ज्ञेय विषय	३५६
देश-विदेश मे दोषो के साम्य का नियम	५०५
देशसात्म्य	४६३
देशानुरूप आहार-विहार	५०५
देह उसके तीन भेद	४८४
दैवज रोग	२८२
दैवबल प्रवृत्त रोग	२६४-२७७

विषय	पृष्ठ
दैवबल प्रवृत्त रोग—आगन्तु का पर्याय	५८
दैवव्यपाश्रय चिकित्सा	२६६
दोष . अपक्वावस्था मे उपचार	३३३
दोष . उत्क्लेश के अभाव मे वमन का परिणाम	३३२
दोष उत्क्लेश के अभाव मे शोधन का परिणाम	३३२
दोष उनका अञ्जलि प्रमाण अनुमान गम्य	३६
दोष उनका दूषणात्मक स्वभाव	२३, ६०२
दोष उनका प्रकोप विशेप लक्ष्य	७६
दोष उनका मूल स्थान	१८०, २५०
दोष उनका वैपम्य	२७६
दोष उनका साम्य ही स्वस्थता	५४८
दोष उनकी तीनो अवस्थाओ मे कर्तव्य	४०, ५५१
दोष उनकी त्रिविध अवस्थाओ के लक्षण	५४८
दोप उनकी दोषरूपता	३, ४
दोष उनकी धातु पदवाच्यता	३
दोप उनकी मलरूपता	३, ४, ७५
दोष उनकी समता आदि के सामान्य लक्षण	२१
दोष उनके क्षय से रोगोत्पत्ति	५५१
दोष उनके गुण परस्पर समान या विरुद्ध	२२, ३१०
दोप उनके गुण परस्पर सदृश होने का परिणाम	२२
दोप उनके गुणो के ज्ञान का उपाय	१०२

विषय	पृष्ठ
दोष उनके द्वारा दृष्टि का क्रम	५६५, ६३३
दोष उनके वर्गीकरण का प्रयोजन	९९
दोष उनके ससर्ग की व्याख्या	३१०
दोष उनके साम्य का कारण	७५
दोष उनमे स्थित गुणो के द्विविध कर्म	३९७
दोष और रोग उनका परस्पर अनुबन्ध	३०९
दोषकर्मज रोग	२८२-८३
दोष क्षय से भी रोगोत्पत्ति	७५-७६
दोष क्षय होने के दो परिणाम	२१
दोप क्षीणता से विरोधी दोष की वृद्धि क्यो ?	१२२
दोष-दर्शन—वैद्य का कर्तव्य	४१-४३
दोषज रोग	२८२
दोषज रोगो का उपचार	२८४
दोष दोष सज्ञा देने का कारण	४
दोष-धातु-मल उनकी वृद्धि के सामान्य कारण	५६८
दोप-धातु-मल उनके क्षय के सामान्य कारण	५६९
दोष नव्य-मत से उनका विचार	४४३
दोष प्रकोपक कारण के भेद से रोग-भेद	५०
दोष-प्रकोप भोजन-काल की दृष्टि से	५२०
दोष—प्रकोप मे प्राकृत कर्म वृद्धि एक उदाहरण	२९
दोष—प्रत्येक अनेक होने पर भी उनके एक होने का अर्थ	९९-१००
दोष प्रत्येक उससे धातुक्षय का स्वरूप	५७०
दोष प्रधान तथा अनुवन्ध, उनके कोप का स्वरूप	६२-६३
दोप प्रधान तथा अनुवन्ध, उसका कारण	२२
दोप प्राथमिक भेद—शारीर-मानस	१०
दोषबल प्रवृत्त रोग	२४२-२५५
दोप बल प्रवृत्त रोग उनके भेद	२५४
दोष मानस	१०
दोष लक्षण	११
दोष वृद्धि का लक्षण विपरीत गुणेच्छा तथा चयकारण द्वेष	८
दोष वृद्धि या प्रकोप का स्वरूप	२१
दोष-वैषम्य—जीवाणुओ का आश्रय	५५-५६
दोष-वैषम्य जीवाणुओ का कारण कैसे ?	५६
दोष शरीर की उत्पत्ति मे प्रत्येक का कर्म	५६०
दोष शारीर	१०
दोषो का कोप उसके दो प्रकार	५५२
दोषो का क्षय उसमे उपचार	५५३
दोषो का क्षय—सविशेष स्मरणीय	५५५
दोषो की गति	१८०
दोषो का प्रकोप अहोरात्र मे	५१९
दोषो के उपशय की ऋतु	५१८
दौर्गन्ध्य मेदस्विता का परिणाम	१७४
दौर्बल्य उसके हेतु	४५९
दौर्बल्य मेदस्विता का परिणाम	१७४
दौहृद विमानज रोग (दौहृदापचार कृत रोग)	२३६, २८१
द्रवत्व—पित्त का गुण, उसका अर्थ	८४
द्रव्य उनके दो भेद (आग्नेय-सौम्य)	२०, २३

विषय	पृष्ठ
द्रव्य उनके दो वर्ग—उष्ण-शीत	२३
द्रव्य (शारीर तथा वाह्य) गुणो द्वारा ही उनकी विचारणा	५६८
द्विदोषज प्रकृति उनकी निन्द्यता	३८६
द्वेष	५६
ध	
धनु स्तम्भ	१३१
धमनियाँ रस और प्राण की वाहक	६१८
धमनीपूर्णता	१५५
धमनी प्रतिचय (धमनी-उपलेप)	२१५
धमनी प्रतिचय . कफनानात्मज-रोग	७३
धमनी-प्रतिचय शिलाजतु की क्रिया	६२६
धमनी शैथिल्य (देखिए—शिरा शैथिल्य)	
धमनी शैथिल्य—भ्रम का कारण	११६
धातु उनके वृद्धि-क्षय का उपचार-सूत्र	५७४
धातु एक के क्षय-वृद्धि से अन्य के क्षय-वृद्धि	५८१
धातुओ के वृद्धि-क्षय उनका अग्नियो से सबन्ध	५७५
धातुक्षय उसका स्वरूप	१०३
धातुक्षय का सूक्ष्म स्वरूप	५७७-७८
धातुक्षय नव्य-मत से तुलना	५७८
धातुक्षय भ्रम का कारण	११८
धातुक्षय राजयक्ष्मा मे	४६
धातुक्षय वातप्रकोप का एक कारण	५७७
धातुज रोग	१५७-१७८
धातुज रोग · उनमे मूल दोष का विचार आवश्यक	१५८
धातु दुष्ट उससे निकटवर्ती धातु की दुष्टि	६०१
धातु 'धारण' का अर्थ	५५८
धातुवर्धक द्रव्य उनके तीन प्रकार	५७६
धातुवृद्धि उसका स्वरूप	१०३-४
धात्वग्नि उसका कोप (उभय-मत से)	८५
धात्वग्नि नव्य-मतसे तीन अन्त स्राव	६६
धात्वग्नियाँ उनका बलाबल-पाचक पित्ताधीन	५३२
धारण दोषादि द्वारा शरीर का, उसका अर्थ	५५८
धूमक-धूमायन-धूमोद्गार पित्त-नानात्मज रोग	८७, ६२
ध्वजभङ्ग शुद्ध अर्थ	१७७
न	
नक्षत्र रोग-परीक्षा मे ज्ञय	३७०
नखभेद वातनानात्मज रोग	१२०
नखातिवृद्धि प्रमेह-पूर्वरूप	१७१
नदियो की परीक्षा	५०६
नवीन औषध आयुर्वेद का तद्विषयक मत	५७
नाडी-परीक्षा	३२
नागोदर	११३
नागोदर . गर्भव्यापत्ति	६४१
नानात्मज रोग	६५
नाभस प्रकृति	४२७
नाभि उससे हृदय का ग्रहण	६१३
नाम ज्ञान (रोगो का) महत्त्व-पूर्ण नही	४२
नासा हि शिरसो द्वारम्	७२
निज तथा आगन्तु रोग उनमे भेद तथा सबन्ध	६०
निज रोग . उनका लक्षण	५८

विषय	पृष्ठ
नित्यग काल	३५८, ५०६
निदान पञ्चक	४०, ३८५
निदान-परिवर्जन अर्थ तथा महत्त्व	६०, २६६
निद्रा कफ का कर्म	६६
निद्रा कफनानात्मज रोग	७१
निद्रा तन्द्रा से भेद	७१
निद्रानाश	१२६
निद्रानाश . वात प्रकोप से	१११
निन्दित शरीर	४८४
निमित्त-भेद से रोग-भेद	२८५
निरन्न औषधकाल	४७१
निरामता—औषध-दान की योग्य अवस्था	३३४
निरूह बस्ति अतियोग गर्ह्य	१७
निष्फलत्व उसका तात्पर्य तथा मैथुनाशक्ति से भेद	११२, ६४०-४१
निःसहत्व पित्तनानात्मज रोग	९३
नीलिका पित्तज रोग	९०
नीलिका रक्तज रोग	१५१
[illegible]	१७५
नेत्र-परीक्षा	६५७
[illegible] वातविकार-विशेष	११६, १२७
[illegible]	१७७
[illegible] कफज शोथ से तुलना	४०५-६
नैश भोजन काल	५२९
[illegible]	१५१

प

विषय	पृष्ठ
[illegible]	१३४
[illegible] उसकी [illegible]	१८८
[illegible] उसकी मर्यादा	२५०
पक्वाशय-समुत्थ रोग	२४६, २८५
पक्वाशय-समुत्थ रोग . उनमें बस्ति की उपयोगिता	२५४
पक्षाघात उसकी अनुत्पत्ति के लिए स्वस्थवृत्त	३४
पक्षाघात उसमें वात की कारणता	११०, २१८
पक्षाघात कफ की कारणता	४६६
पक्षाघात कारणभूत वात-प्रकोप की व्याख्या	२८
पक्षाघात खल्ली से भेद आवश्यक	१३१
पक्षाघात धमनी विकृति जन्य	२१७
पगुता (जन्मजात) नवीनो की रिकेट्स ?	२४०
पगुता—वातविकार-विशेष	११०, १२३
पच्यमानाशय	२५०
पञ्चनिदान	४०, ३८५
पञ्चमहाभूत शरीर में	६
पथ्यापथ्य	२४८
पब्लिक हाईजीन	२६८
परिग्रह	५३०
परतन्त्र रोग	३१२
परिणाम (काल)	२५७
परिणामज रोग—काल-बल-प्रवृत्त का पर्याय	२५७
परिणाह	४८४
परीक्षा (रोगी की) उसमें कुशलता	३४६
परीक्षा (रोगी की) उसमें मतभेदाभाग	३४६
परीक्षा (रोगी की) का त्रैविध्य	३४५

विषय	पृष्ठ
परीक्षा (रोगी की) नव्य-मत से तुलना	३४६
परुषता—वातविकार-विशेष	१०७
पर्व गौरव	१७७
पर्व पर स्थूल व्रण	१७७
पर्वशूल	१७७
पर्व-स्थौल्य	४४६
पर्सनल हाईजीन	२६८
पश्चिम समुद्र—अरबी समुद्र का मूल नाम	५०७
पाक—इन्फ्लेमेशन का यथार्थ पर्याय	१५१
पाक—कुपित पित्त का कर्म, उसका अर्थ	८५
पाक—दोषो का उसका परिणाम	१८८
पागुल्य—वातविकार-विशेष	१२१
पाचक पित्त उसके अधीन धात्वग्नियो का बल	५३२
पाचक पित्त धात्वग्नियो का पोषक कैसे ?	३२३-३२६
पाचक पित्त से धात्वग्नियो की पुष्टि नव्य-मत से व्याख्या	३२५
पाचकाग्नि दोष-भेद से भेद	५३२
पाचनादि कर्म उनकी अवस्था	५१५
पाण्डुरोग उसमे कुपित पित्त का स्वरूप	५३४
पाण्डुरोग उसमे रक्तक्षय प्रधान-तया लक्ष्य	५६२
पाण्डुरोग उससे कोष्ठशाखा-श्रित कामला	२४४
पाण्डुरोग पूर्वरूपोका कारण रसक्षय	५७२
पाण्डुरोग-रसज रोग	१६५
पाण्डुरोग-सप्राप्ति	५६३
पादभ्रश—वातविकार-विशेष	१२०
पादशूल—वातविकार-विशेष	११६-१२०
पादसुप्ति—वातविकार-विशेष	१२०
पादहर्ष	१३३
पामा	१५१
पारगमन—द्रवो का	१८६
पारुष्य	१२६
पार्थिव प्रकृति	२४७
पार्श्वशूल	१३१
पार्श्वशूल—वातविकार-विशेष	११६
पार्श्वाविमर्द	१२३
पाशव काय	४३७
पिडका रक्तजरोग-विशेष	१५१
पिण्डिका—अर्थ	१२०
पिण्डिकोद्वेष्टन—वातविकार-विशेष	१२०
पिच्छिल गुण—अतियोग के परिणाम	८०-८१
पितृज अवयव (गर्भ मे)	२०४
पित्त उसका दौर्गन्ध्य गुण	४१३-१४
पित्त उसके गुण या लक्षण	८४-४०६
पित्त उसके तीक्ष्ण गुण से अग्नि-दीप्ति	१४७
पित्त उसके द्रव गुण से अग्नि-मान्द्य	१४७
पित्त उसके प्राकृत कर्म	५५०
पित्त उससे धातुक्षय का स्वरूप	५७०
पित्त और रक्त का परस्पर अनुबन्ध	२८६
पित्त कुपित उसके रस	८७
पित्तज रोग उनमे लङ्घन की-उपयोगिता	२५१
पित्त तथा अग्नि परस्पर भिन्न	३६
पित्तदूषितस्तन्य—बालक मे व्यक्त रोगजनक	६४७

विषय — पृष्ठ

पित्तनानात्मज रोग ८४-६६
पित्तनानात्मज रोग (शार्ङ्गधरोक्त) ६२
पित्तप्रकृति उसकी भी विरेच्यता ४१३
पित्तप्रकृति उसके उपयुक्त भार्या-४१४
पित्तप्रकृति उसके शेष का वैशिष्ट्य ४१३
पित्तप्रकृति उसके साथ व्यवहार मे सावधानी ४०३, ४१२
पित्तप्रकृति उसमे उपयुक्त दन्तकाष्ठ (दातुन) ४१०
पित्तप्रकृति उसमे क्षोभ की व्याख्या ६७
पित्तप्रकृति कृश क्यो ? ६७
पित्तप्रकृति पुरुष उसमे पचनात्मक व्यापार का आधिक्य ४००, ४१०
पित्तप्रकृति पुरुष का मल परीक्षा मे सावधानी ८५
पित्तप्रकृति पुरुष के लक्षण ४०६-४१७
पित्त (याकृत) की अश्मरी २५
पित्त—याकृत पित्त की पित्त नाम से प्रसिद्धि का तात्पर्य ८३, ६८
पित्तला योनि—नवीनो का इरोझन ६४३
पित्तला योनि—लक्षण ६४२
पित्तवर्गीय द्रव्य—नव्य मतसे समन्वय ६८
पित्तविकार उन पर एक दृष्टि ६३-६६
पित्तविकार याकृत पित्त का उनमे प्राधान्य ६३, ६८
पित्तातिसार उससे रक्तातिसार की उत्पत्ति २४४
पित्तार्श ,रक्तार्श से भेद १५२

विपय — पृष्ठ

पिपासा प्रमेह-पूर्वरूप १७२
पिपासा · रक्तज रोग-विशेप १४८
पिप्लु १५१
पिष्टमेह ७६
पीडनाक्षमता १०६
पीडाज रोग २८१
पीतमण्डल ६३
पीतावलोकन ६३
पुत्रघ्नी योनि ११४
पुरीप उदावर्त के लिए विशेप परीक्षा ६५४
पुरीप उसका अवष्टम्भ कर्म ५८६
पुरीप उसका वर्त (ग्रथितता) २५
पुरीप उसके अग्निधारण कर्म की व्याख्या ५८७
पुरीप का द्रवत्व ६४
पुरीष की ग्रथितता वात-पित्त-कफ की उसमे कारणता १३२-३३
पुरीप की परीक्षा ६५०
पुरीष की परीक्षा से अग्नि बल की परीक्षा ६५१
पुरीप-क्षय कब्ज का एक कारण ५८७
पुरीप ग्रथित उससे वायु का अवरोध तथा शूल २५
पुरीप दुष्टिजनक दोष के भेद से स्वरूप-भेद ६५३
पुरीप निराम उसके लक्षण ६५३
पुरीपवह स्रोतो के मूलादि ६३०
पुरीष · वृद्धि—क्षय के लक्षण ५८४
पुरीष साम उसके लक्षण ६५१

विषय	पृष्ठ
पुरुष आयुर्वेद-प्रतिपाद्य उसका स्वरूप	६
पुरुष लक्षण	६
पुरुष—व्यापत्	२०६
पुरुष पुरुष वीक्ष्य	५१
पुष्टिवर्धन अन्त स्राव	४४८
पुत्रीज—उनकी विकृतियाँ	६४१
पूतिघ्राणास्यगन्धिता रक्तज रोग-विशेष	१४४
पूतिनस्य	१४४
पूतिनास	१४४
पूतिप्रजा	२०६
पूतिमास-मासज रोग	१६८
पूतिमुखता—पित्तजरोग	६०
पूर्वपक्ष-उत्तरपक्ष—दोनो मिलकर पूर्ण सत्य के निरूपक	६११
पूर्वरूप का लक्षण	३१८-१६
पूर्वरूप की ज्ञातव्यता	३१८-१६
पूर्वापराधज रोग	२८३
पृथ्वी महाभूत शरीर मे उसका कर्म	५५८
पृष्ठग्रह	१२३
पेनिसिलिन तथा अन्य औषध आयुर्वेद-मतसे अग्राह्यता	१३३ ; २४६
पेन्डेमिक रोग	२६५
पेलिपटेशन	१२४
पैत्तिक ग्रहणी उसमे द्रव गुण की वृद्धि	५३४
पैत्तिक ग्रहणी सप्राप्ति	१४७
पैत्तिक शूल	६२
पैरासिपेथेटिक नर्वस सिस्टम (सौम्य नाडी सस्थान)	५१२, ५३६
पैरास्थीशिरा	३६२
पैशाच काय	४३७
प्रकृति उत्पादक तथा पोषक सामग्री	३६१
प्रकृति कामशास्त्र मे	३६५
प्रकृतिज्ञान की उपयोगिता	३८६-८८
प्रकृति (दैहिक)	३८६
प्रकृति नव्य-मत से एक विचार	३६५
प्रकृति नव्य-विज्ञान के मत से अपरिवर्तनीय	३६४
प्रकृति—परिस्थिति द्वारा परिवर्तनीय	३६४
प्रकृति—पर्सनेलिटी नाम से आधुनिको को मान्य	२२१
प्रकृतियाँ आधुनिक विज्ञान के मतसे	४३६
प्रकृतियाँ उनकी परस्पर तुलना	३८८
प्रकृतियाँ नव्य-मत से बहुसमत कारण—अन्तर्ग्रन्थियाँ	४४२-४३
प्रकृतियो की अपरिवर्तनीयता	४३८
प्रकृति वृक्षो मे	३६५
प्रकृति शुक्रधरा कला से उसकी अवतारणा	२०५
प्रकृति होमियोपेथी मे	३६५
प्रजोत्पादनाक्षमता—मैथुनाशक्ति से भेद	६४२
प्रज्ञापराध—विप्रकृष्ट कारण	५२
प्रतितूनी	१३२
प्रतिपुरुप रोग-भेद	५१
प्रतिश्याय उसमे वायु की कारणता	१३०, २४६
प्रतिश्याय पित्तप्रकृति मे उपचार	३६०
प्रतिश्याय राजयक्ष्मा मे पूर्वरूप	२४६

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
प्रतिसरण	२९	प्रलेपक ज्वर	५०१
प्रत्यक्ष द्वारा रोग-परीक्षा	३४९	प्रवर सत्त्व	४५१ ; ४५३
प्रत्यक्ष प्रमाण-लक्षण	३४३	प्रवाहण—अर्थ	७०
प्रत्यष्ठीला	१३४	प्रवाहिका . सप्राप्ति तथा तदनुरूप चिकित्सा	७० , १८५
प्रत्याख्येय रोग	२८७	प्रश्न—परीक्षा	३५२-३७१
प्रत्याख्येय रोगो का भी उपचार उचित	२९९	प्रश्वास	४७५
प्रत्याख्येय रोगो का लक्षण	२९८	प्रसन्नेन्द्रियता स्वास्थ्य का प्रधान लक्षण	३७-३८
प्रत्याध्मान	१३९	प्रसुप्ति	१४०
प्रत्याध्मान—लक्षण तथा चिकित्सा	५८४-८६	प्रसेक—रसज रोग	१६३
प्रत्याध्मान वात दूपित स्तन्यपान मे	६४७	प्राकृत बल	४५७
		प्राकृत रोग	३३५
प्रधान दोप उसके कोप का कारण	२२	प्राक्केवल रोग	३१३ , ३१७-१८
प्रधान रोग	६३ , ३०८ , ३१३ ; ३१७-१८	प्राग्भक्त औपधकाल	५२६
		प्राण—अपान (नासान्तचारी) उनका गुह्यार्थ	५६४
प्रभावज रोग	२८१		
प्रमाण—आयुर्वेदाभिमत	३३७-३८३	प्राणवह स्रोत · उनके मूल की दुष्टि की व्याख्या	५९६
प्रमाण—तद्विपयक मतभेद	३३७		
प्रमाण-परीक्षा	४७८—४८४	प्राणवह स्रोत उनके मूलादि	६१८
प्रमाण लक्षण	३३७	प्राण वायु उसका इतर वायुओ से श्रैष्ठ्य	५६३
प्रमीलक	१४५		
प्रमेह पूर्वरूप द्वारा उनका निदान	५८८	प्राण शब्द के नाना अर्थ	५६३
प्रमेह—पूर्वरूप—मेदोज	१७०	प्राणायतन	५६३
प्रमेह पूर्वरूपावस्था मे ज्ञान का महत्त्व	५८८	प्रार्थना रोगनिवृत्ति मे उसका महत्त्व	६५ ; २७२
प्रमेह प्रधान दोप द्रवाधिक कफ	६०८	प्रावृट्	५१४
प्रमेह प्रभूतमूत्रता का कारण	६०८	प्रेग्नेन्सी टॉक्सीमिया	१३४ , ६२६
प्रमेह—सामान्य लक्षण	१७२ , ६०८	प्रेग्नेन्सी टॉक्सीमिया मे आयुर्वेदिक उपचार	६२६
प्रयत्न	५९		
प्रलाप—वातविकार-विशेप उसका उपचार	११० , १२९	प्रेत काय	४३७
		प्रेसवायोपिया	१४०

विषय	पृष्ठ
प्रॉस्टेट की वृद्धि	१३४
प्लीहा रक्तज	१५२
प्लीहा . वृद्धि और उदर मे भेद	२४६
प्लीहा वृद्धि के दो प्रकार	५७६
प्लुरोडायना	१२३
प्लोष—पित्तनानात्मज रोग	८७
फ	
फक्क रोग	१२३
फक्क (रोगज)	११०
फिरङ्ग कुष्ठ	२०१
फीनिंग	३०२
फुफ्फुसधारा श्लेष्मधरा कला का भेद	८१
फेरिंजाइटिस : दोष भेद से पृथक् लक्षण	१५८-५६
फैटी डिजेनेरेशन	२१६
फोविया	११६, ५८२
व	
वद्धविट्कता	१३५
वद्धोदर	११८
वल . उसके तीन अर्थ	१३८
वल उसके भेद से प्रकृतिभेद	३६४
वल—औषध का	४५५
वल—क्षमता का पर्याय	४५६
वलक्षय	१३८
वलक्षय—वातविकार-विशेष	११७
वलक्षय के सामान्य कारण	४६०
वल राजयक्ष्मा मे उसकी परीक्षा	४५४-५५
वल रोग-परीक्षा मे ज्ञेय	३६३, ४५४
वलवर्धक भाव	४५६
वल (शारीर—मानस) उसके भेद	४५७

विषय	पृष्ठ
वलानुसार औषध-योजना	४६०
वलासक कफनानात्मज रोग	७२
वस्ति . एक सरल और सुगम पाठ	१७
वस्ति केवल निरुह वातकर	११७
वस्ति—चिकित्सा मे उसका श्रेष्ठ पद	१५, १६
वहि परिमार्जन—चिकित्सा-भेद	३३५
वहुमूत्रता—कफनानात्मज रोग	७५
वाडी आँख	११५
वाधिर्य	१२६
वाल अपरिपक्व धातु	४६७
वाल उसका लक्षण	४६६
वालक उपयुक्त अन्नपान के गुण	४५६
वालक—उपयोगी औषध	२४१
वालक — कफ प्रकृति उसकी विशिष्टता	३७६
वालक — माता की परीक्षा मे सावधानी	४६७
वालकार्श्य	१३७
वालको की परीक्षा उसमे अनुमान का स्थान	३७६-८२
वालग्रह—आवेश के कारण	२६१
वाल वय उसके तीन भेद	४६७
वाल विवर्धमान धातु	४६८
बाल्य वय परीक्षा मे उसकी उपयोगिता	३५८
वाहुशोष	१२४, १३३
वाह्यायाम	१३१
विलिअरी कॉलिक	२५
बीज की दुष्टि के भेद	२०७-२०६
बुद्धि वैकल्य	१५०
वेताला	१४०

विषय — पृष्ठ

वेल्स पाल्मी १२८
बोधक कफ क्षय से अरसज्ञता १२५
बोधक कफ लाला नहीं १२५, ३६९
ब्रह्मचर्य अतिरेक से हानि ३७५
ब्राह्मकाय के लक्षण ४३३
ब्राह्मण कौण्डिन्य न्याय ४
ब्लड प्रेशर उस की विविध अवस्थाओं का कारण व्यान-वायु की अवस्थाएँ ३५१
ब्लड प्रेशर (लो) कफ की कारणता ४६८
ब्लड प्रेशर—वृक्क की स्वस्थता से सम्बन्ध ६२६

भ

भल्लातक उसका उपयोग ४१०
भल्लातक उससे त्वग्विकार किसे ? ५७
भस्मक ५३५
भीरुता—वातविकार-विशेष ११६-१४०
भूतहृत गर्भ ११३
भूतोन्माद ग्रहावेश के कारण २६२
भेद वातविकार-विशेष १०६
भेद—वातविकारो में ११६
भैषज्य यज्ञ २६९
भोजनकाल ५२९
भोजनकाल का दोषो से सबन्ध ५२०
भोजन कालिक दोषवृद्धि—रोग-सञ्जक नहीं ५२२
भ्रम १२९, १७६
भ्रम . उसके विविध कारण ६१, ३७२
भ्रम—वातविकार-विशेष ११६
भ्रम—वातिक ११८
भ्रंश (अवयवों का) कुछ भेद १२१
भ्रंश—वातविकार-विशेष १०५
भ्राजक पित्त ५६९
भ्रूव्युदास १२७

म

मज्जदोषज रोग १३९-३३
मज्जवह स्रोतो के मूल आदि ६२३
मज्ज विद्रधि १०३
मज्जसार ४५०
मज्जा गुरु मल पुरीष का स्नेह ४५०
मज्जा वृद्धि-क्षय के लक्षण ५८०
मज्जा सेवन के गुण ५८२
मण्डल (स्रोत आदि के) आवृत्तिकों के कोष्ठक २५६ २१५
मतिभ्रम—पित्तनानात्मज रोग ९२
मद १५०
मद : कुपित पित्त का कर्म ८७
मधुमेह १७०
मधुमेह सप्राप्ति तथा असाध्यता ४६
मधुर अवस्थापाक ५८६
मधुर गुण अतियोग से माधुर्य की वृद्धि ७८
मधुर प्रमेह उनमे भेद ७८
मधुर प्रमेह तिक्त द्रव्यो की क्रिया ७८
मधुर रस सर्वोपरि बलदायक ४५९
मध्यकोष्ठ का लक्षण ५४५
मध्यम आयु के लक्षण ४७७
मध्यम मार्गानुसारी रोग १८३
मध्यम रोग मार्ग १८१
मध्य वय ४९८
मध्य वय का वैशिष्ट्य ४९९
मध्य सत्त्व ४५३

विषय	पृष्ठ
मध्यसार	४५२
मध्येभक्त औषधकाल	५२६
मन अन्न मे उसकी पुष्टि	१८५
मन उसकी हीनसारता मानस रोगो की मूल	२२१
मन और शरीर उनके दोषो का परस्पर सबन्ध	६३
मन की शान्ति—रोग निवृत्ति मे उसका महत्त्व	२७१
मन वाह्य सृष्टि पर प्रभाव	६४
मन रोग–परीक्षा मे परीक्षणीय	४५२
मन शरीर पर पभाव	६४
मन शरीर मे सम्बन्ध	२२४-२५
मनुष्य-वीज प्रकृति का वाहक	२०६
मनुष्य-वीज विकृति का वाहक	२०६
मनोभ्रम—वातविकार-विशेष	११६
मन्द गुण प्रकोपक देश	८२
मन्दवुद्विता कफनानात्मज रोग	७५
मन्दाग्नि	५३६
मन्दाग्नि अजीर्ण से भेद	१६३
मन्दाग्नि—रसज रोग	१६३
मन्यास्तम्भ	११०, १२४
मरुदेश	३५३
मरुदेश के लक्षण	५०२
मर्म—प्रधान तीन	५६३
मल (अन्नका) उससे पोष्य अवयवादि	५६६
मल का वन्ध (कब्ज) कफ-प्रकोप से कैसे?	४६७
मल की गाढता—निसर्गोपचार मे विचार	११७
मल की गाढता—वातविकार-विशेष	११७
मल की ग्रथितता—उस मे वात, पित्त, कफ की पृथक् कारणता	१३२-३३
मल (क्षुद्र) उनकी क्षय-वृद्धि के सामान्य लक्षण	५६०
मल-क्षेपण कर्म—वायु का	१४, -१५
मलदुष्टि	१७६
मलद्वार—उनकी दुष्टि	५६७
मलद्वार—रोगो के द्योतक सिगनल	५६७
मलप्रवृत्ति तद्विपयक प्रश्न-परीक्षा	३६४-६५
मलभेद	१७८
मलभेद—पित्तनानात्मज रोग	६३
मल-लक्षण	३
मलशोष	१७६
मलसग	१७६
मल-सचय—प्रमेह-पूर्वरूप	१७२
मलातिप्रवृत्ति	१७६
मलाधिक्य—कफनानात्मज रोग	७२
मलाधिक्य—प्रमेह-पूर्वरूप	१७२-७३
मलायतन—दोषज रोग	१७८-७६
मलो की अयथा प्रवृत्ति	१७६
मशक	१५४
मसृणता—शब्द का अर्थ	६८
मस्तिष्क उसमे त्वक् आदि इन्द्रियो की विद्यमानता	३६८
मस्तिष्क—मज्जा का ही भेद	४५०
महाप्रकृतियाँ (सत्त्वादि गुणो से)	४२८-४४३
महाभूतो के भेद से प्रकृतियाँ	४२७

विषय	पृष्ठ
महाविकार	१३८
माता : क्षीराद बालक के लिए उसकी स्वस्थता की आवश्यकता	६४६
माता : रुग्ण बालक की परीक्षा में उस की परीक्षा	८६७
मातृज अवयव (गर्भ के)	२०४
मात्रा (औषध की) : वयोभेद से भेद	८७१
मात्स्य काय	४३८
माधुर्य—कफ का कर्म	६६
मानस दोष : उनमें रज का प्राधान्य	३४
मानस प्रकृति : उनके भेद से रोग-भेद	५०
मानस रोग	२८०
मानस रोग : उनका उदाहरण	५६
मानस रोग : उनका लक्षण	५८
मानस रोग : उनकी आदिबल प्रवृत्ति	२२५
मानस रोग : उनके मूल में वायु—उनका मूलगामी उपचार	१६
मानस रोग : उनसे शारीर रोगों के उदाहरण	६१
मानस रोग : मूल भेद से दो भेद	२२५
मार्गाश्रित (मार्गानुसारी) रोग	१७६-१६२
माहेन्द्र काय	४३४
मासक्लेद : पित्तनानात्मज रोग	८६
मासक्षय—उससे सिरा शैथिल्य की व्याख्या	१५५-५६
मासज (मास प्रदोषज) रोग	१६६-१६६
मासज रोगों का उपचार	६२६
मासतान	१६६
मास धातु की क्षय-वृद्धि के लक्षण	५७५

विषय	पृष्ठ
मासवह स्रोत : उनके मूलादि	६७५
मास सघात	१६६
माससार	४८७
मिक्सिडीमा	२७
मिथ्या गर्भ	११३
मिन्मिनत्व	१३४
मुख का रस : प्रश्न-परीक्षा द्वारा ज्ञेय	३६७
मुख के रस की परीक्षा	६५६
मुखतालु कण्ठ शोष : प्रमेह-पूर्वरूप	१७१
मुखपाक : क्षीराद शिशुओं की माता में	१८३
मुखपाक : पित्तनानात्मज रोग	८१
मुखपाक—प्रकृति-विरुद्ध दन्त काष्ठ की कारणता	१४४
मुखपाक—रक्तज रोग-विशेष	१४३
मुखमाधुर्य—कफ का कर्म	७०
मुखमाधुर्य—कफनानात्मज रोग	७२
मुखमाधुर्य—प्रमेह-पूर्वरूप	१७१
मुखवैरस्य—उसकी सम्प्राप्ति की व्याख्या	३६७-३६६
मुखवैरस्य—रसजरोग	१६२
मुखशोष—वातविकार-विशेष	१२५
मुखस्राव—कफनानात्मज रोग	७२
मुहुर्बद्ध मुहुर्द्रवमल—किस-किस परिस्थिति में	५४१
मुहुर्मुहु—औषधकाल	५२८
मूकता	१२४
मूत्र : आयुर्वेद-मत से पक्वाशय क्षरण-स्थान नहीं	६२६
मूत्र : आहार का क्लेद मुख्यत्वेन	६२८
मूत्र : उसकी बद्धता का अर्थ	६२६

विषय पृष्ठ

मूत्र की तैल-विन्दु-परीक्षा—मुख्य दो भेद—मुख्य तथा गौण दिशाओ मे ६५७
मूत्र क्षय (मूत्राघात-विशेष) उसकी सम्प्राप्ति ५८६
मूत्रक्षय—शास्त्रोक्त दो भेद तथा उनका भेदक लक्षण ५८६
मूत्र दौर्गन्ध्य ८०
मूत्र-परीक्षा—तैलविन्दु से ६५५
मूत्रमाधूर्य—प्रमेह-पूर्वरूप १७३
मूत्रयन्त्र आथर्वण मन्त्रो से उसकी स्पष्टता ६२८
मूत्रवह स्रोत—मूत्रोत्सर्जक ग्रन्थि सहित वहन-मार्ग ६०५
मूत्रवह स्रोतो के मूलादि ६२८-३०
मूत्रवृद्धि १७०
मूत्रवृद्धि उदक मेह से भेद ५८८
मूत्र वद्धि-क्षय के लक्षण ५८७
मूत्र-वृद्धि मूत्राघात से भेद ५८६
मुत्र-वृद्धि शास्त्र मे दो अर्थ ५८७
मूत्र-शुक्लता प्रमेह-पूर्वरूप १७३
मूर्च्छा १७६
मूर्च्छा कुपित पित्त का कर्म ८७
मदुकोष्ठ का लक्षण ५४३
मदु गुण—स्रोतो मे उसकी विद्य-मानता से उनका प्राकृत कर्म २८
मृदु रोग २८५
मृदुविरेचन-योग्य रोगी ५४५
मृदु—शब्द का अर्थ ६८
मेढ्रपाक १५१
मेढ्रपाक—पित्तनानात्मज रोग ६१
मेद की क्षय-वृद्धि के लक्षण ५७८
मेदस्विता . उसका निदान तथा लक्षण ४८५

विषय पृष्ठ

मेदस्विता उसकी स्वाभाविकता मे दृष्टान्त ४८६
मेदस्विता—उससे क्षुद्रश्वास की व्याख्या ४८६, ५७८-७६
मेदस्विता के दोष १७३-७५
मेदस्विता शुक्रविकृति की व्याख्या ४८७
मेद सार ४४७
मेद सार—मेदस्विता से भेद ४४८
मेदोग्रन्थि १६६
मेदोग्रन्थियाँ २७
मेदोज रोग १६६-१७५
मेदोज ओष्ठप्रकोप १७०
मेदोज वृद्धि १७०
मेदोर्ऽर्बुद १७०
मेदोवह स्रोतो के मूलादि ६२६
मेध्य द्रव्य एक उत्तम कल्प ३६६
मेनोपोज ११४
मेरेस्मस १३७
मेलनकोलिया ४६
मेलिगरिग ३०२
मैथुन मे कठिनता-मेदस्विता का परिणाम १७४
मैथुनाशक्ति—निष्फलत्व—(प्रजोत्पादनाक्षमता) से भेद ११२-६४२
मैथुनाशक्ति—शुक्रनाश का प्रकार १११
मॉन्स्टर रामायण मे उनके उदाहरण २४०
मॉर्फिआ कभी अचिकित्सा १३३
म्लानता—वातविकार-विशेष ११६

य

यकृत्—प्लीहा रक्तवह स्रोतो-के मूल कैसे ? २८

विषय पृष्ठ

यक्ष्मा आदिवलप्रवृत्ति का विचार नव्य-मत से २११

यक्ष्मा उसमे आधुनिक शस्त्रोपचार २१३-१४

यक्ष्मा गर्भस्थिति का उसपर प्रभाव २१३

याप्य प्रत्याख्येय से भेद २६८

याप्य रोग १८४

याप्य रोगो के लक्षण २६७

याम्य काय ४३५

युक्तिकृत बल ४५७

युक्ति—लक्षण ३४४

युक्तिव्यापाश्रय चिकित्सा २६६

योग ज्ञान—केवल तदाश्रित चिकित्सा की गर्हणा ४३

योगवह स्रोत १६७

योगवाह २०, ४४३

योगवाहिता (वायु की) ५१२

योगवाहिता (शारीर वायु की) नव्यमत से व्याख्या ५१२

योग विद्या—शरीर और मन के सबन्ध की द्योतक ६४

योनि व्यापक अर्थ २३६

योनि व्यापत् ६३८

र

रक्त उसके वृद्धि-क्षय के लक्षण ५७४

रक्त और पित्त का अनुबन्ध २८६

रक्त कायचिकित्सको द्वारा प्रदत्त महत्त्व १४०-४१

रक्त . काय तथा शल्य चिकित्सा मे उसका महत्त्व २८०

रक्त का दबाव जीवन-सग्राम का उसपर प्रभाव ६१४

रक्त का वर्ण ४४७

रक्त की नि सारता का लक्षण ४४६

रक्तकोठ—पित्तनानात्मज रोग ८६

रक्तक्लेद—पित्तनानात्मज रोग ८६

रक्तक्षरा योनि—रक्त प्रदर मे भेद ६३८

रक्तगुल्म . पुराण उसकी सुखसाध्यता २६३

रक्तज रोग ११, १६५

रक्तज रोग उपशयानुपशय मे निदान १५४

रक्तज रोग सामान्य उपचार ५७४, ६२५

रक्तदाव अधिकता मे तीनो दोषो की कारणता १५६-५७

रक्तदाव वार्धक्य मे वृद्धि की सप्राप्ति ११६

रक्तदुष्टि (रक्त प्रकोपज रोग) उनमे पित्त का प्रामुख्य १४२, २८६ ४१०; ६३५-३६

रक्त दोषसज्ञा गौण ११

रक्तधरा कला · उसके मास से आवृत (वेष्टित) होने का परिणाम ५७४, ६१४

रक्त धातु नव्यमत मे कौन द्रव्य ? २८

रक्त-परीक्षा दो प्रकार ४४६

रक्तपित्त गुर्जर भाषा मे महा-कुष्ठ का नाम, उसकी शास्त्र शुद्धता ६०, १४५

रक्तपित्त ज्वर से उसकी उत्पत्ति २४३

विषय पृष्ठ

रक्तपित्त पित्तनानात्मज रोग ८९
रक्तपित्त रक्तजरोग-विशेष १४५
रक्तप्रकोपज रोग १४०-१५७
रक्त प्रदर ६३८
रक्त प्रदर . आयुर्वेदिक चिकित्सा का वैशिष्ट्य १४६
रक्त प्रदर रसधातु की वृद्धि एक कारण १४६
रक्त मण्डल १५१
रक्त मण्डल—पित्तनानात्मज रोग ९०
रक्त मेह १४५
रक्तवह स्रोत उनके अवरोध से रक्तपित्त तथा रक्तच्छर्दि ६२४
रक्तवह स्रोत नव्य-मत से २८
रक्तवह स्रोतो के मूलादि ६२६
रक्त . विशुद्ध उसके लक्षण ४४६
रक्तविस्फोट पित्तनानात्मज रोग ८९
रक्तवृद्धि १५५
रक्त शरीर मे उसका कर्म ५६१
रक्त शुद्ध तथा अशुद्ध उसके लक्षण ६३३-३४
रक्तशुद्धि—यकृत्-प्लीहा द्वारा ६२३
रक्तष्ठीवन (यक्ष्मा मे) उसकी सप्राप्ति ६२५
रक्तसार ४४६
रक्तस्राव—उसकी कुलजता २२९
रक्त (स्रुत) दोप-भेद से उसके लक्षण ६३४
रक्ताग्नि और रञ्जक पित्त मे भेद ६२२
रक्तातिसार २४४
रक्तार्श पित्तार्श से भेद १५२
रजोगुण आधुनिको का इमोशन ६१ , ३७३

विषय पृष्ठ

रजोगुण—श्रम का कारण ११८
रजोगुण—मानस दोषो मे प्राधान्य ११ , ३४
रजोनाश ११४
रजोनाश—रसक्षय एक कारण ११५
रञ्जन रञ्जक पित्त का कर्म , उसकी व्याख्या ६२२
रञ्जन—व्याकरण-सिद्ध अर्थ प्रसादन ६२२
रस (अन्न का) उस से पोष्य अवयव ५९९
रसकृत जन्मबल प्रवृत्त रोग २३२-२३६
रस क्षय—उस से तृष्णा ५७३
रसक्षय—लक्षण तथा व्याख्या ८५
रसचिन्तक ५१-५२
रसचिन्ता की फलश्रुति ५२
रसज (रसप्रदोषज) रोग १६१-१६५
रस दो भेद १६४
रसधातु उसके वृद्धि-क्षय के लक्षण ५७१
रस धातु कफ से उसका सबन्ध ४०१
रस धातु तथा कफ—परस्पर भेद ८१
रसधातु नव्य-मत से उसकी व्याख्या २७
रसवह स्रोत वायु कृत उनके स्तम्भ से धातुक्षय २७
रसवह स्रोत वायुकृत स्तम्भ से हाईब्लड प्रेशर २७-२८
रसवह स्रोतो के मूलादि ६२१
रस व्यापक अर्थ ३०
रससार ४४६
रसाज्ञता १४०

विषय पृष्ठ

रसायन द्रव्य अथवा विहार (आचरण) की क्रिया तथा उसकी व्याख्या ३०, ३१, १६१
रसायन शब्द की व्युत्पत्ति ३१
राक्षस काय ४३७
राग कुपित पित्त का कर्म ८७
राजयक्ष्मा उसकी आदिबल-प्रवृत्ति २११
राजयक्ष्मा उसमे अग्नि का विचार ५३१
राजयक्ष्मा उस मे कास की सप्राप्ति ५००
राजयक्ष्मा उसमे धातुक्षय के दो भेद ५८१
राजयक्ष्मा उसमे रक्तवमन की सप्राप्ति ५००
राजयक्ष्मा उसमे शोष १०८
राजयक्ष्मा उसमे स्रोतोरोध मुख्यतया कफ से ५००, ५३१
राजस पुरुषो के भेद तथा लक्षण ४३६-३७
राजस प्रकृति पुरुष मुख्य वैशिष्ट्य ४३७
राजस मन तथा प्रकृति ४३२
रायटर्स क्रैम्प १०७
रिकेट्स १२३
रिकेट्स आयुर्वेद-मत से उपचार २४१
रिकेट्स प्राचीनो की जन्म-पगुता? २४०
रीर्गाजिटेशन २६
रीट्रोपेरिस्टालिसिस २६
रीनल कॉलिक २५, १३२
रुचि उससे दोषो की अवस्थाओ का ज्ञान ३६६, ४८८, ५५७, ५७३

विषय पृष्ठ

रुचि रोग-परीक्षा मे प्रष्टव्य ३३६
रूक्ष वायु का प्रधान गुण २३
रेअरीफेक्शन १७५
रेन्युला—आयुर्वेद का अलाग १५३
रोग (आयुर्वेदोक्त) नव्य-मत मे अनेक रोगो के वर्ग २२०
रोग उनकी असख्येयता ८०-८१
रोग उनकी असख्येयता का कारण ४८
रोग उनके प्राथमिक वर्ग—निज-आगन्तु ५२
रोग उनके वर्गीकरण का प्रयोजन ४०
रोग कारणो के दो भेद ५२
रोग चार भेद ५३
रोग चिकित्सोपयुक्त लक्षण ३९ ४०
रोगजन्तु प्राचीनो को ज्ञान ६१४
रोग दो प्रमुख भेद ३३६
रोग नामज्ञान की गौणता ४२
रोग-परीक्षा के साधन ६११
रोग-परीक्षा मे परीक्ष्य भाव ६३३
रोग-परीक्षा मे परीक्ष्य विषय ३८४
रोग पर्याय ७
रोग—प्रधान तथा अप्रधान ६२-६३
रोग-मार्ग १८१
रोग लक्षण ६, ३६
रोगमार्गो के ज्ञान का प्रयोजन १८३
रोग शान्ति उसके सामान्य लक्षण ४६४
रोग सकर २४७
रोग सचय से ही उसका आरभ ३१६
रोगसात्म्य ४६४

विषय	पृष्ठ
रोग से रोगान्तर की उत्पत्ति मे कारण	२४३
रोगानीक (रोग-वर्ग)	२८५
रोगीपुरुष—ग्राप्तपदवाच्य	३३६
रोगो की सम्यक् परीक्षा ग्रावश्यक	३०३
रोगो के उपगम की ऋतु	५१८
रोगो के विविध वर्ग	३६-३३६
रोगो के सात वर्ग (वाग्भटोक्त)	२८०-२८२
रोमहर्ष	१४०
रौक्ष्य	१२६
रौक्ष्य—वात का गुण	१०१

ल

विषय	पृष्ठ
लक्षण उसकी उपद्रवसज्ञा कव ?	३१५
लक्षण उसकी रोगमज्ञा कव ?	३१५
लघु व्याधित	३५७
लङ्घन उससे साध्य रोग	२५१
लङ्घन—किस ग्रवस्था मे ?	२५२
लङ्घन—छर्दि मे	२५१
लङ्घन—ज्वर मे	२५२
लङ्घन—ज्वर मे उसकी मर्यादा	४५६
लङ्घन—वर्ज्य ज्वर	२५३
लङ्घन व्यापक ग्रर्थ, उसकी रोगगामकता	८
लङ्घनादि कर्म उनकी ग्रवस्था	५१५
ललाट भेद	१२८
लवण ग्रतियोग से हानि	३५५
लवणास्यता—रक्तज रोग	१५०
लसीका उसका शुद्धार्थ	२२८
लाइप यूरिग्रा	७६
लाघव वायु का गुण	१०२
लायपोमा	१७०
लालाप्रसेक—रसज रोग	१६३
लालास्राव—बोधक कफ से भिन्न	१२५, ३६६
लिपरीडिग	१२६
लिम्फेडिनोमा	१७०
लीन गर्भ—कारण तथा उपचार	११२-१३, ६४१
लीयमान गर्भ की प्रसवकालिक व्यापत्ति	६४१
लो ब्लडप्रेशर प्राचीनो का शिरा-शैथिल्य	१५५
लोहगधास्यता—पित्तनानात्मज रोग	६०
लोहितगधास्यता—पित्तनानात्मज रोग	६०

व

विषय	पृष्ठ
वक्ष—उद्धर्ष	१२४
वक्ष—उपरोध	१२४
वक्षस्तोद	१२४
वक्षणानाह—वातरोग-विशेष	१२२
वन्ध्यात्व—वातविकार-विशेप	१३०
वन्ध्या स्त्रीवीज की विकृति का परिणाम	२०८
वमन—कफोत्क्लेश के लक्षण	३३१
वमन—तद्विषयक प्रश्नपरीक्षा	३६५
वमन—पैत्तिक उसका स्वरूप	६१
वमन वातिक उसका स्वरूप	६२
वमन श्लैष्मिक उसका स्वरूप	६१
वय उसके ज्ञान की उपयोगिता	३५८
वय की परीक्षा	४६६
वय की परीक्षा उसके प्रयोजन	४७०
वयोभेद से उपचार-भेद	४७२
वयोभेद से दोष-भेद	५२२
वयोभेद से साध्यासाध्यता	४७३
वर—वधू परीक्षा कौमारभृत्य का विषय	२०३
वर्णान्ध्य ग्रायुर्वेद मे उसका निरूपण	२३०

विषय	पृष्ठ
वर्णान्ध्य उसकी कुलजता	२२६
वर्त उनके विविध उदाहरण	२५
वर्त वातविकार-विशेष	१०७
वर्त वायु का कर्म—उसका स्वरूप	२५
वर्त्मसकोच	१२६
वर्त्मस्तम्भ	१२६
वर्ष उसके विभाग	५०६
वर्षाऋतु सशोधन के अयोग्य क्यो ?	५१६
वर्षाकाल उसमे कफ के अनुबन्ध की व्याख्या	३११
वली	१०६
वसामेह	७६
वसन्तऋतु उसमे पित्त का अनुबन्ध कैसे ?	३११
वसन्तऋतु नव्य—मत से कफ-प्रकोप का स्वरूप	२६२
वाक्सग—वातविकार-विशेष	१२४
वाणी की कर्कशता—वातविकार-विशेष	११६
वात उसके लक्षण या गुण	१०१
वात उससे स्रोतोरोध का स्वरूप	३०
वातकण्टक—वातरोग-विशेष	१२०, १३०
वातकुण्डलिता—वातरोग-विशेष	१२०
वातज (वातिक) ग्रहणी कष्टसाध्य क्यो ?	३७२, ४२१, ५३१
वातदूषित शुक्र	६३६
वातदूषित शुक्र शुक्रगत वात मे भेद	६४०
वातनानात्मज रोग	१०१-१४०
वातनानात्मज रोग (काश्यपोक्त)	१३०
वातनानात्मज रोग (चरकोक्त)	१२०-२६
वातनानात्मज रोग (शार्ङ्गधरोक्त)	१३०-१४०
वातप्रकोप कारणद्वय	११८
वातप्रकृति—उसकी दन्दशूकता	५३१
वातप्रकृति उसकी विस्मरणशीलता	४१६
वातप्रकृति उसमे रोगाशङ्किता	५०
वातप्रकृति उसमे सेव्य तैल	४१८
वातप्रकृति—चूहे से साम्य	४२५
वातप्रकृति निन्द्य क्यो ?	४२४
वातप्रकृति—'नर्वस' होने का उनका स्वभाव तथा उपचार	४२३-२४
वातप्रकृति पुरुष उनकी शीता-सहिष्णुता तथा तदनुरूपचर्या	४२४
वातप्रकृति पुरुष उसकी कृशता की व्याख्या	४०१
वातप्रकृति पुरुष उसके साथ व्यवहार मे सावधानी	४०३, ४१६, ४२१, ४२३
वातप्रकृति पुरुष के लक्षण	४१७-४२७
वातप्रकृति पुरुष सगीतप्रियता का कारण	४२२-२३
वातप्रवृत्ति—रोग-परीक्षा मे उसका महत्त्व	३६५
वातरक्त	१४६
वातरक्त-उसकी कुलजता	२३१
वात—शारीर दोषो मे प्रधान	११
वातहत वर्त्म	१२६
वातिक रोग उनमे चलत्व के उदाहरण	४२०
वानस्पत्य काय	४३८
वामनत्व	४४६
वामनत्व—वातविकार-विशेष	१२३

विषय	पृष्ठ
वायवी छाया	१०८
वायु अग्नि के साम्य का हेतु	१८
वायु—इतर दोषादि का अभिवाहक (प्राकृत-वैकृत उभय अवस्थाओ मे)	१३
वायु—इतरदोपादि के साम्य का हेतु कैसे ?	१४
वायु—इतर दोषो के प्रकोप मे कारण	१५, १६, २१-२८
वायु—इस नाम से अधोवायु के लोकप्रसिद्ध होने का तात्पर्य	८३
वायु—उसका आवरण	१६
वायु—उसका कर्म प्रकृति मे	५५७, ५५६
वायु—उसका प्रधान गुण शीत	२३
वायु—उसका शीत गुण आयुर्वेद तथा दर्शन मे	५१३
वायु—उसकी योगवाहिता	२०, ४४३, ५३६
वायु—उसकी विलोम गति	२६
वायु—उसकी शान्ति का स्वरूप	१०३
वायु—उसके कोप का स्वरूप	१०३
वायु—उसके प्रधान गुण	२३
वायु—उसके प्राकृतकर्म	५४६
वायु—उसके प्राकृत कर्म सक्षेप मे	१८
वायु—उसके 'वहु' गुण की व्याख्या	३२
वायु—उससे दूपित शुक्र, स्तन्य, कफ तथा छर्दि की फेनयुक्तता	६३६
वायु—उससे धातुक्षय का स्वरूप	२७, ५७०
वायु—एकीय मतसे एकमात्र दोष	३२
वायु कुपित उसकी रसवह स्रोतो पर क्रिया	२७
वायु के गुण	४१७
वायु—कोप के दो कारण	२५३
वायु—गति का कारण रज	१३
वायु—चिकित्सा मे उस पर प्रधान लक्ष्य यशस्विता के लिए आवश्यक	३२
वायु—दोष-दूष्य समच्छंन का कारण	१५
वायु—द्वितीय प्रधान गुण शीत	२३
वायु धातुओ का शोषक	२०
वायु प्रकृति मे उसका कर्म	५१२
वायु प्रकोपक कारणो के दो प्राथमिक भेद	२०, १०५
वायु प्रकोप से पूर्व उसके उपचार की आवश्यकता	३४
वायु प्राणवह स्रोतोगत कफ पर शोषण क्रिया	२६
वायु मन का अधिष्ठाता	१६
वायु मन तथा इन्द्रियो से उसका सवन्ध	१६
वायु मानस रोगो का मूल	१८
वायु (शारीर) उसकी योगवाहिता नव्य-मत से	५१२
वायु शूल का प्रमुख कारण	२६
वायु साम तथा निराम	२५३
वारुण काय	४३४
वार्ता—स्त्री वीज की विकृति का परिणाम	२०६
विकल्प	४४, ७७, ८४
विकल्प उसकी चिकित्सा मे उपयोगिता	८२
विकारिअस मेन्स्ट्रुएशन	५०१, ६१०

विषय	पृष्ठ
विक्लता	१३४
विचर्चिका चरक-सुश्रुत उभय मत से लक्षण	१५३
विचर्चिका-याप्यता का उदाहरण	२९८
विचारणा	५२७
विज्डम टुथ	१६६
विड्ग्रह	१३०, १३५
विड्भेद	१७९
विड्भेद उसकी व्याख्या	६३१
विड्भेद दुष्ट स्तन्य के कारण	६५०
विड्भेद-वातरोग	१२२
विदग्धाजीर्ण	१४८-४९, ६२१
विदग्धाजीर्ण उपचार मे द्रवाल्पता का महत्त्व	१४७
विदग्धाजीर्ण नव्य-मत से	९४
विदाह	६२१
विदाह—पित्तनानात्मज रोग	८८
विदाह-प्राकृत प्राकृत और वैकृत	१४८
विदाही द्रव्य—उनके दो भेद	९४
विद्रधि	१४५
विनाम	१०९
विपादिका—वातरोग-विशेष	१२०
विमार्ग गमन—स्रोतो दुष्टि का एक लक्षण उसकी व्याख्या	६१०
वियोनि	२३९
विरसास्यता	१३९
विरेचन उनकी पित्तहरता	१९०
विरेचन—तद्विषयक प्रश्न	३६३
विरेचन—बालको को	४७३
विरेचन साठ व्रणोपक्रमो मे गणना का कारण	६३०

विषय	पृष्ठ
विशदता—वातविकार-विशेष	१०८
विशदता—वायु का गुण	१०२
विश्वाची	१३३
विषतन्त्र	२५६
विषम ज्वर आवेगकाल मे भी शरीर मे विद्यमानता	२९९
विषम ज्वर उसका प्रधान धर्म	४२०
विषम ज्वर—सप्राप्ति-विषयक मत-भेद	१८६
विषमाग्नि	५३८
विषमाग्नि उसका परिणाम	५४०
विषाद	५९, १२९
विसर्ग काल	५१०
विसर्प एरिसिपिलास एक भेद	१४५
विसर्प—रक्तज रोग-विशेष	१४४
विस्र पित्त का गुण तथा कर्म—उसका तात्पर्य	८५, ८७
वृक्क आढमल्ल के वचन से उनके द्वारा मूत्रक्षरण	६२९
वृक्क उनका मेद से सबन्ध	६२६
वृक्क मूत्रल द्रव्यो से मेद का लेखन	६२६
वृक्क स्वस्थता का प्रभाव रक्त-दाव पर	६२६
वृद्ध वय	४६९
वृद्धि नाना भेद	१७०
वृषणोत्क्षेप—वातरोग	१२२
वेगावरोध दुर्विरेच्यता का एक कारण	५४७
वेदनाएँ उनके प्रकार	३६२
वेदना—रुग्ण-सवेद्य लक्षण	३४०
वेदनाहर औषध उससे हानि	३५७

विषय	पृष्ठ
वेपथु	१२९
वेरीकोसिस	१०५, ६१३
वेष्टन—वातविकार-विशेष	१०७
वैकृत रोग	३३५
वैद्य का कर्तव्य—दोष-दर्शन	४१
वैद्य वेदमन्त्रोक्त लक्षण	१
वैरस्य	१०८
वैरस्य · उसकी व्याख्या	३६७
वैरस्य—रसज रोग	१६२
वैवर्ण्य	१४६
वैषम्य—अन्नपान का	२७९
वैषम्य—दोषो का	२७९
वैषम्य शारीर रोगो का उत्पादक	२७९
व्यङ्ग	१५१
व्यञ्जन	४६७
व्यथा—वातविकार उसका अर्थ	१०७
व्यवासय—रोग-परीक्षा मे प्रष्टव्य	३५९
व्यवायकृच्छ्र मेदस्विता का परिणाम	१७४
व्यवायाशक्ति—प्रजोत्पादना-क्षमता से भेद	६४२
व्याधि-लक्षण	९, ४०
व्यान वायु उच्च रक्तदाब का कारण	२७
व्यान वायु उसके क्षय-वृद्धि-साम्य से ब्लड-प्रेशर के भेद	३५१
व्यान वायु—कफ के साहाय्य से रस-रक्त के सवहन मे हेतु	२८
व्यापन्नज रोग	२८१
व्यायाम उसकी लङ्घन रूपता	८
व्यायाम शक्ति	४५४
व्यास—वातविकार-विशेष, उसके अनेक स्वरूप	१०५
व्यास (विस्तरण) वायु का कर्म	२९

श

विषय	पृष्ठ
शङ्खभेद—वातविकार-विशेष	१२७
शङ्खभेद—वातविकार-विशेष, नव्यमत से व्याख्या	११५
शनैर्मेह	२३४, ६४०
शब्दाज्ञता	१४०
शब्दासहिष्णुता—रसक्षयमे	५७२
शयनेच्छा—प्रमेह-पूर्वरूप	१७३
शरीर और मन उनके दोषो का परस्पर सम्बन्ध	६३
शरीर—मन से सवन्ध	२२५
शरीर के धारक वात-पित्त-कफ	५५७
शरीर-दौर्गन्ध्य रक्तज रोग-विशेष	१५०
शरीर-परमाणु—उनकी असख्येयता से रोगो की असख्येयता	४५
शरीर-परमाणु उनकी विकृति से रोगोत्पत्ति मे दृष्टान्त	४६
शरीर लक्षण	९
शरीर-शैथिल्य-कुपित पित्त का कर्म	८७
शर्करा उसकी सप्राप्ति	२५
शर्करामेह	२३४
शव—शीघ्र दुर्गन्धशील	१५०
शस्त्रप्रणिधान (चिकित्सा-भेद)	३३५
शस्त्रसाध्य तथा स्नेहादिसाध्य रोग	३३४
शस्त्रसाध्य रोग औषधसाध्य भी	३३४-३५
शाकुन काय	४३६

विषय	पृष्ठ
शाखानुसारी रोग	१८२
शाखा—बाह्य रोगमार्ग	१८१
शाखा से दोष कोष्ठ मे आने मे हेतु	१८८
शारीर-मानस रोग परस्पर अनुबन्ध	६१
शारीर रोग	५९, २७९
शारीर रोग—परस्पर अनुबन्ध	६२
शालूक	१६८
शिराकुञ्चन	१३५
शिरापूरण	१३५
शिराशैथिल्य —भ्रम का कारण	११९
शिराशैथिल्य—मासक्षय का एक लक्षण	५७५, ५७७
शिराशैथिल्य—रक्तक्षय का एक लक्षण	५७४, ५७५
('सिरा'—भी देखिए)	
शिरोग्रह	१३१
शिरोरोग	१२७-२८
शिरोरोग—रक्तज रोग	१४८
शिरोरोग—शीतवात एक कारण	१२७
शिरोविरेचन द्रव्य—उनकी क्रिया की व्याख्या	७२, १९१
शिलाजतु—मेद पर क्रिया	६२६
शीघ्रकारिता—दारुण रोगो की	२८५
शीतता—कफनानात्मज रोग	७४
शीत (दोष या द्रव्य) का स्वरूप	२३
शीत द्रव्यो का कर्म	२४
शीत प्रियत्व—प्रमेह-पूर्वरूप	१७३
शीतमेह	७८
शीतवात	१३९
शीताग्निता—कफनानात्मज रोग	७३
शीताङ्ग—उसके उष्ण उपचार	१०४
शीताङ्ग—कारण तथा उपचार	५७०
शीतेच्छा—पित्तनानात्मज रोग	९३
शुक्र उसका स्थिर तथा पिच्छिल गुण	४०४
शुक्र उसकी दुष्टि से अनपत्यता	६४१
शुक्र उसकी शीघ्रप्रवृत्ति वात-विकार	११२
शुक्र की अतिप्रवृत्ति—वातविकार-विशेष	१३९
शुक्र की कृशता — वातविकार-विशेष	१३९
शुक्र की दुष्टि—चरकोक्त	६४३
शुक्र की दुष्टि—सुश्रुतोक्त	६४२
शुक्र की विकृतियाँ उनके कारण	६४४
शुक्रक्षय—नव्य-मत से व्याख्या	११२
शुक्र क्षय-वृद्धि के लक्षण	५८२
शुक्रगत वात—लक्षण	६४०
शुक्रगत वात—वातदूषित शुक्र से भेद	६४०
शुक्र दुष्टि का परिणाम	२०७
शुक्रदोष	१७७
शुक्रदोषज रोग	१७७
शुक्रधरा कला—प्रकृति की आवतारणा मे हेतु	२०५
शुक्रनाश	१३९
शुक्रनाश उसके नाम तथा प्रकार	१११
शुक्रनाश—वातविकार उसकी व्याख्या	१११
शुक्रपात उसकी शुद्ध चिकित्सा	६४१
शुक्र पित्तदूषित	६४०
शुक्र पुष्टि प्राचीन तथा नव्य-मत से	४०३-४

विषय	पृष्ठ
शुक्रवह स्रोतो के मूलादि	६२७
शुक्र . शीघ्र प्रवृत्ति के अनेक प्रकार	६४०-४१
शुक्र शुद्धाशुद्ध उसकी परीक्षा	६३९
शुक्र सार	४५०
शुक्रसारता—सत्त्व सारता की हेतु	२२२
शुक्राधिक्य कफनानात्मज रोग	७५
शुक्लमेह	७९
शुष्क कास उसमे प्रतिश्याय की कारणता	२४६
शुष्क गर्भ	११३
शुष्काक्षिपाक	५१
शूल—प्रधान कारण वायु	२६
शूल—लक्षण	१०९
शूल—वातिक उस की विशिष्टता	४२०
शृङ्ग नखवत् अस्थि के मल	५९९
शेफस्तम्भ—वातरोग-विशेष	१२२
शैत्य—कफ का कर्म	६८
शैत्य— वात का गुण, उसका व्यापक अर्थ	१०२
शोक—रोग की वृद्धि मे हेतु	३०४
शोणितक्लेद—पित्तनानात्मज रोग	८९
शोणितक्लेद—विशिष्ट अर्थ	८९
शोणितास्थापन लक्षण तथा द्रव्य	६२३
शोथ—इन्फ्लेमेशन का यथार्थ पर्याय नही	१५२
शोथ उसकी शान्ति की परीक्षा	१०९
शोथ—वात प्रकोप मे	१११
शोफ—कफ का कर्म	६९
शोष यक्ष्मा मे	१०८
शोष—वातविकार-विशेष	१०८
शोष वातविकारो की परीक्षा मे द्रष्टव्य	१०८
शोषण उसका स्वरूप	२४-२६
शोषण—वायु का कर्म	२४-२६
शौच—आर्थिक	४३३
श्यावता	१३७
श्यावारुणवर्णता—वातविकार	१०८
श्यावारुणावभासता	१२९
श्रम—पित्तविकार उसकी व्याख्या	९४
श्रम—रक्तज रोग	१५४
श्रोणिभेद—वातरोग-विशेष	१२२
श्रोत्रशूल—वातविकार-विशेष	११६
श्लेष्मधरा कला—उसका व्यापक अर्थ—उसके उदरधरा आदि भेद	८१, ५०१-२
श्लेष्मला योनि	९५
श्लेष्मा सामान्य गुण	६८, ७७
श्वास उसकी आदिवल प्रवृत्ति	२२८
श्वास (क्षुद्र) प्रमेह-पूर्वरूप	१७३
श्वास तथा हिक्का किंचित् सप्राप्ति	५९६
श्वास—परीक्षा मे काल का सबन्ध	३५९
श्वास—पित्तप्रकृति मे उपचार	३८९
श्वासरोध—नवजात मे	२३५
श्वास वातज उसका एक स्वरूप	२६
श्वित्र	१५१
श्वेतता—कफ का कर्म	६८
श्वेत प्रदर	९५
श्वेतमूत्र नेत्र वर्चस्त्व कफ नानात्मज रोग	७३
श्वेतावभासता	७३
षड्विन्दु तैल—घ्राणनाश मे	११५, १२६

विषय	पृष्ठ
स	
सग्रास—औषधकाल	५२८
सत्त्व-परीक्षा	३५६-५८
सत्त्व-रज-तम—आत्मा की प्रकृति	४२६
सत्त्व रोग-परीक्षा मे परीक्षणीय	४५२
सत्त्वसार	५०, ४५१, ४५३
सत्त्वसारता गुक्रसारता से सवन्ध	२२२
सत्त्वसार लक्षण	२२२
सत्त्वसारता—सुख साध्यता मे हेतु	२६५
सत्त्वावजय	२६६
सदातुर पुरुषो की दुर्विरेच्यता	५४७
सदा रोगी पुरुष	३०५, ३६०
सभक्त—औषधकाल	५२७
समन्वय का महत्त्व	९९-१००
समवाय . चिकित्स्य दोषो का क्रम	३३
सम गरीर—उसका निदान तथा लक्षण	४६०
समाग्नि	५३३
सम्यक् परीक्षा का महत्त्व	३८२-८३
सरत्व—पित्त का गुण उसका अर्थ	८५
सर्वग्रह	५३०
सर्वरसाभ्यास	४५८
सर्वसार	४५१
सर्वाङ्गरोग	१२८
सर्वाङ्गशैत्य—अति स्वेद का परिणाम	८८
सर्वाङ्ग शैत्य—सप्राप्ति	१५०
सहज अर्श	२१०
सहज वल	४५७
सहज रोग	२१०, २८०
सकोच—वातविकार-विशेष	१०६
सक्रमण का निवारण प्राचीन काल में	२६७-६८
सक्रामक रोग—आयुर्वेद-मत मे	२६६
सग—वातविकार-विशेष	१०६
सघातवत प्रवृत्त रोग	२५५-५६
सचयकाल उसमे दोषो के कोप की सभावना	५१६
सचय काल—प्रथम चिकित्सा काल	५१५
सज्ञाएँ उनके अनेकार्थक प्रयोग के उदाहरण	३८५
सतर्पणज रोग	२८१
सताप—रक्तज रोग	१४८
सधि शब्द का व्यापक अर्थ	५०१
सधिवक्रता वातविकार	११५
सधिवात—वातरोग-विशेष	१२०
सधिशोथ कफ की कारणता	५०१
सध्या उसमे दीर्घायु की प्राप्ति	६१४-१५
सन्निपतित—अर्थ	३३३
सनिपात	३३, ३१०
सपर्कज रोग	२६५
सप्राप्ति उसके ज्ञान का चिकित्सा मे महत्त्व	३६१
समोहन औषध—उसमे हानि	३५७
सवृतासवृत . स्रोतो का पर्याय	१९५
सशोधन—अपुनर्भवकर चिकित्सा	५६
सशोधन आत्ययिक परिस्थिति मे नियम	५१७
सशोधन उसकी अवस्था या काल	२५२, ५१५
सशोधन के अयोग्य ऋतु	५१६
सशोधन . दोषभेद से उपयुक्त ऋतु	५१५

विषय	पृष्ठ
ससर्ग—अर्थ	३३, ३१०
ससर्गज रोग	२६४, २६५
ससृष्ट	३३
सहनन की परीक्षा	४६२
सात्त्विक पुरुषो के भेद तथा लक्षण	४३३
सात्त्विक मन तथा प्रकृति लक्षण	४३१, ४३५
सात्त्विकादि प्रकृतियाँ—उनकी परिभाषा	४३१
सात्म्य	४६१
सात्म्य प्रश्न-परीक्षा मे ज्ञातव्य	३६०
साद—वातविकार-विशेष	१०६
साधारण देश	३५३, ५०३
साधारण स्वस्थवृत्त	२६८
साध्य होते हुए भी त्याज्य रोगी	२९९
साध्यासाध्यता के ज्ञान की आवश्यकता	२८६-२९१-९२
साध्यासाध्य-भेद से रोग-वर्ग	२८६-३०५
सान्द्र प्रसाद मेह	६८
सान्द्र प्रसाद मेह उसकी सप्राप्ति उभय-मत से	७९, ८०
सान्द्रमेह	६८
सान्द्र मेह उसकी सप्राप्ति उभय मत से	७९, ८०
साम तथा निराम रोग	३२०-३३४
सामता—निरामता के ज्ञान की आवश्यकता	३३०-३३४
साम दोष-दूष्य तथा रोग	३२७
सामान्यज रोग	६५
सामुदग औषधकाल	५२७
सार	४४४-४५२
सार परीक्षण की आवश्यकता	४४५

विषय	पृष्ठ
सार्प काय	४३६
साख्य प्राचीन उसका वेदान्त से साम्य	४२९
साख्यमत प्राचीन और अर्वाचीन	४२९-३०
साख्य सुश्रुत को भी प्राचीन मत ही अभिमत	४२९-३०
सिकता उसकी सप्राप्ति	२५
सिकतामेह	२३४
सिरा उसके सामान्य तथा विशिष्ट अर्थ	६१०
सिराएँ—विशिष्ट सज्ञाओ का हेतु	५९३
सिराओ की दुर्वलता का कारण मासक्षय	६१३
सिरा कुञ्चन	६१३
सिराकौटिल्य—वातविकार-विशेष	१०५
सिरापूरण—वातविकार-विशेष	१०५
सिरापूर्णता	१५५
सिराशैथिल्य	१५५, ४९८
सिराशैथिल्य—लो ब्लडप्रेशर	५७२
सिरोसिस् ऑफ लिवर	१३५
सिंथी शुद्ध पर्याय अनुकम्पा	४४१
सिम्पेथेटिक (आग्नेय) नर्वस-सिस्टम	५१२, ५३९
सुखसाध्य रोग	२८७
सुच्छर्दत्व	३६४
सुप्ति कुपित कफ का कर्म	७०
सुप्ति—वातविकार-विशेष	१०९
सुरामेह	६८
सुरामेह संप्राप्ति उभय मत से	८०
सुषिरता	४६-४८

विषय	पृष्ठ
सुषिरता अस्थिक्षय मे	४७
सुषिरता मधुमेह मे	४६
सुषिरता राजयक्ष्मा मे फुफ्फुसो मे	४६
सुषिरता—वातविकार-विशेष	१०८
सुसहत शरीर	४६३
सूची मुखी योनि-जन्मबल प्रवृत्त रोग	२३६
सूर्य उसका कर्म प्रकृति मे	५१२, ५५७, ५५६
सूर्यावर्त	१२८
सेकडरी इन्फेक्शन	३०६
सेकडरी सेक्स कैरेक्टर्स	४६७
सोडियम पेटोथल	३६६
सोप-वॉटर एनीमा आयुर्वेद-मत से उसकी गर्ह्यता	१६
सौमनस्य—श्रेष्ठ गर्भधारक	४०३
सौहित्य—रसज रोग	१६४
सौहित्यासहिष्णुता	५२२
सॉम्नेम्बुलिज्म	१२६
स्कन्दन उसका रक्त तथा लसीका पर प्रभाव	८२
स्कोलिओसिस	१११
स्क्वट	११५
स्टरिलिटी	११२
स्ट्रायी ग्रेवीडेरम	१०६
स्ट्रेबिस्मस	११५
स्तन्य कफदूषित उसकी लवणानुरसता	६४८
स्तन्य कफदूपित उसके स्थान-सश्रय से विविध रोग	६५०
स्तन्यक्षय—रसक्षय का परिणाम	५७२
स्तन्य—'तृप्ति न करने वाला' का अर्थ	६४०
स्तन्य दुष्ट उसकी अगाग-कल्पना	६४८-५०
स्तन्यपान के अयोग्य माता या धात्री	६४८
स्तन्य वृद्धि-क्षय के लक्षण	५८४
स्तन्य शुद्धाशुद्ध उसके लक्षण	६४६
स्तब्ध दोष उनके दो भेद	११०
स्तम्भ कफ का कर्म	६६
स्तम्भ—वातविकार उसके विविध रूप	११०
स्तम्भन (स्रोतो का) उसका अर्थ	२४-२८
स्तम्भ सिराओ का	११६
स्तैमित्य—अर्थ प्रमीलक	८८
स्तौमित्य कफ का कर्म	६८
स्तैमित्य—कफनानात्मज रोग	७१
स्तैमित्य शब्द का व्याकरणानुसारी अर्थ	३८१
स्त्री व्यापत्	२०६
स्त्री शुक्र	२०५
स्थानस्थ दोष की चिकित्सा	१८४-८५
स्थितिस्थापक गुण स्रोतो की क्रिया का कारण	२८
स्थूल उसका उपचार	४६१-६२
स्थूलता कृशता से तुलना ('मेदस्विता' भी देखिए)	४६१
स्थैर्य—कफ का कर्म	६६
स्नायु शब्द का अशुद्ध अर्थ	४४७
स्नायु—सश्रित रोग	१७६
स्निग्ध गुण—अतियोग से शुक्लमेह	७६
स्नेह—कफ का कर्म	६६
स्नेहन—स्वेदन उनका प्रयोजन	१८६

विषय	पृष्ठ
स्नेहपान की अवधि कोष्ठ-भेद से	५४७
स्पन्दन—वातविकार-विशेष	१०७
स्पर्शज्ञान—व्यापक अर्थ	३६८
स्पर्शनाश	१०६
स्पर्शनेन्द्रिय—व्यापक अर्थ इन्द्रियमात्र	३६८, ५६२
स्पर्श—व्यापक अर्थ	३६८
विषयमात्र	५६२
स्पर्श-परीक्षा	६५६
स्पर्शादि विषयो का ज्ञान—रक्त का कर्म	३६८
स्फुरण	१३५
स्यूडोल्युकीमिआ	१७०
स्रस—वातविकार-विशेष	१०५
स्रावो की परीक्षा	६३३-६५७
स्रोत—उनका कर्माधीन लक्षण	५६८
स्रोत उनकी दुष्टि से रोगमात्र की उत्पत्ति	५६६-६७-६०१
स्रोत उनकी स्वस्थता से शारीर धातुओ की पुष्टि	६००
स्रोतस उनके नामो का कारण	६२५
स्रोत उनके प्राथमिक भेद	१६७
स्रोत उनमे द्रव्य के वहन का स्वरूप	२४
स्रोत उसका स्वरूप	६१५
स्रोत—कायचिकित्सा मे परिभाषा तथा उसका प्रयोजन	५६५-६६
स्रोत—कायचिकित्सा मे व्यापक अर्थ तथा पर्याय	५६७
स्रोत—ग्रन्थिसहित मार्ग का नाम	६०३, ६०५
स्रोत—दुष्ट उससे निकटवर्ती स्रोतो की दुष्टि	६०१
स्रोत दुष्टि की व्याख्या के लिए उदाहरणतया निर्दिष्ट	६०६
स्रोत दुष्टि के सामान्य लक्षण	६०७
स्रोत—पर्याय	१६५
स्रोत वात प्रकोप की कारणभूत उनकी दुष्टि	१०४-५
स्रोत—विशिष्ट सज्ञाओ का अर्थ	५६३
स्रोत व्यापक अर्थ—उत्पादक - ग्रन्थि सहित प्रणाली	५३०
स्रोत—व्यापक अर्थ शरीर-परमाणु (सेल)	६०३
स्रोत—व्युत्पत्ति	६०२
स्रोत—शब्द का सामान्य तथा विशेष अर्थ	१६४
स्रोत शरीर के आरोग्य और रोग के मूल	१६३, ६००
स्रोत—शल्यतन्त्र मे परिभाषा	५६५
स्रोत—सुश्रुत द्वारा उदाहृत	६२०
स्रोत—सुश्रुतोक्त लक्षण	१६६
स्रोतो दुष्टि के कारण	६१५
स्रोतो दुष्टिजन्य रोग	१६२-६७
स्रोतोदुष्टि पृथक् निर्दिष्ट रोगो से भिन्न	६१७
स्रोतोमुख विशोधन उससे दोषो का कोष्ठ मे आना	१८६
स्रोतोरोध (स्रोतोदुष्टि, स्रोतो वैगुण्य)	४६
स्रोतोरोध—उसका स्वरूप	१५६-६०
स्रोतोरोध उसकी व्याख्या	३०
स्रोतोरोध उसके परिणाम	३०
स्रोतोरोध—कफज	६६
स्रोतोरोध दोष भेद से स्वरूप	१६०

विषय	पृष्ठ
स्रोतोरोध—रसज रोग	१६४
स्रोतोरोध रोगमात्र का उत्पत्ति-कारण	१५६
स्रोतो का पूतिभाव—रक्तज रोग	१५४
स्रोतो की परीक्षा	५६४-६३२
स्रोतो के मूल, दुष्टि तथा उनके निदानादि	६१८-६३२
स्वगुण सपत्ति का महत्त्व	३५२
स्वतन्त्र-परतन्त्र रोग	३०८, ३१२, ३१६
स्वप्नदर्शन उभय मत से उसकी परीक्षा की उपयोगिता	३६६
स्वभावबलप्रवृत्त रोग	२७७
स्वरक्षय रक्तज	१५०
स्वस्थ पुरुष का लक्षण	३६, ५४८
स्वाभाविक रोग	२८०
स्वास्थ्य का प्रधान लक्षण—प्रसन्नेन्द्रियता	३७-३८
स्वेद	१५०
स्वेद की अति प्रवृत्ति उससे पित्तक्षय और शीताङ्ग	५६६, ५८६
स्वेद कुपित पित्त का कर्म	८६
स्वेद—क्षय-वृद्धि के लक्षण	५८६
स्वेदन—बच्चो मे	४७३
स्वेदनाश	१३८
स्वेद भ्राजक पित्त का स्थान, उससे स्वेद का स्वरूप	८८
स्वेदवह स्रोत—ग्रन्थि सहित मार्ग	६०५, ६३२
स्वेदवह स्रोतो के मूलादि	६३२
स्वेदाधिक्य	१३८
स्वेदाधिक्य—मेदस्विता का परिणाम	१७४

विषय	पृष्ठ
ह	
हनुभेद—वातविकार-विशेष	१२४
हनुस्तम्भ—वातविकार-विशेष	१२४
हरितत्व—पित्तनानात्मज रोग	९०
हरितहारिद्र नेत्र मूत्र वर्चस्त्व	९१
हर्ष—वातविकार-विशेष	१०६
हस्तपादतलदाह प्रमेह-पूर्वरूप	१७१
हस्तपाद सुप्तता प्रमेह-पूर्वरूप	१७१
हाइड्रोसील	१७०
हाइपरटेन्शन उसकी एक सप्राप्ति	२७
हाइपरटेन्शन उसमे दोष	११
हाईपर ट्रॉफी	२१५-१६
हाईपर थयरॉयडिज्म आयुर्वेद का रसक्षय	९६-९७
हाईपर प्लाजिया	२१५-१६
हाई ब्लड प्रेशर उसकी एक सप्राप्ति	२७
हाई ब्लड प्रेशर उस मे दोष	११
हाई ब्लड प्रेशर-एक रक्तज रोग	१५४-५७
हाई ब्लड प्रेशर रक्त की वृद्धि एक कारण	५७४
हारिद्रत्व—पित्तनानात्मज रोग	९०
हिक्का	१२९
हिताहार—दोष साम्य के लिए सर्वोपरि आवश्यक	७६, ५६५
हिमालय—श्रेष्ठ औषधि-भूमि	५०८
हिस्टीरिआ	३०३
हिस्टीरिआ—व्यापक अर्थ	४४१
हिस्टेमीन	१२७
हिस्टेरिकल टेपरामेण्ट	५०, ४४०
हीनसत्त्व	४५२

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
हृच्छूल · आधुनिको का कॉरोनरी थ्राम्बोसिस ?	२१६	हृद्ग्रह—आधुनिको का एन्जाइना ?	२१६
हृच्छूल उसकी अनुत्पत्ति के लिए स्वस्थवृत्त	३४	हृद्ग्रह उसकी अनुत्पत्ति के लिए स्वस्थवृत्त	३४
हृच्छूल उसकी सप्राप्ति—उसमे वात की कारणता	२६	हृद्ग्रह उसमे वात की कारणता	११०, १११
हृच्छूल उसमे पित्त का अनुवन्ध	२६	हृद्द्रव	१२४
हृच्छूल—एन्जाइना पेक्टोरिस ?	५७२	हृद्य शब्द का अर्थ	५२८
हृच्छूल कफ का अनुवन्ध	२८७	हृन्मोह	१२३
हृच्छूल कफ की उसमे कारणता	४६६	हृद्रोग उनकी आदिवल प्रवृत्ति	२१६
हृच्छूल मे उपचार	५७३	हृद्रोग कफ की कारणता	५०१
हृत्पीडा—एन्जाइना पेक्टोरिस ?	५७२	हृद्रोग—प्रतिवन्धक चर्या	२२०
हृदय आयुर्वेद मे सिराओ सहित उसकी ग्राह्यता	६१३	हृद्रोग—रसजरोग-विशेप	१६४
हृदयधरा—श्लेष्मधरा कला का भेद	८१	हृल्लास—रसज रोग	१६३
हृदयरोग—उदर्य अवयवो की विकृति से नव्य-मत से व्याख्या	१६४-६५	हेअरलिप	२५६
हृदयोपलेप—कफनानात्मज रोग	७२	हेक्सामीन—शङ्ख भेद का कारण	११५
हृद्ग्रह	२१७	हेवीच्युअल एवोर्शन	११४
		हेमन्त उसमे सशोधन क्यो निपिद्ध ?	५१६
		हॉजकिन्स डिसीज	१७०

वैद्यनाथ आयुर्वेदीय-प्रकाशन

यह कारखाना केवल औषधि-निर्माता ही नही है। शुद्ध अर्थ मे यह एक आयुर्वेदीय प्रतिष्ठान है। इसका मुख्य उद्देश्य है भारतीय चिकित्सा-पद्धति आयुर्वेद का प्रतिसस्कार और उसके स्वाभाविक मानव-कल्याणकारी गुणो, उसकी विशेषताओ और चिकित्सा-प्रणाली से जनता को लाभान्वित कराना। औषध और ग्रन्थ, दोनो उसके साधन है। इसलिए एक ओर जहाँ वह उत्तमोत्तम औषध-निर्माण द्वारा आयुर्वेद की विशेषता को प्रमाणित करने की चेष्टा करता है, वही दूसरी ओर उसके उत्तमोत्तम और प्रामाणिक ग्रन्थो के प्रकाशन का भी समुचित प्रबन्ध करता है। वैद्यनाथ-प्रकाशन के उत्तम ग्रन्थो की प्रशसा मुक्तकण्ठ से समस्त देश की विद्वन्मण्डली ने की है। राजकीय शिक्षण-सस्थाओ तथा विश्वविद्यालयो ने यहाँ के अनेक ग्रन्थो को अपने पाठ्यक्रम की पुस्तको मे प्रमुख स्थान दिया है: चूँकि आयुर्वेदीय साहित्य का प्रचार-प्रसार वैद्यनाथ आयुर्वेदीय प्रकाशन का मूल सिद्धान्त रहा है, अत पुस्तको के मूल्य-निर्धारण मे सर्वसाधारण की क्रयशक्ति का पूरा विचार कर इन्हे लागत-मात्र कीमत पर बेचने का प्रबन्ध किया गया है, जिसके कारण वैद्यनाथ-प्रकाशन से निकली हुई उत्तम आयुर्वेदीय पुस्तको का आज घर-घर मे प्रचार है।

आरोग्य-प्रकाश (बारहवाँ संस्करण)—श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन प्राइवेट लिमिटेड के मैनेजिग डायरेक्टर **वैद्यराज पण्डित रामनारायण शर्मा** ने अनेक वर्षो के परिश्रम के पश्चात् इस महान ग्रन्थ—**आरोग्य-प्रकाश**—का प्रणयन किया है। इस ग्रन्थ का एक-एक वाक्य समय पर हजारो रुपयो का काम देता है। इसके पूर्वार्द्ध के व्यायाम, ब्रह्मचर्य, भोजन, दिन-रात्रि-ऋतुचर्या, सदाचार, उत्तम विचार आदि विषयो को पढकर और तदनुकूल आचरण कर सदा बीमार रहनेवाला व्यक्ति भी बिना दवा के ही नीरोग और तन्दुरुस्त हो जाता है।

इस ग्रन्थ के उत्तरार्द्ध मे शरीर मे पैदा होनेवाले सभी रोगो के कारण, निदान, रोग-लक्षण, चिकित्सा, पथ्यापथ्य आदि पर बडी ही सरल भाषा मे सुन्दर ढग से विवेचन किया गया है, जिनको पढकर विद्वान से लेकर साधारण पढे-लिखे व्यक्ति तक समान भाव से लाभ उठा सकते है। इसमे दवाओ के जो नुस्खे लिखे है, वे बहुत वर्षो के परीक्षित, कभी विफल नही होनेवाले और शास्त्रानुमोदित है। शहर हो या देहात सब जगह इस पुस्तक के घर मे रहने से रोगी को तत्काल लाभ पहुँचाया जा सकता है।

औषध तैयार करने का विधान तो इस पुस्तक मे वहुत ही श्रेष्ठ है, क्योकि लेखक इस विषय के निर्णयात्मक ज्ञाता हैं। इसके ११ सस्करणो मे १,०८,००० प्रतियाँ छपकर विक चुकी है और वारहवे सस्करण मे २० हजार प्रतियाँ फिर छापी गई है। इसी से इस ग्रन्थ की लोकप्रियता और उपयोगिता का स्पष्ट प्रमाण मिलता है। हिन्दी मे ऐसी पुस्तक दूसरी नही है, यदि यह कहा जाय तो अनुचित न होगा। प्रचार की दृष्टि से इस पुस्तक का मूल्य भी वहुत कम रखा गया है। ४६० पृष्ठो की पुस्तक का मूल्य मात्र २ २५

आयुर्वेदीय क्रिया-शारीर (रायल अठपेजी साइज, वढ़िया कागज, सजिल्द और सचित्र)—लेखक : वैद्य रणजितराय देसाई, वाइस-प्रिंसिपल, आयुर्वेद-महाविद्यालय, सूरत। इस ग्रन्थ ने थोडे समय के भीतर ही आयुर्वेद-जगत् का ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर लिया है और आयुर्वेदीय महाविद्यालयो के पाठ्यक्रम मे पाठ्य-पुस्तक के रूप मे यह स्वीकृत हो चुका है। इसमे कुल ४६ अध्याय है। इन अध्यायो मे आयुर्वेद के सप्त धातुओ—रस-रक्त-मास-मेद-अस्थि-मज्जा-शुक्र के कार्य, वात-पित्त-कफ का प्राकृत-वैकृत स्वरूप-कार्य और उनका स्थानसश्रय-गति-प्रसार का प्राचीन-अर्वाचीन मतो के साथ सुरुचिपूर्ण विवेचन है। इसके साथ पुरीपादि मल, ओजद्वय, स्तन्य-आर्त्तव, द्रव्य, आहार-परिणाम, अवस्थापाक, धातुपाक, धातुपोषणक्रम, नाडी की परीक्षा, नाडी-सस्थान, अन्त स्राव, त्वग्विज्ञान, शरीर-परमाणु, प्रजनन का सामान्य क्रम, श्वास-प्रश्वास-क्रिया, रुधिराभिसरण, रुधिरशोधनक्रम, मूत्रोत्पत्तिक्रम तथा क्रिया-शारीर के अन्य सव विषयो का प्राचीन-आधुनिक मतो के साथ इसमे सरल विवेचन है। विपय की स्पष्टता के लिए अनेक एकरगे चित्र भी इसमे दिये गये है। इसे पढ लेने के वाद आयुर्वेद के विद्यार्थियो को 'हैलिवर्टन फिजिओलॉजी' खरीदने की जरूरत नही रह जाती। मूल्य मात्र ११ ००

आयुर्वेद-सार-संग्रह (तृतीय संस्करण)—सम्पूर्ण आयुर्वेद-शास्त्र के मथन के पश्चात् इस महान् ग्रन्थ का सम्पादन किया गया है। इसमे रोगानुसार औषधो का गुण-धर्म और प्रयोग तथा औपध-निर्माण, औषध-अनुपान, पथ्यापथ्य आदि का पूरा विवरण सरल भाषा मे समझा कर लिखा गया है। आयुर्वेद के महर्षियो द्वारा अति प्राचीन काल से जिन प्रसिद्ध योगो का प्रयोग होता आया है और जिन प्रयोगो का चिकित्सको द्वारा सफल परीक्षण असख्य वार कर लिया जा चुका है, ऐसे ही सफल प्रयोगो का इस ग्रन्थ मे सग्रह किया गया है। इस ग्रन्थ मे परिभाषा प्रकरण के अन्तर्गत औपध-निर्माण-परिभाषा, मान-परिभापा, साकेतिक परिभाषा, रासायनिक परिभापा, यन्त्र-पुट-खरल परिभापा, औषध-प्रयोग विधान, पथ्यापथ्य, पारद-गधक-हिंगुल-परिभाषा, शोधन-मारण प्रकरण के अन्तर्गत धातुओ का शोधन, भस्म-निर्माण और उनका गुण-धर्म विवेचन ,

कूपीपक्व रसायन, रस-रसायन, गुटिका-वटी, पर्पटी, लौह-मण्डूर, गुग्गुलु, अवलेह-पाक, चूर्ण, आसवारिष्ट, तैल, कषाय (क्वाथ), मलहम आदि प्रकरणो मे विविध प्रकार की औषधियो के निर्माण, विधि-प्रयोग, गुण-धर्म, पथ्यापथ्य आदि सभी वैद्योपयोगी बातो का सविस्तर वर्णन किया गया है। इसके साथ ही रस-रसायन, अर्क आदि बनाने के यन्त्रो के चित्र भी दिए गये है, जिनसे औषधि-निर्माताओ को काफी सुविधा होगी। राष्ट्रभाषा हिन्दी मे इस ढग की यह एक ही पुस्तक है। इस पुस्तक की लोकप्रियता का सबसे बडा प्रमाण यह है कि कुछ ही वर्षो मे इसके तीन सस्करण निकल चुके है। सर्वसाधारण तथा चिकित्सकमात्र के लिए सर्वाधिक उपयोगी ११०० पृष्ठ के इस विशाल ग्रन्थ का मूल्य मात्र ७ ००

आयुर्वेद-व्याधि-विज्ञान (पूर्वार्द्ध)—लेखक आयुर्वेद-मार्तण्ड, वैद्य यादवजी त्रिकमजी। किसी भी रोग की चिकित्सा के पूर्व रोगो के निदान का ज्ञान होना परमावश्यक है। रोग के सम्यक् निर्णय के बिना रोगी की चिकित्सा सफल नही हो सकती। इसीलिए व्याधि-विज्ञान (निदान-रोग-विनिश्चय) आयुर्वेद के प्रधान विषयो मे सम्मिलित एक उपयोगी विषय है। इस ग्रन्थ में व्याधि-विज्ञान के साधनो का वर्णन बहुत ही सुन्दर ढग से किया गया है। व्याधियाँ कितने प्रकार की होती है; निज स्वाभाविक और आगन्तुक व्याधियो मे क्या भेद है, स्वतन्त्र और परतन्त्र व्याधियो के स्वरूप क्या है, प्रभाव, बल, अधिष्ठान, निमित्त और समुत्थान भेद से १० प्रकार के रोगानीक कैसे हो जाते हैं, रोगो का आश्रय क्या है आदि अनेक ज्ञातव्य बाते इस ग्रन्थ के प्रारम्भिक अध्याय मे वर्णित हैं। यह पूर्वार्द्ध खण्ड पाँच अध्यायो मे विभाजित है, जिन्हें अध्ययन कर लेने के बाद निदान-सम्बन्धी अनेक ज्ञातव्य-सिद्धान्त हस्तामलकवत् प्रतिभात हो जाते है। आयुर्वेद-प्रेमी विद्वान और विद्यार्थी, दोनो के लिए यह ग्रन्थ विशेष उपयोगी है। डिमाई साइज के ११२ पृष्ठ की सुन्दर छपी हुई सजिल्द पुस्तक का मूल्य मात्र २ ५०

आयुर्वेद-व्याधि-विज्ञान (उत्तरार्द्ध)—लेखक आयुर्वेद-मार्तण्ड, वैद्य यादवजी त्रिकमजी आचार्य। यह ग्रन्थ उपर्युक्त ग्रन्थ का उत्तरार्द्ध है जिसकी प्रतीक्षा आयुर्वेद-जगत् को अनेक वर्षो से थी। यह ग्रन्थ ज्वर, महास्रोतगत रोग, उरोगत रोग, रक्तपित्त रोग, पाण्डु रोग, शोथ, व्रण, विसर्प, वृद्धि, भग्न निदान गलगण्ड, गण्डमाला, कुष्ठ आदि १५ अध्यायो मे समाप्त हुआ है। इसके प्रत्येक अध्याय मे रोगो के लक्षण, निदान, चिकित्सा आदि पर सरल भाषा मे पाण्डित्यपूर्ण विवेचन किया गया है। मूल्य ६·००

आयुर्वेदीय पदार्थ-विज्ञान (द्वितीय सस्करण)—लेखक वैद्य रणजितराय देसाई। इस ग्रन्थ मे अन्य दर्शन-ग्रन्थो से क्या विशेषता है और क्यो है, इस पर प्रकाश डालते हुए

आयुर्वेदीय पदार्थ-विज्ञान के सभी विषय सरल भाषा मे समझाये गये है। आधुनिक अन्वेषित मूल तत्त्वो के साथ आयुर्वेदोक्त तत्त्वो का समन्वय करने के लिए किस दृष्टि से प्रयास होना चाहिए, इस पर विद्वान् लेखक ने यथास्थान स्वमत प्रकाशित किया है। आयुर्वेदीय पदार्थ-विज्ञान अन्य सभी आयुर्वेदीय विषयो का आधारभूत है, अत इसका अध्ययन किस शैली से होना चाहिए, इस बात का विशद विवेचन करते हुए विषय को नया ही रूप देने का सफल प्रयास किया गया है। इसके प्रथम सस्करण की प्रतियाँ समाप्त हो चुकी है। द्वितीय सस्करण—अनेक सशोधन-परिवर्धन के साथ डबल डिमाई—१६ पेजी साइज मे छपी है। प्रथम सस्करण की अपेक्षा द्वितीय सस्करण की जिल्द, छपाई-सफाई बहुत आकर्षक है। मूल्य ६ ००

आयुर्वेदीय हितोपदेश—लेखक वैद्य रणजितराय देसाई। आयुर्वेद के रहस्य-बोधन के लिये सस्कृत का ज्ञान आवश्यक है। प्राय आयुर्वेदीय पाठचक्रमो की प्रारम्भिक परीक्षाओ मे सस्कृत भी एक अनिवार्य विषय रहता है, परन्तु इसका अध्ययन-अध्यापन सस्कृत-साहित्य के पाठ्य-ग्रन्थ हितोपदेश, पचतन्त्र प्रभृति आयुर्वेदेतर विषयो के रूप मे होता है। किन्तु, यह प्रचलित पद्धति आयुर्वेदीय अध्ययन-अध्यापन के लिए पूर्ण समीचीन प्रतीत नही होती। इसी दृष्टिकोण को सामने रखकर, आयुर्वेदीय अध्ययन-अध्यापन के कार्य मे दक्ष वैद्य रणजितराय ने 'आयुर्वेदीय हितोपदेश' नाम की इस पुस्तक का प्रणयन किया है। इस ग्रन्थ मे मूल वचनो का हिन्दी-अनुवाद तथा नवीन विचारो का समन्वयात्मक विवेचन भी किया गया है। आयुर्वेद के अध्यापको और विद्यार्थियो को इस ग्रन्थ की एक-एक प्रति अवश्य अपने पास रखनी चाहिए। मूल्य ३ ००

उपचार- पद्धति (पचम सस्करण)—सर्वसाधारण गृहस्थ के सैकडो रुपये प्रतिवर्ष बच सकते है, यदि उन्हे उपचार और पथ्य का साधारण ज्ञान हो जाय। इसी लक्ष्य को सम्मुख रखकर इस पुस्तक का प्रकाशन किया गया है। इसमे रोगियो की परिचर्या का विवेचन दिया गया है। मूल्य ० ६२

किशोर-रक्षा और ब्रह्मचर्य—किशोर बालको और तरुणो को कुटेव-जन्य व्याधियों से बचाने का इस पुस्तक मे प्रयास किया गया है। पृष्ठ-सख्या ११० , मूल्य ० ६२

त्रिदोष-तत्त्व-विमर्श—लेखक **आयुर्वेद-बृहस्पति वैद्य रामरक्ष पाठक, आयुर्वेदाचार्य।** इस ग्रन्थ मे आयुर्वेद के आधारभूत त्रिदोष-सिद्धान्त का शास्त्रीय विवेचन विधिवत् किया गया है। मानव-शरीर के अनेकानेक द्रव्यो मे वात-पित्त-कफ प्रधान है। इसी तथ्य को केन्द्रित कर विद्वान् लेखक ने त्रिदोष-तत्त्व के विभिन्न स्वरूपो का वैज्ञानिक विश्लेषण किया है। इससे ग्रन्थ की शास्त्रीयता निखर गई है। प्रस्तुत ग्रन्थ के

अध्ययन के बाद त्रिदोष-तत्त्व और पच-महाभूत का ज्ञान सरलता से हो जाता है। आयुर्वेद के जिज्ञासुओ के लिए पुस्तक अत्यन्त उपादेय हे। मूल्य २ ६२

द्रव्यगुणविज्ञानम्—पूर्वार्द्ध (तृतीय सस्करण)—लेखक **आयुर्वेद-मार्तण्ड, वैद्य यादवजी त्रिकमजी आचार्य।** आयुर्वेदीय ग्रन्थो मे सूत्र रूप मे यत्र-तत्र बिखरे हुए द्रव्यगुण-विषय को आयुर्वेद-तत्त्ववेत्ता पूज्य आचार्यजी ने बडे परिश्रम से (द्रव्यो के रस, गुण, वीर्य, विपाक, प्रभाव आदि विषयो पर पृथक्-पृथक् पाँच अध्यायो मे बहुत उत्तमतापूर्वक) सकलित कर सरल सस्कृत तथा हिन्दी भाषा मे विवेचन किया है, जो आयुर्वेद-विज्ञान की प्रगति के लिए बहुत उपयोगी हे। स्नातकोत्तर शिक्षण के लिए भी यह ग्रन्थ अत्युपयोगी है। मूल्य ४ ५०

पदार्थ-विज्ञान (द्वितीय सस्करण), (देश भर की आयुर्वेदीय सस्थाओ एव परीक्षा-समिति के पाठ्यक्रम मे स्वीकृत)—लेखक **प० रामरक्ष पाठक आयुर्वेदाचार्य।** इस ग्रन्थ के प्रथम अध्याय मे पदार्थ का तुलनात्मक विवेचन और द्वितीय अध्याय मे पदार्थ का गुण-कर्म-निरूपण किया गया है। तृतीय अध्याय मे आयुर्वेद के मूलभूत त्रिदोष-सिद्धान्त की जननी प्रकृति तथा उससे उद्भूत तत्त्वो की छान-बीन की गई है। चतुर्थ अध्याय मे आत्मतत्त्व का विवेचन किया गया हे और यह दर्शाया गया है कि पूर्व-जन्मकृत पापो का परिणाम भोगने के लिये किस प्रकार सगुण आत्मा भिन्न-भिन्न योनियो मे प्रवेश कर अपने कर्मो का फल भोगा करती है। मूल्य ३ ५०

मानस-रोग-विज्ञान (द्वितीय सस्करण)—लेखक **डॉ० बालकृष्ण अमरजी पाठक।** आज जब कि काम, क्रोध, मिरगी, उन्माद, न्यूरेस्थिनिया, मानसिक अस्थिरता, पागलपन, हिस्टीरिया आदि विभिन्न मानसिक रोग मनुष्य-जाति को बुरी तरह त्रस्त कर रहे है, यह पुस्तक एक नवीन सन्देश देनेवाली है। अग्रेजी भाषा के ज्ञाताओ का कहना है कि मानस-शास्त्र जैसा अग्रेजी मे है, वैसा अन्यत्र नही है। किन्तु इस पुस्तक के अवलोकन से उनके भ्रम का निवारण होगा, ऐसा हमारा विश्वास है। मूल्य ५ ५०

यूनानी चिकित्सा-सार—लेखक **हकीम ठा० दलजीत सिह।** आयुर्वेद मे जैसे माधवनिदान रोग-निदान के लिए और शारगधर, चक्रदत्त आदि रोगो की चिकित्सा के लिए प्रसिद्ध है, वैसे ही यूनानी (हकीमी) चिकित्सा मे करावादीनकादरी, शिफाउल् अमराज, इलाजुल्गुर्बा आदि निदान और चिकित्सा के प्रसिद्ध ग्रन्थ है। प्रस्तुत पुस्तक के लेखक यूनानी और आयुर्वेद के प्रकाण्ड विद्वान है, अतएव उन्होने, आयुर्वेदीय चिकित्सको को भी यूनानी के रोग-निदान, लक्षण और चिकित्सा का ज्ञान कराने के उद्देश्य से इस पुस्तक मे यूनानी रोगो के नाम हिन्दी, सस्कृत, अग्रेजी आदि भाषाओ मे लिखकर

उसके निदान-सम्प्राप्ति, लक्षण और चिकित्सा का वर्णन सरल हिन्दी भाषा मे सविस्तर किया है, जिससे यह पुस्तक वैद्यो और हकीमो के लिए अत्युपयोगी हो गई है। इसमे यूनानी सिद्धान्तानुसार सिर से लेकर पाँव तक के रोगो के निदान तथा चिकित्सा वर्णित है। स्थल-स्थल पर यूनानी और आयुर्वेदीय निदान-चिकित्सा का तुलनात्मक विवेचन भी अपने वक्तव्य मे देकर लेखक ने विषय को और स्पष्ट कर दिया है। यह पुस्तक स्वर्गीय आचार्य यादवजी के निर्देशानुसार छापी गई है, जिससे इस पुस्तक की उपयोगिता का अनुमान पाठक कर सकते हैं। डबल डिमाई १६ पेजी साइज के ४३२ पृष्ठ मे यह पुस्तक छपी है, फिर भी मूल्य केवल लागत-मात्र ४ ५०

यूनानी सिद्धयोग-संग्रह (द्वितीय संस्करण)—यूनानी चिकित्सा-पद्धति का महत्त्व सभी जानते हैं। यह आयुर्वेद के बहुत समीप है। इसके नुस्खे आयुर्वेदीय नुस्खो की भाँति ही लाभदायक और तुरन्त फायदा करनेवाले तथा सस्ते होते हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ भी उपर्युक्त लेखक द्वारा ही लिखवाकर प्रकाशित किया गया है। चिकित्सको तथा सर्वसाधारण के लिए बहुत उपयोगी पुस्तक है। मूल्य २ ७५

सिद्धयोग-संग्रह (पचम सस्करण)—आयुर्वेदोद्धारक वैद्यवाचस्पति श्री यादवजी त्रिकमजी आचार्य द्वारा रचित इस ग्रन्थ को पढने से प्रत्येक वैद्य को लाभ होगा, इसमे रत्ती भर भी सन्देह नही है। डिमाई ८ पेजी २०० पृष्ठ के ग्रन्थ का मूल्य २ ७५

संक्रामक रोग-विज्ञान—लेखक **कविराज बालकराम शुक्ल, आयुर्वेद-शास्त्राचार्य।** आज जब कि देश मे मलेरिया, कुष्ठ यक्ष्मा, हैजा, प्लेग आदि जैसे भयकर सक्रामक रोगो से हजारो-लाखो मनुष्य आक्रान्त हो रहे है, तो यह आवश्यक है कि सक्रामक रोगो से बचने का उपाय तथा रोग-परीक्षा निदान-चिकित्सा आदि से भारतीय जनता को पूर्ण परिचित करा दिया जाय, जिससे प्रथम तो यह भयकर रोग होने ही न पाये और यदि हो भी जाय, तो उसका उचित प्रतिकार किया जा सके। प्रस्तुत पुस्तक मे इन्ही विषयो का सरल हिन्दी भाषा मे वर्णन कर इसे सर्वसाधारणोपयोगी बना दिया गया है। डबल डिमाई १०७९ पृष्ठ की पुस्तक का मूल्य ६ ००
